THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
71
****

THE

PRATIBHĀ DARŚANA

(ANCIENT INDIAN LINGUISTICS)

BY

HARI SHANKAR JOSHI

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1964

स्व० महर्षि पूज्य पिता जी

भविष्यवक्ता दैवज्ञ पं० हरिदत्त जोशी जी

को

सम्मति

महामहोपाध्याय-

श्री गोपीनाथ जी कविराज

पण्डित श्री हरिशंकर जोशी जी की रचना 'प्रतिभादर्शन' का विहङ्गम दृष्टि से मैं ने यत्र तत्र अवलोकन किया। समयाभाव के कारण मैं आदि से अन्त तक इसका क्रमबद्ध अवलोकन नहीं कर सका। ग्रन्थकार परिश्रमी और शास्त्रचिन्तक हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ में शब्दसंक्रान्त विविध प्रसङ्गों पर शास्त्र और युक्ति के आधार से अपने विचार व्यक्त किये हैं।

यह ग्रन्थ मुख्यतया तीन खण्डों में विभक्त है—१. भूमिका खण्ड, २. ध्वनिखण्ड और ३. स्फोटखण्ड। प्रथम खण्ड में वेदार्थ निर्वचन मीमांसा प्रतिभादर्शन भाषाविज्ञान आदि विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय खण्ड में शब्द या ध्वनि का अर्थात् अक्षरात्मक और वर्णात्मक विशेष ध्वनियों का प्रतिपादन किया गया है। तृतीय खण्ड में अर्थ का विवेचन करते हुए वर्णपदादि स्फोटों का प्रतिपादन कर अन्त में विशेष रूप से वाक्य स्फोट का विवेचन किया गया है।

यह अपूर्व ग्रन्थ ग्रन्थकार के सुदीर्घकालव्यापी परिश्रम का फल है। इसमें जो आलोचना की गई है वह परम्परागत शास्त्रमूलक होने पर भी कहीं-कहीं ग्रन्थकार की दृष्टिभङ्गी के कारण पाठकों को अभिनव प्रतीत होगी; तथापि यह अवश्य विचारणीय है। व्यक्तिगत पूर्वसंस्कार का त्याग कर आदि से अन्त तक अवलोकन करने पर यह प्रतीत होगा कि किसी किसी विषय पर ग्रन्थकार ने नूतन प्रकाश डाला है।

ग्रन्थकार की चिन्ताशीलता प्रशंसनीय है। उन्होंने इस ग्रन्थ में भाषातत्त्व की आलोचना के प्रसङ्ग में बहुत से दार्शनिक विषयों का भी विवेचन किया है।

आशा है ग्रन्थकार इसी प्रकार विभिन्न विषयों पर प्रकाश डालते हुए राष्ट्रभाषाभाषी जनता का मनोरञ्जन और ज्ञानसंवर्द्धन करते रहेंगे।

दिनांक ८-४-६४ —गोपीनाथ कविराज

संस्तव

माननीय श्री सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी

उपकुलपति : वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

'प्रतिभादर्शन' (भाषातत्त्व) नामक यह ग्रन्थ एक शोधपूर्ण प्रबन्ध है। इस ग्रन्थ में लेखक ने 'प्रतिभादर्शन' (प्रतिभावाद या बुद्धिवाद) नामक प्राचीन दर्शन के प्रकाश में भाषातत्त्वशास्त्र पर नवीन दृष्टि से विचार और विश्लेषण करने का साहसपूर्ण पर साथ ही प्रशंसनीय कार्य किया है। *अपने विषय के प्रतिपादन और स्व-सिद्धान्तों के उपन्यसन के निमित्त उन्होंने 'कुमाउनी' भाषा या बोली का आधार लिया है—जो प्रस्तुत ग्रन्थाकार की दृष्टि से परिचेय प्रबन्ध की 'कुञ्जी' है। इसे लेखक 'खश आर्यों की भाषा' मानता है। इस मत का प्रतिपादन ग्रन्थ के प्रथम खण्ड (प्रतिभादर्शन की भूमिका) के चतुर्थ अध्याय में देखा जा सकता है। स्वयं 'खश' भाषाभाषी होने के साथ-साथ वैदिक आर्यवंशी होने के कारण अपनी भाषा के यथार्थ एवं अब तक उपेक्षित महत्त्व को ठीक-ठीक समझने का लेखक को गर्व है।*

ग्रन्थकार ने जिस 'प्रतिभादर्शन' के प्रकाश में प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया है, उसका मूलस्रोत सांख्य दर्शन माना गया है; उसका प्रथम भौतिकाधार प्रकृति है। "प्रकृति नामक तत्व आध्यात्मिक त्रिपादामृतीय भी है और भौतिक प्रकृति का नाम प्राचीनाचार्यों ने बुद्धि, धी, मेधा या प्रतिभा विद्या भी दिया है।" इस सिद्धान्त के मूल (पर स्पष्ट) संकेत की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार ने कठोपनिषद् और गीता के उद्धृतांशों द्वारा

उक्त दार्शनिक दृष्टि की आधारभित्ति का उल्लेख किया है जहाँ अर्थवाद-युक्त बुद्धिवाद और सत्त्ववादयुक्त अव्यक्तवाद के द्वारा उक्त दार्शनिक मान्यता का आधार उपलब्ध है। गीता में इन वादों को 'बुद्धियोग' नाम से अभिहित किया गया है। 'कठ' और 'गीता' की धारैक्य शृङ्खला की मध्यस्थित कड़ी के रूप में निरुक्त परिशिष्ट (२ अध्याय १४, ४–१७, ४) का प्रमाण उपस्थित करते हुए उक्त दर्शन प्रवाह की प्राच्ययुगीन मान्यता का परिचय कराया गया है। लेखक ने बताया है कि यद्यपि 'प्रतिभादर्शन का क्षेत्र आधिभौतिक तत्त्वों की खोज में सीमित था तथापि केवल एक तत्त्व (शब्द-तत्त्व) की आध्यात्मिक व्याख्या के लिए सबसे विस्तृत रहा।' "शब्दतत्त्व का आध्यात्मिक रूप ही 'प्रतिभा' है।" लेखक के कथनानुसार–"प्रतिभादर्शन हमारे अन्तर्जगत् की एक बड़ी भारी प्रयोगशाला है। प्रयोगशाला हमारा ही शरीर है। परातत्त्वरूप शब्द प्रतिभा के पाक से विद्या में परिणत होकर, अहंकार से बहिर्मुखता पाकर, मन के द्वार से वायुरूप में परिणत होकर जब उरस्य, कण्ठ, कण्ठविल, ककुद् और सरस्वती (जिह्वा) को जागृत करता है·········उन सबका आद्योपान्त वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देना इस दर्शन का प्रमुख कार्य रहा है। अतः इस दर्शन को समस्त विद्याओं का केन्द्रविन्दु या मूलस्रोत कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं वास्तविकता होगी।"

इस प्रकार ग्रन्थकार ने भारतीय भाषा-तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से शब्द-तत्त्व का आध्यात्मिक और भौतिक विश्लेषण करने का श्रमसाध्य और शोधपूर्ण प्रयास किया है। व्याकरण-दर्शन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना—भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' की स्फोटवादी एवं व्याकरण तत्त्व मीमांसा–को ग्रन्थकार ने अपने विश्लेषण-निरूपण का आधार बताया है।

भाषा-तत्त्वशास्त्र के विषय में यूरोप और अमेरिका में आज भौतिक दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर एवं सूक्ष्म विवेचन किया जा रहा है। 'ध्वनि', 'ध्वनि का उत्पादन', उसकी गति, उसका यथार्थ वैद्युतिक स्वरूप, उसका श्रवण-

ग्रहण, अर्थबोध, शब्दबोध, वाक्यार्थबोध आदि की प्रक्रिया प्रभृति के विषय में वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, प्रायोगिक और व्यावहारिक अध्ययन का क्रम बड़े विस्तार और गहराई के साथ चल रहा है। परन्तु सुदूर युग में प्रत्न भारतीयों ने भौतिक एवं यान्त्रिक साधनों के अभाव में भी भाषा-तत्त्व-शास्त्रीय दृष्टि से जो सूक्ष्म तथा गूढ़ अनुसन्धान किया था उसका बहुत सा अंश अब तक पाश्चात्य अनुसंधायकों की पद्धति से अप्राप्य ही बना है। फिर भी भिन्न मार्ग और इतर साधनों की सहायता से गन्तव्य की ओर निरन्तर बढ़ने के प्रयास में वे लगे हुए हैं।

पर भारत ने अपनी उस यात्रा का सर्वथा त्याग कर रखा है, जिसका निर्माण प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों और निरुक्त-व्याकरण आदि ने किया था, जिस पथ को 'वाक्यपदीय' ने अत्यन्त प्रशस्त और गम्य बनाने का भी प्रयास किया। यद्यपि इस प्रसंग में तथा अन्यत्र भी समीक्ष्य ग्रन्थ के निर्माता ने 'यास्क' एवं 'पाणिनि प्रभृति' वैयाकरणों की कटु आलोचना की है और अन्य भाष्यकारों एवं ग्रन्थकारों के विरुद्ध तीव्र निर्णयात्मक समीक्षा भी इस ग्रन्थ में हुई है······तथापि इन्हें स्वीकार किये विना भी प्रस्तुत ग्रन्थ का विवेच्य विषय पर्याप्त महत्त्व रखता है। 'प्रतिभादर्शन' की मूलभूत मान्यता तथा प्रामाणिकता आदि के विषय में ग्रन्थकार ने (से) सहमत न होते हुए भी उसके द्वारा भाषा-तत्त्व-शास्त्र सम्बन्धी जो विवेचन इस ग्रन्थ [illegible]किया है वह विद्वज्जनों के लिये निश्चय ही विचारणीय है।

चार खण्डों के इस ग्रन्थ में 'प्रतिभादर्शन की भूमिका' को प्रथम खण्ड में प्रस्तुत करने के अनन्तर द्वितीय खण्ड में तथाकथित उक्त दर्शन के प्रधान अंग के रूप में 'कुमाउनी बोली' के आधार पर 'ध्वनि-तत्त्व-शास्त्र' का निरूपण किया गया है। भारतीय शब्दतत्त्वों की विशेषतः वैदिक प्रातिशाख्यकारों और शिक्षा-ग्रन्थकारों की दृष्टि—इस क्षेत्र में कितनी सूक्ष्म और गहन थी, इसका परिचय यहाँ मिल जाता है। तृतीय खंड

में वाक्यस्फोटवाद और अर्थवाद (प्रतिभादर्शन की आत्मा) का बड़े व्यापक और तर्कपूर्ण ढङ्ग से विवेचन किया गया है। चतुर्थ खण्ड में 'वर्ण-वैचित्र्य की महामाया' शीर्षक के सम्बद्ध विषयों का सिद्धान्त-विज्ञापन करते हुए ध्वनिविकास से सम्बद्ध अनेक प्रक्रियाओं का प्राग्युगीन भारतीय दृष्टि से परिचय दिया गया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ कुछ दृष्टियों से विशेष महत्त्व का है। मुझे आशा है, श्रीहरिशंकर जोशी जी के इस ग्रन्थ का विद्वज्जन अध्ययन और समालोचन करेंगे।

—सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी

अन्तर्दर्शन

अकस्मात् कम घटनायें घटित हुआ करती हैं। प्रायः प्रत्येक कार्य योजनाबद्ध किया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय लेखक को स्वाभाविकतया पहले ही से प्रिय रहा है। छात्रावस्था से ही इसमें उसकी गम्भीर रुचि रही है। इस ग्रन्थ के विषय का संकलन, अतः अनेक वर्षों की निरन्तर खोजों का एक सुपरिपक्व फल है जिसका अन्तर्दर्शन इस प्रकार किया या कराया जा रहा है। इस ग्रन्थ में विषय तो सीधे-सीधे भाषातत्त्वशास्त्र का है। यह विषय हमारे प्राचीन आचार्यों को भी अतीव प्रिय रहा है। इसके प्राचीन नाम दो हैं—(१) व्याकरण (२) शिक्षा। इन पर सैकड़ों ग्रन्थ थे। पाणिनि से पहले ६० ऐसे ही वैयाकरण हो गये थे जिनके नाम उन्होंने अष्टाध्यायी में स्मारक स्तम्भों के समान रख दिये हैं। आज कल के 'व्याकरण' नाम से पाणिनि-पतंजलि जी की भाषा या तर्क पर माथापच्ची करने वाले विषय को पुकारा जाता है। इन ग्रन्थों में व्याकरण नहीं, शब्दानुशासन है जो वास्तविक व्याकरण के क्षेत्र से कोसों दूर है। व्याकरण शब्द का वास्तविक अर्थ वही है जो 'नामरूपे व्याकरवाणि' और 'नामरूपे व्याकरोत्' वाक्यों के 'व्याकरण' शब्द का है। यह विषय शब्दानुशासन के क्षेत्र से बाहर का है। इसका क्षेत्र प्रतिभादर्शन या भाषातत्त्वशास्त्र है।

ग्रन्थ का नाम प्रतिभादर्शन क्यों रखा गया? इसका मुख्य कारण इस विषय की गम्भीर स्थिति को अधिक सत्य रूप में प्रस्तुत करने का उद्देश्य है। यह ग्रन्थ 'ज्ञान' की शैलियों का विवेचन देता है। ज्ञान उस प्रत्यक्षानुभूति का नाम है जिसे हम आँखों के सामने नाचती सी पाते हैं। यह कार्य हमारी प्रतिभा में होता है। उसी प्रतिभा को हमारे आचार्यों ने 'नेत्र' नाम दिया है जिसे पौराणिक रुद्र का तृतीय नेत्र भी कहते हैं। यह नेत्र वही प्रतिभा है जो हमें उक्त प्रकार का ज्ञान देती है। इसी को 'सहस्राक्षः पुरुषः' भी कहते हैं। यह प्रतिभा ही सहस्राक्षा सर्वतोऽक्षिमयी है। जिसे सहस्राक्ष या सहस्राक्षा कहते हैं, वह अखिल ब्रह्माण्डमयी अनन्त चक्षुरूपों की एक चक्षुरूपा है। इसी से ज्ञान सर्वतोमुखी होता है। यह प्रत्येक प्रदीप्त प्रतिभाशाली को सहस्राक्ष का अपना

सा स्वरूप प्रदान भी करती है। अतः इस शास्त्र को प्रतिभादर्शन नाम ही 'यथा नाम तथा गुणः' के अनुसार सार्थक रूप में दिया गया है।

इस शास्त्र के चार मुख्य भाग हैं—(१) भाषा जिसका यह विवेचन दे उसका समुचित इतिहास, (२) ध्वनितत्त्वशास्त्र इसका प्रधान अङ्ग, (३) शाब्दबोध और अर्थबोध तथा (४) शब्दों और वाक्यों में नाना परिस्थितियों, युगों और स्तरों में नैरन्तर्य से आने वाले यथाकाल विकास या परिवर्तन। अतः इस ग्रन्थ को भी इन्हीं चार मुख्य भागों में विभक्त कर प्रत्येक खण्ड के विषय की पूर्ण मार्मिक व्याख्या दी गई है।

इस ग्रन्थ की विशेषतायें—

इस प्रतिभादर्शन की जन्मभूमि भारतवर्ष है, इसे आजकल के सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। पाश्चात्यों ने हमारे पूर्वजों के उक्त प्रकार के प्रातिशाख्यों और व्याकरणों के आधार पर एक नया विषय भाषातत्त्वशास्त्र (लिंग्वि-स्टिक) का निर्माण कर अपने-अपने देशों में इसके विभिन्न संस्थान खोल रखे हैं। पर दुःख यह है कि भारत, जो इसकी जन्मभूमि है, जिससे उक्त लोगों ने सीख कर उतना बड़ा प्रयास किया है, वहाँ अब तक इस प्रकार की न कोई बड़ी संस्था है, न यह विषय किसी विद्यालय, महाविद्यालय, या विश्वविद्यालय में पढ़ाया ही जाता है, न कोई इसका पूर्ण ज्ञाता ही उपलब्ध है।

इससे अधिक दुःख का विषय तो यह है कि इस विषय पर—जिस पर सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं, आज तक न किसी भारतीय ने, न किसी पाश्चात्य विद्वान् ने उक्त सब ग्रन्थों का मन्थन करके कोई भी सामंजस्यपूर्ण ग्रन्थ न अंग्रेजी में ही लिखा, न संस्कृत में, न किसी भारतीय भाषा में ही। जिसने जो कुछ भी लिखा है वह वही पुरानी लकीर के फकीर बन कर भाषा विज्ञान पर—अति छिछले विषय पर ही कुछ-कुछ लिखा है; उसको भी अब पाश्चात्य देशों में ही गर्हित दृष्टि से देखा जाने लगा है।

अतः यह ग्रन्थ अपने विषय का, उपलब्ध प्राचीन सभी ग्रन्थों का एक समन्वयपूर्ण संगतियुक्त विवेचन देने वाली ऐसी अभूतपूर्व रचना है जिस पर आज तक किसी को भी कलम चलाने की हिम्मत ही नहीं हुई।

इसमें जो विवेचन दिये गये हैं, जो निष्कर्ष निकाले गये हैं, जो सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं, उनको आप पुष्ट प्रमाण के उद्धरणों के बिना नहीं पायेंगे।

कई प्राचीन वाक्यों को कई लोगों ने असावधानी से गलत अर्थ में भी समझा था, उनको भी यथास्थान उचितार्थ में बिठा दिया गया है।

भाषातत्त्वशास्त्र के दो मुख्य पहलू हो गये हैं—(१) प्राचीन सिद्धान्त, जिनके विवेचन का आधार हमारी प्राचीन भाषा संस्कृत है। (२) हमारा काम केवल अपनी उस प्राचीन भाषा के सिद्धान्तों को जान लेने मात्र से अब नहीं चल सकता, क्योंकि इस युग में उस एक संस्कृत से फूट कर सैकड़ों भाषायें हो गई हैं। उनके विवेचन के लिये हमें अपन नया अनुभव, नया प्रयास करने की आवश्यकता है जिसकी व्याख्या के लिए आज तक पाश्चात्यों ने अनेक प्रकार की ग्राह्य और आवश्यक खोजें की हैं। इस ग्रन्थ में उस सब सामग्री का एक पूर्ण निचोड़ लेकर उससे लेखक ने अपनी मातृभाषा कुमाउनी को व्याख्या का आधार बनाकर आधुनिक भाषाओं की भाषातत्त्वशास्त्र या प्रतिभादर्शन के अनुकूल व्याख्या किस प्रकार की जानी चाहिये इसके पथ-प्रदर्शन के अग्रगामी का भी कार्य कर दिया है। इस अपनी मातृभाषा कुमाउनी का प्रतिभादर्शनानुकूल विवेचन इसीलिए प्राचीन संस्कृत भाषा के विवेचन के साथ आदि से अन्त तक ग्रन्थ के प्रत्येक खण्ड में पूरा-पूरा निम्न कारणों से दे दिया गया है : एक तो आज तक इसका विवेचन कोई भी नहीं कर सका था; दूसरे, यह एक ऐसी कुञ्जीरूप भाषा है जो हमारी समस्त भाषाओं के विकास को उचित मार्ग देने में समर्थ है; तीसरे, इसके आधार पर अन्य भाषाओं का विवेचन भी खोजी विद्वान् आगे चलकर सुविधापूर्वक कर सकेंगे। यह उनके लिए आदर्श ग्रंथ सिद्ध होगा।

प्रथम खण्ड

वर्तमान युग की हमारी अनन्त विभाषाओं की उचित विकास परम्परा का विवेचन भी आज तक किसी विद्वान् ने नहीं किया है। उसकी विशद व्याख्या देने के पूर्व शब्द ब्रह्म की पूर्ण व्याख्या दे दी है। इसे जाने बिना इस शास्त्र में गति ही नहीं हो सकती। विकास परम्परा देने में वेदों से लेकर आधुनिक युग तक की भाषाओं के बीच में जो-जो महान्-महान् युग अवतीर्ण हुए, उनका विवेचन आर्यजाति के मूल स्थान युगभाषा वर्गविभाषा के वर्णन के आधार पर पहले सप्रमाण दे दिया है। इसमें आर्यभरतसंवत्, आर्यजाति और दाशराज्ञ युद्ध के महत्त्व तथा खश आर्यों के अभिजन की विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। भाषा-विकास-परम्परा को चित्रों और मानचित्रों सहित सोलह मुख्य विभागों में

विभाजित किया गया है। तब कुमाउनी के मूलस्रोतादि का विवेचन आठ शीर्षकों में विभक्त है जिसके प्रथम शीर्षक में महाराष्ट्री प्राकृत के सम्बन्ध में प्रचलित गलतफहमी को सप्रमाण दूर किया गया है। इस पूरे प्रथम खण्ड में कोई भी ऐसा शीर्षक न मिलेगा जिसमें लेखक की अपनी कई नई खोजों का समावेश न हुआ हो। प्रत्येक शीर्षक कई-कई नई ज्ञान-ज्योतियों के प्रदीपों से प्रकीर्णतया द्योतमान मिलेगा।

द्वितीय खण्ड

इसका द्वितीय खण्ड प्रतिभादर्शन का प्रधान अङ्ग 'ध्वनितत्त्वशास्त्र' है। यह पूर्ण खण्ड अखण्डरूप से नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका समस्त विषय हमारे प्राचीन प्रातिशाख्यों में बिखरा पड़ा है जिसका एकात्मीय समन्वय नितान्त नवीन प्रचलित शैली से करने की क्षमता अब तक किसी में नहीं रही; उस कठिन और अतीव जटिल विषय को यहाँ सरल, सुबोध, सचित्र, सोद्धरण और उनकी समुचित व्याख्या रूप में प्रस्तुत किया गया है।

पाश्चात्यों ने उक्त विषय में से बहुत कुछ अपने कामचलाऊ मतलब से अपनाकर शेष की कई प्रकार की अनभीष्ट निन्दायें भी कर दी हैं। इसमें उनकी समझ का दोष रहा है, यह यहाँ पर स्पष्ट कर दिया गया है। हमारे स्वरों की सरस्वती की वीणा की झङ्कार के रहस्यों के जो पारिभाषिक पद उनकी समझ में न आ सके थे, उन्हें यहाँ सचित्र, सोद्धरण, सार्थ दे दिया है। इस खण्ड में विशेष उल्लेखनीय शीर्षकों में से वीणापाणि सरस्वती, अक्षर और वर्णभेद, वर्णसमाम्नायविभाजन, श्वासघोष और नाद में अन्तर, तथा अल्प-प्राण महाप्राण का अन्तर, ध्वनिविकास, संवृत अ, हमारे ऋ और ऌ तथा इनकी दरार, वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत में ए ऐ ओ औ की वास्तविक स्थिति, मात्रा और भार, स्वरों में भार, वृत्तियाँ, अनुस्वार अयोगवाह, ᳵ क ᳶ प क्ष, असली और नकली य् र् ल् व् का अद्भुत रहस्य, सन्निपात में उच्चारण विधि, आदि का विषय और विवेचन एकदम नवीन है, और ये सब अपनी नवीन-नवीन खोजों से भरे मिलेंगे। इनका पुनः नवीन प्रणाली से पृष्ठ २६५ से विवेचन भी दिया मिलेगा जिसमें पाश्चात्यों की खोजों को भी उचित स्थान और मान दे दिया गया है, इसमें भी अक्षर (फोनीम) आदि के विवेचन नवीन हैं। इसके पश्चात् उक्त दोनों की शैलियों से कुमाउनी की ध्वनियों का भी पूर्ण विवेचन नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय खण्ड

इस ग्रंथ का तृतीय खण्ड 'प्रतिभादर्शन की आत्मा स्फोट और अर्थवाद' का है। इसमें स्फोट से शाब्दबोध और अर्थबोध के विषय को आद्योपान्त पूर्ण रूप से वर्णित किया गया है। अभी तक इस विषय में न तो कोई ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा गया है न संस्कृत में, न भारतीय किसी प्रान्तीय भाषा में। यद्यपि संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों ने इस विषय को उचित रूप से न समझ सकने के कारण अनेक प्रकार से प्रस्तुत करने का असफल प्रयास किया है, पर उन्हें इस विषय के इतिहास और विकास की धारा ही का पता नहीं है। यहाँ तक कि वे यह भी नहीं समझ पाये हैं कि जिस विषय पर वे लिख रहे हैं उसका मूल और वास्तविक स्वरूप क्या है, प्राचीन आचार्य इस विषय को किस दृष्टिकोण को अपनाकर प्रस्तुत कर गये थे। इस खण्ड में इस विषय के मूल स्रोत पर सबसे पहले प्रकाश डालकर उसको सप्रमाण सोद्धरण देकर प्राञ्जलतया विविक्त किया गया है। इस शास्त्र का प्रादुर्भाव यास्क से कई शताब्दी पूर्व हो चुका था। जिन्होंने इस शास्त्र की नींव डाली थी उनके मुख्य सिद्धान्तों को यथारूप में प्रस्तुत करके और उनके संबंध में पाश्चात्यों के मन में जो भ्रान्तियाँ समायी मिलती हैं उनका सप्रमाण सोदाहरण निराकरण करके सबसे पहले इस शास्त्र की मौलिक पृष्ठभूमि को उज्ज्वल करके सामने रख दिया गया है। तदनन्तर अध्याय ३ में स्फोट शब्द का अर्थ और विकास परम्परा में इतिहास दिया गया है। इसमें दो मुख्य मार्ग मिलते हैं, वाक्यस्फोटवादी और वर्णपदस्फोटवादी। अध्याय ३ में 'स्फोट किसे कहते हैं?' और अनेक शास्त्रकारों और उनके स्फोट शब्द का अर्थ क्या है? स्फोट मानने की आवश्यकता ही क्या है? इनका विस्तारपूर्वक पूर्ण वर्णन दिया गया है। तब अध्याय ४ में प्रतिभादर्शन का स्फोट सम्बन्धी जो वाक्यस्फोटवादी मत है उसका विवेचन प्रस्ताव रूप में रख कर, सबसे पहले शब्दतत्त्व की व्युत्पत्ति, वाक्यस्फोट का मूलस्रोत, वाक्यस्फोट और वर्णपदस्फोट मतवालों का मौलिक सिद्धान्तीय भेद, स्फोट नाद और अर्थ में भेद, वाक्यस्फोटव्याख्या, श्रावणप्रत्यक्ष, स्फोटप्रत्यक्ष, वर्णपदस्फोटवाद और वाक्यस्फोटवादी मतों में कौन मार्ग उचित है, आलंकारिकों का स्फोटवाद, आदि पर गम्भीर विचार किया गया है। प्रत्येक शीर्षक अपनी-अपनी महत्ता और नवीन खोजों के साथ-साथ सर्वाङ्गीण रूप में प्रमाणों और उल्लेखों तथा उनके अर्थों सहित दिया गया है।

अध्याय पाँच में स्फोट के अर्थबोध पर विचार किया गया है। इसको

दश शीर्षकों में प्रतिपादित किया गया है। क्योंकि इस विषय पर प्रत्येक शास्त्र ने अपना-अपना पृथक् पृथक् राग आलाप रखा है। अतः सबसे पहले अर्थबोध की वास्तविक स्थिति को सामने रख कर, अक्षरपाक पर विचार प्रस्तुत करके, स्फोट के रागात्मक पक्ष की विवेचना देने के पश्चात् पतंजलि मत, न्यायशास्त्र मत, बौद्ध मत, आलंकारिक मत, मीमांसक मत, सांख्य मत का विवेचन तथा उनकी भूलों का संशोधन कर दिया गया है। इस प्रकार इस खण्ड में स्फोटसंबंधी कोई भी ऐसा विषय शेष नहीं रह गया है जो विद्यमान रहते इसमें स्थान न पा सका हो, प्रत्युत इसमें वे सब विषय भी स्थान पा गये हैं जिनकी अभी तक कई बड़े विद्वानों को हवा तक नहीं लग पाई है। अतः यह खण्ड स्फोट के सम्बन्ध में एक परिपूर्ण ग्रन्थ है। प्रत्येक विषय को उचित प्रमाणों, तथ्यों और विचारों के उद्धरणों और अर्थों से यथास्थान सुमण्डित भी किया गया है। इतना होने पर भी इसे जहाँ तक हो सका है अधिक विस्तार-भय से बहुत संक्षेप में, पर पूर्ण सर्वाङ्गीण रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार यह पूर्ण खण्ड इस विषय की नवीन और आवश्यक खोजों की अनुपम खान है।

• • •

चतुर्थ खण्ड

प्रस्तुत खण्ड में 'वर्णवैचित्र्य की महामाया' का विवेचन है। इसमें आधुनिक भाषाओं की व्याख्या किस प्रकार की जानी चाहिए, इसका एक आदर्श उदाहरण अपनी मातृभाषा कुमाउनी के शब्दों, पदों और वाक्यों तथा ध्वनियों का सविस्तार परम्परापूर्ण विकास रूप में दिया गया है। इस प्रकार के विवेचन की नींव यास्क ने अपने निरुक्त में डाल दी थी, उनके पहले के उल्लेख और ग्रन्थ नहीं मिलते। अतः उसी को आधार बनाकर प्रथम अध्याय में—जिनके आधार से पाश्चात्यों ने भाषाविज्ञान की रचना की थी—करनी चाहिए थी, प्रतिभादर्शन या भाषातत्त्वशास्त्र की—संस्कृत तथा कुमाउनी के शब्दों तथा वाक्यों की परीक्षा भाषातत्त्वशास्त्र के अनुरूप (—भाषाविज्ञान के अनुरूप नहीं) की गई है। अध्याय २ में वर्णवैचित्र्य से कुमाउनी भाषा की दृश्यमान आकृति के स्वरूप की व्याख्या, अकारादि क्रम से प्रत्येक के आदि, मध्य और अन्त के स्थानों की स्थितियों का पूर्ण विवेचन दिया गया है। इसमें उल्लेखनीय शीर्षक ए ऐ ओ औ की व्याख्या, तालव्यों की व्याख्या, तथा ड ढ और ड़ ढ़ और ढ, ढ़, ल्ह पृ० ४७१ से पृ० ४८१ तक की विस्तृत व्याख्या है जिनके

सम्बन्ध में भाषाविज्ञानियों में अनेक भ्रमों ने अपना घर बना रखा है। अन्तिम को अवश्य पढ़ लिया जाय।

अध्याय ३ में प्राचीन और नवीन भाषाओं के वर्गीकरण पर जो ग्राह्य मतभेद हैं उनकी सच्ची व्याख्या दी है। इसके अनुसार भाषाविज्ञान के किए हुए केन्तुम्, शतेम् और वेर्नेर्स ला, ग्रिम्स ला इत्यादि सिद्धान्त एकदम निराधार सिद्ध हो जाते हैं। इस विषय का प्रतिपादन भी नवीन रूप से, नवीन पूर्ण प्रमाणों सहित पुष्ट रूप से किया गया है। साथ में भारोपीय भाषा के जिस काल्पनिक स्वरूप को भाषाविज्ञान ने निर्मित किया है वह भी प्रतिभादर्शन के नियमों से एक थोथी कल्पना सिद्ध हो जाती है। इस बात पर अभी तक किसी ने गम्भीर विचार किया ही नहीं है। ये सब बातें इस खण्ड की अपनी बड़ी विशेषताओं में से हैं। साथ में शब्दों और वाक्यों में जो निरन्तर विकास रूप परिवर्तन आते हैं उनके मौलिक कारणों की खोजें इसमें की और दी गई हैं। वर्णों की संसर्गीयता से जो विकार आते हैं उनके कारणों पर भी स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। अन्त में स्वर संयोग, व्यंजन संयोग सम्बन्धी पहलू की स्वतन्त्र और वाक्यान्तर्गत रूप में परीक्षा करनें पर यह निष्कर्ष स्वयं निकल आता है कि जितनी भी भाषायें बोलचाल की हैं उनमें वाक्यान्तर्गत शब्दों की अधिकांश में सन्धियाँ हो जाती हैं। फलतः संस्कृत भाषा की संधियुक्त वाक्यशैली इस निर्णय को स्वतः स्थापित करने में समर्थ हो जाती है कि यह संस्कृत भाषा जिसमें सन्धियों का बाहुल्य है, वे नकली नहीं—जैसा कि प्रतिभादर्शन के नियमों से अनभिज्ञ, चाहे कोई भी हो समझते आ रहे हैं—वरंच वास्तविक बोलचाल की भाषा की सच्ची प्रतिमा स्थापित करनेवाली सन्धियाँ हैं, जिनके फलस्वरूप संस्कृत अवश्यमेव इस रूप में बोलचाल की ही भाषा रही यह पुष्ट रूप से स्थापित हो जाता है।

शेष समग्र पुस्तक पाठकों के सम्मुख हैं, उसके गुणदोषों की परीक्षा करना विद्वज्जन का कर्तव्य है। वैसे लेखक ने ग्रन्थ को अधिक प्रामाणिक और शुद्ध तथा सुबोध बनाने के अनेक प्रयास किये हैं, तथापि मानव मानव ही है, उससे भूलें नहीं हुई होंगी, यह दावा नहीं किया जा सकता। अतः ऐसी जो त्रुटियाँ रह गई हों उनके लिए क्षमा ही देने की कृपा करें। जो विद्वज्जन इस ग्रन्थ को और अधिक सुन्दर बनाने के उचित प्रस्ताव देंगे उनको इसके द्वितीय संस्करण में ठीक स्थान देने पर विचार किया जा सकेगा।

अन्त में चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन के उदीयमान संचालक बन्धुद्वय श्री मोहनदास जी गुप्त तथा श्री विट्ठलदास जी गुप्त को मैं अपना हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक इतने अच्छे रूप में प्रकाशित कर दिया। साथ में डा० सूर्यकान्त जी तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी को भी ग्रन्थ की संस्तुतिपूर्वक मेरा परिचय उक्त ग्रन्थागार के अधिकारियों से कराने के उपलक्ष में मैं अपने आभार प्रदर्शन के साथ धन्यवाद देता हूँ।

वाराणसी
२१-३-६४

—हरिशंकर जोशी

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : प्रतिभादर्शन की भूमिका

द्वितीय खण्ड : प्रतिभादर्शन का प्रधान अंग ध्वनितत्त्वशास्त्र

तृतीय खण्ड : प्रतिभादर्शन की आत्मा स्फोट और अर्थवाद

चतुर्थ खण्ड : वर्णवैचित्र्य की महामाया

प्रतिभादर्शन

(भाषा-तत्त्वशास्त्र)

प्रतिमादर्शन की भूमिका

प्रथम खण्ड

अध्याय १

मंगलाचरण

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका ।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता ॥
महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ।
प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी ॥
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा ।
त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा ॥
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ।
विषयश्च महाभाग याति चैवं पृथक् पृथक् ।
प्रबोधं च जगत्स्वामी नीयतामच्युतो लघु ॥

"ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।"

"ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।"

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥"

"तिस्रो वाच ईरयन्ति प्रवह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥"

"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"

"हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥"

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥"

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥
यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते ॥
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम् ।
यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ॥
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥
इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति, न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥
ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥

प्रतिभादर्शन की एक झलक

असीम और ससीम के ज्ञान रत्नाकर वेद में न जाने कितनी और किस-किस प्रकार की अलौकिक हीरक मणियाँ खोई सी, सोई सी पड़ी हैं, उनकी थाह लेने की शक्ति अथाह-विद्वत्ता-प्राणायाम खींचने में समर्थ किसी विरले ही व्यक्ति में हो सकती है। इसका बहिर्मुखीय भाषा सम्बन्धी धरातल मनुष्य सभ्यता की सर्व प्रथम रूप रेखा, और अति अति प्राचीन होने से समुद्र जल सम इतना खारा हो गया है कि इसका एक घूँट भी तो कठिनाई से गले से नीचे उतर पाता है, पर इसकी गम्भीर गर्जना! वैदिक घोष—इतना मधुरिमामय है कि जो सुनता है वह सचमुच 'मन्त्र मुग्धता' के मुहावरे की प्रतिमूर्ति उपस्थित कर देता है। फिर भी जो इसके किनारे भटक भी जाता है वह कुछ न कुछ बटोर कर ले ही आता है। न जाने लोग कबसे बटोरते आ रहे हैं, बटोरते जा रहे हैं, फिर भी क्या इसके सब रत्न निकल चुके हैं? नहीं-नहीं, अभी तो रत्न नाम के पदार्थ कम लोगों के हाथ लगे हैं ऐसा प्रतीत होता है; अधिकों (पाश्चात्यों) ने तो घोंघे घड़ियालों को ही रत्न समझ कर मनमाना शंखनाद तक कर डाला है; यह ग्रन्थ वेदों की व्याख्या का नहीं है, पर व्याख्या की शैली का विवेचक है, अतः उपलब्ध व्याख्याओं की दशा देख लें।

आरम्भ ही से वेदों की व्याख्या का भाग्यचक्र कुछ अजीब सी घटनाओं के जाल में फँस गया है। (१) मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने अपनी ज्ञानज्योति को अमर, अचल और स्थायी बनाने के लिए, प्रत्येक आर्य सन्तान के लिए, मन्त्रपूर्वक कर्मानुष्ठान करने की एक जीवन शैली बना दी थी, जिससे 'एक पंथ दो काज' अनायास सिद्ध होते रहे। (२) यह शैली धीरे-धीरे विकृत होकर लगभग एक हजार वर्ष बाद (आज से लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व या विक्रम से १५०० वर्ष पूर्व) ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद यज्ञ विधान के स्वरूप में मंत्रों के प्रायः यज्ञपरक अर्थ में परिणत हो गई। मन्त्रों का जो नीहारावृत रहस्यात्मक अर्थ था उसे यज्ञों के ग्रहण ने एकदम ग्रस लिया। (३) परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थ रचे जाने के युग तक मंत्रों का अर्थ भुलाया जा चुका था। इसका प्रमाण, उन्हीं के दिये हुए समस्त संदिग्ध मतों की प्रस्तावना से मिल जाता है। उदाहरण के लिए इसी प्रकरण में दिए गये 'चत्वारिवाक् परिमिता' मंत्र के अर्थ में ऐसे 'ब्राह्मण ग्रन्थ' की परस्पर विरोधी बातें देखें। (४) ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये अन्धकार बढ़ता ही गया।

विद्वानों ने निघंटु प्रस्तुत किया, उसकी निरुक्ति की जाने लगी। (५) कुछ दूसरों ने व्याकरण शास्त्र की नींव डाली, 'नामाख्यातोपसर्गनिपात' भेद से शब्दों के अर्थ ढूँढ़े जाने लगे। ये नकली-अलीक साधन, वेदों के अर्थ को अधिक सत्यता से दिखा सकते थे, पर तब इनमें अपने-अपने 'मत' की एक-एक लत की अलग-अलग हेकड़ी न होती (देखिये स्फोटवाद, तृतीय खंड, आगे)। इन दोनों मार्गों ने 'अर्थ' जैसे महान् तत्व की आत्मा दूर कर दी। इन दोनों शास्त्रों का भारतीय शास्त्रों में बड़ा बोलबाला रहा, इनके आगे किसी की नहीं चली। अतः इन दोनों शास्त्रों से वेदों के अर्थ विषय में जितना प्रकाश पड़ना चाहिए था उससे कहीं अधिक अन्धकार छा गया। सायण, महीधर और उव्वट प्रभृति इसीलिए वेदों के पारिभाषिक पदों का अर्थ देने में असमर्थ रहे।

ईश्वर की यही इच्छा रही, (६) अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार जमाकर वेदों के अर्थ जानने के प्रयत्न में भाषा विज्ञान के एक और नकली साधन का उपयोग करने की चेष्टा में मंत्रों का प्रकरण हीन, वातावरण हीन, एक सन्दर्भ हीन अर्थ उपस्थित करके, वेदों का कोई श्रद्धेय कार्य नहीं किया। (७) इससे भिन्नाकर स्वा० दयानन्द जी ने पुनः वेदों में जो अहिंसावाद गौतमबुद्ध का सा—हमारा अहिंसावाद नहीं—और शंकराचार्य जी का सा वेदान्तशास्त्र देखने का प्रयास किया है वह भी वेदों के अर्थ की सीमा से बहुत दूर भटक गया है। स्वा० दयानन्द जी की पूर्ववर्ती वेदों की व्याख्याओं पर जो सन्देह है वह तो ठीक है, पर उनकी अपनी व्याख्या शैली, सबसे अधिक भ्रम पूर्ण है। अतः स्वतः विद्वज्जनहेय हो पड़ी है। यदि यज्ञ वाली जीवन शैली, निरुक्त निघंटु और व्याकरण जैसे अलीकशास्त्र तथा आजकल के अन्य शास्त्र, मंत्रात्मक वेदों की रचना से पहिले जन्मे होते तो सम्भवतः उक्त भाष्यों अनुवादों या व्याख्याओं में कुछ सत्यता हो सकती थी, पर परिस्थिति उलटी होने से अधिकांश मंत्रों का अर्थ ही उलटा हो गया है। इन अलीक शास्त्रों की ईंट-पत्थरों से निर्मित दुर्जेय भाष्य रूप बाँधों को तोड़े बिना—केवल गलतफहमी को उतारे बिना—वेदों के नीहारावृत अर्थ की गुप्त गंगा—सरस्वती का उद्धार करना असम्भव है।

उपनिषद् स्वतन्त्र साहित्य नहीं हैं—वेदों का अर्थ स्वयं वेदों में ही सुरक्षित है, वेदान्त या वेदांग उपनिषदों ने तो उनके सभी महत्वपूर्ण मतों और विचारधाराओं का सरल संस्कृत में उलथा कर दिया है, कहीं-कहीं स्वयं ऋचाओं को ही ऐसे प्रकरण और वातावरण में बिठाकर उतार लिया है कि उनका अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

अधिकांश दार्शनिक मत, जो उपनिषदों में भरे पड़े हैं, सब के सब वैदिक मत हैं। अतः उपनिषद् स्वतन्त्र साहित्य नहीं हैं, ये वेदों के भाष्य हैं। उपनिषद् कारों ने एक प्रकार से वैदिक मंत्रों के भाष्य ही लिखे हैं विकास पूर्ण व्याख्यायें ही दी हैं, अपना कोई स्वतन्त्र नया मत स्थापित नहीं किया है, उनकी मौलिकता के अंश, विविक्त स्पष्ट और गम्भीर घावकारी भाषा तथा जादू भरी शैली है। महाभारत और पुराणों में वेदों के अर्थ की गुप्त गंगा भीतर ही भीतर नीहारावृत रूप में बहती हुई, अपनी वीणा के तारों की झंकारों से 'नैनं पश्यन्त्यचक्षुषः' की चीख और ललकार लगा रही है।

भ० कृष्ण ने याज्ञिकों, वैयाकरणों और निरुक्तकारों का अनुसरण करने वाले उक्त प्रकार के अलीक भाष्य लेखकों को 'मूर्ख' की उपाधि प्रदान करके फटकारते हुए लिखा है 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन॥' (गीता २–४२ से ४५ तक)। 'कहां तो वेद ज्ञान मार्ग रहा, यहाँ इन्होंने इसे व्यवसाय में परिणत कर दिया, जहाँ वेद ज्ञान मार्ग होने से निस्त्रैगुण्य रहा वहाँ इन्होंने इसे 'त्रैगुण्यविषय' बना डाला है, यह 'अविपश्चित'—मूर्ख मार्ग है। जिनको यहाँ पर गीता में 'मूर्ख' की उपाधि दी, उन्हें कठ उपनिषद् ने मूढ घमंड से भरे अन्धे कहकर उनके अनुयायियों को अन्धा भेड़ियाधसान कह डाला है '…स्वयं धीरा पंडितं मन्यमाना-दंद्रम्यमाणा……अन्धेनेव=नीयमाना यथान्धाः'। स्वयं ऋग्वेद के ही युग में ऐसे लोगों के दल की स्थापना हो जाने की सूचना देते हुए, दीर्घतमा ऋषि ऐसों को फटकारते हुए कहते हैं 'जो व्यक्ति 'अक्षरब्रह्म' का ज्ञान नहीं रखता वह ऋचाओं की रट लगाकर उनका उलटा सीधा अर्थ करके क्या करेगा?' (देखिए 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्—किमृचा करिष्यति'—प्रतिभादर्शन का मूलस्रोत)। वेदों का निर्माण आजकल के काव्यों की तरह एक-एक व्यक्ति से नहीं हुआ है, प्रत्येक मंत्र एक संसद् के द्वारा निर्मित किया गया है, दे० वहीं 'हृदा तष्टेषु मनसा जवेषु' आदि जिसमें प्रतिभादर्शन का नाम 'ओह ब्राह्मण' तक दिया है। प्रत्येक शब्द के लिए कितनी छानबीन की गई थी, यह 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा वाचमक्रत।

अत्र सखाय सख्यानि सजते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥' से जान लें (दे० भाषा क्या है आगे)। अतः गीता ने वेदविद् की स्पष्ट परिभाषा देते हुए लिखा है। 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदविद् ॥ १५–१ ॥' 'जो व्यक्ति वेद के मन्त्रों में सृष्टि वृक्ष की जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे को वर्णित की हुई, तथा उनके विकासों को 'छन्द' आदि नामों से पहिचानने में समर्थ हैं, वही विद्वान् वेदविद् या वेदों का सच्चा ज्ञाता है'। यह परिभाषा गीता की या भ० कृष्ण की अपनी ही नहीं है, वेद विद् की यह परिभाषा 'कठोपनिषद्' की भी है जिसमें उक्त श्लोक, पूर्वार्द्ध इन्हीं शब्दों में तथा उत्तरार्द्ध शब्दान्तरों में दिया हुआ है। अतः वेदविद् की यह परिभाषा उपनिषद् की परिभाषा है। नहीं-नहीं; कठ उपनिषद् ने इस श्लोक को अथर्ववेद के मन्त्र 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रास ऋषयः सप्तसाकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः' (१०–८–९) का उल्था करके लिखा है। अतः वेदविद् की उक्त परिभाषा केवल गीता या भ० कृष्ण की ही नहीं, केवल उपनिषदों ही की नहीं, वरन् स्वयं वेद भगवान् की स्वयं की दी हुई परिभाषा है, जिससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि यदि कुछ परिश्रम किया जाय तो वेदों का निखरा अर्थ, उक्त प्रकार के ग्रन्थों में बिखरा हुआ अवश्य मिल जावेगा, इसमें सन्देह नहीं रह जाता। हाँ इन वेदविदों का अन्तिम तत्त्व 'अक्षर' ब्रह्म ही है 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' (गीता १५–४)।

वेदमन्त्रों के अर्थ की जैसी दुर्दशा हुई वह तो स्पष्ट हो चुकी, पर उपनिषदों के अर्थ की उससे अधिक दुर्गति या अधोगति हुई, इसका भी अबतक विद्वानों ने विचार नहीं कर पाया है। उपनिषद् साहित्य का जन्म ही इसलिए हुआ था कि लोग कहीं याज्ञिकों नैरुक्तों और वैयाकरणों के दिये वेद मन्त्रों के अर्थ को सचमुच में ठीक न समझ बैठें। अभाग्य से इनके भाष्य टीका आदि तब लिखी गईं जब कि आजकल प्रचलित शास्त्रों ने अपना नवीन रूप धारण कर लिया था। उपनिषद् के एक ही वाक्य का विभिन्न शास्त्र या शास्त्र शाखायें विभिन्न अर्थ लगाती हैं, क्या यह सम्भव हो सकता है? कदापि नहीं। उक्त उपनिषद् वाक्यों के आधार पर विभिन्न शास्त्र रूप मतों की प्रतिष्ठा करने वालों के बारे में यदि यह सन्देह किया जाय कि वे वैदिक मंत्रों के एतद्विषयक अर्थ से नितान्त अनभिज्ञ रहे तो इसके खण्डन के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सकेगा। वेदों में दार्शनिक विचारों की कई धारायें बही हैं; उपनिषदों ने

उन्हीं की व्याख्या और विस्तार या भाष्य मात्र किया है। उधर शास्त्रकारों को यह भी पता नहीं लगा सा प्रतीत होता है कि जिस उद्धरण को वे उद्धृत कर रहे हैं, वह उनकी विचारधारा का समर्थक है या विरोधक; क्योंकि उसका किस विचार धारा से सम्बन्ध है यह जानने या सोचने का साधन ही उनके पास नहीं प्रतीत होता। फलतः सब ने उपनिषद् के सब वाक्यों को बाईस पँसेरी के भाव बेच दिया है। कोई भी शास्त्र उपनिषदों के वाक्यों का उक्त प्रकार के गोलमाल खिचड़ी किये विना नहीं मिलता। दाढ़ी वालों की चोरी में मूंछ वालों की पकड़ होती है। पतंजलि जैसे धुरंधर विद्वानों ने कई वैदिक ऋचाओं को ऐसे ही गोल-माल से उद्धृत करके उनका अर्थ अशुद्ध दिया है। उदाहरण के लिए 'चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा' नाम की ऋचा का यास्क ने कुछ और ही अर्थ दिया है, पतञ्जलि जी ने उसी का अपने शास्त्र की श्रुति की स्वीकृति के लिए, बिलकुल भिन्न अर्थ दे दिया है, जहाँ इस ऋचा का उक्त दोनों अर्थों में से एक भी ठीक नहीं है (वाष्कल जैमिनि आदि नये प्राप्त उपनिषद् और वैदिक दर्शन देखें)। अब अन्य लेखकों ने क्या क्या अनर्थ न किया होगा इसकी कल्पना तब सत्य मानी जायेगी, जब आपके समीप ऐसे अर्थों के बदले वेद के मन्त्रों को 'अनर्थक' मानने वाले कौत्स ऋषि जी आकर बोल देते 'कौत्सो ऽनर्थका हि मन्त्राः' (निरुक्तं नैगमं काण्डं) (देखिये अगले दो परिच्छेद)।

नामकरण

प्रतिभा दर्शन का मूल स्रोत सांख्ययोग दर्शन है जिसका प्रथम भौतिका-धार प्रकृति है। प्रकृति नामक तत्त्व आध्यात्मिक त्रिपादामृतीय भी है और भौतिक प्रकृति का नाम प्राचीनाचार्यों ने बुद्धि धीः मेधाः या प्रतिभा विद्या भी दिया है। इसी प्रतिभा के नाम पर इस ग्रन्थ का नाम प्रतिभा दर्शन दिया गया है। इस दर्शन के दो भिन्न-भिन्न शैलियों के पारिभाषिक शब्द मिलते हैं 'छोटे मुह बड़ी बात' हो जाती है, आज तक किसी भी विद्वान् ने इन भिन्न शब्दों या पारिभाषिक शब्दों में व्यक्त उक्त दो क्रमों को देने के कारण खोजने या समझने का यत्न तक नहीं कर दिया है, इस पर प्रकाश डालना तो दूर की बात है। थोड़ा इन्हें देख तो लीजिए।

कठ ने प्राथमिकता इस क्रम को दी है

१—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(अध्याय १ वल्ली ३—१०, ११)

द्वितीय स्थान इस क्रम को

२—इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्याक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
(अध्याय २ वल्ली ३—७, ८)

विशेष—इसमें 'अर्था' और 'बुद्धि' शब्द महत्व के हैं

गीता ने प्राथमिकता इस क्रम को दी है

१—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
(अध्याय ३—४२)

विशेष—इसमें 'सत्व' और 'अव्यक्त' शब्द महत्व के हैं।

द्वितीय स्थान इस क्रम को

२—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्विन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(अध्याय ७—४, ५)

इन्हें स्पष्टता के लिए इस प्रकार लिखा जा सकता है:—

इन्द्रिय-(शब्दादि गुण) अर्थ-मन-बुद्धि-महत् अव्यक्त पुरुष
इन्द्रिय ... -मन-बुद्धि ... स
इन्द्रिय-मन-सत्व-महत्-अव्यक्त-पुरुष
महाभूत मन अहंकार-बुद्धि-परा, प्रकृति (अहं)

यदि ध्यान से देखा जाय तो उपर्युक्त उद्धरणों में दो प्रमुख विचार धाराओं का स्पष्ट विवरण दिया हुआ सा प्रतीत होगा। इनमें से प्रथम या प्राथमिकता प्राप्त उद्धरण अर्थवाद युक्त बुद्धिवाद देते हैं, द्वितीय स्थान प्राप्त सत्ववाद युक्त अव्यक्त वाद। गीता ने कठ के अव्यक्त वाद के स्थान पर भी बुद्धिवाद को महत्व दिया है, क्यों कि गीता स्वयं 'बुद्धियोग' है, गीता का नाम ही बुद्धियोग रखा गया है। देखिये 'सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार' अध्याय १०, ११ भगवद्गीता। बात यह है कि वैदिक आर्यों की विचारधारा आरम्भ ही से तीन मुख्य धाराओं में प्रवाहित होने लगी थी, उनको हम

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैहिक नाम दे सकते हैं। आध्यात्मिक धारा तत्वों की खोज में आत्मा (शरीर और चैतन्य) को प्रमुखता देकर इसी शरीर में उन्हें समझना और पाना चाहती थी। यह अन्तर्मुख धारा या अन्तर्जगदीय धारा थी, दूसरी धारा आधिभौतिक थी जो बहिर्जगत् में बिखरे भौतिक तत्वों की बहिर्मुख छानबीन को मुख्यता देकर चेतन तत्व की अनुभूति चाहती रही। तीसरी धारा तत्वों की खोज में नहीं वरन् शरीर स्थित नाना प्रकार के अंग प्रत्यंगों की गति विधियों की शक्तियों की परख कर उन शक्तियों से ही चेतन तत्व की अनुभूति करना चाहती थी। सर्व प्रथम धारा अध्यात्म योग में, द्वितीय सांख्य योग में, तृतीय षड् या अष्ट चक्रादि सारणिक योग में और आयुर्वेदिक सांख्य या आयुर्वेद शास्त्र रूप में परिणत हुई। गीता ने तृतीय धारा को एकदम छोड़ दिया है और प्रथम दो का सामञ्जस्य करने का यत्न किया तो है पर प्रथम और द्वितीय की पृथक्-पृथक् विवेचना किये बिना भी नहीं रह सकी जैसा आगे चलकर विदित हो जावेगा। यहाँ पर कठ और गीता में उपलब्ध दो धाराओं की तत्कालीन सत्ता में यदि दृढ़ विश्वास नहीं हो सका है तो लीजिए इन दोनों ग्रन्थों के समयों के मध्यवर्ती युग के आचार्य यास्क की लेखनी से जो अद्भुत रहस्य प्रगट हो रहा है वह आपकी सहायता करेगा। "···प्रत्याहरति, भूतग्रामाः पृथिवीमपियन्ति, पृथिवी अपः, आपो ज्योतिषम्, ज्योतिर्वायुं, वायुराकाशम्, आकाशो मनो, मनो विद्यां, विद्या महान्तमात्मनं, महानात्मा प्रतिभां, प्रतिभा प्रकृतिं, सा स्वपिति युगसहस्रम्।' (निरुक्त परिशिष्ट २, अध्याय १४, ४-१७-४)। यहाँ हम एक बड़ी विशिष्ट बात देखते हैं, जिसे कठ और गीता ने प्राथमिकता के उद्धरण में 'बुद्धि' नाम से पुकारा था उसे यास्क 'विद्या' नाम से पुकार रहे हैं, जिसे कठ ने 'महत्' नाम से पुकारा था उससे आगे के तत्व को प्रतिभा नाम से पुकार रहे हैं; वास्तव में ये 'प्रतिभा' को ही 'अव्यक्त' मान रहे हैं, इनकी 'प्रकृति' पुरुष की प्रतिनिधि है। सच में कहा जाय तो यास्क जी का दिया हुआ यह दर्शन वास्तव में प्रतिभा-दर्शन ही है, यही मुख्य है। गीता ने प्राथमिक उद्धरण में महत् का नाम भी नहीं दिया है, और जब समस्त तत्वों का एक साथ उल्लेख करती है तो भी महत् का नाम नहीं देती, पर उसकी जगह बुद्धि का ही प्रयोग करती है "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः।" (१३-५) यह पाठ यास्क के उल्लेख से बराबर पटरी खाता है जिसे यास्क 'प्रतिभा' कह रहे हैं उसे ये स्पष्टतः 'बुद्धि' कह रहे हैं, जिसे यास्क 'प्रकृति' कह रहे हैं उसे ये 'अव्यक्त' कह रहे हैं। इसका यह निष्कर्ष निकाला कि कठ के

द्वितीय स्थान के 'सत्व' 'तत्व' के समानान्तर प्रथम स्थानीय 'बुद्धि' को यास्क 'विद्या' कहते हैं, गीता इसे भी 'बुद्धि' कहती है, पर गीता 'बुद्धि' नाम से महत् को भी पुकारती है जो यास्क के 'प्रतिभा' की प्रतिनिधि है। गीता को बुद्धि शब्द अधिक प्यारा है अतः दो तत्वों को एक ही नाम से पुकार कर प्रतिभा वाद के प्रभाव से सबसे अधिक प्रभावित हुई है। प्रथम उद्धरण के द्वितीय क्रम में प्रकृति का एक नया नाम भी मिलता है, वह है 'परा'। यह शब्द भी बुद्धि वादियों का ही है। यास्क के समय में यह बुद्धिवाद 'प्रतिभा वाद' कहलाने लगा था। अब आपके सामने प्रतिभा दर्शन उपस्थित है। उसके क्रमबद्ध तत्व इतने मिल चुके हैं 'परा-प्रतिभा-बुद्धि-अहंकार-मन इन्द्रिय ॥ या ॥ परा-बुद्धि-विद्या-अहंकार-मन-इन्द्रिय, उत्तम क्रम यह होगा— परा-प्रतिभा-विद्या-अहंकार-मन-अर्थ इन्द्रिय। प्रतिभा दर्शन का एक दूसरा प्राचीन नाम 'विद्या-दर्शन' भी है। प्रायः अधिकांश प्राचीन उपनिषदों ने दो विद्याओं का उल्लेख किया है, परा और अपरा। जैसे "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।" (मुण्डक १–४)। इनमें से परा उक्त दर्शन का प्रथम तत्व है 'अपरा' त्रिपाद् अमृतीय तत्व, चार वेद शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष ज्ञान का कारण है, प्रथम से अक्षर (ब्रह्म) का ज्ञान होता है (मुण्डक १–५)। यह ब्रह्मविदों का दर्शन है, यह है 'शब्दब्रह्म'। समस्त विद्याओं का मूलभूत तत्व यही शब्द ब्रह्म है। शब्द ब्रह्म का त्रिपादामृतीय नाम 'अक्षर' है जैसा इसी उल्लेख में दिया है 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'। यह 'अक्षर' नाम ओंकार या ॐकार या प्रणव या अमृत का है जिसके स्रोत का उद्घाटन पीछे किया जावेगा। यही कारण है, कि कोई भी उपनिषद्, ॐकार के बारे में बिना दो-चार बात लिखे नहीं रह सका। श्वेताश्वतर का तो नारा ही यही ॐकार या 'ऋचो अक्षरे' आदि मंत्र है। प्रश्न उपनिषद् का पूरा पाँचवाँ प्रश्न 'ॐकार' व्याख्या करता है। गीता ने ॐकार ब्रह्म के तीन रूप दिये हैं ॐकार–तत्–सत् ये तीनों भी परा–प्रतिभा–विद्या के प्रतिनिधि हैं 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' (१८–२३)।

प्रतिभा दर्शन का क्षेत्र आधिभौतिक तत्वों की खोज और व्याख्या में सीमित पर केवल एक तत्व की आध्यात्मिक व्याख्या के लिए सबसे विस्तृत रहा। प्रतिभा दर्शन ने मुख्यतः केवल एक तत्व 'शब्द तत्व' के आध्यात्मिक स्वरूप को ग्रहण किया। शब्द तत्व का आध्यात्मिक स्वरूप 'प्रतिभा' है। यह हमारी चेतना का द्योतक है, इसी से प्राणिजात के ज्ञान विज्ञान का, कर्तव्याकर्तव्य का, आहार व्यवहार का, सभ्यता संस्कृति का समस्त जीवन

शैली के व्यवहार, संचार, संचय, क्षय आदि होते हैं। शब्द तत्व न हो तो समस्त ब्रह्माण्ड श्मशान भूमि सी बन जाय। ऐसे महत्त्वपूर्ण चैतन्य मय शब्द तत्व (प्रतिभा) की आदि मध्य अन्तावस्थाओं की जो वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या हो सकती थी उन सब का भण्डार ही प्रतिभा दर्शन है। प्रतिभा दर्शन हमारे अन्तर्जगत् की एक बड़ी भारी प्रयोग शाला है। प्रयोगशाला हमारा ही शरीर है, परा तत्व रूप शब्द, प्रतिभा के पाक से विद्या में परिणत होकर, अहंकार से बहिर्मुखता पाकर मन के द्वार से वायुरूप में परिणत होकर जब उरस्य कण्ठ कण्ठविल ककुद और सरस्वती (जिह्वा) को जाग्रत करके, विभिन्न स्थानों से आघात प्रघात के द्वारा जिस नूतन स्वरूप को धारण करता है, उसका श्रोता और जगत् पर जैसा प्रभाव पड़ता है या उसे जैसी अनुभूति होती है, उन सबका आद्योपान्त वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विस्तृत विश्लेषण देना इस दर्शन का प्रमुख कार्य रहा है। यह कार्य संसार की समस्त विद्याओं को—जैसा मुण्डक ने लिखा है—अपने उदरस्थ कर लेता है। अतः इस दर्शन को समस्त विद्याओं का केन्द्र विन्दु या मूल स्रोत कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं वास्तविकता होगी। इतना बड़ा भारी महत्व है इस 'प्रतिभा-दर्शन' का।* इसी वास्तविक महत्व को मन में रखकर कहा है, 'एकेन ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति' और 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः इह लोके परलोके च कामधुक् भवति' जिनका तात्पर्य यह है कि 'एक व्यक्ति को केवल एक शब्द तत्व के ज्ञान हो जाने से सबके सब शब्द तथा अन्य तत्वों का ज्ञान हो जाता है क्यों कि अन्य तत्वों का मूल तत्व भी तो यही शब्द तत्व है, अतः एक के शब्द (भाषा) बोध से सबकी भाषा या भावना का बोध हो जाता है, जिससे सबके सब काम सिद्ध हो जाते हैं; अतः फिर कहा है 'वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थं सन्निहितं तनोति, वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धम्, तदेतदेकं प्रविभज्योपभुंक्ते' यह वाग् हमारी प्रतिभा रूपिणी शब्द तत्व ही है।

प्रतिभा दर्शन के भेद—वह व्यक्ति कितना बड़ा प्रतिभाशाली और मेधावी होगा जिसने छाँट छाँट कर प्रतिभा दर्शन को वेदों या ज्ञान की 'नाक' कहा 'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य' जिसके अध्ययन के विना वेदों या शास्त्रों का ज्ञान नकटा या विना नाक के समान निर्लज्ज या गौरव हीन हो जाता है। वेद या ज्ञान शरीर का यह प्रतिभा दर्शन उन ऋषियों का मुख्य दर्शनीय दर्शन था यह समझाने की तब अधिक आवश्यकता नहीं रह जाती। प्राचीन भारत में 'प्रतिभा दर्शन' इतना लोकप्रिय हो गया था कि जहाँ देखो इसी की चर्चा रहती, जो नया विद्वान् निकलता इसी का अनुयायी बन जाता। बहुत शिक्षियों

में चूहे नहीं मरते की कहावत चरितार्थ हुई। जहाँ अधिक अनुयायी हो जाते हैं वहाँ अनेक दल भी स्वभावतः बन जाते हैं। कुछ लोगों ने इसके विकास को एक ओर मोड़ना चाहा, दूसरों ने दूसरी ओर। ये दोनों दल इसके मुख्य प्रवाह को तो न रोक सके पर दो नालियाँ या नहर सी निकाल गये। एक दल वालों ने प्रतिभादर्शन के प्रकृति या अव्यक्त के प्रतिनिधि शब्द तत्व रूप परा तत्व या विद्या को शब्द ब्रह्म कह कर उससे उसी प्रकार भौतिक तत्वों का विकास दिखलाने का प्रयास किया जैसे सांख्य वाले प्रकृति ब्रह्म से करते रहे, जिसको सांख्य वाले बुद्धि महत् सत्व अहंकार मन आदि नामों से पुकारते रहे। उसे ये शब्द तत्व परा से क्रम से निकली ध्वनियों को स्वर ऊष्माण अन्तःस्थ और स्पर्श (अआ सशष, यरलव, कख आदि) नामों से पुकारने लगे। बन गया भौतिक दर्शन, जिसकी कुछ व्याख्या अगले प्रकरण में दे दी जायेगी। दूसरे लोगों ने उक्त 'परा' को शब्द ब्रह्म नाम के अतिरिक्त, इसके पुराने नाम अक्षर या प्रणव कह कर इस तत्व की आभ्यन्तर अनुभूति का एक नया मार्ग खोल दिया। इसे अध्यात्मयोग या ॐकार ब्रह्म योग नाम से पुकारने लगे। गीता में शब्द ब्रह्म और ॐकार योग दोनों का विस्तृत वर्णन है (दे० सा० यो: दर्शन का जीर्णोद्धार)। कठ प्रश्न और श्वेताश्वतर ने इसका विस्तृत वर्णन दिया है। वैसे सभी उपनिषदों ने इसकी चर्चा की ही, किसी-किसी उपनिषद् ने इसे 'नाद योग' 'नाद विन्दु योग' 'ध्यान योग' आदि नाम दिए हैं (दे० सा० यो० दर्शन जीर्णोद्धार—अध्याय १६)। कुछ निरुक्तकार तथा शब्दानुशासनियों ने प्रतिभा दर्शन के 'स्फोट वाद' विषय में विस्फोट कर उसे दो भागों में (वर्णपद स्फोट और वाक्यस्फोट) विभक्त कर डाला। इन लोगों की इतनी चली कि प्रतिभा दर्शन के 'वाक्यस्फोट' का एक प्रकार से ह्रास सा हो पड़ा, पर मरा नहीं, उसने कुछ दूसरा ही स्वरूप धारण कर लिया। तब से यह अदार्शनिक तत्व सा बन कर आलङ्कारिकों के हाथ पड़ गया, धन्य है भर्तृहरि जी को जिन्होंने इसका पुनः पूर्ण उद्धार कर दिया। प्रतिभा दर्शन का पूर्ण पाक, ऋषियों के मत 'स्वाहा स्वधा वौषट्' को 'शक्ति—महास्मृति महामेधा महामाया महाविद्या' कह कर मार्कण्डेय जी ने दुर्गा सप्तशती में उसे सांख्य योग दोनों में ढाल कर स्पष्ट और प्रस्तुत कर दिया है सम्पूर्ण दुर्गा सप्तशती प्रतिभा दर्शन की पूर्ण सजीव प्रतिमूर्ति है। यह प्रतिभा दर्शन का पूर्ण दार्शनिक स्वरूप देती है, स्फोटवाद भर्तृहरि, राग पक्ष वामन दे गये हैं।

प्रतिभा दर्शन की प्रतिभा का स्वरूप = प्रतिभा दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जड़ या चेतन, ब्रह्मा विष्णु और रुद्र तीनों रूपों का एक समाहार है।

'एकैवमूर्ति विविधे त्रिधा सा 'सामान्यमेषां प्रथमावरत्वं। ब्रह्मा हरस्यास्य हरिः कदाचिद्, धातास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥' यह प्रत्येक व्यक्ति में घटित होता है। इन तीनों स्वरूपों में प्रतिभा का मुख्य स्वरूप रुद्र स्वरूप है। प्रतिभा महत्तत्व से भी ऊँचा तत्व है यह आप देख आये हैं। इस महां महत्तत्व को महाकाल नाम से उच्चरित त्रिपादामृतीय पुरुष या प्रकृति का नेत्र या तृतीय नेत्र माना जाता है, 'चक्षोः सूर्योऽजायत' (दे० सा० यो० दर्शन का जीर्णोद्धार अध्याय १८ महत्तत्व और वैदिक दर्शन सूर्य और पु० सू०)। अतः 'प्रतिभा' तत्व प्रत्येक व्यक्ति की भौतिकात्मा या निमीलित तृतीय नेत्र है। प्रतिभा दर्शन इसी निमीलित तृतीय नेत्र को खोल देता है। प्रतिभा दर्शन की यह निमीलित तृतीय नेत्र की भावना, लेखक की अपनी भावना या पौराणिक भावना की सामञ्जस्य कारिणी भावना ही नहीं है, वरन् वस्तुतः, मूलतः यह भावना वैदिक है और वैदिक प्रतिभा दर्शन की ही है। पौराणिकों ने इस भावना को इसी दर्शन से अपनाया है। इसका ज्वलन्त प्रमाण भर्तृहरि जी के वाक्यपदीय में देखिए। 'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी। यन्नेत्रःप्रतिभात्माऽयं भेदरूपः प्रतीयते ॥' (वा० प० १-११९) टीकाकारों को यहाँ के 'नेत्र' शब्द और 'प्रतिभा' शब्द का दार्शनिक अर्थ नहीं लग पाया है। फिर भी भर्तृहरि जी 'प्रतिभा' रूप निमीलित तृतीय नेत्र रूप शब्द तत्व को समस्त ब्रह्माण्ड निर्माण की मूल 'शक्ति' या भौतिकात्मा मान रहे हैं यह बात तो स्पष्ट दिखलाई पड़ रही है। व्यक्ति विवेककार महिम भट्ट ने भर्तृहरि जी के उक्त निमीलित तृतीय नेत्ररूप प्रतिभा की व्याख्या अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कर दी है 'क्षणं स्वरूप स्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः। सा हि चक्षुर्भगवतः तृतीयमिति गीयते। येन साक्षात्करोत्येषः भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥' (व्यक्ति विवेक पृ० १०८)। हम आप सब को ज्ञान तभी होता है जब हम अपने इस निमीलित तृतीय नेत्र रूप प्रतिभा को खोल सकते हैं यह अनुभव किसको नहीं होता। भर्तृहरि जी ने उक्त श्लोक में दो और महत्व पूर्ण तथ्यों का सन्निवेश किया है। (१) ये इसी प्रतिभा को व्यक्ति की आत्मा या भौतिकात्मा भी कह रहे हैं (प्रतिभात्माऽयम्)। वास्तव में प्रतिभा दर्शन वाले इसी तत्व को जीवात्मा मानते रहे। यह मत सांख्य दर्शन के जीवात्मा तत्व से भेद भी नहीं रखता। क्योंकि सांख्य वाले महत्तत्व की अवस्था में 'पुरुष' का 'लिंग' शरीर में प्रस्तुत होना मानते हैं, और गीता ने तो इस महत्तत्व को परा नाम से पुकारते हुये 'जीवभूता' नाम भी दे रखा है 'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥' (गीता ७—५)। साथ-साथ गीता ने

भर्तृहरि जी के कथन 'विश्वस्यास्य निबन्धिनी शक्तिः' की पुष्टि में 'ययेदं धार्यते जगत्' वाक्य इसी में उल्लेख कर दिया है। 'प्रतिभा', जीव (जड़) और आत्मा का या शब्द और जीवात्मा का एक मीठा सम्मिश्रण है यह भी भर्तृहरि जी ने अन्यत्र स्पष्ट कर दिया है 'अपृथक्त्वे च सम्बन्धस्तयोर्जीवात्मनो-रिव'। इस भावना से अभिभूत होकर कई आचार्यों ने प्रतिभा को आत्मा मान भी लिया। महाभारत में एक स्थल पर (१२-२४५,-२, ३) कहा है 'बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धेरेवात्मनो गतिः। इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था, अर्थेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धिरात्मा परो महान्॥' यहाँ बुद्धि, प्रतिभा की प्रतिनिधि है। प्रतिभावादी पुरुषोत्तम या परमात्मा को इस प्रतिभारूप जीवात्मा से पृथक् मानते रहे, यह गीता और यास्क के पुरुषोत्तम वर्णन से स्पष्ट है (२) दूसरी उल्लेखनीय बात जिसका निर्देश भर्तृहरि जी ने 'प्रतिभा' के वर्णन में उक्त श्लोक (१-११९) में किया है वह है 'शक्ति'। प्रतिभा एक प्रकार की 'शक्ति' भी है। यह 'शक्ति' शब्द जिससे मार्कण्डेय जी की सप्तशती द्वारा 'शाक्त' मत का संचालन हुआ, मूलतः प्रतिभा दर्शन का अपना पारिभाषिक शब्द है। इस 'शाक्त' शब्द का प्रयोग ऋ. वे. के मण्डूक सूक्त में इसी अर्थ में आती है[१] शब्द रूप स्फटिक शिला में प्रतिबिम्ब से जीवात्मा की तादात्म्यता ही एक अलौकिक 'शक्ति' है। यह प्रतिभा की अव्यक्त शक्ति है, जब यह अव्यक्त शक्ति ध्वनिरूप में अभिव्यक्त होती है तो अपने साथ उस अव्यक्त शक्ति को अव्यक्त रूप में ही लादकर साथ ले आती है। यह अव्यक्त शक्ति स्फोट और उसमें तादात्म्य से प्रतिबिम्बित अर्थ रूप में, व्यक्त प्रतिभा का स्वरूप धारण करती है जिसे ज्ञान कहने लगते हैं। इसका सुन्दर विवेचन रुद्रट जी ने दिया है:—'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य। अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥' (काव्यालंकार १-१५)। भर्तृहरि जी को शक्ति का यही विश्लेषण रुचिकर है। वे इस शक्ति को समस्त ब्रह्माण्ड तक की निर्मात्री मानते हैं और इसका आश्रय 'शब्द' ही समझते हैं (१-११९)। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने कवित्व बीजों में 'शक्तिर्निपुणता' आदि श्लोक से जिस 'शक्ति' का निर्देश किया है वह यही उक्त शक्ति है, जिसे ये प्रतिभा नाम से न कह कर 'संस्कार विशेष' या शब्दार्थ का नित्यसम्बन्ध या तादात्म्य को पौराणिक या सांख्य की भाषा में कह रहे हैं, 'संस्कार' तत्व महास्मृति रूपिणी प्रतिभा ही है। अन्य आलंकारिकों ने भी प्रतिभा की व्याख्या देने का प्रयास जो—'कवित्वबीजं प्रतिभानं (वामन) परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्' 'नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः प्रतिभा' (ध्वन्यालोक, काव्यकौस्तुभ) आदि वाक्यों से किया है वह केवल

व्यावहारिक और जनसाधारण समझाऊ व्याख्या है, दार्शनिकता और वैज्ञानिकता के धरातल से बहुत नीचे खिसक गया है (इनकी आलोचना और सब उद्धरण 'अलंकार शास्त्र में प्रतिभादर्शन की छाया' नामक प्रकरण में आगे देखें)। बड़े गौरव की बात है कि सांख्ययोग दर्शन में प्रकृति के प्रथम विकास को जो बुद्धि नाम से पुकारा जाता है, वह 'बुद्धि' शब्द इसी प्रतिभा दर्शन से ऊधार लिया हुआ है।

'प्रतिभा दर्शन' की 'प्रतिभा के क्रम से व्यक्त होकर वाणी या ध्वनि का स्वरूप धारण करने वाली स्वरूप की रुचिकर व्याख्या करने के लिए इसके 'परा–प्रतिभा–विद्या–अहंकार–इन्द्रिय' नामक तत्वों को जब प्राचीन आचार्यों ने अनुगम्य शब्दवाली से इस प्रकार समझना चाहा था कि दर्शन का दर्शन भी रह जाय, अनुगम का अनुगम भी हो जाय, एक पंथ दो काज, तब उक्त तत्वों को निम्नलिखित नाम दे दिये गये 'परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी'। परा, प्रकृति या भौतिकता रूप शब्दब्रह्म का नाम है, पश्यन्ती प्रतिभा है, मध्यमा; विद्या और अहंकार तथा वैखरी, इन्द्रिय (जन्य ध्वनि)। 'आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा। एकत्वमनति क्रान्ता वाङ् नेत्रा वाङ् निबन्धना॥' 'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूप ज्योतिरेवान्तः सैषा वागनपायिनी॥ सैषा संकीर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः। अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते॥ तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारी निवर्तते। पुरुषे षोडश कले तामाहुरमृतां कलाम्॥' 'केवलां बुद्ध्युपादान क्रम. रूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाग् प्रवर्तते॥' स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्ण परिग्रहा। वैखरी वाग् प्रयोक्तृणाम्प्राणवृत्तिनिबन्धिनी॥' (इन सब की विशद् व्याख्या 'अर्थवाद' नामक प्रकरण में आगे देखें)। भर्तृहरि जी ने इन चार भागों को 'वाणी के तीर्थ' के नाम से भी पुकारा है, तथा 'परा' की स्फोटवाद में आवश्यकता न समझकर उसका उल्लेख करना भी उपयुक्त नहीं समझा है। गीता और यास्क की तरह भर्तृहरि जी भी इस दर्शन को 'प्रतिभा दर्शन' कहने की अप्रत्यक्ष और अस्फुट प्रामाणिकता प्रदान करते हुए कहते हैं 'वैखर्या मध्यमायाश्च. पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्। अनेक तीर्थ भेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥' (वा. प. १–१४४)। एक और अलौकिक और नूतन बात जो इस श्लोक में मिलती है वह है 'पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी' का 'त्रयी' नाम। यह नाम आगे चलकर हमारी सहायता करेगा। वाणी के चार रूपों में परा रूप 'प्रतिभा दर्शन' के स्फोट के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। यह योग का साध्य तत्व है। वैखरी, वाणी का 'वाचिक' रूप है ध्वनि रूप है, मध्यमा स्फोट रूप, (या शब्द या वाक्य का स्फोट रूप)

शब्द तत्व का स्फटिक शिला सम 'कायिक' रूप है; पश्यन्ती, प्रतिभा पटल में प्रतिबिम्बित चेतन तत्व का व्यक्त रूप 'अर्थ' या 'मानसिक' रूप है। प्रतिभा का वाचिक रूप प्राकृत ध्वनि है, वही, उसका कायिक रूप भी है, जो स्फटिक शिलासम अनन्त ब्रह्माण्ड अखंड स्फोट का एक अनिवर्चनीय अणोरणीयान् महतो महीयान् स्वरूप है, जिसमें उसका चेतन शरीर ज्योतिर्मय रूप में, मनोवैज्ञानिक रूप में अनन्त अखंड ब्रह्माण्ड के अनन्त ज्ञानों और विज्ञानों का पिण्डीभूत असीम अपार शरीर अणोरणीयान् महतो महीयान् स्वरूप में, तादात्म्य रूप से सर्वतो व्याप्त है। 'प्रतिभा' या पश्यन्ती ठीक हिरण्यगर्भ के समान है, क्रम में परिवर्तित हो सकने की 'शक्ति' से सम्पन्न है। अतः गीता में इसे 'क्रतुः' नाम से भी पुकारा गया है 'अहं क्रतु रहं यज्ञः स्वधाहमह औषधम्। मन्त्रोऽहमेवाज्यमहमग्नि रहं हुतम्।' (गीता ९-१६) इसमें जो क्रतु है वही स्वधा भी है, वही औषधिः (सोम) है वही आज्य है (स्वाहा है) वही अग्नि (वैश्वानर) है, यह भी बिलकुल स्पष्ट ही है। भर्तृहरि ने इसके समर्थन में लिखा है 'अण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्द संज्ञकः। वृत्तिस्तस्याः क्रिया रूपा भागशो भजते क्रमम्॥' (१-५१)। प्रतिभा या पश्यन्ती हिरण्यगर्भ के समान अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त शब्द तत्वों का एक अनिर्वचनीय हिरण्मय अण्डा या हिरण्यगर्भ है तो प्रत्येक वाक्य मेढ़क के 'अंडों' की तरह उस हिरण्यगर्भाण्ड से क्रमशः प्रादुर्भूत, और संख्या में संख्यातीत हैं। यह अंडाकार रूप मध्यमा का या स्फोट का है इसे प्राचीनों ने 'अपरा', यास्क कठ और गीता ने 'बुद्धि' स्वधा 'सत्व' 'विद्या' आदि नाम दिये हैं। प्रतिभा की इस 'विद्या' सीढ़ी से मानव समाज की सभी विद्यायें नाना रूपों में प्रस्फुटित होने लगती हैं। इसी लिए मुंडक ने तत्कालीन समस्त विद्याओं का इस मध्यमा या विद्या या सत्व तत्व से तादात्म्य सा कर दिया है। प्रतिभा या पश्यन्ती इन सब की मूल गोमुख है। 'अपरा' तो त्रिपादामृत है।

अपौरुषेय वेद और प्रतिभा दर्शन के अंग—प्रतिभा दर्शन सब शास्त्रों की शारीरी और महावरीय नाक है, वेद की तो है ही, उसका प्रतिभा तत्व चैतन्यमय शब्द तत्व है। अतः यह दर्शन चैतन्य शब्द दर्शन है। शब्द के तीन मुख्य भेद हैं (१) प्राकृत ध्वनि (चैतन्यशब्दमय प्रतिभा) (२) वैकृतध्वनि (वाचिकध्वनि) (३) विस्फोट (वैकृतध्वनि से व्यक्त प्राकृत ध्वनि रूप अखंड स्फटिक शिलासम जिसमें अर्थ रूप चैतन्यता प्रतिबिम्बित है। सर्वप्रथम प्राकृत ध्वनि (शब्द ब्रह्म) की खोज की गई तो ब्रह्माण्ड की समस्त ध्वनियों का सत्त या सत्व या सार रूप ध्वनि 'ॐ' की स्थापना

हुई। यह प्रकृति की प्रतिनिधि शब्दमय (प्राकृतध्वनि) तत्व है, यह ॐकार वैदिक दर्शन का महत्त्वपूर्ण त्रिपादामृतीय विभाग है, इसे अनिरुक्त या मानसिक वाणी कहते हैं। परा वाणी भौतिक वाणी है, ॐकार अभौतिक और आध्यात्मिक वाणी। यह अमृतमय वाणी ही अखिल ब्रह्माण्ड की मूल जननी है। इसे द्यौ या पिता नाम से पुकारते हैं भौतिक परा वाणी माता है इसमें तीन प्रकार की अमृतमय ध्वनिगुणों की वैज्ञानिक व्याख्या की गई। ध्वनि के इन तीन गुण या प्रकार रूप ध्वनियों का नाम अ+उ+म् रखा गया (ऐ. ब्रा.)। शब्दब्रह्म में ये तीन प्रकार की प्राकृत ध्वनियाँ ('अ' ह्रस्व स्वरों का 'उ' दीर्घ स्वरों का और 'म्' ऊष्माण का स्वाभाविक प्रतिनिधि पूर्ण वैज्ञानिक रूप से) मानी गई हैं। यहाँ तक तो यह प्रतिभा दर्शन का काम रहा जिससे प्रतिभा तत्व के गोमुख की आवश्यक और अपेक्षित व्याख्या पर्य्याप्त हो गई। यहाँ से ॐकार सब विद्याओं का मुख्य और मूल मंत्र बन गया। इस ॐकार से विद्या की तीन धारायें 'भौतिक दर्शन, अध्यात्मयोग और विशेष प्रतिभा दर्शन' निकल पड़ीं जिनका संकेत पीछे किया जा चुका है। अतः उक्त दोनों धारायें एक प्रकार से प्रतिभा दर्शन के ही मौलिक अंग हैं। भौतिक दर्शन ने स्फुट ध्वनियों को 'श्रुति' नाम दिया, स्वरों को ऋचः, उष्माणों को साम, अन्तःस्थों को यजुः तथा स्पर्शों को अथर्व या छन्दः नाम तथा सब ध्वनियों को ब्रह्म या वेद एक नाम देकर, वेदों को, इस प्रकार के प्राकृत या नित्यध्वनिमय और महत् अहंकार इन्द्रियादि का मूल विकास का कारण मान और सिद्ध कर ऐसे वेदों को 'अपौरुपेय' सिद्ध कर दिया, जिसकी व्याख्या आगे चलकर विस्तार पूर्वक दे दी जावेगी। इस प्रकार प्रतिभादर्शन 'वेदों को अपौरुषेय' सिद्ध करने वाले भौतिक दर्शन का जन्मदाता भी है। जिन ध्वनियों की, भौतिक दर्शन ने आधिभौतिक दृष्टिकोण से व्याख्या की थी, उसकी प्रतिभादर्शन की वैकृतध्वनि रूप में या वाचिकध्वनि रूप में व्याख्या ही 'शिक्षा' नाम से प्रसिद्ध हो गई। इस शिक्षाशास्त्र का परिपाक प्रातिशाख्यों में पाया जाता है, जिनकी निर्मिति या रचना दंग कर देनेवाली वैज्ञानिकता के पूर्ण वातावरण में हुई है। इसे आजकल ध्वनितत्व शास्त्र कहते हैं, (दे. 'हमारा ध्वनितत्व शास्त्र' आगे)। यह प्रतिभादर्शन का मुख्य अंग है। कहा जा चुका है कि 'प्रतिभादर्शन' मुख्यतः शब्द या वाक्य या भाषा की व्याख्या करती है वह अखंड और अक्रम है (दे. वाक्य स्फोट आगे)। अतः उक्त शिक्षा और प्रातिशाख्यों का ध्वनितत्व शास्त्र, शब्द या वाक्य की व्याख्या न देकर उसके अंगभूत आनुपूर्वी वर्णध्वनियों या वैखरी या वैकृतध्वनि मात्र की व्याख्या ही दे सका, जो नितान्त क्रमिक

रूप में ही उपलब्ध होता है, यह अखंड शब्द या वाक्य के ज्ञान के लिए एक उपाय मात्र सिद्ध हुआ। अतः आगे बढ़ना आवश्यक ही था। शब्द या वाक्य या भाषा के ज्ञान के लिए एक या दो और नकली उपायों की सर्वप्रथम आवश्यकता प्रतीत हुई। वह थी वाक्यों के अंगभूत पदों की सामान्य व्युत्पत्ति। अर्थ तो वाक्य का ही होता है प्रत्येक पद नानार्थ होता है या प्रत्येक वाक्य में अलग-अलग अर्थ रखता है (दे. अर्थवाद आगे)। फिर भी प्रारम्भिक विद्यार्थियों को प्रत्येक पद के एक सामान्य अर्थ और सामान्य मूल (दोनों नकली) स्वरूप से परिचित करा देना एक अनिवार्य आवश्यकता सी समय की लाघवता के निमित्त, समझी गई। इस पग ने दो शास्त्रों को जन्म दे दिया (१) निरुक्त, (२) शब्दानुशासन। निरुक्त ने मंत्रों से धातुओं को खोजा, पदों की सार्थक निरर्थक दोनों प्रकार की नकली व्युत्पत्ति दी, शब्दानुशासन ने निरुक्तकारों के धातुओं और पदों को चार भागों में विभक्त कर उनसे बनने वाले रूपों के ऐसे नियम बनाये मानो वे ही शब्द या वाक्य या भाषा या पदों के बनाने वाले ब्रह्मा हैं। इन दोनों शास्त्रों की प्राथमिक उपयोगिता के अनिवार्य होने पर भी इन शास्त्रकारों ने, एक तो शब्दों या पदों का ब्रह्मा बनने का ढोंग, दूसरे अपने ग्रन्थों की सूत्रमय भाषा को ही पृथक् शास्त्र सा बना देने की जो विडम्बना की, उसने प्रतिभा दर्शन को ही हतप्रभ बना डाला, विद्वान् लोग इनके भाषा के जाल में ऐसे फंस पड़े कि अबतक उससे मुक्त नहीं हो सके हैं। कुछ भी हो ये शास्त्र 'प्रतिभादर्शन' के प्रौढ़ ज्ञान के नकली साधन या उपाय रूप प्राथमिक अंग ही हैं। निरुक्त और शब्दानुशासन शास्त्र में यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि जी की मूर्तिचतुष्टयी में प्रतिभा सोलहों कलाओं में पूर्णरूपेण अवतीर्ण हुई। इन्होंने अपने ग्रन्थों में ध्वनिशास्त्र और वर्णपद स्फोट की थोड़ी सी भूमिका बाँध कर 'प्रतिभादर्शन' को समूचा निगल जाने के लिए नख से शिख तक का सम्पूर्ण बल एकत्रित किया, और इनकी अलौकिक प्रतिभा से मुग्ध प्रतिशताब्दी के प्रमुख विद्वानों ने साथ भी दिया, पर प्रतिभादर्शन फिसलकर निकल पड़ा, अपने थोड़े भक्त अनुचरों की गुप्त गंगा रूप में प्रवाहित होता चला। अन्त में उसे भर्तृहरि की पाचवीं सोलह कला की पूर्ण और अनुकूल प्रतिभा मिल ही गई। वैदिक छन्दः शास्त्र किस रूप का था, यह वैदिक दर्शन में बताया जा चुका है, इसका सम्बन्ध वृत्तों से होने के कारण यह भी शब्द संघटनमय शास्त्र होने से प्रतिभा दर्शन का ही एक अंग है। वार्ष्यायणि वार्तात्त और औदुम्बरायण ने वाक्य स्फोट विषय में कौन-कौन ग्रन्थ लिखे थे, तथा गर्गाचार्य के अलंकार शास्त्र का क्या

नाम था, यह यास्क महोदय ने, इनके मत का उल्लेख करते समय, बता के नहीं दिया। इनके वाक्य स्फोट के ग्रन्थ तथा अलंकार शास्त्र की रचनायें ही, वास्तव में 'प्रतिभादर्शन' के मुख्य शरीर और मुख्य विषय होंगे, इसका क्या कहना, यह स्वयं सिद्ध है। इस परिच्छेद में वर्णित, शिक्षा, प्रातिशाख्य, ऋग यजु साम छन्द (अथर्व) निरुक्त, शब्दानुशासन, छन्द, (वृत्तशास्त्र), वाक्यस्फोट, और अलंकार शास्त्र सब के सब प्रतिभादर्शन रूप वेद (ॐ या ब्रह्म या शब्दब्रह्म) के ही अंग हैं। यह षडङ्ग वेद नहीं, अपितु एकादशाङ्ग वेद है। कल्प के गृह्यसूत्रादि, ज्योतिष की खगोल विद्या, विद्या नाम से प्रतिभादर्शन के अंग कहे जा सकते हैं अन्यथा कल्प का यज्ञों से और ज्योतिष का सांख्य से या देवताओं से सम्बन्ध होने के नाते इन्हें हम मन्त्रात्मक वेदों के अंग कह सकते हैं। हाँ प्रतिभादर्शन का मुख्य आधार मन्त्रात्मक वेद की तथा लौकिक भाषा की सच्ची व्याख्या करना है, अतः इस रूप में हम प्रतिभादर्शन को मंत्र व्याख्याता दर्शन कह सकते हैं, मंत्रात्मक वेद का अंग नहीं पर नाक या गौरव है, क्यों कि इन वेदों में तो स्वयं इस भव्य दर्शन का उज्ज्वल वर्णन उपलब्ध होता है। यह स्वतन्त्र दर्शन है, सब दर्शनों का मूल स्रोत, सबका सहायक पर स्वयं सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, अपौरुषेय वेद है। मंत्रात्मक वेद स्वयं 'प्रतिभा दर्शन' के प्रथम फल हैं, जिससे बात उलटी पड़ जाती है, कि ये 'प्रतिभा दर्शन' के अंग हैं। अतः हमारा 'प्रतिभा दर्शन' इस भूलोक का सर्वप्रथम और अद्वितीय दर्शन है। इसका शब्द तत्व ही सच्चा वेद है। इसीलिए प्रतिभा दर्शन को वेद या ज्ञान या दर्शन की नाक कहा गया है "शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य"।

प्रतिभा दर्शन का मूल स्रोत—'प्रतिभा दर्शन' का प्रथम दर्शन, प्रथम सूत्रपात और प्रथम शिलान्यास 'दीर्घतमाः' ऋषि ने ऋग्वेद (२, ३, २१, ४) के निम्नलिखित मंत्र की रचना के साथ साथ किया था; "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥" यह मंत्र ब्रह्म में प्रस्तुत बीज रूप अनन्त अक्षरों का वर्णन देता है। उस अक्षरब्रह्म की व्याख्या वैदिक दर्शन के 'ऋचो अक्षरे' या 'अक्षर ब्रह्म' शीर्षक में विस्तार पूर्वक दी गई है वहाँ देखलें। इस मन्त्र की 'प्रतिभा दर्शन' के अनुकूल ठीक बैठने वाली, सर्वप्रथम वैज्ञानिक व्याख्या, शाकपूणि जी ने दो प्रकार से की थी—(१) अधियज्ञगत (२) अधिदैवगत। उनका कहना है कि 'अक्षर' ॐ कार का नाम है पर इसका अर्थ आत्मा और आदित्य भी है। यास्क जी ने इन्हीं के दिये अर्थों का अनुसरण करते हुए इस मन्त्र की बड़ी विस्तृत व्याख्या कर दी है, जिससे

लेखक के उत्तरदायित्व का भार बहुत हलका हो गया है। इस ऋचा के अर्थ की पृष्ठभूमि में एक अन्तर्कथा बतलाई गई है जिसके बिना इसका उचित अर्थ नहीं लगाया जा सकता। यास्क जी ने शाकपूणि जी के प्रतिभा-दर्शन विषयक एक बड़े महत्वपूर्ण सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए लिखा है, कि 'ऋचाओं का अर्थ सुनकर या तर्क से, नहीं करना चाहिए, न उन्हें अलग स्वतन्त्र निकाल कर; उनकी व्याख्या में 'प्रकरण' को सबसे अधिक प्रधानता देनी चाहिए' 'श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः'। यहां प्रकरण यह है। एक समय की बात है कि कुछ विद्वानों ने अपने गुरु से जाकर पूछा कि 'हम लोगों में से कौन ऐसा है जो 'ऋषि होगा ?' गुरु ने उत्तर दिया कि जिसने मन्त्रों के अर्थ की चिन्ता में निरन्तर अभ्यूहन या आलोडन या विचारणापूर्वक अध्ययन किया है वही विद्वान् 'ऋषि' कहला सकेगा, इस निर्णय को देनेवाली ऋचा यह है 'हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः। अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोहब्राह्मणो विचरन्त्युत्वे ॥' (ऋग्वेद ८-२-२४-३; और १०-६-३-८) जिसमें यह वक्तव्य दिया गया है। "मंत्रों का निर्माण तो हृदय की समस्त वासनाओं को अति निर्मलतया धोकर, पवित्रतम बुद्धि मति और श्रुति से किया गया है। उनका अर्थ लगाने में जल्दीबाजी, प्रकरणादि हीनता, अटकल पच्चू विचारों का कोई भी स्थान नहीं है। अतः दो चार विद्वानों को एक साथ बैठ कर, परस्पर परामर्श करते हुए, इस प्रकार निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि भाई यहाँ पर यह बात छूट गई है, वहाँ पर वह, इनकी यह बात अच्छी जचती है उनकी वह, तब सबके सामञ्जस्य से एक महत्वपूर्ण अर्थ निकलेगा। इस प्रकार के शब्दतत्व के विचार को 'ओह ब्राह्मण' नाम से पुकारते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि अष्टम मण्डल (ऋग्वेद) के बनने तक 'शब्दतत्व शास्त्र' ने अपने पैर जमा लिए थे। 'ओहब्राह्मण' शब्द का अर्थ [ऊह = तर्क के द्वारा निर्णीत, ब्राह्मण = ब्रह्मण इति ब्राह्मण = शब्द तत्व का समुचित अर्थ या 'शब्दतत्व का पुनीत विचार' होता है।" यास्क और दुर्गा ने इसका अर्थ 'निरुक्त' लगाया है वह गलत है। क्योंकि यहाँ निरुक्त का ही खंडन किया गया है। अतः ऋग्वेद के युग का 'शब्द तत्व विचार या 'ओहब्राह्मण' नाम प्रतिभा दर्शन का है।

भाषा क्या है ?

कंठस्थ अमरकोश ने संस्कृत और हिन्दी साहित्य के अध्ययन को लेखक के लिए, जितना सरल बनाने में सहयोग दिया था, भाषा-विज्ञान की प्रथम

पुस्तक ने ही उसके जीवन को, उतना ही जटिल बनाने के लिए, शायद, एकदम दूसरी ओर मोड़ने का तात्कालिक प्रभाव डाल दिया। प्रतिभा दर्शन का यह इतना हलका सा अंग भी इतना गम्भीर प्रभाव डालने में जो सफल हुआ उसमें कुछ-कुछ संस्कारों का दोष अवश्य होगा। किसी भी प्रकार विद्या की यह शाखा लेखक की अपनी रुचि का एक मुख्य विषय बन गया। तब से इस विषय का कुछ न कुछ चिन्तन अध्ययन और अंकन लगातार चलता रहा। कुछ दिन बीते, लेखक ने पाश्चात्य देशों में इस विषय के अध्ययन के स्तर को देखने की मन में भावना बनाई ही थी कि वह एकदम कार्यान्वित हो पड़ी। वहाँ पहुँचने पर यहाँ की भाषा विज्ञान को सर्वश्रेष्ठ समझने की भावना को धराशायी होते देख कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। क्योंकि भाषा तत्व सम्बन्धी जिन शीर्षकों को, भाषा विज्ञान में असम्मिलित देखकर पहिले जो एक प्रकार की तीव्र वेदना सी होती रही, उन्हें अब के नये रूप धारण किये हुए भाषा विज्ञान से भव्यतर रूप भाषातत्व शास्त्र के प्रधान अंग रूप में देख अब सन्तोष ने छलांगें मारी। वहां अब, भारत में सर्वश्रेष्ठ समझा जाने वाला उन्नीसवीं शताब्दी का छिछला भाषा विज्ञान कोई महत्त्व ही नहीं रखता। पाश्चात्यों को भाषाविज्ञान या आधुनिक भाषा तत्व शास्त्र सम्बन्धी जो कुछ भी ज्ञान है, उसका सब मौलिक आधार हमारे भारतवर्ष का सर्वप्राचीन प्रतिभा दर्शन है, इसे वे भी स्वीकार किये बिना नहीं रहते। जब यह देख लिया गया तो अपने ही दर्शन या शास्त्र को, जिसमें लेखक को उनसे अधिक गति या प्रगति रही, उनसे सीखना सचमुच लज्जा का सा विषय बन गया। पर उनकी भाषा की व्याख्या की अपनाई आधुनिक शैली का अनुगमन, उनके कलात्मक प्रयोगों की जानकारी, कर लेने की, फिर भी एक बड़ी आवश्यकता सी अनुभूत हुई। हमारे पूर्वजों ने भाषा तत्व शास्त्र के सिद्धान्तों की पवित्र प्रयोगशाला वैदिक साहित्य को बनाया था; उसको वर्तमान भाषाओं में ढालने की शैली कुछ प्रशिक्षण की आवश्यकता अवश्य रखती है। लेखक ने अपनी प्रयोगशाला के लिये कुमाउनी अपनी मातृभाषा को चुना है जिसकी व्याख्या शैली का प्रशिक्षण ही उक्त बड़ी महँगी यात्रा का मुख्य ध्येय हो पड़ा।

भाषा न एक दिन या युग की वस्तु है, न एक व्यक्ति या एक समाज की, यह एक एक बूंद रूप शब्द कणों के संचय से प्रस्फुटित गोमुख से सहस्र धारा में निकल कर धीरे-धीरे नाला नदी नद महानद में परिणत होकर महासागर बनकर भाषा कहलाने लगती है। इतने युगों का परिश्रम इतने जनों की प्रतिभा, इतनी इदन्ता और इयत्ता से हीन महासागर रूप अपार अगम्य जिस भाषा के निर्माण के उत्तरदायी है उसकी व्याख्या का एक जने की कलम

से हो जाना तो सर्वथा असम्भव है, पर 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' की कहावत के आधार पर स्वीकृत शैली का अनुसरण किसी भी लेखक को हतोत्साह नहीं कर सकता। बृहस्पति जी ने भाषा के निर्माण के बारे में ऋग्वेद में उक्त विचार की पुष्टि में लिखा है 'सक्तुमिव तितउना, पुनन्तो यत्र धीरा वाच मक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां[1] लक्ष्मी-र्निहिताधि वाचि ॥' 'विद्वानों ने प्रत्येक शब्द को सत्तू की तरह छान-छान कर, अपने आपस में बराबर परामर्श कर, भाषा का निर्माण किया है, अतः उनकी वाणी में प्रतिभा या ज्ञानराशि का संचित भण्डार है।' प्रतिभा दर्शन का कहना है कि भाषा, बहिर्ब्रह्माण्ड के उन अखिल चित्रों का वर्णन है, जो क्षीर सागर या सबसे सूक्ष्मतम अणु या शब्दाणु से बने रहते हैं, वही शब्दाणु चित्र प्रतिभा में सजीवता या पश्यन्ती का रूप पाकर, पुनः प्राणवायु का रूप धारण कर, जब सरस्वती (जिह्वा) से स्थान करण के आघात प्रघात से तैजस पाक द्वारा ध्वनि का रूप धारण करते हैं, तो पुनः अपने प्रथम स्वरूप वहिर्ब्रह्माण्ड के चित्र को स्फोट रूप में, अर्थ प्रतिबिम्बित स्वरूप में अनुभूत करते हुए वाक्य या भाषा कहलाता है। वहिर्ब्रह्माण्ड के चित्र अमूर्त निर्जीव थे, ये चित्र सजीव सप्राण, सराग सप्रेम सकरुण सघृणा आदि—युक्त—सरस, सव्यंग्य, सार्थ, सलय, सवृत्ति, सस्वर, सभार, सालंकार और सप्रमाण होते हुए, एक नवीन सृष्टि की रचना कर, मानव को प्रकृति का प्रभु बना देते हैं, यह है भाषा।

भाषा विज्ञान क्या है?—एक शब्द में भाषा विज्ञान ने जितना और जैसा काम आजतक किया है, उसके आधार पर, यह कहना यथार्थतः सत्य है कि 'भाषाविज्ञान' माने निरुक्त या निरुक्ति है। हमारे निरुक्तकारों ने वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत के शब्दों की निरुक्ति उनके मौलिक धातुओं और शब्दों को आधार शिला बना कर, तथा भाषा में अनेक प्रकार के दैनिक नैत्यिक और नैमित्यिक कारणों से जो विप्रकर्ष, आदि लोप, वर्ण लोप, विपर्यय, अन्तःव्यापत्ति, भाषिक धातुओं से नैगम, नैगमों से भाषिक शब्दों का बनना; कहीं प्रकृति कहीं विकृति का प्रयोग, प्रादेशिक, गौण भेद आते हैं उनको व्याख्यान का मानदंड मानकर, जिस प्रकार की थी, ठीक उसी प्रकार पाश्चात्य लोगों ने निरुक्तकारों की ही स्वीकृत सरणि को अक्षरशः अपना कर, पौर्वात्य पाश्चात्य आर्य भाषाओं के शब्दों के मूल धातुओं की एक सूची सी बनाकर, उनसे सभी भाषाओं के शब्दों के विकास की निरुक्ति देने का प्रयास किया, तदनन्तर

---

१. लक्ष्मी = प्रतिभा पश्यन्ती है 'श्रीश्च ते च लक्ष्मीः'।

उसी ढंग से प्राकृत अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के शब्दों की निरुक्ति मात्र की। इसके साथ साथ इस निरुक्ति में आधुनिक या मध्यकालीन भाषाओं के प्रत्ययों और विभक्तियों की भी निरुक्ति की; और दोनों प्रकार की निरुक्तियों से एक तुलनात्मक अध्ययन शैली को स्वीकार किया; यद्यपि इन दोनों प्रकार की निरुक्तियों की ओर ध्यान आकर्षित होने का श्रेय मौलिकतया प्रारम्भ से इसी तुलनात्मक शैली की ओर अकस्मात् दृष्टि पड़ जाने को ही था। इन दोनों प्रकार की निरुक्तियों को ये लोग भ्रम से ध्वनि विकास (फोनोलोजी) नाम से पुकारते रहे, वास्तव में यह था ध्वनि विकार; ध्वनियों का निरन्तर विकृत होते होते यह वर्तमान रूप धारणा करना। जब ध्वनि शास्त्र पाश्चात्य देशों में बचा ही था तभी उन लोगों ने हमारे प्रातिशाख्यों के कुछ स्थूल मतों का स्थूल अध्ययन कर, ध्वनि शास्त्र (फोनेटिकस्) पर थोड़ा कुछ विचार करना आरम्भ किया और तब वे वर्तमान भाषाओं के स्वरव्यञ्जनों के उच्चारण विधि को उस ध्वनिविकार में जोड़ने लगे। यहीं भाषाविज्ञान या निरुक्त की इतिश्री हो जाती है। १९५० तक पाश्चात्य में भाषाओं के अध्ययन की यही शैली चली, लिखी गई, सबके ग्रन्थों में केवल यही इसी ढंग की निरुक्ति हैं। भाषा तत्व शास्त्र, ध्वनिशास्त्र, ध्वनिविकास शास्त्र, शाब्दबोध, शब्दार्थबोध इन सबसे कोसों कोसों दूर-दूर रहा और है। पर भारत के सभी विश्वविद्यालयों में अभी तक इसी पुरानी लकीर के फकीरों को ही ज्ञान का बड़ा भारी अमीर कहा जाता है यही दुःख है। यह सब ज्ञान तो तद्भव का तत्सम जानने मात्र के बराबर है बस। अतः भाषा विज्ञान माने तद्भव का तत्सम रूप जानना है, यही फिलालोजी या फाईलालोजी है बहुत बहुत हल्का और छिछला ज्ञान है, यद्यपि यह एक प्रकार का निरुक्ति का अच्छा ज्ञान है, पर यह ज्ञान, भाषा शास्त्र के ज्ञान सागर में तैरने वाले एक तिनके के ज्ञान के बराबर ही है। इसकी बड़ी बड़ी भारी भारी भूलों का समाधान खण्ड ३ भाग २ के अध्याय १८ में आगे देखें।

भाषा तत्त्व शास्त्र क्या है—हमारे निरुक्तकारों की नियमावली का अक्षरशः अनुसरण करते हुये, अपनी और हमारी भाषाओं के सैकड़ों शब्दों में समता पाकर सबसे पहिले जर्मन विद्वानों ने आजकल की तुलनात्मक, और साक्षात् निरुक्ति नामक उक्त भाषा विज्ञान की नींव डाली ही थी कि सर विलियम जोन्स ने हमारे प्रातिशाख्यकारों तथा पाणिनि जी के व्याकरण के भाषा तत्व शास्त्र सम्बन्धी कई धुरन्धर विद्वानों को प्रातिशाख्य और अष्टाध्यायी के गम्भीर अध्ययन की ओर प्रवृत्त कर दिया। इनका वे जितना अधिकाधिक गम्भीर अध्ययन करने लगे उतने ही वे अधिकाधिक मीठे लगने लगे।

पाणिनि जी को गुरु मानकर उन्होंने केवल अपनी भाषाओं के व्याकरण सबसे पहिले पहल लिखना ही आरम्भ नहीं किया वरन् संस्कृत के व्याकरणों का अंग्रेजी में अनुवाद करके, वे अपने देश के लोगों की आँखें खोलने लगे। कितना अच्छा होता यदि इस प्रकार के ग्रन्थ हिन्दी में प्रस्तुत किये जाते, अतः संस्कृत जानने के लिए अंग्रेजी जानना आवश्यक हो गया। खैर ह्विटनी और माखमूले (मेक्समूलर) के प्रातिशाख्यों के अनुवाद अंग्रेजी और जर्मन में प्रस्तुत होते ही, यूरोपीय विद्वानों का एक बड़ा दल भाषातत्वशास्त्र की छान बीन में जुट गया। उन्होंने प्रातिशाख्यों का रस चूसकर, उन्हें तो डाल दिया पृष्ठ भूमि में, क्योंकि उन ग्रन्थों की कई या अधिकांश सूक्ष्म बातें इन अनुवादकारों की समझ में ही न आ सकी थीं, न इन लोगों की समझ में आने का प्रश्न ही कहीं उठता है। 'भाषा' शीर्षक पर मोटे मोटे पोथे प्रस्तुत हो गये। पर जब उन सिद्धान्तों को भाषाओं पर प्रयोग करने का समय आया गाड़ी आगे न चल सकी। तब प्राग विश्वविद्यालय के एक विद्वान् मेलिनोव्स्की ने सबसे पहिले अक्षर या वर्ण कुल या सिद्ध ध्वनि (फोनीम) पर विचार करना तब उपयुक्त समझा, जब वे वैदिक स्वर (उदात्तादि) की विशेषताओं को इसके ज्ञान के विना समझने में असमर्थ हो गये। तब तक द्वितीय विश्व महायुद्ध छिड़ गया। प्रो० ज० र० फर्थ लाहौर विश्वविद्यालय में भाषा विज्ञान के अध्यापक थे, उन्होंने भर्तृहरि के वाक्यपदीय के कुछ अंश का अंग्रेजी में अनुवाद किया, प्रातिशाख्यों के अनुवादों को पढ़कर, अक्षर तत्व (फोनीम) की अपनी परिभाषा बनाई, जिसका आधार प्रातिशाख्य मत शतशः है, उसे वे अपना मत कहते हैं, प्रातिशाख्यों के अन्य मत, पद शब्द वाक्य, और सन्धि की आदिता मध्यता अन्तता, अभिनिधान, स्वरभक्ति, ध्वनिविकास प्रभृति को ये एक नये शब्द ध्वनिक्रम (प्रोजोडी) नाम से पुकार कर उसे अपना नया मत कहते हैं और वे अब बड़े भाषा तत्व शास्त्री कहे जाते हैं। भर्तृहरि के शब्दार्थ के मत को भी इन्होंने अपना मत घोषित कर दिया है। अमेरिका में प्रातिशाख्य मत अधिकतर यन्त्रों से परीक्षित किया जा रहा है। यदि पाश्चात्यों की शैली से यन्त्राध्ययन हटा दिया जाय तो शेष सब हमारा शास्त्र ही रह जावेगा, (देखिये स्फोट वाद आगे)।

आजकल भाषा तत्व शास्त्र के चार भाग हैं (१) ध्वनितत्व शास्त्र (२) ध्वनि विकास शास्त्र (३) ध्वनि प्रत्यक्ष (४) ध्वनि अर्थ बोध। तृतीय को 'शब्द बोध', और चतुर्थ को 'शब्दार्थ बोध' कहना अधिक सुघर इसलिए है कि भारतीय इनके इन्हीं नामों से परिचित हैं। ध्वनि तत्व शास्त्र, भारत में एक महान् दर्शन, अक्षरब्रह्म दर्शन नाम से विख्यात रहा, इस दर्शन का

पाश्चात्य लोगों ने अब तक नाम तक नहीं सुना है, पाणिनि दर्शन, जिसका उल्लेख सायणाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में किया है, उसमें इस प्रतिभा दर्शन की कहीं पर गन्ध भी नहीं है, उसमें केवल स्फोट वाद है, वह पाणिनि जी का अपना नहीं है, अतः यह पाणिनि दर्शन नाम ही गलत और अनुचित है। ध्वनि तत्त्व शास्त्र प्रातिशाख्यों का विषय है जिसमें प्रत्येक अक्षर और वर्ण के उच्चारण का स्थान, करण, और प्रयत्न का वैज्ञानिक विवेचन दिया जाता है, यह भिन्न भिन्न युगों, देशों भाषाओं के मुखों और शैलियों के भेद से अनन्तता रखता है, एक स्वतन्त्र शास्त्र है। इसमें एक ध्वनि के, ह्रस्व दीर्घ प्लुत, गुरुतम गुरुतर गुरु, लघु लघुतर उदात्त अनुदात्त स्वरित (अनन्त प्रकार के), द्रुता विलम्बिता मध्यमा वृत्ति के भेदों से २८३५ भेद हो जाते हैं, एक एक अंग गहन अध्ययन की आवश्यकता रखता है। आजकल इसकी सहायता के लिये आस्य चित्र (पैलैटोग्राम) और ध्वन्यङ्कन कल का प्रयोग किया जाता है जिससे वर्णन पूर्ण वैज्ञानिक और पूर्ण प्रामाणिक बन जाता है।

ध्वनिविकास में भाषा में कृत् तद्धित और धातु रूपों में, मौलिक ध्वनियाँ जिन गुण वृद्धि, यण सवर्ण दीर्घ, पूर्व रूप, पर रूप, अयादि रूप, सर्व ह्रास या सर्व विकास पाती हैं उनका मुख्य विवेचन होता है, ये प्रत्येक जीवित भाषा में नित्य नवीन रूप लेते हैं। इसे भी अंग्रेजी में फ्रोनोलोजी कहते हैं। पर भाषा विज्ञान की फोनोलोजी और इसमें आकाश पाताल का अन्तर है। भाषा विज्ञान या निरुक्ति से यह शब्द ध्वनिविकार बतलाता था जैसे 'आँख' का 'आ' और 'ख' क्रम से वैदिक 'अ' और 'क्ष' (अक्षिन्) से निकला। यहाँ 'आ' और 'ख' वैदिक 'अ' और 'क्ष' के विकार हैं। आज का ध्वनि विकास दूसरा है, जैसे बुद्धि, बोध, बौद्ध इन तीनों शब्दों में उ का क्रम से ओ और 'औ' नामक स्वाभाविक विकास हुआ। हमारी भाषा में भी यह स्थिति मिलती है जैसे दिया, देना, दैन, पिया, पीलिया, पेय, ×, फिकवाया, फेंक दो, आदि। यह ध्वनि विकास का वास्तविक रूप है। आजकल ध्वनि विकास का दूसरा रूप यह है कि शब्दों वाक्यों और पदों की अपने अध्ययन से वैज्ञानिक लिपि बनाकर शब्द जैसी वास्तविक ध्वनि में उच्चरित होता है वैसा ही लिख दे, जिसे दूसरा ध्वनि विकास ज्ञानी उनको ठीक उच्चरित कर सके। ध्वनि विकास का तीसरा काम यह है कि वह जैसी लिखने की शैली है उसकी प्रतिलिपि (ट्रांस्क्रिप्शन) दे जिससे वैज्ञानिक लिपि और प्रचलित लिपि का भेद विदित हो जाय। ध्वनि विकास की उक्त तीन कोटियों के अतिरिक्त इसमें पदों और शब्दों की सन्धि, शब्दों और वाक्यों की सन्धि, पद, शब्द, वाक्य तीनों की आदिता मध्यता अन्तता और इनपर पड़े स्वर और घातों का

विवेचन देना सबसे विशिष्ट है। यह सबसे जटिल विभाग है। यह शैली प्रातिशाख्यों की है। शाब्दबोध के लिए स्फोट का ज्ञान सर्वोपरि आता है। यह ज्ञान तब तक सम्भव नहीं है जब तक शब्द तत्त्व का पूरा पूरा सा ज्ञान न हो जाय। इस पर प्रातिशाख्यकार, उपनिषद् आरण्यक तन्त्र ग्रन्थ तथा प्रतिभा दर्शन का ज्ञान आवश्यक है। इस भाग के ज्ञान से पाश्चात्य लोग प्रायः रहित हैं, यह उनके बस का रोग भी नहीं है, वे शब्द को वैज्ञानिकों की तरह अनित्य समझ बैठे हैं, अतः वे इसका कुछ ज्ञान कलों से करते हैं, पर स्फोट कुछ और ही वस्तु है जिसे समझना उन्हें अभी शेष ही है। रह गई बात शब्दार्थ बोध की, इस विषय का जो शास्त्र हमारे यहाँ है उसके हाथ लगने के पहिले ही पाश्चात्य लोग अपने को भाषा तत्त्व शास्त्र विद् घोषित कर चुके थे। यह शास्त्र, शब्द चित्र, भाव चित्र, और वस्तु चित्रों का एक बड़ा भारी माया जाल है, जिसमें वे अभी नहीं फँस पाये हैं। फिर भी आजकल तीन मार्ग चल पड़े हैं (१) अभ्यास मार्ग (विहेवरिज्म) (२) बौद्धिक (मेन्टालिस्ट) (३) मूर्ति पार्थक्य (अमेरिकन) ये तीनों मार्ग हमारे हैं, ये अनुयायी मात्र हैं, पर ये तो कह रहे हैं कि ये मार्ग उनके खोजे अपने हैं। प्रथम द्वितीय मार्गों की विशद व्याख्या भर्तृहरि के वाक्यपदीय में है। पाश्चात्य लोग आत्मा या चैतन्य को विज्ञान के साथ चलाने में संकोच करते हैं; अतः एक मार्ग के दो मत हैं। तीसरा मार्ग भाषाओं की 'मूर्ति पृथक्ता' मानता है इसका, नाम ही भयावना है हमारे भाषा सम्बन्धी भाव चित्रों को अधिक प्रमुखता देकर उसे नया मत सा मान रहे हैं। फिर भी ये सब के सब अभी शब्दार्थ बोध के सागर के किनारे ही खड़े हुये हैं, अभी गोता एक ने भी नहीं लगा पाया है और सागर तो अभी इन सभी को पार करना शेष है ही, पर किनारे से ही उस सागर का मतरूपी बटवारा अभी से वैसे ही हो रहा है जैसे दक्षिणी ध्रुव का बटवारा बिना वहाँ पहुँचे ही मानचित्र में किया गया था।

ग्रन्थ लिखने के कारण और उद्देश्य—(१) कुमाउनी मेरी मातृभाषा है। इसकी निरुक्ति का अध्ययन, लेखक ने दीक्षान्त काल से ही आरम्भ कर दिया था। उसी में विशेष प्रशिक्षण के लिए उसे लन्दन और पेरिस जाने का प्रयास भी करना पड़ा था। वहाँ जाकर जो देखा उसकी रूपरेखा आरम्भ में ही दे दी जा चुकी है। (२) विशेष अध्ययन के पश्चात् विदित हुआ कि यह भाषा हमारे भारतीय आर्यों तथा उनकी भाषाओं के इतिहास पर एकदम नवीन प्रकाश डालने के लिये, पर्य्याप्त मात्रा का विशिष्ट ब्यौरा रखती है, जिस पर आजतक भाषा तत्त्व सम्बन्धी खोज न होने के कारण, अतीव आवश्यक

तत्त्व अन्धकार के पर्दे में छिपे बैठे हैं। (३) जैसा पिछले दो परिच्छेदों में स्पष्ट कर दिया जा चुका है कि हमारा भारत तथा हमारे भाषातत्त्वविदों और शब्दानुशासनों के आधार पर, जहाँ पाश्चात्य लोग इस शास्त्र के अध्ययन के लिए धूनी रमाए बैठे हैं, वहाँ एक हम हैं, उसके ज्ञान के लिए उन पाश्चात्यों का मुख देख, और हमारे पूर्वजों के सैकड़ों मतों को अबतक भली भाँति न समझ सकने के कारण, उन्हें उनके अनेक तिरस्कार पूर्ण वाग्बाणों से विद्ध किया जाना, सहन करते चले आ रहे हैं। (४) हमारे ग्रन्थों के जो अनुवादादिक अंग्रेजी आदि भाषाओं में हुये हैं, वे हमारे लिये नहीं वरन् पाश्चात्यों के लिये लिखे गये हैं। (५) उनका हृदय अभी राजनैतिक प्रभुत्व से विलग नहीं हो पाया है, अतः हमारी अच्छी भी बात बुरी है, उनकी बुरी भी भली है। (६) संस्कृत, विशेषकर वैदिक संस्कृत, जो ग्रीक और रोमनों के अभ्युदय काल से बहुत पहिले काल की निश्चित रूप से है, उन्हें यह स्वीकार तक नहीं है। दूसरे उस संस्कृत का अध्ययन उनके बस की बात भी नहीं है। अतः उस भाषा को न समझ सकने के कारण, नाँच न आवे आँगन टेढ़ा' कहावत को चरितार्थ करते हुये, उनका हृदय आरम्भ ही से भारतीय (संस्कृति साहित्य सागर) से सदा असहानुभूति पूर्ण ही रहा है। उनका काम हमारी अच्छी बातें लेकर अपना बताना, और समझ में न आई तो छोटी बड़ी बातों को हमारी गलती समझ कर तूमार बाँध कर, खिल्ली उड़ाना रहा है। कोई भी पुस्तक ऐसी विचार धारा के बिना कठिनना से मिलेगी। (७) आजतक हमारे प्रतिभा दर्शन की हवा तक पाश्चात्यों को नहीं लग पाई है (अच्छा हुआ)। (८) भाषा तत्त्व शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों का विषय, उनकी टीकाओं और अनुवादों तक सीमित है। अभी तक किसी ने भी ऐसे समस्त ग्रन्थों को एक सामूहिक आलम्बन बनाकर उन सब में बिखरी सामग्री का सामञ्जस्य पूर्ण, पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन नहीं किया है, जिससे हमारा भाषातत्त्व शास्त्र अलग अलग खंडहरों में जैसे दबा पड़ा है। इस ग्रन्थ में उस सब सामग्री का एक सामञ्जस्य पूर्ण, पूर्ण व्याख्यान दिया जा रहा है। (९) आजकल जिन जिन बातों को पाश्चात्य या पौर्वात्य ठीक ठीक नहीं समझ पाये थे, उन सबको यथास्थान, सप्रमाण, सोल्लेख और सोदाहरण निर्मल जल सा बनाकर प्रस्तुत कर दिया गया है। (१०) यह तो सत्य की खोज और सत्य का अनावरण करता है। सत्य तो सत्य ही है, उसे प्रगट होना ही था, आज न होता तो कल होता पर होता अवश्य। (११) जब हम स्वतंत्र हो गये हैं और जब हमारे पास भाषा तत्त्व शास्त्र के कोहिनूरों की खान है, तब हम अपने असली हीरों को छोड़, बौद्धिक दासता की जंजीरों में बँध कर, पाश्चात्यों

की नकली कांच की गोलियों से कबतक खेलते रहेंगे ? ये बातें रह रह कर कचोटती सी, ग्रन्थ लिखने को वाध्य सी करती रहीं। (१२) पाश्चात्य के लोग कुछ तो कर ही रहे हैं। पर खेद तो यह है कि हमारे भारतवर्ष के समस्त विश्वविद्यालयों के नैरुक्त (फिलोलौजिस्ट) अबतक इस नये शास्त्र के ज्ञान से नितरां वंचित हैं, अतः इस ग्रन्थ के लिखने की आवश्यकता और अधिक बढ़ गई। (१३) अंग्रेजी में लिखा जाता तो नाम और दाम अधिक मिलते। पर ग्रन्थ लिखने के मूल में राष्ट्र और राष्ट्रीयता दोनों योगीश्वर शिव और योगिनी शक्ति के समान भिखारी से बने खड़े हैं। (१४) हिन्दी हो गई है राष्ट्रभाषा राजभाषा, इसमें ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों की अत्यन्त कमी है उसकी पूर्ति तथा (१५) हिन्दी में ग्रन्थ लिखने के मानदंड के स्तर को ऊँचा उठा कर, हिन्दी तथा भारत दोनों की शान को योग्य स्तर पर बिठाने का इस ग्रन्थ में यथाशक्य प्रयास किया जा रहा है। (१६) अभी हमें अपनी आधुनिक भाषाओं का अध्ययन, भाषातत्व शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार नये सिरे से करके उन्हें हिन्दी में ही प्रस्तुत करना है या होगा, उन सबका अग्रगामी या पथ प्रदर्शक बनने का काम भी किसी को अवश्य करना ही था, उस दूरदर्शी लक्ष्य की इस ग्रन्थ की अन्तर्निहित कामना भी इसकी प्रत्येक पंक्ति में गुञ्जायमान सी मिलेगी। (१७) इस दृष्टिकोण को अपना कर आधुनिक आर्य भाषाओं में से अपनी मातृभाषा कुमाउनी को ऐतिहासिक सामग्री की विशिष्टता के कारण भी, छाँटकर, यत्र तत्र इस सजीव भाषा के उदाहरणों का अधिक स्पष्टता के लिए सहारा लेते हुए, इसकी निरुक्ति, तथा भाषातत्त्व शास्त्र के नियमों से जिस प्रकार आधुनिक भाषाओं की व्याख्या की जानी चाहिए, उसका एक नमूना सा संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है। (१८) इस प्रकार यह समस्त ग्रन्थ श्री १०८ मत्स्येन्द्र नाथ रूपी जनता के माया मोह रूपी निद्रा भंग करने के लिए श्री १०८ गुरु गोरखनाथ का अपने भाव, विषय, प्रतिपादन, और खोज की गम्भीर तथा मार्दवता से विद्राविणी, मीठी ध्वनि से आप्लावित लेख रूपी पखावज या मृदंग के सांकेतिक शब्दों में 'जागिये गुरुदेव ! अब बहुत देर हो चली' की अव्यक्त पुकार की चीख लगा रहा है। या मार्कण्डेय जी की भाषा में 'प्रबोधं च जगत्स्वामी नीयतामच्युतो लघु' की दुहाई दे देकर प्रतिभा की प्रार्थना कर रहा है।

विषय का प्रतिपादन आधुनिकतम वैज्ञानिक शैली में किया गया है। पाश्चात्यों के परिश्रम को अवहेलना पक्ष में नहीं रखा गया है, जहाँ आवश्यक है, उससे विषय को पुष्ट करने की चेष्टा कर, प्राचीन नवीन दोनों मतों या भेदों

के बीच की खाई को सामञ्जस्य रूपी सामग्री से, सप्रमाण पाटने का प्रयास किया गया है। कोई निर्णय, बिना अच्छी तरह छानबीन किये या टटोले, पूर्वापर संगति मिलाये, नवीन प्राचीन दृष्टिकोणों की उपयुक्त तुलना किये, नहीं दिया गया है। कोई उद्धरण ऐसा नहीं, जिसका ठीक अर्थ न दिया गया हो, जहाँ दूसरों की अर्थ विषयक भूल प्रतीत हुई है उस पर निर्णय देने में अनेक पहलुओं पर विचार करते हुये वाद विवाद की समस्त भूमि उतार कर रख दी है। ऐसी बात उन स्थलों पर की गई है जहाँ का विषय अधिक महत्व पूर्ण है, जहाँ हलके विषय में भूलें मिली हैं वहाँ शुद्ध अर्थ देकर कह दिया गया है कि वह भ्रमात्मक अर्थ, उसके विरोधी दूसरे प्रमाण से खंडित हो जाता है। जितने उल्लेखों को प्रकरण में खपने खपाने का अवसर नहीं मिल सका है, उन्हें प्रकरण के अन्त या पाद टिप्पणी में टीप दिया गया है। प्रत्येक प्रकरण के अन्दर, विषय की प्राञ्जलता की दृष्टि से, ऐसे कई आवश्यक 'उपशीर्षक' दे दिये गये हैं, जिससे विषय का अनुगम दृढ़ता से हो जाय। जहाँ जहाँ आवश्यक है, वहाँ मानचित्र, रेखा चित्र, विभागीय पृष्ठ चित्र, और नमूने प्रत्येक प्रकरण या उपप्रकरण की विविक्तता, स्पष्टता, और हृदयंगमता के लिए अंकित किये या पृथक् दिये गये हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ गुरु और शिष्य दोनों का काम एक साथ करने में समर्थ हो सकेगा।

शब्द ब्रह्म की व्याख्या

ब्रह्म शब्द दार्शनिक है, इसका प्रयोग दो तत्वों के लिए मुख्यतः किया हुआ मिलता है। (१) ब्रह्म या परं ब्रह्म, शब्द ब्रह्म या पुरुषोत्तम, परमात्मा, ईश्वर आदि अर्थ में और (२) महद्ब्रह्म या ब्रह्म या परा शब्द, प्रकृति योनि स्वभाव आदि अर्थ में भी दिया हुआ मिलता है। इस प्रकार 'ब्रह्म' शब्द पुरुष और प्रकृति दोनों को पृथक् पृथक् रूप में तथा, दोनों के एक सम्मिलित रूप को बतलाता है। जहाँ प्रकृति को ब्रह्म कहा जाता है, वहाँ केवल प्रकृति ही नहीं है, अपितु वहाँ पुरुष भी विद्यमान है, इसी प्रकार जहाँ पुरुष को ब्रह्म कहा है वहाँ केवल पुरुष ही नहीं वरन् उसमें प्रकृति भी सम्मिलित है। क्योंकि ये दोनों नित्य के अभिन्न सहचर हैं, कभी भी एक दूसरे से अलग रह ही नहीं सकते, प्रलय तक में ये अर्द्धनारीश्वर के समान सर्वांग सम्मिलित रहते हैं। पुरुष और प्रकृति एक ही नित्य मिश्रित तत्व या आदितत्व के दो ऐसे पहलू हैं, जिसको समझने और समझाने के लिए दो नाम अवश्य देने पड़ते हैं।

जिसे दार्शनिक लोग प्रकृति योनि या स्वभाव आदि नाम से पुकारते आ रहे हैं, वह वास्तव में है प्रतिभा दर्शन का शब्द तत्व या आकाश तत्व।

प्रकृति का नाम ब्रह्म है, अतः इस शब्द तत्त्व को 'खं ब्रह्म' या 'शब्द ब्रह्म' नाम से वैदिक और औपनिषदिक ऋषि मुनि आदि से ही पुकारते चले आ रहे हैं। 'आकाश ब्रह्म' शब्द प्रचलित या प्रयुक्त नहीं है, 'खं ब्रह्म' शब्द संक्षिप्त और सुन्दर है। यह 'खं ब्रह्म' या 'शब्द ब्रह्म' को प्रकृति आदि का प्रतिनिधि किस प्रकार और क्यों माना गया है? इसके उत्तर में निम्नांकित निवेदन है। तत्त्वों का अनुकूल विकास क्रम उसके ह्रास मार्ग में एकदम प्रतिकूल है। सृष्टि का विकास क्रम यह है :—प्रकृति (पुरुष युक्त)-बुद्धि-महत्-सत्त्व-अहंकार-तन्मात्रा—आकाश वायु तेज जल पृथिवी—तथा बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय। अब प्रलय क्रम देखिये :—कर्मेन्द्रिय बुद्धीन्द्रिय—पृथिवी जल तेज वायु आकाश-अहंकार-सत्त्व-महत्-बुद्धि—प्रकृति (पुरुष युक्त)। यहाँ द्वितीय विपरीत क्रम में सब महाभूत अन्त में आकाश तत्त्व में लय को प्राप्त हो जाते हैं। आकाश श्रव्य तत्त्व है, यह यहाँ पर पारमाणविक होने से इन्द्रिय श्रव्य रहता है। इन्द्रियाँ यहाँ तन्मात्रा रूप में हैं अतः इस आकाश श्रव्य तत्त्व को अतीन्द्रिय श्रव्य तत्त्व कहना चाहिए। अहंकार में उस आकाश का परिवर्तन सात्त्विक तामसिक आकाशतत्त्व रूप में होता है, उसका सत्त्व में परम सात्त्विक तत्त्व में होता है, इसीलिए इसे सत्त्वतत्त्व कहते हैं, पर अहंकार में तीन चौथाई तामसिकता है, एक चौथाई सात्त्विकता है। अतः अहंकार की स्थिति प्रधानतया तामसिक गुण की व्यक्त स्थिति है। सत्त्व का लय जब महत् में होता है तो उसमें तीन चौथाई राजसिकता रहती है, सत्त्व में आधी मात्रा सत्त्व की, एक चौथाई रज की, एक चौथाई तम की रहती है। बुद्धि तत्त्व में तीन चौथाई सत्त्व की तथा एक चौथाई रज की रहती है। प्रकृति की अवस्था में रज और तम तो केवल सिद्धान्त रूप से, मौलिक गुण रूप से प्रस्तुत कहे जा सकते हैं, उसमें केवल सात्त्विक तत्त्व का प्राधान्य है। रज और तम की वहाँ की स्थिति स्पन्द स्थिति साधिका रूप में मानी जा सकती है। अहंकार से ऊर्ध्व गति विलय में जो जो परिणाम होते आ रहे हैं वे सब आकाश तत्व मात्र में ही होते आ रहे हैं। प्रकृति की अवस्था में वही आकाश तत्व निर्मल स्वच्छ परमातीन्द्रिय श्रव्य सा, सत्व का क्षीर सागर सा, सूक्ष्मता की चरम सीमा का प्रतिबिम्ब सा, असत् सा, या सत्त्वतत्व या ब्रह्माण्ड का सत्त सा होने से सत् सा रूपाकार से नितान्त हीन सा, सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं सा जो तत्त्व शेष रह जाता है वह है क्या? प्रकृति! नहीं, आकाश तत्त्व का पाचवीं श्रेणी का रूप। आकाश—हमारा पारमाणविक आकाश ही इतना सूक्ष्म है जिसे शून्य कहते हुये हम हिचकते नहीं, तब उस ऐसे सूक्ष्म का, पाचवीं

अन्तिम प्रतिलोम सीढ़ी के संकोच स्थिति का, क्या रूप होगा? यह तो कल्पना से बाहर की सी वस्तु है। तत्त्व तो अत्यन्तात्यन्तातीन्द्रिय अव्यक्त मात्र तत्त्व है, वह है केवल 'मौलिक आकाश'। इसी मौलिक आकाश को प्रकृति कहते हैं, यह प्रकृति 'मौलिक आकाश' से दूसरी वस्तु नहीं, प्रकृति को ब्रह्म कहते हैं अतः इसे 'खंब्रह्म' या 'शब्द ब्रह्म' कहते हैं। यह प्रतिभा दर्शन की बड़ी विजय है। यही वेदों का 'अक्षर' ब्रह्म है।

जब हम 'खं ब्रह्म' या 'शब्द ब्रह्म' या 'अक्षर' की उपर्युक्त व्याख्या को स्वीकार करते हैं तभी गीता के श्लोक 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥' (४-२४) का समुचित अर्थ लगाया जा सकता है। अर्थ-खं ब्रह्म या शब्दब्रह्म प्रकृति ही नहीं, अपितु पुरुष भी है, दोनों अभिन्न सहचर हैं। हमारा पांचभौतिक शरीर उसी खंब्रह्म की विकास परम्परा का परिणाम है। अतः यह शरीर रूप विकृत खंब्रह्म, जिस वस्तु को अर्पण करता है, वह भले ही यह समझे कि मैं पुरुष ब्रह्म को अर्पण कर रहा हूँ, पर वास्तविकतया वह समस्त समर्पण खंब्रह्म को ही होता है, समर्पण स्वयं खंब्रह्म ही है, उसी की विकृतावस्था द्वारा समर्पण किया जाता है, उसी की विकृतावस्था की हवि दी जाती है, जो हवि है वह भी खं ब्रह्म ही है, उसका हवन भी खं ब्रह्म रूप की विकृतावस्था तेज या अग्नि में होता है, हवन भी ब्रह्म का ही है, हवनकर्ता भी तो खंब्रह्म ही है, इन सब प्रक्रियाओं का अन्तिम परिणाम भी खंब्रह्म में ही जाता है, समाधि तो बिना खंब्रह्म के ज्ञान और प्रयोग के हो ही नहीं सकती। क्योंकि समाधि साधना के लिये 'प्रणव' की परम आवश्यकता है। 'प्रणव' भी 'खंब्रह्म' ही है, इसको 'एकाक्षर ब्रह्म' भी कहते हैं। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥' (गीता ८-१३) 'प्रणव' का अर्थ है 'प्रकर्षेण नवः सारः प्रणवः सर्वं नवनीतः' जिसको अत्यन्तात्यन्त संक्षिप्त या सारवत् कर लिया गया है, यह खं ब्रह्म का ही हो सकता है। 'ओम्' (ॐ) का अर्थ—इस ब्रह्माण्ड के व्यक्ताव्यक्त अ से म पर्यन्त समस्त अक्षर ध्वनियों का संक्षिप्ततम रूप समाहार है। अन्त का 'म्' उपध्मानीयों का संकेतक शब्द है। अक्षर ध्वनियाँ मौलिक ध्वनियाँ कहलाती हैं जिनमें स्फुटास्फुट और व्यक्ताव्यक्त दोनों रूप सन्निहित रहते हैं (अ + उ + म्) अ = ह्रस्व स्वर + उ = दीर्घस्वर + म् = उष्माण = २४ यही ऋग्यजु साम हैं। यह पूर्वार्द्ध की ध्वनियाँ हैं। उत्तरार्द्ध में २४ ध्वनियाँ और हैं जिन्हें व्यञ्जन कहते हैं। कुल २४ ध्वनियों से स्पष्ट होने वाली ध्वनि 'ओम्' (ॐ) स्वयं खंब्रह्म या शब्द ब्रह्म है। सच पूछिये तो प्रकृति की जो त्रिगुणात्मकता है वह

केवल यही 'अ + उ + म्' की या स्वर + दीर्घस्वर और उष्माण की त्रिगुणात्मकता का समाहार या उपसंहार रूप है। यही ध्वनियाँ विकास पाकर वाय्वादि तत्वों में, पहिले मौलिक रूप में, अहंकार के बाद पञ्चमहाभूत और इन्द्रिय रूप में परिणत होती हैं। ये अकारादि स्वर नाम तो प्रतीक है स्वरूप नहीं हैं। वे ध्वनियाँ तो तात्विक हैं उच्चारणीय ध्वनियाँ नहीं हैं।

कठोपनिषद् में उद्धृत अथर्ववेद के मन्त्र 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्' आदि का जो अनुवाद गीता ने 'ऊर्ध्वमूल मधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेद विद्' ॥ (१५-१) श्लोक द्वारा किया है, उसमें जिस सृष्टि वृक्ष या वेद वृक्ष या अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन है वह भी यही 'खंब्रह्म' या शब्दब्रह्म' का स्पष्ट निवेचन देता है। 'खंब्रह्म' या 'शब्दब्रह्म' या प्रकृति को वेद भी कहते हैं। भारतीय मीमांसा प्रभृति शास्त्रों में वेद की जो सर्वप्रथम उत्पत्ति की गलतफहमी है, उसका मुख्य कारण उक्त स्थलों में प्रयुक्त पारिभाषिक या तात्विक अर्थवाले 'वेद' शब्द को न समझ सकना ही स्पष्टः सामने है। हमारे शास्त्रकारों ने कई स्थलों पर जो यह कहने का साहस किया है कि 'शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदोविदुः। छन्दोभ्य एव प्रथम मेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥' (ब्रह्मकाण्ड वाक्यपदीय १२१) 'ब्रह्मणा निर्मिता वेदा वेदेभ्यश्चाखिलं जगत्'। यह जितना वैज्ञानिक वक्तव्य है, उतनी उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। पर खेद यह है कि हमारे अर्थकारों का मनोविज्ञान पौराणिक वातावरण से इतना कलुषित और हठधर्मितापूर्ण है कि वे उन महान् विभूतियों की पूत भावनाओं की उपेक्षा करते नहीं हिचकते। यहाँ ब्रह्मणा' के माने प्रकृत्या स्वभावेन या खंब्रह्मणा या शब्दब्रह्मणा है, (पौराणिक ब्रह्मा नहीं) उससे वेदा 'प्रणवः' (ॐ या ह्रस्व स्वर + दीर्घस्वर और उष्माण) उत्पन्न हुये, उनसे समस्त ब्रह्माण्ड। असल बात तो यह है कि वैदिकों ने अपने मन्तव्य को वक्तव्य में गूढ रहस्यमय ही बनाये रखा है, किसी के पास प्रतिभा का दूरवीक्षण यन्त्र हो तो देख ले, नहीं तो रटते जाओ यह उनका ध्येय रहा है। पुरुष सूक्त में 'तस्मात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांऽसि जज्ञिरे, तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' में ठीक वही पहेली है जो इस परिच्छेद के आदि में 'तिर्यग्बिल' आदि और उर्ध्वमूलमधः शाख' में बतलाई जा चुकी है। पर इस वर्तमान अन्तिम वक्तव्य में वैज्ञानिकता और अधिक ऊँचे स्तर की पाई जाती है। यहाँ 'सर्वहुतः' से या सब तत्वों के प्रलय रूप खंब्रह्म या शब्द ब्रह्म से 'ऋचः सामानि और छन्दाँसि तथा यजूँसि' उत्पन्न हुए कहा है। वह 'सर्वहुत' तत्व 'ओम्' ध्वनि का समाहार है। इस मन्त्र का अर्थ वैदिक दर्शन के पुरुष सूक्त में देखें। उक्त

ग्रन्थों के निर्माण का क्रम भी भाग्य से या अभाग्य से वही है जो उक्त ध्वनियों का है, यही सम्पूर्ण भ्रम जाल का मूल कारण और अपौरुषेय भावना का बीज मंत्र है।

ज्ञानयज्ञ व्याख्या

हमारे महर्षियों ने ज्ञान के प्रत्येक पहलू पर पराकाष्ठा तक विचार कर दिया है, पुरुष सूक्त में 'यज्ञ' शब्द सात बार आया है—"तस्माद् यज्ञात् (६), तस्माद् यज्ञात् (७), अयजन्त साध्या, तं यज्ञं (८), देवा यज्ञमतन्वत (१४), देवा यद् यज्ञं तन्वाना (१५), यज्ञेन यज्ञमयजन्त (१६)"। इन सब में 'यज्ञ' शब्द का क्या अर्थ है? अग्नि तीन प्रकार की होती है (१) कोष्ठाग्नि (जठरानल), (२) दर्शनाग्नि (जिससे रूपों का दर्शन होता है), (३) ज्ञानाग्निः जिससे शुभाशुभ कर्म जानते हैं। ज्ञानाग्नि के तीन विभिन्न स्थान होते हैं—(१) मुख में आहवनीयाग्निः, (२) उदर में गार्हपत्याग्निः, (३) हृदय में दक्षिणाग्निः। इस अग्नियों के यज्ञ में आत्मा यजमान है, मन ब्रह्मा (पुरोहित) है, लोभादि पशु हैं, धृति, दीक्षा सन्तोष और बुद्धीन्द्रिय यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रिय हवियाँ हैं, शिरः, कपाल (पात्र है) केश, कुश हैं, मुख अन्तर्वेदी है, शिर चतुष्कपाल हैं, दन्त पटल षोडश पटल हैं, इत्यादि, यह है पैप्पलाद का मोक्ष शास्त्र। ऐसे ही यज्ञ की चर्चा उक्त पुरुष सूक्त के 'यज्ञ' शब्द में है—"शरीरमितिकस्मात् अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते ज्ञानाग्निः दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति, तत्र कोष्ठाग्निर्नामाऽशितपीतलेह्य चोष्यं पचति, दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति, ज्ञानाग्निः शुभाशुभं कर्म विन्दति त्रीणि स्थानानि भवन्ति मुखे आहवनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः आत्मा यजमानो, मनो ब्रह्मा, लोभादयः पशवः, धृति दीक्षा सन्तोषश्च, बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, कर्मेन्द्रियाणि हवींषि, शिरः कपालं, केशाः दर्भाः, मुखमन्तर्वेदिः, चतुष्कपालं शिरः, षोडशपार्श्वदन्तपटलानि" आदि (गर्भोपनिषद्-पैप्पलाद मोक्ष शास्त्र)। इसी प्रकार का रहस्यमय अर्थ प्रणव, ओम्, खंब्रह्म और त्रयी तथा ऋक् साम यजूंषि का भी है, जैसा कि दे दिया जा चुका है। प्रतिभा दर्शन क्रम भी उक्त प्रकार का ही सामान्य होना सम्भव है।

इस प्रसंग में एक अधिक महत्त्वपूर्ण वाद-विवाद का उल्लेख करना असंगत न होगा। गार्गी एक धुरन्धर विदुषी हो चुकी हैं। उन्होंने प्रश्नों की फुलझड़ी लगाकर याज्ञवल्क्य ऋषि की नाकों में दम कर दिया था। इस उल्लेख में कई ऐसे तारों और महातारों का उल्लेख है जिनकी सत्ता अब निश्चित हो चुकी है (दे० सांख्य दर्शन का जीर्णोद्धार अध्याय १८ (क)

सत्त्व तत्त्व) उन तारादिकों के नाम क्रमशः ये हैं—पहिले पृथिवी का लय जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का गन्धर्व-लोक में, गन्धर्वों का आदित्यों में, आदित्यों का चन्द्रों में (चन्द्रमा नहीं), चन्द्रों का, छोटे तारों का नक्षत्रों में (समूहों में), नक्षत्रों का देवलोकों में (महातारों में), महातारों का इन्द्रों में (महा सूर्यों में), इन्द्रों का प्रजापतियों में (नेबुली, नोभी में), उनका ब्रह्म में (प्रकृति में) लय क्रमशः होता है। इसके आगे बढ़ने में याज्ञवल्क्य जी घबरा गये (देखिये बृहदारण्यक-मधुकाण्ड-षष्ठब्राह्मण)।

आजकल तान्त्रिकों की मखौल उड़ाई जाती है—प्राचीन तान्त्रिकों की भूतसिद्धि कुण्डलिनी योग द्वारा अपने अपने शरीर में हुआ करती थी, अब के तान्त्रिक श्मशान में भूतसिद्धि करने जाकर तन्त्र शास्त्र के पावों में कुठाराघात करते हैं। प्राचीनों की भूतसिद्धि की सरणि यह थी—"मूलाधारात्समुत्थाप्य कुण्डलिनीं परदेवताम्। सुषुम्नामार्गमाश्रित्य ब्रह्मरन्ध्रगतां स्मरेत्॥ जीवं ब्रह्मणि संयोज्य हंस मन्त्रेण साधकः॥" ओम् हंसः सोऽहम्। मातृकोप संहारः॥ यहाँ 'सोऽहम्' सृष्टि वाचक शरीर वाचक है। उसका उलटा क्रम करके—म् का 'ह' में, ह का अ में, अ का स में लय करके 'हंसः' प्रतीक वाला ओम् मात्र शेष रखना ब्रह्ममय हो जाना या ब्रह्मानुभूति पा जाना भूतसिद्धि कहलाती रही, अब भी है। इस क्रम में क्ष का ह में, 'ह' का 'स' में, 'स' का 'ष' में, ष का 'श' में, श का 'म' में, इसी प्रकार क तक क्रमशः व्यञ्जन ध्वनि रूप अन्तर्जगत् का लय करके फिर स्वरमय जगत् के लय के लिये अः से 'अ' तक क्रमशः लय करते रहे। यह 'अ' कार सहस्रदल कमल के आकार वाले ब्रह्मरन्ध्र रूप परमात्मा में लय को प्राप्त हुआ या हो गया ऐसी भावना करते रहे। तब वायु बीज 'यँ' वह्नि बीज 'रँ' सुधाबीज (जल) वँ, और भूबीज 'ल' का जप करके ब्रह्मरन्ध्र गति का ध्यान करते रहे। तदनन्तर आकाशादि भूतों की स्वयं सृष्टि करते थे। "आकाशादीनि भूतानि पुनरुत्पादयेत्ततः अखण्ड-ब्रह्म तस्मात्स्यात्प्रेरकः पुरुषस्तथाः। प्रकृते महदाकारस्ततोऽहं त्रिगुणात्मकः॥ तब—तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः इत्यादि की परिस्थिति आती रही—पृथिवी की सृष्टि के बाद—पृथिव्या ओषधयः—ओषधीभ्योऽन्नम्-अन्नाद्रेतः—रेतसः पुरुषः—स वा एष पुरुषोऽन्न रस मयः हं सः सोऽहम्। कुण्डलिनी जीवमादाय परसंगात्सुधामयीम्। संस्थाप्य हृदयाम्भोजे मूलाधार गतं स्मरेत्॥" यह था तान्त्रिकों का शब्द ब्रह्ममय योग, जिनकी सब प्रक्रियायें शब्दाधार पर चलती रहीं। वे इस देह पिंड को अखिल ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधि सा मान या समझ कर मूर्तों में भी प्राणप्रतिष्ठा करने

में सफल हो जाते रहे। इसकी सिद्धि के लिये उन्हें अन्तर्मातृका और बहिर्मातृकाओं का न्यास करना पड़ता रहा। तब योगसिद्धि मिलती रही। अब यह मार्ग नष्टप्राय है, पुस्तकों में लिखा और कर्मकाण्ड में यों ही घसीटा चला जा रहा है। वास्तव में यह एक गम्भीर दर्शन और मौलिक योग दर्शन था। पर आजकल के तान्त्रिक उस तत्त्वसिद्धिकारक 'भूत सिद्धि' को 'प्रेतसिद्धि' रूप में करते हैं।

प्राचीन युग में व्याकरण नाम शिक्षादर्शन या प्रतिभादर्शन का था—लेखक ने भर्तृहरि जी के वाक्यपदीय के 'ब्रह्मकाण्ड' की एक टीका देखी है। उसमें भर्तृहरि जी के ब्रह्मकाण्ड की व्याख्या वेदान्त के विवर्तवाद का अनुसरण करते हुये लिख रखी है। 'शब्द ब्रह्म' और वर्तमान विवर्तवाद एक दूसरे के परस्पर विरोधी मार्ग हैं। वेदान्त में शब्द जैसी वस्तु की सत्ता है कहाँ? भर्तृहरि जी ने स्थान-स्थान पर शब्द के कणों और अणुओं की चर्चा की है (शब्द ब्रह्मकाण्ड १०८, १११, ११२ को देखें), तथा उन्होंने स्थल स्थल पर पुरुष और उसके प्रकाश का वर्णन दिया है (देखिये ४५, ४६, ३७, ३८, ४१, १००, ११८ आदि) अर्थबोध में भर्तृहरि जी शब्दों के और अर्थों के प्रतिबिम्बों को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं (दे० २०, ४९, ५०, १००, १०१, १०२ और पदकाण्ड वाक्य काण्ड देखें)। वेदान्त के विवर्त में सब अनित्य हैं केवल ब्रह्म सत्य है। पर भर्तृहरि जी और सब वैयाकरण शब्द ब्रह्म या शब्द तत्त्व को नित्य मानते हैं (२८, ७०, १ आदि) इतना ही नहीं भर्तृहरि जी शब्द तत्त्व को अक्षर ब्रह्म नाम से पुकारते हैं। 'अक्षर ब्रह्म' की व्याख्या दी जा चुकी है। यह अनादि और नित्य है, यह शब्द तत्त्व के ब्रह्म स्वरूप में 'ओम्' का संक्षिप्त स्वरूप 'संवृत' 'अ' के रूप में सत्ता मात्र रहता है। जब इससे विकास होने लगता है तो वह 'संवृत' 'अ' रूप शब्द ब्रह्म 'विवृत' 'अ' रूप को धारण कर 'ओम्' (अउम्) रूप लेता है, फिर क्रमशः उक्त सब ध्वनियों में विवृत हो जाता है या विकास पा जाता है, उक्त टीकाकार महोदय ने 'विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः' इस प्रथम श्लोक की दूसरी पंक्ति में आये शब्द 'विवर्तते' को विवर्तवाद का प्रतिनिधि समझ कर हिमालय पर्वत समान महान् भूल कर डाली है। 'विवर्तते' शब्द यहाँ 'अ' ध्वनि एकाक्षर ब्रह्म (संवृत 'अ' ध्वनि) के संसर्ग से स्पष्टतः 'विवृत ध्वनि' का बोधक है। जब तक संवृत 'अ' ध्वनि विवृत 'अ' ध्वनि में परिणत नहीं होती तब तक जगत् की प्रक्रिया या सृष्टि क्रम चल ही नहीं सकता। यह है उक्त श्लोक का वास्तविक भाव। यहाँ वेदान्त के विवर्तवाद की छाया भी नहीं छू सकती। यह तो भौतिक अणु तत्त्वों के रूप स्वर उपध्मानीय व्यञ्जन ध्वनियों के क्रमिक विकास का

विश्लेषण दे रहा है। प्रतिभादर्शन का स्फोटवाद उसका ब्रह्मास्त्र है। इस स्फोटवाद की स्वीकृति, इस दर्शन को शंकराचार्यादि के विवर्तवाद या वेदान्त शास्त्र से कोसों दूर कर देती है, स्फोटवाद, शब्द ब्रह्म सम्बन्धी यथार्थतः सत्कार्यवाद है। उक्त सभी कोटियों को ध्यान से देखा जाय तो इन सब में सांख्य दर्शन की पूरी-पूरी मुहर लगी हुई मिलेगी। प्रत्येक कोटि सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों में अक्षरशः ढली हुई है। इस बात की पुष्टि अगले परिच्छेद से कीजिये।

भर्तृहरि जी ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही शब्दतत्त्व को एकाक्षर ब्रह्म[1] नाम से पुकारा है। यह एकाक्षर ब्रह्म गीता के अहोरात्र मार्ग के मोक्षयोग में वर्णित 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयातित्यजन्देहं सयाति परमां गतिम्' (८–१७) का अक्षरशः प्रतिपादन करता है। इस बात की पुष्टि में भर्तृहरि जी पुनः लिखते हैं, 'आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः। प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥' (शब्दब्रह्म ११) कि व्याकरण, शब्दब्रह्म के समीप पहुँचने का परम तपः है, तथा व्याकरण को अपवर्ग का मुख्य द्वार और सब विद्याओं में पवित्रतम विद्या मानते हैं (१४) फिर उनका यह पक्का दावा है कि यह व्याकरण आदि विद्या है, सिद्धि प्राप्ति की सीढ़ियों से युक्त होकर, मोक्ष प्राप्त करने वालों का सीधा राजमार्ग सा है। उनका यह भी कहना है कि इस 'प्रणव' सिद्धान्तानुयायी प्रतिभादर्शन के अङ्ग ब्रह्मविद्दर्शन का किसी भी वाद से विरोध आता ही नहीं, क्योंकि इसके 'प्रणव' तत्त्व को सभी शास्त्रों ने अपना रखा है, अतः 'शब्दब्रह्म' का नाम 'परा' प्रकृति है। इससे सायुज्य मोक्ष मिलता है। इसके थोड़े से ज्ञान से अज्ञ भी ब्रह्मामृत का पान कर लेता है। "तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्। पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते॥ १४॥ इदमाद्यं पद स्थानं सिद्धि सोपान पर्वणाम्। इयं सा मोक्षमाणानामजिह्माराजपद्धतिः॥ १६॥ सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैक पदागमा। युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी॥ ९॥ आम्नातासर्वं विद्यासु वागेव प्रकृति परा॥ १२८–१॥ अथ प्रयोक्तुरात्मनं शब्दान्तरमवस्थितम्। प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्य मिष्यते॥ १३३॥ तस्माद्यः शब्द संस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः। तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते॥ १३३॥" इस स्पष्टतम उद्धरण से इस

---

१. अनादि निधनं ब्रह्मशब्द तत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ (वा० प० १–१)

बात में सन्देह की लेशमात्र छाया नहीं रह जाती कि प्रतिभादर्शन का अङ्ग-भूत यह मोक्षयोग दर्शन का सर्वोत्तम मार्ग है। अतः यह अक्षरशः सांख्ययोग दोनों दर्शनों के आधार पर निर्मित एक सुदुर्लभ दर्शन है। इसमें वेदान्त-शास्त्र की कहीं भी छाया भी नहीं है। इस शास्त्र के अनुयायियों को 'ब्रह्मवादी' या वेदविद् नामों से पुकारते हुए 'ओम्' के तीन रूपों की चर्चा की है। लिखा है, 'ओम्तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधःस्मृतः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ता सततम् ब्रह्मवादिनाम्' ॥ १८–२३, २४ ॥ शब्दब्रह्म के तीन रूप हैं (१) ओम् (२) तत् (३) सद्। 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' 'यस्तं वेद स वेदविद्' आदि गीता ने शब्द ब्रह्म की उपर्युक्त व्याख्या प्रतिभादर्शन के अनुकूल की है। उसे शब्दब्रह्म की शंकरादि के वेदान्त के विवर्तवाद से सम्बन्ध रखने या होने की कोई सूचना नहीं है। प्रत्युत उन्होंने शब्दब्रह्म का साक्षात् सम्बन्ध योगशास्त्र से जोड़ते हुए लिखा है:—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ६।४४ ॥

भर्तृहरि जी यहाँ पर व्याकरण नाम से उस प्राचीन व्याकरण दर्शन का संकेत कर रहे हैं जिसमें ध्वनियों के उन विकासों का वर्णन किया जाता था जो वाक्यों' वाक्यांशों और पदों के योग में स्वाभाविकतया स्वयं प्रस्तुत होता है। शिक्षादर्शन ध्वनियों के स्थान करण, उच्चारण और शब्द-विकास बतलाता था। प्रातिशाख्यों में उक्त दोनों का सम्मिश्रण मिलता है, कोई इन्हें प्रातिशाख्य कहता है कोई व्याकरण। पाणिनि प्रभृति ने उक्त दोनों बातों को छोड़ केवल रूपसिद्धि का काम शब्दानुशासन लिखकर किया है' इनका ग्रन्थ व्याकरण नहीं है प्राचीन शिक्षा और व्याकरण दोनों को आजकल फोनेटिक्स और फोनोलोजी कहते हैं। तब संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, अतः संज्ञा, क्रिया, तद्धित की रूपसिद्धि का कोई प्रश्न नहीं था। जब संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं रह गई तब रूपसिद्धि का सरल मार्ग निकालने की आवश्यकता पड़ी। यह काम पाणिनि ने पूरा किया। इनका ओर कात्यायन, पतञ्जलि के ग्रंथ रूपसाधक या शब्दानुशासन हैं। इनमें शिक्षा और व्याकरण बहुत गौण और अत्यन्त संक्षिप्त रखागया है। यह इनका मुख्य कार्य भी नहीं है। अन्य भाषाओं में ऐसे शब्दानुशासन भी नहीं हैं। विदेशियों ने पाणिनि के व्याकरण को देखकर अपनी भाषाओं के शब्दानुशासन लिखना सीखा है; यह कटु सत्य तथा नग्न तथ्य है। फिर भी कोई भी किसी भी भाषा का विद्वान् पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान संक्षिप्त, सर्वांगीण और स्वतः सम्पूर्ण शब्दानुशासन अब तक नहीं लिख सका है। अतः पाणिनि महाराज शब्दानुशासन सम्राट् हैं, इसमें सन्देह

नहीं। जहाँ पाणिनि जी की अष्टाध्यायी में थोड़े से स्फोटवाद के संकेत के अतिरिक्त, किसी भी दर्शन का नामोनिशान नहीं मिलता वहाँ केवल इसी अस्फुट स्फोटवाद को प्राधान्य देकर सायण माधवाचार्य जैसे धुरन्धर विद्वान् ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में 'पाणिनि दर्शन' नामक एक अलग दर्शन का व्याख्या कर दी है। उन्होंने दर्शन की कहीं चर्चा भी नहीं की है। केवल स्फोटवाद ही कोई दर्शन नहीं है, उसकी भी तो पाणिनि जी ने पूरी तथा अधूरी भी व्याख्या नहीं दी है। यह स्फोटवाद शाकपूणि, औदुम्बरायण, वार्ताक्ष प्रभृतियों का प्रतिभादर्शन है। इसका तो सायणाचार्यजी को पता तक नहीं है।

(१) पाणिनि महाराज को प्रत्याहारों की सिद्धि के फेर में पड़ कर १४ माहेश्वर सूत्रों में वर्णसमाम्नाय का जो क्रम विवश होकर रखना पड़ा है, वह भौतिक दर्शन के वर्णसमाम्नाय क्रम से एकदम विरुद्ध है। उन्होंने किसी भी दूसरे स्थल पर अपने वर्णसमाम्नाय क्रम का वेदवृक्ष दर्शनानुकूल वर्णन भी नहीं दिया है। (२) पाणिनि महाराज ने कहीं भी शब्दचित्र, अर्थ चित्र और भाव चित्रों की चर्चा भी नहीं की है। (३) स्फोट की बात अनुमान सिद्ध है शब्दतः नहीं, स्फोट शब्द का नाम भी नहीं दिया है। (४) भाषा के प्राण स्वर (उदात्तानुदात्तस्वरित) और घात होते हैं, उन्होंने पुराने ग्रंथों की नकल से केवल वैदिक भाषा के स्वर दिये हैं, शास्त्रीय संस्कृत के बिल्कुल नहीं। यदि वे शास्त्रीय संस्कृत के तत्कालीन उदात्तानुदात्तस्वरित स्वरों को दे देते तो आज भाषा सम्बन्धी कई समस्यायें अपने आप सुलझ जातीं। इस प्रकार पाणिनि जी की अष्टाध्यायी केवल पूर्ण शब्दानुशासन मात्र ही है। पतञ्जलि जी ने स्फोटवाद का नाम देकर उसकी व्याख्या दी है, पर वह स्वतः पूर्ण नहीं, शेष में इन्होंने भी पाणिनि जी का ही अनुसरण किया है। जब इन मूल स्रोत ग्रंथों में ही इस दर्शन का अभाव है तो आगे के ग्रंथों का कहना ही क्या ?

वेदों की सृष्टि का रहस्य—कहा जा चुका है प्रतिभादर्शन का शिला-न्यास वैदिक दर्शन की स्थापना के साथ-साथ 'शब्द ब्रह्म' के विशेष अध्ययन के निमित्त, दर्शन की एक शाखा के रूप में—विशेषकर अहोरात्रीय शाखा के रूप में वैदिक काल में ही पड़ गई थी। आप चाहे वेदों को देखें या स्मृतियों को, पुराणों को पढ़ें या धर्मग्रंथों को, जहाँ कहीं भी सृष्टि का वर्णन आता है वहाँ उक्त ग्रंथ अनिवार्य रूप से यह उल्लेख करते आये हैं कि पहिले शब्दब्रह्म था, उससे वेद बने, उनसे समस्त जगत् (देखिये पहिले)। ये ग्रंथ ऐसा क्यों कहते चले आ रहे हैं, इस कोटि पर कम लोगों को विचार करने की सुविधा मिली है। पुरुषसूक्त भी लिखता है:—'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः

सामानि जज्ञिरे छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्माद जायत ।' कि उस अधि-पुरुष (अहंकार) से पहिले ऋग्वेद, फिर सामवेद, फिर छन्द तब यजुर्वेद निकले । वे यह क्या कह रहे हैं । ठीक इसी प्रकार के दो अन्य छन्द मिलते हैं । 'तिर्यग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्व रूपं । अत्रास ऋषयः सप्त साकं' आदि (अथर्ववेद) और 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दाँसि यस्यपर्णानि यस्तं वेद स वेदविद् । (गीता १५-१) इनके अर्थ दिये जा चुके हैं । भर्तृहरिजी ने इस मत की पुष्टि में लिखा है 'शब्दस्य परिणामोमित्याम्नायविदो विदुः । छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥' (१२१ ब्र० का) उपनिषद् लिखते हैं—'वागेव विश्वाभूतानि जज्ञे वाच इत् सर्वमभूत् यच्च मर्त्यम् ।।' 'छन्दोमयीभिर्वाचोभिर्बहुधैव विवेशतम् ।' इत्यादि । अस्तु उक्त सर्वत्र स्थलों में लेखकों का संकेत शब्द ब्रह्म और उसके विकास परिणामों की ओर हैं अन्यथा उनकी समस्त उक्तियाँ अनर्गल और निरर्थक सिद्ध हो जाती हैं । प्रणव की प्रस्तुति प्रशंसा में ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रंथों ने कलम तोड़कर लिख डाला है वह 'प्रणव' ओम् या खंब्रह्म या शब्दब्रह्म है जिसका विवेचन किया जा चुका है । उस शब्दब्रह्म से अहंकार की स्थिति में ऋकारादि ९ स्वर ('अ' स्वर तो स्वयं शब्द ब्रह्म है, सब स्वरों के समाहार रूप में विद्यमान है; और स्वरों का वैज्ञानिक क्रम 'अ ऋ इ उ लृ ए ऐ ओ औ' है) उत्पन्न हुए । ये ९ स्वर १४४ ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं अ = ९, आ = ९, ऋ = ३०, लृ=१२, इ = १८, उ = १८, ए = १८, ऐ = १८, ओ = १८, औ = १८ कुल योग १४४ ध्वनियाँ हैं । यही ऋकारादि 'ऋचः' हैं । भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी में एक बड़ी भारी गलती की है, उन्होंने ऋकार की तरह लृकार के भी ३० भेद बतलाये हैं, यह गलत है । क्योंकि लृकार का न दीर्घ होता है न प्लुत । तैत्तिरीय प्रातिशाख्य लिखता है कि 'लृवर्णस्य द्वादशभेदाः तस्य दीर्घाभावात् ।' ऋग्प्रातिशाख्य ने लृकार को स्वरों में भी नहीं गिना है उसके मत में स्वर ८ ही हैं क्योंकि पाद के आदि और और अन्त में लृ को स्वर संज्ञा नहीं दी जाती, फिर भी मध्य में यह स्वर है अतः इसे अलग स्वर माना ही है । स्वरों के पश्चात् उपध्मानीयों की पारी आती आती है वे हैं 'अः ᳲक ᳲप श ष स ह अं' । पकार को ध्वनियों की आत्मा और प्राण माना गया है । 'पकारः प्राण आत्मा' (एतरेय आरण्यक ३-२-६) तथा उपध्मानीयों को केवल 'प्राण' (य उष्माण स प्राणः एतरेय आरण्यक २-२-४) यही 'सामानि' हैं 'स' शब्द यहाँ संकेतक है । उपध्मानीयों का, यही प्राण है, प तो आत्मा है ही । तदनन्तर 'छन्दाँसि' पञ्चवर्ग रूप 'छन्दाँसि' प्रत्येक वर्ग एक-एक छन्द सा है, इसकी मुख्य ध्वनि (छन्दाꣳसि)

व्यञ्जनों की सूचक है। 'तस्माद् यजुष्' शब्द अन्तस्थों का 'य र ल व' ध्वनियों का स्पष्ट द्योतक है। इस प्रकार पुरुष सूक्त 'ऋचः सामानि छन्दाँसि यजूंषि' पदों के द्वारा समस्त ध्वनियों की उत्पत्ति दे देता है। यही रहस्य उन सबका समझना चाहिए, जहाँ जहाँ ब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति की चर्चा दी गई है, वेद के माने यहाँ यही मौलिक ध्वनियाँ हैं, ग्रन्थ रूप वेद नहीं। उक्त मन्त्रों का सांख्ययोग दर्शन में घटित अर्थ 'वैदिक दर्शन' नामक ग्रन्थ में देखें।

प्रतिभा दर्शन के लेखक—इस प्रकार का सांग प्रतिभा दर्शन उच्चकोटि का दर्शन सर्वप्रिय दर्शन हो गया था। प्रत्येक ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, अथर्वणादि ने शब्द ब्रह्म को अपनाकर प्रणव ओंकार और अन्य ध्वनियों के बारे में कुछ न कुछ अवश्य लिखा। कर्मकाण्डियों ने इसे भूतसिद्धि के रूप में सुरक्षित बनाये रखा तथा योगियों ने उक्त एकाक्षर ब्रह्म की साधना को मुख्य रूप दिया। पर इसके विशेष पहलुओं पर वैज्ञानिक ढंग से लिखना प्रातिशाख्यों ने आरम्भ किया। प्रातिशाख्यों में अब थोड़े उपलब्ध होते हैं, गर्ग, शाकटायन और व्याडि का केवल नामोल्लेख मिलता है, उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं पर ऋक्प्रातिशाख्य तैत्तिरीय प्रातिशाख्य प्रभृति कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं, इनमें अधिकतर ध्वनि विचार है। औदुम्बरायण, वार्ताक्ष और यास्क के ग्रन्थों में स्फोटवाद की और भाषा तत्त्व शास्त्र की विवेचना है। औदुम्बरायण, वार्ताक्ष, गर्ग, शाकटायन, व्याडि प्रभृति के ग्रन्थों में तथा कई उन प्राचीन प्रतिभादर्शन के ग्रन्थों में, जिनमें से एक ग्रंथ वार्ष्यायणि जी का था, शब्द चित्र, अर्थ चित्र, और भाव-चित्रों का विवेचन अवश्य रहा होगा। भर्तृहरि जी ने उक्त कई के नाम उद्धृत करके किसी की आलोचना और किसी का समर्थन किया है अतः उनके सामने उक्त लेखकों में से कुछ के ग्रन्थ अवश्य रहे होंगे। भर्तृहरि जी ने ध्वनि उत्पत्ति विषय की वैसी ही उपेक्षा की है जैसी पाणिनि और पतञ्जलि जी ने। पर अन्य बातों में इनका ग्रन्थ स्वतः सम्पूर्ण है। इनके ग्रन्थ में पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों के पारिभाषिक शब्दों का समावेश केवल प्रत्ययों का सर्वपरिचित होने के कारण है, उसमें शब्दानुशासन है ही नहीं, जो कुछ है वह स्फोटवाद, शब्द चित्रों, अर्थ चित्रों और भाव चित्रों का विशुद्ध वर्णन। अतः ध्वनि वर्णनहीन होते हुये भी प्रतिभादर्शन का एक तिहाई इनके वाक्यपदीय में उपलब्ध है ही। व्युत्पत्तिवाद शब्दानुशासन का ग्रन्थ तथा शक्तिवाद न्याय का ग्रन्थ ये दोनों बच्चों के से खिलवाड़ करते हैं, विद्यार्थियों को न्याय की भाषा में वादविवाद या शास्त्रार्थ सिखाने के ग्रन्थ हैं। व्युत्पत्तिवाद को पतञ्जलि जी के स्वीकृत

कात्यायन वार्तिक या वचन 'सिद्धेः शब्दार्थ सम्बन्धेः' की तोप से एक दम उड़ाया जा सकता है तो शक्तिवाद को भर्तृहरि जी के अकाट्य वचन 'परेषाम समाख्येय मभ्यासादेव जायते। मणिरूप्यादि विज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम् ॥' (ब्रह्मकाण्ड ३५ वाक्यपदीय) से रसातलगामी किया जा सकता है। इन दोनों ग्रन्थों में भाषा ही सब कुछ है; भावों और दार्शनिक तथ्यों की शून्यता। हाँ विद्यार्थियों को 'अवच्छेदकावच्छिन्न' सम्पन्न वैज्ञानिक भाषा सिखाने के लिये ये अच्छे ग्रन्थ हैं। इन दोनों ग्रंथों ने जिस शैली से विषय प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है वह मूलतः प्रतिभादर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ता है, वास्तविकता से तो बहुत दूर गिरता है। स्फोट तो ये जानते हो नहीं, अर्थ कहाँ से लगे।

वैदिक आगमकारों और औपनिषदिक तथा पौराणिक योगियों के अतिरिक्त मध्यकालीन तान्त्रिकों ने 'प्रणव' या ओम् को अनिवार्य रूप से अपनाते हुये वैदिक आगमकारों की भूत (तत्त्व) सिद्धि मार्ग को भी नहीं छोड़ा। पर उन्होंने कई एक नवीन पारिभाषिक सी ध्वनियों का भी आविष्कार किया। उदाहरणार्थ नवार्ण मन्त्र तथा हनुमत्प्रभृति देवी देवता सिद्धि के मन्त्र लीजिये। नवार्ण मन्त्र 'ओम् "ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे" नमः' है। इसमें 'ओम्' तो शब्दब्रह्म स्वयं है ही; ऐं सृष्टिरूपिणी बुद्धि तत्त्व है, 'ह्रीं' प्रपालिका शक्ति महत्तत्त्व है, 'क्लीं' कालरूपिणी अहकार और सत्त्व तत्त्व है, चामुण्डायै, तन्मात्रा और पञ्चमहाभूत हैं, तो विद् ज्ञानेन्द्रियाँ 'चे' कर्मेन्द्रियाँ हैं। लिखा हैः—ऐंकारीसृष्टि रूपायै, ह्रींकारी तु प्रपालिका। क्लींकारी कालरूपिण्यै बीजरूपे नमोऽस्तुते ॥ चामुण्डा चण्डघाती च यैंकारी वरदायिनी। विच्चैनेऽभयदा नित्यं नमस्ते मन्त्र रूपिणी ॥ इसमें कुछ वर्णन ठीक सा है कुछ रहस्यमय सा। हनुमत्स्तोत्रादि मन्त्रों में फ्रां फ्रीं श्लां श्लीं भ्रां भ्रीं में कोई तो देवी देवता के आदि के अक्षर हैं कोई, उन देवी देवताओं की मानी हुई ध्वनियाँ। इनमें दर्शन शास्त्र के अदर्शन हैं। दर्शन का सम्बन्ध स्वर, व्यञ्जन और उपध्मानियों के वर्णन और प्रयोग तक सीमित है वह इन सबमें मिलता ही है (कुञ्जिका स्तोत्र)। 'विच्चे' में 'चे' का अर्थ 'चिनोति येन तस्मै 'चे' है।

शब्दतत्त्व की वैज्ञानिक व्याख्या

अभी तक शब्दतत्त्व का समुचित ज्ञान न नैयायिकों को हो सका है न आधुनिक वैज्ञानिकों को। ये दोनों दल शब्द तत्त्व को न जाने क्यों अनित्य कहकर अब तक अखाड़े में डटे हैं। नैयायिकों की बोली विचित्र है। वे परिवर्तन या विकास को अभाव कहकर असत् से सत् की सृष्टि मानते हैं। यह

भापार्थी झगड़ा व्यर्थ है, तत्त्वतः ये लोग सभी वास्तविकताओं को, किसी न किसी नाम से चाहे असत् या अनित्य ही नाम क्यों न दें मानते आ रहे हैं। जब ये वेद को (मौलिक ध्वनियों को) अपौरुषेय और नित्य मानते हैं तो इनसे झगड़ा तै हो जाता है। व्यावहारिक शब्द के लिये इनकी शब्द की परिभाषा सांख्ययोग और व्याकरण दर्शन सम्मत है, ये कहते हैं 'आप्तोपदेशः शब्दः'। आखिर पड़ ही गये सांख्य योग और प्रतिभादर्शन के जाल में। अतः इनका शब्द को अनित्य मानना परिवर्तन और विकास मात्र का सूचक है नितान्त नश्वरता का नहीं। रह गई बात वैज्ञानिकों की, उनकी भाषा में अब तक प्रतिभादर्शन या सांख्ययोग दर्शन जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। इस ओर इन लोगों ने अब तक झाँका ही नहीं, शब्दानुशासन लिखना अभी-अभी हमसे गत शताब्दी में सीखा है, भाषातत्त्व शास्त्र जिस पर वे आजकल अवश्य जुटे हैं वह सब हमारे शास्त्रों की ही देन है, उसे भी वे अभी तक ठीक ठीक नहीं समझ पाये हैं (देखिये आगे)। भौतिक और रसायनादि विज्ञानों ने अवश्यमेव बहुत कुछ कर लिया है, पर भाषा और शब्द तत्त्व विवेचन में वे अभी छटपटाते से ही नजर आ रहे हैं। उन्हें अभी स्फोट तत्त्व, शब्दचित्र, अर्थचित्र और भावचित्रों तथा मौलिक ध्वनियों पर विचार करना शेष ही है। लुटिया वहाँ डूबी है जहाँ ये आकाश को शून्य मानते हैं। यह गलत रास्ता है, उन्हें इस शून्यता के मत को एक दिन अवश्य छोड़ना ही पड़ेगा। गीनिमत यह है कि ये आकाश तत्त्व के धर्म या गुणों को कुछ दिन पहिले आकाशीय विद्युत् (ईथर) मानते रहे, उसके स्थान में अब आकर्पण विद्युतरंग मान रहे हैं। यह न मानें तो इनकी गाड़ी ठप हो जाय। पर आकाश तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि वह केवल श्रव्य मात्र है स्पर्श्य, दृश्य, पेय आधारीय नहीं। जिस दिन शब्द तरङ्गों को कोई कल पकड़ लेगी उस दिन सब समस्या हल हो जायगी। अभी तो वे शब्द चित्र ले ही रहे हैं, वह दिन दूर नहीं जब शब्दाणु या आकाश तत्त्व पकड़ में आ जावेगा, क्योंकि समझदार वैज्ञानिकों ने इस विषय में अपनी अनवरत खोज जारी रखी है, वे अभी शून्यता के बारे में सन्देहहीन नहीं है, उनकी अपनी शैली की समस्यायें उनकी गतिविधियों में रोकथाम लगाये हुए हैं, जो बहुत दिन तक न चल सकेंगी।

शब्दतत्त्व को सर्वप्रथम तत्त्व क्यों माना गया है—आजकल के विद्वानों ने शब्द तत्त्व पर उस मौलिक रीति से विचार करने की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना ही छोड़ दिया है जिन मौलिक पद्धतियों के अनुसार शब्द तत्त्व को सर्वप्रथम तत्त्व मानना, सबके लिए एकदम अनिवार्य हो जाता

है। प्रायः सब लोग स्थूल शब्द को ही शब्द समझे बैठे हैं। शब्द तत्व पर कई ढंग से विचार करने की परम आवश्यकता है।

(१) इस अखिल ब्रह्माण्ड में जात मात्र के किसी कार्य, कर्म, क्रिया, व्यवहार, गति, अवस्था, स्थिति, उत्पत्ति संहार आदि किसी को भी देखें, उनके आरम्भ करते या होते ही जो वस्तु सबसे प्रहिले सत्ता में आती है, वह है शब्द तत्व, किसी न किसी प्रकार की ध्वनि। पूर्वोक्त गतिविधियों में कोई एक भी ऐसी नहीं जिसकी सत्ता सामने आते ही 'शब्द' न उत्पन्न हो, नहीं नहीं चाहे कोई कार्य आरम्भ हो या न हो सके, उसकी इच्छा मात्र 'शब्द' को प्रस्तुत कर देता है, हम कार्य करें या न करें, कर सकें या न कर सकें, उसकी कामना ही शब्द को उपस्थित अवश्य कर देती है। कामना की जागृति बोलने या संकेत या अनुकृति से होती है, वह शब्द बिना साध्य नहीं है। तात्पर्य यह कि शब्द की उपस्थिति के बिना कोई काम आरम्भ नहीं होता।

(२) 'शब्द' कब लुप्त रहता है? कभी भी नहीं; हम शान्त बैठे हैं, हमारे प्राणवायु निरन्तर श्वासप्रश्वासों से सूक्ष्म ध्वनि करते रहते हैं, लम्बी साँस तो दूर तक सुनाई पड़ती है। तब क्या यह समस्त ब्रह्माण्ड इन प्राण वायुओं से नित्य गुंजायमान नहीं है? अवश्य हैं नित्य अखण्ड रूप से है।

(३) हमारे ही शरीर में एक अन्य ध्वनि हृदय की धड़कन है जिसे डाक्टर या वैद्य आले से या नाड़ी से सुनने में समर्थ होते हैं। क्या यह ध्वनि नाशवान् है? कभी नहीं, हमारे स्थूल शरीर में यह ध्वनि इतनी सूक्ष्म है जिसकी हम स्वस्थावस्था में इतनी उपेक्षा किये रहते हैं, वह हमारे नित्य शरीर या दिव्य शरीर में कितनी सूक्ष्म होगी, यह परमाणु ज्ञानी से पूछना चाहिए। यह धड़कन वाली और प्राणवायु की ध्वनियाँ नित्य ही हैं।

(४) बहिर्जगत् में वायु नित्य निश्वसित हो रही है, कब बन्द हुई यह? कभी भी नहीं, सृष्टि के आरम्भ से यह शब्दमय हो गुंजायमान है। सृष्टि के अन्त तक इसी प्रकार चलती चलेगी।

(५) कौन नदी चुप है? कौन समुद्र शान्त है? कौन बस्ती मौन है? कौन वन या क्षेत्र ध्वनिहीन है? सब के सब नित्य अनवरत शब्दमय हैं।

(६) एक छोटी सी घिर्री को घुमाइये तो भर्रर्र की ध्वनि बच्चों को चकित कर देती है, रेल, मोटर, वायुयान, इक्का, ताँगा, जलयान, छोटी बड़ी कलें, मिलें उतना शब्द करती रहती हैं, उनके शब्दान्तः शब्द द्वारा हम कठिनाई से काम चलाते हैं, (जोर से बोलकर)। तब यह हमारी पृथ्वी इतनी बड़ी घिर्री, जिसके सामने रेल जलयान मिलें आदि एक छोटी से छोटी मक्खी से भी अत्यन्त छोटे हैं, उसकी कितनी बड़ी ध्वनि होती होगी। वह ध्वनि

कब शान्त रहती होगी। यह ध्वनि भी सृष्टि के आदि से लेकर उसके अन्त तक नित्य रहेगी ही ।

(७) खगोल विद्याविशारदों ने पता लगाया है कि हमारी पृथ्वी जैसे १० अरब खगोल हैं, ९ ग्रह तो हमारे सौरमंडल में हैं आवान्तर ग्रह हैं, २९ चन्द्रमा हैं, ऐसे ही अनन्त सौरमंडलों को देख लिया गया है, अरबों छोटे बड़े तारे हैं, हजारों महासूर्य, सूर्य, गन्धर्व, यक्ष, प्रजापति प्रभृति इतने बड़े हैं जिसके सामने हमारा सूर्य एक छोटा उपग्रह सा है, फिर आकाश गंगा का कहना ही क्या। इन सबको उसी प्रकार घूमना पड़ता है जिस प्रकार हमारी पृथ्वी और सूर्य को। तब इनके भ्रमण से उत्पन्न वह कल्पनातीत महाध्वनि कब शान्त रह सकती है ? कभी भी नहीं, यह शब्द भी नित्य और अजर अमर है ।

(८) वायु, तेज, जल और पृथिवी क्या ये तत्त्व बिना शब्द के सत्ता में आभी सकते हैं ? कदापि नहीं, इनमें प्रथम गुण शब्द है तव अपने अपने गुण तथा अपने पूर्ववर्ती के गुण हैं। शब्द गुण इन सबमें नित्य और अनिवार्य रूप से रहता है ।

(९) क्या जब चिउँटी चलती है तो शब्द नहीं होता ? हम भले ही न सुनें, चिउँटी के पावों की भी ध्वनि अवश्य होती है। चिउँटी से कई गुने छोटे अन्य कीट पतंग हैं, उनके चलने, उड़ने में भी शब्द होता ही है। ऐसों की संख्या पशुपक्षी मनुष्यों से अरबों गुने अधिक है। वे सब शब्दायमान हैं। हमारे ही शरीर में रक्तसञ्चार जिस वेग से होता है क्या वह शब्द हीन हो सकता है ? कभी नहीं, विना शब्दोत्पत्ति के कोई भी क्रिया सत्ता में आ ही नहीं सकती। पेट का शब्द तो सब सुन ही लेते हैं। हमारी पलकें चलती हैं, आँखें घूमती हैं; क्या इन क्रियाओं में शब्द नहीं होता ? अवश्य होता है, भले ही हमने इनको सुनने का अभ्यास न किया हो। ये मृदुलतम शब्द की परम आनन्दकारी ध्वनियाँ हैं।

(१०) हम चाहे कुली का काम करें या कार्यालय में बाबू का, या घर में खाने पकाने, झाड़ू-बुहारू, बर्तन मलने या सीने पिरोने का कल से या हाथ से, कोई भी काम करें विना शब्द के सत्ता में आये कुछ हो ही नहीं सकता। लिखने में भी ध्वनि हो रही है, हाथ पाँव हिलते ही शब्द होता है, कलम फावड़ा चलने की बात तो स्पष्ट है, हम शब्द विना कभी रहते ही नहीं। शब्द हमारा अभिन्न सहचर है।

(११) जिसे लोग ज्ञान, विज्ञान, अर्थ, भाव, भाषा आदि नामों से पुकारते हैं वह है क्या वस्तु ? ये सब शब्द ही शब्द हैं। शब्द ही ज्ञान है

भीतरी शब्द उदरादि का शब्द या आकाश अपनी पूर्ति की प्रेरणा का शब्द करके भोजनादि की खोज में प्रवृत्त कर देता है। ऐसे शब्द की निवृत्ति से हमारा शरीर अचैतन्य सा होकर सूखे ठूठ या खंडहर सा हो जाना है। ऐसे चैतन्यमय शब्द ब्रह्म को जो अनित्य कहने का साहस करते हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही कम है।

(१३) शब्द तत्त्व की सूक्ष्मता—पार्थिव पदार्थों को रखने के लिए कितने अधिक स्थान की आवश्यकता पड़ती है, उनके अलग-अलग के बोध के लिए उन्हें अलग-अलग रखकर, उनके एक-एक पहलू को क्रम से देखना समझना पड़ता है, जैसे पुस्तक के पन्ने-पन्ने अक्षर-अक्षर। यही बात जलीय, तैजस और वायवीय पदार्थों की जानकारी के लिए करनी पड़ती है। इन सबके ज्ञान की प्रणाली बड़ी स्थूल और अति विलम्बकारी होती है, यह किसी से छिपा नहीं है। पर शब्द तत्त्व का ज्ञान एक अति अद्भुत, कौतूहलमय दृश्य उपस्थित करता है। हम रेल मोटर में बैठे हैं, रेल मोटर का निरत शब्द लगा ही है, उस बड़े पोल वाले शब्द के भीतर-भीतर हम गाते-बजाते बातें करते हैं, लिखते-पढ़ते हैं या कुछ और काम करते हुये कुछ न कुछ शब्द करते रहते हैं। सब शब्दों का बोध सबको सम्पूर्ण रूप से होता रहता है। बाजे के साथ के गाने में कितने प्रकार की ध्वनियाँ एक साथ होती रहती हैं, अनन्त ध्वनियों से युक्त तबला (दो ताल की मुख्य ध्वनियाँ), सितार २१ ध्वनियाँ गवैय्ये की अनन्त ध्वनियाँ, मजीरे की विभिन्न झनकारें। इन सब ध्वनियों में कोई किसी की बाधक नहीं वरन् साधक ही रहती हैं, सामूहिक वाद्य (आर-केस्ट्रा) सामूहिक गीत (कोरस) में कितनी ध्वनियों का मीठा सम्मिश्रित पार्थक्य रहता है। प्रत्येक ध्वनि का बोध कैसे होता है ?

(१४) जब हम बातें करते हैं तो हमारे सामने सिनेमा की जैसी पूरी की पूरी रील सी आकर, हमें वैसी ही प्रतीति कराती है जैसे मानो हम चल-चित्र देख रहे हों। ये चलचित्र, चित्र नहीं हैं, वरन् शब्द हैं या शब्दाणु चित्र हैं। इनको प्रगट करने के लिए उद्बोधक या व्यञ्जक शब्द ही चाहिए, वह उपस्थित हुआ नहीं कि, हमारे भीतरी चित्र अपने आप प्रवाह में उमड़-उमड़ कर जैसे, व्यक्त शब्द की गति से भी अधिकतम गति से ऐसे प्रस्तुत होने लगते हैं कि कभी-कभी असह्य होकर कहना ही पड़ता है बस हो गया, सब समझ गये, अर्थात् हमारे मस्तिष्क में वह शब्द चित्र या अर्थ चित्र या भाव चित्र, वाद्य की पूर्ति के पहिले ही, पूर्णरूपेण वेग से उपस्थित हो चुका है। अतः भर्तृहरिजी ने कहा है :—'स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः। अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्या परमाणवः ॥' (ब्रह्मकाण्ड ११२)। शब्द का

उच्चारण आरम्भ होते ही शब्द तत्त्व के सूक्ष्म परमाणु बादलों की तरह घनघोर घटा उपस्थित कर देते हैं। ये शब्द परमाणु शब्दार्थ भाव चित्रादि हैं।

(१५) शब्द, अर्थ और भावों के चित्रों की कथा ही निराली है। इन चित्रों के रहने के लिए हमारे मस्तिष्क में कितनी जगह है ? केश की नोक के (अति सूक्ष्म नोक के) दश हजारवें भाग के बराबर जितनी जगह हो सकती है उसमें कितना समाये बैठा है, यह जानकर तो और अधिक हैरान होना असम्भव नहीं। हमारे मस्तिष्क में किसका चित्र नहीं है, पर्वत, नदी, समुद्र, देश-देशान्तर, प्राणिजात, द्रष्टश्रुत जगत्, मकान, महल, खेत, वृक्ष, लता, पौधे, घास, प्रत्येक का, प्रत्येक पहलू का पृथक्-पृथक् चित्र, सूर्यादि तारों के चित्र, शेष ब्रह्माण्ड का वर्णनातीत चित्र। अर्थात् हमारे मस्तिष्क के उस छोटे से छोटे सूक्ष्म बिन्दु के स्थान में अखिल ब्रह्माण्ड से भी अधिक विस्तृत विशाल क्षेत्र विद्यमान है; क्योंकि हमारे मस्तिष्क में केवल ब्रह्माण्ड के बहिराकार का ही चित्र नहीं अपितु उसके अनेक पहलुओं और क्रियाओं के भी चित्र हैं। यह है जादू इन शब्द के अणुओं का।

(१६) पुस्तकाकार बँधे चित्र या सिनेमा के चलचित्र क्रम से एक-एक करके देखे या जाने जा सकते हैं। इनमें पार्थिवीय सीमा व्यवधानकारी है। पर जो चित्र हमारे मस्तिष्क में विद्यमान रहते हैं, वे ऐसे पारदर्शी अति सूक्ष्मतम पटल पर खिंचे से रहते हैं कि हम उन सब चित्रों को सामूहिक रूप से एक साथ या किसी भी तह के किसी भी चित्र को, बिना पन्ना उलटे हुये से अनायास ही कभी भी देख सकते हैं। जिसका व्यञ्जक आया वह उसी चित्रसमूह में प्रधानता पाकर सामने उपस्थित हुआ। कभी-कभी एक चित्र सामने है, उसी के उदर में दूसरा चित्र आता है, दूसरे के उदर में तीसरा, तीसरे के उदर में चौथा, सबके सब चित्र एक दूसरे से पृथक् से भी, एक दूसरे के उदरस्थित से भी, सब सम्मिलित से भी, तारतम्यतावान् से भी होकर एक ऐसी अलौकिक मायामयी नगरी उपस्थित करते हैं कि हम उनके भूलभुलैये में अपने को कभी-कभी (मनसूबों में) खो जैसे देते हैं। कितने सूक्ष्म होंगे वे चित्र, अब आप अनुमान कर सकेंगे। ये चित्र, शब्दाणुओं के बने हैं।

(१७) आप समझते होंगे कि हमारे मस्तिष्क के चित्र, चित्रकारों या चलचित्रों के समान ही होंगे। नहीं। इनके चित्र निर्जीव और लौकिक होते हैं। बहुत हुआ तो बाहरी आकार में तद्रूपता हो गई, वह भी केवल एक सूक्ष्मतम क्षणमात्र का ही एकमात्र चित्र है। मस्तिष्क के चित्रों में तो गजब होता है। कोई अपने मकान का चित्र अपने मस्तिष्क में आँकेगा तो क्या

वह वैसा ही होगा, जैसा कि वह उसे तैयार करके देखेगा। कोई अपनी होनहार प्रेयसी का चित्र सोचेगा तो क्या वह वैसा ही होगा जैसी उसको वास्तव में मिलेगी। मस्तिष्क का प्रत्येक चित्र तथ्यात्मक होते हुए भी, अलौकिक रागात्मक, रंगीन, सुनहला, भव्य और दिव्य होता है। उसकी लौकिक चित्र से तुलना 'गोसदृशो गवयः' जैसा समझना चाहिए। मस्तिष्क के चित्र बोलते-हँसते लड़ते-झगड़ते काम करते से नित्य सजीव रहते हैं। वे एक क्षण के नहीं यावद्दृष्टश्रुतकाल के होते हैं, क्रमवान क्रतुः होते हुए भी अक्रम से भी ज्ञेय होते हैं। ऐसी कारीगरी में कितनी सूक्ष्मता की अपेक्षा होगी ?

(१८) जो 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' कहा है, वह अक्षरशः 'शब्दब्रह्ममयं' जगत् में बैठता है। शब्दब्रह्म ही 'ब्रह्म' है। इसीलिए अन्य तत्वों को 'ब्रह्म' नाम से कभी किसी ने नहीं पुकारा है, शब्द के उपर्युक्त १८ गुणों से उसे शब्द ब्रह्म जो कहा जाता है वह शब्दशः सत्य है, शब्द अतः निम्यतः नित्य है तथा सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर तत्व है।

हमारे शास्त्रों के अनुसार शब्दतत्त्व किस द्रव्य का बना है :— शब्द ब्रह्म या आकाश तत्व की उचित व्याख्या दो ढंग से की जा सकती है। (१) महाभूत शब्दतत्व; (२) शब्दब्रह्म तत्व। महाभूत आकाश पारमाणविक या विकृत है, उसका अविकृत या शुद्ध आकाश तत्व, शुद्ध शब्दब्रह्म तत्व है। शब्दब्रह्म शब्दतत्त्व में पृथिवी जल तेज वायु के उत्तरोत्तर में लय होने से, इन सबके सारभूत सत्त या 'सत्व' सम्मिश्रित रहते हैं। इस शब्द ब्रह्म में सृष्टि के सब बीज प्रस्तुत रहते हैं, पाञ्चभौतिक आकाश तत्व के सत्त या सत्व गुण ही इस शब्द ब्रह्म में रहते हैं। इस दृष्टि से शब्द ब्रह्म प्रकृति का प्रतिनिधि है। यह बात भी न भूली जाय कि जब पंचमहाभूतों का लय आकाश तत्व में हो जाता है तब से वे 'शब्द' मात्र श्रव्य द्रव्य मात्र रहकर अहंकार सत्व महत् बुद्धि और प्रकृति तक जो जो परिवर्तन पाते हैं, वे सब शब्द के उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम, अतिसूक्ष्मतम और अतितर सूक्ष्मतम रूप धारण करते हैं, जब शब्दब्रह्म का पुरुष में लय हो जाता है तो शब्द की सत्ता अतितम सूक्ष्मतम हो जाती है। सृष्टि क्रम में ठीक इसके उलटे परिवर्तन शब्द रूप में ही होते हैं। अहंकार की स्थिति में स्थिति बदल जाती है। इस प्रकार शब्द तत्व में एक तो अतितम सूक्ष्मतम पांचभौतिक सत्व हैं, दूसरे आकाश या शब्द के स्वयं सत्व या तत्व। ये दोनों प्रकार के तत्व किस प्रकार के हैं, क्या हैं, कैसे हैं ? यह निर्णय देने के लिये 'सांख्यदर्शन के जीर्णोद्धार' नामक ग्रन्थ में अनेक तर्क वितर्क दिये जा चुके हैं, (पढ़ लिया जावे)। पर

बड़े सौभाग्य की बात है कि जो प्रमाण उस समय न मिल पाये थे वे आज प्रतिभादर्शन की खोज ने स्वयं प्रस्तुत कर दिये हैं। अतः अब बिना हिच-किचाहट के कहा जा सकता है कि आकाश तत्व या शब्द तत्व या शब्द ब्रह्म इन तत्वों का बना है।

शिवाथर्वशीर्ष (शिरः उपनिषद्) में 'प्रणव' का वर्णन इस प्रकार दिया है :—"य उत्तरतः स ओङ्कारः, य ओङ्कार स प्रणवः, यः प्रणवः स सर्वव्यापी, यः सर्वव्यापी सोऽनन्तः, योऽनन्तस्तत्तारं, यत्तारं तच्छुक्लं, यच्छुक्लं तत्सूक्ष्मं, यत्सूक्ष्मं तद्वैद्युतं, यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म, यत्परं ब्रह्म स एकः, यः एकः स रुद्रः, यो रुद्रः स ईशानः, यः ईशानः स भगवान् महेश्वरः" ग्रन्थकार ने इस भय से कि सम्भवतः उनके इस परम महत्वपूर्ण अनुभूत सारगर्भित वाक्य को कोई ठीक-ठीक न समझ सके, अपने आप इसका भाष्य दे दिया है जिससे लेखक का उत्तरदायित्व बहुत हलका हो गया है। लिखा है :—'अथ कस्मादुच्यते ओङ्कारः। यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओङ्कारः। यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसं ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति तस्मादुच्यते प्रणवः। अथ कथमुच्यते सर्वव्यापी। यस्मादुच्चार्यमाण एव यथा स्नेहेन पलल-पिण्डमिव शान्तरूपम् ओतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषक्तश्च तस्मादुच्यते सर्व-व्यापी। अथ कस्मादुच्यते अनन्तः। यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वम-धस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यते अनन्तः। अथ कस्मादुच्यते तारं। यदुच्चार्यमाण एव जन्मव्याधिजरामरणसंसारमहाभयात्तारयतीति त्रायते च तस्मादुच्यते तारं। अथ कस्मादुच्यते शुक्लं। यस्मादुच्चार्य-माण एव क्रन्दते क्लामयति च। कस्मादुच्यते सूक्ष्मम्। यदुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गानि अभिमृश्यति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्। अथ कथमुच्यते वैद्युतं। यस्मादुच्चार्यमाण एव व्यक्ते महति तमसि द्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतमिति॥'

अर्थ—'ओङ्कारः' क्यों कहलाता है? क्योंकि इसका उच्चारण करते ही प्राण ऊर्ध्व की ओर खिंचने लगते हैं। 'प्रणवः' क्यों कहलाता है? क्योंकि उच्चारण करते ही ऋग् (स्वर), यजु (अन्तस्थ), साम (ऊष्माण) अथर्वाङ्गिरस (पंचवर्गीय व्यञ्जन) नामक ब्रह्म (शब्द) विद्वानों को नाम रखने में सहायक होते हैं (वे संसार की वस्तुओं को नाम से पुकारने में समर्थ होते हैं)। क्यों 'ओङ्कारः' को सर्वव्यापी कहा जाता है? क्योंकि इसका उच्चारण करते ही, जिस प्रकार स्नेह (तेल) से पललपिंड शान्तरूप होकर

ओतप्रोत सा होकर रग रग में प्राप्त और व्यतिषक्त हो जाता है, वैसे ही यह ओङ्कार भी सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। 'ओङ्कार' को अनन्त क्यों कहते हैं ? क्योंकि उच्चारण करते ही यह ऊपर-नीचे सामने-पीछे सर्वतोमुखी रूप से ऐसा फैलता है कि इसके अन्त का पता लगाना किसी के सामर्थ्य के भीतर की बात नहीं है। 'ओङ्कार' को 'तार' क्यों कहते हैं ? क्योंकि इसके उच्चारण से सांसारिक समस्त कष्ट दूर हो जाते हैं, यह उनसे रक्षा करता है अतः त्रायते इति तार कहलाता है (किस प्रकार—जब हमें कोई कष्ट या दुःख होता है तो हम शब्द से उसे व्यक्त कर उसकी चिकित्सा या उपाय कर सकते हैं, बिना शब्दोच्चारण के अबोध बालकों की सी दशा में सब उपाय या उपचार आनुमानिक होते हैं। वास्तव में शब्दोच्चारण एक शरीर से दूसरे शरीर में 'तार' (डाकखाने का तार सा) भेज देता है तब तुरन्त प्रक्रिया होती है। सचमुच 'शब्द' तार ही है। यह बेतार का तार है या शब्द तार है। इष्ट-मित्र, बन्धु, प्रेमी या शत्रु के सुख दुःख में हमारे हृदय में सुख दुःख की जो लहरें आकर सुखी या दुःखी करती हैं वे भी यहीं शब्द तार हैं। ओंकार को 'शुक्ल' क्यों कहते हैं ? इसका उच्चारण करते ही यह तैजस रूप में जैसे निकल कर हमारे शरीर की शक्ति (तैजस शक्ति) का निस्सारण करके हमें थकान और क्लम का अनुभव कराता है। 'ओङ्कार' को सूक्ष्म क्यों कहते हैं ? क्योंकि इसका उच्चारण करते ही यह रोम रोम में समा जाता है. अतः इसे सूक्ष्म कहते हैं। 'ओंकार' को वैद्युत' क्यों कहा गया है ? क्योंकि इसके उच्चारण करते ही ऐसा लगता है जैसे बिजली का बटन खोल दिया और बल्ब सा जलकर प्रकाश आ गया। अँधेरे में कम देखने वाले को शब्द से यदि बतलाते जाँय कि यह सीढ़ी है, यहां खड्ड है, यहां कीचड़ है, यहाँ दीवाल है, यहां पाँव रखना वहाँ नहीं, तो उसे इन शब्दों का प्रकाश ही मार्ग में अच्छी आँख देखने वाले की तरह सहूलियत से ले आता है। अतः ओङ्कार वैद्युत प्रकाश (गति शक्ति आदि) मय है।'[1]

यहां पर उपनिषद्कार ने जो जो विशेषतायें 'ओङ्कार' की बतलाई हैं वे सब तत्त्वतः या मूलतः शब्द की ही हैं, क्योंकि ओङ्कार भी शब्द ही है। अतः शब्दतत्त्व निम्नलिखित तत्त्वों का निर्मित है। शब्द सर्वव्यापी तत्त्व का बना है। इस सर्वव्यापी तत्त्व के ओर छोर की कोई सीमा निश्चित रूप से

१. योग संध्या में भी ॐकार को वैद्युत माना है। 'ॐकारं प्रणवं चैव सर्वव्यापिनमेव च। अनन्तश्च तथा तारं शुक्लं वैद्युतमेव च। तुर्यं हंसः परं ब्रह्म इति नामानि जानते॥'

निर्धारित नहीं की जा सकती। यह एक ही ओर नहीं प्रवाहित होता, यह सर्वतोमुखी प्रवाही तत्व है, जिस स्थान पर शब्द होता है चाहे बोलने से, गति क्रिया से या संघर्ष से हो, वह उस केन्द्र विन्दु से सहस्रारधारा या अनन्त धाराओं में सर्वतः प्रवाहित होता है। इसीलिए शब्द ब्रह्म को 'सहस्रार' या सहस्रदल कमल कहते हैं। इसका प्रवाह अतितम सूक्ष्मतम रूप में होता है, सर्वत्र चिपक सा जाता है। इसका स्वरूप तार सा या तारों के गुच्छों सा (अतितम सूक्ष्मतम) होता है। एक के भावों को या शब्दों को दूसरे के भावों या शब्दों तक तार या बेतार के तार से (अतितम सूक्ष्म तम तारों के गुच्छों से) भेज देता है। ये तार 'शुक्ल' स्वच्छ या प्रकाशमय से होते हैं। इसीलिए 'आकाश' नाम परमार्थतः सार्थक है 'आसमन्तात् काशते इति आकाशः' यह आकाश, शब्द ही है। यह शब्द 'विद्युन्मय' है, बिजली में प्रवाहित हो सकता है, तेजस्तत्व के सम्मिश्रण से आकर्षण विद्युत्तरंगमय शब्द के तार के गुच्छे अधिक प्रकाशित हो शुक्ल से लगते हैं तो जलीय तत्व मिश्रण से वही आकर्षण विद्युत्तरंगमय शब्द के तार रूप गुच्छे, बिजली का रूप धारण करते हैं। वायवीय शक्ति पार्थिव अंशयुक्त शब्द के शुक्ल तार गुच्छों को प्रवाहित करती है, यही पार्थिव मिश्रित ध्वनि हम सुनते हैं, इसकी भी बड़ी स्थूल ध्वनि हमारे पल्ले पड़ती है। फलतः शब्द तत्व अतितम सूक्ष्मतम शुक्लतारों के गुच्छों के समान आकर्षण विद्युत्तरंगों से निर्मित है। वह तैजस, वायवीय और पार्थिव तत्वों से सम्मिश्रित होकर क्रम से प्रकाश, वेग, विद्युत् और स्फोट (ध्वनि) का रूप लेता है। शब्द को प्रायः वज्र सम कहा भी जाता है 'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपघातात्' और यह कहा भी जाता है 'शस्त्र का घाव भर जाता है, पर शब्द का घाव कभी नहीं भरता'। यह वज्र की सी चोट कर कभी भुलाये नहीं भुलाता। अधिकांश अवसरों में शब्दश्रुति मनुष्य या प्राणी को अस्त व्यस्त सा कर देती है। कभी कभी ऐसे भी अवसर आते हैं जब शब्द सुनते ही कई तो मूर्च्छित हो पड़ते हैं, और कई मर भी जाते हैं। ऐसी होती है शब्द की चोट (श्रुति)। बलाकाओं के शिकारी के छर्रे दो चार को बेधते हैं, पर दस पाँच बिना छर्रे खाये शब्द श्रुति वेध मात्र से मर कर झड़ जाते हैं। गोला (बम्ब) तोप बन्दूक के शब्द चिउँटी प्रभृति क्षुद्र जीवों पर प्रहार करने में उसी प्रकार मप्रतिबन्ध हैं, जिस प्रकार खगोलों और ब्रह्मांड या ब्रह्माण्डीय ध्वनियाँ हम लोगों पर, वे जिस प्रकार हमें अश्रव्य हैं, उसी प्रकार हमारे तोप गोला बन्दूक प्रभृति के शब्द उन चिउँटी प्रभृति को भी अश्रव्य से हैं। स्थूलता, स्थूलता का बेध करती है, सूक्ष्मता

सूक्ष्मता का। यह स्वभाव का स्वाभाविक गुण है। शब्द के ये सब गुण आकर्षण तरंगीय वैद्युतीय और सूक्ष्मताधर्मीय हैं।

शब्द तत्व की लहरें क्यों चलती हैं?—शब्द तत्व की लहरों के ज्ञान के लिये, तालाब की स्थूल लहरों की उत्पत्ति की प्रक्रिया जान लेना परम सहायक होगा। जब शान्त तालाब में एक कंकड़ वेग से फेंका जाता है तो वह कंकड़ अपने वेग से जल के जिस भाग में पड़ता है वहाँ खड्ड सा करके उस खड्डीय स्थान के जल को वेग से बाहर की ओर ढकेल देता है। स्थिति चित्र १ सी हो जाती है, फिर वह बाहर की ओर प्रवाहित जल अपनी स्थिति में समतल रूप में आने के लिए या बीच में खड्ड होने से निम्न स्थल की ओर बहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण जितने वेग से गया था, उससे दूने वेग से, निचाई की ओर बहने के कारण, पहिले वेग ऊँचाई की ओर ले गया था उस वेग के कारण अब वह चित्र २ का सा रूप लेकर जब दोनों ओर के वेगवान प्रवाहों की टक्कर प्रथम केन्द्र विन्दु पर होती है तो, वह टक्कर उन्हें फिर अधिक ऊँचाई में ऊपर की ओर ले जाती है। तब स्थिति चित्र ३ सी होते होते चित्र ४ का रूप लेती है। इस स्थिति की उच्चतम स्थिति और उसका समस्त शरीर पहिले सर्वप्रथम कंकड़ के धक्के से दूना है, अतः वे पुनः चित्र ५ सा रूप धारण कर प्रथम स्थान को समतल कर, अब दोनों ओर के दो विन्दुओं से नई लहर उत्पन्न कर पुन वैसी ही प्रक्रिया को दुहराते हैं, दूसरी पूरी होने पर तीसरी, जब तक थोड़ा भी वेग है लहर चलती है, वह वेग अवश्य रहता है। अन्त में चारों ओर से तालाब के किनारे तक पहुँच जाती है। ठीक यही प्रक्रिया बहिर्जगत् में व्याप्त शब्दाणु सागर में या तालाब में घंटे की चोट रूप कंकड़ के वेग से पहिले शब्दाणु तालाब में खड्ड सा पड़कर लहरों को उत्पन्न कर देता है। यहां शब्दाणु सूक्ष्म हैं, अणुओं को टक्कर से जब बाहर को प्रवाहित करते हैं तो वे एक तो टक्कर के वेग से, दूसरे परमाणु के अपने स्वाभाविक गुण अपने अणु साथियों से मिलने के आकर्षण गुण उन लहरों को वायु के तल के आधार में प्रवाहित करते हैं।

शब्द तत्व की गति विधियाँ—शब्द तत्व नित्य दो रूपों में प्रवाहित होता रहता है। (१) सूक्ष्मतम रूप जिसे आकर्षण तरंगीय (electro-magnetic) रूप कहते हैं, दूसरा स्थूल रूप जिसे व्यक्त ध्वनि कहते हैं। यह व्यक्तध्वनि भी जब प्रति सेकिंड ४०० कम्पन से अधिक करती है तो वह भी सूक्ष्म ध्वनि या शब्द में परिणत सी हो जाती है, वह अश्रव्य हो श्रवण या सूक्ष्म का रूप ले लेती है। यदि घिर्री एक सेकिंड में ४०० चक्कर लगाने लगे तो वह एकदम स्थिर सी अचालित सी लगेगी, जब उसकी गति मन्द पड़ेगी

पृष्ठ ५४

चित्र १–५

पृष्ठ ५६
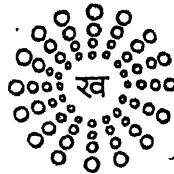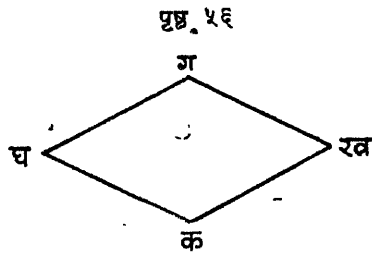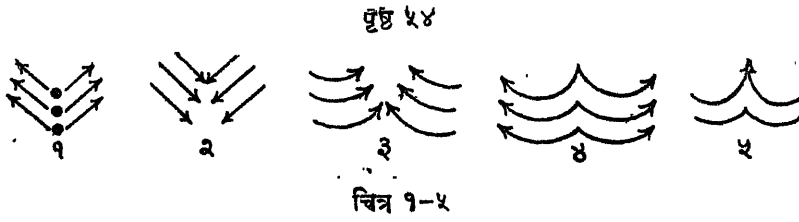
चित्र ६

तब पता लगेगा कि हां यह तब भी चल ही रही होगी, तब तेज गति ही उसे स्थिर दिखलाती रही। अनुभूति के लिए एक निश्चित गति की आवश्यकता है। यदि एक सेकिंड में १० से २० तक कम्पन होंगे तो वे भी नहीं सुनाई पड़ेंगे, जैसे दूर के दीर्घ गति के तारे स्थिर से लगते हैं। सूक्ष्मतम शब्द (electro-magnetic) कणों को प्राकृत ध्वनि कहते हैं। ये सतत स्वयं क्रिया-शील शब्दाणु हैं। यही प्राकृत ध्वनि क्रमशः स्थूलध्वनि में परिवर्तित होती है। इस स्थूलध्वनि को वैकृत ध्वनि या वैखरी ध्वनि कहते हैं। शब्द के ये दोनों रूप हमारे शरीर (अन्तर्जगत्) और बहिर्जगत् दोनों में विद्यमान रहते हैं। वैकृत ध्वनि, दोनों स्थानों में, काम (इच्छा यदृच्छा द्वारा शरीराभ्यन्तर बाह्य प्रयत्न, और वहिर्जगदीय आकुञ्चन प्रसारण संघर्षण-परिघट्टनादि यत्नों) से प्राकृतध्वनि की व्यक्तता मात्र है। ध्वनि उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है:— पहिले शब्दाणु (सततक्रियाशील) मस्तिष्क या क्षीर सागर में, ज्ञानज्ञेय ज्ञातव्य रूप से विद्यमान हैं। तब यदृच्छा प्रेरणा करती है। वह मनोभावना अहंकार रूपता को या चित्र रूप की पूर्व रूपता को प्राप्त होती है, पहिले एक क्षीण विन्दु सी प्रगट होकर होते होते बादलों की सी घनघोर घटाओं में जब परिणत होने लगती है तो तैजस वैद्युतीय शक्ति से बढ़कर पाक को प्राप्त होकर, वायु के वेग के सहारे, प्राणवायु के द्वारा, तैजस या वैद्युतीय रूप वाले शब्द या ध्वनि रूप में गर्जना सहित वैकृत ध्वनियों की मूसलाधार वृष्टि कर देती है। "स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः। वायुमाविशति प्राण-मथासौ समुदीर्यते ॥ ११४ ॥ अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्या परमाणवः। (११२) अन्तःकरणतत्वस्य वायुराश्रयतां गतः। तद्धर्मेण समाविष्ट-स्तेजसैव विवर्तते ॥ ११५ ॥" वा० पदीय।

शब्द तत्त्व के सूक्ष्मतम अणुओं की सततक्रियाशीलता का नाम है 'स्पन्द'। यह स्पन्द शक्ति, समस्त ब्रह्माण्ड के एक छोर से दूसरे छोर तक के विस्तार को क्षण भर में पारीय, तारीय, या दोनों दूर के छोरों या कोरों को ठीक एक साथ सा अनुगम कराने में समर्थ होती है। रेडियो बेतार के तार, ये सब शब्दाणुओं की इसी स्पन्द शक्ति से तत्काल श्रव्य होते हैं। इनमें जितना जितना वायवीय, तैजसीय, जलीय या पार्थिव अंश मिलता जाता है, उतने ही अनुपात से वे दूर-दूर से, स्थूल-स्थूल से भी होते रहते हैं। अन्त में ये अपने प्राकृत रूप में ही आ जाते हैं। पुनः वही प्रक्रियायें प्रत्यावर्तन पाती रहती हैं। शब्द ब्रह्म की सृष्टि स्थिति प्रलय पुनः सृष्टि आदि, इस प्रकार अपने अलग स्वतन्त्र मार्गों को अपनाये रहते हैं। 'स्पन्द' की विशेष व्याख्या 'सांख्य-योग दर्शन के जीर्णोद्धार' में दे दी गई है उसे वहीं देख लें।

कम्पन—शब्दाणुओं की स्पन्द क्रिया जब व्यक्त या स्थूल (फिर भी सूक्ष्मतम) ध्वनि का रूप लेने जाती है तो वह स्पन्द क्रिया सूक्ष्म कम्पन का रूप लेती है। यह कम्पन शरीर में आभ्यन्तर बाह्य प्रयत्नों से तथा स्थूल बहिर्जगत् में गति क्रिया व्यवहार कर्म आकुञ्चन, प्रसारण परिघट्टन संघर्षण, स्पर्श, भ्रमण प्रभृति समस्त क्रियाओं से उत्पन्न होता है। उक्त प्रयत्नादि और गत्यादि सब संघर्ष द्वारा शब्दाणुओं में कम्पन उत्पन्न करके विरत हो जाते हैं। अब कम्पन अपना कार्य आरम्भ करता है। घंटे में हथौड़े की चोट, मुख उदर में प्रयत्न, पूरे घंटे के, और मुख कंठ फेफड़े उदर के समस्त शब्दाणुओं को विक्षुब्ध करके, उससे घंटे के आकार की या प्रयत्नादि से मुखादि के आकार की अणुधारा सी निकाल देती हैं। तब ये धारायें आपस में परस्पर वैसा ही संघर्ष सा करती रहती हैं जैसा प्रथम चोट या प्रयत्न में हुआ था। इन धाराओं का क्रमशः संघर्ष प्रवाह रूप में गति पा जाता (कथित रीति से) है। इस गति में वायु और निरंतर क्रियमाण संघर्ष दोनों बराबर उत्तरदायी हैं। एक धारा दूसरी धारा को आगे धक्का देकर नयी धारा सी उत्पन्न करके, विलीन होती है, इसी क्रम से शब्दाणु कम्पन ही ध्वनि रूप में आगे आगे सुनाई देता है। पीछे पीछे नष्ट होता जाता है। शब्दाणु कम्पन ही गति है। शब्दाणु कम्पन गति इस प्रकार चलती है। मान लिया दिये चित्र (६) में संघर्ष या प्रयत्न 'क' बिन्दु पर हुआ, वहां से परत पहिले 'ख' बिन्दु तक गई, फिर 'ख' से वापस आकर 'क' ही के पास आई, इस बार के 'क' को 'ग' दिखलाया है, क्योंकि चित्र में वे एक ही रेखा में पड़ते हैं; गति दिखाने के लिए अलग 'ग' दिखाया है जो 'क' का ही प्रतिनिधि है। फिर दर्शित 'ग' से या वास्तविकतया 'क' ही से वह परत 'घ' तक आई, पुनः 'घ' से वह परत सी लौटकर 'क' अपने आरम्भ के स्थान में दुबारा आई। इतनी क्रिया का नाम है 'एक कम्पन'। यह बतलाया जा चुका है कि ये कम्पन किसी एक ही दिशा में जाने के लिए, जब तक बाध्य न किये जाँय, प्रतिबन्धित नहीं हैं, ये सर्वतोमुखी व्याप्ति रूपी कम्पनों में फैलते हैं। चाहे आप उसे 'क' चित्र रूप में मानिये या 'ख' चित्र रूप में, ऊपर नीचे आमने सामने एक सूक्ष्म रेखा तक में प्रवाहित होता है। हां जब इस प्रकार एक कम्पन पूरा होता है तो वह दूसरे को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। यही क्रम चलता रहता है। आरम्भ के कम्पन गति में तेज होते हैं, उत्तरोत्तर के हलके और विस्तृत होते रहते हैं। जब अधिक हलका आ जाता है तो, वे शब्दाणु पुनः प्राकृत ध्वनि या स्पन्द रूप अपना लेते हैं, नष्ट नहीं होते, जो हैं वे कहां जावेंगे। कम्पन जितना विस्तृत होता जावेगा उतना ही सूक्ष्मतरादि होता जावेगा, यहां तक कि अन्त

में अतिसूक्ष्मतम आकर्षण तरंगीय विद्युत् रूप ले लेता है। ध्वनि के वेग में वायु का हाथ है पर, इस सूक्ष्मता को स्थूल बनाये रखना वायु बेचारी की शक्ति के बाहर की वस्तु है। उक्त कम्पन एक सेकिंड में १० से २० तक उत्पन्न होंगे तो नहीं सुनाई पड़ेंगे, यदि २० से ३०० तक कम्पन प्रति सेकिंड होंगे तो उत्तरोत्तर अच्छे सुनाई पड़ेंगे, ३०० से ४०० तक कम्पन एक सेकिंड में होंगे तो कान फटने से लगेंगे। ४०० से अधिक कम्पन प्रति सेकिंड होंगे तो बिलकुल न सुनाई पड़ेंगे। इन कम्पनों की प्रति घंटा ७५० मील की गति या चाल है। यह अधिकतम गति है, जिसमें वायु का सहारा रहता है। शब्दाणुओं की गति बिजली और प्रकाश के माध्यम से प्रति सेकिंड १८६००० मील है। इनकी अपनी गति, सूक्ष्मातिसूक्ष्म पल में समस्त ब्रह्माण्ड के विस्तार के बराबर चल सकने वाली है।

आजकल वैज्ञानिकों ने शब्दाणुओं के शब्द चित्र लेने की कल शब्दाङ्कन-कल (फोनोग्राफ) का आविष्कार कर लिया है जिसका उपयोग संगीत और चलचित्रों में अंकन ताल (रिकार्ड) से किया जाने लगा है। ध्वन्यङ्कन कल (ओसिलोग्राफ) शब्दाणुओं के कम्पन की गति से उनके उदात्तानुदात्त-स्वरितादि भेदों के चित्रों को उच्च मध्य और निम्न रेखाओं द्वारा सूचित कर देती है। साथ में यह कल प्रत्येक ध्वनि के श्रव्याश्रव्य भागों का चित्र भी उपस्थित कर देती है। श्रव्य भाग की रेखा खिंच जाती है, कम श्रव्य के लिए विन्दुओं की रेखा देती है। हम किसी शब्द या वाक्य को किन स्वरों (उदात्तादि) में बोल रहे हैं इसका यह स्पष्ट संकेत देती है। रेडियो, बेतार का तार आदि ऐसे यन्त्रों का आविष्कार हो चुका है जो शब्दाणुओं को विद्युत् तत्व में परिणत करके पुनः उस विद्युत् को तैजस तत्व या प्रकाश में परिणत कर, उस प्रकाश को पुनः उन्हीं शब्दाणुओं के मार्ग या आकर्पणतरंग रूप शब्द कणों के प्रवाह में प्रकाश गति से प्रवाहित किया जाता है। जहां पर ये शब्द सुने जाते हैं वहां पर, क्रिया उलटी होती है। रेडियो में शब्दाणु पहिले प्रकाश रूप में आते हैं, उस प्रकाश को पुनः विद्युत् में परिणत किया जाता है, और तब इस विद्युत् को पुनः शब्दाणुओं में जब परिणत करने लगते हैं तो धड़ाधड़ शब्द सुनाई पड़ने लगते हैं।

वैज्ञानिक 'शब्द' तत्व को एक शक्ति मानने लग गया है। पर वह अपनी शैली से लाचार है कि 'शब्द' तत्व को तत्व नहीं मान सकता। क्योंकि उसकी तत्व की परिभापा में एक प्रतिबन्ध यह है कि तत्व तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक उसमें 'भार' न हो। शब्द तत्व के अणु तो श्रव्य

मात्र हैं, उनमें भार की कल्पना ही अनर्गल है, अतः वह इसे 'शक्ति' (एनर्जी) नाम से पुकारता है। हमारा शब्द ब्रह्म, भौतिक तत्त्वों का सूक्ष्मता की सीढ़ी का अन्तिम स्वरूप है। हम इसे 'तार' सम, वैद्युतीय तत्व मानते हैं। वैज्ञानिक की आज तक की अन्तिम खोज यह है कि सब भौतिक तत्त्वों की अन्तिम स्थिति में (सूक्ष्मतम स्थिति में) केवल एक ही वस्तु मिलती है वह है 'वैद्युतीय शक्ति' (एलेक्ट्रिकल चार्जेज) जिसके धन और ऋण दो भेद हैं। तब तो वैज्ञानिक कुछ कुछ हमारे शब्द ब्रह्म के आस पास ही कहीं भटकते दिखाई पड़ रहा है। अब तो बबुल चेम्बर (अणु पेटिका) का आविष्कार हो चुका है जिसमें प्रोटोन के ३० भाग किये जा सकते हैं। यह आविष्कार शब्दाणुओं की ओर झुक रहा है।

अध्याय २

भारतीय आर्य भाषाओं के मूल स्रोत पर नवीन प्रकाश कुञ्जीरूप भाषा कुमाउनी के महत्व की एक झलक

आगे चलकर हम देखेंगे कि कुमाउनी भाषा के आधार पर, आर्यों और आर्य भाषाओं का इतिहास, एक सच्चा नवीन और प्रामाणिक रूप धारण करने में समर्थ होता है। (१) कुमाउनी केवल ऐतिहासिक तथ्यों का ही भण्डार नहीं है, वरन् साथ-साथ में वैदिक और अवैदिक कई मौलिक संस्कृतियों की प्रतीकावलियों की प्रामाणिक प्रस्तुति भी करती है। यह वह भाषा है जिसके भाषायी चिह्नों से ब्रह्मावर्त और आर्यावर्त जैसे भारत के सुप्रख्यात दो विभागों की नीव पड़ने की आवश्यकता पर उज्ज्वल प्रकाश पड़ता है। इसके आधार पर ब्रह्मावर्त (ब्रह्म + आ + वर्त) वृत धातु प्रयोग पर्य्यन्तता से अपनी सीमा निर्धारित करने में समर्थ होता है। और यह वैदिक और अवैदिक दोनों प्रकार के ब्राह्मणों की पहिचान का मुख्य लक्षण हलप्रवहणादि देने तथा (२) वैदिकों और अवैदिकों के मुख्य भाषायी विभेद कारक तत्त्व, वैदिकों के 'ल' को अवैदिकों के 'र', और वैदिकों के 'ळ' को अवैदिकों के 'ड्' के परिवर्तन को अबतक सुरक्षित रखकर वशिष्ठ, विश्वामित्र जैसे प्राचीनतम संघर्ष में उज्ज्वल प्रकाश डालने वाले तथ्यों का संग्रह कुमाउनी को छोड़ अन्यत्र मिलना सर्वत्र दुर्लभ है। (३) 'खश' जाति को आज तक अपने रूप रंग संस्कृति में सुरक्षित रखकर, परशुराम के २१ बार के युद्धों का संगत विश्लेषण, बिना इस भाषा के ज्ञान के आजतक अनर्गल ही बना रह गया है (४) यास्क का काम्बोज, पाणिनि, कात्यायन पतंजलि और भरत नाट्य शास्त्र के प्राचाम्, उदीचाम्, विभाषा, अन्यतरस्याम् आदि शब्दों का समुचित प्रकरण और तादात्म्य आजतक कुमाउनी के अध्ययन के बिना गोल-माल सा और नितान्त अनवगत सा रहता चला आया है। (५) मनु प्रभृति की ब्रह्मावर्त और आर्यावर्त की प्रस्तावना की मूलस्रोतस्विनी आज तक अज्ञान के मरुस्थल में लुप्तप्राय बनी रही, इसका उद्घाटन कुमाउनी के अध्ययन से ही उचित रूप से हो सकता है। (६) बौद्ध धर्म जैन धर्म की अहिंसा के मूल कारण को आजतक अन्तरंग बहिरंग भाषाओं को अलग न मानने से गलत ढंग से वैदिक यज्ञहिंसा का विरोध मानना कितना अनर्गल

प्रलाप सिद्ध हो चुका है, यह भी कुमाउनी के अध्ययन की दुर्लभ देन है। (७) कुमाउनी भाषा इतनी मार्मिक अभिव्यञ्जनाशील है कि बड़े-बड़े साहित्य और शास्त्रों वाली भाषा इसकी बराबरी नहीं कर सकती। इसमें प्रत्येक भाव को अभिव्यक्त करने के लाखों भाववाचक शब्द बन जाते और प्रयुक्त होते हैं जैसे 'तमैन' 'तांबे के पात्र में रखी वस्तु का स्वाद', 'हन्दरैन' चीथड़े के जलने की गन्ध, 'किड़ैन' सिंह के शरीर की गन्ध आदि। (८) कुमाउनी में इतने मुहावरे और लोकोक्तियाँ हैं कि अच्छा वक्ता ५ मिनट की बात में कम से कम १० का प्रयोग कर देता है जिससे भाषा गम्भीर साहित्य का रूप ले लेती है (९) जब अवैदिक और वैदिक दो जने आपस में बात करते हैं तो उनका वार्तालाप 'र' 'ल' ड, ल भेद ष श ह के भेद से एक नाटकीय ढंग ले लेता है, ऐसा मीठा सम्मिश्रण इस भूलोक के किसी कोने में नितान्त अलभ्य है। (१०) कुमाउनी का साहित्य लिखित रूप में कम है, हुआ करे, पर इसका जो घरेलू, नित्य प्रति के विनोद का सजीव साहित्य, सजीव सच्चे प्रेमियों के सच्चे कथानकों के, स्वस्वनिर्मित कविताओं छन्दों लहजों भावों में उन्मेष पाकर पर्वत की घाटियों को सजीव मूर्ति सी बनाता रहता है, वह भी इस भाषा के क्षेत्र के बाहर स्वप्न ही समझा जाना चाहिए। इस आनन्द का क्षीरसागर केवल कुमाऊं और कुमाउनी के ही भाग्य में बदा है (११) कुमाउनी का बच्चा बच्चा, कवि है, कलाकार है, साहित्यिक है, विदग्ध है, प्रौढ़ कल्पनाओं, भावनाओं, और विचारधाराओं का उन्मेषक है, ऐसा अहोभाग्य किसी अन्य भाषा ने वक्ता को शायद ही प्राप्त हो। (१२) प्रौढ भाषाओं में जितनी मार्मिक व्यञ्जक और आवश्यक शब्दावली हैं, उनमें से कुमाउनी किसी से वञ्चित नहीं है। यह बात नहीं कि हिन्दी मराठी बंगाली की तरह इसे तत्सम रूप में उधार लेने की नौबत आई हो। यहां लिखित का कम प्रयोग होने से तत्सम का अधिक प्रचार नहीं रहा; प्रत्येक आर्षशब्द अपने स्वाभाविक विकास द्वारा तद्भव रूप में, उस प्राचीन भावना व्यञ्जना और अर्थ का सच्चा प्रतीक सा, नृत्य सा करता आँखों के सामने आता है। (१३) कुमाउनी का प्रत्येक अक्षर, शब्द, वाक्यांश, वाक्य, परिच्छेद, ध्वनिभेद से अर्थ भेद करता या रखता है, प्रकरण भेद से अर्थभेद तो सर्वत्र सब भाषाओं में भी मिलता है। (१४) लगभग १४ विभिन्न विभाषाओं से कुमाउनी में कहीं कुछ कहीं कुछ खश आर्य भाषा के मौलिक तत्वों की सुरक्षा बनी चली आ रही है। यह भी अन्यत्र दुर्लभ ही है। (१५) कुमाउनी में लिखित और उच्चरित दो स्पष्ट भेद मिलते हैं। लिखित रूप प्राचीन कुमाउनी की प्रतिनिधि है तो उच्चरित वर्तमान विकसित

रूप की (१६) एक ही स्वर अ, आ, इ उ ए ऐ ओ औ और एक ही व्यञ्जन क ख आदि के जितने पृथक् पृथक् भेद कुमाउनी में उपलब्ध होते हैं उतने शायद ही किसी अन्य भारतीय भाषा में मिलें। (१७) कई ऐसी ध्वनियाँ हैं जिनकी सत्ता अन्य भारतीय भाषाओं में है ही नहीं, वे हैं 'श' का एकान्त-रूप से प्रयोग, स् का ह के समान उच्चारण, ल का ळ के सदृश उच्चारण, साथ में 'स' ह ल श की भी ध्वनियाँ हैं ही। (१८) विभिन्न विभाषाओं में एक ही शब्द या ध्वनि के अलग-अलग उच्चारण प्राप्त करने हों तो कुमाउनी छोड़ अन्यत्र नहीं मिल सकते।

इस प्रकार कुमाउनी भारतीय भाषा शास्त्र की एक कुञ्जी सी है, इसके अध्ययन के बिना किसी भी भाषा का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी दृष्टि-कोण से इस भाषा को भाषातत्त्व शास्त्र की व्युत्पत्ति के लिए उदाहरण रूप में अपनाते हुए इसकी पूर्ण व्याख्या करने का प्रयास किया जा रहा है। (१९) कुमाउनी ही एक ऐसी भाग्यशालिनी आर्य भाषा है जिसमें संस्कृत के सभी महाप्राण व्यञ्जन श ष और स पूर्ण रूप से सुरक्षित मिलते हैं, अन्य भारतीय भाषाओं ने इनमें से केवल एक ही को सुरक्षित रखा है। (२०) कुमाउनी ने अनुनासिकों में ङ और ञ तक को संस्कृत काल से बचाकर रखा है अन्य भाषाओं में इनका नामो निशान तक नहीं मिलता। (२१) 'ण' मूर्धन्य व्यञ्जन भी कुमाउनी और बंगाली को छोड़ अन्यत्र दुर्लभ सा है। (२२) कुमाउनी में वैदिक विसर्ग की ध्वनि, खुले 'ह' व्यञ्जन (या प्रयत्न में खुला 'स' महाप्राण सा) की अनुरूपता से मिलती है। (२३) वैदिक 'क्लृप्त' और 'मीळे' के मौलिक 'ळ' तथा विकृत 'ळ' ('ड' का प्रतिनिधि) भी कुमाउनी में अबतक काला 'ल' रूप में मिलता है। (२४) कुमाउनी में 'आ' स्वर के ह्रस्व दीर्घ या लघु गुरु दो रूप मिलते हैं। यह परिस्थिति किसी अन्य भाषा में उपलब्ध नहीं है। (२५) कुमाउनी में माता पिता के सम्बोधन के शब्द 'इजा' और 'बौज्यू' इतने आदर भाव से भरे हैं कि अन्य किसी भी भाषा को ऐसा सौभाग्य प्राप्त ही नहीं हो सका है। 'इजा' शब्द (आर्या अज्जा) तो वैदिक काल की प्रतिष्ठा भरी मातृ मूर्ति की, बौराणी-बहूरानी, ब्वारि-वधू-भार्या आदि शब्द परम आदर सूचक होते हुए, अविच्छिन्न रूप से वैदिक सभ्यता का आज भी प्रतिनिधित्व करते आ रहे हैं। इस प्रकार की ऐतिहासिक और आदर मयी शब्दावली का होना कुमाउनी जैसी चोखी आर्य भाषा के ही भाग्य में लिखा है।

(२६) अन्त में भारोपीय भाषा के एक सर्व प्राचीन और बड़े महत्त्व पूर्ण शब्द 'भागी' की सुरक्षा न जाने कैसे आज ५०५९ वर्ष से तद्रूप में इस

भाषा में होती चली आ रही है। यह आर्यों का वह 'भग' शब्द है जिसको कश्श आर्य प्रत्येक नाम के आगे 'बुगस्' बोलते थे, यह मितानी उल्लेख से विदित हो पड़ा है (दे० आर्यजाति आगे)। अतः कुमाउनी, भारतीय आर्य भाषाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

कुमाउनी की कुञ्जी से भारतीय आर्य भाषाओं की मौलिक स्थिति

कुमाउनी, आर्य भाषाओं के क्रमिक विकास के निर्णय मार्ग के एक विशाल प्रकाश स्तम्भ का काम करती है। इस भाषा के बोलने वालों में अधिक प्रतिशत जनता एक विशेष जाति के नाम से पुकारी जाती है जिसने अपनी प्राचीन संस्कृति अब तक शुद्ध रूप में सुरक्षित रख सकने की सफलता पाई है। इस संस्कृति के आधार पर वैदिक और पौराणिक, जातियों और भाषाओं के बारे में जो कई प्रकार की उलझी हुई गुत्थियाँ अब तक अनिर्णीत सी, अविश्वसनीय सी प्रतीत होती चली आ रही हैं, सब एकदम सुलझ जाती हैं। अतः पहले, कुमाउनी को बोलने वाली इस जाति के बारे में कुछ जान लिया जावे।

कुमाउनी, कुमाऊँ की भाषा है। कुमाऊँ, उत्तर प्रदेश प्रान्त का उत्तर पश्चिमी, पर्वतीय प्रदेश है। राजनैतिक कुमाऊँ में अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल तथा (अब) टिहिरी गढ़वाल सम्मिलित हैं। पर कुमाउनी केवल अल्मोड़ा और नैनीताल दो मण्डलों की भाषा को कहते हैं, गढ़वाल और टिहिरी गढ़वाल में गढ़वाली भाषा बोली जाती है। गढ़वाली भाषा कुमाउनी की पुरानी बहिन भाषा है, ऐसे ही नैपाली नैपाल की भाषा भी कुमाउनी की पुरानी बहिन भाषा है। इन तीनों का मूल स्रोत एक ही आर्य भाषा है। कुमाऊँ वास्तव में अल्मोड़े मण्डल का एक परगना है। यह अल्मोड़े जिले के दक्षिण में टनकपुर की ओर पीलीभीत से मिला है, पूर्व में काली नदी इसे नैपाल से पृथक् करती है, पश्चिम में नैनीताल जिला तथा उत्तर में सोरसीरा गंगोली परगने अलग करते हैं। यह खण्ड चन्द राजाओं के राज्य का केन्द्र था, अतः इसी परगने के नाम से अल्मोड़ा और नैनीताल के मण्डल कुमाऊँ कहे जाने लगे। कुमाउनी भाषा का क्षेत्र पूर्व में नैपाली भाषा और नैपाल से काली नदी की रेखा से सीमित है, उत्तर में हिमाच्छादित हिमालय पर्वत श्रेणी और तिब्बती भाषा से, पश्चिम में गढ़वाल मण्डल और गढ़वाली से, दक्षिण में पाञ्चाली हिन्दी के क्षेत्र मुरादाबाद, रामपुर, बरेली और पीलीभीत से।

कुमाऊँ या कुमाउनी शब्द की निरुक्ति की पृष्ठभूमि में एक प्रचलित

कथा है। अल्मोड़ा मण्डल के दक्षिण पूर्व दिशा में एक कानादेव नाम का डेढ़ मील ऊँचा पर्वत है। किंवदन्ती के अनुसार पर्वत में कूर्मावतार की निवास भूमि थी, उनकी सेवा में इन्द्र नारद प्रभृति देव प्रस्तुत रहते रहे। अतः लोग इसे कूर्मांचल कहा करते थे। यह पर्वत कुमाऊँ परगने में था, अतः उसका नाम कूर्मांचल पड़ गया। आजकल जो लोग कुमाऊँ शब्द का शुद्ध रूप लिखते हैं वे भी कुमाऊँ को कूर्मांचल या कूर्माञ्चल लिखते भी हैं, पर भाषा विज्ञान की तराजू में तोलने से कुमाऊँ शब्द का 'कूर्मांचल' शब्द से विकसित होना असम्भव सिद्ध होता है। 'कूर्मांचल' शब्द का विकास इस प्रकार का होगा :—कूर्मांचलः कुम्माचओ—कुम्माचउ-कुम्माचो—'कूमाचो'। फलतः कुमाऊँ का नाम 'कूमाचो' होना था। अतः स्पष्ट है 'कुमाऊँ' शब्द किसी अन्य अनुरूप शब्द से निकला होगा। वह शब्द 'कूर्म्माङ्क' या 'कूर्म्माङ्ग' हो सकता है जिसका विकास–कूर्माङ्क या कूर्माङ्ग + क, कुम्मांङ्कओ—कुम्माओ कुमाउँ—कुमाऊँ। कूर्मो या कुमु। 'कुमाऊँ' का रूप कुमाउनी में कुर्मो या 'कुमु' है। इससे किंवदन्ती भी रह जाती है और शब्द की व्युत्पत्ति भी ठीक बैठ जाती है। इस प्रान्त के लोग अपनी भाषा को 'कुमैयाँ' भाषा कहते हैं, पर हिन्दी में कुमाउँ शब्द से 'कुमाउनी' शब्द बना लिया गया है। 'कुमाउनी' हिन्दी का शब्द है, यह ग्रन्थ हिन्दी में लिखा जा रहा है, अतः इसे 'कुमैयाँ' न कह कर कुमाउनी नाम से पुकारा जा रहा है। कुमाउनी में कई विभाषायें हैं, विभाषाओं को यहाँ 'बोली' कहते हैं। ध्वन्यात्मक विश्लेषण के लिए मैंने अपनी मातृभाषा 'गङ्गोई' बोली को माध्यम बनाया है, यह केन्द्रवर्ती बोली है। कुमाउनी सभ्यता और संस्कृति की जननी रही है। कुमाउनी की अब तक किसी ने आधुनिकतम वैज्ञानिक विवेचना नहीं की है। वैसे कुमाऊँ का अब तक न कोई प्रामाणिक इतिहास लिखा गया है, न इसकी सभ्यता और संस्कृति का कोई सर्वतोमुखी विश्लेपण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अपनी रुचि का विषय होने से, लेखक जो कुछ उपलब्ध कर सका है, उसी के आधार पर प्रस्तुत प्रयास किया जा रहा है।

कुमाऊँ देव भूमि के नाम से प्रसिद्ध है। नन्दा देवी नामक हिमालय की चोटी से 'पार्वती' की हिमनगाधिराज की कन्या रूप में पौराणिक वर्णना ने हिन्दू समाज में क्रान्ति फैला रखी है। यहाँ शम्भु निशुम्भ के स्मारक रूप में शुम गढ़ नाम का एक गाँव अब तक विद्यमान है, यह गाँव नन्दा देवी के समीप में ही बसा है। यहाँ कई ऋषि, मुनि, योगी, यति, सिद्ध और वीरों के नाम से अंकित पर्वत, खेत, ग्राम और खंड हैं। दुर्गा और शिव की यहाँ सर्वत्र प्रतिष्ठा है, उनके मन्दिर हैं, तीर्थ हैं और उन पर अखण्ड

श्रद्धा है। मार्कण्डेय पुराण में मधुकैटभ, महिषासुर और शुम्भ निशुम्भ या चंड मुण्ड का जो आध्यात्मिक विवेचन मिलता है उनका ऐतिहासिक आधार यहां की खश जाति के महावीर नन्दा देवी दाणू (दानव) शुम्भ निशुम्भ चंड मुण्ड प्रतीत होते हैं। 'दाणू' प्रत्येक गाँव की सीमा में पत्थरों के ढेर को कहते हैं। जो उस मार्ग से निकलता है उसे वहां एक पत्थर फेंक या रख देना पड़ता है। यह प्रक्षेपणी युद्ध की तय्यारी के लिए की जाती होगी। युद्ध उस दाणू जाति के खश आर्यों में तथा अन्य दलों में होता रहा होगा। दाणू शब्द 'दानव' शब्द से निकला हुआ है। गढ़वाल पर विजय के उपलक्ष में 'खतडुवा' उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता है। इस प्रकार कुमाऊँ प्राचीन और पौराणिक काल में बड़ी बड़ी हलचलों से युक्त प्रदेश रहा है।

कुमाऊँ की जनता को तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है (१) वैदिक आर्य जो मैदानों से यहां आकर बसे हैं। इनमें चन्द्रवंशी राजा मुख्य हैं। इनके साथ कई ब्राह्मण वर्ग आये, वे इनके राज कर्मचारी का काम करते रहे। इन्होंने इस खंड में वैदिक सभ्यता का प्रचार किया। (२) यहां के आदि वासी जिनसे कठिन संघर्ष कर यहां की मुख्य जनता ने अपना प्रभुत्व जमाया। वे आदि वासी कुछ उनमें मिल गये, कुछ अछूत बने रह गये। (३) यहां की मुख्य जनता 'खश' जाति की है। आदि वासियों से इन्हीं को संघर्ष लेना पड़ा था। कुमाउनी इसी खश जाति की भाषा है। यह जाति भारोपीय आर्य वंश की थी।

आर्य जाति

भारोपीय आर्य जाति की सत्ता का निर्धारण भाषा के आधार पर किया गया है यह सब ऐतिहासिक जानते हैं अतः भाषा तत्व शास्त्र का सर्व प्रथम अधिकार है कि वह आर्य जाति के इतिहास पर कुछ और अधिक प्रकाश डाल कर उसकी सब परिस्थितियों में से उपलब्धों का विशद विवेचन दे। यद्यपि भाषा तत्व शास्त्र का सम्बन्ध सर्ववर्णीय भाषाओं से है तथापि यहां इस ग्रन्थ में व्याख्यात भाषातत्व शास्त्र की आधार शिला भारतीय आर्य भाषा ही है जिस पर ध्वनितत्व शास्त्र सम्बन्धी सब विवेचनायें उपन्यस्त हैं। अतः जिसकी यह भाषा है उसके इतिहास पर प्रकाश डालना इस ग्रन्थ का भी कर्तव्य सा हो जाता है। अस्तु 'आर्य' जाति सूचक शब्दों में सेल्टिक जाति में दो शब्द प्रचलित हैं। (१) 'आरिओविस्तुस्' और 'आरिओग्रिया'; जर्मानिक् में 'आरिओबिन्दुस्' शब्द मिलता है; करश जाति की भाषा में 'हार्रिस्' (जैसा कि मितानी जाति ने उल्लेख में दिया है) और पारसीक

अवेस्ता में 'आइर्य' शब्द मिलता है, वेदों में 'आर्य' यह सर्व प्रसिद्ध है। इसी अन्तिम नाम से आजकल सब अपने को 'आर्यन्' नाम से पुकारने लगे हैं। यह वैदिक शब्द की स्पष्ट जीत है कि भारतीय संस्कृत में ही इस जाति का नाम सबसे शुद्ध रूप में मिलता है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि सेल्टिक और जर्मानिक भाषाओं के आर्य शब्द के आगे 'विस्तुस्' 'ब्रिग' और 'बिन्दुस्' शब्दों का क्या अर्थ है? संस्कृत में इसका समानान्तर क्या होगा या हो सकता है? जैसा हम आगे चलकर कश्शाइत भाषा या कश्श जाति के आर्यों की भाषा में देखेंगे कि यह जाति प्रत्येक नाम के आगे 'बुगस्' जोड़ने की आदी थी, यह शब्द उसे बहुत प्यारा था, इसका समानान्तर संस्कृत में 'भगः' शब्द है। लेखक को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह कश्श आर्य और भारतीय खश आर्य दोनों एक ही आर्य वंश की पूर्व और पश्चिम को बिखरी शाखायें थीं। कुमाउनी भाषा में प्रत्येक वाक्य के आदि अन्त या मध्य में 'भागी' शब्द का अब तक उसी प्रकार प्रयोग होता चला आ रहा है जैसा कश्श जाति में बतलाया गया है। इस भागी शब्द का अर्थ प्यारा, भाग्यवान्, भला, भले आदमी आदि प्रसंगतः होता है। संस्कृत भगः का कश्श में 'बुगस्' हुआ है तो वही सेल्टिक और जर्मानिक में विस्तुस्, 'ब्रिग' 'बिन्दुस्' में परिणत हुआ होगा, बिन्दुस्, विस्तुस् और 'ब्रिग' में भग के भृस्ज, भज धातुरूपीय रूप के विकार हैं। इससे यह प्रतीत होता है सेल्टिक और जर्मानिक आर्य जातियाँ और कश्श और खश जातियाँ एक ही वर्ग की हैं, इनके निष्क्रमण कालों में प्रथमों का पहिले द्वितीयों का बाद में होना सम्भव है। अतः आरिओ बिन्दुस्; आरिओब्रिग, आरिओविस्तुस् = आर्य भगः = (आर्य भर्ग = भृग) है, और उक्त आरिओ, पारसीक 'आइर्य'; मितानी 'हार्रिस्' = आर्य। सब आर्य शब्द के अपभ्रंश रूप हैं।

भाग्य से या अभाग्य से लेखक खश भाषाभाषी है, यद्यपि खश जाति और पाश्चात्य कश्श जाति अवैदिक थे, लेखक वैदिक आर्य वंशी है। इस ग्रन्थ में भाषातत्त्वशास्त्र के नियमों की व्याख्या का आधार कुमाउनी खश भाषा बनाई गई है। इस भाषा के भाषी खशों की कितनी बड़ी धाक जमी रही, यह इनके कारण; ३९०० वर्ष पूर्व परशुराम के २१ युद्धों, ३३८५ वर्ष पूर्व महाभारत जैसे अभूतपूर्व संग्रामों, और कश्शों के ३७५९ वर्ष पूर्व बेबीलोन के विजय से तथा सेल्टिक जर्मानिक कश्श आर्यों के बाल्टो स्लाविक जातियों को कुचल कर सारे पश्चिम में फैलने (५५५९ वर्ष पूर्व) से और आज कल उनकी सन्तानों की विद्या, बल, नीति, सभ्यता आदि की चारों ओर के

देशों में चुम्बकीय आकर्षण से पगली नकल का होना ज्वलन्त प्रमाण है। प्राचीन भारत में उनकी सभ्यता कैसी थी, उनकी सन्तानों में अब क्या संस्कृति है, उनके बारे में हमारे शास्त्रकारों ने क्या क्या लिखा है, इस सब अद्भुत सामग्री का भानमती का पिटारा आगे के पृष्ठों में सप्रमाण सिद्ध करते हुए खोला जा रहा है। पहिले आर्यों के आदि निवास स्थान के बारे में विचार कर लें।

आर्यों का आदि निवास और अभिजन विभाजन काल

आर्यों के आदि के निवास स्थान के बारे में अभी तक मतैक्य नहीं है। यह अन्धे कोष्ठ स्थित हाथी के पांव, कान, पूंछ, सूंड आदि की जैसी उपहासास्पद खोजों की पहेली बनी हुई है। नार्वे उत्तरी ध्रुव से हंगेरी काकेशश पामीर भारत आदि से लेकर आस्ट्रेलिया तक आर्यों का आदि स्थान सिद्ध करने के लगभग १७ मत प्रचलित हैं। सबसे पहिले याकोवी विन्टर्नीज, हिलेब्रान्द प्रभृति विद्वानों ने भारत को ही आर्यों का आदि निवास माना था, उन्होंने वैदिक आर्यों के 'द्रुह्य' वंश के पश्चिमी एशिया की ओर प्रवेश करने को इसमें प्रमाण दिया था।[1] 'पार्जिटर महोदय ने पौराणिक वंशावली को अधिक प्राचीन होने का महत्व देकर उक्त मत का समर्थन किया था। भारतीय कई विद्वानों ने भी इसी पक्ष की हिमायत में अनेकों अन्य प्रमाणों का उल्लेख किया है। यदि ऐसा माना जाय तो सतेम् केन्तुम्, जैसे भाषायी कोणों की व्याख्या दुरूह ही नहीं हो जाती, वरन् तोखारी, मितानी, हितेती, और 'कस्सी' भाषाओं की समस्या भी बड़ी उलझन में पड़ जाती है, फिर ये लोग भारत जैसी सोने की चिड़िया को छोड़ पश्चिम उत्तर के मरुस्थलों की शरण क्यों लेने लगे। तीसरे आर्यों के प्रत्येक देश में वैदिक ऋचाओं का घोष सुनाई देना था, यह तो पारस से उधर दृष्टिगोचर नहीं होता। चौथे भारतीय आर्यों को पुरन्दर-किला तोड़ने वाला कहा है। इतना अवश्य है कि आर्यों का आदि निवास स्थान इलावर्त एशिया है जिसमें तीन वर्णों का निवास मिलता है गोरे, पीले और काले, इनका भौगोलिक विभाजन मध्य एशिया, पूर्व एशिया, दक्षिण भारत के देशों में किया जा सकता है। भारतीय परम्परा आर्यों के क्षेत्र को पामीर की उपत्यका वाह्लीक से उत्तर की ओर ले जाने में असमर्थ है (दे० खश प्रशस्ति पहिले)। इसी प्रान्त के नगर किर्गिज में

---

१ यह आगे (अध्याय ६ में) बताया जायेगा कि द्रुह्यों का पश्चिमी एशिया जाने का कारण उनकी इच्छा नहीं वरन् लाचारी थी। उन्हें भरत तित्सु जाति के आर्यों ने भारत छोड़कर भागने को बाध्य कर डाला था। ये पश्चिमोत्तर भारत में बसे थे।

भारोपीय आर्यों की समाधियाँ अब पुरातत्व विभाग ने खोज निकाली हैं, ऋग्वेद १०–१८–४, १३ में ऐसी समाधियों का वर्णन आता है। इस मत का, स्पेख, वी. जी. चाइल्ड और वोगदनो ने समर्थन भी किया है। यहां आर्यों के पाषाण युग के अस्त्र भी मिले हैं। अतः वाह्लीक या बलख ही भारोपीयों की आदि निवास भूमि है इसमें सन्देह नहीं रह जाता। तिलक के उत्तरी ध्रुव सम्बन्धी गणित पर अब डा० तारांपोरेवाला प्रभृतियों ने सन्देह उत्पन्न कर दिया है यद्यपि वेदों और गीता में ६–६ महीने के दिन रातों की जानकारी उल्लिखित है पर वे वैदिक दर्शन के दो भागों के वाचक हैं (वैदिक दर्शन देखें) अतः यह ज्ञान निवास का प्रमाण नहीं हो सकता। डा० गाइल ने हंगेरी को आदि स्थान माना था, उसकी पुष्टि करने में पुरातत्व विभाग असमर्थ है, इसके विपरीत, डेन्यूबी प्रान्त में देवी की उपासना के चिह्न मिलते हैं जो आर्य सभ्यता के विरुद्ध कहे जाते हैं। अन्य सब मत निराधार और कपोलकल्पनाएँ सी हैं उनपर माथापच्ची व्यर्थ है।

कलियुग को आरम्भ हुए आज ५०६२ वर्ष हो चुके हैं (वि० सं० २०१८)। लेखक के अनुसार यह समय भारतीय आर्यों के दाशराज्ञ युद्ध का समय या आर्य भरत संवत् बतलाता है (देखिए अगला परिच्छेद आर्य भरत संवत्)। इस प्रकार आज से ५०६२ वर्ष पूर्व में वेदों की उन उन ऋचाओं का निर्माण हो चुका था जिनका कुछ प्रतिरूप हमें पारसीक आर्यों के अवेस्ता में मिलता है। फलतः भारत में पारसीकों के एक साथ रहते हुए वे मन्त्र बन चुके थे। इनके निर्माण में लगभग ५०० वर्ष अवश्य लगे होंगे और इसी बीच में दाशराज्ञ युद्ध में इनका विभाजन भी हुआ होगा। अतः भारतीय और पारसीक आर्यों का विभाजन काल आज से ५५५९ से ५०६२ के पूर्व ही द्रुह्यों के भाग जाने से हुआ होगा। पारसीकों की एक शाखा बिछुड़ कर आर्मीनिया तक पहुँची वे मितानी नाम से पुकारे जाने लगे। वे वैदिक देवताओं के नाम तो जानते हैं पर वे मंत्रों को भुला बैठे या न ले जा सके ऐसा प्रतीत होता है। यह शाखा पारसीकों से बहुत दिनों के बाद फूटी होगी, इसमें उनकी भाषा प्रमाण है। इनकी भाषा में ऋत का 'आर्त', आर्य का हार्रिः, मर्य का मर्यामि (वीर) मिलता है। आर्त में वृद्धि हर्रिः में हकार का योग ये विकार इस बात के प्रमाण हैं कि इनकी स्थिति वैदिक भाषा से अर्वाचीन है (जैसे हौर हौश—ह + और, ह + उत्साह आजकल कुमाउनी और हिन्दी में बने हैं। इतना सन्देह अवश्य हो रहा है कि हमारे यहाँ 'हरिः ॐ' प्रत्येक मन्त्र के आदि में जो उच्चरित होता है उसका सम्बन्ध कहीं इसी आर्यवाचक हर्रिः शब्द से न हो, हमारे यहाँ इसकी सुरक्षा

इस प्रकार है उनके यहां 'आर्य' वाचकता में । अतः 'हरिः' शब्द भारत पारसीक सिद्ध हो जाता है । किसी भी प्रकार जो मितानी को वैदिक भाषा से प्राचीन समझते हैं वे भाषातत्व शास्त्र की अनभिज्ञता से ठगे गये हैं । ये लोग स्वस्तिक और त्रिशूल या उलटे त्रिभुज के चिह्न को महत्ता देकर पहिनते रहे । वे मृतकों की समाधियाँ भी बनाते रहे । त्रिशूल और उलटे त्रिभुज सब त्रिपाद् के चिह्न या वैदिक आर्यों के दार्शनिक चिह्न थे ।

भारत पारसीक मितानी दलों के पूर्वजों के साथ बाह्लीक में बहुत दिन साथ रहते हुए आज से ६५०० वर्ष पूर्व वहाँ से आर्यों के दो मुख्य दल बनकर क्रम से यूनान और रूमानियाँ की ओर बढ़े । दूसरा दल अन्त में इटली तक फैल गया । इन्हीं दो दलों का मिश्रित एक दल एशिया माइनर की ओर जाकर बस गया । वहां वह हितित्ते आर्य नाम से पुकारा जाने लगा । इनकी और रोमनों की भाषा में कुछ कुछ साम्य भी मिलता है । जिन दिनों ये दल भारत पारसीक मितानियों से बाह्लीक से बिछुड़ कर चले थे उन दिनों वैदिक मंत्रों की भूमिका रूप देवी देवताओं के कथानकों का निर्माण हो रहा था, इसी परम्परा को लेकर ये लोग चल पड़े थे और उन कथानकीय देवी देवताओं की पूजा करने लगे । इनकी भीतरी भावुकता बहुत दिनों के बाद मूर्तिकला रूप में प्रस्फुटित हुई । आध्यात्मिक ज्ञान के लिए इन दोनों वर्गों को सदा भारत का ही आश्रय लेना पड़ा । भीतरी ज्ञान भारत ही से सर्वत्र फैला है । हितित्ते आर्यों का इतिहास हाल ही में उपलब्ध हुआ है । इनका साम्राज्य था, जिसका पतन ३१८८ वर्ष पूर्व से आरम्भ हुआ, ३७१८ वर्ष पूर्व इन्होंने बेबीलोन पर अपनी विजय पताका फहराई थी । इनकी सभ्यता में असीरियन सभ्यता का मिश्रण भी मिलता है । सुब्बीलुलिमुस के राज्यकाल में इस जाति ने मितानी जाति से शान्ति सन्धि भी की थी । धर्म में ये ग्रीकों से मिलते हैं, सभ्यता में बेबिलोनियनों से, भाषा में रोमनों से । मिश्रित दल होने से इनमें सभी सम्मिश्रण उपलब्ध हैं, कोई उत्तमाकृति, कोई भद्दे भी । इनकी भाषा में एक विचित्र 'ह' ध्वनि है, दो वचन हैं, कारक और क्रिया सरल हैं, काल कम हैं, लकार नहीं के बराबर हैं, व्याकरण भारोपीय सा है, भाषा अति प्राचीन सी । भारोपीय आर्यों के विशाल अभिजन का सर्वप्रथम विभाजन आज से ६५०० वर्ष पूर्व उसी बाह्लीक भूमि से हुआ । उस समय सभ्यता अधिक विकसित न थी, भाषा भी धातुओं तक सीमित रही होगी । ऐसे वातावरण में बाल्टिक, स्लाविक, जर्मानिक और केल्टिक ये चारों दल पहिले उत्तर की ओर बढ़ते-बढ़ते सारे उत्तरी यूरोप और यूराल के पार एशिया में धीरे धीरे छा गये । बाल्टिक, स्लाविक, पूर्वी यूरोप व पश्चिमोत्तर

एशिया में बसे तो जर्मानिक, केल्टिक पश्चिमोत्तर नार्वे, जर्मनी, हंगेरी, इंगलैंड, आयरलैंड तक। यह दल भारोपीय संस्कृति से विहीन गडरिये ग्वाले के रूप में ही भटकते निकला था। आज जो भाषायें इन जातियों में प्रचलित हैं उनकी ७५ सैकड़ा पूँजी ग्रीक और रोमनों की देन है। रोमन तो इन जातियों पर प्रभुता साम्राज्य और धर्म द्वारा सदा प्रभाव और दबाव डाले रहे। इनकी भाषा में भारोपीयता का जो अंश मिलता है वह लैटिन, फ्रेंच, ग्रीक भाषाओं की अपनाई शब्दावली, भावावली से ही। यह दल शारीरिक परिश्रमी अधिक रहा होगा। अब तो सारे यूरोप में ऐसा सम्मिश्रण है कि इनकी जातीयता को पृथक् नहीं किया जा सकता। पूर्वी यूरोप और रूस का एशिया अब तक बाल्टिक स्लाविक भाषाओं को शुद्ध रूप में सुरक्षित बनाये हुए है।

१ वेदों के कथानकों का आविर्भावकाल आज से ६००० से ५५५९ वर्ष पूर्व तक
२ वेदोंके प्रारम्भिक मन्त्रोंकी रचनाका युग आजसे ५५५९ से ५०५९ ,, ,, ,,
३ ,, ,, उत्तर कालीन सूक्तों का रचना युग—५०५९ से ४५०० ,, ,,
४ शाखाओं और संहिताओं ,, ,, ,,—४५०० से ४००० ,, ,,
५ ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना काल—४००० से ३५०० ,, ,,
६ उपनिषदों, आरण्यकों और अथर्वों का युग—३५०० से ३००० ,, ,,
७ गृह्यसूत्रादिकों का रचना काल—३००० से २७०० ,, ,,

तदनन्तर शास्त्रीय प्राचीन संस्कृत निरुक्तादि शिक्षाकल्प

अन्त में दो महत्वपूर्ण भाषाओं पर प्रकाश डाले बिना यह प्रकरण अधूरा लगेगा। इनमें एक समस्या तोखारी भाषा की है यह केन्तुं वर्ग की है पर सतेम् के क्षेत्र में आती है। इसका यह कारण है कि जब भारत पारसीक दल ने वाह्लीक को प्रायः खाली कर दिया था तो कुछ बाल्टो स्लाविक वापिस आकर यहां बस गये थे। अतः उनकी भाषा मिश्रित सी हो गई। दूसरी भाषा 'कस्सी' है। लेखक इस भाषा और जाति का तादात्म्य भारतीय खश जाति और प्रस्तुत ग्रन्थ में व्याख्यात खश भाषा से करना नितान्त वैज्ञानिक समझता है। यह संस्कृत से बिलकुल मेल खाती है सूरिअ-सूर्य, मरंतस्-मरुत, सकुअमन-शुचमन; अविस्त-अभिरथ आदि। इस भाषा के नामों के अन्त में बुगस्—भग जोड़ा जाता है। कुमाउनी में 'भाई, भले मानुस' की जगह अब तक 'भागी' यही भग शब्द बोला जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वह अवशिष्ट भारत पारसीक मितानी दल था जो वाह्लीक में रह गया था। यह दल लगभग डेढ़ हजार वर्ष में टिड्डी दल-सा बन गया था।

अतः इसने भी एशिया के दक्षिण और पश्चिम की ओर अपने पूर्वजों का अनुसरण करके आक्रमण कर दिया। पश्चिमी दल ने एशिया माइनर की ओर पग बढ़ाये और इसने आज से ३७५८ वर्ष पूर्व बेबीलोन को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। ये लोग घुड़सवारी में सिद्धहस्त हो गये थे, पश्चिमी देशों में घोड़े से रथ खींचना इन्होंने ही चलाया था। मध्यएशिया में तब से इनकी बड़ी धाक जम गई थी। इन्हीं खशों का दूसरा दल साथ ही साथ वाह्लीक से लगभग ३९०० वर्ष पूर्व भारत की ओर चल पड़ा, उसका पूरा इतिहास आगे दे दिया जायेगा। (दे० अध्याय ५, ६)। इस दल ने भारत में परशुराम और उनके पिता ययाति के समय आक्रमण किया था। भ० कृष्ण का या महाभारत का समय डा० आल्टेकर ने वि० सं० पूर्व १४८५ माना है जो आज से ३३८६ वर्ष पूर्व बैठता है। परशुराम और ययाति के पुत्र यमदग्नि का समय इनसे लगभग ३५० वर्ष पूर्व होगा जो ३७३६ वर्ष पूर्व की बात होगी। इससे यह पता लगता है कि जिस प्रकार भारत पारसीक दल ५०५९ और ५५५९ के बीच भारत और पारस की ओर बढ़ा था उसी प्रकार ये 'कश्शं' या खश ३९०० वर्ष पूर्व एशिया माइनर, बेबीलोन, और भारत की ओर साथ-साथ बढ़ चले थे। इनके भारत में बस जाने के लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् यास्क के समय काम्बोज और वाह्लीक के अवशिष्ट खश आर्य, संस्कृत बोलते थे, यह यास्क ने प्रमाणित किया है। शतपथ ब्राह्मण इन्हें आर्य वंश का ही बतलाता है। (दे० आगे खश आर्य निन्दा और प्रशस्ति)

वेदों में आई हुई कुछ घटनाओं तथा महापुरुषों के समय के बारे में भी आज कल कुछ खोजें हुई हैं। वेदों में जिन राजाओं और राजकुमारों या मण्डलेश्वरों का वर्णन मिलता है उनमें से कई तो वे हैं जो आर्यों के वाह्लीक और काम्बोज की बस्तियों के युग में हुए थे। इनकी चर्चा उन ऋचाओं और सूक्तों में समझी जानी चाहिए जिनका निर्माण आर्यों के दाशराज्ञ युद्ध (५०५९ वर्ष पूर्व) पूर्व हो चुका था। ५०५९ वर्ष पूर्व के पश्चात् जिन ऋचाओं का निर्माण हुआ उनमें वाह्लीकी काम्बोजी का कम भारतीयों का अधिक होना स्वतः स्वाभाविक है। पुराणों ने उक्त दोनों प्रकार के राजवंशों और ऋषिवंशों का ऐसा सम्मिश्रण कर डाला है कि यह निर्धारित करना अधिक कठिन नहीं तो जटिल अवश्य है कि कौन किस युग से सम्बन्ध रखता है, यद्यपि उनकी अधिक शतांश सत्यता में सन्देह करना अनैतिहासिकता को गले मढ़ना होगा। छानबीन का क्षेत्र अभी खुला मैदान-सा पड़ा है। महाभारत का युद्ध आज से

३२८६ वर्ष पूर्व (या आर्य भरत संवत् १६७३) में हुआ था (डा० अल्टेकर)। दाशराज्ञ युद्ध ५०६२ वर्ष पूर्व (या आ. भ. सं. १) में, राजा गृत्समद का समय ४६५८ वर्ष पूर्व (या आ. भ. सं. ४०१ में) श्रृंजय सहदेव का समय ३९५८-३७५८ वर्ष पूर्व के मध्य (या आ. भ. सं० ११०१-१३०१ के मध्य)। भरत वंश के सर्वप्रथम दल के नेता का नाम आर्य पुरन्दर था। (५०६२ वर्ष पूर्व)। दाशराज्ञ युद्ध में यह विजयी आर्य दल था। इसी लिए इस देश का नाम भारत पड़ा है। इसी विजय के उपलक्ष में आर्य भरत संवत् की स्थापना दाशराज्ञ युद्ध के बाद की गई थी।

भाषा की दृष्टि से आर्य अभिजनों की परिस्थिति, ब्रान्देन्स्ताइन के मत के अनुसार निम्न रही होगी। जिन दिनों सम्पूर्ण भारोपीय का एक वंश एक साथ था उस समय की भाषा एकरूपिणी रही होगी, शब्द और धातु अपने अपने अर्थ को पृथक् पृथक् प्रकट करते थे उनमें प्रत्ययादिकों के विकार का प्रश्न नहीं उठता। पर यह स्थिति एकदम प्रारम्भिक काल की समझी जानी चाहिए। क्योंकि बाल्टोस्लाविक जर्मानिक सेल्टिक भाषाओं में भी भारोपीय प्रत्ययों के अवशिष्टांश मिलते हैं यह आगे दिखलाया जायेगा। अतः ब्रान्दे-न्स्ताइन का उक्त मत आर्य अभिजनों के विभाजन काल पर कदापि लागू नहीं किया जा सकता। (दे० अ. १८ (ख) भारोपीय भाषा का काल्पनिक निर्माण) : उनके अविभक्तिक शब्दों और धातुओं की तुलना का ढेर उनकी अपनी मनगढन्त मात्र है, नितान्त अवैज्ञानिक तो है ही। दूसरी अनोखी बात जो उन्होंने कही है वह गौ-काव् शब्द का सुमेरियनों के (गुद्) गु से आर्यों का अपनाना है। पर पतञ्जलि तो गोता गोपोतोलिका गावी गोणी चार रूप देते हैं जिससे यह स्पष्ट है कि गोशब्द आर्यों का है उसे सुमेरियन लिखते गुद् थे उच्चरित गु करते थे। संस्कृत के समास में गौ का गु होता है 'शीतगु'। उनका गुद लिखना ही 'गोता' रूप की नकल है उच्चारण गौ के गु का करते रहे। सु० कु० चटर्जी जी का 'विरोज' वीरः नाम को घोड़े को पालतू बनाने के अर्थ में मानने के बारे में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह कार्य खश्श या खश जाति ने पहिले पहल किया था। इसी लिये वे जिधर गये उधर ही विजयी हुए। भारत में अश्वमेध यज्ञों का प्रचलन उन्हीं के आने के बाद चालू हुआ। पहिला अश्वमेध राम ने किया, ये जमदग्नि के समय आ गये थे (देखिये कश्श जाति ऊपर यहीं)।

आर्य भरत संवत्सर (आज संवत् ५०६२)

आर्य संस्कृति बहुमुखी है। भारतीय पञ्चांगों में अब तक एक रहस्यमय संख्या संवत् या संवत्सर के रूप में अङ्कित होती चली आ रही है। यह वर्ष

संख्या भुक्त कलि के नाम से प्रसिद्धि पाती है। यह संख्या आज विक्रम संवत् २०१८ शक संवत् १८८३ में ५०६२ है। अभी तक विद्वानों ने इस ५०६२ वर्ष रूपी गत कलि या भुक्त कलि के सम्बन्ध में न तो कोई वैज्ञानिक विचार किया है न निर्णय ही। हमारे प्राचीन पद्धति के लोग, पुराण, प्रसिद्ध कथानकों के आधार पर इसे महाभारत युद्ध का संवत् मानते आ रहे हैं। क्योंकि कलियुग के प्रवेश की सीमा अर्जुन के पौत्र अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित् के राज्यकाल को बतलाया गया है, जन्मेजय ने इसके बाद नाग यज्ञ किया था।

सबसे पहिले यह सूचित कर देना आवश्यक है कि देवापि शन्तनु (महाभारत के देवव्रत भीष्म और शन्तनु), परीक्षित्, द्रौपदी-कृष्णा, कृष्ण, अर्जुन आदि महाभारत ग्रन्थ में वर्णित पात्र वेदों के प्रतीकी पात्र हैं, इनके सब नाम वेदों में प्रतीक रूप में उल्लिखित हैं। पर जिस महाभारत युद्ध का वर्णन महाभारतादि ग्रन्थों में मिलता है वह वैदिक युग में नहीं वरन् ब्राह्मण युग में हुआ था। क्योंकि महाभारत युद्ध के पात्रों को परशुराम और श्री रामचन्द्र के पश्चात् माना जाता है। परशुराम का नाम सबसे पहिले ऐतरेय ब्राह्मण (प० ७) में 'भार्गवेयो रामः' उल्लेख से मिलता है, यद्यपि परशु की चर्चा ऋग्वेद और अथर्व में कई स्थलों में आई है। तब उक्त ५०६२ वर्ष रूप संवत् का सम्बन्ध किस परीक्षित् कृष्ण आदि से हो सकता है यह पहेली कठिन सी तो लगती है पर है नहीं। क्योंकि पौराणिकों और महाभारत, रामायण आदि के लेखकों का मुख्य ध्येय वैदिक वाङ्मय की रहस्यात्मक भावनाओं का विवेचन अपने समय के इतिहास के कथानकों के रूप में देने के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं, यह तो वैदिक विश्वदर्शन नामक ग्रन्थ में बता दिया गया है। ये लेखक एक तीर से दो पक्षियों का बध एक साथ करते थे। अपने समय के इतिहास को वैदिक पात्रों में ढाल कर दोनों समयों की सभ्यता संस्कृति और ज्ञान या रहस्य का एकसाथ वर्णन करके पाठक को अपनी बुद्धि से उसे समझने के लिए छोड़ देते रहे। युद्ध तो चार हैं। (१) दाशराज्ञ युद्ध (२) परशुराम युद्ध (३) राम रावण युद्ध और (४) कृष्णार्जुन युद्ध। ये चारों युद्ध ऐतिहासिक भी हैं और दार्शनिक भी हैं। इनका मुख्य ध्येय वैदिक दाशराज्ञ युद्ध की ऐतिहासिकता और दार्शनिकता का व्याख्यान अपने अपने समकालीन ऐतिहासिक युद्धों की पृष्ठभूमि से करना है। पुराणों ने दाशराज्ञ युद्ध की अवतारणा परशुराम के 'त्रिःसप्त' वादी युद्ध द्वारा किया तो वाल्मीकि ने दाशराज्ञ के बदले दशमुख रावण से राम का युद्ध कराया, और व्यास ने (जो वैदिक ऋषि भी हैं) उसी का वर्णन कृष्णार्जुन युद्ध के

रूप में वैदिक प्रतीकों को ही लेकर किया है जैसा कि इस परिच्छेद के प्रारम्भ में बता दिया गया है।

युद्धों का समय—उक्त सब युद्धों में सर्व प्राचीन युद्ध दाशराज्ञ युद्ध है इसमें तो कोई सन्देह करने को गुञ्जाइश नहीं है। इन युद्धों में तीन युद्ध तो गृहयुद्ध हैं और एक आक्रान्त युद्ध है। आक्रान्त युद्ध परशुराम भार्गवेय ने लड़ा और जीता, २१ बार आक्रमण हुये, इक्कीसों बार आक्रान्ताओं को चकनाचूर कर दिया गया। ये आक्रान्ता खश जाति के आर्य थे। इन्होंने लगभग ३०००-३९०० वर्ष पूर्व भारत में पश्चिमोत्तर से २१ बार आक्रामक युद्ध किये। राम रावण युद्ध इससे ५० वर्ष पश्चात् हुआ होगा और चौथा युद्ध कृष्णार्जुन युद्ध लगभग ३३-८६ वर्ष पूर्व हुआ था। यह सब तो पहिले बताया जा चुका है। अब प्रश्न प्रथम दाशराज्ञ युद्ध के समय का रह जाता है। जब ५०६२ वर्ष का समय महाभारत का माना जाता है और महाभारत ३३८६ में लड़ा गया है तो निश्चयपूर्वक दाशराज्ञ युद्ध ही महाभारतकार का महाभारत युद्ध सिद्ध हो जाता है क्योंकि महाभारतकार ने महाभारतीय युद्ध को आधार बनाकर दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन किया है अतः दाशराज्ञ युद्ध का समय अब तक प्रचलित गत कलि रूप द्वन्द्व निवृत्त युग रूप का प्रतीकी काल आज से ५०६२ वर्ष है। इस युद्ध में आर्य भरतों की विजय हुई थी अतः इसे आर्य भरत संवत् या भरत संवत् कहना सर्वथा संगत है।

दाशराज्ञ युद्ध और उसके प्रभाव—दाशराज्ञ युद्ध एक प्रकार से एक गृहयुद्ध था। उन दिनों आर्यों के दश वंश और दश राज्य थे जिनका ब्यौरा निम्न प्रकार है। (१) द्रुह्यु जाति का राज्य सिन्धु नदी से पश्चिम पञ्जाब और सीमान्त प्रदेश में था। (२) अनुस् का राज्य सतलज के पार सिन्धु तक पूर्वी पञ्जाब में था। (३) यदु का राज्य पश्चिमी राजस्थान और सिन्धु गुजरात में था। (४) तुर्वशु का राज्य झांसी खण्ड और मालवा में था। (५) भरत वंश उत्तर प्रदेश में फैला था। (६) भरत वंश के तीन और राज्य थे—कुरु हस्तिनापुर में राज्य करता था। (७) कोसक, कोसी नदी के पार विराट् देश में राज्य करते थे। (८) त्रित्सु मेरठ खंड में राज्य करते थे। (९) पुरु वंश सतलज और हस्तिनापुर के बीच में राज्य करता था। (१०) मत्स्य वंश अलवर, जयपुर और भरतपुर के भागों में राज्य करते रहे।

उक्त १० आर्य वंश के राजाओं में प्रथम पाँच वंश—द्रुह्यु, अनु, यदु, तुर्वसु और पुरु का एक दल था शेषों का दूसरा। दाशराज्ञ युद्ध इन दोनों दलों के मध्य परुष्णी नदी के किनारे हुआ था। वेदों में प्रथम पाँच वंशों का वर्णन सर्वत्र पृथक् दिया मिलता है जैसे 'यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वसुषु अनुषु

द्रुह्युपूस्थ' (ऋ० वे०) इस दल को दाशराज्ञ युद्ध वर्णन स्थल में 'अयज्यवः' कहा है "दशराजानः समिता अयज्यवः" इन दशों में पाँच तो ये आर्य वंश हैं पाँच दूसरे अनार्य राजा से लगते हैं। उनका नाम पक्थ, भलनस भनन्तालिन विपाणिन् शिवास् है। सम्भवतः ये आर्य यज्ञ पक्ष से विरोध रखते थे अतः इन्हें अयज्यव कहा है। असुरों को ऋग्वेद में 'अदेवयू' नाम से पुकारा है "नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्समरणो जघन्वान्। यदावाख्यत्" इत्यादि (ऋ. वे. १०-२७-३) फलतः उक्त आर्यों के पाँच-पाँच वंशों के दलों में यज्ञ और अयज्ञ का भेद था। दोनों वैदिक आर्य थे, दोनों के पास वेद थे। सम्भवतः इनकी भाषाओं में र ल ळ ड़ तथा अच्छ और अस् तथा अनेक प्रत्ययों का भी भेद था। आर्यों के इस प्रकार के दो दलों की सत्ता को ग्रियर्सन् आदि भाषाविदों तथा पुरातत्व वेत्ताओं ने आर्यों के सेफालिक, डेमेफालिक भेदों से भी माना है। दाशराज्ञ युद्ध इन्हीं दो दलों में जमकर हुआ था। इसमें द्रुह्यु आदि जातियों को मुँह की खानी पड़ी और देश छोड़कर भागना पड़ा था। यही पारसीक आर्य कहलाये। दाशराज्ञ युद्ध से द्रुह्यादि राजाओं के पश्चिमोत्तर भारत की उन आर्य राजाओं की सब संस्कृति नष्टभ्रष्ट कर दी गई। उन्हीं के अवशेष आजकल इन्हीं राजवंशी आर्यों की राज्य सीमा के अन्दर— दिल्ली, पञ्जाब, राजस्थान, झांसी, गुजरात, सिन्ध, सीमान्त देशों में, और अब उन कस्स तथा हित्ती जाति के आर्यों के उन प्राचीन देशों में भी 'महेंजोदड़ो हरप्पा' की संस्कृति के रूप में मिलती है। यह सभ्यता आज से ५०६२ वर्ष पूर्व की ही है इन्हीं आर्यों की है। ये आर्य रुद्र और शक्ति के भी उपासक थे। शाक्त मत का उल्लेख ऋग्वेदीय मण्डूक सूक्त में मिलता है। महिष का प्रतीक सोम और अग्नि के लिये है गौः या वृषभ तो वैदिकों का परम प्यारा पशु है। हाँ 'अश्व' का कोई चिह्न इस सभ्यता में नहीं मिल पाया है तो उसका भी मुख्य कारण है। अश्व का प्रयोग सबसे पहिले कश्श या खश जाति ने आज से ४२०० वर्ष पूर्व और दाशराज्ञ युद्ध से लगभग ८०० वर्ष पश्चात् किया था, यह पहिले बताया जा चुका है। रुद्र को ऋग्वेद में पुरन्दर इन्द्र का पिता कहा है। अतः यदि पुरन्दर उनका विरोधी था तो उसे रुद्र का पुत्र कैसे कहते ? यह असंगत और अश्रद्धेय बात है। जो अनार्य जातियाँ आज मिलती हैं वे सब उस आदि कालीन जंगली जीवन से अबतक छुटकारा नहीं पा सकी हैं। उनमें रुद्र की उपासना भी नहीं मिलती। रुद्र तो 'चत्वारि शृङ्गा' इत्यादि ऋचा में वर्णित आर्यों का महादेव या महोदेव वृषभ है। वह अनार्यों का क्योंकर हो सकता है। यह तो दार्शनिक तत्वों में एक उच्च कोटि का देव है, सर्वांश में वैदिक और आर्यों का अपना प्रिय देव है। महेंजोदड़ो हरप्पा की सभ्यता की खुदाई के ऊपरी भाग में परशुराम युद्ध,

राम युद्ध और महाभारत युद्ध के समय के भी भग्नावशेष मिलने चाहिये। अतः यह महेंजोदड़ो हरप्पा की सभ्यता कई युगों के युद्धों के कंकालावशेष हो सकते हैं पर सब ३५०० वर्ष से पूर्व के ही हैं। दाशराज्य युद्ध का विस्तृत वर्णन वैदिक दर्शन में देखें।

गीता चातुर्वर्ण्य ब्राह्मणादि वर्णों के अतिरिक्त संसार की चार रंग की मनुष्य जातियों का भी संकेत करती है। वे हैं श्वेत (आर्य) पीत (मंगोल) रक्त (अमेरिकन) और कृष्ण (नीग्रो आदि वासी)। कई लोग इस अर्थ को नहीं मानेंगे पर रहस्य यही प्रतीत होता है। श्रीमद्भागवत् ने एकादश स्कन्ध में एक स्थल पर आर्यों के वर्ण पर युगानुरूप परिवर्तन की चर्चा का है। लिखा है सत्य युग में भगवान् का रंग श्वेत था, त्रेता में पीत वर्ण, द्वापर में रक्तवर्ण तथा कलियुग में कृष्ण हो गया। यदि इस वक्तव्य पर कुछ गम्भीर चिन्तन किया जाय तो इसमें हमारे पूर्वज आर्यों के वर्ण का उत्तरोत्तर क्रमिक विकास ऐतिहासिक और वैज्ञानिक प्रामाणिकता की कसौटी में कसा कसाया मिलेगा। यह ध्यान रहे यहाँ वर्ण परिवर्तन-रूप परिणाम मात्र दिया है पर परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश नहीं डाला है। इन्हीं कारणों को यहाँ वैज्ञानिक इतिहास द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। जब आर्य जनसमुदाय पामीर की उपत्यका वाह्लीक देश में थी, तब शीत प्रधान देशानुसार उनका औरस्य श्वेत वर्ण यथावत स्थिर रहा जो शीत देश जाने वाले वाल्टोस्लाविक जर्मन केल्टिकों में अबतक कुछ अंश तक सुरक्षित है (क्योंकि अब उनमें मंगोल, यूनानी, लैटिनों का प्रभूत तथा कुछ कुछ अनार्यों का भी सम्मिश्रण हो चुका है) जब यूनान लैटिन और भारतपारसीक (हितेती युक्त) कुछ उष्ण देशों में काम्बोज, पारस, आर्मीनियां, यूनान, इटली में गये तो उनका रंग पीत हो गया। यह अब भी देखा जाता है कि जब विलायत, जर्मनी, नार्वे, रूस आदि के युवक युवतियाँ दक्षिण फ्रांस की धूप नंगे वदन से सेकते हैं तो उनका श्वेतवर्ण एकदम सुनहला हो जाता है अतः उत्तरी यूरोप के नरनारी अपने श्वेत वर्ण को बुरा देख कर प्रति वर्ष दक्षिणी यूरोप जाकर धूप स्नान द्वारा अपना वर्ण पीत बनाने में बड़ा उत्साह दिखाते हैं। जब आर्य भारत के उत्तरी भाग पंजाब उत्तर प्रदेश या पारस अरव के देशों तक आ गये तो उनका वर्ण पीत से गोधूम (गेहुवां रंग) में परिवर्तित हो गया। यही आर्यों का रक्त वर्ण है। यहाँ तक तो वर्णका विकास बिलकुल वैज्ञातिकता से बदला। पर कृष्ण वर्ण? आर्यों का कृष्ण वर्ण न भूतो न भविष्यति की कहावत का स्मरण दिलाता है। नृतत्त्व शास्त्र, मनोविज्ञान (आधुनिक) से श्वेत वर्ण का कृष्ण बनना किसी प्रकार भी किसी भी परिस्थिति में अत्युष्ण या

अतिशीत में किसी भी वैज्ञानिक भित्ति पर खड़ा नहीं किया जा सकता। इसमें कुछ गोलमाल अवश्य है। पर अब भी, इस प्रकार वैज्ञानिक युग में भी, कुछ ऐसे भी लोग मिलते हैं जो अपने कृष्ण वर्ण का सीधा सम्बन्ध आर्यों के श्वेत वर्ण से या आर्य वंश से जोड़ने के लिए प्रमाण देते हुए कहते हैं कि—भारोपीय आर्य कोई एक जाति न थी, वह विभिन्न देशों में प्राप्त विभिन्न जातियों का एक भाषाभाषी गिरोह था, उनमें गोरे, काले, नाटे, लम्बे, मोटे, पतले, सुरूप, कुरूप सब थे। एक ही जाति में सुरूप, कुरूप, नाटे, लम्बे, मोटे, पतले तो हो सकते हैं पर गोरे काले दो वर्ण के मूल में कदापि नहीं हो सकते। आर्यों के काले होने के प्रमाण में असीरिया स्थित विजयस्तम्भ (तिलघाट पिलेसर चतुर्थ) वि० सं० पूर्व ७५० वर्ष में भारोपीयों को कृष्ण वर्ण दर्शाया जाना दिया गया है। जैसा पिछले परिच्छेद में आर्य भरत संवत् (५०५९) में बतलाया जा चुका है कि वि० सं० से ७५० वर्ष पूर्व या आर्यभरत सं० २२९४ में तो वहाँ के आर्य लोक भारतवासियों की तरह अफ्रिकनों के मिश्रण से स्वयमेव कृष्ण वर्ण हो चुके होंगे तो शिलालेख ने क्या झखमारी, ठीक तो है। उल्लिखित वर्ण आर्यों के आदि वर्ण को तो नहीं बताता। मिश्र के प्राचीन मूर्तिकार ने भारोपीय आर्यों को ब्रासी सेफालिक जिस दृष्टिकोण से दिखलाया होगा उसका उत्तर उक्त असीरियन पहेली के उत्तर का समानान्तर ही होगा। हाँ आर्य जाति सुन्दरता की मूर्ति थी, भूलोक शासक (देव) थी आदि मानना भी अमानवता है। एक ही जाति देश, काल, पात्रता के भेद से रूप भिन्नता पा जाती है, पर रंग में इतना बड़ा भेद कदापि नहीं आता। जहाँ काला रंग है वहाँ अवश्यमेव द्रविड़ या नीग्रो प्रभृति किसी न किसी का मिश्रण बिना पूछे हुआ है। यही सविज्ञानज्ञान कहा जा सकता है। गीता में अर्जुन की वर्णसंकर चिंता इसी रंग संकर की थी, न कि ब्राह्मणादि जाति संकर की, जाति संकर का तो तब प्रश्न ही नहीं था। अनुलोम, विलोम सभी प्रकार के विवाह होते रहे नहीं तो आर्यों के स्वयंवर का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता, जब जाति-भेद गहरा नहीं था 'अर्जुन के विषाद के उसी अवसर पर' लुप्त पिण्डोदक क्रिया शब्द आर्य वंश बीज (पिण्ड) सिंचन (उदक) के लोप से स्पष्ट तात्पर्य रखता है।

खश आर्यों के जीवन की एक झांकी

खश आर्यों के समाज में पुरुष और स्त्री की श्रेणी बराबर की मानी जाती रही। पुरुषों के बहुविवाह और स्त्रियों के बहुविवाह दोनों को समाज की पूर्ण

स्वीकृति थी। प्रथम प्रकार तो बहिरंग आर्यों में अब तक चलता है, दूसरा स्त्री बहुविवाह बन्नू, कोहाट, हिमांचल प्रदेश तथा जौनसार बावर (देहरादून) में अब तक समाज सम्मान्य है। कोई पुरुष या स्त्री किसी स्त्री या पुरुष को छोड़कर दूसरी स्त्री या दूसरे पुरुष से बिना रोक-टोक कभी भी विवाह कर सकती थी। यह प्रथा कुमाऊ प्रभृति उक्त देशों में अब तक प्रचलित है। इसे भी सामाजिक स्वीकृति मिली है। बहु विवाह का लक्ष्य ऐश आराम न होकर पशुपालन और कृषिकर्म की अधिकता की पूर्ति से स्वयं सम्पूर्ण बनना होता रहा। सम्पत्ति का विभाजन स्त्रियों की संख्या में होता रहा, बहुपति पक्ष में, पति संख्या में, पुत्र संख्या का सम्पत्ति में कोई भाग नहीं, यद्यपि भोक्ता वही रहे। माता के जितने पुत्र उतने भाग उस माता के भाग के किये जाते रहे। विवाह गान्धर्व रीति या माता पिता के निर्वाचन से कुछ गाय भैंस के आदान-प्रदान से होता रहा। पतित्याग, पत्नीत्याग कोई मानी नहीं रखते रहे। ऐसे अवसर कम आते रहे। दोनों का पुनर्विवाह किसी को ऊँचा-नीचा अधिक नहीं बनाता रहा। थोड़ा भेद अवश्य रहा। इनके देवी देवता वैदिक आर्यों से भिन्न थे, उनकी उपासना में कई प्रकार की बलियाँ दी जाती रहीं। सच्चे प्रेमियों के स्वनिर्मित छन्दों में सच्चे प्रेम भरे गीतों को गाना इनका प्रथम प्रकार का मनोविनोद रहा। ये गाने अकेले दुकेले या ५, १०, २०, ३०, ५०, १०० के समूह में गाये जाते रहे। कथा का वस्तु कभी भी काल्पनिक रहा ही नहीं, सदा जीवित प्रेम की सच्ची कथायें ही छन्दोबद्ध कर गायी जाती रहीं। गाने में ठीक रासलीला की तरह बीच में स्त्री अगल-बगल में पुरुष या बीच में पुरुष अगल-बगल स्त्री रखकर गोल घेरे में या स्त्रियाँ एक ओर पुरुष दूसरी ओर गोल घेरे में खड़े होकर चक्कर काटते, नाचते, झुकते, गाते रहे। प्रत्येक बालक या बाला, युवा या युवती, वृद्ध या वृद्धा अवश्यमेव आशु कवि होते रहे। प्रत्येक पुरुषावली में नये-नये गीत नये-नये ढंग निर्मित होते रहे। देवी देवताओं के गीत भी इसी प्रकार गाये जाते रहे। यह प्रथा कुमाऊ और नैपाल में अब से २५ वर्ष पहिले तक ज्यों के त्यों चलती रही। इनके युद्ध के अस्त्रों में प्रक्षेपणी, धनुष बाण, शस्त्रों में खड्ग, कटार, भाला, गड़ासा, कुल्हाड़ा और छुरियाँ थे। इनके कपड़े अपने हाथों बनाये प्रायः ऊनी या सूती बंडी, कुर्ता, लंगोट, छोटी धोती, मिर्जई, चोगा, पाजामा, दुकलिया टोपी, चादर पंखी, कम्बल होते रहे। महिलायें कम्बल के गादे (लबादा या लपेटा) बंडी अंगिया पागड़ा (कमरबंध) और ओढ़नी या चादर पहिनती रहीं। पर्दे का यहाँ कहीं नाम नहीं। स्नान नंगे होकर (गोपियों की तरह) करती रहीं। जीवन का जैसा दृष्टिकोण अंग्रेज जाति में आजकल पाया जाता है ठीक

वैसा ही दृष्टिकोण, इन खश आर्य सन्तानों के रक्त में प्रवाहित होकर चला आ रहा था जो अब विनाश की ओर है। खश आर्यों में ब्राह्मण भी थे, उनके पेशे भी वही थे जो खश क्षत्रियों के थे। उनके रीति रिवाज भी वैसे ही रहे। लिखना-पढ़ना, पूजा-पाठ (उनके अपने देवी देवताओं के) करना इनका विशेष काम था। इन दोनों में खाने-पीने का भेद न था। ब्राह्मण क्षत्रिय कोई पकावे सब खाते रहे।

खश आर्य जाति का अभिजन केवल राज्य संचालन के गुणों का ही वरदान प्राप्त करके नहीं आया था। यह था बड़ा कुशल योद्धा और रण विद्या में अति नीति निपुण। इसके लोग बड़े हट्टे कट्टे नृशंस हत्यारे सुरूप, बड़े बड़े डील डौल के, और सन्तुलित बुद्धि के थे। साथ ही साथ इन्हें कृषि कुशलता, उद्यान दक्षता, पशुपालन प्रवीणता, सामाजिक सहनशीलता आचार विचार की स्वतन्त्रता, प्राकृतिक जीवन की सन्तुलित अभिज्ञता, संकीर्ण विचारों की विप्रकृष्टता तथा सरल ऋजु स्वभाव का ईश्वरदत्त वरदान प्राप्त था। परिश्रम इनकी जीवनी की सबसे बड़ी कुंजी थी। सतत कार्य में संलग्न रहना इनके जीवन का मूल मंत्र था। इनके हाथों में सोना था, खेतों में चाँदी, दल का बल। बिरादरी और स्त्रियों की प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता का ध्यान जितना इस जाति में रहा उतना इस भूलोक में कहीं नहीं पाया जा सकता। उक्त गुणों की खान होने से ये लोग जहाँ जहाँ भी गये, रहे, बसे उसी देश को उन्होंने अपने पारस पत्थर के हाथों से छूकर स्वर्णमय सा, हरा भरा सा, फला फूला सा, सतत पुष्पित सा, अद्भुत, अनुपम नन्दन वन सा, स्वर्ग का एक कोना सा बना डाला। काश्मीर इन्हीं दिव्य पुरुषों की रचना का एक नमूना है। हिमालय की जटिल पर्वत श्रेणियों की विकट वन मालाओं को मानव की स्वर्गीय लीला और क्रीडा का क्षेत्र बनाने का श्रेय इसी जाति के सुनहले हाथों के परिश्रम देवता को जाता है। अधिक संख्या में विभिन्न प्रकार के पशुओं का पालन तथा नाना प्रकार की कृषि-कला इन आर्यों का मुख्य व्यवसाय और जीविका साधन था। इन्हीं दो मुख्य उद्योगों से अपनी सभी प्रकार की आवश्यकताओं को परिपूर्ण रूप से उत्पादन करने में सिद्धहस्त थे। इनके ब्राह्मण और क्षत्रियों का हुक्का चिलम भी (दोनों का) एक रहा। कभी कभी दोनों वर्गों में परस्पर विवाह भी होता रहा। गढ़वाल में ये प्रथायें अब तक प्रचलित हैं। खश क्षत्रियों को यहाँ जिमदार या जमीदार (या खेतिहर या भूमिहर) नाम से ही पुकारा जाता है। मैदान के भूमिहारों ब्राह्मणों का इस श्रेणी से कुछ लगाव अवश्य है यह आगे चलकर विचार किया जावेगा। जब खश आर्य कुमाऊ

नैपाल में आये तो पर्वतों की आड़ ने इनको खंड खंड में विभाजित करके छोटे छोटे रजवाड़ों में बाँट दिया। इनके प्रमुख राजस्थान टिहरी, श्रीनगर, चौकोट, द्वाराहाट, वारखाम, वैजनाथ कीर्तिपुर (कत्यूर) शुमागढ़, चम्फावत गंगोलीहाट और अस्कोट वर्षों तक बने रहे। ये छोटे छोटे रजवाड़े एक दूसरे पर विजय पाने के लिए सदा लड़ते भिड़ते झगड़ते रहे। प्रत्येक राजा के पास एक या दो परगने की भूमि थी। विद्या और कला की उन्नति में प्रथम स्थान कीर्तिपुर का द्वितीय मणकोटी (गंगोलीहाट) का रहा। कश्मीर टिहरी, हिमाचल प्रदेश में इनके वंशज अबतक राज्य कर रहे हैं। पर कुमाऊँ और नैपाल में इनका राज्य, विक्रम सं० ९०० के लगभग छिन गया। तब से ये लोग खशप्रजा बन गये नीचे दीखे और समझे जाने लगे हैं।

खश आर्यों की प्रशस्तियाँ और निन्दायें—सबसे पहिले इनका नामोल्लेख करते हुये शतपथ ब्राह्मण ने (१–७–३–८) में कहा है कि ये लोग 'भव' नामक अग्नि की उपासना करते थे तथा वाह्लीक देश में रहते थे। यास्काचार्य के समय तक ये लोग काम्बोज देश तक चले आये थे। अतः यास्क ने लिखा है कि ये लोग गति अर्थ में 'सवति' धातु का प्रयोग करते थे। 'सवति गति कर्मा काम्बोजेषु'। भरत मुनि इन्हें वाह्लीक देशी खश नाम से पुकारते हुये इनकी भाषा को 'उदीचाम्' नाम से पुकारते हैं। इस 'उदीचाम्' नामक भाषा को वे वाह्लीक खशों की भाषा बतलाते हुये कहते हैं 'वाह्लीक भाषोदीचानां खशानां च स्वदेशजा'। इनके अभिप्राय से वाह्लीक और खशों की एक ही भाषा है। इस प्रकार ये यास्क के दर्शित भेद काम्बोज भाषा में आये या स्वीकृत परिवर्तन को प्रामाणिक सिद्ध कर देते हैं। इस बात की पुष्टि वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि के दिये हुये संस्कृत के दो भेद— प्राचाम् और उदीचां, अथवा विभाषा या अन्यतरस्याम् के भेदों में, उदीचां की संस्कृत इन्हीं खश आर्यों की है। उदीचां ही वाह्लीकी या काम्बोजी है। मनुस्मृति (१०–२२) ने इन्हें पतित क्षत्रिय बतलाया है। पुराणों में श्रीमद्भागवतपुराण (३–१९–२१) ने लिखा है कि 'खश' आर्य कश्यप और क्रोधवशा के पुत्र थे, पर इनको पिशाचों और यक्षों का समकक्ष बनाकर यह व्यङ्ग किया है कि खश आर्य, पिशाचादि की तरह नरभक्षी थे। यहाँ पर ग्रन्थ ने इन्हें हिन्दुकुश पर्वत श्रेणी का निवासी बतलाया है (३–१९–२४)। महाभारत (२–१८–२२) ने भी स्पष्ट शब्दों में खश आर्यों को नरभक्षी बतलाया है। यहाँ पर खशों को 'कशीरी' या 'खश' नाम से पुकारा है। मार्कण्डेय पुराण (१–२१) का कहना है कि खश आर्यों का निवासस्थान

मेरु और मन्दराचल पर्वतों के मध्य (वाह्लीक) में था। इनको और तङ्गण तथा पुलिन्दों को 'पारद' या सिन्धु नदी के उस पार का निवासी बतलाया है (प्टोलमी, एटकिंसन, ३५७७, पार्जिटर १०५४ पृ० ३५१)। विष्णुपुराण (१-२१) का कहना है कि ये लोग कश्यप और खशा नाम की स्त्री के पुत्र थे। महाभारत ने दुःशासन के पक्ष की जातियों के नाम देते हुये इनका नाम (खश जाति) वाह्लीक, यवन, पिशाच, पारद (काम्बोज) कुलिन्द शक, अम्बष्ट, तंगण, दरद, लम्पक (लामा) के साथ दिया है और यह बताया है कि इनके पास भाले और गड़ासे थे। महाभारत का पूरक ग्रन्थ 'हरिवंश' (७८९) लिखता है कि खश लोग, मथुरा पर चढ़ाई करते समय यवनों के साथ थे और वे तुखारों के समकक्ष थे। श्रीमद्भागवत पुराण (२-४-१०) और मार्कण्डेय पुराण (९-१०-२९) दोनों ने दूसरे स्थलों पर, (१) क्रम से लिखा है कि वे गान्धार के रहने वाले, (२) पर्वतीय जाति के थे। प्टोलमी ने उत्तर भारत के एक पर्वत का नाम 'कसिया' दिया है जो 'खसिया' या 'खश' शब्द से मेल खाता सा स्पष्ट प्रतीत होता है (४-१६, २, ५; ५, ८-२४-७; लासेन १-अ-१३-१०-८)। अन्त में कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में खश राजवंशावली का वर्णन इस प्रकार दिया है। उनका कहना है कि काश्मीर का डोगरा राजवंश खश जाति का है। तंग नाम का एक साधारण ग्वाला, धीरे धीरे अपनी परिस्थिति को उठा कर, रानी 'दिद्दा' का मंत्री बन गया। इसी तंग ग्वाले मंत्री की सन्तान ने काश्मीर की राजगद्दी संभाली। कल्हण की राजतरंगिणी राजवंशों के विषय में सर्वोच्च प्रामाणिकता रखती है यह किसी से छिपा नहीं है। इससे और पूर्वोक्त ग्रन्थों के उद्धरणों से यह पुष्ट मत हो जाता है कि खश जाति ने उत्तरी पश्चिमी भारत को हस्तगत करके वैदिक आर्यों को आगे की ओर ढकेल दिया था। पुराणों ने जो इन्हें नरभक्षी पिशाचादि नाम दिये हैं वह इनसे चिढ़कर। पर उन्हें आर्य सिद्ध करने के लिए कश्यप ऋषि का पुत्र भी माना ही है यह महत्त्व का उल्लेख है। वितस्ता (व्यास) नदी की उपत्यका भी खश राजाओं की एक मुख्य भूमि थी, वहाँ का प्रत्येक मण्डलेश्वर अबतक 'खक्खा' कहलाता है। यह 'खक्खा' शब्द भी खश शब्द से ही निकला है। यह स्वतः स्पष्ट है।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अब कस्माइत, नाम की कस्म जाति की एक प्रसिद्ध भाषा का पता चल गया है यह वाह्लीक से (लगभग ३८०० वर्ष पूर्व में) निकल कर एशिया माइनर की ओर बढ़ी और ३७५८ में इस जाति ने वेबीलोन पर विजय पताका फहरा दी। इनकी भाषा संस्कृत से बिलकुल मिलती है इनका प्यारा भग (बुगस्) शब्द कुमाउनी में अबतक

'भागी' प्रायः अधिक वाक्यों में प्रयुक्त होता है, ठीक उसी समय लगभग ३९०० वर्ष पूर्व इनका दूसरा दल भारत में आया।

वैदिक आर्य और अवैदिक (खश) आर्य—खश आर्यों की जिस प्रकार की संस्कृति मिलती है और पहिले लिखी जा चुकी है, उससे स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि वे वैदिक संस्कृति की खोल से बाहर थे, पर उनकी भाषा संस्कृत ही थी, अतः वे आर्य वंश के ही थे इसमें भी सन्देह नहीं रह जाता। यास्क, भरतमुनि, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि ने जिस संस्कृत को 'उदीचाम्' नाम देकर या काम्बोज संस्कृत या वाह्लीक संस्कृत कहकर पुकारा है वह इन्हीं खश आर्यों की भाषा थी, यह पिछले परिच्छेद में दिये गये विवरणों से स्पष्ट और शत-प्रतिशत निर्णीत हो जाता है। ऐसी उज्ज्वल परिस्थिति के वातावरण से, भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन के लिए आजतक जो इकहरा मानदंड स्वीकृत किया जाता रहा, वह एकदम गलत और भ्रमपूर्ण सिद्ध हो चकनाचूर हो जाता है। आज तक यही सोचा जाता रहा है कि भारतीय आर्य भाषाओं का मूल स्रोत वैदिक संस्कृत भाषा ही है। पर अब परिस्थिति स्पष्ट है और हम ज्यों ज्यों आगे के इतिहास की घटनाओं का इस परिस्थिति से सामञ्जस्य करने में समर्थ होते जावेंगे, यह परिस्थिति दर्पणवत् अधिक स्पष्ट होती जावेगी कि भारतीय आर्य भाषाओं में से अधिकांश का मूल स्रोत वैदिक भाषा नहीं, वरञ्च अवैदिक खश आर्य भाषा है। इस दृष्टिकोण से भारतीय आर्य भाषाओं का अध्ययन अब पुनः नवीन रूप से किया जाना भी परम आवश्यक है। क्योंकि आजतक सभी विद्वान् इसी भ्रम में थे कि 'उदीचाम्' नाम की संस्कृत वैदिक संस्कृत का ही एक रूप है; यह नितान्त भ्रमपूर्ण विचार था, यह सिद्ध हो चुका है, 'उदीचाम्' नाम से घोषित संस्कृत, खश आर्यों की संस्कृत भाषा थी।

यह सर्वस्वीकृत मत है कि मौलिक आर्य जाति के दो मुख्य वंश या दल थे। एक को सेफैलिक और दूसरे को देसेफैलिक नाम दिया गया है। इनमें से एक के पास वेद थे, दूसरे के पास नहीं। दोनों दलों को 'भारोपीय आर्य' एक नाम से पुकारा जाता है। इनमें से वैदिक आर्यों को भारतपारसीक या इंडोइरानियन दल कहा जाता है तो अवैदिकों को युरोपीय दल। भारोपीय दल को जर्मन लोग 'इंडोजर्मानिक' कहते हैं, अंग्रेज, इंडोयूरोपियन नाम देते हैं। डा० ग्रियर्सन ने भारतीय भाषा सर्वेक्षण नामक दश बृहद्ग्रन्थों की भूमिका में, भारतीय इतिहास तथा संस्कृत की पूर्ण अनभिज्ञता के कारण वैदिक और अवैदिक आर्यों के भारत में आने की प्रस्तुति, एक कपोलकल्पित नाटकीय घटना से सम्बद्ध करते हुए लिखा है कि भारत में पहिले अवैदिक

आर्य आये थे, वैदिक आर्य उनसे बाद में। वैदिकों ने अवैदिकों को हराकर उन्हें मध्यदेश (उत्तरप्रदेश) से उत्तर पूर्व दक्षिण और दक्षिण पश्चिम में भाग जाने के लिए विवश कर दिया। अतः वैदिकों की भाषा अन्तरंग भाषा (हिन्दी क्षेत्र) हो गई, अवैदिकों की भाषा बहिरंग में आ गई, जिसमें कश्मीरी, लँहदी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, बंगला, नैपाली, कुमाउनी, गढ़वाली और राजस्थानी आती हैं। आर्य भाषाओं के इस अन्तरंग बहिरंग विभाजन की पुष्टि में उन्होंने एक मार्मिक तथ्य सामने रखा था कि अन्तरंग भाषा में 'अस्ति' धातु का रूप 'था' और 'है' बना है, पर बहिरंग भाषाओं में इस 'अस्ति' धातु के स्थान में 'अच्छ्' धातु का प्रयोग है। डा० ग्रियर्सन ने जो उक्त अन्तरंग बहिरंग नामक भाषाओं का विभाजन किया था, वह घुणाक्षर न्याय से प्रस्तुत किये जाने पर भी सत्य था। वे इसे न ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध कर सके, न प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेखों से पुष्ट। प्रत्युत उनका अवैदिकों के अभिजन का वैदिकों के अभिजन से पहिले आया मानना एकदम इतिहास विरुद्ध है। हुआ इसका उलटा है, अवैदिक लोग वैदिक आर्यों से कई शताब्दियों के बाद आये थे। दूसरी बात यह है कि उन्हें यह भी ठीक से परिचय नहीं था कि जिनको ये बहिरंग भाषामूलक अवैदिक आर्य कह रहे हैं, आखिर उनको भारतीय लेखक किस नाम से पुकारते आ रहे हैं? इन सब दुर्बलताओं की आड़ लेकर डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने, जब केवल 'अस्ति' और 'अच्छ्' धातु मात्र का मुख्य भेद भेदक देखा तो इसके खण्डन के लिए उन्होंने सूर और तुलसी के ग्रन्थों से 'अच्छ्' धातु का प्रयोग खोज निकाला और बहिरंग भाषाओं में 'अस्ति' का प्रयोग। इस खंडन करने की उत्तेजना में वे यह भी भुला बैठे कि डा० ग्रियर्सन का अभिप्राय एकवर्ग में 'अस्ति' धातु प्राधान्य और दूसरे वर्ग में 'अच्छ्' की बहुलता और अनुरूपता तथा तारतम्यता से सब बहिरंगों में इसका तद्रूप में प्रयोग से है। उनका यह मतलब न था कि जिस वर्ग में 'अस्ति' का प्राधान्य है उसमें 'अच्छ्' है ही नहीं और जिसमें अच्छ् का बाहुल्य है उसमें अस्ति का नाम भी नहीं। डा० वूलनर ने प्राकृत व्याकरण की भूमिका में यह लिख दिया है कि मध्ययुग में प्राकृत भाषाओं में अन्तरंग बहिरंग विभाजन जैसी कल्पना का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि तब आधुनिक भाषा सम्बन्धी भेदसूचक चिह्न नहीं पनप पाये थे। इन्हें काम्बोज, बाह्लीक तथा प्राचाम् उदीचाम् दो संस्कृत के रूपों को जानना चाहिए था, पतञ्जलि के बताये सुराष्ट्र और दाक्षिणात्य संस्कृत के भेद विदित होने चाहिए थे। हां जिन्हें ये प्राकृत कह रहे हैं वे सब तो उत्तरप्रदेश की और इसके आसपास की भाषायें हैं। पांचाली, आवन्ती, शौरसेनी, अर्द्धमागधी,

अध्याय ३

आर्यभाषाओं का क्रमिक विकास

(१) ऋग्वेद काल या वैदिक काल

वैदिक आर्य जब भारत की ओर चले थे, तो वे सबके सब एक साथ नहीं आए थे। उनमें सब से प्रथम दल 'भरत' वंश का था। वेद आदि में, मुख्यतः इसी दल के पास थे। यह धीरे-धीरे आगे बढ़कर उत्तर प्रदेश में फैल गया। इसी भरत वंश के नाम से हमारा देश भारतवर्ष कहलाया। दुष्यन्त का पुत्र भी भरत था, पर उसके नाम से इस देश का नाम नहीं पड़ा, न जड़ भरत मुनि या राजा के नाम से। भारतवर्ष नाम इनकी उत्पत्ति से कहीं अधिक प्राचीन नाम है। भारतवर्ष नाम के बाद इस देश के कई अन्य नाम पड़े जैसे आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त आदि, अतः यह पुराना नाम कुछ दिनों तक अप्रचलित हो गया होगा। उसको पुनः प्रचार में तब लाया गया जब आर्यावर्त और ब्रह्मावर्त की सीमा से बाहर के क्षेत्रों में आर्य जा बसे थे। ऋग्वेद या वेदों में दश राजाओं के युद्ध का वर्णन आता है। ये दश राजा विभिन्न समयों में आने वाले आर्यों या वैदिक आर्यों के दल थे। उस समय उनकी निवासस्थिति इस प्रकार थी। ये दल न थे, पर 'भरत' जैसे वंश थे। (१) भरत वंश—उत्तर प्रदेश में फैला था केवल झाँसी खंड और जौनपुर, बलिया, आजमगढ़, बस्ती, गोरखपुर आदि तराई के खण्डों को छोड़ कर। (२) तुर्वसु—झांसी खंड मालवा में (३) अनुस्—सतलज के पार पूर्वी पञ्जाब में। (४) द्रुह्य—अनुस् राज्य से पश्चिम पञ्जाब में (५) पुरु—सतलज और हस्तिनापुर के बीच में। (६) मत्स्य—अलवर जयपुर भरतपुर में (७) यदु—पश्चिमी राजस्थान और सिन्ध में (८) कुरु—हस्तिनापुर में (९) कोसक—कोसी नदी के पास विराट् देश में (१०) त्रित्सु—मेरठ खंड में। भरत वंश के कई राज्य थे—कुरु, त्रित्सु, भरत और पुरु। इसीलिए ये सब मिलकर अपने राज्यों को भारतवर्ष एक नाम से पुकारते रहे।

उक्त आर्य वंशों में युद्ध का मुख्य कारण था विश्वामित्र को भरत वंश की त्रित्सु शाखा के राजा सुदास के पुरोहित पद से च्युत कर देना। विश्वामित्र को पदच्युत करने के बाद सुदास के पुरोहित वशिष्ठ बने। विश्वामित्र ने अपने तिरस्कार का बदला लेने के लिए, अनुस् , द्रुह्य, तुर्वसु और यदुवंश के

भारत वर्ष
ऋग्वेद के समय में
दश राजाओं का युद्ध
आर्यों के १० वंश
आदि जातियाँ
द्र वि ड
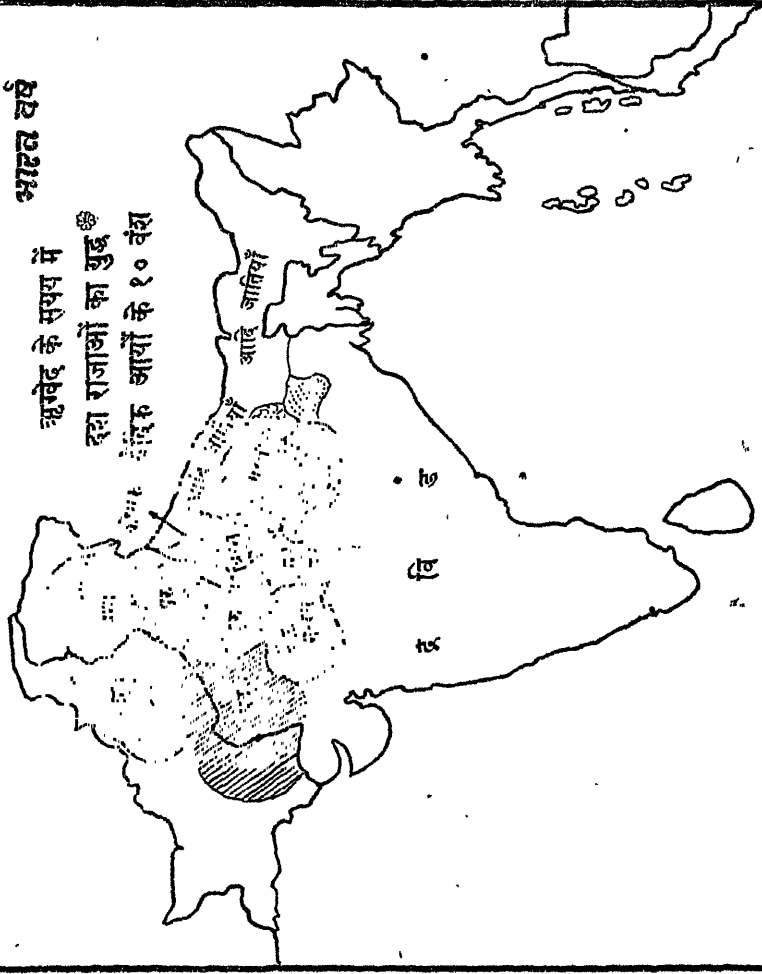
राजाओं को अपने पक्ष में करके, उनसे भरत वंशी राजाओं पर चढ़ाई करवा दी। आज से ५०६२ वर्ष पूर्व परुष्णी नदी (वर्तमान रावी) के किनारे घमासान युद्ध हुआ। भरत वंशी त्रित्सु, कुरु, पुरु और भरत युद्ध में जीत गये। तब कोसक वंश के राजा विश्वामित्र अपना राज्य छोड़ बलिया जिला (भरत वंशी राजाओं की सीमा से बाहर) की ओर भाग कर बस गये। पश्चिमी राजा भरत वंशियों के अधीन हो गये। यह युद्ध हमारे सामने भारत वर्ष के मानचित्र को दो भागों में विभक्त कर देता है। (१) भरतवंशीय भारत (२) भरतवंशेतर भारत। प्रथम में पुरु, कुरु, त्रित्सु, मत्स्य और भरत हैं, द्वितीय में कोसक, अनुस् , द्रुह्य, तुर्वसु और यदु। विश्वामित्र वैदिक ऋषि हैं अतः द्वितीय वर्ग के सभी आर्यवंश भी वैदिक ही हैं इसमें भी सन्देह नहीं रह जाता। हमें वेदों में भाषा के दो पृथक् भेद मिलते हैं। विश्वामित्र को एकदम पुरोहित पद से च्युत करके, उनके स्थान में वशिष्ठ की स्थापना और विश्वामित्र का भरतवंशेतर पश्चिमी राजाओं से मिलना, यह स्पष्ट संकेत करता है कि उक्त दोनों घटनाओं का मूल कारण भी, वैदिक काल का वंशीय भेद के साथ साथ भाषायी भेद भी मुख्य रूपेण था। वेदों में भाषा के दो मुख्य भेदों में पहिला था 'ल' के स्थान में 'र' का उच्चारण, दूसरा था 'ळ' के स्थान में 'ड़' का उच्चारण। भरतवंशी और वशिष्ठ जी 'लिलेख' 'अग्निमीळे' कहते थे तो भरतवंशेतर अनुस् , द्रुह्य, यदु, और कोसक (विश्वामित्र) 'रिरेख' और 'अग्निमीड़े'। इतना होने पर भी विश्वामित्र जी (कोसक), सुदास (त्रित्सु) के जो पुरोहित बन पड़े, उसमें या तो इनकी विद्वत्ता कारण होगी या इन्होंने कुछ काल के लिए भरत वंशियों को दबा लिया होगा। भरतवंशी इस बात को अधिक दिनों तक सहन न कर सके, उन्हें निकाल बाहर किया। प्रतीत ऐसा होता है कि 'ल' और 'ळ' का उच्चारण भरतवंशियों की केवल अपनी बपौती थी। उनके बाद जितने भी आर्य मध्य एशिया से आये वे सब के सब भरतवंशियों के 'ल' और 'ळ' के स्थान में 'र' और 'ड़' ही बोलते रहे। इस बात की पुष्टि कुमाउनी भाषा में स्थित वैदिकों और अवैदिकों की भाषा में तब से अब तक वैदिक भाषा की अनुरूपता से मिलती है। जब वैदिक लोग हल, बल्द (बैल), हल्द (हल्दी), क्यल (केला), म्याल (मेला) थाली, बाळी (कान की बुन्दी) काली कालो, माला आदि बोलते हैं तो यहां की खश जाति कहती है—हर, बर्द, हर्द, क्यर, म्यार, थारि, बारि, कारि, मारा आदि। ये खश आर्य भी बाद के आये हुये आर्य हैं। इस प्रकार वैदिक काल में ही वैदिक संस्कृत के पूर्वी और उत्तरी दो स्पष्ट पर, मिश्रित

भेद हो गये थे। दोनों दलों के मेल ने उक्त भाषायी भेद से आर्यों की एकता को खंडित नहीं होने दिया। इसी मेल की गलतफहमी को न समझ कर बाद के शब्दानुशासन के लेखकों ने अवैज्ञानिक सूत्रों का निर्माण कर लिख डाला कि 'रलयोरभेदः' 'डळयोरभेदः' र, ल, और ड, ळ आपस में परिवर्तनीय हैं। बात, न ऐसी थी, न हो सकती है 'न भूतो न भविष्यति'। जो है सो है ही।

(२) खश आर्यों के अभिजन की महत्ता

'खश' शब्द अवैदिक आर्य भाषा का शब्द है। इसका अर्थ 'मुख्य', 'विशिष्ट', 'शिष्ट', 'राजा', 'प्रतिष्ठित', 'महतो' जैसा होना अधिक सम्भव है। आर्यों की मुख्य मातृभूमि में अनेक शताब्दियों तक डटे रहने के कारण इन्हें ऐसा विशिष्ट नाम प्रदान किया गया होगा, ऐसा अधिक सम्भव है। फारसी में जो 'खास' शब्द है वह इन्हीं लोगों की पदवी 'खश' शब्द से निकला स्पष्ट प्रतीत होता है। यह अधिक सम्भव है कि इन खशों ने प्राचीन पारसीक आर्य दल को हरा कर वहाँ अपना राज्य किया हो और अपनी राजसभा को 'खास' नाम दिया हो। ३७५८ वर्ष पूर्व इनके एक दल ने बेबीलोन पर अपना राज्य जमा लिया था यह तो इतिहास प्रसिद्ध है। एक समय था जब यह 'खश' शब्द हौवा का काम करता रहा। यह खश जाति इतनी वीर, लड़ाकू, राज्यप्रबंधदक्ष, परिश्रमी और व्यवहारकुशल तथा संतुलित विचार-धारा की थी कि जिधर को यह मुड़ी उधर ही विजय, लक्ष्मी, सुख-सम्पत्ति ने इनके चरणों को छू लिया, जहां जहां ये गये उसे इन्होंने अपने अथक परिश्रम से स्वर्ग का कोना-सा बना डाला। जहां जहां ये बसे रहे उस उस स्थान को ये अपने नाम की मुहर लगा कर आगे बढ़े। वाह्लीक में कासगढ़ इनकी राजधानी थी, इसे तब 'खशगढ़' कहते रहे जो अब बिगड़ कर कासगढ़ हो गया है। पूरा मध्य एशिया तब खशगढ़ कहलाता था। जब ये सिन्धुनदी को लांघ कर गान्धार देश में आये तो इन्होंने उसका नाम खशमीर या खशीर रख दिया जो अब बिगड़ कर कश्मीर या कशीर कहा जाता है। इनका एक बड़ा अड्डा पंजाब के कासगढ़ (चित्राल के नगर) में था। यह भी तब खशगढ़ ही कहलाता रहा। हिमालय पर्वत की पूरी उपत्यका काश्मीर से लेकर आसाम तक का नाम खशदेश इन्हीं के नाम से पड़ा है। अल्मोड़े मण्डल की राजधानी का परगना अब भी 'खासपर्जा' कहलाता है जो स्पष्टतः 'खशप्रजा' से निकला शब्द है। इस परगने की बोली या विभाषा को अब भी 'खासपर्जीया' नाम से पुकारा जाता है
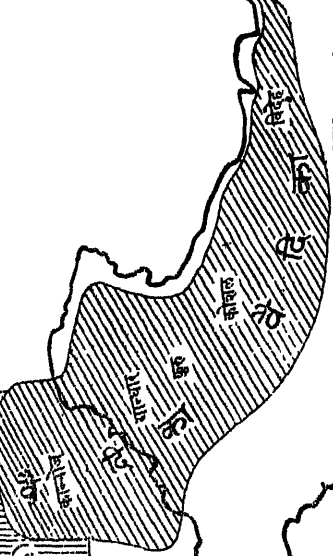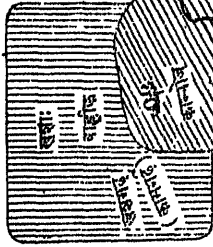
भारत वर्ष
वि० सं० पूर्व २००० वर्ष
शतपथ ब्राह्मण और उपनिषद्
काल का आर्यों का क्षेत्र
खशाः
बाह्लीक
कान्बोज
गान्धार
कुरु
कोशल
वै दि का
विदेह
मगध
द्र वि डा.
द्र वि डा
संकेत
खश आर्य निवास
वैदिक आर्य निवास
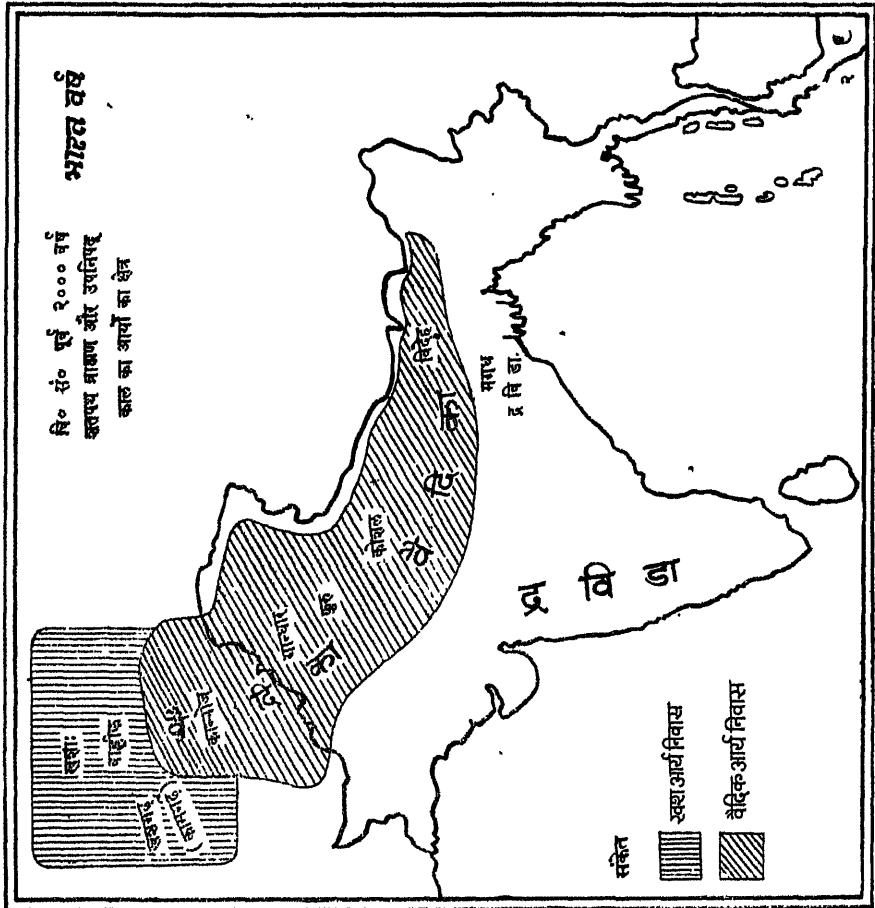
जो इनकी भाषा का संस्मरणीय प्रतीक है। कुमाऊँ की खेतिहर जनता अब तक 'खसिया' कहलाती है जो खश शब्द से ही निकला है इसमें क्या सन्देह। पञ्जाब में वितस्ता (व्यास) नदी की उपत्यका भी इन खश आर्यों की एक मुख्य भूमि रही है। यहाँ का प्रत्येक मण्डलेश्वर अब तक 'खक्खा' नाम से पुकारा जाता है। यह 'खक्खा' शब्द भी खश से निकला है। कौन पुराण या धर्मग्रन्थ ऐसा है जिसमें इनकी प्रशस्तियाँ या निन्दायें नहीं मिलतीं। मनुस्मृति इन्हें पतित क्षत्रिय कहती है। म० भा० इनको उस युद्ध में शामिल करता है। राजतरङ्गिणी डोगरा वंश को खश वंश का बतलाती है। यूनानियों तक ने इनका वर्णन दिया है (दे० खशों की प्रशस्तियाँ पीछे)। इस जाति के इतिहास को विना जाने भारत के सच्चे इतिहास की रूपरेखा तक नहीं खींची जा सकती, पूरा लिखने की बात तो दूर रही। ऐसी भोभोकारी वाली थी यह खश जाति, जिसके बारे में अबतक किसी ने विशेष अध्ययन नहीं किया है यह देखकर बड़ा दुःख होता है।

(३) वैदिक और ब्राह्मण ग्रन्थकाल में खश जाति और वैदिकों की स्थिति

जिन दिनों भरतादि दश वंशों के वैदिक आर्य, वैदिक संगीतों से भारतवर्ष को गुञ्जायमान कर रहे थे, तब खश आर्य लोग अपनी मुख्य मातृभूमि में ही चैन की बाँसुरी बजा रहे थे। सचमुच बाँसुरी इन्हीं खशों का मुख्य वाद्य रहा। वैदिक लोग तब इन्हें वाह्लीक नाम से ही पुकारते रहे इनका अभिजन दिन दूना और रात चौगुना होकर अब अति विशालकाय हो चुका तो सम्भवतः ये पहिले कुछ अंश में पारस की ओर गये और वहाँ के खास (राजा) बन गये। शेष पुनः अपनी मातृभूमि में ही अधिक सुविधा पाकर कुछ वर्षों के लिए रुक गये। शतपथ ब्राह्मण के समय आज से ४००० वर्ष पूर्व तक ये लोग वाह्लीक में ही थे। शतपथ ब्राह्मण ने लिखा है कि ये लोग 'भव' नामक अग्नि के उपासक थे। खश आर्य और वाह्लीक आर्य एक ही हैं इस बात की पुष्टि भरत मुनि जी अपने नाट्यशास्त्र (१७-५२) के अकाट्य प्रमाण से करते हैं। "वाह्लीक भाषोदीच्यानां खशानां च स्वदेशजा" इस उल्लेख से यह भी निश्चित होता है कि जिस संस्कृत को शब्दानुशासनकारों ने उदीचाम् (विभाषा और अन्यतरस्याम्) नाम से पुकारा है वह इन्हीं खश आर्यों या वाह्लीक आर्यों की अपनी भाषा (संस्कृत) है। हर्ष की बात है कि वराहमिहिर जी इस कथन की अक्षरशः पुष्टि करते हैं (बृहत् संहिता)।

(४) यास्क का उल्लेख

जब हम वेदों के प्रसिद्ध निरुक्तकार आचार्य यास्क के समय की भारतीय भौगोलिक अवस्था को देखते हैं तो मानचित्र एकदम बदला हुआ मिलता है। इनके समय में 'कीकट'[१] (मगध) अनार्य देश या द्रविड़बहुल प्रदेश है। उधर पश्चिम में खश या बाह्लीक आर्यों का अवशिष्टांग अब काम्बोज (अफगानिस्तान) में भी बसा हुआ है। वे लिखते हैं 'मगधाः कीकटाः अनार्यनिवासदेशोऽयम्' (निरुक्त* ६-३२) और 'सवति गतिकर्मा काम्बोजेषु च भाषते' (निरुक्त २-१-४)। काम्बोज शब्द की व्युत्पत्ति देते हुये यास्क ने यह भी संकेत किया है कि खश या बाह्लीक लोग कम्बलों का निर्माण; मुनक्का, छुहारे आदि का आहार और व्यवहार (व्यापार) करते थे। "काम्बोजाः कम्बलभोजा, कमनीयभोजा, कम्बलकमनीयो भवति इति।"

ब्राह्मण युग में भारतीय वैदिक आर्य, पूर्व और दक्षिण में द्रविड़ों से, पश्चिम में काम्बोज पश्चिमोत्तर भारत स्थित खश आर्यों से घिर गये हैं (३८०० वर्ष पूर्व)। ऐसी परिस्थिति अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सकती। जो खश आर्य बाह्लीक से बढ़कर काम्बोज और पश्चिमोत्तर में पाँव जमा चुके हैं, वे कब पंजाब आदि भारत की लालसा में आगे न बढ़ेंगे। ये लोग अब अपने अभिजन को पुष्ट, चुस्त और समृद्ध करने में लगे हैं। यास्क से लगभग एक 'हजार वर्ष पूर्व ही इनका दल टिड्डी दल सा असंख्य संख्या का प्रस्तुत हो गया, जिसके एक भाग ने ३७५८ में बेबीलोन को जीत कर राज्य जमाया। दूसरे ने त्रिशूलमार्गीय आक्रमण की योजना बनाई और भारत पर पिल पड़ा। (१) पहिला दल पर्वतीय श्रेणियों को लाँघते-लाँघते कश्मीर से आसाम तक प्रायः बिना विरोध के फैलने में समर्थ हुआ, वहां वैदिक आर्य गये ही न थे। (२) दूसरा दल अफगानिस्तान से सीधे-सीधे सिन्ध, गुजरात तथा बम्बई तक जा बसा। इनको भी बहुत कम युद्ध करना पड़ा। प्रायः द्रुह्य और यदु वैदिकों और कुछ द्रविड़ों से लड़ना पड़ा होगा। इन देशों के वैदिक आर्यों में से द्रुह्यों को भारत से पहले ही भगा डाला था, सौराष्ट्र, बम्बई तक ये अभी तक नहीं जा पाये थे। (३) तीसरा दल सिन्धु पार करके, वैदिकों की बसी-बसायी बस्तियों के मीठे सपने देख कर आगे बढ़ा। इसका

---

* डा० सूर्यकान्त लिखते हैं कि उक्त स्थल में कीकट माने 'कीकड़' कुकाठ पेड़ का नाम है मगध का नहीं। चाहे अर्थ कुछ हो मगध का अर्थ तो कीकड़ नहीं हो सकता, उसका अर्थ उसी पश्चिमी विहार अर्थ में लग सकता है जहां यास्क ने अनार्य बस्तियाँ देखी थीं।

भारत वर्ष
'सवति गति कर्मा काम्बोजेषु
'मगधा कीकटा अनार्य निवास
देशोऽयम्' । (निरुक्त)
गान्धार
मगध
द्रविड़
संकेत
खशोंकादेश
वैदिकोंकादेश
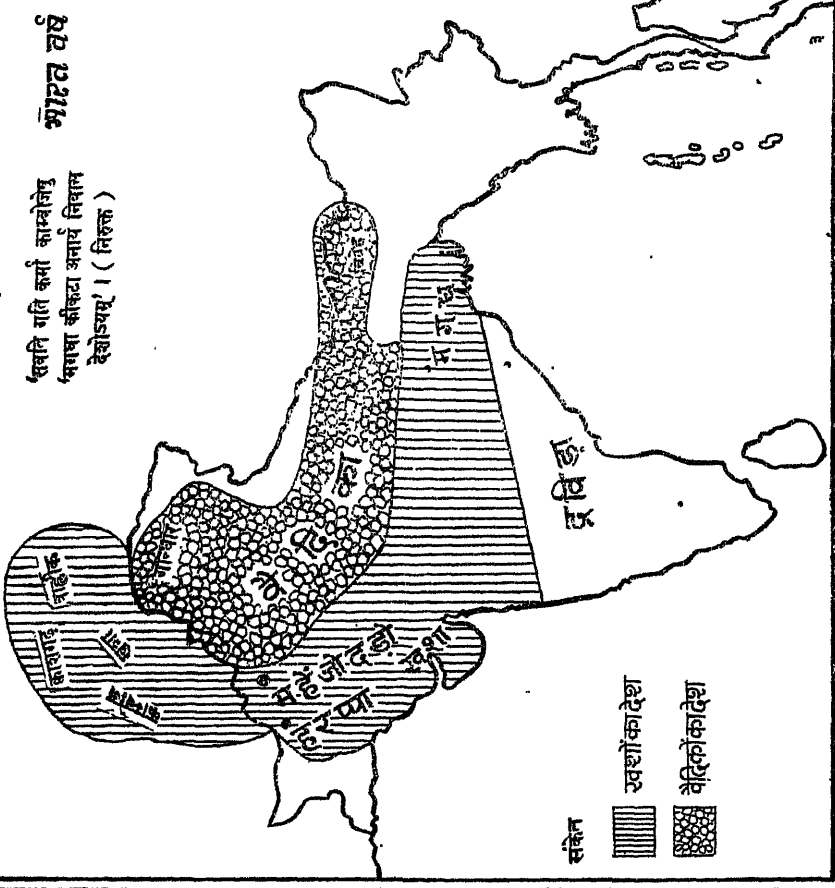
नेता हैहय कुल का सहस्रार्जुन था। वह अनुस्, द्रुह्य और यदुवंश के वैदिक राजाओं को दाल की तरह दलते हुए पुरु वंश के राज्य में आया। उस समय पुरु वंश में राजा जमदग्निपुत्र ययाति थे। उसने इन्हें हराकर वहां राज्य स्थापन करना चाहा।

(५) वैदिक आर्यराष्ट्र के जाग्रत सन्तरी भ० महावीर परशुराम (आज से ३८०० वर्ष पूर्व)

पिता के पतन और राज्य के छिन जाने के रोष से महावीर परशुराम ने भरतवंशी वैदिक राजाओं को, खश आर्यों के खतरे से मुक्ति पाने के लिए, एकत्र करके, 'कुरुक्षेत्र' की भूमि को ससगुन युद्धक्षेत्र बनाया। पुराणों में कथानक आता है 'कुरुक्षेत्र' की स्थापना महावीर परशुराम ने ही की थी। उस रणभूमि में परशुराम ने अन्य वैदिक राष्ट्रों की सहायता से सबसे पहिले अपने पिता के अपराधी सहस्रार्जुन को हराया। सहस्रार्जुन इस बार बच निकल कर सुराष्ट्र देश की ओर भाग निकला और अपने दूसरे दल वालों का नेता या राजा बन बैठा। अब यमदग्नि पुनः अपने राज्य के राजा बन गये।

आजकल के इतिहासकारों ने महावीर परशुराम को भारत के इतिहास में स्थान ही नहीं दिया है। दूसरी बात जो सबसे अधिक अजीब सी है वह यह है कि लोगों ने म० परशुराम को वैदिक क्षत्रियों का २१ बार हनन कर्ता समझ रखा है। क्या म० परशुराम को पागल कुत्ते ने काट खाया था जो अपनी ही बिरादरी के क्षत्रिय राजाओं का सर्वनाश कर डालते। इस मत के विरोध में कुरु, त्रित्सु, भरत वंश के राजाओं की एकता, तथा जनक, दशरथ, राम जैसे क्षत्रियों का उनके जीवन काल में शान्तिपूर्वक राज्य करना और राजा दशरथ का विवाह पुरु राज्य के अन्तर्गत केकय देश में होना स्पष्टतः दिखाई पड़ता है।

महावीर परशुराम को अवतार माना गया है। क्या कोई भी वर्गीय युद्ध करने वाला या वैरशुद्धि भावना से अवतार माना भी जा सकता है? कदापि नहीं। वस्तुतः स्थिति ही दूसरी है। जिन क्षत्रियों को महावीर परशुराम ने अपने फरशे की धार के घाट उतारा था वे वैदिक क्षत्रिय न होकर खश आर्य थे। यह आपने देख ही लिया है कि मनुस्मृति इन खश आर्यों को पतित क्षत्रिय मानती है। यही बात महाभारत तथा अन्य पुराणों ने स्वीकार की है। सहस्रार्जुन को भी क्षत्रिय ही बतलाया है। हैहय वंश खशों का था, इसका एक प्रमाण यह भी है कि परशुरामकाल तक वैदिक आर्य उत्तर भारत तक ही सीमित थे। दक्षिण भारत में आर्यों में सर्वप्रथम यही

खश आर्य गये थे। यास्क और वाल्मीकि रामायण, सिन्ध, सुराष्ट्र का नाम तक नहीं देते। तब वहां द्रविड़ थे।

एक बड़ी विचित्र बात यह है कि महावीर परशुराम ने क्षत्रियों का हनन एक ही स्थल पर केवल २१ बार ही किया है। क्या उन्होंने क्षत्रियों को बटोरने के लिए जासूस फैलाये थे? यदि ऐसा होता तो कुरुक्षेत्र में रोज क्षत्रियों का बलिदान होना चाहिए था। यह सब अनर्गल विचारधारा है। वास्तव में काम्बोज में खश आर्य दल वर्षों से विजय की तय्यारी कर रहा था। प्रथम आक्रमण में उन्हें पश्चिमोत्तर भारत में विजय मिल भी गई। पुरु राज्य की विजय जब क्षणिक सिद्ध होगई तब पश्चिमोत्तर भारत के खश आर्य परशुराम पर विजय पाने के लक्ष्य से बार बार आक्रमण करते रहे। म. परशुराम सदा सतर्क थे, जब जब वे आये उनका कुरुक्षेत्र में नृशंस संहार कर डाला। इस प्रकार २१ बार खश आर्यों के केवल आक्रमणों का नृशंस संहार रोकने से ही नहीं वरन् सदा के लिए वैदिक राष्ट्रों की खशों से जो उन्होंने रक्षा की, उसी के प्रतिफल में उन्हें अवतार माना गया। वैदिक आर्यों के इतिहास में जैसा अभूतपूर्व काम परशुराम ने किया, वैसा और किसी के बूते का न था। अतः गीता में जो 'रामः शस्त्रभृतामहम्' कहा है वह इन्हीं परशुराम के लिए कहा है। शस्त्रभृत् राम फरशाधारी परशुराम ही थे। भ. रामचन्द्र तो अस्त्रभृत् (धनुर्धारी) थे, यह किसी से छिपा नहीं है। म. परशुराम ने सहस्रार्जुन को सुराष्ट्र जाकर मार डाला। उन्होंने विजित खशों को वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में दीक्षित करने के लिए यत्र तत्र आश्रम खोल दिये। यहाँ तक कि दक्षिण के द्रविड़ों में भी प्रचार के लिए ऋषि मुनियों को भेज दिया। इनका साम्राज्य सा बन गया। इनके शासन-काल में कठोर नियन्त्रण थे, त्राहि त्राहि मची थी, विशेष कर अवैदिक क्षेत्रों में। जब इन्हें विदित हुआ कि कोई क्षत्रिय शिवधनुष तोड़ कर महावीरता का गर्व भरने लगा है, ये कुरुक्षेत्र से दौड़ते हुये मिथिला की ओर गये। पूछ ताछ करने पर जब उनका भ्रम मिट गया कि राम खश क्षत्रिय नहीं वरन् भरत वंशी क्षत्रिय हैं तो, उन्होंने अपना कार्य भार राम के कन्धे सौंप दिया और स्वयं अवकाश या संन्यास ले लिया। ऐसे इतिहासप्रसिद्ध, राष्ट्रीय नेता को भारत के इतिहास में स्थान न देना, वैदिक आर्यों के इतिहास को नष्ट करना है। दे. मानचित्र।

(६) भगवान् रामचन्द्र का काम

भ. राम को म. परशुराम की पकी पकाई खीर मिली थी। उनके लिए शेष रह गया था शान्तिपूर्वक राज्य करना। इन्होंने कठोर नियन्त्रणों को
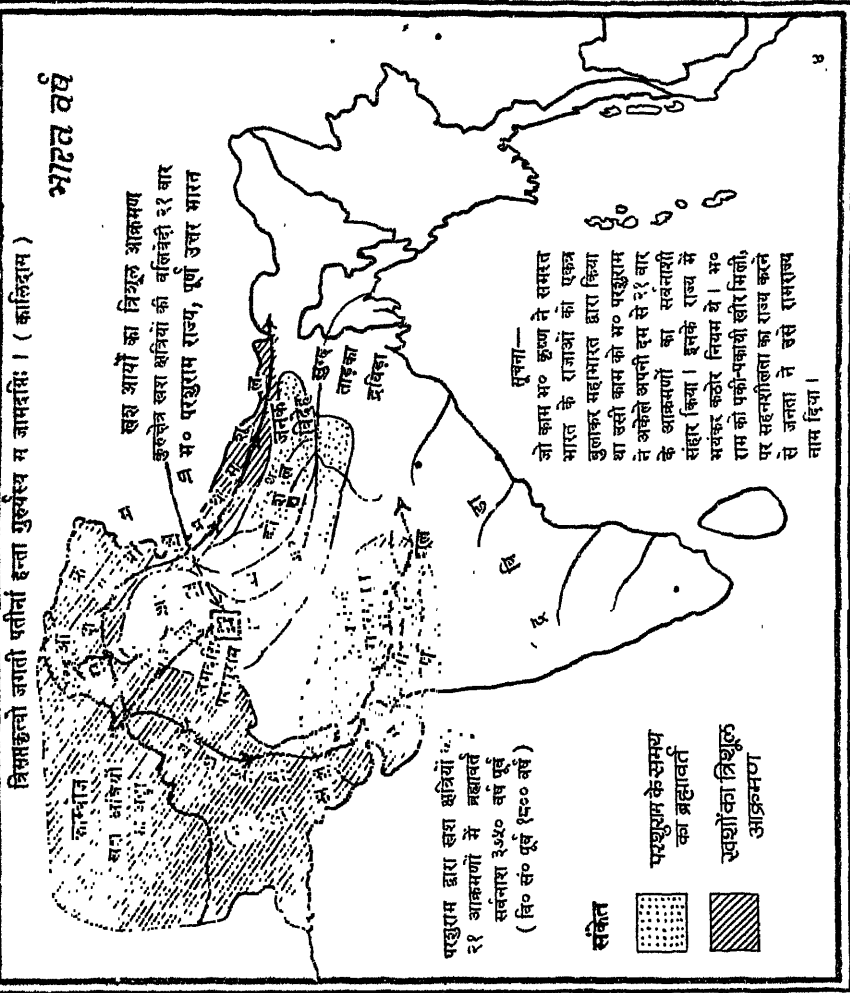
त्रिसप्तकृत्वो जगती पतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्निः । (कालिदास)

भारत वर्ष

खश आर्यों का त्रिशूल आक्रमण
कुरुक्षेत्र खश क्षत्रियों की बलिवेदी २१ बार
भ० परशुराम राज्य, पूर्ण उत्तर भारत

काम्बोज
खश क्षत्रियों
जमदग्नि
परशुराम
जनक
विदेह
सुम्ह
ताड़का
द्रविड़

परशुराम द्वारा खश क्षत्रियों
२१ आक्रमणों में ब्रह्मावर्त
सर्वनाश ३७५० वर्ष पूर्व
(वि० सं० पूर्व १८०० वर्ष)

संकेत

परशुराम के समय का ब्रह्मावर्त

खशों का त्रिशूल आक्रमण

सूचना—
जो काम भ० कृष्ण ने समस्त भारत के राजाओं को एकत्र बुलाकर महाभारत द्वारा किया था उसी काम को भ० परशुराम ने अकेले अपनी दम से २१ बार के आक्रमणों का सर्वनाशी संहार किया। इनके राज्य में भयंकर कठोर नियम थे। भ० राम को पकी-पकायी खीर मिली, पर सहनशीलता का राज्य करने से जनता ने उसे रामराज्य नाम दिया।

४
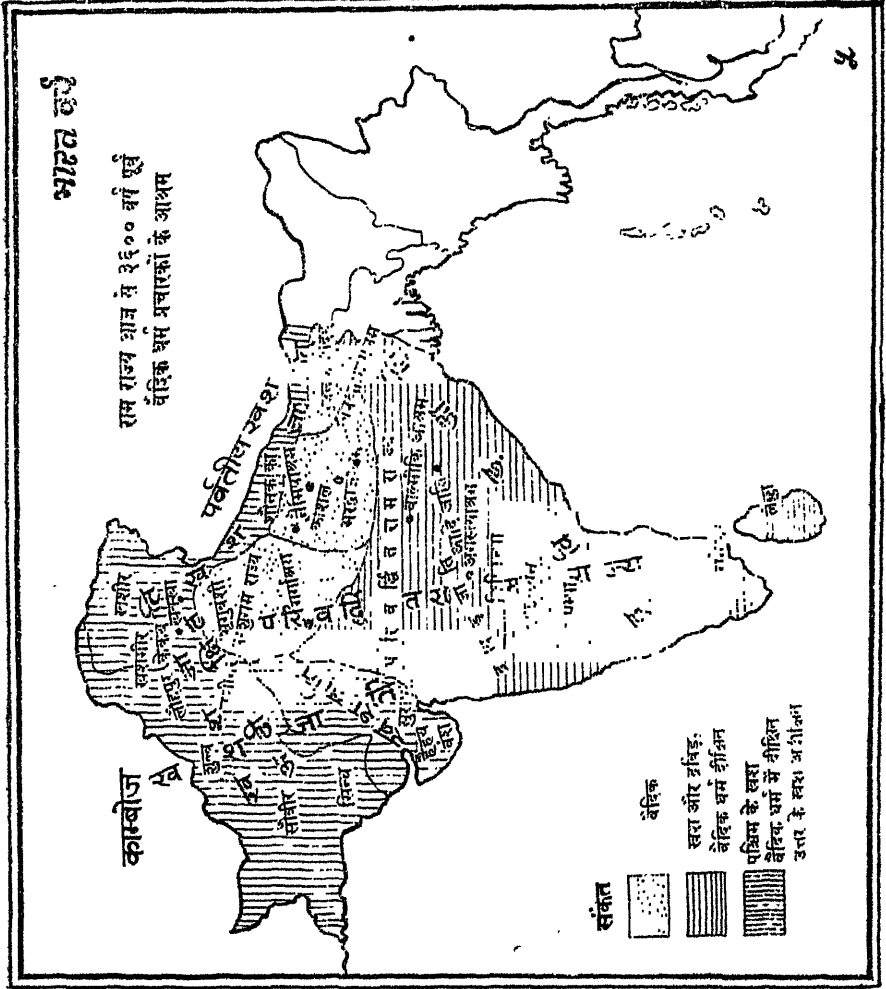
हटा दिया, न्याय की सृष्टि की, वैदिक धर्मप्रचार को आगे बढ़ाने का प्रयास किया, अतः रामराज्य कहलाया। दण्डकारण्य में आश्रम तो म. परशुराम ने खोल दिये थे, महर्षि अगस्त्य वहाँ पहिले से ही डटे थे। उनके दुःखों को देखने ये दक्षिण गये। लड़ने के लिए उन्हें तब केवल एक ही राजा मिला (रावण)। औरों की कपालक्रिया परशुराम कर चुके थे। उसे मारकर सिंहल देश में वैदिक धर्म का प्रचार बढ़ाया यद्यपि विभीषण, त्रिजटा आदि वहाँ भी वैदिक धर्म मानने वाले थे। आश्रमों की स्थिति मानचित्र में देखें। इनके समय में मगध में सुन्द और ताड़का हैं ये नाम ही द्रविड हैं, इनमें विश्वामित्र प्रचारक थे। इनके समय में किसी खश राजा ने सिर नहीं उठाया। केवल एक शम्बूक की कथा मिलती है। रामायण में गान्धार, कश्मीर, सिन्ध, सुराष्ट्र, वंग, कामरूप, कुमाऊ, नैपाल और भूटान का नाम भी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि उक्त देशों में प्रजा खशबहुल हो गई थी। वंग, कामरूप को छोड़ कर शेष स्थानों में खश राज्य से या छोटे छोटे रजवाड़े से स्थापित हो गये थे। उन्होंने धीरे धीरे वैदिक धर्म अपना लिया था। अनुस्, द्रुह्य और यदुवंश के पश्चिमी वैदिकों में से कुछ भागकर भरत वंश के रजवाड़ों में आगये, शेष खश राजाओं या प्रजाओं के प्रतिष्ठित पुरोहित से बन गये। खश आर्यों ने यदुवंश की बड़ी दुर्दशा कर दी थी, यह आगे चल कर विदित हो जावेगा। यह आज से ३६०० वर्ष पूर्व की बात है।

(७) महाभारत काल में भारत की स्थिति

(आज से ३३६८ वर्ष पूर्व) रामराज्य काल से लगभग ५५० वर्ष बाद या आज से ३३८६ वर्ष पूर्व जब हम मौलिक म. भा. के श्रीमद्भगवद्गीता नामक ग्रन्थ के दिये हुये भारतीय मानचित्र को देखते हैं तो परिस्थिति एकदम बदली मिलती है। अब उत्तर भारत टुकड़ों टुकड़ों के स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया है, जनता में उनके अत्याचारों से हाहाकार मचा है, तथा वैदिक आर्यों का क्षेत्र एकदम अत्यन्त संकुचित और सीमित हो गया है। यहाँ तक कि यदि म. भा. युद्ध न होता तो वैदिक आर्य जाति और वैदिक सभ्यता सदा के लिए नष्ट हो जाती। गीता ने जो मानचित्र पाण्डव सेना का प्रस्तुत किया है वह यह है—

पश्यैतान्पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुन-समा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नर-पुंगवः ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥
(गीता १–३ से ६ तक)।

(१) द्रुपद देश और उसका राजा (२) विराट् देश—कुमाऊ गढ़वाल की तराई का देश (३) धृष्टकेतु, राजा शिशुपाल का पुत्र-चेदि देश का राजा (उद्योग पर्व १६४–१७१ तक) । (४) चेकितान—यदुवंश के देश का राजा (मत्स्य और उससे पश्चिम देश) । (५) काशिराज—वाराणसी क्षेत्र (६) पुरुजित्—(कुन्तिभोज का पुत्र) पुरुदेश (७) कुन्तिभोज—गान्धार कश्मीर देश (८) शिवि राजा—उशीनर देश (गान्धार से दक्षिणी भाग) (९) युधामन्यु (१०) और उत्तमौजा (क्रम से पाञ्चाल्य और मत्स्यदेश)। ये दोनों अर्जुन के चक्र रक्षक राज्य रक्षक थे। (११) सौभद्र-पाण्डु देश (१२) द्रौपदेय–द्रुपद राज्य की जागीर (१३) विस्तृत महाभारत में भ० कृष्ण सिन्धु सुराष्ट्र के स्वामी हैं (१४) तथा मध्यदेश का जाम्बवन्त (द्रविड) (१५) अंग वंग (जरासन्ध) (१६) कामरूप के राजा वाणासुर पर विजय करके अन्त में महाभारत कराते हैं। दे. मानचित्र। इसमें राज्य तो सोलह हैं पर प्रान्त अट्ठारह हैं; कुरु, कोशल, विदेह जिनका नाम इस क्रम में देने का कष्ट तक नहीं किया है न जाने क्यों, उन्हें इन सब में मिलाकर २१ हैं। इन राज्यों में कौन जाति के आर्य राज्य कर रहे थे इसका निर्णय करने के लिए हमें इनकी संस्कृति पर विचार कर लेना परम आवश्यक है। इतना ध्यान रहे दक्षिण की द्रविड प्रजा और राजा म. भा. युद्ध में तटस्थ हैं।

(८) रामायण और महाभारत की सभ्यताओं में आकाश पाताल का अन्तर

इन दोनों ग्रंथों की मौलिक संस्कृतियों में आकाश पाताल का जो सर्वविदित प्रगट रहस्यमय अन्तर मिलता है उसकी समुचित व्याख्या करने और ऐतिहासिक और प्रामाणिक प्रयत्नों द्वारा तारतम्यता जोड़ने का श्रेय लेने का सौभाग्य अबतक किसी विद्वान् को नहीं मिल पाया है। सीता की अग्निपरीक्षा और वनवास, मन्दोदरी प्रभृतियों तक का सती होना; पिता का आदेश मात्र पाकर परशुराम द्वारा मातृवध, राम का वन को चल देना आदि जैसी आदर्श की परमोत्कृष्ट घटनाओं के भण्डार रामायण आदि प्राचीन

भारत वर्ष
गीता और महाभारत काल के
पहिले भारत के चीथड़े
खश आर्यों से सर्वतो घिरी
वैदिक सभ्यता पूर्ण खतरे
में अतः महाभारत परम
आवश्यक ।
खश जाति से चारों ओर से घिरे
वैदिक आर्य
सौवीर
सिन्ध
सुराष्ट्र
कामरूप
विदेह
अङ्ग
जरासन्ध
बङ्ग
महाभारत युद्ध से तटस्थ (गीता)
वैदिक धर्म
स्वीकृत
द्रविड़ राज्य
संकेत
वैदिक
अवैदिक खश राज्य
त्यक्त वैदिक धर्म
द्रविड़ राज्य महाभारत
युद्ध से तटस्थ (गीता)
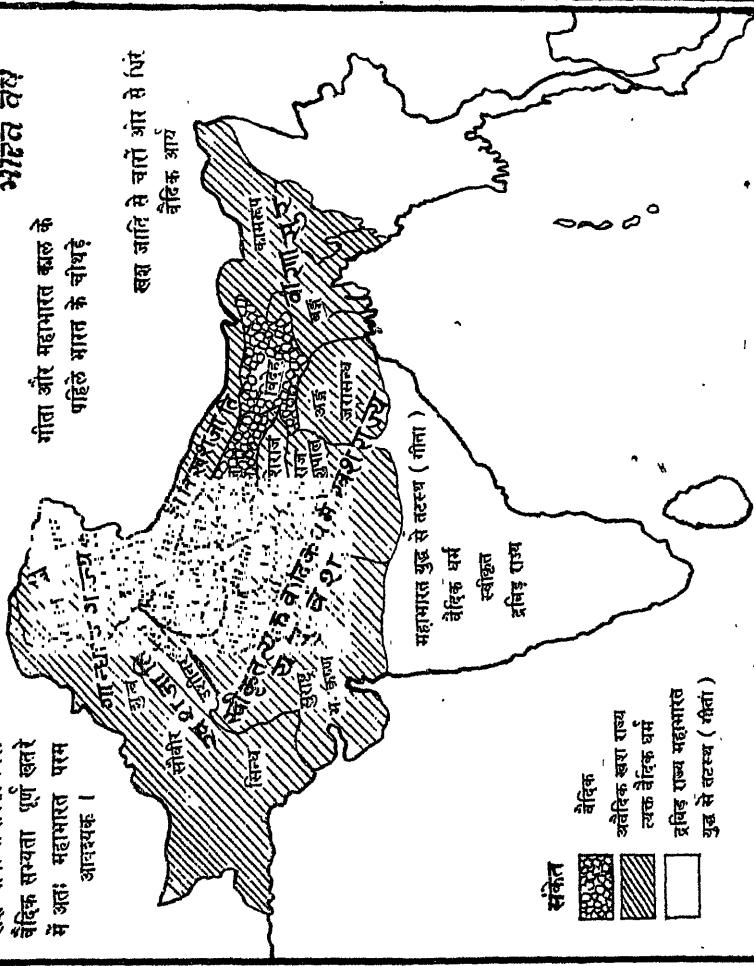
ग्रंथ हैं तो, पञ्चभर्तृका कुन्ती, पञ्चपतिका द्रौपदी और व्यास से उत्पन्न धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर जैसे वैदिक आचार विचार से बिलकुल विपरीत तत्वों का भण्डार यह म. भा. ग्रंथ है। द्रौपदी का भरी सभा में चीरहरण देख भीष्म पितामह भी चुप्पी साधे हैं, कहीं रोष तक नहीं है। उधर रावण ने सीताहरण सकारण करते हुये भी, उसके साथ बलात्कार की चेष्टा तक न की, सदा अनुनय, विनय, सामदानादि का सहारा लिया है। राम आँख मींच कर पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर राज्य तक छोड़ देते हैं दुर्योधन, पिता के बार बार कहने पर भी सुई की नोक भर भी भूमि नहीं छोड़ता।

दुर्योधन कौरवश्रेष्ठ और ज्येष्ठ है, भरतवंशी वैदिक आर्यों के पञ्चजन, पुरु, कुरु, त्रित्सु, तुर्वसु और भरतों में से एक मुख्य वंश कुरु की महावीर सन्तान है। हस्तिनापुर इसी वंश की राजधानी और राज्य (कुरु) है, राजगद्दी का अधिकारी यही दुर्योधन है। इसकी माता गान्धारी का सतीत्व तथा धृतराष्ट्र का धैर्य, सीता और दशरथ के आदर्शों को मात कर बहुत ऊँचे उठते हैं, और कौरव सब औरस पुत्र हैं यह किसी से छिपा नहीं है। भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा आदि कौरवों के सब महारथी वैदिक आर्य हैं यह उनके नामों से ही स्वतः स्पष्ट है। पाण्डव एक नया खश दल है। यह सहस्रार्जुन की तरह हार कर अपने बिरादर खश राजा विराट् के यहाँ जन्म भर रहता है। इसके पास जो छोटा रजवाड़ा था, प्रायः पाँच या पचास गाँव भर, उसे भी, यह दुर्योधन से हार कर गवाँ चुका है। इन्हीं को लौटाने की भी बात है। दुर्योधन उन्हें सत्ता (राजसिक) में ही नहीं देखना चाहता। पाण्डव वैदिकों के खतरे की घंटी हैं। अतः राष्ट्रहित की दृष्टि के कारण समझौते से पाँच गांव के स्थान में उन्हें सुई की नोक के बराबर भूमि को जो उसने न देने का प्रण किया था वह सर्वथा देशभक्ति के अनुकूल ही था। इसी लिए भीष्मपितामहादि चुपके चुपके उसका सदा साथ देते रहे।

जहाँ पुरु वैदिक वंश राज्य कर रहा था, अब वहाँ पुरुजित् आगया है। पुरु राज्य समाप्त हो गया। पुरुजित्, कुन्ति भोज का पुत्र है, स्वयं कुन्ति भोज ने अनुस्, द्रुह्य राज्यों को (पश्चिमी पंजाब, कश्मीर, गान्धार) हड़प लिया है। शिवि वंश ने यदुवंशियों की दुर्दशा करके उशीनर राज्य की स्थापना कर ली है। मत्स्य वंशी वैदिक राजाओं को चेकितान ने कुचल डाला है। यदु और मत्स्यों में से अधिकांश भागकर शूरसेन में खेतिहर बन गये हैं, ग्वाले हो गये हैं, खशों की सभ्यता—रासलीला बाँसुरी में मस्त हो गये हैं। इनके शिर पर भी कंस खश आर्य राजा है जो इन्हें बराबर सताये

जा रहा है। उसने वैदिक धर्म दीक्षित अपने पिता उग्रसेन को कारागार में डाल कर खश सभ्यता के प्रचार में ध्यान लगा लिया है। बुन्देलखंड में (चेदिदेश) शिशुपाल और धृष्टकेतु नामक खश राजाओं का प्रभुत्व है तो अंग में जरासन्ध नामक खश राजा का। जो खश राजा उत्तर भारत में प्रवेश पाने के लिए परशुराम से हताश हो भागे थे, वे सिन्ध-गुजरात के रास्ते बिहार-बंगाल तक प्रवेश कर गये हैं। हम इन राजाओं को खश आर्यों से, एक तो ऐतिहासिक घटनाओं के कारण तादात्म्य करने को बाध्य हैं, दूसरे म. भा. ने कंसादि सब राजाओं को 'राक्षस' नाम दिया है। ये राक्षस = राज् + ख़श हैं, राजा ख़श हैं या ख़श राजा हैं। वैदिक धर्म को इन्होंने अभी स्वीकार नहीं किया है। वैदिक लोग उन दिनों इन खश राजाओं को 'राक्षस' इसीलिए कहा करते थे कि इनको जीवनी को वे उन्हें वैदिक धर्म में अदीक्षित होने से राक्षसों के समान भी समझते रहे, राजा खश भी तब श्लेषात्मक शब्द का प्रयोग करते रहे। अतः इनका राक्षस नाम सार्थक ही है। मनुष्यों में 'राक्षस' इन्हीं खशों को कहा है। मैदानी सभ्यता में ख़श आर्यों का नाम इसी 'राक्षश' या राखश या राक्षस शब्द में सुरक्षित और प्रयुक्त मिलता है। तीसरी बात यह है कि इन देशों की भाषा आर्य भाषा है। अतः ये राक्षस कहे जाने वाले राजा अवश्यमेव आर्य तो हैं, पर वैदिक आर्य नहीं हैं। दूसरे दल के आर्यों में म. भा. के युग में इन खशों को छोड़ अन्य नहीं हो सकता है। अतः यह निश्चित सा हो जाता है कि पाण्डवों की सेना में जिन रजवाड़ों के नाम आये हैं वे सब खश आर्य राजा हैं। उन्हीं को विजित करके वैदिक धर्म की सत्ता की नींव गहरी करने के निमित्त म. भा. का युद्ध संगठित करना पड़ा।

काशिराज अब तक भूमिहार ब्राह्मण हैं। भूमिहार ब्राह्मण निश्चित रूप से खश आर्यों के ब्राह्मण थे। कुमाऊँ में भी भूमिहारों की तरह खेतिहर खश आर्य ब्राह्मण हैं। भूमिहार या खश आर्य ब्राह्मण की पहिचान, अपने हाथों हल चलाने वाले ब्राह्मणों से होती है, वैदिक ब्राह्मण अपने हाथ से हल नहीं चलाता, वह हरवाहा रखता है। हां भीष्म पितामह ने काशिराज को बहुत पहिले हराया था। उनकी तीन लड़कियों अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका को छीन कर भी लाये थे। जो राजा खश आर्य होते हुये भी वैदिक धर्म में दीक्षित और ढले हैं उनका म० भा० ने वैदिक आर्यों के साथ ऐसा सम्मिश्रण कर दिया है कि उन्हें पृथक् छाँटने के लिए पैनी दिव्य दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण में पाण्डव हैं, जिनकी घरेलू सभ्यता अब तक जौनसार बावर, बन्नू कोहाट, और हिमांचल प्रदेश में ज्यों की त्यों सुरक्षित है, उनके

पिता पाण्डु को धृतराष्ट्र का सगा भाई बना देने में हिचक नहीं दिखलाई है। युधिष्ठिर को तो धर्मराज तक कह डाला है। धर्मराज के माने यहाँ 'नाम के राजा' है। उन्होंने राज्य ही कब किया। जन्म भर अपने मित्र विराट् के यहाँ पड़े रहे, उससे पहिले पाँच गाँव के पाण्डु देश में। म० भा० ने वैदिक तत्वों के प्रतीक रूप में पाण्डवों को जोड़ा है आर्य होने के नाते जाति भाई बनाया है औरस भाई नहीं। म० भा० के युद्ध के पश्चात् पाण्डवों के बारे में जिस प्रकार की घटना का उल्लेख किया गया है वैसा किसी अन्य राजा, महाराजा, योगी, यती और अवतार के बारे में नहीं दिया गया है। यह घटना 'स्वर्गारोहण' है। परशुराम, राम, कृष्ण, कौरव, धृतराष्ट्र, विदुर किसी को स्वर्ग क्या प्यारा नहीं था? तब इस स्वर्गारोहण के क्या माने हैं? म० भा० युद्ध के बाद पाण्डवों को लम्बी नमस्कार झुकाई गई। सब खश राजाओं को विजित कर वैदिक धर्म की पताका फहरा दी गई। कुरुवंशी राजा गद्दी में बैठा। पाण्डवों से कहा गया गढ़वाल कुमाऊँ की ओर वैदिक सभ्यता फैलाओ या जा बसो। फलत: उनका स्वर्गारोहण, देशनिकाला ही समझिये। कुमाऊँ में पाण्डवों के कई स्मारक चिह्न अब तक अवशिष्ट हैं हिडिम्बा, घटोत्कच के निवास स्थान 'चम्फावत' काली कुमाऊँ में अब तक सुरक्षित हैं वहां मेले लगते हैं। और भीमताल, द्रौपदीताल को कौन नहीं जानता? प्रत्येक पर्वत, मन्दिर, तीर्थ, घाटी और क्षेत्र इन पाण्डवों की चर्या और गीतों से अंकित है। अतः निसन्देह पाण्डवों को अपनी शेष जीवनी गढ़वाल कुमाऊँ ही में बितानी पड़ी थी इसमें भी सन्देह नहीं रह जाता? यह देश खश देश है ही, यहाँ उन्हें बड़ी प्रतिष्ठा भी मिली होगी। कई पुराने मन्दिरों की नींव इन्होंने डाली हो, सम्भव हो सकता है। हिडिम्बा राक्षस नहीं वरन् काली कुमाऊ के आदिवासी जाति के प्रमुख नेता की लड़की रही होगी जिससे भीम का विवाह और घटोत्कच पुत्र हुआ था। काली कुमाऊ के उनके निवास की सत्ता इतिहास को प्रामाणिकता प्रदान कर देती है।

(९) भ० कृष्ण की रणचातुरी

सबसे पहिले अपने कुल के द्रोही कंस की कपालक्रिया करके, उन यदुओं को साथ लेकर, जिन्हें अपनी मातृभूमि का प्यार खींच रहा था, उन्होंने सुराष्ट्र के हैहय वंशी खश राजा की बुद्धि ठिकाने लगायी। तदनन्तर यदुओं को अपनी पुरानी जन्मभूमि में फिर से बसा कर, खशों को खेतिहर प्रजा में परिणत किया। तब पूर्व की ओर मुड़े तो पहिले जाम्बवन्त द्रविड़

वंश के राजा को जीत कर उसे वैदिक धर्म में पुनः दीक्षित किया। उससे आगे बढ़ने पर शिशुपाल, उससे आगे जरासंध, दोनों को क्रमशः मार कर वहाँ भी वैदिक सभ्यता और वैदिक वंश के राज्य स्थापित किये। अन्त में बाणासुर नामक खश राजा को, कामरूप जाकर मार डाला उसकी प्रजा को वैदिक धर्म में दीक्षित कर डाला। कामरूप में, पर्वतीय प्रदेश द्वारा और अंग द्वारा खश आर्य पहिले से बस चुके थे। यही वहां की मुख्य प्रजा थी। उत्तर भारत के पुरुजित् कुन्तिभोज, द्रुपद, विराट्, शिवि, चेकितान आदि को युधिष्ठिर खश राजा के न्योते में बुलाकर म० भा० युद्ध द्वारा समाप्त कर दिया। पुनः अनुस्, द्रुह्यु, पुरु आदि वैदिक राजाओं को यथास्थान राज्य सौंप दिया। समस्त भारत को 'कुरु' राज्य के अधीन कर एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर दिया। पाण्डवों को नमस्कार कह कर गढ़वाल कुमाऊँ भेज दिया। हो गया स्वर्गारोहण। कौन नहीं जानता कि कौरवों या कुरुवंशी वैदिक आर्यों का दल, पाण्डवों के दल से अधिक बलशाली था। कुरुओं के प्रत्येक महारथी ने लाखों का संहार किया। तारीफ तो यह है कि इस युद्ध में यदु और मत्स्य नामक पुराने वैदिक वंश भी कौरवों ही की ओर से लड़े थे। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि म० भा० का युद्ध अदीक्षित और त्यक्त दीक्षा वाले खश राजाओं के नर संहार के लिए रचा गया था। जो मार्ग म० परशुराम दिखला गये थे, उसी का भ० कृष्ण ने अनुसरण कर वैदिक आर्यों और वैदिक धर्म की रक्षा की थी। भ० कृष्ण ने पाण्डवों का साथ केवल खश राजाओं का जीवाला रचने के लिए दिया था। यह युद्ध खशों के विनाश का २३ वां युद्ध था और अन्तिम था, जिनमें से २२ युद्ध म० परशुराम कर चुके थे। युद्धोत्तर स्थिति के लिए दे० मानचित्र।

(१०) मनुस्मृति–ब्रह्मावर्त आर्यावर्त

मनु भगवान् ने अब पश्चिमोत्तर भारत को खशबहुल देख कर (वास्तव में भृगु ने पुरु वंशी ने), भारतवर्ष को दो भागों में विभक्त कर उसके दो अलग अलग नाम रख दिये। समस्त उत्तर भारत को उन्होंने आर्यावर्त नाम दिया क्योंकि इस पूरे देश में रहने वाले वैदिक और अवैदिक (खश आर्य) आर्य, सब आर्य ही थे। परन्तु वैदिक आर्य देश को खशबहुल देश से पृथक् करने के लिए उन्होंने वैदिक आर्य वंश के राज्यों का—'पुरु, कुरु, त्रित्सु, तुर्वसु और भरत', का 'ब्रह्मावर्त' अलग नाम रख दिया। इस प्रकार हिमालय और विन्ध्याचल के बीच का समस्त उत्तर भारत आर्यावर्त कहलाने लगा, तथा सरस्वती (सतलज के पास) से गण्डकी नदी तक पूर्वी पञ्जाब तथा उत्तर प्रदेश
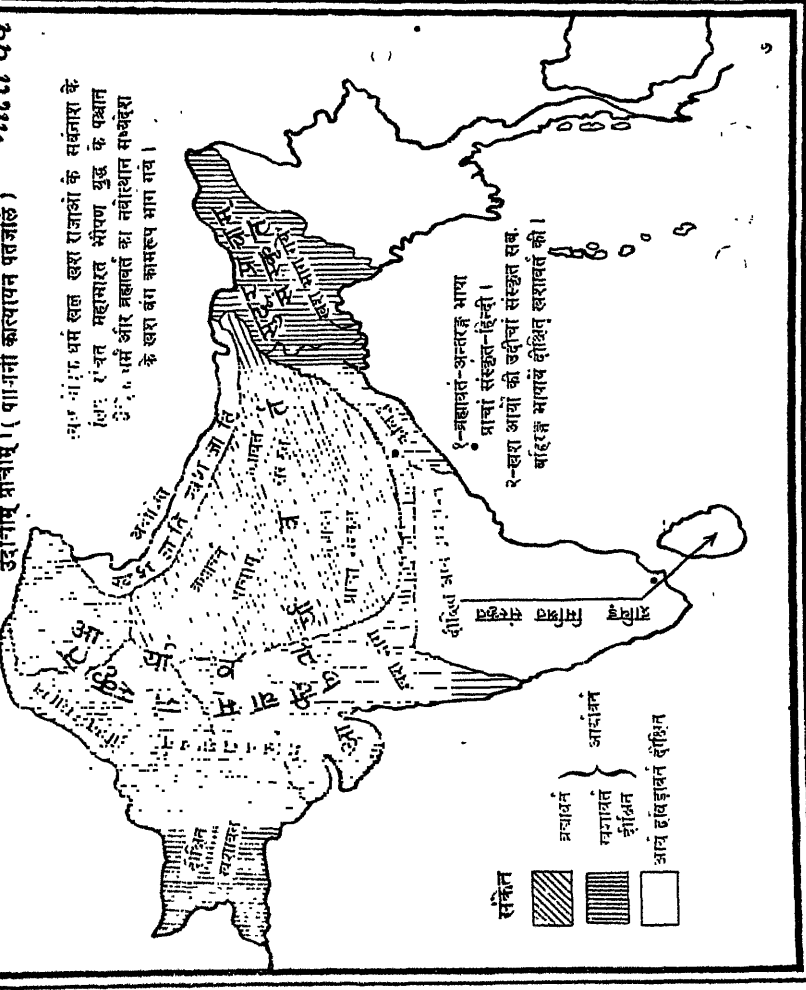
(नैपाल की तराई छोड़कर) ब्रह्मावर्त नाम से पुकारा जाने लगा। ब्रह्मावर्त को अलग करके आर्यावर्त का जो भाग शेष रहता है उसे खशावर्त समझिये। 'हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये···आर्यावर्तं विदुर्बुधाः' 'सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्···ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते' (मनुस्मृति अध्याय २)। ब्रह्मावर्त शब्द की एक नई व्याख्या दी जाय तो शायद कुछ लोग चौंकें। वह है 'ब्रह्म आदि-शब्दात् वर्तते धातुप्रयोगपर्यन्तम्'। ब्रह्म + आ + वर्तते। अर्द्ध मागधी और मागधी में वर्त धातु का वाटे वाटा रूप में प्रयोग होता है। इसके प्रयोग तक ब्रह्मावर्त की सीमा है।

(११) महर्षि पाणिनि—प्राचाम् उदीचाम्

महर्षि पाणिनि ने समस्त उत्तर भारत का राजनैतिक तथा भाषा विषयक भूगोल बड़ी दक्षता के साथ उपस्थित किया है। राजनैतिक भूगोल में उन्होंने दो प्रकार के राष्ट्रों के नाम दिये हैं। (१) संघ या गणतन्त्र राज्य—जिनमें छोटे छोटे कई राज्य सम्मिलित थे (२) जनपद—वे राज्य थे जिनमें एक ही प्रजातन्त्र राज्य था, अनेक नहीं। निम्नलिखित संघ या गणतन्त्र राज्यों के नाम हैं :—(१) क्षुद्रक (यूनानी ओखिद्रक) (२) मालव (यू० मल्लोई) (३) अम्बष्ठ (यू० अम्बस्तोनोइ) (४) हस्तिनायण (यू० अस्तकेनोइ), (५) प्रकण्ड (यू० परिकनोइ) आधुनिक परगना (६) मद्र (पंजाब में केकय के उत्तर में) (७) मधुमत्त (आधुनिक मोहंमाण्डस); (८) आप्रीत (यू०—अपर्यतइ), आधुनिक आभरी दिवस, (९) वसाती (यू० ओस्सदि) (१०) भग्ग (११) शिवि (यू० शिवेइ–उशीनर) (१२) अश्वायण (यू० अस्यसिओइ) (१३) अश्वकायण (यू० अस्सकसिओइ) उसकी राजधानी मास्कावती, (यू० मस्समा) (१४) अन्धक (१५) वृष्णि।

जनपदों के नाम—(१) गान्धार, (२) आवन्ती (३) कोशल (४) कुशीनर (५) विदेह; तथा प्राच्य जनपद—(६) मगध, (७) अंग, (८) वंग।

यह बतलाया जा चुका है कि भाषा के दो रूप तो ऋग्वेद के समय में ही पनप चुके थे। तब र, ल और ड ळ सम्बन्धी भेद था, बाद में य, ज और ष, ख का भी भेद चल पड़ा था। अनन्तर काल में व, ब का भी भेद चलने लगा हो, सम्भव है। पर यास्क ने काम्बोज, उदीच्य और प्राच्य तीन प्रकार के धातु और शब्द सम्बन्धी भेद दिये हैं 'शवति का प्रयोग गति अर्थ में काम्बोज में, उदीच्य 'दात्र' कहते हैं तो प्राच्य 'दाति' (काटने का शस्त्र

दराती)। हिन्दी में दाति होना था पर दराती या दातुली मिलता है। पाणिनि जी अब काम्बोजों का नाम नहीं लेते। उन्होंने सैकड़ों धातुओं और शब्दों के दो मुख्य भेद बतलाने के लिये चार शब्दों का प्रयोग किया है। प्राचाम्, उदीचाम्, विभाषा, अन्यतरस्याम्। ये चारों शब्द उनसे व्याख्यात संस्कृत को दो विशिष्ट भागों में बाँट देता है वह है प्राचाम् और उदीचाम्। प्राचाम् शब्द ब्रह्मावर्त का संकेतक है, और उदीचाम् ब्रह्मावर्त छोड़कर शेष उत्तर-पश्चिमी आर्यावर्त या दूसरे शब्दों में यह 'उदीचाम्' उत्तर-पश्चिमी ब्रह्मावर्त का संकेतक है। पाणिनि जी ने सुराष्ट्र, बम्बई, मध्यदेश, बिहार, बङ्गाल की भाषा के बारे में एकदम चुप्पी साधी है। वे इन देशों की भाषा को भी उक्त दो में ही सम्मिलित करते से प्रतीत होते हैं। यदि यह बात है तो पाणिनि जी अवश्यमेव इनकी भाषा को उदीचाम् की भाषा में ही सम्मिलित कर रहे हैं, ब्रह्मावर्त से इनका किसी प्रकार का न मेल रहा, न है।

(१२) उपसंहार, तथा पतञ्जलि के सुराष्ट्र और दाक्षिणात्य

पतञ्जलि जी ने काम्बोजों के बारे में जो लिखा वह तो उन्होंने सीधे सीधे यास्क के निरुक्त की नकल करके लिखा दिया 'शवतिर्गति कर्मा काम्बोजेषु भाष्यते।' इस बात का उनके समय में प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उनके समय में कांम्बोज में यूनानी थे। हाँ उन्होंने जो यह लिखा है कि सुराष्ट्र के लोग रंहति के स्थान में हम्मति बोलते हैं, तथा दाक्षिणात्य तद्धित प्रिय होते हैं, यह अवश्यमेव महत्वपूर्ण वक्तव्य है। 'हम्मति सुराष्ट्रेषु रंहति', 'तद्धित प्रिया हि दाक्षिणात्याः'। ये दो वाक्य सुराष्ट्र तथा महाराष्ट्र को प्राचाम् से पृथक् करने के ही लिये लिखे गये हैं। क्योंकि उक्त वाक्यों की तुलना में वे कहते हैं कि प्राच्य मध्येषु गमिमेव त्वार्या प्रयुञ्जन्ते'। अतः पतञ्जलि जी सुराष्ट्र तथा दाक्षिणात्यों (मध्यदेश, बम्बई, विन्ध्यदेश) की भाषा को प्राचाम् से पृथक् करके 'उदीचाम्' में सम्मिलित कर देते हैं। एक विशेष बात यह है कि पतञ्जलि जी के समय में बोलचाल की भाषा प्राचीन प्राकृत (पाली सदृश) थी, न कि संस्कृत। अतः इनकी प्रामाणिकता केवल 'धातु' प्रयोग रूपी भेद बोधक समझी जानी चाहिये, न यह कि सुराष्ट्र वाले संस्कृत के रूपों में भेद करते थे, वे पृथक् धातु का प्रयोग करते थे बस। यही बात दाक्षिणात्यों के बारे में भी समझनी चाहिये। संस्कृत भाषा में बोलने की विभेदकता की प्रामाणिकता केवल पाणिनि जी की ही मानी जा सकती है, यास्क के समय तो नगण्य भेद था जो गण्यभेद था वह खशों की या काम्बोजों की भाषा से था। इसीलिये वे दाति दात्र दो

उदाहरण देकर छुट्टी पा गये। पाणिनिजी ने तो भेद की खाई की विस्तृत लम्बाई चौड़ाई हजारों रूपों में दे दी है। इतना विशाल भेद, ब्रह्मावर्त और खशावर्त की भाषाओं के भेदों का सूचन करता है, इसमें सन्देह नहीं रह जाता। क्योंकि पाणिनि केवल प्राचाम् और उदीचाम् इन दो शब्दों को कहकर यास्क और पतञ्जलि की तरह बात टाल नहीं देते हैं। वे इन शब्दों के बदले में 'विभाषायाम्' और 'अन्यतरस्याम्' या अन्यतरस्याम् भाषायाम् कहकर, दो भाषाओं के स्पष्ट नाम दे रहे हैं, रूप तो हजारों दे ही रखे हैं। अतः पाणिनि के प्राचाम्, उदीचां शब्द सार्थक और ब्रह्मावर्त, खशावर्त के ही सूचक हैं। यद्यपि पाणिनि जी 'उदीचां' नामक संस्कृत को खशों की भाषा के नाम से नहीं पुकारते हैं, पर भरतमुनि जी उदीचां संस्कृत को स्पष्टतः खश आर्यों और वाह्लीक आर्यों की भाषा बतलाते हैं 'वाह्लीकभाषोदीचानाम् खशानांच स्वदेशजा'। यह अकाट्य प्रमाण उदीचां की संस्कृत को खश आर्यों की संस्कृत सिद्ध कर देता है, जिन्हें भारत में खश नाम से पुकारा गया है उन्हीं को काम्बोज और वाह्लीक में रहते समय क्रम से काम्बोज या वाह्लीक कहते थे, यह बात भी उक्त उल्लेख से सिद्ध होती है। यह तो सिद्ध किया जा चुका है कि म० परशुराम ने वैदिक क्षत्रियों का बध न करके इन्हीं खश क्षत्रियों का संहार किया था। इस बात की पुष्टि एक अन्य भाषा सम्बन्धी अकाट्य प्रमाण से होती है। व्रज, मेरठ बुलन्दशहर के यमुना तीर के देशों में, राजस्थान में, बुन्देल खण्ड में, भागलपुर, गया में, और भूमिहार ब्राह्मणों में, तथा उत्तर प्रदेश में रहने वाली कई जातियों लोहार आदि कायस्थ प्रभृति में, वैदिक 'ल' के स्थान में प्रायः 'र' बोलते हैं। ये लोग हल वरद हल्दी, थाली पाती माला आदि को खशों की तरह हर, वर्द, थरिया, परिया, मारा आदि रूपों में बोलते हैं। इसका विश्लेषण, इन्हें खश आर्य सन्तान माने बिना नहीं हो सकता।

(१३) खश सन्तानें

यदि भारत में केवल वैदिक आर्य सन्तानें होतीं तो उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सम्बन्धी इतने गहरे भेदों का आना कल्पना के बाहर की बात होती। जब खश आर्य यहाँ आये तो उनके साथ ब्राह्मण भी थे। इन खश ब्राह्मणों ने, ब्राह्मणों में नाना भेद की सृष्टि कर दी। ये लोग प्रायः खेतिहर का काम करते रहे अतः मैदानों में इन्हें भूमिहार नाम से पुकारने लगे। कई सरयूपारी ब्राह्मण भी खश हैं, विशेषकर गोरखपुर और बस्ती जिलों के वासी। वे भी हर, थारी, पारी आदि बोलते हैं। कहा जाता है कि म० परशुराम से पीड़ित कुछ खश ब्राह्मण राम की शरण में गये थे और रहने के लिये ४७ गाँव मांगे

थे। भ० राम ने उन्हें ताम्रपत्र के साथ ये गाँव दान में दिये थे। इन खश आर्यों के क्षत्रियों को मनु ने पतित क्षत्रिय कहा है, कुमाऊं में इन्हें जिमदार (ठीक भूमिहार अर्थ है) कहते हैं, ये अपने को छेत्रि कहते हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि वैदिक लोग खश ब्राह्मणों और (पतित) क्षत्रियों को क्षत्रिय न कहकर 'क्षेत्रिय' (खेतिहर) कृषक कहा करते थे। अतः यह 'क्षेत्रिय' शब्द 'क्षत्रिय' शब्द से ध्वन्यनुरूप होते हुये आकाश-पाताल का अन्तर रखता है। जो अपने को छेत्रि कहते हैं वे सब खश आर्य हैं, पञ्जाब के 'खत्री' भी इसी क्षेत्री या क्षेत्रिय खश आर्यों की सन्तानें प्रतीत होती हैं। कुमाऊँ में 'जिमदार' तथा मैदानों का 'भूमिहार' शब्द इसी क्षेत्रिय शब्द के अनुवाद हैं। अतः भारत में क्षत्रियों में भी लाखों भेद हो गये। बाद के यूनानी शक, हूण, गूजर प्रभृति के अभिजनों ने उक्त समस्या उत्तरोत्तर और अधिक जटिल बनाने का ही श्रेय लिया। क्षत्रिय वैदिक हैं, क्षेत्रिय खश आर्य। इसी प्रकार के भेद अन्य वर्णों में, शूद्रों तक में मिलेंगे। कई अन्त्यज गोरे चिट्टे रङ्ग के मिलते हैं उसका कारण भी यही है कि वे सम्भवतः खश आर्य सन्तानें हों।

(१४) आधुनिक आर्य भाषाओं का बीजारोपण (प्राचीन प्राकृत)

पाणिनि और गीता से लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् वि० स० पूर्व ४३४ वर्ष में महावीर जिन और भ० बुद्ध के समय में भारत की परिस्थिति हमें एकदम बदली हुई मिलती है। अंगुत्तर निकाय (१-२१३, ४-२५२, २५६), महावस्तु (२-३) और विनय (२-१४६) नामक बौद्ध ग्रन्थों में हमें उत्तर भारत के निम्नलिखित १६ जनपद दिये हुए मिलते हैं। (१) कोसल (अवध) (२) अंग (भागलपुर) (३) मगध (गया, पटना) (४) वाज्जी (वैशाली गंडकी के पूर्व उत्तर बिहार केन्द्र था वर्तमान 'वेसार') (५) मल्ल (कुशीनगर कसिया गोरखपुर, पडरौना) (६) चेदि (बुन्देलखण्ड) (७) वंश (वत्स, कोसम् प्रयाग से ३८ मील दूर) (८) कुरु (दिल्ली, मेरठ, पूर्वी पंजाब) (९) पांचाल (रुहेलखंड) (१०) मत्स्य (जयपुर, भरतपुर, अलवर) (११) शूरसेन (व्रज) (१२) अस्सक=अश्मक (गोदवारी के किनारे हैदराबाद में, आवन्ती से दक्षिण में) (१३) आवन्ती (मालवा) (१४) गान्धार (उत्तर पश्चिम सीमान्त कश्मीर, तक्षशिला) (१५) काम्बोज (अफगानिस्तान, बलूचिस्तान) (१६) काशी (काशी राज्य, वाराणसी, मिर्जापुर)।

१५. जैनों के भागवती सूत्र में यही जनपद कुछ दूसरे ढंग से दिये हैं। अंग, बंग (वग) मगह (मगध) मलय (मालव) अच्छ, वच्छ (वत्स) कच्छ (कच्छ) पाढ (पण्ड्र या पौंड्र) लाव या राव (लाट) वज्जि (वाज्जि)
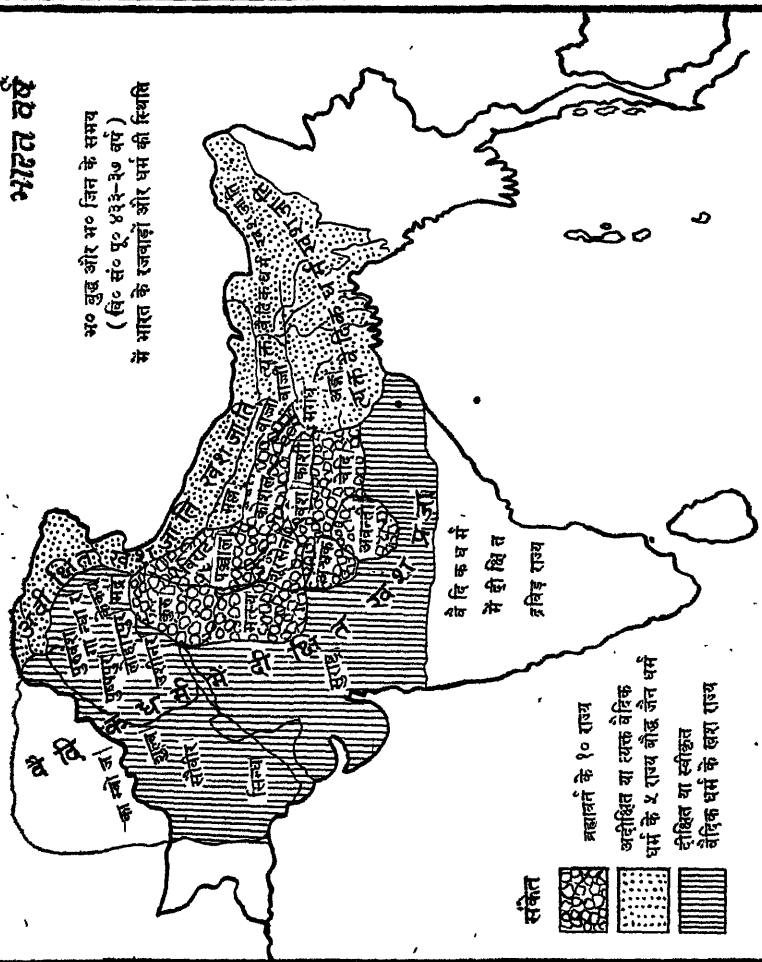
भारत वर्ष
भ० बुद्ध और भ० जिन के समय
(वि० सं० पू० ४३३-३७ वर्ष)
में भारत के रजवाड़ों और धर्म की स्थिति
सौवीर
सिन्धु
पुष्पपुर
लोहापुर
मद्र
उशीनर
कुरु
पञ्चाल
मत्स्य
शूरसेन
कोशल
वंश
काशी
मगध
चेदि
अवन्ती
अङ्ग
सुराष्ट्र
वैदिक धर्म में दीक्षित द्रविड़ राज्य
संकेत
ब्रह्मावर्त के १० राज्य
अदीक्षित या त्यक्त वैदिक धर्म के ५ राज्य बौद्ध जैन धर्म
दीक्षित या स्वीकृत वैदिक धर्म के खश राज्य

मोलि (मल्ल) कासा, कोसल, अवह, सम्भुत्तर (सुम्हात्तर) विदेह, लिच्छिवि, ज्ञात्रिक ।

उक्त जनपदों में से मल्ल, विदेह, लिच्छिवि, वाज्जी ज्ञात्रिक प्रभृति गंडकी और गंगा नदी के क्रम से पूर्व और उत्तर में ८ गणराज्य हैं, अंग, मगध इन दो को मिलाकर इन दशों राष्ट्रों की जनता को और राजाओं को उक्त लेखकों ने वैदिक धर्म से रहित घोषित किया है । इनके पास कोई धर्म न था । ऐसा प्रतीत होता है कि म० भा० के बाद इस ओर वैदिक धर्म प्रचारकों की दाल गलनी बन्द हो गई थी । इनमें से अंग और मगध की जनता को दीक्षा देने का प्रयास विश्वामित्र और भ० कृष्ण दोनों ने किया था । सम्भवतः इन्होंने ब्रह्मावर्त से दूर पड़ने के कारण वैदिक धर्म दीक्षा को धीरे-धीरे भुलाकर एकदम ठुकरा ही दिया । मल्ल, वाज्जी, लिच्छिवि, ज्ञात्रिक गणतन्त्र राज्यों की अधिकांश जनता नैपाल की पर्वत श्रेणी से उतर कर, म० भा० काल के बाद बसी प्रतीत होती है । नैपाल में खश आर्य बसे थे इसमें तो तिल भर सन्देह का स्थान नहीं है । इन्हें वैदिक धर्म में दीक्षित होने का कभी कोई अवसर नहीं मिला था इसमें भी दो मत नहीं हो सकते, क्योंकि ये लोग कश्मीर से सीधे-सीधे पर्वतमालाओं से गुजरते हुए वहां पहुँचे थे, इनका वैदिकों से कहीं सम्पर्क ही नहीं हो पाया । कुमाऊँ, नैपाल में वैदिक धर्म का प्रचार वि० सं० ९०० वर्ष में चन्द राजाओं और उनके ब्राह्मणों के द्वारा हुआ था, नैपाल में उदयपुर के राणाओं के (११०० ई० में) आने से हुआ था । भ० गौतम बुद्ध और म० जिन के समय, अतः उक्त राष्ट्र कोरे अवैदिक खश आर्य थे । वैशाली प्रभृति उक्त ८ गणराज्यों की विलासिता, स्वेच्छाचारिता आदि का जैसा नग्न चित्र बौद्ध जातकों में दिया हुआ मिलता है, वह उनकी राजनैतिक स्थिति (बिगड़ी हुई) तथा नराधम नियमों की प्रस्तुति करने में कम सहायक नहीं है । ऐसी परिस्थिति में हमारे इतिहासकारों ने जो एक लांछनमय मत बना रखा है कि भ० बुद्ध और म० जिन ने वैदिक धर्म के यज्ञों की बलि के विरोध में 'अहिंसा' का शंखनाद किया था, वह सोलह आने झूठ, निरा, कोरा सफेद झूठ है । उक्त दोनों महापुरुषों को तो अपने ही घर को सम्भालना दुशवार हो रहा था । उनके अपने ही राज्यों में सैकड़ों समस्यायें मुँह बाये और फैलाये बैठी थीं । उन्हें अपने ही ब्राह्मणों से निबटना कठिन हो रहा था । उनकी जनता की ही लाखों कठिनाइयाँ भिखारिणी बनी हुई थीं । दूसरी बात उन्हें वैदिकों के सम्पर्क में आने का अवसर ही कब मिला ? जो वे घर में आग लगी छोड़ दूसरे के घर के सुधार में योग देने आते ? वास्तव में उक्त दोनों महा-

पुरुषों ने अपने स्वेच्छाचारी राजा-प्रजा को सन्मार्ग में लाने के लिए ही—बहुत हुआ तो वैदिक राष्ट्रों की धार्मिक भावना की होड़ में ही—अपने-अपने स्थान से—एक ने उत्तर (कपिलवस्तु) से, दूसरे ने दक्षिण विहार (अंग) से—अहिंसा जैसे वैदिक सिद्धान्त के प्रचार की टेर या दुहाई लगाई थी। वैदिकों में तो 'अहिंसा' तत्त्व धर्म का सर्वप्रथम लक्षण तब से सम्मान्य हो गया था जब से सिद्धराट् कपिल ने सांख्ययोग दर्शन की प्रतिष्ठा कर डाली थी। भ० गीता ने अहिंसा को (अध्याय १६-७) सर्वप्रथम धर्म लक्षण माना ही है। इसीलिए बौद्धों और जैनों ने सांख्ययोग को अपना आत्मीय दर्शन बनाये रखा। शेष वैदिक विश्वदर्शन में देखें।

(१६) भगवान् बुद्ध महावीर जिन की लाचारी का अभूतपूर्व परिणाम

भ० बुद्ध और भ० जिन दोनों महापुरुषों की यह अपनी-अपनी कमजोरी थी कि उनकी अपनी अपनी जनता तो स्वभावतः संस्कृत के ज्ञान रूप पहलू से नितान्त अपरिचित रही होगी, इसमें सन्देह करने की गुंजायश भी नहीं हो सकती। अतः लाचारी से दोनों को अपने-अपने प्रवचन अपनी-अपनी मातृभाषाओं में देने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस लाचारी या बाध्यता ने एक बड़ा भारी काम किया। वैदिक या वैदिक धर्म दीक्षित आर्य, कट्टरता से शुद्ध संस्कृत में पठन-पाठन-लेखन कर रहे थे, लौकिक भाषा को वे अपभ्रंश कहकर दुत्कारते रहे। पतञ्जलि जी ने 'गो' शब्द के चार, (गोता, गोणी, गावी, गोपोतोलिका) अपभ्रंश रूप दिये हैं। पर इन्हें ठुकरा दिया है। उक्त दो महापुरुषों ने लाचारी ही से क्यों न हो लौकिक भाषा को प्रवचनों, ग्रन्थों और व्याख्यानों में स्थान देकर, भारतीय भाषाओं के इतिहास में एक स्वर्णाङ्कित नवीन अध्याय खोल दिया। यदि अधिक न खले, तो, यह दावा करने में भी संकोच नहीं हो सकता कि, यदि संस्कृत के साहित्य में वैदिक आर्य आगे-आगे चलते दिखाई पड़ते हैं तो लौकिक भाषाओं के क्षेत्र में सर्वप्रथम साहित्य का सूत्रपात, खश आर्य भाषाओं में ही निश्चयपूर्वक हुआ। भ० बुद्ध की अपनी भाषा पल्लीकी (नगर की) भाषा को पाली कहा तो भ० जिन की प्राकृतों की (जनता की) भाषा को प्राकृत नाम दिया। इन दोनों धर्मों के समस्त प्राचीन ग्रन्थ इन्हीं दो प्राचीन लौकिक खश आर्य भाषाओं में लिखित अङ्कित और प्राप्त हैं। पाली प्रारम्भ में एक प्रकार की अर्द्धमागधी रही होगी पर बाद की पाली शौरसेनी और उज्जयिनी की प्राकृत में है। जैन प्राकृत मागधी में है, इस प्रकार जब संस्कृत के साहित्य का सूर्य

भारत वर्ष
दाक्षिणात्य भाषायें
संकेत
हिन्दी अन्तरङ्ग वैदिक
अस्ति भाषा 'वर्त' भाषा
बहिरङ्ग प्रान्तीय
खश 'अच्छ' भाषायें
बहिरङ्ग खश 'अच्छ' भाषायें
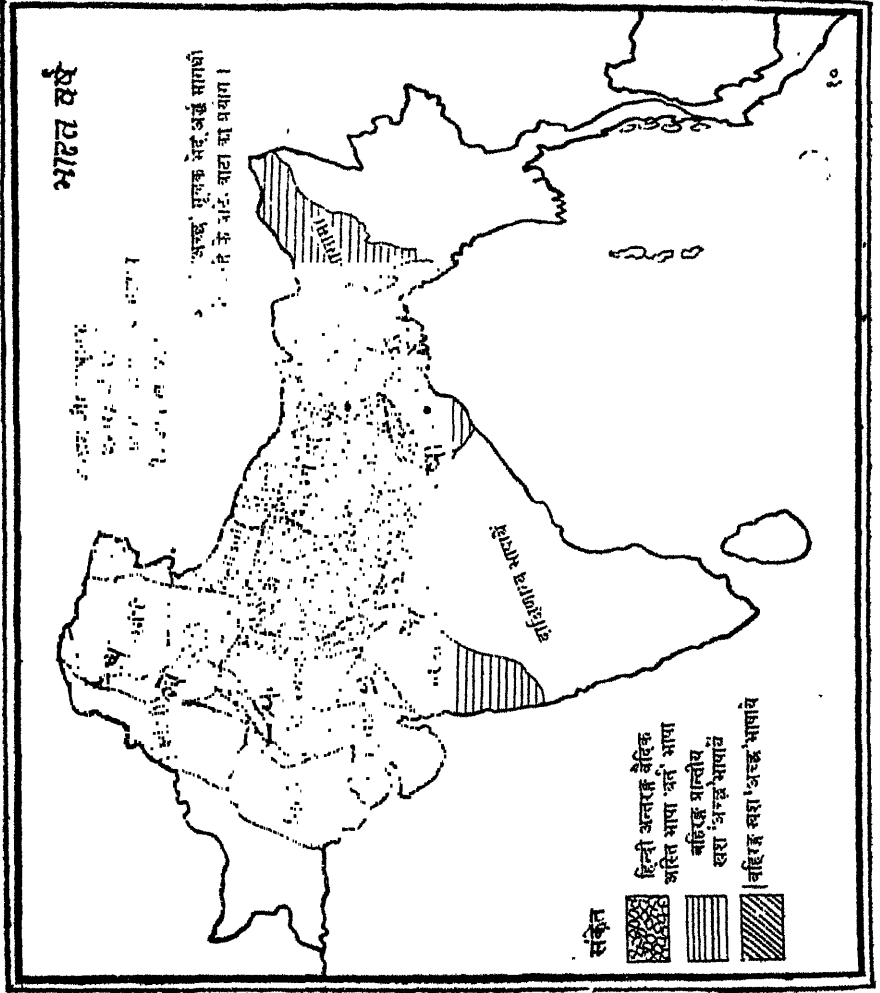
पश्चिमोत्तर से उदित होता है तो वर्तमान आर्य भाषाओं के बीज रूप साहित्य के सूर्य का अभ्युदय सचमुच सुदूर पूर्व से ही संगत रूप से होता है। अन्त में मन से यह बात निकाल फेंक देने की आवश्यकता है कि लौकिक खश आर्य भाषा को साहित्यिक या राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक रूप देने में संस्कृत के सामने एक प्रतिपक्षिणी भाषा स्थापन करने के उद्देश्य की कोई भावना जड़ में किसी के मन न कभी उठी, न रही, न थी। यह सब लाचारी के कारण अपने आप स्वभावतः हो पड़ा।

१७. यद्यपि लौकिक खश आर्य भाषाओं को साहित्य का स्वरूप भ० बुद्ध और म० जिन ने वि० सं० पूर्व ३३४ में देना आरम्भ कर दिया था पर उसके प्रामाणिक स्वरूप का अंकन हमें अशोक के शिलालेखों तथा अन्य राजाओं के शिलालेखों में मिलता है। भास के नाटकों की प्राकृतों को वैदिक आर्य संस्कृत की लौकिक प्राकृतों का स्वरूप मानना अनुपयुक्त न होगा। पर इन नाटकों की प्राकृतों का अभी किसी ने इस दृष्टिकोण से अध्ययन ही नहीं किया है। शेष ग्रन्थकारों ने चाहे वे बौद्ध हों या जैन या वैदिक आर्य सन्तान या वैदिक धर्म दीक्षित खश आर्य सन्तान, सबने खिचड़ी प्राकृत में लिखा है या नकली प्राकृत में। वैयाकरणों में से सबसे पहिले इस ओर चन्द (वि० सं० पू० १०० वर्ष) का ध्यान आकर्षित हुआ था, उन्होंने प्राकृत व्याकरण सबसे पहिले लिखा। तदनन्तर वि० सं० १५० में वररुचिजी ने और वि० सं० ५५० में भामह ने प्राकृत व्याकरण लिखे। सिद्ध हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण आधुनिक आर्य भाषाओं की सन्धिकाल का लिखा गया ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है। इसमें प्राचीन हिन्दी या अपभ्रंश का बहुत विस्तृत विवरण दिया हुआ मिलता है, साथ में इनकी देशी नाममाला कम महत्त्व की नहीं है। लक्ष्मीधर शर्मा ने प्राकृत सर्वस्व नामक ग्रन्थ में अपभ्रंश के लगभग २६ उपनिवेश बतलाये हैं जिनमें से एक 'वोट' भी है जिसका हम अल्मोड़े मण्डल के 'भोट' से तादात्म्य कर सकते हैं। डा० ग्रियर्सन ने इस 'वोट' शब्द का तादात्म्य तिब्बत से कर दिया है। पर यह असंगत है क्योंकि तिब्बत कभी भी आर्य भाषा का क्षेत्र रहा ही नहीं है। लक्ष्मीदत्त शर्मा ने प्राकृत प्रकाश की भूमिका में (विद्याविलास प्रेस, बनारस १९२६) 'ऐकार बहुलं खशा' कहकर कोई भी स्पष्ट लक्षण देने का प्रयास नहीं किया है।

१८. आपको आश्चर्य न हो तो, यह कहना अक्षरशः सत्य है कि पूर्वोक्त सभी प्राकृतों के व्याकरण लेखकों ने केवल उन्हीं प्राकृतों की व्याख्या दी है जो उत्तर प्रदेश, मालवा, पटना, गया, भागलपुर तक में बोली जाती रही। ये हैं पाञ्चाली, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, मागधी, आवन्ती। महाराष्ट्री

किस देश की भाषा है इसका इन लोगों में से किसी ने भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। तब प्रश्न उठता है कि गान्धार, नैपाल, कुमाऊँ, काश्मीर, पञ्जाब, राजस्थान, सुराष्ट्र, बुन्देलखण्ड, मध्यदेश, बंग कामरूप तथा खश आर्यों के ६ गणराज्यों की (अङ्ग, मगध छोड़कर) कौन सी प्राकृत थी? क्या इन देशों में प्राकृत थी ही नहीं या संस्कृत ही थी (असम्भव है)। प्रत्युत कुछ लोगों ने यह भी लिख डाला है कि 'कथा सरित्सागर' का मौलिक संस्करण भूतभाषा में या पैशाची भाषा में लिखा गया था। प्रश्न यह उठता है कि ऐसे विद्वान् की भाषा को किस जाति या देश की भाषा समझा जावे? इन सब बातों का विश्लेषण 'कुमाउनी का मूल स्रोत' नामक अगले प्रकरण में देखिये।

है । अल्मोड़े मण्डल का केन्द्रीय परगन्ना खासपर्जा कहलाता है जो खशप्रजा (खश खेतिहर) से निकला हुआ शब्द स्पष्टतः है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त कुमाऊँ की भाषा, तथा समानान्तर में गढ़वाली, काश्मीरी, हिमाचलीया, नैपाली, गुजराती, बंगीया, मराठी आदि भाषायें शुद्धरूप से उस भारोपीय संस्कृत का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिस संस्कृत को वैदिक लोग वाह्लीक, संस्कृत और यास्क, काम्बोज संस्कृत कहते रहे, और जिस काम्बोज संस्कृत और बाह्लीक संस्कृत को पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, भरतमुनि 'उदीचां संस्कृत' कहते रहे तथा जिस संस्कृत को मनुजी आर्यावर्त की भाषा कहते रहे (ब्रह्मावर्त की भाषा वैदिक रही) ।

जब मध्ययुग के प्राकृत के व्याकरण लेखकों के ग्रन्थों को देखते हैं तो चन्द (१०० वि० सं० पू०), वररुचि २५० वि० सं० और भामह ५५० वि० सं० तो हमें खश नाम की भाषा का कहीं उल्लेख किया हुआ नहीं मिलता । इनके समय तक खश आर्य अवश्यमेव कुमाऊँ की पर्वतमालाओं में बस चुके थे । और उक्त लेखकों को इसका ज्ञान भी रहा होगा, पर खश भाषा की जानकारी न होने से वे इस भाषा का विवरण देने में असमर्थ रहे होंगे, अतः उन्होंने अपने अज्ञान को मुहरबन्द रखने के निमित्त इनकी भाषा का उल्लेख तक नहीं किया होगा । इसके अतिरिक्त दूसरा कोई कारण दृष्टिपथ में नहीं उतरता । पर लक्ष्मीधर ने पैशाची भाषा के अपभ्रंशों के उपनिवेशों का विवरण प्रस्तुत करते हुये, एक उपनिवेश का नाम 'बोट' दिया है जिसका तादात्म्य कुमाऊँ के 'भोट' देश (जोहार, दारमा, परगन्ना) से निश्चितरूप से किया जा सकता है । डा० ग्रियर्सन ने इस 'वोट' को 'तिब्बत' माना है यह अनुचित है क्योंकि तिब्बत कभी भी आर्यभाषा का क्षेत्र नहीं रहा । श्री लक्ष्मीदत्त शर्मा द्वारा सम्पादित प्राकृत प्रकाश[1] (१९२९) की भूमिका के संकलन में 'एकार बहुलं खशा' उद्धृत वाक्य से कोई विशेष महत्वपूर्ण बात का उल्लेख नहीं हुआ है । यह वक्तव्य भाषाशास्त्र की दृष्टि से बहुत स्थूल और थोथा सा है । इन सब बातों से यह निष्कर्ष अवश्य निकल आता है कि मध्ययुग के व्याकरण लेखकों के समय में कुमाउनी तथा उसकी समीपवर्ती प्राकृतों या अपभ्रंशों में उतना 'उल्लेखनीय भेद नहीं था, जितना आजकल दृष्टिगत होता है, उन दिनों उनका भेद विभाषा स्वरूप में अधिकतया रहा होगा, और उन्होंने आवन्ती, महाराष्ट्री और वैदर्भी, के व्याख्यान से इसका भी व्याख्यान हो गया सा समझा होगा,

---

१. चौखम्बा संस्कृत सीरीज द्वारा १९२९ में प्रकाशित ।

अतः नामोल्लेख नहीं किया। लक्ष्मीदत्त शर्मा का उल्लेख इस बात की पुष्टि जैसी करता है। इनकी समझ से खश भाषा में केवल 'ऐकार' ध्वनिमात्र का मूल भेद है, शब्द, धातु और वाक्यों की रचना का क्रम, यही उनका मुख्य आशय सा स्पष्टतः लगता भी है।

अब चौथे ढंग से—भाषा तत्व शास्त्र' की दृष्टि से—पूर्वोक्त परिणामों की पूर्णतः परीक्षा प्रस्तुत कर लें। भाषातत्वशास्त्र और भाषाविज्ञान के माध्यम और मानदण्ड को हाथ में लेकर कुमाउनी भाषा के विषय सामग्री को तोलने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जावेगा कि कुमाउनी की मूल जननी भारोपीय भाषा है। कुमाउनी की सम्पूर्ण व्याकरण सम्बद्ध व्याख्या तबतक नितान्त असम्भव हो जाती है जबतक हम इसके भारोपीय भाषा से निःसृत मानकर इसके प्रत्येक पहलू का सम्बन्ध भारोपीय भाषा की समानान्तर रेखा में न देख लें, तभी इसकी समुचित व्याख्या की जा सकती है अन्यथा नहीं। कुमाउनी भाषा की अधिकांश और आवश्यक शब्दावली का सीधा सम्बन्ध भारोपीय भाषा की शब्दावली से सुतरां स्थापित सा है। इसके प्रत्येक शब्द की ध्वनियों को हम तब से अबतक तारतम्य से समानान्तर रेखा में सुरक्षित भी पाते हैं। उक्त शब्द और उनकी अभीष्ट ध्वनियाँ सब संस्कृत भाषा के शब्दों और ध्वनियों से शतशः मेल भी खाती है। निम्नलिखित उदाहरण उक्त उक्तियों की पुष्टि करने में सफल होंगे। भौछ, हौछ—सं० भवति (हुआ); हुण, हुन—सं० भवति; (होना) प्रा० होन्ति; जाण' (जाना) सं० यान्ति, यानं; गयुं (गया)—सं० गतः; बोलाण, ब्वोलाण (बोलना, झगड़ना) प्रा० वोल्लई, सं० ब्रवीति; खाणु (खाना) सं० खादति; पिणु (पीना) सं० पिबति; कूण, कून (कहना) सं० कथन; उठण (उठना) प्रा० उठ्वइ—सं० उत्तिष्ठति; विशेषणों के इ और ओ प्रत्यय संस्कृत के अक, इक, और प्राकृत के अओ, इओ से निकले हैं। सर्वनामों में से को (कौन) सं० कः; तु (तुम) सं० त्वम्; मी मि मैं (मैं) सं० अहम्; यो (यह) सं० यः, यस, कस, तस, (ऐसा कैसा तैसा) सं० ईदृश, कीदृश, तादृश, । सं० ष्ट = थ, ट = ड; र्म = म आदि।

तुलनात्मक भाषा विज्ञान से प्रस्तुत प्रमाणों से यह पता लगता है कि अपभ्रंश की परिस्थिति में हिन्दी क्षेत्र के भाषाभाषी जब संस्कृत के अस् और भू धातु का प्रचुर मात्रा में प्रयोग 'है, हैगा होता होगो' रूपों में करते रहे, तब दूसरे सम्प्रदाय की भाषायें उसके स्थान में 'अच्छ' धातु के छ छे छू आछे आचे आदि रूपों को अधिकता से काम में लाते रहे, यद्यपि दोनों वर्ग वाले दोनों धातुओं को आवश्यकीय अभिव्यक्तियों में समय-समय पर काम में लाते

रहे। 'अच्छ्' धातु संस्कृत में 'अच्छ्' और 'स्वच्छ्' (साफ शुद्ध अर्थ) में प्रयुक्त मिलता है। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि 'अच्छ्' धातु का अधिक प्रयोग प्रायः बहिरङ्ग भाषाओं में—बंगाली, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, नेपाली, गढ़वाली और कुमाउनी में—ही पाया जाता है, साथ में इनमें 'अस' और 'भू' (ब्रह्मावर्त में अधिक प्रचलित) धातु भी प्रयुक्त होते हैं। बड़े खेद की बात है कि मध्ययुग के व्याकरणों में, या संस्कृत के व्याकरणों में इस प्रकार के विभेद की जागृति की कोई भी सूचना दी हुई नहीं मिलती। इसका एक ही कारण यह समझ में आता है कि उक्त 'अच्छ्' बहुल क्षेत्र वालों ने कोई प्राकृत या संस्कृत का व्याकरण न लिखा होगा। अधिकांश ग्रन्थों का निर्माण ब्रह्मावर्त में या ब्रह्मावर्त संस्कृति प्रधान विद्यापीठों में ही हुआ। अथवा उन लेखकों ने इस भेद को प्रमुखता न दी हो, या न जान पाया हो। अतः यह माने बिना नहीं रहा जाता कि 'अच्छ्' धातु का बाहुल्य 'उदीचाम्' की भाषा में रहा होगा, जो महाभारत काल में गुजरात और बंगाल तक पहुँच गया। 'अच्छ्' धातु दो अर्थों में प्रयुक्त होता रहा। (१) सत्ता वाचक, (२) स्वीकृति वाचक। सत्ता वाचक का होना सभी को विदित है, पर स्वीकृति वाचक 'अच्छ्' धातु की ओर अभी तक किसी विद्वान् का ध्यान तक नहीं गया है। उत्तर भारतीय भाषाओं में एक बहुत प्रचलित शब्द 'अच्छा' है जिसके माने 'सुन्दर स्वच्छ' तथा 'हाँ' दोनों होता है। 'स्वीकृति' या 'हाँ' वाचक 'अच्छा' शब्द आज्ञा में 'अच्छतात्' से निकला प्रतीत होता है। 'हाँ' शब्द 'हुंकृति' वाचक 'हुँ' का 'हाँ' है। इससे प्रतीत होता है कि 'अच्छ्' का वैदिक आर्यों में 'स्वीकृति' अर्थ में अधिक प्रयोग होता रहा और अवैदिकों में 'सत्ता' अर्थ में। कुमाऊ में यह स्वीकृत्यर्थ वाचक शब्द 'आछ्' और 'होय' (अस्तु अस्तात् अच्छतात्) और हुँ हाँ (हुंकृति वाचक) तीनों रूपों में प्रयुक्त मिलता है, पर प्राधान्य 'सत्ता' अर्थ में है। दूसरी बात यह है कि ये धातु अपभ्रंश काल से पूरक धातुओं के रूप में सर्वत्र प्रयुक्त होने लगे थे, तब तक इनके संस्कृत और प्राकृत के रूप अधिक तद्भवता के कारण, अति सूक्ष्म होने से, भावप्रकाशन में अपूर्ण से लगने लग गये थे। अतः पूरक योजना युग में, प्रत्येक क्षेत्र में 'अस्' 'भू' और 'अच्छ्' में से उसने जोर पकड़ा जिसको उस क्षेत्र में बोलचाल में स्वतः प्राधान्य मिला हुआ था, यह प्राधान्य संस्कृत की कर्म वाचक या भाववाचक शैली के रूप में संस्कृत और प्राकृत दोनों युगों में प्रचलित रहा जैसे 'गतमस्ति' 'गतोऽस्मि' गतोह्नि दूसरी ओर 'गतमच्छाति' 'गतोऽच्छामि' 'गतोच्छिः' और गतं वर्तते गतोवते गम्+इलो+वर्त=गइलबाटे आदि रूप (अर्द्ध मागधी) आदि। तीसरी बात यह है कि कुमाउनी, राजस्थानी, गुजराती,

भारत वर्ष
शक संवत् से प्राकृत भाषाओं की स्थिति
शकाद की महाराष्ट्री खशावर्तीय
भाषाओं का प्रतीक।
ख श
प्रा कृ त
पाञ्चाली
शौरसेनी
अर्द्धमागधी
आवन्ती
वैदर्भी
सुदूर
पूर्व मागधी
प्राकृत
म हा रा
प्रा कृ तें
द्रविड़ मिश्रित
आर्य द्रविड़
प्राकृतें
संकेत
ब्रह्मावर्तीय ५ प्राकृतें
दीक्षित खशावर्तीय महाराष्ट्री प्राकृतें
अदीक्षित खश, बौद्ध-जैन प्राकृतें
अदीक्षित शुद्ध खश प्राकृतें
'महाराष्ट्र' शकों का अपने राष्ट्र का रखा हुआ नाम
प्रतीत होता है, उसी को (उनके महाराष्ट्र को) भाषा
'महाराष्ट्री' कही गई होगी या यह नाम खशावर्त
सूचक रहा होगा वररुचि, चन्द्र ने उसी को 'महाराष्ट्री'
नाम देकर व्याख्यान किया।
९
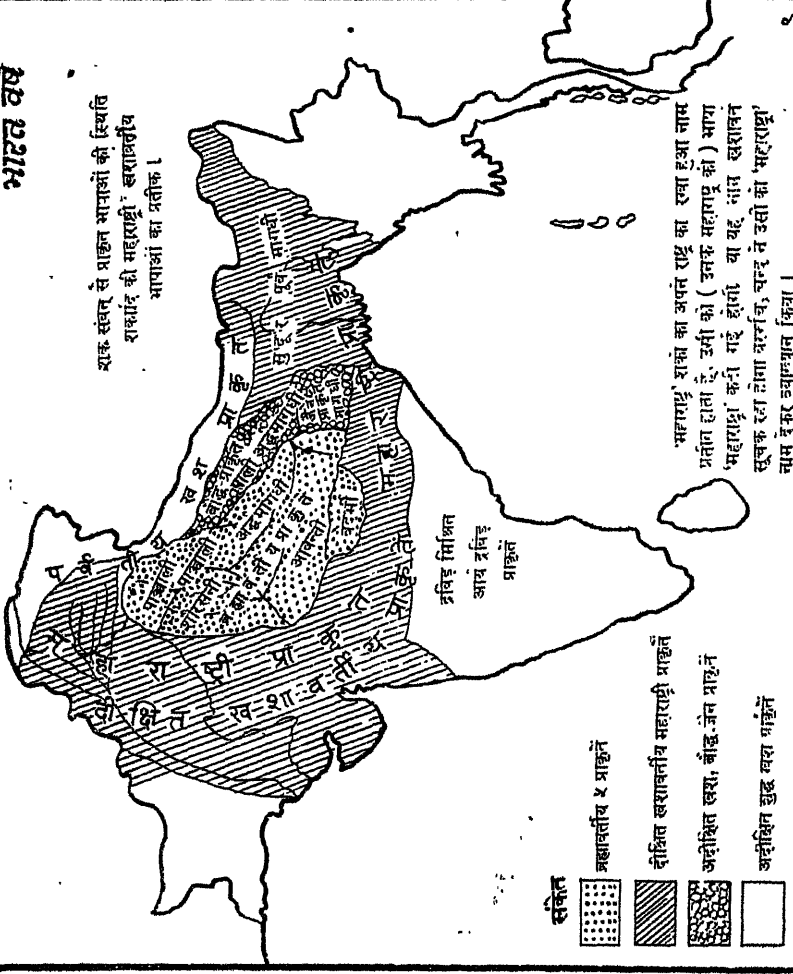
बंगाली और आसामी भाषाओं की पूर्व प्रतिनिधि, प्राकृत वैयाकरणों की व्याख्यात प्राकृतों में से एक भी नहीं है। शूरसेनी से ब्रज, अर्द्ध मागधी से अवधी बाटे बाटा बहुल, मागधी से पूर्वी हिन्दी (बिहार भागलपुर मैथिली), वैदर्भी से दक्षिणी हिन्दी (बुन्देल खंड अवन्ती की हिन्दी), पाञ्चाली से पश्चिमी हिन्दी (दिल्ली मेरठ रुहेलखंडी) निकली। इन्हीं का प्राकृत वैयाकरणों ने विवेचन दिया है। बंगाली लोग अपनी भाषा की उत्पत्ति यदि मागधी से मानते हैं तो पटना गया भागलपुर की पूर्वी हिन्दी किससे निकली है ? जिससे यह हिन्दी निकली है उसी से बंगाली का उत्पन्न होना नितान्त असम्भव है। 'पाटलिपुत्र' मौर्य वंश के समय से यद्यपि बौद्ध धर्मचक्र का केन्द्र था, पर विद्यापीठ हो जाने के कारण वैदिक संस्कृति का प्रच्छन्न केन्द्र बन गया था, क्योंकि विद्या तो तब वैदिकों की ही बपौती थी। इसी प्रभाव से यह पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र बना। बंगाली, बाणासुर की जाति की सुदूर पूर्वी वंगीय प्राकृत से निकली है, इसे सुदूर पूर्वीय मागधी भी कह सकते हैं। इसके माने बिना विहारी हिन्दी और बंगाली के स्पष्ट और गम्भीर भेदों की उपपत्ति की ही नहीं जा सकती। गुजराती हैहय-वंशी सहस्रार्जुन की प्रजा की प्राकृत से निकली है, राजस्थानी खशाधीन यदुवंशी और खश प्रजा की प्राकृत से तथा कुमाउनी खश आर्यों की प्राकृत से। वैसे ये सब खश आर्य सन्तानों की ही पृथक् देशीय प्राकृतें हैं। यही इनके मौलिक साम्य का मुख्य कारण है। मराठी में भी अच्छ् धातु का माध्यमिक प्रयोग है। इसमें द्रविड़ भाषा तत्व का कुछ अधिक सम्मिश्रण हो चुका है अतः 'अच्छ्' का प्रयोग अतिस्पष्ट झलकता नहीं; है अवश्य, कहने का तात्पर्य यह है कि मराठी भी खश आर्य सन्तानों की प्राकृत से निकल कर द्रविड भाषा तत्व सम्मिश्रित है।

२. सच सच में कहा जाय तो प्रकृत वैयाकरणों की महाराष्ट्री प्राकृत मराठी की जननी सूचक न होकर महाराष्ट्र या आर्यावर्त की प्राकृत है। इस आर्यावर्त में ब्रह्मावर्त की शेष सब प्राकृतों को पृथक् किया गया है। इसीलिए वैयाकरणों ने महाराष्ट्री की व्याख्या सबसे अधिक दी है। इसमें समस्त बहिरंग भाषाओं की प्राकृतों के लक्षणों का विवेचन समझना चाहिए। महाराष्ट्र और ब्रह्मावर्तरहित आर्यावर्त एक ही वस्तु है, महाराष्ट्री उसी की भाषा है। अन्यथा यदि महाराष्ट्री केवल मराठी की जननी होती तो उसमें मराठी के 'इकड़े' 'तिकड़े' आदि रूपों की व्युत्पत्ति अवश्य दी हुई मिलती। इस मौलिक तत्व के विवेचन की असत्ता महाराष्ट्री को ब्रह्मावर्त रहित आर्यावर्त की या महाराष्ट्र की या खश आर्य प्रधान

बहिरङ्ग क्षेत्र की भाषा घोषित कर देता है। इसी महाराष्ट्री में बंगाली, गुजराती, राजस्थानी, कश्मीरी, गढ़वाली, कुमाउनी, नेपाली, मराठी के मौलिक प्राकृतों को एक रूप में या सामान्य रूप में वर्णित किया गया है। महाराष्ट्री को छोड़कर शेष सब प्राकृत ब्रह्मावर्तीय प्राकृत हैं, वैदिकों की सन्तानों की प्राकृतें हैं, या वे हैं जो देश पूर्णरूपेण वैदिक बन गये थे। भाषा भी वैदिकों की अपना चुके थे जैसे बुन्देलखंडी (वैदर्भी)। 'राष्ट्र' शब्द वैदिक है 'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यो शूरो इषव्यो' आदि। यहाँ 'आ राष्ट्रे' शब्द का प्रयोग है। जब शकों ने भारत के उत्तर-पश्चिमी और दक्षिणी भाग में अपना राज्य स्थापित किया तो उन्होंने अपना केन्द्र बम्बई प्रान्त बनाया था। उनके राज्य में काश्मीर, पञ्जाब, सिन्ध, गुजरात, राजस्थान, मध्यदेश, बम्बई और दक्षिणी बिहार सम्मिलित थे। इन सब देशों को उन्होंने 'महाराष्ट्र' नाम दिया होगा। इसी की भाषा को प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री नाम भी दिया होगा। अन्यथा 'महाराष्ट्र' शब्द केवल बम्बई प्रान्त का वाचक किसी प्रकार जचता नहीं। जब दूसरे लोगों ने शकों को जीता तो उनका इतना बड़ा महाराष्ट्र केवल बम्बई प्रान्त में सीमित रह गया अतः वे उसी सीमित बम्बई प्रान्त को 'महाराष्ट्र' पुराने नाम से कहते रहे होंगे। यही बात इस शब्द के भ्रम का मुख्य कारण है। अतः ऐसे सीमित महाराष्ट्र अर्थ वाले शब्द से मराठी शब्द निकला होगा। बड़े सौभाग्य की बात है कि लक्ष्मीधर ने प्राकृतों के अपभ्रंशों के क्षेत्रों को गिनते समय उत्तर भारत में प्रचलित प्रायः सभी अपभ्रंश भाषाओं के क्षेत्रों की गिनती स्पष्टतः कर दी है (प्राकृतसर्वस्व)। पर आश्चर्य यह है कि उन्होंने इन अपभ्रंशों को पैशाची अपभ्रंश कहा है। लक्ष्मीधर ने बड़ी चतुराई से ब्रह्मावर्त में पैशाची अपभ्रंश का कोई क्षेत्र नहीं दिया है इसका क्या तात्पर्य है? लक्ष्मीधर का मुख्य उद्देश्य यह था कि वे अन्तरंग और बहिरंग भाषाओं के विभिन्न भेदों को प्रस्तुत कर दें। उन्होंने इन्हें खशआर्य भाषा क्षेत्र की अपभ्रंश कहने के स्थान में पैशाची अपभ्रंश नाम देकर एक पन्थ दो काज कर दिये हैं। पैशाची शब्द यहाँ खोखला है आर्यवर्ग भेद सूचकमात्र है। सिद्ध हेमचन्द्र ने पश्चिमी अपभ्रंशों का केवल विवेचन ही नहीं दे दिया है, प्रत्युत तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश साहित्य का भी उल्लेख करके हमें कृतार्थ कर दिया है। अन्त में यह भी ध्यान न उतारा जाय कि ब्रह्मावर्तीय लेखक, कश्मीरी भाषा को भी 'भूतभाषा' कहने में जरा भी नहीं हिचके हैं। अतः वस्तुस्थिति स्वतः स्पष्ट है।

यह उल्लेखनीय बात है कि हिन्दी, राजस्थानी, सिन्धी, गुजराती मराठी और लांहदी सभी आधुनिक आर्यभाषाओं ने भारोपीय या संस्कृत के 'न' को प्राकृतों के समय में 'ण' में परिवर्तित कर लिया था। उसके स्थान में अब 'ड़ँ' का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार उक्त भाषाओं ने सं० और प्रा० 'ण' को एक दम खो दिया है, पर 'न' सुरक्षित बना है। परन्तु केवल कुमाउनी और बंगाली में सं० और प्रा के न, और 'ण' प्रायः सुरक्षित हैं, साथ में कई स्थलों में प्रा० 'ण' को इन्होंने भी 'ड़ँ' के रूप में परिवर्तित करके रखा है। 'भाण' (वर्तन) 'बाण' (भाग) भाण्ड बण्टन सं० भाँड़ (भाँण) खाँड़ुँ (खाना) बाँड़ँ—सं० वहन (हल जोतना) बाड़ सं० बण्ट (चारों ओर का घेरा)। कुमाउनी में सं० 'क्ष' का रूप प्रायः 'ख' बन गया है पर नये स्वीकृत तत्सम शब्दों में यह 'छ' के रूप में भी मिलता है आँख–अक्षि, कोख–कुक्षि, खार-क्षार, पर छार-क्षार, छुरि-क्षुरिका (नवीन स्वीकृत तत्सम शब्दों द्वारा हिन्दी के प्रभाव युक्त)। संस्कृत के अनुनासिक + अघोष क प त च ट भी इसमें सुरक्षित प्रायः हैं—दाँत-दन्त ताँत-तन्तु (चमड़े की डोरी), कामँड़ुँ–कम्पन (काँपना) काण्–कण्टक (काँटा) आदि। सं० 'र्त' माटो–मृत्तिका, मरँड़ँ–मृत (मरना) के रूप में विद्यमान है। इन कोटियों में कुमाउनी का मेल, बंगाली, मराठी उड़िया, पञ्जाबी, नैपाली और सिंहली भाषाओं से खाता है। सं० के प्रत्यय इय, प्रा० इअ, के विकास क्रम में कुमाउनी, भाषा, हिन्दी, गुजराती, लाहदी, सिन्धी से समता रखती है तो अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं से भेद क्योंकि इनमें सं० 'इय' प्रा० 'इअ' का रूप 'इअ' हो गया है। दारदिक भाषाओं में सं० 'क्ष' का विकास 'छ' में हुआ है, अतः इस कोटि में कुमाउनी उनसे भिन्नता रखती है, पर इनमें और कुमाउनी में 'र्त' का रूप उक्त वर्णित सा होने पर इस पक्ष की समता बतलाता है। दारदिक भाषाओं में सं० 'इय' का 'इअ' हुआ है अतः उनसे इस कोटि में भी स्पष्ट विभिन्नता है। यही बात मारवाड़ी में भी है, मराठी में सं० क्ष का छ और क्ष का अ; इय का इअ है, अतः इन बातों में कुमाउनी उनसे भिन्नता रखती है। अर्द्ध मागधी में सं० र्त का 'अट', बंगाली में 'ट्ट' बना है, अतः कुमाउनी उक्त भाषाओं से इनकी समता रखती है। पञ्जाबी भाषा में प्राकृत के ह्रस्व स्वर युक्त दीर्घ व्यञ्जन सुरक्षित पाये जाते हैं। मात्ता—मात्ता (प्रा०) मातृ सं० पर कुमाउनी और नैपाली में इनका रूप 'मात्' है, यह भी तत्सम शब्दों की स्वीकृति द्वारा, पञ्जाबी में यह तत्सम स्वीकृति कुछ पूर्वकालीन या प्राकृत युगीय सी प्रतीत होती है। पूर्वी हिन्दी में प्रा० के 'ड' और 'ड्ड' का प्रतिनि-

धित्व र और ड़ करते हैं, ऐसा ही कुमाउनी में भी है। कुमाउनी के सम्बन्ध कारक की विभक्तियाँ को, का, क, हिन्दी के, 'का के की' की समानान्तर रेखा में अलग-अलग विकसित हुई हैं। कुमाउनी ने राजस्थानी, गुजराती, उड़िया और नैपाली के समान मूर्द्धन्य सं० 'ल' को तो सुरक्षित ही रखा है, पर साथ में अकेले कुमाउनी ने वैदिक 'ळ' की ध्वनि को काला 'ल' के रूप में प्रचुरता से सुरक्षित रखा है। कुमाउनी में घर्षित व्यञ्जन च छ ज झ भी मराठी और हिन्दी के समान मिलते हैं। भविष्यत्काल सूचक 'ल' विभक्ति में कुमाउनी की गुजराती से पटरी बैठती है। कारकों के प्रातिपदिकों में विशेषकर बहुवचन में कुमाउनी में अन्त में आ, औ, ओ लगते हैं परन्तु बंगाली, मराठी, सिन्धी, गुजराती में केवल 'आ' ही आता है 'ओ' और 'औ' नहीं। प्राकृत युगीय द्वित्व व्यञ्जन पञ्जाबी में सुरक्षित है, कुमाउनी ने उनमें से एक को गलाकर उसके पूर्व स्वर को दीर्घ कर लिया है। जैसे चेलो प्रा० चेल्ल (पुत्र), पर हिन्दी में चेला—प्रा० चेल्ला सं० चेटकः मराठी में यही 'चेड़े' हो गया है। सं० 'क्लृस' का 'ल' भी कुमाउनी में (ळ) काला 'ल' के रूप में अब तक विद्यमान है— 'कळिप् रौछ' (बहुत तरस रहा है)। शिक्षितों में हिन्दी के प्रभाव से इसका ह्रास होता चला जा रहा है।

कुमाउनी ही एक ऐसी परम भाग्यशालिनी भाषा है, जिसमें आज तक वैदिक और संस्कृत के तीनों महाप्राण व्यञ्जन श ष स पूर्ण रूप से सुरक्षित मिलते हैं, यदि आश्चर्य न हो तो विसर्ग : का जो उच्चारण रहा होगा उसका एक स्वरूप भी खुले 'ह' के रूप में (जो प्रयत्न में 'स' होता है) अब तक इसमें उपलब्ध है। पर भारत की सभी आर्य भाषाओं ने प्राकृत युग में सं० श ष स को केवल दन्त्य 'स' में परिवर्तित कर दिया था, यह किसी से छिपा नहीं है, केवल मागधी ने कुछ स्थलों में 'श' (तालव्य श) को बचा रखा था या यों कहिये कि वह दन्त्य 'स' को भी तालव्य 'श' ही बोलती रही, दो तो (ष स) इसमें भी नष्टप्राय रहे।

३. पूर्वोक्त विस्तृत विवरण से यह बिलकुल स्पष्ट है कि कुमाउनी की यदि किसी आधुनिक आर्य भाषा से सबसे कम समता है तो वह है 'राजस्थानी', व्रज से तो कुमाउनी की समता प्रायः नहीं के बराबर है। इस पर भी डा० ग्रियर्सन ने जो यह कह डाला कि कुमाउनी भाषा राजस्थानी से निकली है यह वक्तव्य नख से शिख तक नितान्त अवैज्ञानिक और निराधार है, जैसा कि कुछ परिच्छेद पूर्व कहा जा चुका है। हां कुमाउनी की अधिक समतायें गुजराती और बंगाली से हैं।

इसका यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि ये समतायें किसी भाषा को एक दूसरे से निकली सिद्ध करती हैं। ये समतायें यह सिद्ध करती हैं कि इन भाषाओं की जननी या मातामह्‍ो एक थी, बस। ये समतायें इनकी मौलिक भाषा के वे मौलिक तत्व हैं जिनको इन सबने अपनी अपनी वर्तमान विकासावस्था तक पूर्णरूप से सुरक्षित रख रखा है। इनमें जो-जो विषमतायें हैं वे वे तत्व हैं जो इनके दीर्घकालीन पार्थक्य से अपने आप विकसित होकर नवीन धाराग्राही विकास का रूप लेने में समर्थ हुए हैं। इन विषमताओं में भी किसी की किसी से अनुरूपता है; किसी की किसी दूसरी से, जिन्हें हम स्वाभाविक विकास प्रवाह की एकरूपता कह सकते हैं। किसी ने किसी विकास में प्राधान्य रखा, किसी ने किसी दूसरे विकास में। इनकी अधिकता में कई के प्राधान्यमूलक विकास अनुरूपता में ढले तो कई के प्राधान्यमूलक विकास दूसरे की अनुरूपता में। इनकी यही विभिन्न अनुरूपतायें ही इनकी विषमता की भी जननी बनीं। फलतः इनमें से कोई भी भाषा किसी एक दूसरे से नहीं निकली है। ये सब केवल एक ही भाषा से निकली हैं। उस आदि की, इनकी मूल भाषा को चाहे प्राकृत कहें या संस्कृत या वैदिक संस्कृत, या काम्बोज संस्कृत या उदीच्य संस्कृत या आर्यावर्तीय संस्कृत (ब्रह्मावर्तीय नहीं) या वाह्लीक संस्कृत या भारत पारसीक संस्कृत या भारोपीय संस्कृत। प्राकृतों में इन सबकी जननी महाराष्ट्रीय प्राकृत या आर्यावर्तीय प्राकृत (ब्रह्मावर्तीय प्राकृत छोड़कर) मानना अधिक संगत होगा, तथा अपभ्रंशों में तो सब उपनिवेश इन्हीं आर्य भाषाओं के उपनिवेश हैं, जिन्हें पैशाची नाम देकर विद्वानों को भ्रम में डाल रखा है, यह कहा जा चुका है।

४. कुमाउनी की शब्दावली का स्रोत

भाषा जाति की सभ्यता है। सभ्यता, जागृति, संसर्ग और उन्नति से विकसित होते हुये भाषा के भी विकास की जननी बनती है। कुमाउनी का मेरुदण्ड, मुख्य शरीर और दिव्य शरीर भारोपीय भाषा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करते चला आ रहा है। अतः सभी सर्वनाम, अधिकांश धातु, तथा उन धातुओं से बनी संज्ञायें, मूल संज्ञायें—जिनमें घरेलू सम्बन्ध वाचक, घरेलू कार्य के वस्तुओं के वाचक, पशु जाति वाचक, पक्षी जाति वाचक, कीट जाति वाचक, धान्य जाति वाचक, फल जाति वाचक, शाक जाति वाचक, खाद्य जाति वाचक, शरीरांग वाचक, व्यवहार आचार-विचार वाचक, संख्या वाचक, रङ्ग वाचक, धातु (स्वर्णादि) वाचक, भाव वाचक, गुण वाचक,

विशेषण वाचक, कर्म वाचक, क्रिया वाचक, व्यक्ति वाचकादि सब शब्द सम्मिलित हैं—सबके सब भारोपीय भाषा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। ये शब्द प्राकृतों और अपभ्रंशों में क्रमशः रूपान्तर धारण करते हुए अब अन्तिम विकासावस्था में परिणत होकर नवीन सा रूप लिये हुए हैं। अबकी उक्त कुमाउनी शब्दावली तद्भव रूप में विद्यमान है, यद्यपि आज कल कई तत्सम शब्दों का भी समाहार किया जा रहा है।

कुमाउनी के अपने निर्मित शब्दों में सैकड़ों शब्द अनुकृतिमूलक हैं, जिनमें से सबको भारोपीय भाषा से उत्पन्न नहीं कहा जा सकता। इनका निर्माण प्राकृत या अपभ्रंश युग में हुआ होगा। कुछ ऐसे शब्द अथर्ववेद में पाये जाते हैं, पर पाली और प्राकृतों ने इनकी संख्या को पर्याप्त मात्रा में बढ़ा चढ़ा लिया था। कुमाउनी ने, अन्य भारतीय भाषाओं की तरह, इन्हें और अधिक बढ़ा लिया है, जिनमें से कुछ को इसने उनकी भाषाओं से स्वीकार कर लिया है जो इस देश में राज्य या वास करने आये या सम्पर्क में रहे। कुमाउनी ने कई अन्त-र्भाषायी शब्दों को भी अपना लिया है, जिनमें से इसके पड़ोसी तिब्बती, नैपाली और गढ़वाली शब्दों को मुख्यता दी जा सकती है, मैदान से आई जातियों के थोड़े प्रभाव के कारण उनसे प्राप्त अल्प संख्या के शब्दों को गौणता।

खश आर्य जाति के प्रवेश के पहले, कुमाऊँ में मुण्डा जाति और सम्भवतः कई द्रविड़ जाति के लोग बिखरे पड़े थे, अतः कई अनार्य शब्द भी कुमाउनी में मिलते हैं। खुट-पाँव, ख्वर-शिर, पोको-गुदा, डप्पू-पैसे रुपये, डङार-पशु और फरसा, डाड़-रोना आदि ऐसे शब्द हैं।

जब हम शब्द व्युत्पत्ति की ओर ध्यान देते हैं तो कई ऐसे शब्द मिल पड़ते हैं जिनको विजातीय लोगों से गलत सुन या समझ कर अशुद्ध रूप में गृहीत किया गया है। जैसे वखत-वक्त, हिन्दुस्तान-हिन्दुस्थान-सिन्धुस्थान, मुकरड-मुकर्रर, मुकर्दम-मुकद्दमा, ये सब शब्द गलत सुन या समझ कर अपनाये गये हैं। ऐसे ही अंग्रेजी के दन्तमूलीय त द थ आदि को सारे भारत में मूर्द्धन्य ट ड ठ जैसा कहा लिखा और पढ़ा जाता है। यह अनभिज्ञता के कारण हुआ है। कभी-कभी उच्चारण सुनते समय, वर्ग परिवर्तन, महाप्राण की जगह अल्प प्राण तथा इसका उलटा सा लगता है जिससे शब्द को अविशुद्ध रूप में गृहीत किया जाता है, ऐसे उदाहरण सभी भाषाओं में मिलते हैं।

राजनीतिक व्यवहार की प्रचुरता से कुमाउनी में कई अंग्रेजी, फारसी के शब्दों ने स्थान पा लिया है—मोटर, रेल, कार, टिकट, अर्जी, इस्कूल, मदर्सा, कालेज, कौपी, पेन्सिल, इस्टाम, जल्दी, हाइकोट, सीशन जज, तसिल्दार, कानूनगो, गवाही, बयान आदि।

५. कुमाउनी की विभाषाएँ

सम्भवतः भारतवर्ष का कोई भाषायी क्षेत्र, उतनी स्पष्टता से अपनी विभाषाओं में विभक्त न मिलेगा जितनी सफाई से कुमाउनी की विभाषायें एक दूसरे से कटी हैं। विशेषता तब आधिक्य को आत्मसात् करती है जब हम इन भाषायी विभाजनों को राजनैतिक टुकड़ों में परस्पर तादात्म्य करते पाते हैं। अल्मोड़े और नैनीताल के बड़े राजनीतिक टुकड़े परगने कहलाते हैं, और प्रायः प्रत्येक परगने में एक अलग विभाषा बोली जाती है। ये परगने या तो पर्वत की चोटियों से विभक्त हैं या नदियों की रेखाओं से। आजकल कुछ राजनीतिक परगनों में थोड़ा उलट फेर कर दिया गया है, जिससे प्राचीन भाषायी विभाजन तादात्म्य करने में असमर्थ है, अतः प्रत्येक विभाषा की पृथक्-पृथक् सीमा देना आवश्यक हो गया है।

(१) भोटिया—विभाषा दो परगनों में जोहार और दारमा में बोली जाती है। परन्तु दक्षिणी जोहार के पूर्वी भाग में 'सोर्याली' और दक्षिण-पश्चिमी भाग में दनपुरिया बोली जाती है। एक बात यह है कि 'भोटिया' विभाषा के दो भेद हैं (क) जोहारी—जोहार परगने की (ख) दर्मियाँ—दारमा परगने की। दोनों में थोड़ा बहुत अन्तर है ही।

(२) अस्कोटी—अस्कोट परगने में बोली जाती है।

(३) सोर्याली—परगना सोर, दक्षिण जोहार तथा पूर्वी गंगोली परगने में।

(४) दनपुरिया—परगना दानापुर की तीन पट्टियों और नाकुरी पट्टी में। इस परगने से कत्यूर की तीन पट्टियाँ और दुग पट्टी अलग हो जाती हैं।

(५) गंगोई या 'गङोई'—परगना गंगोली, पट्टी दुग (दानापुर परगने की) तथा पट्टी कमस्यार (बारामण्डल की पट्टी) में। पर इस गंगोली के पूर्वी भाग में सोर्याली चलती है।

(६) चौगर्खिया—परगना चौगर्खा में।

(७) सीर्याली—परगना सीरा में।

(८) कुमय्याँ—परगना काली कुमाऊ तथा इसके नैनीताल से मिले भागों में।

(९) पछाईं—परगना पालीपछाउँ में।

(१०) फल्दाकोटी—परगना फल्दाकोट तथा इससे मिले नैनीताल के भाग में।

(११) खासपर्जीया—परगना बारामण्डल, कत्यूर में, कमस्यार को छोड़कर।

(१२) नैणतलिया—नैनीताल, भीमताल, काठगोदाम, हल्द्वानी के क्षेत्रों में।

(१३) चौभैंसिया—नैनीताल जिले के दक्षिणपूर्वी पर्वतीय भागों में।

(१४) भावरी—नैनीताल जिले की तराई में टनकपुर से काशीपुर तक।

सूचना—ये तो हैं स्थूल भेद, वैसे प्रत्येक पट्टी की विभाषा में कुछ न कुछ विशेषता मिलती है, कहीं-कहीं एक ही पट्टी में ब्राह्मणों (वैदिकों) की अलग भाषा है अवैदिकों की दूसरी। कभी-कभी ऐसा भेद गाँव-गाँव में भी मिल जाता है। पर यहाँ प्राधान्य से व्यपदेश किये गये हैं।

६. विभाषाओं का वर्गीकरण

चाहे विभाषा कोई भी हो, कुमांउनी का समस्त क्षेत्र, सर्वप्रथम दो मूल विभागों में स्पष्टता से विभाजित है। ये विभाजन वैदिक काल से आज तक मौलिक तत्वों का संरक्षण करते हुए, वैदिकों (९०० वि० सं० के पश्चात् आये हुए लोगों) की और अवैदिकों के (खशों के) स्वीकृत उच्चारणों के आधार पर स्वभावतः ढले हैं। खश जनता वैदिक 'ल' के स्थान में 'र' बोलती है जिसके उदाहरण पहिले दिये जा चुके हैं। यह विभाजन तब और अधिक तीव्रता और स्पष्टता का रूप धारण कर लेता है, जब हम वैदिकों के आदि मध्य और अन्त स्थानीय दन्त्य या तालव्य 'स' का उच्चारण, महाप्राण 'ह' के समान किया जाता हुआ सुनकर चकित हुये बिना नहीं रह सकते। यह 'ह' सदृश उच्चारण प्रयत्न में 'स' है पर बिलकुल खुला 'स' है जिससे वैदिकों का उच्चरित 'शाग' (शाक-सब्जी) शब्द खश आर्यों के मुँह से 'हाग' सा सुनाई पड़ता है। आज कल की शिक्षित खश जाति इस उच्चारण को हीन समझ कर और हिन्दी के अध्ययन के प्रभाव से त्यागती जा रही है। यह विभाजन पूरे कुमाऊँ में सर्वत्र फैला है।

दूसरा विभाजन कुमाउनी के ऊपरी धरातल पर आधुनिक विकास रूप में स्पष्ट प्रतिबिम्बित दिखलाई पड़ता है। यह विभाजन अनुनासिक सम्बन्धी है। भोटिया लोग 'ण' के 'ङँ' का प्रयोग नहीं कर पाते, वे इन ध्वनियों के स्थान में दन्त्य 'न' का उच्चारण करते हैं। 'लुण' (नमक) या 'लुँङ' को वे 'नून' कहते हैं। ये लोग आदि में 'ल' का उच्चारण भी चीनी या जापानियों की तरह नहीं कर सकते। चीनी जापानी 'ल' के स्थान में 'र' का आदेश करते हैं पर ये 'न' का। सीर्याली, सोर्याली, अस्कोटी चौगर्खिया, कुमय्याँ और पूर्वी गंगोलीहाट में 'ल' को 'न' तो अधिक नहीं बोला जाता, पर अन्य विभाषाओं के ण या ङँ के स्थान पर नित्य 'न' का उच्चारण किया जाता है।

यह धातु प्रत्यय 'णु' और संज्ञाओं में विशेष करके मिलता है, पर धातु रूपों में ये भी 'ड़ँ' का प्रयोग करते ही हैं। इन विभाषाओं में मूर्द्धन्य 'ण' भी कठिनाई से मिलता है, शेषों में प्रायः अधिक मात्रा में। उदाहरण में किकूँड़ौछ-किकूँनौछ—(क्या कह रहा है); खाँड़ँ-खानु (खाना) जाँड़ँ-जानु (जाना); भाणा—भाँड़ाँ-भाना (भोजन वर्तन), बाणा-बाँड़ाँ-बाना (बाँट भाग), मरँड़ँ-मरन-मंन (मरना); माणा-माँड़ँ-मान (माँड़ना, पाव) (खेत में धानों को उनके पौधों से अलग करने के लिये पावों से माड़ना।)

तीन विभाषायें, खासपर्जीया, फल्दाकोटी और पछाई में वैदिक या संस्कृत के अन्तिम स्वरों का और प्राकृतादिकों की शब्दान्त ध्वनियों का लोप हो गया है। परन्तु गङ्गोई, चौगर्खिया, कुमय्याँ, दनपुरिया भावरी और नैणतलिया में उक्त ध्वनियाँ प्रायः सुरक्षित सी बनी चली आ रही हैं। इनमें शब्दान्त में नये स्वरों की सृष्टि हो गई है, जो दीर्घ और ह्रस्व दोनों हैं। मैं (माता) गैं (गाकर) कैं हैं (कह दिया) कइ हालो आदि। विभाषाओं के पृथक् पृथक् भेदों के लक्षणों में, 'अस्ति' 'भू' 'अच्छ' और 'लागि' धातु के अनन्त प्रकार के विकासों की ध्वनियाँ मुख्यतः हैं, साथ में स्वरों और व्यञ्जनों की स्थान भिन्नता, उच्चारण भिन्नता, शब्दों की स्वरूप भिन्नता तथा धातुओं के रूपों की भिन्नता सामान्यतः हैं। भू और अस् धातु के रूपों में, 'भयो' भौ, भो, भे, भय, भया, हौ, हय, हुन, हुण आदि अलग-अलग स्थलों में प्रचलित हैं 'अच्छ' के रूपों में छ्, छ, छ, छिं, छि, छन, छैं, छिन, छैंछ आदि हैं।

पूर्वोक्त विभाजनों को दृष्टि पथ में रखते हुये हम कुमाउनी के पूर्ण क्षेत्र को तीन मुख्य भागों में बाँट सकते हैं। (१) उत्तर पूर्वीय कुमाउनी जिसमें 'ण' के 'ड़ँ' को 'न' बोला जाता है 'ल' को 'न'। (२) पश्चिमी कुमाउनी जिसमें दन्त्य 'न' प्राप्त है, पर अन्तिम स्वरों का लोप करते हैं। (३) केन्द्रीय और दक्षिणी कुमाउनी जिसमें प्राचीन और नवीन अन्त्य स्वर सुरक्षित मिलते हैं।

कुमाउनी के बारे में एक और बड़ी विचित्र बात है। कुमाउनी को जिस रूप में बोला जाता है, उसके तद्रूप में लिखा नहीं जाता। लिखित कुमाउनी सदा अपने पूर्व रूप का प्रतिनिधित्व करती है। यह पूर्वरूप लगभग ५० से १०० वर्ष पुराना स्वरूप होता है। अतः जब उच्चरित कुमाउनी अपने आज का पूर्ण विकसित रूप का प्रतिनिधित्व करती है तो लिखित कुमाउनी अपने पूर्व रूप या ऐतिहासिक स्वरूप का। पूर्व रूप या लिखित कुमाउनी में अन्तिम स्वर पूर्ण रूप से सुरक्षित मिलते हैं, जिनको कई विभाषाओं ने या तो ह्रस्व या अति ह्रस्व या लुप्त कर दिया है। उच्चरित कुमाउनी ने कई संसर्गित स्वरों

में सन्धि करके नये स्वरों का निर्माण कर लिया है, पर लिखित कुमाउनी में उन संसर्गित स्वरों को ज्यों का त्यों साथ-साथ लिखा जाता है। विभक्तियों और धातुओं में भी यह परिपाटी बहुत अन्तर प्रदर्शित करके भाषा विज्ञान के अध्ययन वालों की सहायता करती है।

लिखित–हुई जालो–पठित–'है· जाल', या 'हैः जा·लो' (हो जावेगा) "कई थई कई दिया"–'कैः थैः कैः दिया' (किसी से कह देना)।

७. गङ्गोई या गङोई के मुख्य लक्षण

गङ्गोई विभाषा मेरी मातृ भाषा है। यह केन्द्रीय कुमाउनी है। यद्यपि मेरा परगना दानपुर है, पर मेरी पट्टी की विभाषा दनपुरिया बोली से भिन्न है। यह दुग पट्टी, भाषा विभाजन में गंगोई में ही आती है। इस विभाषा के निम्न लिखित मुख्य लक्षण हैं।

पहिले खासपर्जीया और गंगोई के भेदों को सुनिये—(१) गंगोई विभाषा धातुओं और धातु की संज्ञाओं में 'ङ' और 'ण' प्रयोग करती है जब कि खास पर्जीया और पूर्वी उसके स्थान में 'न' का प्रयोग करती हैं। कि कूँङौछ, कि कूनौछ (क्या कह रहा है) भाणा–भाना या भाँड़ाँ (वर्तन)।

(२) गंगोई में जाति परक भाषा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है, वैदिक ब्राह्मण 'ल' या 'ळ' का 'व' बोलते हैं तो खश जाति के उसके स्थान में 'र'। खास पर्जीया आदि में ऐसा कम देखने में आता है, दनपुरिया और भोटिया में वैदिकों ने भी 'र' रूप अपना लिया है।

(३) गंगोई के अन्तिम स्वर बहुत सूक्ष्म होते जा रहे हैं, पर खास पर्जीया आदि में, ऐसी सूक्ष्मता कम देखने को मिलती है। खेति–खेति (खेती फसल)।

(४) गंगोई ने प्रायः प्राचीन कुमाउनी के अन्तिम स्वरों को या तो ह्रस्व कर दिया है या एकदम खो दिया है, पर खास पर्जीया आदि ने उन्हें अब तक सुरक्षित रखा है। परन्तु गंगोई ने शब्दान्त में नये स्वरों का निर्माण करके उक्त कमी को आवश्यकता से अधिक पूर्ण कर लिया है। च्यल—चेलो, क्यव—केलो (पुत्र, केला)।

(५) गंगोई ने पुरानी कुमाउनी के द्विस्वरों का ऐक्य कर डाला है पर अन्य विभाषाओं में विशेष करके खासपर्जीयादि में वे द्विस्वर अब तक सुरक्षित मिलते हैं। कै हालौ—कइ हाइलौ छ, केइ हाइलो छ (कह दिया है)।

(६) गंगोई में स्वरभक्ति का बहुत अधिक प्रचार है, पर अन्य विभाषाओं में वह इतनी मात्रा में नहीं मिलती। क्यव क्याव या क्यावा—केलो, क्याला; च्यल, च्याला या च्याल—चेलो चेला च्याला। रैत्ति-रात्ति-(रात्रि, राइत्रि राइत्ति रैत्ति) (प्रातः) ध्वड़ ध्वाड़ ध्वाड़ा; घोड़ो घ्वाड़ा (घोड़ा)।

(७) गंगोई के अन्तिम व्यञ्जन मन्द घातीय हैं, पर अन्य विभाषाओं में पूर्ण घातीय। मन्द घातीय व्यञ्जन अन्त में ह्रस्व 'अ' का उपादान करते हैं।

(८) कहीं कहीं पर गंगोई व्यञ्जनों के प्रयत्न स्थानानुकूल, स्वरों के उच्चारण में भेद ले आती है जैसे पिड़ु को प्युड़ुँ (पीना) सा रूप मिल जाता है, यहाँ व्यञ्जन भक्ति का प्रभाव जितना अधिक है स्वरभक्ति का उतना कम। स्वरभक्ति का अधिक प्रभाव 'प्यँड़ँ'–पिँड़ँ (मां को दूध होना) में अधिक है। यहाँ ओष्ठीय 'प' को तालव्यीय इ का य प्रभावित सा कर रहा है। ऐसा ही 'उ' और 'ओ' का 'व' भी करता है।

(९) गंगोई में मूर्द्धन्य 'ण' मिलता है, अन्य विभाषाओं ने इसे खो दिया है—भाणा–भाड़ाँ या भाना (वर्तन) बाणा–बाड़ाँ या बाना (भाग) आदि।

(१०) गंगोई ने उपधा के वैदिक 'ळ' को स्वरीय व्यञ्जनों द्वारा उत्कोलित कर दिया है, पर खासपर्जीया आदि ने उसे ज्यों का त्यों सँभाल रखा है। केवल खश प्रजा ळ के 'व' के स्थान में 'र' ही का प्रयोग करती है। हव, हर–हल, थाइ थारि–थालि, बाइ बारि बालि (कान के बुन्द)।

(११) गंगोई ने प्राकृत के अइ आई अउ, ओइ, ओए आदि द्विस्वरों को मिला कर एक नया स्वर बना लिया है। खासपर्जीया आदि में इनको अब तक अपना रूप मिल रहा है। ग्यो–गइन, ग्यान–गईन (गया गये) ह्वे–होइ (हाँ) क्वे–कइ (कोई) ल्वे–लोई (धान लोना काटना), ज्वे–जोइ (जोड़ी, स्त्री) गै–गाइ, कौ–कउ (कहो) जैंवेर–जाइवेर (जाकर) खैंवेर–खाइवेर (खा कर)।

(१२) गंगोई ने धातुरूपों को भी संकुचित कर लिया है—छि छया–छिया (थे) मन्नयुं–मनारयूं या मन रयूं या मरणरयूं (मर रहा हूँ) आदि।

(१३) गंगोई ने कई आदि के स्वरों को महाप्राण 'ह' युक्त कर लिया है जो अन्यत्र देखने में नहीं आता—हौर–और; न्हौंति–निहाति (नहीं है) म्हँतारि–महतारि (माँ) म्हैड़ँ–महैंड़ँ (महीना) आदि।

(१४) गंगोई ने 'अच्छ्' धातु को कहीं-कहीं 'ह' में परिवर्तित कर दिया है। खाँड़ौहा ? खानौछा ? (खा रहे हो ?)।

(१५) गंगोई ने संज्ञा और सर्वनाम के आगे लगने वाले सम्बन्धवाचक प्रत्ययों को संक्षिप्त रूप दे दिया है—तुमा यां–तुमार्यां (आपके यहाँ) रमुवाँक्–रमुवा को (राम–का)।

(१६) खासपर्जीया अधिकांश में हिन्दी से प्रभावित हो चुकी है, पर गंगोई अभी तक चोखी विभाषा बनी हुई है, जिससे इसमें कई नवीनतायें तथा खासपर्जीया में कई प्राचीनतायें (हिन्दी के प्रभाव से) सी दिखलाई देती हैं।

गंगोई का भोटिया भाषा से भेद—(१) भोटिया विभाषा गंगोई के अन्तिम 'र' को 'ड़' में परिवर्तित कर देती है। त्यार-त्याड़ (तेरा), हमार-हमाड़ (हमारा), हौर-हौड़ (और दूसरे) आदि।

(२) भोटिया विभाषा गंगोई के कई आदि के स्वरों और अघोष व्यञ्जनों को 'ह' युक्त या सघोष बना लेती है। लेक-ल्हेक (भी), बह्यौबेर-भव्याभेड़ (जाने को तैयार करके)।

(३) भोटिया में गंगोई का 'अच्छ्' धातु 'थि' रूप में परिवर्तित हो गया है। साथ में भोटिया लोग गंगोई के तालव्यों को दन्त्य, और दन्त्यों को तालव्य करके बोलते हैं। उच्याड़-उत्याड़ (कुरेदो) चमच-तमत (चमचा); नाँच-नाँत (नाच)।

(४) भोटिया ने गंगोई के 'कणि' कारक विभक्ति को 'खी' (को) कर लिया है तथा, इस 'खी' का दूसरा रूप 'स' भी हो गया है।

(५) भोटिया ने गंगोई के अधिकांश स्वरों को अनुनासिक प्रभावित बना लिया है, तथा इसके भूतकाल में, गंगोई के भविष्यत्काल का 'ल' प्रत्यय लगता है। खाया-खात्यौं (खाया) तै-तैं (उसको) आदि।

(६) भोटिया ने गंगोई के 'स' को प्रायः 'ह' कर लिया है, सर्वनामों में भी यही प्रथा प्रचलित है। तस-तह (वैसा) कस-कह (कैसा), शाग-हाग (शाक), सासु-हासु (सास)।

(७) भूतकाल में 'अच्छ्' धातु के रूपों में भोटिया ने गंगोई के 'छ्या' 'छि' का 'थ्या' थि, थ्यो, कर लिया है। इसके 'आनथैयों, उड़लथ्यो' (चला गया) रूपों की अनुरूपता कुमय्यों विभाषा से मिलती हैं।

(८) भोटिया विभाषा एक खीचड़ी सी विभाषा है, और प्रायः गंगोई की तोतली भाषा सी लगती है।

अस्कोटी से भेद—

(१) अस्कोटी भी भोटिया की तरह गंगोई के अघोषों को सोष्म सघोष बना लेती है भित्या-विता (बीते)।

(२) अस्कोटी में गंगोई के 'छुँ' (से) की जगह 'थें' खासपर्जीया की तरह प्रयुक्त होता है। और पूर्वकालिक क्रिया सूचक क्रिया में गंगोई के 'वेर' का 'वेरि' बोला जाता है।

(३) शक्यार्थ सूचक गंगोई के 'सकँढ़' के स्थान में अस्कोटी 'चुकनो' का प्रयोग करती है।

(४) गंगोई के 'अपॅढ़' (आप अपना) की जगह अस्कोटी 'अपनो' का प्रयोग करती है।

(५) गंगोई के 'ढ़ँ' के स्थान में यह प्रायः 'न' का प्रयोग करती है।

दनपुरिया से भेद—

(१) दनपुरिया में गंगोई के समस्त धातुरूपों के अन्तिम स्वर को अनुनासिक करके बोला जाता है। कय-कयाँ (कहा) मिलो-मिलनाँ (मिला), विता-विताँ (वीते) गया—यगाँ (गये)। यहाँ पर य और ग का स्थानान्तर भी विचित्रता का ही सूचक है। हाल-हालाँ (डाले) भेज-भजाँ (भेजा) चाय-चयाँ (इच्छा की) आदि।

(२) दनपुरिया ने कई स्थलों में गंगोई के 'ब' को 'प' कर लिया है—बैठा-पैठाँ (आरम्भ किया)।

(३) भूतकाल में दनपुरिया ने आँ प्रत्यय कर लिया है—हुनाँ दिनाँ (गंगोई हुढ़ँ दिढ़ँ ऐसा होना चाहिए)।

(४) उत्तरीय दनपुरिया भोटिया से अधिक प्रभावित है।

(१) सीर्याली से भेद—सीर्याली में गंगोई के 'छि' को 'स्यो' 'छ्यो', थ्यो; 'कणि' को 'सा'; 'छुन' को 'खि'; 'भय' 'भया' को 'भे' और 'लै' को 'ले' कर लिया है। साथ ही साथ गंगोई के 'बैठ' की जगह 'पैठा' 'पर्यो'; सकॅढ़ की जगह 'चुकनो'; 'पैठढ़' की जगह 'पसनो' और ँ ढ़ँ की जगह न कर लिया है।

(२) सोर्याली से भेद—सोर्याली में गंगोई के 'अपँढ़ हुँबिँ' की जगह 'अपनो हुन' (अपने लिए) कहा जाता है, थैं छैं की जगह 'लै' बोला जाता है 'कणि' को 'खिं'; 'र रा री, क का कि को' की जगह 'सा'; 'एकाक' की जगह 'एकस' (एक का); 'म्यार' के स्थान में 'मैस' (मेरा); सर्वनाम; 'जो' 'को' की जगह 'जिनौन'; 'कसै' और 'कै' 'रौछ' की जगह 'पर्यो' (रहा है)। इसमें मुर्द्धन्य 'ण' नहीं के बराबर है। पर यह सोष्मों को अघोष बनाने की ओर प्रवृत्त सी है, 'ढकनो' या ढाकँढ़—ठेकनो (ढक्कन)।

(३) कुमय्याँ से भेद्—इसमें भी मूर्द्धन्य ण नहीं है, काला 'ल' [ळ] भी नहीं है, इसमें सम्बन्ध वाचक कारक विभक्ति में 'सा' का प्रयोग होता है। 'छिया' के स्थान में 'छ्या' का प्रयोग है, 'कणि' की जगह 'खन', 'सित' नई विभक्ति है। सकँड़ की जगह 'सकनो' कहा जाता है। इसमें अन्तिम स्वरों और द्वित्व व्यञ्जनों की सुरक्षा है।

(४) चौगर्खिया से भेद्—इसमें स्वरभक्ति नहीं के बराबर है। इसके प्रा० के अन्तिम स्वर नष्ट हो गये हैं, जांडुँ की जगह 'जो' बोला जाता है; 'छियो' की जगह 'भियो'; 'गयों' की जगह 'गियो' कहा जाता है।

(५) पछाईं से भेद्—पछाईं ने गंगोई के 'मैं' को 'म', 'भौछिय' का हौछिय, हय; 'उति' का 'वति' (वहां); 'लगाय' के स्थान मे 'पठाय'; 'कौड़ँ' को 'कहँलुँ'; 'छुँ थैं' को 'हर्ति' कर लिया है।

(६) फल्दाकोटी से भेद्—फल्दाकोटी ने गंगोई के 'मैं वटिं' को 'माँगिवटि'; 'नानु' को 'नौन' (छोटा, लड़का); 'छुँ थैं' को 'हार्ति'; 'भौछिया' को 'हौछिय' कर रखा है। इसने 'अच्छ' धातु का 'थन्था' द्वित्व कर लिया है—करि थन्था, करौछ (किया है); अघोष का सोष्म—फैट (पैट), दीर्घ का ह्रस्व—जनन (जॉड़ँ); कूल का कौल कर लिया है।

(७) राउ चौभैंसिया—में स्वरभक्ति का अतीव बाहुल्य है। 'ली' को सघोष करके बोला जाता है 'ल्ही' (लिया); गोछ को 'गछ' (गया) कहा जाता है, मनूँड़ँ को मन्यूड़ँ (मनाना) बोला जाता है।

(८) कुमाउनी में पिता को सम्बोधन के लिए जितना आदर भरा 'बौज्यू' शब्द प्राप्त होता है वैसा जगत् भर में किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। इस शब्द का चलन गंगोई और केन्द्रीय कुमाउनी में अधिक है, अन्यत्र इसके स्थान मे 'बाब' शब्द का आदरहीन सा प्रयोग होता है, खासपर्जीया में 'बाबु' कह कर कुछ आदर की ध्वनि मिलती है। 'बौज्यू' शब्द का अर्थ 'पिताजी' है। पर 'बौज्यू' एक शब्द हो गया है, अतः इसमें आदर भाव आत्मसात् सा हो गया है जो 'पिताजी' इन दो शब्दों की सामर्थ्य से बाहर है। माता के लिए इससे अधिक आदरभाव भरा शब्द 'इजा', आर्या शब्द से निकला है जो प्रा० में 'अज्जा' हो गया था। ब्वाःरि—(वधूआर्या,) बौरौंड़ि—(बहूरानी) भी ऐसे ही दुर्लभ आदर सूचक शब्द हैं। ये शब्द तो वैदिक सभ्यता की आदर भावना को आजतक अविच्छिन्न रूप में सुरक्षित करते आ रहे हैं। अन्य किसी भाषा को ऐसा सौभाग्य परम दुर्लभ है।

८. कुमाउनी में साहित्य

आज कुमाउनी बड़ी अभागी है। इसकी शिक्षा किसी भी प्रकार की संस्था में नहीं दी जाती। एक दिन मैं कुमाऊँ के सबसे बड़े लब्ध प्रतिष्ठ और सर्वोच्च पदासीन के पास इस अभागी के पक्ष को लेकर जा पड़ा। उलटी मुँह की खाकर, अपना सा मुँह लेकर हताश लौटना पड़ा। फिर किसी से बात छेड़ने का साहस भी न हुआ। खैर! कुमाउनी कितनी महत्त्वपूर्ण है यह आपको विदित हो चुका है। एक युग था जब यह कुमाउनी लगभग तीन हजार वर्ष तक पाण्डवों के स्वर्गारोहण काल वि० सं० १३०० वर्ष पूर्व से वि० सं० १९५० तक—अविच्छिन्न और अबाध रूप से समस्त कुमाऊँ (अल्मोड़ा नैनीताल गढ़वाल और टिहिरी) की अखण्ड राजभाषा या राष्ट्रभाषा का उज्ज्वल मुकुट पहिने रही। आज से लगभग ३० वर्ष पहिले तक समस्त कुमाऊँ की जनता का अखिल कार्यकलाप, चाहे वह ज्योतिष का हो, आयुर्वेद का हो, गणित का हो, कर्मकाण्ड का हो, धर्म ग्रन्थों का हो, जादू या टोने का हो, तन्त्र मंत्र या जन्त्र का हो, जन्म कुण्डलियों का हो, साँहूकारों के लिखापढ़ी के बही खाते, राजकीय बैनामे, धनपावना पत्र या, लेखा जोखा नाप तोल चिट्ठी पत्री, निमन्त्रण कुछ भी हों, सब कुछ एक मात्र कुमाउनी भाषा में ही होता रहा। जिनके यहां पढ़े लिखे रहे उनके घरों में ऐसे ग्रन्थ और लेखा जोखा अब भी अवश्य मिलेंगे। मेरे ही घर में लगभग १५० वर्ष पूर्व की हस्तलिखित, संस्कृत की कुमाउनी अनुवाद युक्त, या स्वतन्त्र कुमाउनी में लिखित कई पुस्तकें उपलब्ध हैं। चिट्ठी पत्री निमन्त्रण तो आज तक सभी कुमाउनी में ही लिखते हैं। जहाँ दो पर्वतीय मिल गये वे कुमाउनी में बोलने की स्वाभाविक भाव प्रकाशन की लब्ध सुविधा से, उसी में बोलने लग जाते हैं, चाहे जहां भी रहें।

कुमाऊँ में भोजपत्र और ताड़पत्रों के पेड ठंडे और गर्म भागों में प्रचुर-मात्रा में उत्पन्न होते हैं। पर इनमें लिखने पढ़ने में इनका प्रयोग नहीं के बराबर रहा। भोज पत्र को केवल जंत्र वीज आदि के लिए प्रयोग में लाते रहे। कुमाऊँ प्रान्त स्वतः सम्पूर्ण रहा। कागज का उद्योग यहां का कुटीर उद्योग सबसे पहिले आविर्भूत हुआ सा प्रतीत होता है। इस कागज को बहुवा कागज कहते हैं, यह सर्पीना नामक आजकल बहुत प्रसिद्ध जड़ी बूटी की पत्तियों और छाल से निर्मित किया जाता रहा। इस जड़ी बूटी के यहां जंगल के जंगल हैं। सैकड़ों गाँवों का अब भी यह कुटीर उद्योग बना हुआ है। यह पतला और मोटा दो प्रकार का निर्मित किया जाता है।

पतले को दुहरा करके एक ओर लिखा जाता है, मोटे को माँड लगाकर पहिले कड़ा किया जाता है फिर शंख आदि से घोट कर कैंची से काटकर खुली पुस्तकाकार या बंदाकार के पत्र बनाकर लिखाई में प्रयुक्त होता है, ३००,४०० वर्षों तक यह ज्यों का त्यों रहता है। हर्र और आंवले को पकाकर सुहागे का पुट देकर बढ़िया पक्की काली स्याही (मसि), उतीस पेड़ की छाल को पकाकर सुहागे के पुट से लाल स्याही (मसि) तथा किल्मोड़े और हल्दी से पीली स्याही (मसी) बनाई जाती रही है। दफ्तरों में पतला कागज चलता रहा, उसकी मांग दूर दूर देशों तक होती रही, पिछली शताब्दी तक यह कागज लखनऊ आदि कार्यालयों में भी प्रयुक्त होता रहा।

कुमाऊँ का सर्वप्रिय साहित्य लिखित नहीं मौखिक है। यह अमूल्य साहित्य लोकगीत हैं। प्रत्येक बाला या युवा अपनी स्वच्छन्द प्रतिभा और ध्वनि से अपने मनोगत भावों को इन लोकगीतों द्वारा अभिव्यक्त करने को पूर्ण स्वतन्त्र है। कुमाऊँ के प्रत्येक खेत, वन, घाटी, उपत्यका और मार्ग में स्थित अपने अपने काम में जुटे हुये ये नर और नारी अपने अपने आकर्षक लोक गीतों से समस्त पर्वतमाला को प्रेमसागर की ध्वनियों और प्रति ध्वनियों में डुबाये से मग्न से रखते हैं। ये लोकगीत प्रेमियों की सच्ची कहानियों पर निर्मित किये जाते हैं, प्रतिवर्ष नये नये गाने नये नये लय, छन्दादि प्रेम सागर में प्रलय सा मचाते रहते हैं। नया गीत आया पुराना भुलाया। समुद्र की लहरों की तरह ये गीत कभी समाप्त हो ही नहीं सकते। इन गीतों की आड़ में प्रत्येक अपनी भावनाओं का व्यंग भी कर लेता है। प्रेमगीतों के अतिरिक्त देवगीत भी कम नहीं हैं। प्रत्येक गांव में एक या अनेक देवता हैं, उनके गाने मन्दिरों में या झुंड में काम करते हुये—प्रायः गोड़ाई और रोपाई में गाये जाते हैं। इनका एक हुँड़किया प्रतीक दाता का काम करता है। देवी देवताओं की नाराजी भी एक विश्वास है। उनकी तुष्टि के लिए या तो उन देवी देवताओं की या रामायण महाभारत की कथायें एक पटु गायक वक्ता से करायी जाती है, जो एक रात (दो बजे तक) से २, ३, ४, ५, ७ रात तक बराबर चलती हैं। इन्हें घन्याली और जागर कहते हैं। कथायें कुछ गाकर मजीरे ढोलक के साथ, भगार (तान लेने वालों) के साथ कही जाती हैं, कुछ मीठे स्वर में बिना गाये। कुमाऊँ के वीरों और महावीरों के गाने भी, मेलों में झोड़ा नामसे गाये जाते हैं। प्रत्येक देवी देवता के मन्दिर में उन उन के अलग गीत गाये जाते हैं। इनमें से नन्दा देवी तो बहुत प्रसिद्ध है। प्रत्येक त्यौहार और

संस्कार के अलग गीत हैं, जिनके बिना कोई कार्य आरम्भ ही नहीं हो सकता। बैरा और भगनौला, प्रश्न और उत्तर की होड़ में अखण्ड ज्ञान भण्डार की राशि का उद्घाटन करते हैं, इनमें पहेलियाँ और धर्मग्रन्थों के ऋषि मुनियों मानवों दानवों के चरित्रों की उपपत्ति विषयक टेढ़े-मेढ़े जटिल प्रश्न किये जाते हैं; वही उत्तर दे सकता है जिसने पहिले कभी ऐसे ही गुरु से सीखा हो। इसमें दो दल आमने-सामने बैठकर या खड़े होकर सब प्रश्नोत्तर कवितामय कुमाउनी के संगीतों में करते बड़े मनोमुग्धकारी बनते हैं। प्रत्येक प्रकार के उक्त गीतों की ध्वनियाँ लह लय बाजे अलग-अलग हैं। अतः इन्हें सुनने में कोई थकता ही नहीं। बद्रीनाथ, केदारनाथ, कैलाश तीर्थों के नाते विष्णु और शिव पार्वती की कथा प्रत्येक गाता है। इन सबके प्रचार के केन्द्र मेले की भूमि होती रही। मेले की विस्तृत भूमि में प्रत्येक गाँव के लिए एक-एक पर्याप्त स्थान सदा से निश्चित रखा रहता है। अपने-अपने अड्डे में बस कर, एक ओर कुटीर उद्योग का व्यापार मुख्य रूप से चलता है, दूसरी ओर पूर्वोक्त सब सांस्कृतिक संगीतों से वह स्थान या पूर्ण मेले का स्थान समन्ततः गुंजायमान रहता है। प्रत्येक गाँव वाले अपनी-अपनी बड़ी-बड़ी धूनी जलाकर चारों ओर बैठ कर रात को जागते बिताते हैं, प्रत्येक पट्टी में कई या एक-दो वर्ष भर के मुख्य मेले होते हैं, गाँव-गाँव में प्रतिवर्ष दो-चार मेले हो जाते हैं। सबसे प्रसिद्ध वार्षिक मेलों में वागेश्वर का उत्तरायणी के दिन का मेला है, दूसरा जौलजीवि का, तीसरा थल का चौथा देवीधुरा का, पाँचवाँ जागेश्वर का, छठा मासी का। नन्दादेवी के मेलों में अल्मोड़े नगर का मुख्य, कोट का दूसरी श्रेणी, तीसरो गंगोली हाट और भद्रकाली का है। अल्मोड़ा चन्द राजाओं की और कोट कत्यूरी राजाओं की, गंगोली हाट मणकोटी राजाओं की राजधानी होने से प्रसिद्ध होते चले आ रहे हैं। वैसे नन्दा देवी के मेले सैकड़ों गाँवों में होते रहते हैं। नाग पूजा में भीमताल, शिखर, भणार, कालीनाग, धौलीनाग, लोती, सनगाड़ आदि मुख्य स्थान हैं। पर प्रत्येक गाँव में किसी न किसी नाग की पूजा अवश्य होती है, हरु, शैम, नौलिंग बजैण आदि देवता सब नाग देवता हैं। इनके गीत भी अलग-अलग हैं। प्रत्येक स्त्री पुरुष इन गीतों और कथाओं से परिचित हैं। यह सब कुमाऊँ का अलिखित पर सदा अमर साहित्य है। यह सब साहित्य वेदों की तरह कण्ठ परम्परा से आदि काल से आज तक बराबर सुरक्षित होता चला आ रहा है। आगे की ईश्वर जाने; क्योंकि ज्यों-ज्यों शिक्षा बढ़ती जा रही है त्यों-त्यों उक्त सब पहलुओं की परम्परा में क्रमशः ह्रास आता जा रहा है। किस प्रकार इनकी सुरक्षा हो यह जटिल समस्या है।

कुछ वर्षों से, नवरात्रों में या वैशाख, माघ, चैत्र के महीनों में नवरात्र के साथ-साथ श्रीमद्भागवत, देवी भागवत, हरिवंश, शिवपुराण और रामायण की कथायें पुस्तकों से श्लोक पढ़ कर कुमाउनी में समझा कर सुनायी जाने लगी हैं। सत्यनारायण की कथा शुभ अवसर पर, तथा बड़े लोगों के मरने पर गरुड़ पुराण कथा का प्रचार बहुत हो रहा है। किसी भी प्रकार कुमाउनी अभी ऐसे सहित्य से जीवित है।

होली भारतवर्ष का जातीय त्यौहार है। यह अवैदिकों को वैदिक धर्म में ढालने के पुनीत प्रथम दिवस का स्मारक पर्व होते हुये ऋतु परिवर्तन की मस्ती में सना हुआ अपने ढंग का अद्भुत और अनुपम त्यौहार है। यह दिवस छुआछूत भगाने के प्रयत्नों में सबसे प्रथम प्रयास का भी स्मारक है। होली तब तक पूर्णता नहीं पा सकती जब तक अस्पृश्य स्पर्श न किया जावे। प्रत्येक पंचांग में छरड़ी के दिन अस्पृश्य स्पर्श का विधान दिया रहता है। इतनी महत्त्वपूर्ण घटनाओं के एकत्र सम्मेलन के स्मारक इस त्यौहार की जैसी भद्द हो रही है वह दयनीय तथा शोचनीय ही लगती है। होली को जिस प्रकार बड़ी धूम-धाम से एकादशी से द्वितीया तक कुमाऊँ में मनाया जाता है, उस प्रकार सम्भवतः भारतवर्ष भर के किसी प्रान्त या नगर में नहीं। अन्यत्र होली कीचड़ डालने, गाली देने तक सीमित हो गई है; कुमाऊँ में बसन्त पंचमी से बैठी होली का आरम्भ प्रत्येक गाँव में धूनी जमा कर रात ९ बजे से दो बजे तक प्रतिदिन किया जाता है। एकादशी के दिन चीर बाँधकर खड़ी होली (खड़े होकर गाने) का आरम्भ हो जाता है। पाँच दिन तक सब मिलकर घर-घर में जाकर होली खेलते हैं, छठे दिन छरड़ी सातवें दिन भणारा होता है। इस होली में गाने प्रायः कुमाउनी के होते हैं, कई हिन्दी के भी। ये होलियाँ आये दिन, कुमाऊँ की पत्र पत्रिकाओं में प्रायः छपती रहती हैं, नित नई बनती जाती हैं, यह भी मौलिक काव्य रूप होती है, जिसका अधिकांश कंठ परम्परा से चलता है।

कुमाउनी के अलिखित साहित्य की कथा अनन्त और अपार है। कुमाउनी में प्रत्येक गाँव, घर में एक निराला साहित्य 'आण' नाम का प्रचलित है। ये 'आँण' पहेलियाँ हैं। 'एक नान्नानि ब्वारिल् सब परवारकढ़िँ रोवै दिय' 'एक छोटी दुलहिन ने परिवार के सबको रुला दिया' क्या हुआ? 'लालमिर्चा'। 'म्यार गहत निमाड़ त्यार मूठ चिमाड़' 'मेरे गहत (दाल) के दाने समाप्त हुये, पर तेरे ओठ सिकुड़ गये' क्या हुआ? बटुआ (डोरी से सिकुड़ने वाला)। ऐसे 'आण' कुमाउनी में कई हजारों की संख्या में हैं। प्रत्येक ग्रामीण इनको पूछ-पूछ कर मनोविनोद और स्मृति वृद्धि करता है।

शायद इतना बड़ा आणों का भण्डार किसी अन्य भाषा में मिले। यह भी सब अलिखित साहित्य है।

ओह महावरे और लोकोक्तियाँ! इनकी गिनती कौन कर सके! कोई भी कुमाउनी का पटुवक्ता पाँच मिनट की बात में कम से कम पाँच महावरों या लोकोक्तियों का प्रयोग करेगा। भाग्यवश इस ओर गंगादत्त उप्रेती जी ने अपना ध्यान आकर्षित करके लगभग दो हजार महावरों और लोकोक्तियों का एक संग्रह प्रस्तुत करके प्रकाशित किया है। उनके बाद किसी ने उस ओर झांका तक नहीं। अब तक का वर्णित समस्त साहित्य तत्तद् क्षेत्र में जाकर सामग्री जुटाने का तकाजा रखता है। कोई इस क्षेत्र में उतरे तो बहुत कुछ कर सकेगा। यह काम कई जनों के लिए पर्याप्त है। मैंने लन्दन में श्री र० ल० टर्नर महोदय के पास एक हस्तलिखित कुमाउनी कोष देखा है, लेखक कोई अल्मोड़े नगर के अवकाश प्राप्त मण्डलेश्वर हैं; उन्होंने बड़े परिश्रम से उस बृहत्कोष को प्रस्तुत करके टर्नर महोदय को बहुत सस्ते में बेच डाला है। यह ग्रन्थ लगभग १००० हस्तलिखित पीले कागज के पृष्ठों में है, शब्दों के प्रयोग सहित, हिन्दी और अंग्रेजी में अर्थ दिया है।

कुमाउनी में एक बड़े प्रसिद्ध कवि गुमानी पन्त हो चुके हैं। इनके ग्रन्थ का कुछ अंश इंडियन ऐन्टीक्वेरी १९०९ प्र० १७७ में छप चुका है। द० द० शर्मा ने गुमानी पन्त जी की समस्त रचनाओं के संग्रह को गुमानी नीति के नाम से इटावा जिले से छापा है। इसी 'गुमानी नीति' के अन्तर्गत गुमानी काव्य संग्रह भी सम्मिलित है। ओकले महोदय ने कुमाउनी लोकगीतों का एक अंग्रेजी संस्करण लिखा था जिसको उत्तर प्रदेश के शासन ने ला जर्नल प्रेस प्रयाग से मुद्रित किया है। १९१० ई० में इंडियन ऐन्टिक्वेरी ने पुनः कुमाउनी विभाषाओं के विभिन्न स्वरूपों की प्रतीकावली को प्रकाशित किया है। गंगादत्त उप्रेती जी ने कुमाउनी विभाषाओं के विवरणों को प्रस्तुत करने के प्रयास में 'कुमाऊँ की भाषायें' नामक पुस्तक लिखी है, छपी भी है। इन महाशयों (गंगादत्त उप्रेती जी) ने कुमाउनी भाषा के महावरों, लोकोक्तियों और आणों (पहेलियों) का एक सुन्दर संकलन करके मुद्रित किया है। इस ग्रन्थ में कुछ लोकगीतों का भी संग्रह है; अतः बड़े महत्त्व का है। इन्होंने कुमाउनी में एक गद्य ग्रन्थ 'फारस महाराज की रानी' नाम से लिखा है, यह भी छपा हुआ है। भैरव दत्त जोशी जी ने कुमाउनी में एक दूसरा गद्य ग्रन्थ 'सुख को बाटो' नाम का लिखा है, प्रकाशित भी हो चुका है। चिन्तामणि जोशी जी ने दुर्गासप्तशती का अनुवाद कुमाउनी में मुद्रित किया है, ज्वालादत्त जोशी जी ने संस्कृत के ग्रन्थ दशकुमार चरित्र का

कुमाउनी में अनुवाद करके छपवाया है। लीलाधर जोशी जी ने कालिदास के मेघदूत का कुमाउनी भाषा और छन्दों में सुन्दर अनुवाद करके प्रकाशित किया है। शिवदत्त शर्मा सती ने गोपीगीत, मित्रविनोद और बुद्धिप्रवेश नामक तीन मौलिक ग्रन्थों को छन्दोबद्ध कुमाउनी में इतनी गम्भीर प्रभाव पूर्ण शैली में लिखा कि प्रत्येक गाँव में इसका संगीत मर्मस्पर्शी वेदना उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। कुमाऊँ का यह प्रसिद्ध लोकगीत सिद्ध हो चुका है। इसका इतना प्रचार हो चला था कि कई लोग इसकी वैराग्य भावना से प्रेरित होकर धड़ाधड़ साधु संन्यासी बनने लग गये थे, यहाँ तक कि शासन को इसे छीन लेना पड़ा था। कृष्ण पाण्डे जी ने एक अन्योक्ति पूर्ण कथानक लिखा है, सनवाल जी प्रेस अल्मोड़ा से भगवद्गीता का कुमाउनी में अनुवाद भी छप चुका है। एक छोटी सी चार पृष्ठों की कुमाउनी की कविता की पुस्तिका, कुछ दिन हुये मेरे हाथ पड़ी थी, ऐसी ही कई लघु पुस्तिकायें कभी-कभी निकला करती हैं। अभी हाल में श्री रा० प्र० वर्मा जी ने 'प्यास' नाम का कुमाउनी लोकगीत संग्रह प्रकाशित किया है इस पर उ० प्र० शासन ने उन्हें पुरस्कृत किया है। अंग्रेजी शासन काल में कुमाउन पर कुछ न कुछ कार्य लगातार होता चला, पर जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से कुमाउनी की शोध का द्वार बन्द सा होता जा रहा है। यह बड़ी भूल है। भारत के तथा भारतीय भाषाओं के इतिहास का निर्माण, कुमाउनी के सम्पूर्ण पहलुओं के अध्ययन के बिना, कठिन ही नहीं, नितान्त असम्भव सा है। आशा है उत्तर प्रदेश शासन तथा केन्द्रीय शासन अपना ध्यान इस ओर अति शीघ्र आकर्षित कर यथोचित कार्यवाही का भार उठायेंगे।

प्रतिभादर्शन का प्रधान अंग
ध्वनि तत्त्व शास्त्र

द्वितीय खण्ड

अध्याय १

प्रतिभादर्शन का प्रधान अङ्ग

हमारा ध्वनिशास्त्र

ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती ।
व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः ॥ अमरः ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ गीता २ ॥
शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतींषि षड्वेदाङ्गानि ।
छन्दौ पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
लक्षं तु वेदाश्चत्वारो लक्षं भारतमेव च ।
लक्षं व्याकरणं प्रोक्तं चतुर्लक्षं तु ज्यौतिषम् ॥
ॐ गणानान्त्वा गणपतिँ हवामहे
प्रियाणान्त्वा प्रियपतिँ हवामहे ।
निधीनान्त्वा निधिपतिँ हवामहे वसो मम
आहमजानिगर्भधमात्वमजासि गर्ब्भधम् ॥
(य० सं०)

ॐ सरस्वती योन्यां गर्ब्भमन्तरमश्विभ्याम्पत्नी सुकृतं विभर्ति ।
अपाँ रसेन वरुणो न साम्नेन्द्रँ श्रियै जनयन्नप्सु राजा ॥
(यजु० सं० अध्याय १६—६४)

(१) प्रस्तावना

प्रतिभादर्शन को प्राचीनों ने जो ज्ञान की नाक कहने का उचित पग उठाया था, उसको सचमुच में ठीक पाकर, आज के युग में 'ध्वनि-तत्त्वशास्त्र' एक परम महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। आजकल का भाषातत्त्वशास्त्र इस ध्वनि-तत्त्वशास्त्र के बिना शून्य-सा समझा जाने लगा है। हमारे यहाँ के आचार्य यास्क के निरुक्त में भाषा-विज्ञान के मौलिक और मुख्य नियमों के उल्लेखों का अनुसरण करके पाश्चात्य विद्वानों ने पहिले तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की स्थापना की; और जब उस भाषा विज्ञान को वे भाषा-तत्त्वशास्त्र

का नया रूप देने का प्रयास करने लगे तो, उनके हाथ पाणिनि जी की अष्टाध्यायी तथा उसकी प्रामाणिक व्याख्या, कात्यायन सूत्र और पातञ्जल महाभाष्य लग पड़े। इनमें से पाणिनि जी के व्याकरण ने उनकी आँखें ही खोल दीं।

प्रतिभादर्शन की दयनीय दशा को देखकर सचमुच रोना आता है, दो परिस्थितियों से। हमारे यहाँ संस्कृत के एक से एक, अच्छे से अच्छे महाविद्यालय हैं, राजकीय भी हैं, विश्वविद्यालयीय भी हैं, तथा स्वतन्त्र स्थापित भी हैं। इनमें प्रातिशाख्य और व्याकरण सब जगह पढ़ाये जाते हैं। पर क्या मजाल कि कोई भी पण्डित हमारे ध्वनिशास्त्र से तिल भर भी परिचित हो जाय। कहीं कोई कुछ पूछने का साहस कर बैठे भी तो भट्टोजि दीक्षित जी की सिद्धान्त कौमुदी के आदि के दस पाँच वाक्य मुखाग्र स्थित उगल देंगे। दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वानों ने इस पर पर्याप्त मात्रा में माथापच्ची करके बहुत कुछ प्राप्त तो कर लिया है, पर उक्त विषय के ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ बड़े-बड़े मार्मिक और गम्भीर स्थल आये हैं, वे उनके पल्ले अब तक नहीं पड़ पाये हैं। अतः 'नाच न आवे आँगन टेढ़ा' की कहावत को चरितार्थ करते हुए, जिन-जिन पाश्चात्यों को धुरन्धर ध्वनिशास्त्रवेत्ता कहा जाता है, उन सब ने, किसी ने कहीं पर, किसी ने कहीं पर, ऐसी-ऐसी अशोभन और धृष्टतापूर्ण कटु आलोचनायें करने का, कहीं-कहीं उपहासकारी, अज्ञानसूचक साहस किया है कि इनकी अकृतज्ञता एकदम असह्य घाव कर जाती है। जो आजकल अपने को भाषा-विज्ञान शास्त्रवेत्ता कहने का गर्व करते हैं, वे न हमारे पूर्वोक्त ग्रन्थों के अध्ययन की क्षमता रखते हैं, न इसे पाये बिना वें पाश्चात्यों के परिश्रम की संगत अनुभूति कर सकते हैं। उक्त सब लोगों को अबतक, यह भी तो पता नहीं है कि प्रतिभादर्शन हमारे यहाँ का एक उच्च कोटि का व्याकरण दर्शन था, शब्द ब्रह्म का व्याख्यामय दर्शन था। जिसे लोग आजकल व्याकरण कहते हैं उसमें केवल 'शब्दानुशासन' मात्र है। दुःख इस बात का भी है कि भर्तृहरि जी ने जहाँ शब्द ब्रह्म की व्याख्या दी है, उसे भी लोग नवीन व्याकरण समझ बैठे हैं। वहाँ वे ध्वनिशास्त्र के प्रकरण को जोड़ना न जाने क्यों छोड़ गये? इस प्रकरण के अभाव ने उनके इतने बड़े महत्वपूर्ण विशाल ग्रन्थ वाक्यपदीय को लँगड़ा बना दिया है। सबसे बड़ा अनर्थ तो यह है कि आजकल के पाश्चात्य विद्वानों ने, अब ध्वनिशास्त्र और भाषा-तत्वशास्त्र विषयक समस्त ज्ञान को भारत से अपना कर, उन्हें अपना आविष्कृत शास्त्र कहना आरम्भ कर दिया है। और अब हमारे पूर्वजों के ज्ञान और ग्रन्थों को पृष्ठभूमि

में फेंक दिया गया है। पहले पहल जिन-जिन विशिष्ट कोटियों की प्रामाणिकता के लिए, हमारे ग्रन्थों के उद्धरण दिये जाते रहे, उनके स्थान में अब उनके वाक्यों को उद्धृत किया जाने लगा है, जो हमारे ग्रन्थों का अध्ययन या अनुवाद करके ध्वनिशास्त्र और भाषाशास्त्र के वेत्ता बनने का दावा करने लगे थे। यह बात अब के नये खोजियों के मस्तिष्क में गड़-सी गई है। वे भी उन्हीं की सरणि को अपनाने में अपने प्रयास और ज्ञान की सफलता समझते हैं।

(२) ध्वनिशास्त्र का स्रोत

अस्तु, प्रतिभादर्शन के विद्वानों ने वेदध्वनियों को सुरक्षित रखने की चेष्टा में ध्वनिशास्त्र का सर्वप्रथम शिलान्यास 'शिक्षा' नामक साहित्य में किया। ये शिक्षायें बहुत प्राचीनकाल में ही लिखी जाने लगी थीं। प्रत्येक ब्राह्मण ग्रन्थ स्वाध्याय पर विशेष बल देता है। स्वाध्याय वेदाध्ययन स्वरूप यज्ञ है, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'। इसे ब्रह्मयज्ञ कहते हैं (शतपथ ब्राह्मण)। प्रत्येक आरण्यक और उपनिषद् ने इस विषय में कुछ न कुछ अवश्य लिखा, जिसने कम लिखा है, उसने 'प्रणव' 'ओम्' पर अवश्य लिखा है। गोपथ ब्राह्मण (१–२४) ने तो बहुत वैज्ञानिक शिक्षा या प्रातिशाख्य दिया है, 'स्थानानुप्रदानकरणम्'। तैत्तिरीय आरण्यक ने शिक्षा के पाँच मुख्य शीर्षक दिये हैं, वर्णाः, स्वराः, मात्राः, बलम्, सामसन्तानः (७-२-१), छान्दोग्य में लिखा है 'स्पर्शाः ऊष्माणः, अन्तःस्थाः स्वराः घोषवत्' (२–२२–३, ५)। प्रत्येक वेद की प्रत्येक शाखा की शिक्षा अलग-अलग दी हुई मिलती है, उदाहरणार्थ वाजसनेय माध्यन्दिन यजुर्वेदीय शाखा के कात्यायन प्रातिशाख्य में पूर्ण ध्वनिशास्त्र है, साथ में य के ज, ष के ख, ऋ र का रे आदि उच्चारणों की व्यवस्था के साथ-साथ अनुस्वार तथा अन्य मुख्य स्वरों के उच्चारण पर विशिष्ट प्रकाश डाला गया है। पर परवर्ती सर्वसम्मतशिक्षा तथा पाणिनि शिक्षा का अध्ययन अधिक लोग करते हैं, और अब कई ऐसी शिक्षाओं का एकत्र संकलन भी प्राप्त है।

उक्त शिक्षा साहित्य का उत्तरकालीन विकास प्रातिशाख्य नामक ग्रन्थों के रूप में उपस्थित हुआ। इस शाखा ने ध्वनिशास्त्र को एक पूर्ण वैज्ञानिक स्वरूप दे दिया। प्रत्येक ध्वनि के उत्पत्ति के स्थान, और वर्ण समाम्नाय के पूर्ण विवेचन, पदों और पदान्तों के ध्वनिविकारों को वैदिक उदाहरणमाला से प्रस्तुत करके, इस प्रकार के सभी ग्रन्थ ध्वनिशास्त्र के अनूठे ग्रन्थ बन गये। यहाँ तक कि उत्तरार्द्धान्त में उच्चारण सम्बन्धी भूलों को एक-एक करके

गिनाकर, पूर्वार्द्ध के सिद्धान्त और पारिभाषिक विषय की दृढ़ प्रतिष्ठा, और पुष्टि कर दी गई है। इनमें कई-कई में इतनी बड़ी-बड़ी बारीकियों का विवेचन और विश्लेषण है कि बहुत कुछ तो अब तक नासमझी के गर्त में सड़ रहा है। एक बात और है, प्रत्येक प्रातिशाख्य अलग-अलग शाखा का है। प्रतिशाख्य का अर्थ ही यही है, "शाखां-शाखां प्रति इति प्रतिशाखम् तमधिकृत्य कृतं शास्त्रं" 'प्रातिशाख्यम्'। अतः प्रत्येक प्रातिशाख्य नियमों, सिद्धान्तों और पदान्तादि सन्ध्यादि पदों में अपने-अपने मत देता है, उच्चारण सम्बन्ध में भी कम मतभेद नहीं हैं, उच्चारण भेद से, स्थान भेद और करण भेद तक आ गये हैं। इससे ध्वनिशास्त्र को अधिक धक्का नहीं लगा है। हाँ, यदि ये लोग इतने प्रातिशाख्यों को न लिख जाते तो सम्भवतः हमें ध्वनिशास्त्र पूर्णरूप से मिल भी न पाता। पाणिनि जी ने ६८ वैयाकरणों के नाम दिये हैं। ऐन्द्र व्याकरण के अनुसार १००० वैयाकरण थे, इनमें से अधिक प्रातिशाख्यों के या प्रतिभादर्शन के ही लेखक होंगे, इसमें सन्देह नहीं। इन्हीं प्रातिशाख्यों ने कई पूर्ववर्ती प्रातिशाख्यकारों के नाम तथा उनके स्पष्ट मतों को उद्धृत करके सुरक्षित रक्खा है। इन नामों में पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि का कहीं उल्लेख नहीं है। पर 'व्याडि' का नाम अनेक स्थलों में बार-बार दिया गया है। अतः ये 'व्याडि' ही हमारे भाषा-तत्त्वशास्त्रविद् व्याडि हैं जो इनके उल्लेखानुसार ध्वनिशास्त्र के भी प्रमुख आचार्य हैं। उक्त प्रातिशाख्यों में ऋग्वेद का ऋक् प्रातिशाख्य, कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, शुक्ल यजुः का कात्यायन प्रातिशाख्य, सामवेद का ऋक्तन्त्रव्याकरण और अथर्ववेद का अथर्व प्रातिशाख्य प्रमुख ग्रन्थ हैं। शेष ग्रन्थों के नाम ग्रन्थ सूची में देखें। शिक्षा और प्रातिशाख्य के ग्रन्थ प्रतिभादर्शन के प्रथम प्रसून हैं।

अध्याय २

वर्ण समाम्नाय

(१) हमारे ध्वनिशास्त्र की वीणापाणि सरस्वती और वेद

पाश्चात्य देशों के, हमारे सोलह आने ऋणी भाषा-तत्वशास्त्रविद् और ध्वनिशास्त्र के पंडितों ने यह दावा करते हुए कि वे हमारे उक्त शास्त्रों के समस्त ग्रन्थों के आद्योपान्त पठित विद्वान् हैं—लिख डाला है कि[1] प्राचीन भारतीय ध्वनिशास्त्राचार्य न तो कण्ठनली (लारिङ्क्स्) से परिचित थे, न कण्ठनली के द्विधा भिन्न ढक्कन (एपीग्लोटिस्) से, ना ही वे जिह्वा मूल के पृष्ठभाग स्थित क्षुद्र गुफा (फारिङ्क्स्) को जानते रहे'। एक दूसरे प्रखर विद्वान् महोदय लिखते हैं कि "भारतीय संगीत के ग्रन्थों में 'ध्वनितारों' (व्होकल कौर्ड्स) की कहीं भी चर्चा नहीं है"[2] (ध्वनिशास्त्र के ग्रन्थों में तब कहाँ से हो)। ये कथन उनके अध्ययन का, एक प्रकार से रहस्योद्घाटन करते हैं।

'अक्षर स्वीकार' हमारे यहाँ का एक मुख्य संस्कार माना जाता है। इसके आरम्भ में वटु से दो देवताओं की वन्दना कराई जाती है, गणेश और सरस्वती की। ये दोनों देवता वैदिक हैं। गणेश उन आर्यों की शाखा के देव हैं, जो सृष्टिक्रम में 'पुरुष' को महाकाल रुद्र या ब्रह्मणस्पति मानते हैं। अतः महाकाल रुद्ररूप या ब्रह्मणस्पतिरूप ब्रह्म या शब्द ब्रह्म के विकासरूप देव को 'गणेश' रूप विद्या का देवता और 'प्रणव' या ओम् का प्रतिनिधि माना गया है। 'त्वम् चत्वारि वाक्पदानि'···'त्वं मूलाधारस्थितोसि नित्यम्',··· 'गणादीन्पूर्वमुच्चार्य' (अक च ट त प), वर्णादींस्तदनन्तरम्, अनुस्वारः परतरः, अर्द्धेन्दुलसितम् (एपीग्लोटिस्) तारेण (व्होकल कौर्ड्स्) रुद्धम्, एतत्तव अनुस्वरूपम्' (गणेशाथर्वशीर्षम्)[3]। जो लोग शब्दब्रह्म को ब्रह्म मानते हैं वे विद्या के देवता को सरस्वती कहते हैं। यजुर्वेद संहिता (१९-३४) में सरस्वती की वन्दना इस प्रकार दी हुई है :—

---

१. स० व० एलन, २. डा० ए० ए वेक—भारतीय संगीत की पृष्ठभूमि, अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस १९५०, लीडन। ३. यहां पर कृपया प्रथम भाग अध्याय ४ प्रकरण ५ में दिये 'शिवाथर्वशीर्ष' के उद्धरण को भी पीछे देख लें।

ॐ सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरमश्विभ्याम्पत्नी सुकृतं बिभर्ति ।
अपाꣳरसेन वरुणो न साम्नेन्द्रꣳ श्रियै जनयन्नप्सु राजा ॥

वेदारम्भ संस्कार के पश्चात् सरस्वती की वन्दना 'गायत्री' जप के रूप में में की जाती है। गायत्री का स्वरूप यह है :—'तत्सवितुरित्यस्य···गायत्री छन्दः "वायव्यं बीजं चतुर्थं शक्तिः पञ्चविंशति व्यञ्जनानि कीलकम्, चतुर्थं पदम् प्रणवो मुखं···सांख्यायन सगोत्रा षट्स्वरा सरस्वती जिह्वा पिंगाक्षी त्रिपदा गायत्री"···।' इस स्वरूप में भी सरस्वती में २५ व्यञ्जन तथा ६ मौलिक स्वर और वायव्य बीज स्वीकार किया गया है। सरस्वती या गायत्री का यह स्वरूप वैदिककालीन, विश्वामित्र ऋषि का उद्भावित है इसमें क्या सन्देह। इस मंत्र के ऋषि ही वही हैं। गणपति पूजा में 'गण' शब्द का तात्पर्य उक्त उल्लेख में अ कचटतप वर्गों से है, क्योंकि 'गणादीन्पूर्वमुच्चार्य वर्णादीनुच्चारयेत्ततः' स्पष्ट लिखा है कि पहिले वर्गों के प्रथम व्यञ्जनों का उच्चारण कीजिये, फिर पृथक्-पृथक् वर्णों का। अतः यहाँ गणपति माने वर्णसमाम्नाय पति है; वर्गों में स्वरों का 'अ' वर्ग है। अकचटतप के स्वामी गणपति हुये। सरस्वती, गायत्री की जिह्वा है, जिससे छह मूल स्वर 'अ ऋ इ उ ए ओ' तथा २५ व्यञ्जन निकलते हैं। उपध्मानीय और अन्तःस्थ क्रम से व्यञ्जन और स्वरों में ही सम्मिलित माने गये हैं, जिनका समाहार 'अ + उ + म्' स्वरूप ओम् को मुख में एक साथ मान लिया गया है। अक्षरारम्भ करते समय जब सर्वप्रथम वर्णसमाम्नाय का मंत्र दिया जाता है तो आरम्भ में एक अभूतपूर्व वाक्य का प्रयोग किया जाता है वह 'ओम् नमः सिद्धं' अ आ आदि, है। यह 'ओम् नमः सिद्धं' क्या है ? सिद्ध ध्वनियाँ वे हैं जिनको एक पूरा समाज एक निश्चित रूपरेखा में अपनाये रहता है। हमारी सिद्ध ध्वनियाँ अबतक वही वैदिक ध्वनियाँ मानी जाती हैं, पर हैं नहीं। हमारी सिद्ध ध्वनियाँ वैदिक सिद्ध ध्वनियों से बहुत बदल गई हैं। यहाँ पर हम पहले वैदिक सिद्ध ध्वनियों पर ही विचार करने चले हैं।

अब आपने देख लिया है कि गणपति और सरस्वती तथा गायत्री तीनों, वैदिक देवता होते हुये स्पष्टतः ध्वनिशास्त्र से सीधा सम्बन्ध रखते हैं। सरस्वती हमारी जिह्वा है। इसका समर्थन सरस्वती के अन्य नामों से भी होता है, उसके नाम हैं :—'ब्राह्मी, भारती, भाषा, गीः, वाक्, वाणी, सरस्वती, व्याहार उक्ति, लपनं वचनं वचः' (अमरः)। ब्राह्मी—शब्द ब्रह्म सूचिका है, भारती—भरतवंशी वैदिक आर्य कुल की वाणी की, भाषा, गिर्, वाग्, वाणी, सरस्वती की व्याहार, उक्ति, लपनं वचनं वचः, ये सब स्फुट ध्वनियों, अकारादि स्वर और व्यञ्जनों के उच्चारण के स्पष्ट द्योतक हैं। तब सरस्वती को जो 'वीणापाणि'

नाम से पुकारा गया है, वह 'वीणा' कौन सी हो सकती है ? ऐतरेय आरण्यक (३-२-५) में यह स्पष्टतः उल्लेख किया गया है कि यह 'वीणा' हमारे कण्ठ से लेकर ओष्ठ तक ध्वनियों की उत्पादयित्री शारीरी वीणा है। यही बात संगीत दर्पण (१-४८) में उद्धृत की गई है। ऐसी स्पष्ट परिस्थिति में जब हमारे आचार्य ध्वनियों की उत्पत्ति की विविक्त विवेचना के लिए तारमयी वीणा का ऐसा अलौकिक रूपक उपस्थित कर रहे हैं तो क्या वे 'शब्दमय तारों' से अपरिचित होंगे, यह समझना भी नासमझी है, कहना तो धृष्टता है ही। खैर यह तो है ही, गणपति के वर्णन में तो 'तारेण रुद्धम्' शब्द स्पष्टतः दिया है। शब्द ब्रह्म के परिच्छेद में भी प्रणव की व्याख्या में ठीक इसी 'तार' शब्द का प्रयोग किया है ठीक इसी अर्थ में। यहाँ 'तारेण रुद्धं' के माने, ध्वनियों का ('व्हौकल कौर्ड्स्') ध्वनि तारों में वायु (कण्ठ) नली के 'अर्द्धेन्दु' (एपीग्लोटिस्) में अवरुद्ध रहने से है, जब वे झनझनाती हैं तभी ध्वनि होती है। फलतः 'तार' ध्वनितार है, अर्द्धेन्दु—एपिग्लोटिस् है। अब वायु नली (लारिङ्क्स्) के बारे में तैत्तिरीय प्रातिशाख्य और ऋक्प्रातिशाख्यों के उद्धरण देखिये :—तै० प्रा०—१३-२१।

"श्वासता नादतोभयता स्पृष्टता दुःस्पृष्टताऽस्पृष्टता कंठ विलस्य।
विवृतता संवृतताऽघोषता घोषता सोष्मताऽननुनासिकेति ॥"

ऋक्० प्रा० (१३-१)

"वायुः प्राणः कोष्ठयमनुप्रदानं कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा।
आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम् ॥"

उक्त दूसरे उद्धरण में 'वायुः प्राणः कोष्ठयमनुप्रदानं' के अर्थ में उव्वट ने साफ लिखा है कि कण्ठ के विल (फारेङ्क्स) में कोष्ठय से या उदर से कण्ठ नली या वायु नली के द्वारा, जब प्राणवायु विवृत होकर आती है तो श्वासता (अघोषता) होती है, जब संवृत (अल्प विवृत) होके आती है तो नादता (घोषता) होती है। यही बात प्रथम उद्धरण में भी स्पष्टतया कही है। वहाँ 'कंठस्य खे' की जगह 'कण्ठविले' कहा है। इस प्रकार के विविक्त वर्णनों के होते हुए भी जो भद्र लोग यह कहते हैं कि भारतीय ध्वनिशास्त्री फारेङ्क्स और लारिङ्क्स् को नहीं जानते थे, उनके मुँह और कलम को रोकने कौन जावे। अस्तु फारिङ्क्स् 'खे' के लिए हमारे यहाँ 'ख' या 'कण्ठविल' दो शब्दों का प्रयोग किया हुआ आपने यहाँ देख लिया है। इस 'ख' का सीधा सम्बन्ध 'अर्द्धेन्दु' से है, अर्द्धेन्दु प्राणों की नली 'कोष्ठ' का मुख है, और प्राणवायु की नली (लारिङ्क्स्) को 'कोष्ठय' नाम से पुकारा है। यह प्राणवायु नली कोष्ठय है तो फुफ्फुस या फेफड़े, 'कोष्ठ' या 'उदर' नाम से पुकारे गये हैं।

अब आप उक्त वक्तव्यों और प्रमाणों की पुष्टि के लिये निम्नलिखित अकाट्य प्रमाणों के उद्धरण देखिये। ऋ० प्रा० ने उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वरों के विविक्त वर्णन में कण्ठ विल के अधःस्थित अर्द्धेन्दु के मुख द्वार वाले ध्वनितारों का दर्पणवत् चित्र उपस्थित करते हुए लिखा है कि उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वरों के उच्चारण में उदात्त में 'तो (अर्द्धेन्दु मुख में) तंगी (आयाम) और अनुदात्त में शिथिलता (विश्रम्भ) तथा स्वरित में (आक्षेप) तिरछा गत्यात्मक कम्पन होता है। "उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः। आयाम-विश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यते" (३-१)। यहाँ तक कि उक्त भीतरी व्यापारों को उच्चारण कर्ता के मन में स्थिर रखने या उक्त ज्ञान को अमर बनाने के लिए, वेद पाठ में, उदात्त में हाथ का ऊपर उठाना, अनुदात्त में हाथ ऊपर से नीचे गिराना तथा स्वरित में हाथ दायें से बायें समतल में ले जाना, यह सब प्रक्रिया अर्द्धेन्दु के कम्पनानुरूप स्थिर की गई है। "आयामो नाम वायु-निमित्तमूर्ध्वंगमनं गात्राणां, विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणां वायुनिमित्तं आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनं गात्राणाम् वायुनिमित्तम्" (उव्वट भाष्य ऋ०प्रा०)। तथा का० प्रा० में यही दुहराया गया है 'तत्रोदात्ते ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य, अनुदात्ते ऽधोगमनं हस्तस्य स्वरिते तिर्यग्गमनम्' (१-१२४)। तै० प्रा० (२२-९-१०) में इससे आगे बढ़कर लिखा है कि उदात्त में अर्द्धेन्दु के तारों में अतिसंकीर्णता (तंगी) सूक्ष्मता, कठोरता और संवृतता या अत्यन्त दबाव को संकुचितता (संकोच) रहती है, तथा अनुदात्त में उन्हीं कण्ठ तारों में शिथिलता, कोमलता, गुरुता और विवृतता रहती है। "आयामो दारुण्यम् अणुता खस्य इत्युच्चैः कराणि शब्दस्य, अन्वसर्गो मार्दवमुरुता खस्य इति नीचैः कराणि"। इसका शब्दशः समर्थन 'पारी शिक्षा' भी करती है 'अणुता कण्ठविलस्य' 'विस्तृतता कंठविलस्य' (८१-८२)। कात्यायन प्रा० ने 'आक्षेप' शब्द के अर्थ और प्रयोग में (वेद पाठ में) स्वरित की द्विस्वरता के उच्चारण में अर्द्धेन्दु कम्पन के अन्तरों को स्पष्ट करने के लिए, जैसी क्रिया ध्वनितार कम्पन में होती है उसी प्रकार की विधि का विधान रखने के लिए आक्षेप माने 'प्रणिहन्यात्' कह कर, लिखा है कि स्वरित में पहिले हाथ को तिरछे ले जाना फिर नीचे गिराना। स्वरित का प्रथम भाग उदात्त सम होता है, द्वितीय अनुदात्त सम। वेदपाठियों में अबतक इस प्रकार की दो स्पष्ट ध्वनियाँ स्वरित स्वरों में मिलती हैं। जब हम संगीत विद्या की ओर देखते हैं तो, गाने में प्रथम लय से दूसरे लय की ध्वनितान द्विगुण समझी गई है। यह तो ध्वनि तारों की कम्पन संख्याओं तक का पूर्ण विवरण देनेवाला सूक्ष्म तथ्य है। इतने ज्वलन्त प्रमाणों के होते हुये जो यह कहने की हिम्मत रखते

हैं कि भारतीय ध्वनि शास्त्रज्ञों को ध्वनि तारों का पता न था उनकी कलम और मुँह को कौन रोक सकता है। भारत में ऐसी अनहोनी बात सोची नहीं जा सकती। आजकल के ध्वनि तत्त्व वैज्ञानिकों ने हमारे आचार्यों के पूर्वोक्त सब मतों की पुष्टि कर दी है। और एक गँवार से गँवार जानता है कि हमारे श्वास की नली, भोजन की नली से भिन्न होती है, जब कभी खाना खाते या पानी पीते समय प्राणवायु की नली किसी कारण खुली रह जाती या हो पड़ती है तो खाना या पानी प्राणवायु की नली में गया नहीं कि खाँसते-खाँसते नाकों दम आ जाता है। इसको 'उतीसा' लगना कहते हैं। ऐसी स्थूल और साधारण सरणि को क्या हमारे ध्वनि शास्त्री नहीं जानते होंगे? जब कि गर्भोपनिषद् में वीर्याणु के दैनिक, मासिक विकास की पद्धति के उतने सूक्ष्म और मार्मिक अनुभवों को साक्षात्कार की गई सरणि में सा वर्णित किया गया है। यह उपनिषद् यास्क के समय से पहिले का है, क्योंकि यास्क ने इसके श्लोकों और विषय को अक्षरशः उद्धृत करके लिखा है। अर्द्धेन्दु का रूप ◖◗ इस प्रकार का होता है। यह प्राण वायु की नली का मुख है। बीच में दरार-सी है, यह दरार अर्द्धेन्दुओं के, दो पटलों (ढक्कनों) के बीच में है। हमारे श्वास इस दरार को धक्का देकर खोलकर बाहर आते हैं, बाहर से पुनः धक्का देकर श्वास भीतर घुसते हैं। जब ये अर्द्धेन्दु के पटल अधिक खुलते हैं तो केवल श्वास निकलते हैं, ध्वनि नहीं, श्वास अघोष होता है, जब ये मिले रहते हैं, कम खुलते हैं, तब नाद या ध्वनि होती है। ध्वनि होने का कारण इस अर्द्धेन्दु के किनारों का झनझनाना होता है, इसी में ध्वनि तार होते हैं। इनके बन्द रहने को संवृत और खुले होनेको विवृत कहते हैं। हाँ, ये विवृत और संवृत शब्द ही इतनी सूक्ष्मता का वर्णन करते हैं जो अर्द्धेन्दु, ध्वनि
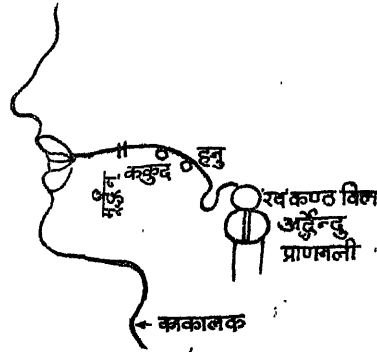
तार और प्राणवायु नली का पूर्ण ज्ञान एकत्र सम्मिलित रखते हैं। 'ख' या कण्ठविल (फारिङ्क्स्) इस अर्द्धेन्दु के ऊपर की क्षुद्र गुफा को कहते हैं, जो ध्वनियों का मुख्य द्वार है। इस 'ख' या कण्ठविल का घेरा बाहर से काकालक[1]

---

१. काकालक हमारे गले के बाहर ऊँची उठी हड्डी को कहते हैं 'काकालकः – ग्रीवायां उन्नतप्रदेशः' (पातञ्जल महाभाष्य १-१-४)

द्वारा (जिसे अंग्रेजीमें 'आदम्स आपिल' कहते हैं) दिखाई पड़ता है। इसके मुखपर कोमल तालु के अन्त में नीचे को लटका हुआ ∪ ढंग का लाल मांस पिंड कौवा वा घंटी है। यह जिह्वा मूल से स्पर्श करता रहता है, हमारे श्वास और खाने पीने को छानता रहता है। अतः इसे अलिजिह्वा भी कहते हैं, शीत प्रकोप (जुकाम) और खाँसी में कौवा या घंटी और अर्द्धेन्दु फूल जाते हैं। अतः बार-बार खाँसी आती है। काकालक के सम्मुख कोमल तालु की ओर के स्थान को 'हनुमूल' कहते हैं। यह स्थान भीतर से जिह्वा मूल के सम्मुख पड़ता है, जैसे 'हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गं स्पर्शयति' (तै० प्रा० २—३५)। इन सूक्ष्म वर्णनों के रहते हुये अपनी नासमझी को हमारे पूर्वजों के मत्थे मढ़ना तो हमारे पूर्वजों के ही वचन 'न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः' की याद दिलाता है। हनु भाग से आगे की ओर बढ़कर कोमल तालु मिलता है। इसके मध्य के लगभग एक छिद्र है जिसे ककुद् कहते हैं। इस ककुद् से कुछ आगे चलकर कठोर तालु मिलता है। इसका नाम मूर्द्धन् या शिर है। पाश्चात्य लोग
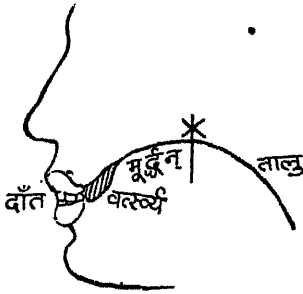
इस मूर्द्धन् या शिर नाम से बहुत विगड़े हैं। वे कहते हैं 'मूर्द्धन् या शिर के माने तो केवल माथा' होता है। "यह नाम इस स्थान को तब का दिया हुआ-सा लगता है, जब ध्वनिशास्त्र बच्चा ही था। पीछे के लोगों ने इसे न बदल कर पुरानों की लकीर पीट कर अवैज्ञानिक काम किया; यह अनुपयुक्त शब्द है।" इस आशय के उद्गारक महाशय ह्विटनी हैं, समर्थक सब? इसका क्या उत्तर दिया जावे? हँसी अवश्य आती है। ये मूर्द्धन् और शिर शब्द किसी के माथे को न सूचित कर मुखान्तर्गत मध्यम ऊँचाई के आकार के पर्वत के समान हम आपके तालु के मूर्द्धन् शिर या प्रायशः मध्यविन्दु को सूचित करते हैं। शिर या मूर्द्धन् या माथा या चोटी ये शब्द, प्रायः सभी भाषाओं में किसी भी पदार्थ या वस्तु के उच्च मध्यविन्दु या उच्चतम मध्य भाग का सूचन करते हैं। मुख के अन्तर्गत के चित्र में सबसे उच्चतम मध्य भाग इसी कठोर तालु का है। अतः यह ध्वनिशास्त्रकारों का ध्वनि स्थानीय मूर्द्धन् या शिर अपने आप है, ऐसे विचार और विवेचन उक्त दोनों नामों को परम वैज्ञानिक सिद्ध करते हैं। मूर्द्धन् के आगे चलकर हमें एक छोटी-सी, शिवालक-सी पहाड़ी मिलती है। यह हमारे दाँतों से ऊपर चारों ओर × की रेखाओं

चाहिए और शेष को खुला मुख। फलतः ध्वनि-कक्ष या कण्ठ विल में इन तीनों
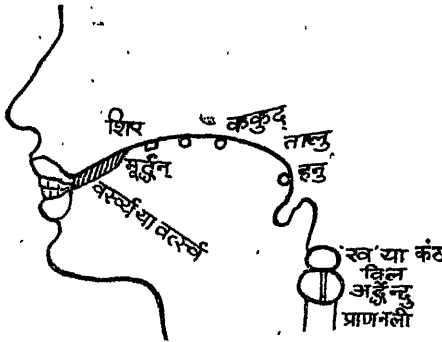
ध्वनियों की स्फुटता, अर्द्धेन्दुः मात्र (ध्वनि तारों की विभिन्न प्रकार की संवृतता, विवृतता, नादता एवं घोषता) से हो जाती है। कौवा या घंटी या निलंबित अलिजिह्वा भी अत्यन्त कोमल अति सूक्ष्मतारों की बनी अति लचकीली है। इसके सूक्ष्म कम्पन से ऋ लृ रँ ळ आदि की अरँरँर की सी ध्वनि निकलती है। अन्य ध्वनियों में यह तटस्थ होकर अगल-बगल से प्राणवायु को सध्वनि रूप में अबाध रीति से बाहर निकल जाने देती है।

हमारा कोमल तालु एक अपूर्व स्थान है, यह अत्यन्त कोमल है। इसमें अनन्त लचक है। जब जिह्वा इसके साथ प्रयत्न करने को ऊपरको ओर उठती है तो यह उससे मिलने के लिए ऊपर से नीचे की ओर लचक जाता है। इनके मिलन की ऊँचाई या निचाई ध्वनि के अनुरूप होती है। इसका (तालु का) कोई भी भाग लचक कर जिह्वा से स्पर्श करने आता है। कवर्ग और चवर्ग की ध्वनियों के विभिन्न भाषाओं में जो इतने भेद मिलते हैं उनमें एक कारण जिह्वा और तालु के मिलन विन्दु की सीमा तथा विन्दु की ऊँचाई और निचाई है। हमारी जिह्वा तो सचमुच में हमारे शरीर का सबसे अधिक रहस्यमय अंग है। यह हमें जितनी ठोस लगती है, वह उतनी ही अधिक कोमल या कोमलतम है। यह रग-रग पर, रोम-रोम, बाल-बाल पर लचक सकती है। कण्ठ विल के पास के जिह्वा मूल से लेकर जिह्वाग्र तक, यह प्रत्येक सम्भावित रेखा पर लचक खा सकती है। इस अनन्त लचक रेखाओंके अनन्त प्रकार के स्पर्श और प्रयत्न आदि से संसार की विभिन्न जातियों के स्वर और व्यञ्जनों की श्रुतियोंमें इतना महान अन्तर आया है। जिह्वा का ही नाम 'सरस्वती' है। इसकी उस अनन्त लचक की रक्षा के लिए हम इसके शरीर को सदा मुख के रस में डुबोये रखते हैं, अतः इसे सरस्वती, सरोवरवती या रसवती जिह्वा या रसना कहते हैं। इनका वर्णन प्रातिशाख्यकारों और शिक्षा लेखकों ने इस प्रकार "अनुप्रदाना-त्संसर्गात् स्थानात्करणविभ्रमात्। जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमात्।" (तै० प्रा०२-२३) किया है। 'स्थान' उसका नाम है जिस स्थान में जिह्वा या ओष्ठ का अंग प्रयत्न या स्पर्श करने के लिये जाता है। 'करण' जिह्वादि के उस अंग का नाम है जो उक्त स्थानों में स्पर्श या प्रयत्न करने के लिए जाता है।

(२) "प्रतिभादर्शन में हमारे वर्ण समाम्नायकी वीणा" "जिसे हमारी सरस्वती [जिह्वा] बजाती है"
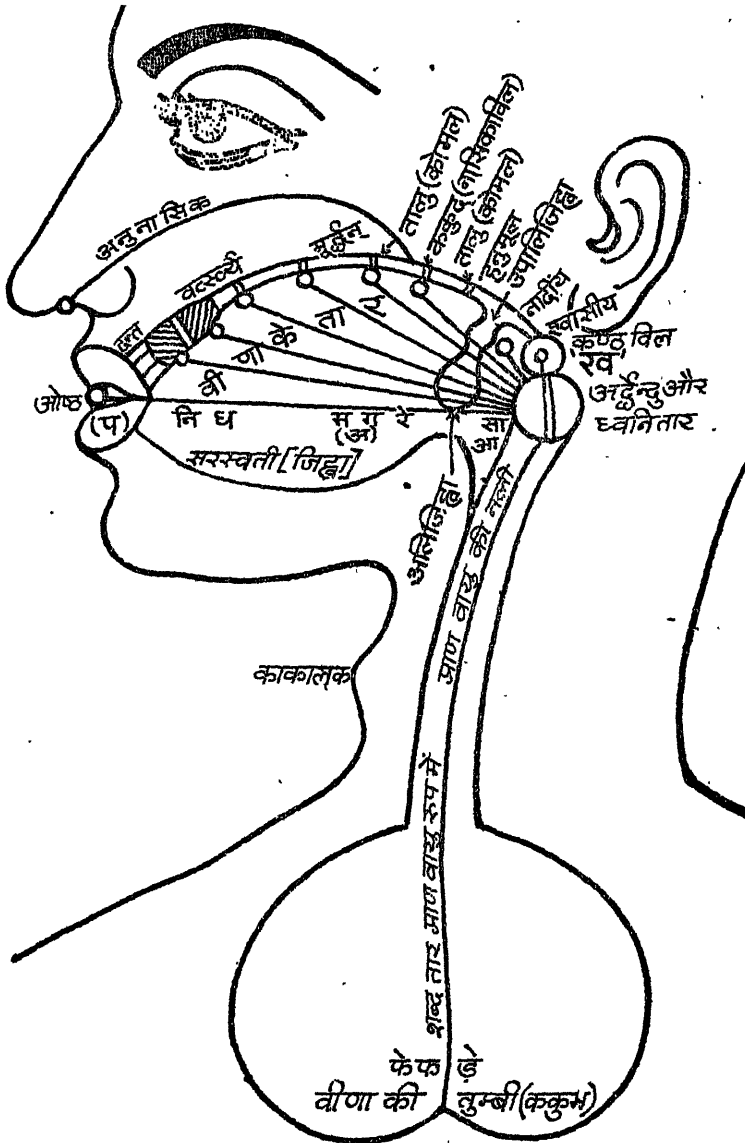
वैज्ञानिकों का शब्द कम्पन कोई तत्व नहीं है। ये लोग अर्द्धेन्दु

(एपिग्लोटिस्) के द्विदल मुख में शब्द कम्पन के ध्वनि तारों को केवल झनझनाने (वाइब्रेशन) मात्र के लिये मानते हैं । पर हमारे शब्द तार अति-सूक्ष्मतम अणुओं की लहरें हैं । अर्द्धेन्दु की झनझनाहट उन शब्दाणुओं को वैद्युतीय तार या लहर में परिणत कर देती है । जिह्वा तथा मुख का प्रयत्न सब वैद्युतीय गति में, 'सोचने की शक्ति से बाहर की' तीव्र गति में होता है । जिह्वा स्वयं शब्दाणुओं के वैद्युतीय लहरों के तारों से व्याप्त-सी होकर, विवश-सी होकर करण बन कर तत्तद् स्थानों में वैद्युतीय गति से झपटती-सी प्रतीत होती है, मानों कोई अदृश्य शक्तिरूपिणी देवी (सरस्वती) सिद्धहस्त शब्द तारों की झनकार की गत-सी बजा रही हो । शब्द ब्रह्म प्रकरण में हम इस पर प्रकाश डाल आये हैं, पर प्रातिशाख्यों ने भी शब्द के इस पक्ष को आँखों से ओझल नहीं रखा है । लिखा है :—वायुः शरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् । मारुत-स्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥ तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्त्युरः कण्ठः शिरो मुखं नालिकेति ॥" (शब्दोत्पत्ति प्रकरण २ तै० प्रा०) । इसमें 'मनः कायाग्निमाहन्ति' पद महत्व का है । यह अग्नि शब्द, शब्द सम्बन्ध में कौन सी वस्तु हो सकती है । मन जिस कायाग्नि को प्रस्तुत करता है वह है 'शब्दाणु', शब्दाणु है अग्नि स्वरूप, प्रकाश स्वरूप अथवा विद्युत् स्वरूप, तब उन्हीं से प्राणवायु चालित होती है, उन्हीं से अर्द्धेन्दु में वायु द्वारा झनझनाहट होती है, उन्हीं से जिह्वा तार-सी बजाती है । ये तार कम्पन की वेगवती लहरें हैं । जिस प्रकार तालाब में लहरें किनारे तक आती हैं वैसे ही शब्दाणु लहरें जाती हैं । प्रत्येक ध्वनि के लिए तीन 'स्थान' होते हैं जो क्रम से मन्द, मध्यम और उत्तम ध्वनियाँ व्यक्त करते हैं । वाणी के सात 'यम' होते हैं, जिनसे ध्वनि को सात प्रकार से संयमित किया जा सकता है । इनको पठन-पाठन में अधिक विशेषता नहीं दी जाती । अतः जो सात यम स्वर हैं, उन्हें प्रातिशाख्यकार पृथक् ध्वनियाँ मानते हैं । वे हैं षड्ज (सा) ऋषभ (रे) गान्धार (ग) मध्यम (म) धैवत (धा) निषाद (नि) । (प) कोकिल स्वर वीणा से बाहर ओठमें आता है । अतः उसको इस गणना में स्थान तक नहीं दिया है । प्रत्येक ध्वनि की तीन वृत्तियाँ विलम्बिता, मध्यमा और द्रुता, तथा तीन प्रकार के स्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित होते हैं जैसे—(ऋक्प्रातिशाख्य १३–४७, ४८) ।

"त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च स्थानान्याहुः सप्त यमानि वाचः ।
अनन्तरश्चात्र यमोऽविशेषः सप्तस्वरा ये यमास्ते पृथग्वा ॥

षड्ज — ऋषभ — गान्धार — मध्यम — धैवत — निषादाः।
तिस्रो वृत्तीरुपदिशन्ति वाचो विलम्बितां मध्यमां च द्रुतां च॥"

"प्रयोक्तुरीहा गुणसन्निपाते वर्णीभवन् गुणविशेषयोगात्। एकः श्रुतिः कर्मणाप्नोति वह्नीः।" "अनुप्रदानात् संसर्गाद् स्थानात्करणविभ्रमात्। जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमात्॥" (तै० प्रा० २-२३)

अध्याय ३
अक्षर और वर्ण का भेद

अक्षर वर्णकुल है, पर न जाने क्यों, पाश्चात्यों ने आजकल अक्षर और वर्ण की व्याख्या में भी विवाद खड़ा कर दिया है ? एक हैं महाशय फर्थ, उनका अपना संस्थान है। वे आजकल अक्षर को 'लेटर' मात्र मानते हैं, लेटर तो लिखने की वस्तु है, उसका ध्वनिशास्त्र से क्या सम्बन्ध ? यह वही जानें। लेटर तो हमारे ध्वनियों के स्थूल, अति स्थूल चिह्न हैं। देवनागरी में गनीमत है कि इसमें कामचलाऊ ध्वनियों के अधिक स्पष्ट संकेत या चिह्न हैं। अन्य भाषाओं की वर्णमालायें तो एक समस्या-सी हैं, कुछ लिखा जाता है कुछ पढ़ा। तब लेटर का ध्वनि से तादात्म्य कैसे हो सकता है ? इसीलिये हमारे ध्वनिशास्त्रकारों ने ध्वनियों के दो भेद कर रखे हैं, (१) 'अक्षर' (२) वर्ण। अक्षर मौलिक ध्वनि या सिद्ध ध्वनि है या वर्णकुल ध्वनियाँ संस्थानीय ध्वनि हैं, एक संस्थान की निर्णीत या निश्चित ध्वनि है, जिसे आजकल के पाश्चात्य ध्वनिशास्त्रकार 'फोनीम' कहते हैं। हमारे चारों वेदों की सभी शाखाओं के 'अक्षर' एक हैं। यह एकता प्रतिभादर्शन के ध्वनितत्वों की प्रकृता में तादात्म्यपाती हैं। जो अक्षर या वर्णकुल की मौलिक ध्वनियाँ प्रतिभादर्शन-सम्मत हैं, वे सभी वेदों की शाखाओं और पाणिनि-पतञ्जलि को भी स्वीकृत हैं। सर्वस्वीकृत मौलिक ध्वनियों में चार अक्षर स्वरों के हैं। वे हैं 'अ ऋ इ उ' इनके 'आ ई ऊ ए ऐ ओ औ' सप्त स्वर हैं। ऊष्माणों में 'ह' श, ष, 'स' केवल चार मौलिक ऊष्म अक्षर हैं। 'य र ल व' चार अन्तःस्थ और वर्गादि की पाँच ध्वनियाँ 'कचटतप' मौलिक अक्षर हैं, इस प्रकार अक्षरों में केवल १७ मौलिक हैं[1], इसलिये इन्हें अक्षर अनश्वर नाम दिया है। ये दार्शनिक ध्वनियों के, मौलिक ध्वनियों के या नित्य ध्वनियों के प्रतीक हैं, अतः अक्षर हैं। वर्ण शब्द का अर्थ रंग होता है। यह रंग अर्थ सदा भेदक का या भेद-जनकता का संकेतक है। प्रत्येक अक्षर के तीन स्थान—मन्द्र, मध्यम और उत्तम होते हैं, इन तीनों में से प्रत्येक की तीन वृत्तियाँ, विलम्बिता, मध्यमा और द्रुता होती हैं। फिर ये तीनों उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से तीन प्रकार की होती हैं। तदनन्तर ये तीनों ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से तीन-

---

१. 'अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति'। (म० भाष्य '१-१-१)। वर्णकुल के माने अक्षर या फोनीम है (देनियल जोन्स §२२)।

तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार एक स्वर अक्षर के ७२ भेद हो गये। इसमें प्रत्येक अक्षर के अन्तःस्थ, ऊष्मा, अनुस्वार, अनुनासिक और पंचवर्ग के भेद से ३७ पृथक् ध्वनियाँ जोड़िये (७२ + ३७)। ये १०९ भेद केवल एक स्वर के या एक स्वर अक्षर के भेद हो गये।[१] यही हमारी सरस्वती की, स्फटिक की, शिव की रुद्राक्ष की, विष्णु की तुलसी की माला है। एक मौलिक ध्वनि को माला के शिर में 'सुमेरु' नाम देकर उसके १०८ भेदों की ज्ञापिका हमारी उक्त जप की माला हैं।[२] ये १०८ भेद प्रत्येक सुमेरु अक्षर के भेद या वर्ण हैं। इन वर्णों को अंग्रेजी में फोनेमिक्स कहते हैं। इन वर्णों में से हमारे लिखित चिह्न वर्ण अधिक से अधिक केवल 'मात्रा' के संकेत करने में समर्थ हैं। उदात्त, अनुदात्त स्वरितों के चिह्न वेदों में उदात्त (बिना चिह्न) अनुदात्त के सिर में खड़ी पाई और स्वरित के पाद में तिरछी पाई देकर सूचित किया जाता है। शेष सब भेदों को बिना चिह्न के ही अनुगम करना पड़ता है। अक्षरों के ये भेद लिखित या उच्चरित वर्णों में रँगे-से रहते हैं। हमें उनके, रंग या वर्ण का ज्ञान श्रावण प्रत्यक्ष से करना पड़ता है। अतः अक्षर, और वर्ण में से कोई भी लेट्र नहीं हैं—ये हैं ध्वनियों के भेद। लिखित चिह्नों को अक्षर या वर्ण केवल व्यवहार के लिए प्रातिशाख्य आदि में कहा गया है। पर इनमें आकाश-पाताल का अन्तर है। इनका नाम 'समाम्नाय' है। 'समाम्नाय' शब्द की व्युत्पत्ति यह है।'समिति एकीभावे, आ इति मर्यादायाम्, म्नाय इत्यानुपूर्व्येण' (तै० प्रा० १-१)। सम् माने सबके लिये समाहारमें एक शेष करना, आ माने एक निश्चित संकेतावलीका अनुसरण, म्नाय माने ध्वनियों की उक्त संकेतावली को, दार्शनिक उत्पत्तिक्रम या आनुपूर्वी से निर्दिष्ट करना है। ऐसी संकेतावली को 'समाम्नाय' कहते हैं। इस समाम्नाय को 'लेटर' कह सकते हैं, 'अक्षर' या 'वर्ण' को नहीं। 'अक्षर' या 'वर्ण' का ज्ञान या विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो प्रतिभा दर्शन देखें (शब्दानुशासन- अष्टाध्यायी इत्यादि नहीं)।

ऋक् प्रातिशाख्य ने मौलिक ध्वनियाँ गिनाई हैं। शेषों को, दीर्घादिकों और वर्गादिकों को छोड़ ख ग घ ङ, ज झ ञ आदि को और अं ⨯ क ⨯ प को 'श्रुतिविशेष' वर्ण कहा है 'अन्ये वर्णास्तु उक्तध्वनीनां तुल्यप्रयत्नानां अनुप्रदानादीनां स्थानकृतः श्रुतिविशेषाः (१३-१५)। साथ में यह भी कहा है कि इन श्रुतिविशेष वर्णों को शाश्वतिक (अक्षर-फोनीम) न कहा

---

१. ऋ० प्रा० (१३-१३, १४, १५), मौलिकध्वनयः अ ऋ इ उ, क च ट त प य र ल व ह श ष स। अन्ये वर्णा उक्तध्वनीनां—स्थानकृतः श्रुतिविशेषाः।'

२. उद्धरण पिछले परिच्छेद के अन्त में देखें।

जाय। यह कुछ लोगों का मत है। 'एके वर्णान् शाश्वतिकान् न कार्यान्' (१३-१६)। परन्तु इसी ग्रन्थ ने वर्णों में सन्ध्यक्षर ए ऐ ओ औ को भी सम्मिलित किया है, और इन्हें भी 'अक्षर' कहा है, 'ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराणि उत्तराणि'। साथ में आ आ ३, ई ई ३, ऊ ऊ ३, ॠ ॠ ३ को अक्षर न कह कर अक्षर समान कहा है 'अष्टौ समानाक्षराणि आदितः' फिर ह्रस्व दीर्घ विधान में वर्ण और अक्षरों को 'स्वर' एक नाम दिया है, 'ओजाः ह्रस्वाः सप्तमान्ताः स्वराणाम्, अन्ये दीर्घाः।' इन दोनों भेदों को या ह्रस्व दीर्घों को 'अक्षर' नाम दिया है। पद वर्णन में अनुस्वार और व्यञ्जन को वर्ण या स्वर का अंग न कह कर 'अक्षर' कहा है। 'अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम्'। यही बात स्वरभक्ति के सम्बन्ध में कही हैं 'स्वरभक्ति पूर्वभागाक्षराङ्गम्'। मध्य वर्णों को फिर 'स्वर' नाम दिया है, 'स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य'। इन उल्लेखों में व्यञ्जनों से अक्षरों को अधिक महत्व दिया है। अब आपने देख लिया है कि ऋ० प्रा० ने चार भेद बतलाये हैं वर्ण, अक्षर, स्वर और व्यञ्जन। वर्ण हैं, अक्षर और स्वरों के भेद। व्यञ्जनों में : अनुस्वार विसर्ग, ह श ष स ≍ क ≍ प ऊष्माणों के भेद, पञ्च वर्ग, और अन्तःस्थ हैं। पर अनुस्वार को कोई पक्की स्थिति नहीं दी है, इसे स्वर या व्यञ्जन दोनों तत्व माना है 'अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा'। यह बड़े महत्व का वक्तव्य और विचार है। इस पर आगे विचार किया जावेगा। यहां पर 'अक्षर' उस ध्वनि को कहा है जिसे हम एक मानदंडीय ध्वनि मानकर उसकी अनेकों भेद अभेद वाली ध्वनियों को पहिचानने, जानने और निर्धारण करने में समर्थ होते हैं। ह्रस्व दीर्घ को गुरुत्व लघुत्व उदात्तादि, वृत्ति प्रभृति स्थान और करण भेद से अनन्त भेदों वाला समझ कर बिलकुल ठीक समझ कर 'अक्षर' कहा है। व्यञ्जनों का व्यञ्जक अक्षर या वर्ण या स्वर होता है। अतः यहां पर उनको अक्षर का अंग माना है, अंग मानने पर भी प्रत्येक व्यञ्जन का अक्षर (फोनीम) पृथक् होता है, भले ही उसका व्यञ्जक कोई भी स्वर या अक्षर क्यों न हों, उसका अक्षर तो होगा ही। एक ही व्यञ्जन के कई वर्ण होते हैं, स्वर 'अक्षर' की अनेक ध्वनियों में श्रुत वर्णभेदों को कहते हैं। प्रत्येक मुख के स्वर अपने अलग होते हैं, वर्ण उनसे सीमित हैं, परिचीयमान अनुगम्यमान और मापनीय ध्वनियाँ हैं। अक्षर इन सबकी मानदंडीय मौलिक ध्वनि है। ए ऐ ओ औ भले ही सन्ध्यक्षर हों, फिर भी 'अक्षर' हैं, इनके स्वर और वर्ण भी उक्त प्रकार के भेद अभेद वाले है हीं। आजकल की भारतीय आर्य भाषाओं में, ऐ और औ के उच्चारण के संकेत के लिए, यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय वर्णमाला में ɛ और æ संकेत दिया है, पर भारतीय भाषाओं में इन चिह्नों की आवश्यकता

नहीं है, उन्हें हम ऐ और 'औ' चिह्नों से ही संकेतित कर सकते हैं, क्योंकि भारतीय भाषाओं में ये सन्ध्यक्षर तो कहे गये हैं, पर हैं, मौलिक स्वर ही। ए ओ तो वैदिककाल में सन्धि मात्र में भेदक होने से सन्ध्यक्षर कहलाते रहे, वैसे ये थे, मौलिक अक्षर ही, अब तो हैं ही। दीर्घाक्षरों को आज का यन्त्रात्मक विज्ञान भी अक्षर (फोनीम) मानने लग गया है। व्यञ्जनों की श्रव्यता का आधार अक्षर वर्णकुल स्वर होता है या उनकी श्रव्यता अक्षर योग से स्फुटता पाती है। अतः व्यञ्जनों के अक्षर (फोनीम) का निर्णय अक्षर या स्वर ही करता है। इसी लिए उन्होंने व्यञ्जनों को अक्षर का अङ्ग कहा है। व्यञ्जनों के अक्षर (फोनीम), अक्षर (स्वर) से ही निर्धारित होते हैं। प्रातिशाख्यकारों ने इन्हें अक्षर (फोनीम) कहकर ध्वनितत्त्व ज्ञान की विशिष्टता का ही परिचय दिया। अतः अक्षर, स्वरों और व्यञ्जनों की वे मानदण्डीय स्वीकृत संस्थानीय ध्वनियाँ हैं, जिन्हें आजकल के लोग फोनीम कहते हैं। वर्ण वे हैं जो स्वरों और व्यञ्जनों की विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न श्रुतियों में सुनाई पड़ती हैं, या यों कहिये, इनके अक्षर (फोनीम) की जो विभिन्न प्रकार की श्रुतियाँ, विभिन्न भाषाओं या विभाषाओं में विभिन्न प्रकार से बोली या सुनी जाती हैं वे वर्ण हैं। उदाहरण में अंग्रेजी के त द थ का उच्चारण स्थान करण भेद से हमें ट ठ ड से सुनाई पड़ते हैं, क प त आदि ख, फ ठ (पदादि में) जैसे कहे जाते हैं। ये ध्वनियाँ हमारे मौलिक अक्षरों की पृथक् श्रुतियाँ हैं। वर्णमाला या वर्णसमाम्नाय में प्रयुक्त 'वर्ण' शब्द, वर्ण या फोनेमिक्स परक न होकर, प्रत्येक भाषा की लिपि में स्वीकृत संकेतों का वाचक, जातिवाचकता में है, व्यक्तिवाचकता में नहीं। 'अ' वर्ण 'गाय' शब्द के समान अ अक्षर के समस्त वर्णों की जाति का, 'गाय' शब्द के समान सब गायों की जाति का संकेत कारक है। यह वर्ण-जाति दो मुख्य प्रकार की है; 'स्वर' और 'व्यञ्जन'। स्वर प्रत्येक व्यक्ति का एकदम भिन्न होता है, जितनी जीवसंख्या, उतनी एक स्वर वर्ण की संख्या। व्यञ्जन स्वर का दास है, वह उसमें शृङ्गार, स्वाद, नामक की तरह घुला है, अतः जितने मुख उतने व्यञ्जन की वर्णता। इन वर्ण या स्वर या अक्षर को अनन्त भेदवाला समझकर, हमारे प्रातिशाख्यकारों ने प्रत्येक संकेतित स्वर या व्यञ्जन का पृथक् बोध करने के लिए 'कार' या 'अकार' शब्द जोड़ा है। 'इकार' माने 'इ' इस रेखा या लिपिरेखा या लेखा की आकृति से सम्बद्ध या संकेतित सब ध्वनियों की कृति या आकृति या स्वरूप है। इकार = इकृति, = इ की आकृति, 'आ'कार = 'आ' की कृति आ का आकार। जो अर्थ अकार का है वही 'कार' का भी है। व्यञ्जनों में 'अ'कार' जोड़ने में, 'अ' को व्यञ्जन का अञ्जन या स्पष्टीकारक बनाने के लिए जोड़ा है, शेष 'कार' शब्द

वही अर्थ रखता है जो स्वरों के साथ रखने में बतलाया जा चुका है। केवल 'र्' में 'रेफ' शब्द का प्रयोग इसकी ऋ लृ से और स्वरभक्ति से सम्बन्ध रखने तथा इसके ठीक उच्चारण में कपड़े फाड़ने की सी अर्र्र्र् सी ध्वनि का सूचन करने के लिये दिया है 'रिफ्यते विपाट्यते वस्त्रादिपाटनध्वनिवदुच्चारयति इति रेफः' (तै० प्रा० टीका १.१९)। दूसरी बात यह है कि यजुर्वेदी इस र् का उच्चारण 'रे' करते हैं; 'एफस्तु रस्य' (तै० प्रा० १.१९)। इस र की ध्वनि को गुर्राना, घर्घराना, भर्भराना रूप में भी माना है, अतः इसे रेफ ठीक कहा है। संक्षेप में लिखने वालों ने 'क'कार को किति, र् को रिति आदि ढंग से लिखा है। इस ग्रन्थ में वह भी नहीं, केवल 'क्' 'ग्' या 'क' 'ग' आदि लिखा है। 'कार' के स्थान में 'वर्ण' का भी प्रयोग किया गया है, जैसे इवर्ण कवर्ण। अतः 'कार' 'अकार' सब 'वर्ण या श्रुतिविशेष' के संकेतक हैं। वर्ण शब्द वर्णकुल 'अक्षरों' का प्रतिनिधि है; 'अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति' (महाभाष्य १-१-१)। अतः 'अक्षर' वर्णकुल या वर्णों का मूल स्रोत या फोनीम ध्वनियाँ हैं, वर्ण अक्षरों या वर्णकुल की विभिन्न व्यक्ति रूप श्रुतियाँ हैं, 'स्वर और व्यञ्जन' उक्त अक्षर और वर्णों की जातिवाचक संकेतों का नाम लिपि या स्वर या स्वर व्यञ्जन हैं, इन्हीं को अंग्रेजी में लेट्टर कह सकते हैं, अक्षर या वर्ण को नहीं। 'वर्णमाला' या वर्ण समाम्नाय में प्रयुक्त वर्ण शब्द समास में संक्षिप्त समास वाला है 'वर्ण जाति माला' 'वर्ण जाति समाम्नाय' या वर्ण माला या वर्ण समाम्नाय है। 'समाम्नाय' शब्द ही स्वीकृत संकेतों का वाचक है (दे० आगे हमारा अपौरुषेय वेद), मौलिक ध्वनियों का निर्देशक है। समाम्नाय में प्रातिशाख्यों और पाणिनि जी ने स्वरों में केवल ह्रस्व स्वरों को ही लिया है। अतः वर्ण समाम्नाय माने 'वर्णाक्षर' सा हो जाता है, इसको लिपिवाचक मानने में वर्णजाति अक्षर संकेत या वर्णकुल संकेत या वर्णकुल लिपि या वर्णजाति लिपि अर्थ होगा, अन्यथा वर्णकुल ध्वनि संकेत या वर्णकुल ध्वनि लिपि समझना ठीक है। क्योंकि बातें ध्वनियों की हो रही हैं, उन्हें संकेतित लिपि से किया जा रहा है, जिन दोनों में आकाश पाताल का स्पष्ट अन्तर सब जानते हैं। अतः अक्षर (फोनीम) वर्णकुल और वर्ण (श्रुतियों) की ध्वनियों के जातिवाचक स्वरूप के लिखित संकेत को लिपि, स्वर या स्वर-व्यञ्जन या लेट्टर कहते हैं। अक्षर सिद्ध ध्वनियाँ हैं। वर्ण और उन ध्वनियों के अनन्त भेद और अक्षर या फोनीम की आधुनिक विस्तृत व्याख्या आगे देखें।

—❀—

अध्याय ४

वर्ण समाम्नाय विभाजन

हमारे ध्वनिशास्त्रकारों की सबसे अद्भुत, अलौकिक और परम वैज्ञानिक खोज थी *समाम्नाय का सूक्ष्म वैज्ञानिक मानदंड से विभाजन*। यह सर्वस्वीकृत मत है कि ऐसा स्वतः सम्पूर्ण सर्वाङ्गीण विभाजन इस भूलोक की किसी जाति या वर्ग ने नहीं कर पाया, जिसने जाना वह भारत से ही। अतः समस्त भूमण्डल हमारे ध्वनिशास्त्रियों का नित्य ऋणी रहेगा। हमारे ध्वनिशास्त्रकारों की ध्वनिविषयक विचार पद्धति दो मुख्य धाराओं में प्रवाहित हुई है। (१) ध्वनिविचार (फोनेटिकस्) जिसमें अक्षर (फोनीम) और वर्ण (फोनेमिक्स्) आते हैं। (२) ध्वनिविकास (फोनोलोजी)। प्रथम कोटि में समाम्नाय विभाजन आता है। समाम्नाय विभाजन में स्थान और करण का निर्णय मुख्य है। इन दोनों से अधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं इन स्थानों के या स्थानों से करण के प्रयत्नों का बारीक वर्णन। प्रयत्नों में बारीक ढंग से विचार करने के लिए उन्होंने इन्हें दो स्थूल भागों में बाँटा (१) आभ्यन्तर प्रयत्न (२) बाह्य प्रयत्न। इन दोनों की सीमा हमारे काकालक से बनती है। यहाँ पर दिये आभ्यन्तर और बाह्य शब्द धोखेबाज हैं। कहीं उलटा न समझ लें।[1] आभ्यन्तर प्रयत्न-ओठ से लेकर काकालक तक होता है। 'पतञ्जलि' जी ने लिखा है 'ओष्ठात्प्रभृति प्राक् काकालकात्' (महाभाष्य १–१–४)। पाणिनि तथा कात्यायन प्रातिशाख्य इसका नाम 'आस्य प्रयत्न' भी कहते हैं; 'तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम्' (१–६१)। काकालक से पीछे अर्द्धेन्दु तक के प्रयत्नों को 'बाह्य प्रयत्न' कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न चार प्रकार का होता है (१) स्पृष्ट (२) स्पृष्टेषत् (३) स्पृष्ट विवृत (४) संवृत। स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्श व्यञ्जनों का होता है (पाँच वर्ग)। य र ल व में ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न होता है; स्वरों और ऊष्माणों या घृष्ट व्यञ्जनों का विवृत प्रयत्न होता है। ह्रस्व 'अ' संवृत माना गया है। पर शब्द सिद्धि प्रक्रिया में इसे विवृत ही मानते हैं। बाह्य प्रयत्न बड़ा जटिल हैं, इसके ११ भेद हैं; विवारः, संवारः, श्वासः, नादः, घोषः, अघोषः, अल्पप्राणः, महाप्राणः, उदात्तः, अनुदात्तः, और स्वरितः। प्रत्येक वर्ग का प्रथम और द्वितीय वर्ण क च त ट प, ख छ ठ थ फ, इनसे सन्धि में आये पञ्चम वर्ण ङ ञ ण न म, विसर्ग और श ष स, का प्रयत्न विवार (विवृत)

---

१. एके वर्णान् शाश्वतिकान् न कार्यान् (१३–१३ ऋ० प्रा०)।

होता है, श्वास होता है और अघोष होता है, पर ह घोषवान् होता है। शेष ग ज ड द ब, घ झ, ढ ध भ, इनके साथ ञ ङ ण म न का संवार (संवृत) प्रयत्न होता है। ये नादवान् होते हैं, घोषवान् भी। वर्गों के प्रथम तृतीय के यम तथा य र ल व अल्पप्राण होते हैं। उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वर होते हैं।

'उत्तरे अष्टा ऊष्माणः। अन्त्याः सप्त अघोषाः, वर्गे वर्गे प्रथमावघोषौ, युग्मौ सोष्माणौ, तेषामाद्याः स्पर्शाः, तस्मादन्यमवसाने तृतीयं गार्ग्यः स्पर्शम्, प्रथमं शाकटायनः' (ऋग्वेद प्रातिशाख्यं पटलं १—वर्ण समाम्नायः)।

'खयां यमाः खय ⤫ क ⤫ पौ विसर्गः शर एव च। एते श्वासानुप्रदाना, अघोषाश्च विवृण्वते। कण्ठमध्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः। अयुग्मा वर्णं यमगा यणश्चाल्पासवः स्मृताः॥ प्रातिशाख्य॥'

'एके वर्णाञ्छ्राश्वतिकाश्च कार्यान्। आहुर्घोषं घोषवतामकारमेकेऽनुस्वारमनुनासिकानां सोष्मतां च सोष्मणामूष्ममाहुः संस्थानेन। खकारस्य⤫क इत्येतेन, छकारस्य श इत्येतेन, ठकारस्य ष इत्येतेन। थ कारस्य स इत्येतेन, फ कारस्य ⤫ प इत्येतेन। घोषिणां घोषिणैव अत्रोत्पन्नावपर ऊष्मघोषौ शीघ्रतरं सोष्मसु प्राणमेके। रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्। एतद्वर्णात्मशास्त्रमाहुः॥ श्वासता नादता उभयता स्पृष्टता दुःस्पृष्टता, अस्पृष्टता। कण्ठविलस्य विवृतता संवृतताऽघोषता घोषता सोष्मताऽनुनासिकेति॥' (ऋक्प्रातिशाख्य १३—१५ से २१)।

'ऊष्माणः विसर्जनीयश्च प्रथमद्वितीयाश्च अघोषसंज्ञाः। हकारोऽघोषो न भवति (ऊष्मत्वादघोषत्वप्राप्ते तदपवादोऽयम्)। व्यञ्जनशेषो घोषवान्॥' (तै० प्रा० वर्ण समाम्नाय १—१२—१४)।

'संवृते कण्ठे नादः क्रियते, विवृते श्वासः। मध्ये हकारः। स्वरेषु घोषवत् स ता वर्णप्रकृतयः। नादश्वासहकाराः। नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु। हकारो ह चतुर्थेषु (घ झ ढ ध भ ह) हकारः। अघोषेषु श्वासः। खादावपि। भूयान् प्रथमेभ्यः श्वासः॥' (तै० प्रा० २—११)।

विशेष—इन उद्धरणों की व्याख्या अगले अध्याय में देखें।

अध्याय ५

श्वास, घोष और नाद में भेद तथा अल्पप्राण और महाप्राण में अन्तर

अभी तक भी, पाश्चात्यों को श्वास, नाद और घोष का अन्तर विदित नहीं हुआ है। वे घोष और अघोष को नादवान् और नादहीन ध्वनियाँ समझे बैठे हैं। उन्हें अभी तक ऋ० प्रा० १३–१, २ और तै० प्रा० २–४, ५, ६ का भी यथेष्ट अर्थ नहीं लग पाया है (दे० ऊपर उल्लेख)। परिस्थिति इस प्रकार की है। जब अर्द्धेन्दु संवृत (बन्द) रहता है तो नाद होता है; जब वह विवृत (खुला) रहता है तो श्वास निकलता है, पर जब न एकदम बन्द ही रहे न न एकदम खुला ही रहे तो न तो नाद होता है; न श्वास, पर दोनों की सम्मिश्रित ध्वनि घोष होता है। (देखिये अन्तिम उल्लेख ऊपर 'मध्ये हकारः') ध्वनियाँ इस प्रकार तीन प्रकार की हैं; नाद, श्वास और (हकार) घोष। नाद की ध्वनि स्वरों में और ग ज ड द ब में मुख्यतः होती है, श्वास वाले ऊष्म ॳ ॲ ं (अनुस्वार) अः, श ष स ᳵक ᳶप तथा क च ट त प हैं। इनमें न नाद है, न घोष, केवल श्वास है। अतः इन्हें अघोष भी कहते हैं, तो ये स्वयं नादहीन भी हुये, जिनमें घोष ही नहीं उनमें नाद कहाँ से आवे। हां घोष ध्वनि केवल 'हकार' की है (मध्ये हकार)। यह श्वास से अधिक, नाद से कम ध्वनि मध्यम श्रेणी की ध्वनि, घोष नाम की मुख्यतः 'ह' की ही है (श्वासता नादता = उभयता = श्वासनादता = घोषता)। यह श्वास नाद और घोष वाले वर्णों का मुख्य विभाजन है। ('हकारो ऽघोषो न भवति', 'न हकार' तै० प्रा० १, १२–१४)। हकार कभी भी अघोष नहीं होता पर पाश्चात्य भाषाओं में यह 'ह' या घोष 'ह', है ही नहीं, उनके पास अघोष 'ह' है। अतः वे घोष ह की बात अब तक समझ ही नहीं सके हैं।

एक दूसरा बड़ा भारी भ्रम पौर्वात्य और पाश्चात्यों को अन्धकार में डाले हुये है। वे समझते हैं कि ख छ ठ थ फ व्यञ्जन क्रम से क्+ह्, च्+ह्, ट्+ह्, त+ह, प+ह से बने हैं, यह महान् भूल है। यदि ऐसा होता तो पाश्चात्य तो हमारे ह् को नादवान् समझे बैठे हैं, अतः उनके अनुसार उक्त व्यञ्जन नादवान् हो गये, भारतीय ऐसा माने तो उक्त व्यञ्जन घोषवान् हो जाते हैं, पर सब इनको 'अघोष' बतलाते आ रहे हैं, यह उनके भ्रम के

अनुसार कैसे हो सकता है? बात ऐसी है, ख्=क्+ᳵक्, छ्=च्+श्, ठ=ट्+ष्, थ=द+स् और फ=प+ᳵ प है। अर्थात् क च ट त प के साथ उनके वर्गीय ऊष्म व्यञ्जनों की ऊष्मता सम्मिलित हैं। उक्त ऊष्म भी श्वासवान् है, क च ट त प भी श्वासवान् है, दोनों श्वासवानों का योग श्वासवान् की ही सृष्टि करता है। श्वासवानों के योग के कारण ख छ ठ थ फ भी श्वासवान् या अघोष हुए, जो अघोष हुये वे स्वयं नादहीन भी हो गये (देखिये बीच का बड़ा उद्धरण ऊपर)। यहाँ पर एक बड़ी मार्मिक बात उल्लेखों के अन्त का वाक्य 'भूयान् प्रथमेभ्यः श्वासः' कहता है कि 'क च ट त प' से 'ख छ ठ थ फ' में श्वास की मात्रा का परिमाण अधिक होता है, यही इनकी श्वासता का महान् अन्तर है। अधिक श्वास का दूसरा पारिभाषिक नाम 'महाप्राण' है, अतः 'ख छ ठ थ फ' महाप्राण कहलाते हैं, क्योंकि क च ट त प में, उक्त महाप्राणों से कम श्वास या अल्प श्वास की आवश्यकता पड़ती है, अतः इन्हें दूसरे पारिभाषिक शब्द 'अल्पप्राण' नाम से पुकारते हैं। प्राण नाम श्वासों का है, कम श्वासों वालों को अल्पप्राण, अधिक श्वास वालों को महाप्राण कहते हैं। यही अन्तर अल्प प्राण और महाप्राण का है। सोष्मों में प्राण बड़ी शीघ्रता या तीव्रता से निकलते हैं, 'शीघ्रतरं सोष्मसु प्राणमेके' (वहीं), यह कुछ लोगों का मत है।

अब सबसे बड़ी समस्या है 'घ झ ढ ध भ' की। इनकी मौलिक ध्वनियाँ नादवान् 'ग ज ड द ब' क्रम से हैं। इनमें श्वासवान् ऊष्म ध्वनियाँ ᳵ क श् ष स ᳵ प क्रम से मिल ही नहीं सकती, क्योंकि ये दोनों वर्गों की उच्चारण विधि में अर्द्धेन्दु की स्थितियाँ एक दूसरे से बहुत दूर पड़ती है, प्रथम (ग ज आदि) संवृत हैं, (ᳵ क श आदि) विवृत हैं। एक नादवान् हैं दूसरे श्वासवान्। दोनों का मेल उच्चारण विधि के भी विरुद्ध है। इनमें इन दोनों का मध्यस्थ हकार (मध्ये हकारः) ही सम्मिलित हो सकता है। अतः घ्=ग्+ह्, झ=ज्+ह्, ढ=ड्+ह्, ध्=द्+ह्, भ्=ब्+ह् ही वैज्ञानिक विश्लेषण हो सकता है। इस संयोग से घ झ ढ ध भ में (ग ज आदि की नादता भी है (ह की) घोषता भी है। अर्थात् इनमें उभयता है। ध्यान रहे 'ह' ध्वनि, 'अ' ध्वनि की तरह तटस्थ या मध्यस्थ ध्वनि है। अतः यह नादीयों में विशेषकर सम्मिलित हो सकती है, क्योंकि घोष भी, नाद की ही मध्यम स्थिति है। यहाँ तक कि कुछ लोग यह भी मानते हैं कि 'ह' ध्वनि स्वरों में भी सम्मिलित रहती है। क्योंकि 'अ' को छोड़ कर शेष सब स्वर ईषद् विवृत है, ईषद् विवृतता तो हकार की भी है। और ग ज ड द ब तथा घ झ ढ ध भ के साथ आये 'अ' स्वर को भी घोषवान् ही मानते हैं।

संगीत में तो घोष अधिक होता ही है। अतः वेदपाठ को 'वैदिकघोष' कहते हैं, वैदिकनाद नहीं। 'वैदिकध्वनि' का अर्थ भी वैदिकघोष ही होता है। अतः कहा है 'घोषिणां घोषिणैव' (देखो बीच का बड़ा उद्धरण) तथा 'हकारो 'ह' चतुर्थेषु' (वहीं)। यहाँ भी ग ज द ड ब अल्पप्राण है, घ झ ढ ध भ महाप्राण। प्राण श्वास को ही कहते हैं, बिना प्राणों या श्वासों के नाद भी नहीं हो सकता, घोष भी नहीं, प्राणवायु या श्वास तो ध्वनियों का मूल तत्त्व है। कानाफूसी में श्वासध्वनि होती है, गुनगुनाने में श्वास और घोषध्वनि, उच्चस्वर में श्वासघोष और नाद। पर श्वास या कानाफूसी के स्वर में भी अघोष, घोष अल्पप्राण महाप्राण नाद आदि भेद सूक्ष्मतया अवश्य रहेंगे ही, यहाँ 'श्वास' या 'प्राण' को समझाने के लिए ये दृष्टान्त दिये गये हैं। छ झ ढ ध भ ध्वनियाँ अधिक कठिन हैं, पाश्चात्य देशों की भाषाओं में इन ध्वनियों का सर्वथा अभाव है। ये ध्वनियाँ भारतीय तथा पारसीक आर्य वंश की अपनी सम्पत्ति रही है। वे शुद्ध उच्चारण करने में समर्थ थे। अतः वही इनका प्रयोग भी कर सके, पाश्चात्यों के पूर्वज इनके पास न फटक पाये। वैसे पाश्चात्यों के पास ख छ ठ भी नहीं है, थ और फ, स्पर्शों में नहीं, पर ऊष्मों में (घृष्ट वर्णों में) मिलते हैं। 'हां, एक 'फ' स्पर्श है भी तो तीन दूसरे अधूरे अघोष ऊष्म त्ह्, क्ह्, प्ह् क्या हैं, वही जानें।

उक्त विवेचन से फलीभूत एक बड़े महत्त्वपूर्ण और नितान्त नवीन बात का उल्लेख करके इस प्रकरण को समाप्त किया जाय। पाश्चात्य लोग ख् घ् ज् झ् ठ् ढ् थ् ध् फ् भ् को अस्पिरेट तथा क् ग् च् ज् ट् ड् त् द् प् ब् को 'नन अस्पिरेट' कहकर पंचवर्गीय स्पर्शों का जो विभाजन करते हैं वह नितान्त अशुद्ध है। द्वितीयों का चतुर्थों से कहीं किसी प्रकार का मेल नहीं है, यह आप देख चुके हैं, अतः इनकी ऐसी खिचड़ी एकदम अवैज्ञानिक है। वस्तुतः विभाजन इस प्रकार का है, शाकटायन तथा ऋ. प्रा. कार मानते (ऋ. प्रा.) हैं कि स्पर्श नाम के व्यञ्जन केवल वर्गों के आदि के व्यञ्जन क् च् ट् त् प् हैं, गार्ग्याचार्य तृतीयों ग् ज् ड् द् ब् को भी स्पर्श कहते हैं। पर 'ख छ ठ थ फ' केवल 'सोष्म' हैं या ऊष्माणः ✕ क श ष स ✕ प युक्त हैं; ये 'अस्पिरेट' नहीं हैं। दूसरे घ झ ठ ध भ ये सब 'घोषी नादवान्' हैं, क्योंकि ग ज ड द ब नादवान् है, उनमें 'घोष' ह मिलने से ये घ झ ढ ध भ बने हैं। अतः घोषी या घोषीय नादवान् हैं, इसलिए कहा है 'घोषिणां घोषिणैव' 'अत्रोत्पन्नावपरे ऊष्मघोषौ' (बीच का उल्लेख), ख छ आदि सोष्म, तथा घ झ आदि घोष या घोषी हैं। 'अस्पिरेट' कहना चाहें तो केवल घ झ ढ ध भ (घोषी) को कह सकते हैं, सोष्मों को नहीं। पर उनका 'ह' तो अघोष है, नादवान् है, यह भी कैसे हो सकेगा?

एक विशेष बात यह है कि घ झ आदि के ग ज आदि से बनने में 'ह' का योग नहीं है, पर हकारता का योग है, ह के योग में तो ये द्विव्यञ्जन या संयोग पिंड से हो जायंगे। जैसे पंजाबी का प्ह्‌ाई = भाई। ऐसे ही सोष्मों में ≍ क≍प आदि की ऊष्मता मात्र मिली है। हमारे यहाँ तो इनको स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् रखा है। लिखा है 'सोष्मणां घोषिणां च श्वासनादौ' कि सोष्मों या, 'ख् छ् ठ् थ् फ' का, उच्चारण श्वास में ही होता है तथा घोषियों या 'घ् झ् ढ् ध् भ्' का उच्चारण नाद में होता है। और इसी को दूसरे ढंग से कहते हुए लिखा है 'श्वासो ऽघोषाणाम्, इतरेषां तु नादः', अघोषों में (ख छ आदि में और क च आदि में) श्वास होता है, अन्यों में (ग ज आदि घ झ आदि में) नाद होता है (ऋ० प्रा० १३-४, ६)। श्वास नाद घोष का अन्तर साफ दिखलाने के लिए 'घोष' की स्थिति स्पष्ट करते हुये लिखा है 'उभयं वान्तरौभौ' कि ह में श्वास और नाद दोनों हैं, इन दोनों की—श्वास नाद की—मिश्रित ध्वनि ही घोषध्वनि है। इसके विपरीत उच्चारण करने वालों को ललकारते हुये ऋ० प्रा० पुनः कहता है कि जो लोग ह के उच्चारण में केवल श्वास का प्रयोग करते हैं या उसमें अघोष वाली सी ध्वनि करते हैं वे महान् भूल करते हैं, 'श्वासोऽघोषनिभता वा हकारे' (१४-२८)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋ० प्रा० के विचार से हकार में केवल घोष ही होता है, नहीं तो वे कहते 'अनादनिभता'। अब ऊष्मों के निर्माण का चित्र देते हुये लिखा है 'सोष्मतां च सोष्माणमूष्ममाहुः संस्थानेन' (ऋ० प्रा० १३-१६) 'सस्थानेन द्वितीयः' (अपिस्थली शिक्षा ४-९)। अर्थात् द्वितीयों की या सोष्मों की—'ख् छ् ठ् थ् फ्' की—ऊष्मता क्रम से अपने-अपने स्थानीयों ≍ क्, श्, ष् स् ≍ प् के योग से होती है, यह स्पष्ट कर दिया गया है। पाणिनि शिक्षा (३९-४०) ने स्थूल रूप से लिखा है 'नादिनो ह झ प स्मृताः। ईषन्नादा यण् जशश्च श्वासिनस्तु खफादयः। ईषच्छ्वासंश्चरो विद्यात् गोर्धामैतत्प्रचक्षते ॥' यही हमारी सरस्वती का मन्दिर है। आज कल की कलों ने उक्त विश्लेषण का आकलन, सत्य प्रमाणित कर दिया है (पाइक, स्वीट)।

—※—

अध्याय ६

हमारा वर्णसमाम्नाय

(शाखानुसार)

	मुख	ओष्ठ्य	दन्त्य	दन्तमूलीय	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	हनुमूलीय	जिह्वामूलीय	कण्ठ्य	उरस्य
अघोषा		प	त	त		ट	च	क	क	क	
सोष्मा		फ	थ	थ		ठ	छ	ख	ख	ख	
नादीया		ब	द	द		ड	ज	ग	ग	ग	
महाप्राणा		भ	ध	ध		ढ	झ	घ	घ	घ	
नासिक्या		म	न	न		ण	ञ	ङ	ङ	ङ	
लकारा			ल	ल			ल		(लृ)	ल	
रेफ					र	र		र	(ऋ)	र	
भुग्ना		व		ल	र		य				
अंतःस्थान	व्व	व				र	य ल				
अयोगवाह ऊष्माण		≍प	स	स		ष	श		≍क ह	≍क ह अः	ह अः ॐ अं ँ ६
हकार										ह अः	ह अः
ळकार							ड़ ळ		ड़ ळ		
महाप्राण							ढ़ ळ्ह		ढ़ ळ्ह		
संवृत										अ	
विवृत	ह्रस्व	उ					इ		आ	उ	
विवृत	दीर्घ	ऊ	ओ				ई ए	अे	ऋ लृ	ओ	
विवृत	सान्ध	ओ	औ				ए ऐ	अै		औ	

संक्षिप्त समाम्नाय विभाजन (फोनेटिक्स्)

व्यञ्जनानि		ओष्ठ्याः	दन्त्याः वा दन्तमूलीयाः वा	वर्त्स्याः वा मूर्द्धन्या वा	तालव्याः	हनुमूलीयाः	जिह्वामूलीयाः कण्ठ्या वा बाह्यप्रयत्नाः	प्रयत्नम्
		आभ्यन्तरप्रयत्नाः				बाह्यप्रयत्नाः		
आभ्यन्तरप्रयत्नसाध्याः — विवृताः — श्वासवन्तः — अघोषाः — विसर्गः श्वासीया	अल्पश्वासाः अल्पप्राणाः स्पर्शाः	प्	त्	ट्	च्	क्		स्पृष्टम्
	सोष्माणः महाप्राणाः भूयाञ्छ्वासः	फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्		स्पृष्टघृष्टाः
संवृताः — नादवन्तः — घोषवन्तः — ळ, हकारीय नादवन्तः	अल्पश्वासाः अल्पप्राणाः स्पर्शाः	ब्	द्	ड्	ज्	ग्		स्पृष्टम्
	भूयाञ्छ्वासः महाप्राणाः घोषिणः	भ्	ध्	ढ्	झ्	घ्		स्पृष्टघृष्टाः
घोषवन्तः — अल्पप्राण स्पर्शाः	नासिक्याः- रक्तवचनाः- अनुनासिक्याः	म् ँ ं	न् ँ ं	ण् ँ ं	ञ् ँ ं	ङ् ँ ं	अयोग वाहाः अं ँ ँ ः	विवृत नासिक्याः ईषत्स्पृष्टम्
बाह्य प्रयत्नाः — दुःस्पष्ट-घृष्टाः — अल्पप्राणाः	अन्तःस्थाः	व्	ल्	र्	य्		ऋ ऌ	ईषत्स्पृष्टाः
श्वासीयाः ईषद्विवृताः घृष्टाः — ऊष्माणः उपध्मानीयाः — अघोषाः	ऊष्माणः अल्पप्राणाः (विसर्गश्वासीयाः)	अयोगवाहाः ᳶप्	स्	ष्	श्	ᳵक्	अः, ः	ईषद्विवृत घृष्टाः
संवृतः घोषवान् नादवान् श्वासवान्	महाप्राणः ह-श्वासनादीयः						ह्	संवृतः
स्वराः	कण्ठोष्ठीयाः	आभ्यन्तरप्रयत्नाः				बाह्यप्रयत्नाः		
आभ्यन्तरप्रयत्नाः — अनुनासिक्याः उदात्तानुदात्त-स्वरिताः — श्वासघोषीयाः	विवृतह्रस्वाः	उ	ऋ	ऌ	इ	अ ऋ ऌ अ	ऋ ऌ	संवृत विवृत विवृत विवृत
”	विवृतदीर्घाः	ऊ ओ			ई ए	आ		विवृत
”	विवृतसान्ध्याः	ओ औ			ए अे	अै		विवृत विवृत

ध्वनिविकास (फोनोलोजी)

उक्त समाम्नाय विभाजन की ध्वनियों में से अं (उपध्मानीय), अ (संवृत), अ (विवृत) और 'ऋ' (कण्ठ्य) अब तक पाश्चात्यों की समझ से परे की वस्तु बनी हुई हैं। इन पर आगे प्रकाश डाला जावेगा। यहाँ पर यह बता देना परम आवश्यक है कि प्राचीन शिक्षा और प्रातिशाख्य कारों ने प्रकृति, गुण और वृद्धि शब्दों का प्रयोग किया है[1]। उनके ग्रन्थों में इन नियमों से सन्नियन्त्रित छन्दोमय भाषा भी है। पाणिनि जी ने अपने पूर्ववर्ती ६८ शब्दानुशासन लेखकों की सरणि को ही अपनाते हुये ध्वनि विकासों का पूर्ण चित्र उपस्थित कर दिया है। उनके माहेश्वर सूत्रों में ही स्वरों का क्रम ठीक उक्त सिद्धान्तों के अनुसार उपस्थित किया गया है, जैसे :—

			या यों लिखिये
(अ) ऋ	(अ)	(आ ×)	
इ	ए	ऐ	अ (ऋ) इ उ (ण्)
उ	ओ	औ	(अ) ए ओ (ङ्)
(ण्)	(ङ्)	(च्)	(आ) ऐ औ (च्)

यहाँ पर पाणिनि जी ने विवृत 'अ' को समाम्नाय में रख कर, (अपने सुभीते के लिए) बड़ी गड़बड़ी कर दी है। इसी लिए उन्हें अष्टाध्यायी समाप्त कर चुकने पर होश आई और अन्त का सूत्र 'अ अ' लिख कर अपनी भूल सुधार गये। वास्तव में 'अ' नित्य संवृत है। यह प्रणव रूप स्वर सुमेरु रूप सर्वस्वर रूप 'अ' है। इसका विवृत रूप संवृत 'अ' से नहीं वरन् विवृत 'ऋ' से आता है। इसी लिए प्रायः सभी प्रातिशाख्य कारों ने संवृत 'अ' के पश्चात् प्रथम विवृत स्वर 'ऋ' माना है। इसी 'ऋ' स्वर् से गुण अर, और वृद्धि 'आर्' रूपों द्वारा विवृत अ और विवृत 'आ' उत्पन्न होते हैं, फलतः विवृत 'अ' और 'आ' को सवर्ण कहना भी अनुचित है। ये एक स्वर ऋ के गुण और वृद्धि के रूप हैं। शेष आगे विचार होगा। अस्तु अब प्रकृति गुण-वृद्धि के विकासों पर विचार करने पर निम्नलिखित चक्र उपस्थित होता है।

प्रकृति	ऋ—कृतम्	इ—चित्तम्	उ—बुद्धिः
गुण	अ (र्) करणम्	ए—चेतः	ओ—बोधः
वृद्धि	आ (र्) कार्यम्	ऐ—चैत्यम्	औ—बौद्धः

---

१. ऋक् प्रातिशाख्य ११-१० (गुण) का० प्रा० ५-२९ (वृद्धि), अथर्व० प्रा० ३-१-१३ यास्क निरुक्त १०-१७ गुण। अथर्व० प्रा० ३-१-१३ (सम्प्रसारण)।

सन्धि से विकास सवर्ण दीर्घ

राम + अयनम् = रामायणम्
राम + आज्ञा = रामाज्ञा
राजा + आज्ञा = राजाज्ञा
रवि + इष्टम् = रवीष्टम्
यति + ईश्वरः = यतीश्वरः
भानु + उदयः = भानूदयः

गुण सन्धि

राम + इष्टम् = रामेष्टम्
आज्ञा + इति = आज्ञेति
एक + ऊनम् = एकोनम्
राजा + उदयः = राजोदयः
ब्रह्मा + ऋषिः = ब्रह्मर्षिः

सम्प्रसारण

धीः धियः
वाग्घरिः
तनूः तनुवः
बभूव, चकार
जहार जगौ
सोढ वोढ

वृद्धि सन्धि

विश्व + मित्र = विश्वामित्रः
देव + ऐश्वर्यम् = देवैश्वर्यम्
महा + ओषधम् = महौषधम्
गंगा + ओघः = गंगौघः
देव + औदार्यम् = देवौदार्यम्

व्यतिक्रम सन्धियाँ

सुधी + उपास्यः = सुध्युपास्यः
मधु + अरिः = मध्वरिः
धातृ + अंशः = धात्रंशः
ऌ + आकृतिः = लाकृतिः
व्याकरण = वैयाकरणः
व्याघ्र = वैयाघ्रः

व्यतिक्रम गुण, वृद्धि, गौण विकास

शम्भुः—शम्भोः शाम्भवः
मधुः मधोः माधवः
हरिः हरेः हरये
गौ, 'गोः' गावौ गावः गाः
रै राया
तनौ इति तनाविति
भू भो भवः भावः शक्तिः शाक्तः

व्यतिक्रमविकास

युवन् = यूनः
स्वपिति = सुप्तः
यजति = इज्यते ।

पूर्वरूप या ध्वनिशून्यता

रामः + अयम् = रामोऽयम्	वपति = उप्यते
ब्रह्मा + ऋषिः=ब्रह्मर्षिः, धा + त=हितं	अवति = ऊतम्
गृहे + अस्ति = गृहेऽस्ति	मघवा = मघोनः
राभ्याम्, महान् ; राज्ञः	श्वान = शुनः

अतः स्वरों का स्वाभाविक क्रम यह होना चाहिए—संवृत अ—विवृत स्वर—ऋ इ उ, अ ए ओ, आ ऐ औ। प्रातिशाख्य कारों ने 'ऋ' का उच्चारण स्थान 'र' के समान मूर्द्धन्य या वर्त्स्य न बता कर कण्ठ्य या हनुमूलीय या जिह्वामूलीय माना है, यहीं से संवृत 'अ' का उच्चारण भी होता है। का० प्रा० 'ऋᳲकौ जिह्वामूले' (1-65)। (ऋ० प्रा० 4-1-41)। 'जिह्वामूलेᳲक ऋ' और 'ऋकारलृकारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयः प्रथमश्च वर्गः', इन प्रमाणों से स्थिति बिलकुल स्पष्ट है। उक्त ध्वनिविकास का चिट्ठा, हमारे ध्वनिशास्त्रियों की प्रतिभा का स्वयं प्रमाणपत्र सा है।

हमारे सच्चे वेद और सच्चा अपौरुषेय वेद—विद्वानों ने अभी तक ध्वनिशास्त्र में वर्णित अक्षर (फोनीम) और वर्ण (फोनेमिक्स) को दिये हुये 'समाम्नाय' नाम की यथार्थता पर विचार तक नहीं किया है। आप लोग जानते हैं कि 'आम्नाय' शब्द का अर्थ 'वेद' होता है 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' (अमर 1-6-3)। तब 'समाम्नाय' के माने सीधे-सीधे 'सच्चे वेद' होता है। यह इसलिए कि सृष्टि के अन्त में सब तत्त्वों का लय प्रणव (ओम् = अ + उ + म्) में होता है, यह प्रकृति है, और अ + उ + म् में से उ + म् का लय अन्त में 'संवृत' 'अ' में होता है। यह शब्द ब्रह्म है, समस्त शब्दों की मूल प्रकृति है। यह ऊर्ध्व बुध्न वेद वृक्ष का मूल या जड़ है 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्' और गीता का 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्' (15-1) वाक्य स्पष्ट रूप से इस ऊर्ध्वमूल प्रणव रूप 'संवृत अ' को वेद नाम से पुकार रहा है, और अवधारणपूर्वक कह रहा है कि वही वेद का (शब्द ब्रह्म 'संवृत अ' का) ज्ञाता है जो सृष्टि की इस प्रकार की व्याख्या जानता है। पुरुष सूक्त ने भी यही भाव शब्दों की क्रमशः उत्पत्ति देकर कही है 'तस्मात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।[1]' उस शब्द ब्रह्म

1. इसका वैज्ञानिक विवरण वैदिक विश्व दर्शन के पुरुष सूक्त व्याख्या में दे दिया है उसे अवश्य पढ़ लिया जाय।

रूप संवृत सर्वहुत 'अ' से ऋच (अचः = स्वरा) जज्ञिरे (अचों का वैदिक नाम ऋच है सत्य है ऋ से ही विवृत अ उत्पन्न होगा। पुनः सामानि सादि उपध्मानीया—उ संकेतित—जिसके बदले वैदिक नाम साम है, फिर छन्दाँसि (पञ्चवर्ग रूप छन्दोमयानि), तदनन्तर यकारादि (यण् की जगह यजुष् वैदिक नाम) य र ल व उत्पन्न हुये। अतः हमारा सच्चा ऋग्वेद = ऋचः = अचः स्वराः हैं। हमारा सामवेद आठ उपध्मानीय (:) स् आदि है, हमारे सच्चे छन्द पञ्चवर्गीय 'कचटतप' श्यादि व्यञ्जन हैं, हमारा सच्चा यजुर्वेद दीर्घस्वर और यरलव यादि (यण् = यजुः) हैं, प्रत्येक ऋग् यजु साम मन्त्रमय वेद अपने-अपने मंत्रों में अपने भाग की ध्वनियों में एक दूसरे से कुछ विशिष्टता भी रखते हैं। ये समाम्नाय रूप वेद, आप जानते हैं किसी के बनाये हुये नहीं हैं, सब स्वयं ही क्रमशः उत्तरोत्तर विकसित हुये हैं। जिनसे 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' कहा है, उसने, अधिक सम्भव है, समाम्नाय वेद श्रुतियों या ध्वनियों को ही दृष्टिपथ में रखकर ऐसा कहा है, यह सन्देह की भूमि से दूर घोषित हो जाता है। अतः हमारे ये समाम्नाय = सच्चे वेद हैं और सच्चे अर्थ में अपौरुषेय भी हैं, इसमें पुरुष (आत्मा) तक का हाथ नहीं हैं। शब्द ब्रह्म 'संवृत अ' प्रकृति है, वही स्वयं विकसित होकर विभिन्न श्रुतियों या ध्वनियों का उक्त रूप लेती है। चूंकि पुरुष प्रकृति में अभिन्न सहचर रूप में रहता है, अतः प्रकृति का विकास 'यस्य निःश्वसितं' के रूप में वर्णित है, है वह विकास स्वयं अपौरुषेय ही। वास्तविक तथ्य यह है हमारे ५० स्वर व्यञ्जन, वैदिक दर्शन के ५० तत्वों के प्रच्छन्न संकेत हैं, प्रत्येक अक्षर अक्षर ब्रह्म है यही अक्षर रूप तत्व विकास पाते हैं। अपौरुपेय हैं। सायणाचार्य जी ने अपने ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात में मंत्र शरीरी वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करने की अर्थवादादि दलीलें पेश की हैं। मंत्रात्मक वेदों के छन्दात्मक शरीर को कोई शक्ति अपौरुपेय सिद्ध नहीं कर सकती, हां उनमें, प्रतिभा = दर्शनात्मक शब्दब्रह्म-व्याख्यामय जो भावनायें हिरण्यगर्भ, नासदीय, अस्यवामस्य, ब्रह्मणस्पति, विश्वकर्मा और पुरुष सूक्त में अभिधा में तथा अन्य सोम उषा प्रभृति में नीहारावृत रहस्यमय भावना में निहित हैं उन्हें शब्दब्रह्म व्याख्यामय होने से अपौरुपेयभावनामय मात्र कह सकते हैं बस। सायणाचार्य जी ने सर्वदर्शन संग्रह में प्रतिभा = दर्शन जैसे शब्दब्रह्म मय दर्शन का नामोल्लेख तक नहीं किया है। हाँ एक बड़ी बेतुकी बात—'पाणिनिदर्शन' का उल्लेख करके, स्फोट को पाणिनि जी की मौलिक खोज कहने का अनैतिहासिक साहस किया है। मंत्रात्मक छन्द शरीरी वेदों का 'वेद' नाम, सांख्य दर्शन, और उसकी ही समकालीन प्रतिभादर्शन की एक शाखा भौतिक

दर्शन के, क्रम से ज्ञान और उक्त समाम्नाय को युक्त समझ कर जानबूझ कर (तत्तद् ज्ञानमय या समाम्नायमय मानने से) दिया गया था जिसको ठीक न समझ कर, बाद के लेखकों ने व्यर्थ में बात (तथ्य) का बतंगड़ उपस्थित कर डाला। हमारे सच्चे वेद समाम्नाय के संकेत रूप ५० अक्षर ब्रह्म विकास परम्परा की श्रेणियाँ हैं, वे अपौरुषेय हैं। इन वेदों का नाम 'श्रुति' भी इसी लिए पड़ा है, कि 'श्रुति' ध्वनियों की होती है, प्रत्येक बात समाम्नाय को सच्चा वेद सिद्ध करती हैं। शेष वैदिक दर्शन के पुरुष सूक्त के 'तस्माद्यज्ञात्स-र्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' के भाष्य में देखें।

अध्याय ७

हमारे सच्चे वेदों का ऊर्ध्व बुध्नः अव्यय अश्वत्थ

या

सरस्वती की स्फटिक माला का सुमेरु

या

समस्त श्रुतियों का सम्राट् 'संवृत अ'

ग्रन्थि (अम्) × 'अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा 'रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः' (ऋ. प्रा. १)
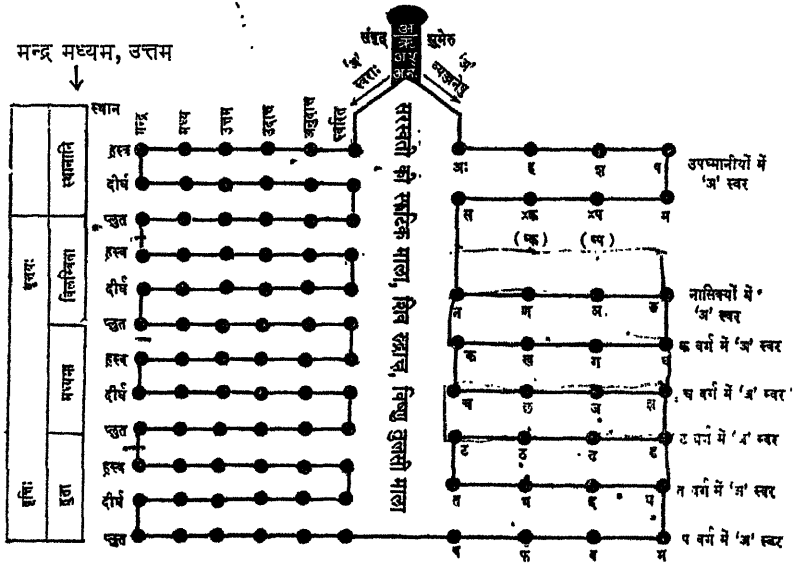
'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'–[गीता–७–७]

'आहुर्घोषं घोषवतामकारम्' 'श्वासता नादतोभयतादि' और 'वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनु इति' (पृ. १२८, १२९) 'अनुप्रदानात् संसर्गादित्यादि' (पृ. १३३) 'प्रातिश्रुत्कानि' (पृ. १४६) आगे देखें। यही ऊर्ध्वमूल अधःशाख (सृष्टि का) शब्द ब्रह्ममय अव्यय अश्वत्थ भी है।

सांख्य योग दर्शन की योग दर्शन रूपिणी यह प्रतिभादर्शन की शाखा 'संवृत अ' शब्द ब्रह्म से ही, पहले 'अ' के उक्त १०८ मौलिक श्रुतियों का

विकास मानकर, फिर उनसे क्रमशः पारमाणविक आकाश, उससे पारमाणविक वायु, उससे पारमाणविक तेज, उससे पारमाणविक जल, अन्त में उससे पारमाणविक पृथिवी का विकास मानकर सृष्टि वृक्ष की व्याख्या करती है। इनके पहिले की बुद्धयादि स्थितियों में सब विकास श्रुति रूप में मानते हैं (अहंकार तक)। शेष विस्तृत विवरण के लिए यहाँ स्थानाभाव है।

अब उक्त दार्शनिक सिद्धान्त को ध्वनिशास्त्र की वैज्ञानिक तुला से जोखने का समय आ गया है। कोई भी एक ध्वनि विभिन्न परिस्थितियों से अनेक रूपों को धारण करने में समर्थ होती है। 'प्रयोक्तुरीहा गुणसन्निपाते वर्णीभवन् गुणविशेषयोगात्। एकः श्रुतीः कर्मणाप्नोति बह्वीः।' (तै. प्रा. १३–१३)। बोलने वाले की जिस प्रकार की ध्वनि निकालने की इच्छा हो या जैसे गुण उसके मुख के अन्दर के भागों में हों, तथा प्रस्तुत काल में जो गुण अनुग्राह्य हो पड़े हों, इन सब के कारण एक श्रुति अक्षर (फोनीम), वर्णों का (फोनेमिक्स) रूप लेकर, अनेकधा प्रयत्नों से अनेकधा उपश्रुतियाँ उपस्थित कर देता है। इसमें कई अन्य कारण भी हैं 'अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविभ्रमात्। जायते वर्णवैचित्र्यं परिमाणाच्च पञ्चमात्।' (तै. प्रा. २३–२) 'अनुप्रदान' ऊष्माण ध्वनियों के क्रम में अनेकधा उच्छ्वसन कहलाता है, 'संसर्ग' ध्वनियों को नासिक्य, अनुनासिक्य और अनुस्वार युक्त बनाना या महाप्राण अल्पप्राण में कम बाकी अन्तर रखना है। 'करणविभ्रम' में आभ्यन्तर प्रयत्नों में विवृत ईषत्विवृत, स्पृष्ट; ईषत्स्पृष्ट, घृष्टस्पृष्ट, संवृतादि संकोचादि आते हैं। 'परिमाण' ह्रस्व दीर्घ प्लुत के अपने-अपने प्रमाणों से, वृत्तियों से, तथा इनमें तीन स्थान भेद 'मन्द्र मध्मम उत्तम' को भी जोड़ना चाहिए। इतना ही नहीं, अभी कई अन्य कारण हैं, जिनसे श्रुतिभेद होता है। इन कारणों को 'प्रातिश्रुत्क' नाम से पुकारा जाता है। 'वायुशरीरसमीरणात्कण्ठोरसोः सन्धाने। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥ मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्त्युरः कण्ठः शिरो मुखं नासिका इति॥' (तै. प्रा. २–३ शब्दोत्पत्ति प्रकरण)। पूर्वार्द्ध का अर्थ पहले दिया जा चुका है। अब 'प्रातिश्रुत्कों' में से उरः, कण्ठः, शिरः, मुखं और नासिका मुख्य हैं। उरः, कण्ठविल की क्रियाओं को, कण्ठ, जिह्वामूल या हनुमूल के प्रयत्नों को, शिरः, मूर्द्धन्य स्थान की सबसे विकट स्थितियों को; मुखं, दन्त्य तथा ओष्ठ्य प्रयत्नों की विशिष्टताओं को; तथा नासिका अनुस्वार, अनुनासिक, नासिक्य के अनन्त भेदों की प्रतिश्रुतियों को; सूक्ष्म वर्ण (फोनेमिक्स) रूप ध्वनियों को उत्पन्न करने वालों को, 'प्रातिश्रुत्क' या ध्वनि-विभेदकारक कहते हैं। 'प्रातिश्रुत्क' का जो अर्थ त्रिभाष्यरत्न में

'प्रतिध्वनि' लिखा है वह अक्षरशः गलत है, 'प्रातिश्रुत्क' माने प्रति-प्रति श्रुति (ध्वनि) को बनाने वाला है। ऐसी प्रतिश्रुतियाँ 'प्रतिध्वनियाँ' नहीं, वरन् विभिन्न वर्ण रूप (फोनेमिक्स) ध्वनियाँ हैं। कात्यायन प्रातिशाख्य (३-१३०) तथा ऋक् प्रातिशाख्य (१३-४७ से ५०) ने मात्रा, वृत्ति, स्थान और उदात्तादि भेदों से अनन्त या कम से कम ७२ प्रकार के श्रुतियाँ वर्णभेद (फोनेमिक्स) केवल एक अक्षर (फोनीम) के दिये हैं। इनमें से पतञ्जलि जी ने महाभाष्य (१-१-४) में 'अभेदका उदात्तादयः' कहकर, ध्वनितत्त्व शास्त्र की गहराई से अपनी अपरिचायकता का प्रमाण सा दे दिया है। अधिकांश भेद उदात्तादि पर निर्भर करता है। आज लोग स्वरों में केवल मात्रात्मक भेद करके निबट जाते हैं। मात्रायें तो वास्तव में दो ही हैं, ह्रस्व और दीर्घ। प्लुत के पेट में तो अनन्त भेद समाये हैं, ह्रस्व एक क्षण है तो दीर्घ दो क्षण, प्लुत में ३ से ३ लाख ३ करोड़ ३ असंख्य। अतः यह कोई विशिष्टता का भेदक मानदंड नहीं है। इसलिए हमारे ध्वनिशास्त्रियों ने वृत्तियों, स्थानों, प्रातिश्रुत्कों और उदात्तादि के अनन्त भेदों को 'गुण' भेद नाम से पुकारा है। प्रो. फर्थ ने भी (क्वान्टीटिभ्) कालात्मक मात्राओं के भेद के स्थान में गुणात्मक (क्वौलीटिटिभ्) भेदों की अधिक मान्यता स्वीकार की है। (संस्कृत की द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस का विवरण पृ० १७९) प्रो० शूलसब्लौश ने भी इसी मत का समर्थन किया है, (लेंडोएरिशेन पृ० ३१)। श्री ट्वाडल ने 'अक्षर' (फोनीम) की व्याख्या करते हुये, तथा यंत्र द्वारा जाँच करते हुये, यह स्वीकार किया है कि स्थान, काल, ध्वनिगुण, महाप्राणता अल्पप्राणता ईषत्स्पृष्टता संवृतता, विवृतता, श्वासता, अघोषता घोषता आदि द्वारा श्रुतियों में इतना भेद आ जाता है कि उन्हें प्रतिश्रुतियाँ (फोनिमिक्स) या वर्ण मानना आवश्यक हो जाता है; (लैंग्वेज मोनोग्राफ २४, पृ० ५४)। श्री यूस (Joos) ने तो श्रव्य ध्वनिशास्त्र नामक लेख में (पृ० ५८) प्रातिशाख्यों की शब्दावली के प्रतीकों की पुष्टि करके प्रातिश्रुत्कों में से जिह्वामूलीय, कंठबिलीय और नासिक्य की प्रामाणिकता को स्वीकार कर लिया है। तथा फोर्खामे ने भाषा तथा समाम्नाय के मत और कला नामक ग्रन्थ में (पृ० २७१) श्री यूस के वचनों की पुष्टि कर ली है। उदर (फेफड़े) और शिर (मूर्द्धन्) नामक प्रातिश्रुत्कों की प्रामाणिकता को स्वीट और पाइक सबसे अधिक अच्छी तरह समझ सके हैं। वे ध्वनिशास्त्र में इन दोनों स्थानों को सबसे अधिक महत्व देते हैं (दे० क्रम से प्राइमर आफ फोनेटिक्स; और फोनेटिक्स)। ये अनुभूत्यात्मक तत्त्व तक को स्वीकार करते हैं, जिसका सीधा सम्बन्ध हमारी

चैतन्यता से है। इस प्रकार हमारे प्राचीन युग की महान् विभूति रूप ऋषियों के उक्त सब सिद्धान्त नूतनतम विज्ञान की कलात्मक सूक्ष्म तुला की जोख में शत प्रतिशत सत्य उतरती हुई, यह बुलन्द घोषणायें करती हैं कि ध्वनिशास्त्र में जो कुछ सिद्धान्त हैं वे सब के सब हमारे हैं; उनका समर्थन चाहे कोई किसी रूप में और कोई किसी ढंग से किया करे।

उक्त समस्त विचार विमर्श का निचोड़ यह निकलता है कि 'संवृत अ' के दिये हुये १०९ भेद बिलकुल वैज्ञानिक हैं, इसमें इतने भेदों के कारण एक-एक करके गिना दिये जा चुके हैं। अन्य स्वरों में भी इतने ही प्रकार के भेद हो सकते हैं। क्योंकि परिस्थितियाँ सबमें एक सी हैं। इसीलिए एक के १०९ भेद के माने, प्रत्येक के भेदों से है। 'तुल्यस्थानानुप्रदानानामपि इकार-जकार-यकाराणां करणकृतः श्रुतिविशेषः'। इसी प्रकार उक्त १०९ भेदों में भी भेद आता है।

अध्याय ८

संवृत 'अ'

'संवृत अ' श्रुति, सबका जन्मदाता हिरण्यगर्भ है। अतः वह समस्त श्रुतियों का एकछत्र सम्राट् है। यह अक्षर है, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, समस्त ध्वनियों और प्रतिश्रुतियों का माध्यम या मध्यम है। प्रातिशाख्यकारों ने इसके उच्चारण के बारे में विभिन्न मत दिये हैं। ऋ. प्रा॰ (१–३८) कहता है कि 'अ' कण्ठ्य है, 'कण्ठ्योऽकारः'। पाणिनि शिक्षा में अ और ह दोनों का एक स्थान कण्ठ दिया है 'कण्ठ्यावहौ' (१७)। तदनन्तर कात्यायन प्रातिशाख्य अ, ह और विसर्ग के स्थान को 'कण्ठ' बतलाता है, 'अ ह विसर्जनीयाः कण्ठे' (१–७१)। तै. प्रा. ने (२–१२) फिर कहा है 'अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम्' कि 'अ' के उच्चारण में ओष्ठ और हनु न तो अति उपसंहृत होकर खिंचते हैं, न अति फैलते हैं। यह माध्यमिक स्थिति में उच्चरित होता है। इस स्थिति के समर्थन में इसी प्रातिशाख्य ने फिर लिखा है 'अनादेशे प्रण्यस्ता जिह्वा अकारवद् ओष्ठौ' (२–२०–२१)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अ' का उच्चारण आभ्यन्तर प्रयत्न से नहीं वरन् बाह्य प्रयत्न से होता है। यह इस ध्वनि की सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता का भी द्योतक है। महाभाष्य (१–१–४) में पतञ्जलि जी ने इस बात का समर्थन करते हुये लिखा है 'बाह्यमास्यात्स्थानमवर्णस्य', कि 'अ' का स्थान मुख से (आभ्यन्तर प्रयत्न से) बाहर या बाह्य या कण्ठबिल है। अपिस्थली शिक्षा (१–११) ने और आगे बढ़कर लिख दिया है कि 'अ' के उच्चारण का स्थान संपूर्ण मुख प्रदेश है 'सर्वमुखस्थानमवर्णस्य एक इच्छन्ति'। तै. प्रा. (२–४६–८) में 'ह' और विसर्ग की उच्चारण-विधि प्रस्तुत करते हुये, उक्त समस्त स्थिति को जल के समान निर्मल और स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास करते हुये लिखा है 'कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ, उदयस्वरादि-संस्थानो हकार एकेषाम्, पूर्वान्तसंस्थानो विसर्जनीयः' कि 'ह' और विसर्ग का स्थान कण्ठ है, इनमें से 'ह' के स्थान के बारे में कुछ आचार्यों का मत है कि 'ह' का वही स्थान होता है जो इसके प्रथम स्वर या उदय स्वर का है, तथा 'विसर्ग' का स्थान उससे प्रथम स्वर के ही समान होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'ह' और संवृत 'अ' का स्थान एक ही है, पर 'ह' महाप्राण है 'अ' और विसर्ग अल्पप्राण हैं। अथर्व प्रातिशाख्य ने स्थिति को अधिक स्पष्ट करते हुये लिखा है कि 'ह' के उच्चारण का स्थान कण्ठ न होकर उदर है। क्योंकि 'ह' के उच्चारण में कण्ठ में कोई विशिष्ट प्रक्रिया

नहीं होती उसके द्वारा 'महाप्राण' बाहर मात्र निकलते हैं। यह विवृत ध्वनि है, प्रयत्न उदर में ही होता है (१-१९)। इसका यह तात्पर्य हुआ कि वास्तव में कण्ठ में सर्वप्रथम प्रयत्न 'संवृत अ' में होता है, उसीके साथ विसर्जनीय का। अतः आभ्यन्तर प्रयत्न से 'अ' बिलकुल दूर है। ऋ. प्रा. (१५-६५) ने पुनः कहा है कि सब स्वरों को उसी करणावस्था से उच्चारित किया जावे जिस प्रकार 'अ' 'अकारस्य करणावस्थयाऽन्यान्स्वरान्ब्रूयात्'। यह 'अ' की अविकृता तथा सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता या माध्यमिकता का स्वयं स्पष्ट निर्णायक हो जाता है। इसी 'अ' स्वर को मानदंड बनाकर अन्य स्वरों के उच्चारणों के लिए मुख में स्थान और करणों की नाप जोख की भी जाती है और की भी जा सकती है। ऋक्प्रातिशाख्य ने पुनः एक और महत्व पूर्ण उल्लेख दिया है 'आहुर्घोषं घोषवतामकारम्' (१३-१५) कि नादवान् या घोषवान् व्यञ्जनों का नाद या घोष 'अ' कार ही है। यह सबसे महत्वपूर्ण वक्तव्य है। अब हम उक्त सामग्री से यह निष्कर्ष देने में समर्थ होते हैं। 'विसर्गः', 'पवित्र श्वास' हैं, ये अपने पूर्व के संवृत स्वरों से विकृत हो सकते हैं, और विसर्ग: रूप में स्वतन्त्र स्वरूप में भी रह सकते है, तथा अल्पप्राण व्यञ्जनों (क च ट त प) को आवश्यक अघोष श्वास प्रवाह प्रदान कर सकते हैं। 'ह' सर्व प्रथम घोष ध्वनि है। यह अपने अनुवर्ती संवृत स्वरों में विकृति पा सकती है। यह स्वतन्त्र ध्वनि भी है, तथा महाप्राण व्यञ्जनों में से नादीयों (घ झ ढ ध भ) को आवश्यक घोष भी प्रदान करता है। 'अ' 'शुद्ध नाद' है, जिसमें, संवृत स्वरों में विकृति आती है, यह स्वतन्त्र स्वर भी है तथा नादीय व्यञ्जनों (ग ज ड द ब) को नादकारी घोषवान् श्वास प्रदान करता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि विकृत स्वर सब घोषवान् है 'अ' अकेले 'नादवान्' है। संवृत स्वर भी नादवान् होंगे। स्फटिक माला में जो १०९ 'अ' श्रुतियाँ हैं वे सब की सब नादवान् हैं। उक्त सब निष्कर्ष आज के आधुनिकतम कलात्मक ध्वनिविज्ञान द्वारा अक्षरशः समर्थित और सत्य घोषित हो चुके हैं। उदाहरण में श्री मिले ने 'स्वरों के उच्चारण' के सम्बन्ध में कण्ठ विल की प्रातिश्रुत्कता का परीक्षण करते हुये लिखा है कि 'ध्वनियों के उच्चारण में जिस प्रकार मुख एक मुख्य कारण है उससे अधिक महत्व उस मुख के भाग कण्ठविल नामक प्रातिश्रुत्क का अधिक है, कण्ठविलीय कम्पन स्वर को उतनी ध्वनि प्रदान करता है जितनी उच्चार्यमाण स्वर को अपेक्षित होती है। और स्वर के लिए जो कम्पन है वह कभी भी नाद के बिना रहता ही नहीं है' (पृ० २) श्री यूस ने (पृ० ३५) 'श्रव्य ध्वनितत्व' पर विचार करते हुये तथा कल में

निरीक्षण करते हुये कहा है कि 'स्वरों के उच्चारण में अर्द्धेन्दवीय संवृत मुख द्वार एक प्रकार के समान नाप के अनन्त ध्वनितारों को जैसे छोड़ना है, जो उस कण्ठविल के उच्चारण प्रक्रिया से स्वतन्त्र से रहते हैं। इनकी एक नियमित ध्वनिरूप में परिवर्तन की प्रक्रिया भी कण्ठविल प्रक्रिया से स्वतन्त्र रहती है। दोनों की प्रक्रियायें एक दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं। स्वरों के ध्वनितारों की उदीयमानता, ठीक उसी स्थिति में जैसी होती है जैसे कि वे खुली वायु में हों, वहीं उनकी गिनती की जावे, तक कण्ठविलीय प्रक्रिया उन्हें कई गुना बढ़ा देती है। प्रत्येक ध्वनि कम्पन, उसी मात्रा से बाहर आता है जिस मात्रा में वह क्रमशः परिमार्जित होता रहता है।' कई अन्य खोजकारी भी इसी प्रकार के निष्कर्षों पर पहुँचे हैं (सियेवे, जाक्रोवसन देखें)। जिस प्रकार आजकल कण्ठविल अर्द्धेन्दु को आधार बनाकर ध्वनियों का निरीक्षण परीक्षण किया जा रहा है, उसी को हमारे आचार्यों ने संवृत 'अ' श्रुतियों की स्फटिकमाला रूप में कितने मार्मिक रूप से निर्णीत कर दिया था, यह आश्चर्यचकित करने वाली बात नहीं तो क्या है ?

(१३) शुद्ध 'संवृत अ' वेदों में कहाँ मिलता है:—कात्यायन जी के 'प्रतिज्ञा' (३) सूत्र में 'विवृत अ' के उच्चारण के लिए नियमित स्थानों का उल्लेख किया गया है 'पदाद्यस्यासंयुक्ताकारस्येषद्दीर्घता' कि पद के आदि में जब असंयुक्त व्यञ्जन हो तो 'अ' को कुछ दीर्घ करके बोलना चाहिए। उदाहरण में 'व्वसोः पवित्र मसि शतधारम्' दिया है। यहाँ पर चार पद हैं (१) व्वसोः, (२) पवित्रम्, (३) असि, (४) शतधारम्। इनमें क्रमसे व्व, प, अ, श के 'अ' को ईषत् विवृत करके उच्चारण करने का आदेश दिया है। इनका उच्चारण ठीक उसी ढंग से किया भी जाता है जिस प्रकार अंग्रेजी के आद्यक्षर में घात (स्ट्रैस) होने पर किया जाता है। जैसे नजीवावाद को न'जीवावे' ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी घातीय चिह्नानुसार इस प्रकार पढ़ा जाता है 'व्व' सोः प्प' वित्र म्म' सि श्श' तऽधारम्।' यहाँ पर व्व, प म श का 'अ' सर्वत्र ईषद् दीर्घ या गुरु भारवान् वेगवान् हो जाता है, और 'आ' कार का सवर्ण सा या आकार का अति लघु रूप सा हो जाता है। श'तऽधारम् के 'तऽ' के आगे ऽचिह्न 'संवृत अ' का अवग्रह या पृक्त या प्रगृह्य रूप अल्पविरामानन्तर 'धारम्' का उच्चारण करने का सूचना देता है। उक्त परिस्थितियों से भिन्न स्थलों में सर्वत्र 'संवृत अ' मिलता है जैसे 'अश्मन्नूर्जम्' के प्रथम द्वितीय चतुर्थ वर्णों में 'अ' संवृत है; 'गोपतौ' के 'प' का 'अ' भी संवृत है, इसी प्रकार अन्यत्र समझें।

बड़े सौभाग्य की बात है कि जिस प्रकार हमें 'वसोः पवित्रमिति' के विपरीत 'अश्मन्नूर्जम्' में दो प्रकार के 'अ' मिलते हैं, ठीक उसी प्रकार के दो 'अ' तथा दो 'आ' कहीं-कहीं तीन-तीन अ और आ के रूप कुमाउनी में उपलब्ध हैं। उदाहरण में 'कश्श' (तंग) 'क श' प्रथम में संवृत द्वितीय में ईषद् दीर्घ रूप गुरु 'अ' है। प्रथम में गुरु है द्वितीय् में लघु पर दोनों ह्रस्व भेद हैं। 'आ' के रूपों की तो भरमार है, 'खाज्' ह्रस्व आ (भुने चावल) खाज-दीर्घ आ—(खुजली); बाज्-ह्रस्व आ—(बाजे), बाज्-दीर्घ आ—(आवाज और बाज 'न आना'); आदि। पतञ्जलि जी ने पाणिनि जी की आदि की भूल को सुधारने के लिए कहा है कि 'अकारस्य विवृतोपदेशः, आकार ग्रहणार्थम्' (१–१–२) और भट्टोजि उसका समर्थन करते हुये कहते हैं, 'प्रक्रियादशायाम् विवृतमेव' और 'ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे 'संवृतम्' पर पाणिनि जी अन्त में अपनी भूल सुधारते हुये अन्त में 'अ अ' कहकर स्वीकार कर गये हैं कि 'जिस ह्रस्व 'अ' को ध्वनिविकास को दृष्टिपथ में रखते हुये 'आ' के गुणानुरूप माना गया है, वह वास्तव में ध्वनिशास्त्रीय विचारणा से, संवृत ही है। बाद के लेखकों ने 'कण्ठ्य' शब्द को बाह्य प्रयत्न नाम से आभ्यन्तर प्रयत्नसूचक हलुमूलीय समझा। अतः उन्होंने 'अ' को भी 'क' वर्ग के साथ अपने अर्थ के कंठस्थानीय मान लिया। इससे ध्वनिशास्त्र तथा 'अ' की यथार्थ स्थिति को बड़ा भारी धक्का लगा है, जिसको प्रधानता देकर कई नये पाश्चात्य ध्वनिविशारदों को बहुत कुछ कहने का बुरा अवसर मिला है।

हमारा 'संवृत अ' अक्षर-ब्रह्म है, इसके 'क्षर' वर्णभेद स्वाभाविक हैं, सृष्टि की आध्यात्मिक सरणि उपस्थित करते हैं। इसकी विसर्जन क्रिया विसर्गः शुद्ध प्राणवायु (अः) रूप की है जिससे आगे होने वाले 'अक्षर' (फोनीम और पाँच भौतिक मौलिक तत्व) विकास हैं, 'अ' शुद्ध नाद है, विसर्ग शुद्ध श्वास और अघोष प्राण (ह) क्षर रूप शुद्ध श्वास और नादमय है। इन्हीं तीनों तत्वों से समस्त श्रुति वाङ्मय तथा 'नाना नामरूपे करवाणि' प्रस्तुत होते हैं।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म उच्यते।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ (गीता ८–३)

यहाँ के 'कर्म' शब्द और ऋ. प्रा. के 'कर्मणाप्नोति वह्नीः' की तुलना करने में आलस्य न करें। 'विसर्गः' शब्द पर भी ध्यान दें। गीता का प्रकरण भी संगति लगाने में पूर्ण सफलता देगा। अतः 'अक्षराणामकारोऽस्मि' (गीता १०–४) लिखा है।

अध्याय ६

हमारे ऋ और ऌ

[ऋ] ऋग्वेद का, ('संवृत अ' के पश्चात्) ऋचः का या स्वरों का प्रथम स्वर

ऋ (ऋग्वेद या ऋक्, ऋचों का, स्वरों का प्रथम स्वर) का सच्चा उच्चारण हम आप सब लोग बिलकुल भुला बैठे हैं, यह सबसे बड़ा अनर्थ है। दूसरी बात यह है कि हम आपलोग यह भी भुला बैठे हैं कि यह सर्वप्रथम स्वर है। तीसरी बात यह है कि हम आप सब लोग इस शुद्ध स्वर के उच्चारण स्थान को इसके अन्तःस्थ या ऌ के अन्तःस्थ के स्थान से तादात्म्य करने में जरा भी नहीं हिचकते। उक्त सब कोटियों का निर्णय तै. प्रा. (२–२०, २१) के विविक्त वचन 'अनादेशे प्रण्यस्ता जिह्वा (प्रण्यस्ता तूष्णीम्भूता, उव्वट) अकारवत् ओष्ठौ' से हो जाती है, जिसमें यह कहा गया है कि इस स्वर के उच्चारण में जिह्वा को फैलाया और संकुचित किया जाता है, और ओष्ठों की स्थिति ठीक वैसी ही होती है जैसी 'अ' के उच्चारण में। अकार के वर्णन में ऐसी स्थिति को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र या माध्यमिक स्थिति या तटस्थ स्थिति घोषित किया जा चुका है जिसका समर्थन यन्त्रात्मक परीक्षण द्वारा पाश्चात्य विद्वान् भी करते हैं। इसका यह तात्पर्य हुआ कि इस स्थिति में यह स्वर 'संवृत अ' का जोड़ीदार है, अन्य किसी स्वर में ऐसी स्थिति नहीं मिलती। अब यह जानना शेष है कि इस स्वर का वैदिक काल में क्या स्वरूप था। इस स्वर में दो तत्व हैं 'स्वर और व्यञ्जन'; अपिस्थली शिक्षा (१–२६) और कात्यायन प्रातिशाख्य ने इसे मिश्रित स्वर कहा है (११) 'सरेफ ऋवर्णः'। ऋग्वेद प्रातिशाख्य (१३–३४) ने लिखा है 'रेफोऽस्त्यृकारे च परस्य चार्द्धं पूर्वे ह्रसीयांस्तु नवेतरस्मात् मध्ये सः'। इसका समर्थन अथर्व. प्रा. करता है 'दीर्घप्लुतयोः पूर्वा मात्रा' (१–३८) ऋ में र् भी है, ऋ में यदि ऋ को 'अर्' सा लिखा जाय तो प्रथम का उत्तरार्ध द्वितीय भाग र् है दीर्घ में अ र् र् में बीच का भाग र है; अथर्व के अनुसार इसकी मात्रा दीर्घ और प्लुत की पूर्व की मात्रा है। सर्वसम्मत शिक्षा ने 'ऋ' का वर्णन अधिक विस्तृत रूप में देते हुये लिखा है 'ऋकारस्य स्वरूपं हि श्लिष्टं पादचतुष्टयम्। पादेषु तेषु विज्ञेया-

वादावन्ते स्वरात्मकौ ॥ अणुरेफस्य मध्ये तु विज्ञेयौ व्यञ्जनात्मकौ ॥ १९ ॥'। 'ऋ में चार भाग हैं, जिसमें प्रथम और चतुर्थ भाग स्वरात्मक हैं, मध्य के दो भाग व्यञ्जनात्मक हैं' चित्र ऐसा हुआ 'र्–र् र्–र्' = 'ऋ–र् र्–ऋ' = 'स्वर–व्यं व्यं–स्वर'। सबसे महत्वपूर्ण वक्तव्य अथर्व प्रातिशाख्य (४–१४८) देता है, 'ऋ लृ वर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टौ, 'अ' ·श्रुतिधरावेकवर्णौ' कि ऋ और लृ दोनों संश्लिष्ट सम्मिलित वर्ण है। जिसमें 'अ' श्रुति सन्निहित है। वास्तव में 'ऋ' का गुण में अर् वृद्धि में आर्, होता है [लृ का गुण में अल्, वृद्धि में 'आल्' होना चाहिए पर रूप प्रायः नहीं मिलते]। इससे यह कथन सबसे अधिक वैज्ञानिक है। सच में कहा जाय तो विवृत 'अ' स्वर का दार्शनिक विकास इसी 'ऋ' से मानना उपयुक्त होगा। जिस प्रकार ऊँचे अंश में 'इ' उससे नीचे अंश में ए, उससे नीचे अंश में ऐ होता है, उसी प्रकार, ऊँचे अंश में ऋ, उससे नीचे 'अर्' उससे नीचे में आर् होगा जिनमें अ और र्, आ और र् बिलकुल पृथक् हो जाते हैं। शुद्ध विवृत अ, आ सवर्ण रूपी उत्पन्न हो जाते हैं, पाणिनि जी की प्रक्रिया दशा का विवृत 'अ' यही 'अ' है, जिसका सवर्ण यही उक्त आर् का 'आ' है। इसीलिए ऋग्वेद प्रातिशाख्य ने 'संवृत अ' के बाद प्रथम स्वर 'ऋ' माना है जो 'विवृत अ' और इसके सवर्ण 'आ का गुणवृद्धि रूपेण जन्मदाता है। यह 'अ' ईषद्विवृत, आ का सावर्ण्य पूर्व रूपक सा, होगा और जैसा कात्यायन जी के सूत्र में दिया हुआ पिछले परिच्छेद में स्पष्ट कर दिया गया है। वर्तमान आर्य भाषाओं में इस स्वर को रि, रु रुं रूप में बोला जाता है, पर इस स्वर का विकार आ, इ, उ, यु, अ और युँ में हुआ है। माटो (मिट्टी) मृत्तिका (कु) घा (घी) घृत (मराठी में) कर कृ (करो) (कु. हि.) घी-घृत (हि.) घ्यु या घ्युँ (कु.) घिस (घृष्ट) (कु. हि.)। अतः इस स्वर में अ, आ, इ, उ इन सब के गुण मिश्रित थे यह स्पष्ट है।

उक्त प्रकार के एक अपूर्व स्वर का उच्चारण किस प्रकार किया जाता रहा होगा, यह भी पूर्णरूपेण कहीं स्पष्टतः दिया नहीं मिलता। झगड़ा यह है कि 'ऋ' का सम्बन्ध 'र' ध्वनि से अवश्य है, या यों कहिये 'र' अन्तःस्थ 'ऋ' स्वर का एक रूप है। र् ध्वनि के बारे में हम पहिले कह आये हैं कि, इसके प्रयोग के सम्बन्ध में वैदिक काल में दो विशिष्ट दल थे, एक 'र' बोलता था दूसरा 'ल'। हो सकता है कि स्वरों के विषय में भी यह भेद रहा हो; कोई 'ऋ' कहते हों दूसरे उसी को 'लृ'। पर जिस प्रकार स्वरों में 'ऋ' ने, अपने प्रयोग में प्राधान्य पाया, उसी के स्थान में उस 'ऋ' के व्यञ्जनात्मक 'र' रूप के स्थान में लृ के ल ने साहित्य में प्राधान्य पाया। फलतः हमें

'हल' 'फल' 'कल' 'जल' आदि रूपों में 'ह्लृ' 'फ्लृ' क्लृ 'ज्लृ' के रूप 'हृ, फृ, कृ जृ' के रूपों के र के स्थान में 'ल' रूप में अधिक मिलते हैं। जैसा कहा गया है भारतीय आर्यभाषाओं में लृ के ल के रूप वाले शब्दों के बदले 'ऋ' के 'र' रूप वाले शब्द प्राकृतिक या असाहित्यिक रूपों की धारा से बहते हुये हर, फर, जर, कर, आदि रूपों में अबतक ज्यों के त्यों सुरक्षित मिलते हैं। अतः जो लोग यह कहते हैं कि वैदिक 'लृ' नष्ट प्रायः है, उसका केवल एक धातु 'क्लृप्' मात्र मिलता है वे सब भ्रमसागर में हैं। हमें स्वर रूप में ऋ का प्रयोग अधिक मिलता है व्यञ्जन अन्तःस्थ रूप में लृ का। साहित्य में 'रिरेख' का कम प्रयोग है 'लिलेख' का आवश्यकता से अधिक, इन दोनों के धातु ऋख् या 'लृख्' हैं। क्लृप् का ऋ वाला रूप कृप् (कृपा) है। फलतः जिन धातुओं में 'ऋ' है उन सब में 'लृ' अनिवार्य रूप से मानना उक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, एक ठोस नग्न सत्य हो जाता है। मृ, म्लृ, कृ, क्लृ, ज्वृ-ज्वर, ज्व्लृ-ज्वल, ऋषि, लृषि (अभिलाषा) कृषि क्लृशि (क्लेश क्लिष्ट) वृग् वर्ग ब्लृग (वल्गुना)। फ्लृग (फल्गुना)। मृ—मर, म्लृ—मल। कृ, कर, क्लृ, कला। तान्त्रिकों या वैयाकरणों की बलिहारी, उन्होंने उक्त सब रूपों को सुरक्षित रखा है। फ्लां क्लृीं म्लां म्लीं क्लृां क्लीं ब्रां ब्लीम् ह्लृां ह्लृीं ह्रां ह्रीं आदि में सर्वत्र ऋ और लृ के रूपों को तुल्यता और समानता की जोख में सुरक्षित रखा है। अतः जहां-जहां 'ऋ' के रूप हैं वहां 'लृ' के भी हैं, जहां लृ के रूप हैं, वहाँ 'ऋ' के। दोनों एक दूसरे में परिवर्तनीय हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते। इस प्रकार वैदिक ऋ और लृ दोनों पूर्णरूपेण बराबर रक्षित हैं। यह तथ्य हमारे प्रातिशाख्यकारों की दृष्टिपथ से क्यों उतर गया? इसका कोई भी उचित समाधान नहीं मिलता। यह उनकी ऐतिहासिक दुर्बलता की सूचना अवश्य ही देता है।

संस्कृत में जिन धातुओं के आदि मध्य अन्त में ऋ या इर् अर या उर है, उन सब में लृ और इल्, अल्, उर् अवश्य है। हमारी भाषाओं में दोनों प्रकार के रूप प्रशस्त मात्रा में हैं। 'लृ' मुख्यतः वैदिक आर्य या भरतवंशी आर्य प्रिय स्वर है तो 'ऋ' खश आर्य और भरतवंशेतर आर्य शाखा प्रिय श्रुतिः। ऐसी महत्वपूर्ण इतिहास पूर्ण ध्वनियों के बारे में कुछ न जानते हुये, तथा ध्वनिशास्त्र के ज्ञान से रहित होने के कारण कैयट महोदय जब ऋ और लृ के बारे में कुछ कहने चले तो एकदम पाताल नजर आये। वे महाभाष्य की टीका में लिखते हैं कि ऋ और लृ को स्वरों में स्थान देना ही अनावश्यक है। 'अन्ये तु ईषत्स्पृष्टकरणात्वादनयोर्ऋकार-लृकारयो श्च विवृतत्वात्ताभ्यां तयोरग्रहणादनत्त्वमाहुः (महाभाष्य १-१-४,

अष्टाध्यायी १-१-९)। इन्हें ऋ और ऌ की उपयुक्त उच्चारण विधि तक का ज्ञान नहीं है। ये ईषद् स्पृष्ट स्वर नहीं हैं, ईषद् विवृत[1] हैं, 'ऋ' के उच्चारण में सबसे अधिक प्रामाणिकता ऋक्प्रातिशाख्य की मानी जानी चाहिए। उसी में ऋ को उचित स्थान-अ के बाद प्रथम स्थान दिया गया है। ऋग्वेद और इस प्रातिशाख्य के नामों का प्रथम वर्ण भी 'ऋ' है। ऋक् प्रातिशाख्य ने ऋ और ऌ इन दोनों श्रुतियों को 'जिह्वामूलीय' स्थान दिया है, इनके साथ यही स्थान ᳵ क को भी दिया है। 'ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः' (१-२-४१)। कात्यायन प्रातिशाख्य ने इस मत की पुष्टि करते हुये लिखा है कि 'ऋ ᳵ कौ' जिह्वामूले' (१-६५) ऋक्तन्त्रव्याकरण ने भी इस विषय में हां में हां मिलाई है 'जिह्वामूले ᳵ क् ऋः' (१-४१) । वर्णपटल ने पुनः 'र' के उच्चारण को भी उक्त स्थान देने की सूचना दी है 'हनुमूले तु रेफः स्यात्' (२-५)। बड़ी विचित्र य। परम स्वाभाविक (पूर्वोक्त निर्णयानुसार) बात तो यह है कि ऋक्प्राति-शाख्य के मत में 'ऌ' को वर्ण समाम्नाय में सम्मिलित करना तक आवश्यक नहीं समझा है। यद्यपि ऌ विकार के 'ल' अन्तःस्थ आदि उन्हें स्वीकार्य हैं, यह महत्वपूर्ण वक्तव्य है 'ऌकारः चतुःषष्ट्यां न दृश्यते' (१-२-४२) ये ऌ का काम 'ऋ' से ही चला लेते हैं। परन्तु ये परिमित स्थलों में 'ऌ' की आवश्यकता स्वीकार किये बिना न रह सके ।. 'पदमध्ये 'ऌ' भवति नान्यत्र' (१-५) कि पद के मध्य में आया हुआ 'ऌ' स्वीकार्य है जैसे 'क्लृप्तः' में, परन्तु पद के आदि और अन्त में आया हुआ 'ऌ' स्वरों में गृहीत नहीं किया जाता, 'पदाद्यन्तयोर्न ऌकारः स्वरेषु', जैसे ऋषि के स्थान में 'ऌषि' या 'आर्य' के स्थान में 'आल्य' (ऋ या ऌ) । 'आलिः' और आर्य शब्द क्रम से ऌ और ऋ के रूप हैं, पितृ की जगह पितॢ आदि रूप उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। यहां तक कि ऋक्प्रातिशाख्य की उक्त धारणा का दबी जबान से समर्थन करते हुये तै० प्रा० भी वर्ण समाम्नाय पर विचार करने के अवसर पर 'ऌ' वर्ण का न तो दीर्घ, मानने में समर्थ है न प्लुत। अतः ये ऌ के केवल १२ भेद (उदात्तादि अनुनासिकादि) मानने को बाध्य हैं, 'ऋ' के १८ भेद मानते हैं 'ऌवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्' ऋवर्णस्याष्टादश भेदाः'। ये तो ऋ का भी प्लुत मानते नहीं दिखाई देते। पर क्या कहें भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में 'ऋकारः त्रिंशत् एवं ऌकारोऽपि' ('ऋति सवर्णे ऋ वा' पा० सू० देखिये) कहकर आज कल के सीधे सादे

---

[1] अ-धात्वादि स्थश्च विवृतः ॥ म० भाष्य ॥ 'कोई स्वर स्पृष्ट नहीं हो सकता।'

संस्कृत के विद्यार्थियों और पंडितों को कितना और किस प्रकार अज्ञानसागर में डुबा रखा है आप सोच लें।

ऐसी परिस्थिति में ऋ और ऌ का उच्चारण किस प्रकार किया जाता होगा? यह इन दोनों के इतिहास से अधिक स्पष्ट हो सकेगा। कहा जा चुका है कि वैदिक और पूर्ववैदिक काल में, ऋ और ऌ दोनों दो पृथक् दलों के अपने-अपने अपनाये स्वर थे, जिस स्थान में एक ऋ कहता था, उस स्थान में दूसरा ऌ। बाद के सम्मिश्रण ने स्वरों में ऋ को जीत दी तो, इनके विकारों में ऌ के ल को। पिव, म्रि आदि वैदिक धातु और कुठार आदि शब्दों की पृष्ठभूमि में पृव् प्लृव मृ म्लृ कृठ् क्लृठ्लृ धातुओं का (भारोपीय) होना सम्भव है, जिससे प्लवति, पिवति, प्लिवति (स) पीला पिलाना ऌ (भाषा में) मरना मिलना म्रियते म्लीयते आदि रूप अब तक मिलते हैं, दूसरी ओर कुठार (सं) कुल्हाड़ी (भाषा में) भी मिलते हैं। तात्पर्य यह कि पूर्ववैदिक काल के ऋ और ऌ ने इर् इल् और उर् उल् रूप वैदिक काल में ले लिए थे। जो भारोपीय ऋ और ऌ वैदिक काल में सुरक्षित रह गये थे उन्होंने फिर अ, आ, इ, उ, यु, युँ रूप हमारी वर्तमान आर्य भाषाओं में ले लिया है। अतः इ आदि उच्चारण वाले या इर् ध्वनि वाले इ के जोर से ऋ को तालव्य, इर् मूर्द्धन्य, इल् वाले वर्त्स्य और दन्त्य अ, आ वाले अ आ के कण्ठ्य उच्चारण से ऋ और ऌ का उच्चारण कण्ठ्य करने लगे। उ ध्वनि पृष्ठस्वर है अतः उल् वाले भी कण्ठ्य उच्चारण या (ओष्ठ्य मिश्रित) कण्ठ्योष्ठ्य उच्चारण करते होंगे। अतः प्रातिशाख्य कारों ने इसी गड़बड़ी की स्थिति का दर्पणवत् चित्र इस प्रकार दिया है। 'कस्यां शाखायाम् रेफो मूर्द्धन्यः कस्यां शाखायां दन्तमूलीय इति' (ऋ. पा. १-१)। 'जिह्वाग्रमकारर्कारल्कारेषु वर्त्स्येष्वपसंहरति' (तै. प्रा. २-१८) वर्त्स्य नाम दन्तपंक्ति के ऊपरी उच्च कठोर मांस भाग का है। पर पाणिनी प्रभृति शब्दानुशासन लेखकों ने अपने पूर्ववर्ती निरुक्तकारों (यास्कादिकों) व्याकरण शास्त्रियों तथा ऐतिहासिकों और शब्दानुशासनकारों का अनुसरण करते हुये हमें ऋ और ऌ के विकासों में मुख्यतः अर् अल् (गुण में) आर् आल् (वृद्धि में) र् और ल् सन्धि में दिये हैं। इन विकासों के आधार पर ऋ ऌ का उच्चारण 'अ' के उच्चारण के सन्निकट अपने आप जाता है। 'अ' संवृत है, उक्त दोनों अ आ सवर्ण हैं, अतः ईषत् विवृत हैं, विकास हैं। अतः हमारे वैदिक तथा पूर्ववैदिक काल के ऋ और ऌ का उच्चारण स्थान निःसन्देह जिह्वामूलीय स्थान था। कुमाउनी में 'ल' का वह 'ळ' रूप अबतक सुरक्षित है जिसके जिह्वामूलीय होने में तिलभर भी सन्देह नहीं है। इस

'ळ' को 'ऌ' का प्राथमिक विकास समझा जाना चाहिए (दे. कुमाउनी का महत्व और मूलस्रोत)। आजकल के पाश्चात्य ध्वनिशास्त्र वेत्ता इस ळ को 'काला ल' कहते हैं, जो अंग्रेजी के 'लिटिल्' शब्द के अन्त के 'ल्' में मिलता है। कुमाउनी में भी यह 'ळ' पदान्त या शब्दान्त में ही मिलता है। ऐसा लगता है कि जिन-जिन स्थानों में वैदिक ऋ के र् और ऌ के ल को ड बोलते थे उनका आधुनिक भाषाओं में'ड़' हो गया है। उसका उच्चारण स्थान भी जिह्वामूलीय होना ठीक है। कुमाउनी की भोटिया विभाषा में 'ड़' का अधिकांश में जिह्वामूलीय उच्चारण सुनाई पड़ता है। आज के यंत्रात्मक ध्वनि विश्लेषकों ने इन ऋ ऌ स्वरों को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र माध्यमिक श्रुति मान लिया है, जो इन्हें 'अ' का सम्मान देता है (दे. पिछला परिच्छेद)।

वैदिक काल में प्रस्तुत ऋ ऌ। र ल की मार्मिक दरार

ऋ	ऌ	
ऋ—आर्य अरणिः ऋतुः ऋतम् रता	आलिः अलम् लता	(ऌ)
ऋप्—अर्पितम्	लर्पितम्	(ऌप्)
क्रम्—कर्म, कर्मिष्ठः	क्लमः कल्मषम्	(क्लृम्)
कृ—करः करणम्	कला कल्माः	(क्लृ)
खृ—खरः	खलः खिला	(ख्लृ)
गृ—गिर् गिरा ग्रावाणः	गिलति, गलः गलति, ग्लौः	(ग्लृ)
घृ—घर्मः	× घाल दो (कु.)	(घ्लृ)
चृ—चरति	चलति	(च्लृ)
छृ—× (भाषा में छरत हौ)	छलति	(छ्लृ)
ज्वृ—ज्वरः	ज्वलति	(ज्व्लृ)
झृ—झरति	झलति–(झलिया)	(झ्लृ)
तृ—तरति तृणम्	तलः (तलना, हि.)	(त्लृ)
स्थृ—स्थिरः	स्थलम्	(स्थ्लृ)
दृ—(दरति) दरयति	दलति	(द्लृ)
धृ—धरणम्	×	
नृ—नरः	नलः	(न्लृ)
पृव्—पर्व, पर्वतः	प्लवितम्, पल्वलम्	(प्लृव्)
फृ—फर (फल) (ग. देशी)	फलति फलम्	(फ्लृ)
बृ—×	बलम् बालः	(ब्लृ)
भृ—भरति	भला (हिन्दी. कु.)	(भ्लृ)

ऋ	ऌ	
मृ—मरणम् मर-	मलिनं मलः	(म्ऌ)
ट् ऋ—टारना (हि॰)	टालना (हि.)	(ट् ऌ)
ठृ— ×	ठलुवा (हि.)	(ठ्ऌ)
ड्ृ—डरः	डली डला (हि.)	(ड्ऌ)
ढृ—ढरना (हि.)	ढलना	(ढ्ऌ)
भारोपीय (कृठ्ऌ) वै. कुठृ—कुठारः	कुल्हाड़ी (हि.)	(क्ऌ ठ्ऌ)
वृग्—वर्गः	वल्गुः	(व्ऌग्)
फृग्— ×	फल्गुः	(फ्ऌग्)
मृन्—मृणालः	म्लानः	(म्ऌन्)
ऋर्—ररति	ललितं (लाल)	(ऌल्)
हृ—हरति	हलः	(ह्ऌ)
शिथृ— × शिथिरम् ×	शिथिलम्	(शिथ्ऌ)
पितृ—पितरः	पितल पित्तल पितलिया	(पित्ऌ)
मातृ—मातरः	मातुलः मातलिः	(मात्ऌ)
दातृ—दात्रम्	दातुल (कु.)	(दात्ऌ)

समान फोड़े जाने योग्य बतयाया है (दारुपिण्डेन ते तुल्ये); तथा संयोगों को पिंड नाम दिया है। स्पर्श व्यञ्जनों का स्पर्शों से संयोग होने पर उसे अभिनिधान नाम की संज्ञा दी है, इसमें प्रथम व्यञ्जन इतना पीडित या निचोड़ा सा जाता है कि वह सुप्त सा होकर श्वास नाद दोनों से शून्य सा हो जाता है, इसके स्पष्टी करण करने के लिए बीच में ½ मात्रा रुकना ही अभिनिधान कहलाता है। ध्रुव दूसरी संज्ञा है। अन्तिम व्यञ्जन के नाद के पश्चात् की ध्वनि ध्रुव कहलाती है। अघोष और नादीय स्पर्श जब अन्त में आते हैं, नहीं सुनाई पड़ते, वह इस कमी की पूर्ति करता है। आजकल यंत्रों से इनकी जाँच हो चुकी है। वे उक्त मतों की पुष्टि करते हैं। 'नादः परोऽभिनिधानात् ध्रुवम् तत्तद् काल स्थानम्, अश्रुत्वघोषात् नासिकास्थानमनुनासिकाश्चेति' (ऋ. प्रा. ६-२९, ४१) 'व्यञ्जन विधारणमभिनिधानं पीडितः सन्नितरो हि न श्वासनादः, स्पर्शस्य स्पर्शेऽभिनिधानमास्थापितम्' (अ. प्रा. १-४३, ४४)। पाणिनि जी ने 'झलां जश् झशि' कहकर झस् प्रत्याहार का जश् प्रत्याहार, होना कहा है। वह भी प्रातिशाख्यों के ध्वनि नियम का तकाजा ही है, वाच्+हरिः का 'वाग्घरिः' रूप कितनी सूक्ष्मता से च् का क् में, क् का ग् में, ग् का ह (महाप्राण ऊष्म) के संयोग से पिंडी भूत होकर स्वाभाविक सोष्म रूप घ (= ग + ह) बनता है, कितना मार्मिक ध्वनिशास्त्र है, इसी प्रकार 'शश्छोऽटि' सूत्र से 'श' का छ बनना; तत्+शीघ्रं = तच्+शीघ्रं = तच्+च् श (त के गुरुत्व से दो च्) ीघ्रम् = त च् (च्+श्) = छ्+ ीघ्रम् = 'तच्छीघ्रम्' रूप भी वाग्घरि के समान वैज्ञानिकता पूर्ण ध्वनि विकास देता है, यह हमारे ध्वनिशास्त्र कारों की पैनी प्रतिभा का अप्रतिम प्रमाण है। स्वरों के बारे में पहिले 'व' सोः प' वित्रम' सि श' तऽधारम्' के सिलसिले में पदादि के व', प', अ', श, की ईषद्दीर्घता गुरुत्व के लिए है। यह सब कुछ बतलाया जा चुका है। पृक्त अवग्रह स्वरभक्ति, रक्त इत्यादि नामों द्वारा अनेक सूक्ष्म विचार ध्वनिशास्त्र मूलक हैं। पृक्त या प्रगृह्य ऐसे मध्यवर्ती स्थल हैं जहाँ सन्धि का प्रश्न इसलिए नहीं उठता कि वहाँ पर उच्चारण का श्वास अधिक देर तक रुकता है; जैसे 'हे हरे ऐहि, द्वौ हरी आस्ताम्'। यहाँ पर प्रथम हरे और हरी के ए और औ में श्वास देर तक रुकता है। अतः आगे के स्वरों ए और आ से सन्धि का या संयोग का प्रश्न ही नहीं आता। यह पद (या सिलेबल) का तकाजा है। एक श्वास में जितना उच्चरित किया जा सकता है वह पद है। जहाँ पदान्त में अधिक देर लगे, वहाँ कहीं भी सन्धि नहीं होती। जहाँ लम्बे शब्द शतधारम्, पुरोहितम्, रत्नधातमम्' हों वहाँ हमारी साँस दो बार उच्चारण करती है, या इनमें दो

सासों की अपेक्षा पड़ती है। पहिली साँस में श' त, पुरो, रत्न का उच्चारण होता है। दूसरी साँस में धारम्, हितम् और धा का। और अन्तिम शब्द में तमम् तीसरी साँस में उच्चरित होता है। फलतः शतधारम् और पुरोहितम् में दो-दो पद शत-धारम्, पुरो-हितम् हैं, तीसरे में रत्न-धा-तमम् तीन पद हैं। अब पदान्त की स्पष्टता के लिए या साँस को पलटने में कुछ समय लगने से शत के त के आगे, पुरो के रो के आगे, रत्न के त्न के और 'धा' के 'आ' के आगे एक क्षण रुकना सा पड़ता है, इस रुकने को 'अवग्रहः' या 'द्वितीय पद को ग्रहण करने का क्षण' कहते हैं। फलतः ये तीनों पद इस प्रकार पढ़े जाते हैं श' त ऽ धारम्, पुरो ऽ हितम्, रत्न ऽ धा ऽऽ तमम्'। ऽ या ऽऽ अवग्रह सूचक समय है। इसके लिए एक क्षण अवश्य रुकना पड़ता है ' 'तावदवग्रहः'—समीतवर्तिनोः पदयोः पृथक् करणम् मात्रा कालं भवती त्यर्थः; स्वरभक्तिः पूर्वा मात्रा, रक्तसंज्ञो ऽनुनासिकः, संयोगो व्यञ्जनसन्निपातः, स्वरोपाहितो द्विरुच्यते' (ऋक् प्रा. प्रथम पटल १—६—१)। 'पृक्तः स्वरात्परो ळोडमिति ऌकार उक्तः' (तै. प्रा. १)।

समाम्नाय के उच्चारण को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया है। पाणिनि शिक्षा (३८) में लिखा है 'अचोऽस्पृष्टा यमा स्त्वीषन्नेम स्पृष्टाः शलः स्मृताः। शेषाः स्पृष्टा हलाः प्रोक्ता निबन्धानुप्रदानतः ॥' स्वरों का उच्चारण अस्पृष्ट है, यमों (नासिक्यों) का ईषत्स्पृष्ट है, श और ल अर्द्ध स्पृष्ट हैं, शेष सब व्यञ्जन स्पृष्ट हैं। इसे आपस्थली शिक्षा (३) ने दूसरे ढंग से कहा है (१) स्पृष्ट, (२) ईषत् स्पृष्ट, (३) ईषत् विवृत्, और (४) विवृत। अथर्व प्रातिशाख्य ने तीसरी रीति से कहा है। 'स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्; ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानां, ऊष्माणां विवृतं, स्वराणां च' (१—२९—३२) महाभाष्य में पतंजलि जी ने इनके 'विवृत' शब्द को 'ईषत् विवृत' अर्थ रखने वाला मान कर कहा है 'विवृतमूष्मणामीषदित्येवानुवर्तते' (१—१—४)। अथर्व प्रा. का टीकाकार 'विवृत' के माने ईषत् विवृत और विवृत दोनों अर्थ मानकर ऊष्म और स्वरों के उच्चारण के भेद-भाव की रक्षा कर पतञ्जलि जी के अर्थ का खण्डन कर देता है। 'ईषत् स्पृष्ट' के बदले ऋ. प्रा. 'दुःस्पृष्ट' लिखता है 'दुःस्पृष्टं प्रागधकाराणाम् चतुर्णाम्' (१३—१०)। तै. प्रा. (२-३१-३४) लिखता है कि 'स्वराणां यत्रोपसंहारस्तत्स्थानम्, यदुपसंहरति तत्कारणम्, अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत्स्थानम्, येन स्पर्शयति तत्करणम्'। अथर्व प्रा. (१—२९) 'स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्'। (स्थान और करण की व्याख्या पहिले दी जा चुकी है)। ध्वनितत्त्व शास्त्रियों के दिये हुये उक्त चार विभागों को जब हम ध्वनिविकास के सिद्धान्तों में ढालते या लागू करते हैं तो वह

ध्वनिविकास की एक अद्भुत वैज्ञानिक कसौटी सी प्रादुर्भूत होती हुई निम्न रूप से सामने उपस्थित होती है।

इस स्थिति का पक्का प्रमाण यह है "मौलिक ध्वनयः 'अ ऋ इ उ' 'क् च् ट् त् प्' 'य् र् ल् व्' 'ह् श् ष् स्' अन्ये वर्णास्तूक्तध्वनीनां तुल्यप्रयत्नाना-मनुप्रदानादीनां स्थानकृतः श्रुतिविशेषाः॥ (ऋ० प्रा० १३–१४) और तै० प्रा० के वचन 'अनुप्रदानात्संसर्गात्' इत्यादि भी इसमें जोड़ें (२२–२३)

विकास सोपान	कण्ठ्य	मूर्धन्य	दन्त्य	तालव्य	ओष्ठ्य	
	संवृत 'अ' 'ह' ऌ' 'ऋ'					
	विवृत अ आ	(ऋ) अर् (ड़)	(ळ) अल्	इ	उ	
	ईषद्विवृत अः अं ह्	ष्	स्	श्	ᳶप्	दुःस्पृष्टा (घृष्ट स्पृष्टा)
	•ईषत्स्पृष्ट ᳵक् ङ्	• र् ण्	ल् न्	य् ञ्	व् म्	
	स्पृष्ट क् ग्	ट् ड्	त् द्	च् ज्	प् ब्	'अ' नादीया 'ह' नादीया
	घृष्टस्पृष्ट ख् घ्	ठ् ढ्	थ् ध्	छ् झ्	फ् भ्	विसर्ग श्वासीया ह नादीया

प्रत्येक रेखा के अन्तर्गत ऊपर से नीचे की ओर संवृत विवृतादि पाँच उच्चारणों की उत्तरोत्तर श्रेणियों या सोपानों में तत्तद् उल्लिखित ध्वनियाँ स्वयमेव उद्घोषित होकर अपने आप विकास पाती हुई उपस्थित हो जाती हैं, जिससे पूरा समाम्नाय, वैज्ञानिक नाप जोख वाला मार्मिक और सूक्ष्म सिद्धान्तों का एक ठोस अपौरुषेय परिणाम, स्वाभाविक विकास सा सामने उपस्थित हो जाता है। इस सम्बन्ध में अथर्व प्रातिशाख्य (१–३२, ३३) का दिया हुआ कुछ लोगों का यह मत कि स्वरों में भी स्पर्श होता है 'स्वराणां च (विवृतं) 'एके स्पृष्टम्'' यह उसीके वाक्य में दिये हुये 'विवृत' शब्द के स्पष्ट विरोध में जाते हुये स्वरों की स्पृष्टता की भावना की जड़ खोद देता है। जिनका मत 'स्वरों को स्पृष्ट' मानना है, वह समस्त प्रातिशाख्य वाङ्मय का विरोधी होने से, वैज्ञानिकता की तह से भी नीचे उतरने से भी किसी को ग्राह्य नहीं है न हो सकता है, यही भाव उस मत को उद्धृत करने में स्वयं सन्निविष्ट है, यह मत न अथर्व. प्रा. को मान्य

है, न किसी अन्य प्रा० शा० को। अतः इसे गलत कहने या सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं है, यह स्वयं गलत मत है। क्यों कि ऋक्प्राति शाख्य ने समस्त स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिख दिया है 'स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्'। इसकी टीका ने अधिक स्पष्ट करते हुये कहा है 'यत्र जिह्वास्थानमाश्रित्य जिह्वावतिष्ठते तत्स्थितमुच्यते'। 'नैके कण्ठस्य स्थितमाहुरूष्मणः' (१३-१०-१२)। इस प्रकार शब्दादि शब्दमध्य, शब्दान्त तथा पदादि, पदमध्य और पदान्त में आई श्रुतियों पर इतना सूक्ष्म विचार करके हमारे ऋषियों ने ध्वनि तत्व का कोई भी कोना बिना पूर्णतः छाने कुछ शेष रखा ही नहीं। सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं शब्दान्तर्गत तथा वाक्यान्तर्गत। शब्दान्तर्गत सन्धियों का वर्णन शब्द और पदों के सम्बन्ध में कर दिया है। वाक्य सम्बन्धी सन्धियों पर फिर विचार किया जावेगा। हमारे यहाँ का साहित्य वेदों से लेकर अब तक संहिता रूप में सन्धियुक्त रूप में उपस्थित किया जाता चला आ रहा है। अतः वाक्यान्तर्गत शब्दों में उचित सन्धियों की भी पूर्ण विवेचना कर रखी है। इन्हें प्रो० फर्थ प्रोजोडी कह कर अपना नया आविष्कार कैसे कहते हैं ? इसका विचार पाठक स्वयं करें। ये हैं ध्वनि विकार या विकास, जिनकी खोज का श्रेय हमारे अनुपम प्रतिभाशाली ध्वनि शास्त्र के मर्मज्ञ ऋषियों को ही जाता है। पदादि पदमध्य पदान्त, शब्दादि शब्दमध्य शब्दान्त, वाक्यादि वाक्य मध्य के अनेक भागों का विचार, तथा वाक्यान्त विचार ये सब ध्वनि विकार या ध्वनि विकास हैं, जिन पर हमारे महर्षिगण अपनी-अपनी शाखानुकूल अनेक प्रकार से महत्व पूर्ण अद्भुत अनुसन्धान और अपौरुषेय प्रयत्न कर, अनन्त नियमों से सचाई का उद्घाटन कर गये हैं, हमारे इस विषय के अज्ञान ने ही प्रो० फर्थ को इसे 'प्रोजोडी' नाम से अपनाने का साहस दिया है।

अध्याय ११

अन्य स्वर

मौलिक स्वर तो केवल तीन ही हैं, अ ऋ ऌ। तीनों का मौलिक उच्चारण स्थान कंठ है, यह कहा जा चुका है। ऋ मूल प्रकृति से 'इर्' 'इड्' सा, ऌ मूल प्रकृति से उल् उळ सा प्रथम विकास हुआ। कंठय ऋ ने इ तालव्य, र् या ड् ने मूर्द्धन्य स्थान घेर लिया, तब ऌ कंठय ने ल्, वर्त्स्य उ ओष्ठय स्थान गृहीत किया। ओष्ठ और वर्त्स्य के मध्य ल् सवर्णों ने तथा अ ने अः, अं ह ⨯ क के द्वारा जिह्वामूलीयों का। इस प्रकार पूर्ण समाम्नाय केवल अ ऋ ऌ तीन मौलिक ध्वनियों का क्रमिक विस्तार है।
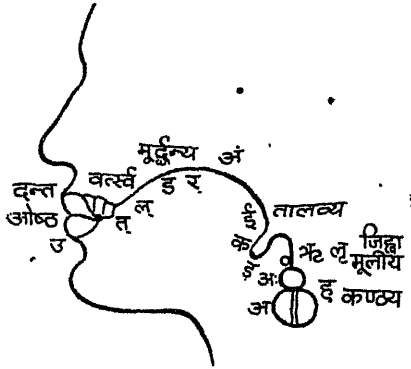
गुण में दोनों ने 'अ' र्, अल् तथा वृद्धि में 'आ' र, आल् रूप में विकसित हो कर अ, आ, र्, ल् चार ध्वनियों का विकास किया।

इ, उ

पूर्वोक्त रीति से (दार्शनिक और ध्वनि शास्त्रीय दोनों रीतियों से) इ, उ दोनों अस्तित्व में आ गये। इ को सबने तालव्य माना है। 'इ चु यशानां तालुः (पाणिनि शिक्षा १७)। तै० प्रातिशाख्य ने लिखा है कि इ के उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग तालु में उपसंहार करता है, 'तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे, (२-२२)। ऋक् प्रा० ने 'तालव्योकारः कह कर छुट्टी ले ली (१-२-११)। उ की व्याख्या में कुछ कमी अवश्य है। इसके विवेचन में केवल ओष्ठ की प्रक्रिया मात्र का वर्णन दिया है, जिह्वा का जो प्रयत्न होता है उसका नाम भी नहीं लिया गया है। तै० प्रा० ने लिखा है कि 'ओष्ठसंहारौ उ वर्णे' (२-२४)। अर्थात् उ के उच्चारण में ओष्ठ को गोल संहृत या संकुचित किया जाता है। ओष्ठों में ऊपर के ओष्ठ स्थान हैं, नीचे के ओठ या अधर करण हैं 'ओष्ठ्यानामधरस्थम् (करणम्) (अथर्व प्रा० १-२५) 'अन्त्रोधरोष्ठौ स्थानमुत्तरस्व साम्यादेषां स्थानानामधरोष्ठौ करणम्' (तै० प्रा०

२-३९)। कात्यायन प्रातिशाख्य ने लिखा है कि उ के उच्चारण में ओठ (आगे को) लम्बे से किये जाते हैं 'उवर्ण प्रकृते रोष्ठौ दीर्घौ' (९८४)। ऐसी स्थिति में तै० प्रा० का कहना है कि जहाँ व्याख्या में कमी प्रतीत हो वहाँ ऐसा समझ लेना चाहिए कि जिह्वा की स्थिति 'अ' वर्ण के उच्चारण के समय की स्थिति के समान माध्यमिक अवस्था में रहती है, इस तटस्थ स्थिति का उक्त ओष्ठ स्थिति में योग कर देने से 'उ' की व्याख्या पूरी हो जाती है। 'अनादेशे प्रण्यस्ता जिह्वा' उव्वट भाष्य 'अनादेशे जिह्वा तूष्णीं भूत्वा भवति' (२-२०, २१) 'तालौ जिह्वामध्यइवर्णे' (तै० प्रा० २-२३)

अब स्वरों के सवर्ण स्वरूपों का वर्णन करने का अवसर आ गया है। हमारे यहाँ सोलह स्वर माने जाते हैं। लोग इस संख्या की पूर्ति में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन स्वरों को गिनाते हैं। यह सोलह आने भर सरासर गलत धारणा है। उक्त संख्या में अं अः तो ऊष्माण हैं, इनकी गिनती शुद्ध स्वरों में की ही नहीं जा सकती। 'ऌ' का दीर्घ होता ही नहीं, यह बतलाया जा चुका है। तब उक्त गिनती में केवल १३ स्वर रह गये। पर स्वर सोलह ही हैं, वे ये हैं:—'अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३, ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ'। एक बात और है। कई प्रातिशाख्यकार 'ऌ' को वर्ण समाम्नाय में स्थान नहीं देते, उनमें से ऋ० प्रा० मुख्य हैं; 'ऌकारः चतुष्टयां न दृश्यते' इस अवस्था में भी स्वर सोलह ही होंगे 'ए' के दो भेद [e] और [ɛ] मान कर (आगे देखिये ए ऐ औ)। परन्तु रोना तो तब आता है, जब पाश्चात्य लोग बिना हमारे ग्रन्थों को भली भाँति समझे बूझे हमारे आचार्यों पर अनर्गल लाञ्छन लगाने का साहस कर संसार को तथा हमारे भोले छात्रों को वर्गलाते और ठगते फिरते हैं। शूलस ब्लौश ने 'लेन्दोएरियाँ' नामक पुस्तक (पृ० ३३) में लिख डाला तथा सब लोगों ने आँख मीच कर स्वीकार कर लिया कि 'भारतीय ध्वनि शास्त्रज्ञों को स्वरों के दीर्घ प्लुत स्वरूपों में ध्वनि की दीर्घादिता के भेद के अतिरिक्त अधिक ज्ञान न था'। इन लेखकों और इनके अनुयायियों को इतना तक ज्ञान नहीं है कि ध्वनि में बाल की खाल से भी सूक्ष्मान्तर आने पर उसके स्थान तथा कारण के प्रयत्न में पर्य्याप्त मात्रा में अन्तर आ जाता है, जब तक ऐसा न हो तब तक पृथक् श्रुति का होना ही नितान्त असम्भव है। जब ऐसी बात है तो दीर्घादि सवर्णता के स्वरूपों के स्थान और करण के प्रयत्नों में अपने आप गहरा भेद निश्चित हो गया। यह तो सीधी सी वैज्ञानिक बात है। पर हमारे आचार्य फिर भी इस दिशा में सतर्क रहने से बाज न आये। भला वे किसी भी सूक्ष्म बात को अंकित किये बिना रह भी कैसे सकते थे? कदापि नहीं, वे लिख गये हैं कि 'मौलिकध्वनयः

'अ ऋ इ उ' क् च् त् ट् प् 'य् र् ल् व् ह् श् ष् स्' अन्ये वर्णास्तूक्तध्वनीनां तुल्यप्रयत्नानामनुप्रदानादीनां स्थानकृतः श्रुतिविशेषाः' ऋ० प्रा० (१३-१४)। तथा तै० प्रा० (२३-२) ने भी लिखा है 'अनुप्रदानात्संसर्गात्स्थानात्करण-विभ्रमात्। जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमात्।' अनुप्रदान में वायु, प्राण और उदर या कोष्ठ आते हैं। इनकी कमी वेशी या हलके जोर के प्रयोग से श्रुति वैशिष्ट्य आता है, यदि स्थानकृत (थोड़ा भी) भेद हो गया तो फिर कहना ही क्या; ध्वनि ही बदल जाती है। दीर्घादिकों में जिह्वा का प्रयत्नीय भाग दूसरा ही होता है। यही आज कल भी मानते हैं[1]।

ए, ऐ, ओ, औ

इ का गुण ए होता है, वृद्धि ऐ, तथा उ का गुण ओ होता है वृद्धि औ। भाषा विज्ञानवादियों की धारण है कि ए और ओ ये दोनों स्वर भी पूर्व वैदिक काल में, और वैदिक काल के आरम्भ के युग में द्विस्वर थे। इसकी पुष्टि में उन लोगों की, सर्वविदित कोटि, ए और ओ का सन्धि में अय् अव् होना है, जो इस बात की ओर संकेत करता है कि इनका उच्चारण अइ (= अय्), अ उ (= अव्) रहा होगा; अन्यथा सन्धि में इस प्रकार के ध्वनि विकास का अवसर नहीं आ सकता। इसके विपरीत की गुण सन्धि भी इसी मत की पुष्टि करती है; राम + इन्द्र, = रामेन्द्रः (अ + इ = ए) मुख + उन्नतः = मुखोन्नतः, अ + उ = ओ। प्रथम सन्धि में माधो + अः = माधवः (ओ + अः = अव् + अः;) ओ + अव्; (हरे + ए=ए + ए=अय् + ए= अये) ए = अय् या अइ। एक तीसरे प्रकार की ठग सन्धि है, क्योंकि यहाँ पर कहा तो जाता लोप होता है, मत है शाकल्य जी का, पर परिणाम में लोप हो जाने पर भी उक्त सन्धियों की स्थिति से तिलभर भी अन्तर नहीं आता। जैसे वसन्ते + इति = वसन्तय् + इति = वसन्तयिति = वसन्त इति या वसन्त अइति। यहाँ पर पदपृथक्त्वमात्र के भेद के कारण सन्धि असम्भव तो हो जाती है (अवग्रह)। अन्ततोगत्वा शेष अ + इ ही रह जाता है। इन सब गड़बड़ के निष्कर्षों का मुख्य कारण यह है कि लोगों ने वैदिक ए ऐ ओ औ को आजकल के स्वरों की तरह क्रमशः ह्रस्व दीर्घप्लुत तीन प्रकार का समझ रखा है। पर बात ऐसी नहीं है। ये चारों स्वर वैदिक समाम्नाय में उच्चारण की मुखमुद्रा में दीर्घ हैं। इनको 'द्विस्वर' कहने के बजाय संध्यक्षर कहा गया है।

---

१. का० प्रा० 'सवर्णवच्च' १-७२-उव्वट-आस्य-प्रयत्नस्तु भिद्यते, मात्रिकस्य द्विमात्रिकस्य अकारस्य, कंठस्थानता उक्ता संवृते अ विवृते प्रयत्नेऽन्ये स्वराः।

'सन्ध्यक्षर' के माने जुड़े स्वर नहीं, वरन् जो स्वर सन्ध्यक्षर होते हुए भी अपने स्वरूप को एक रूप में परिवर्तित कर लेते हैं। जो स्वर दीर्घ होगा उसमें आगे से स्वर के आने में उक्त परिवर्तन आना स्वाभाविक ही है। तै० प्रा० ने लिखा है 'ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ताः स्वराणाम्। अन्ये दीर्घाः।' (प्रथम पटल)। इनके उच्चारण के सम्बन्ध में पुनः कहा है 'तालव्यो वेकारः चकार वर्गाविकारेकारौ यकारः शकारः।' (प्रथम पटल)। जब ये शुद्ध दीर्घ हैं तो ये तालव्य भी हैं। पर पाणिनिशिक्षा इन्हें 'कण्ठतालु' का उच्चारणीय मानती है 'एदैतौ कण्ठतालु' (भट्टोजी दीक्षित) 'ए ऐ तु कण्ठतालव्यौ' (पा० शि० १८) तै० प्रा० अधिक स्पष्टता से कहते हुए लिखता है 'अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठ हनु नातिव्यस्तम्। ओकारे च। ओष्ठौ उपसंहृततरौ। ईषत्प्रकृष्टावेकारे। उपसंहृततरे हनू।' 'तालौ जिह्वामध्य ईवर्णे, एकारे च' (२-१२ से २३ तक) उक्त उद्धरणों में से 'ए' 'ओ' को अधिकांश कंठ तालु स्थानीय मानते हैं। ओ के बारे में ओष्ठ को गोल या लम्बा करना बतलाते हैं। इन्हें द्विस्थानीय तथा संध्यक्षर क्यों कहा गया है? इस पर विचार करते हुए ऋक्प्रातिशाख्य लिखता है 'सन्ध्यानि संध्यक्षराण्याहुरेके द्विस्थानतैतेषु तथोभयेषु।' 'मात्रा संसर्गादवरेऽपृथक्श्रुतीः॥' तै० प्रा० १३-३४, ३५)। ये स्वर संधेय हैं। अतः सन्ध्यक्षर कहलाते हैं, इनकी द्विस्थानता कंठ तालव्यता है। सन्धेय होने से ये द्विवर्ण से माने जाते हैं (अइ अउ), पर ये द्विवर्ण नहीं है। केवल सन्धि में द्विवर्ण से व्यवहृत होते हैं, क्योंकि इनकी बिलकुल एक ही श्रुति है, सन्धि में मानी जाने वाली वह द्विस्वरता (अइ अउ) ऐसी मिली है जैसे दूध में पानी (उव्वट-क्षीरोदकवत् सम्प्रयुक्तत्वा (ए ओ) देतयोर्न पृथक् श्रुतिः')। अब पूर्वोक्त सन्धियों के सन्धिमात्र में ये रूप हो गये हर् $\frac{अ + इ}{२} = \left(\frac{ए}{२}\right) + \frac{ए}{२}$ = हरय् + ए = हरये। माध् $\frac{अव्}{२}\left[= \frac{ओ}{२}\right]$ + अः = माधवः। अन्यत्र इनका उच्चारण कण्ठ तालव्यता युक्त होकर शुद्ध दीर्घ स्वरीय ही होना निश्चित है। अतः भाषा विज्ञानियों की धारणा कोरी कल्पना मात्र है। हमारा साहित्य (वेद) संहिता रूप में ही उदित हुआ। अतः उक्त परिस्थिति परम आवश्यक सी रही। परन्तु इ और ए के उच्चारण में जिह्वा की स्थिति में भेद बतलाते हुये उव्वट जी लिखते हैं कि इ के उच्चारण में जिह्वा जितनी खिंचती है उतनी 'ए' के उच्चारण में नहीं, किन्तु इ के प्रयत्न से ए के प्रयत्न में जिह्वा न्यून मात्रा में खिंचती है, क्योंकि एकार में 'अ' ध्वनि मिश्रित है। 'इवर्णे यथा जिह्वा मध्योपसंहारो न खलु एवं एकारे किन्तु ततो न्यून इति, कुतः अकार मिश्रितत्वात् एकारस्य' (२-२३)।

ओ, औ का उच्चारण स्थान कण्ठोस्थ है, 'ओदोतौ कण्ठ्योष्ठम्'। पर ऋ० प्रा० इन्हें केवल ओष्ठय मानता है, 'शेष ओष्ठ्यौ'। इस विषय में 'उ' के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। अब परिस्थिति परीक्षणीय रह गई है ऐ और औ की। इन दो स्वरों के बारे में प्रायः सब एकमत के हैं कि ये वास्तव में सन्ध्यक्षर हैं, इस माने में कि ये क्रमशः अ+इ (ऐ) और अ+उ (औ) के दो दो स्वरों के द्विस्वर स्वर हैं, ए ओ की तरह, 'एक स्वरीय ध्वन्यात्मक' नहीं हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य लिखता है 'अकारार्द्धमैकारौकारयोरादिः। संवृतकरणमेकेषाम्। इकारोध्यर्द्धः पूर्वस्य शेष उकारस्तूत्तरस्य॥' (२-२६ से २९ तक)। ऋ० प्रा० लिखता है कि 'सन्ध्येष्वकारोऽर्द्धमिकारमुत्तरम्। भुजोरुकार इति शाकटायनः। मात्रा संसर्गादवरे पृथक् श्रुतीः। ह्रस्वानुस्वार व्यतिषंगवत्परे पृथक् श्रुतौ कारणमेकमिदम्' (१३-३८, ३९)। ऐ और औ में दो दो भाग हैं, दोनों के पूर्वार्द्ध में अ है, ऐ के उत्तरार्द्ध में इ और औ के उ है। अतः ऐ = अइ, औ = अउ हैं। इनका अ कार संवृत है। ऋ० प्रा० के उल्लेख के अनुसार यह मत शाकटायन जी का है; और इनकी पृथक् श्रुति के बारे में तै० प्रा० चुप है, पर ऋ० प्रा० कहता है कि कुछ लोग मानते हैं कि इनके दो भिन्न भागों की श्रुति पृथक् सुनाई पड़ती है। कुछ और हैं जो यह मानते हैं कि इनके भागों की पृथक् श्रुति होने के कारण वही हैं जो ह्रस्व अनुस्वार के उच्चारण के लिये पृथक् से 'अ' के (ं के आदि में) सुनाई पड़ने में है। यहाँ 'अ' का योग ं अनुस्वार के स्पष्ट करने मात्र के लिये हैं। यहाँ अ है ही नहीं। कात्ययन प्रा० आगे बढ़कर कहता है कि इन स्वरों की प्रथम मात्रा कण्ठ्य है, दूसरी मात्रा क्रम से तालव्य और ओष्ठय। 'एकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वा मात्रा तालव्योष्ठयोरुत्तरा (१-७३)। पर पाणिनि शिक्षा कात्यायन से आगे बढ़कर कहती है कि ए और ओ में अइ, अउ रूपों के अ की कण्ठ्य मात्रा आधी है, पर ऐ और औ के अ+इ और अ+उ रूपों में वही 'अ' की कण्ठ्य मात्रा एक पूरी मात्रा है। 'अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारोकारयोर्भवेत्। ऐकारौकारयोरेका मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम्' (१२)। आपने देख लिया है कि ऋ० प्रा० उक्त विभाजनीय बखेड़े से स्वयं तो तटस्थ है, पर शाकटायन और कुछ अन्य लोगों के मतों को उद्धृत मात्र करता है। तै० प्रा० अवश्यमेव इनकी द्विस्वरता में विश्वास रखता है, पर 'अ' भाग की संवृतता सम्बन्धी विचार वे अपना नहीं बतलाते, इस मत के आचार्य कोई अन्य हैं। सम्भवतः यह ग्रंथ इस 'अ' को विवृत मानता हो। का० प्रा० कोई महत्व की बात नहीं देता। पर पाणिनि शिक्षा में एक बात खटकने वाली है दूसरी समझदारी की। यह दूसरी बात प्रथमार्द्ध मात्रा को (अ को) विवृत मानना है। यहाँ बात हो

रही है, *विवृत संवृत सम्बन्धी केवल 'अ' भाग की*, पर पतञ्जलि जी इस बात पर ध्यान न देकर पूरे पूरे ऐ औ को विवृततर वर्ण मानकर लिखते हैं 'प्रश्लिष्टौ वर्णावेतौ विवृततरावेतौ' (१-१-४ महाभाष्य) पतञ्जलि जी ने तै० प्रा० प्रभृति की एक बात को काट दिया है। तै० प्रा० प्रभृति ने लिखा था कि ऐ और औ में अ + इ और अ + उ हैं। पर ये कहते हैं, नहीं, ये ऐ = आ + इ, और औ = आ + उ हैं। यह कथन पाणिनि की शिक्षा और ऋ० प्रा० के गुप्त मत—अ को विवृत मानने के आधार पर उपन्यस्त है; विवृत अ = आ होता है। संधि में तभी ऐ का आय् = आइ और औ का आव् = आउ होता है; रवौ + इति रवाविति रै + आ = राया आदि। यदि ए ओ दीर्घ हैं तो ये ऐ औ प्लुत से होंगे, नहीं तो इनका 'आ' दीर्घ नहीं ह्रस्व होगा; जैसा ह्रस्व 'आ' हम कुमाउनी में बतला आये हैं।

अध्याय १२

वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत में ए ऐ ओ ओ का वास्तविक स्वरूप

ध्वन्यात्मक विश्लेषण के लिये उक्त चारों स्वरों 'ए ओ' और 'ऐ औ' को दो मुख्य भागों में विभक्त करना समीचीन है। पिछले परिच्छेद में दिये विवेचन में आधुनिक लेखकों ने अपने मत की स्थापना प्राचीनों के दिये हुये स्पष्ट उदाहरणों का समुचित अनुगमन किये बिना ही कर डाली है। अतः वह एकाक्षी और एकाङ्गी बन पड़ी है। वस्तुतः बात यह है कि संस्कृत में दो दो प्रकार के 'ए' और 'ओ' मिलते हैं, और एकएक प्रकार के 'ऐ' और 'औ'। इस प्रकार उक्त चार स्वर, छ स्वरों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, जिन्हें ए = ए, ऐ; ऐ = ऐः ओ = ओ, औ; औ = औः चिह्नों से अंकित किया जावेगा। ए के तीन रूपों की मात्रायें ˋ, ˆ, ˋˋˋ, चिह्नों से अंकित की जायेंगी। आज तक विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित ही नहीं हो पाया है कि संस्कृत में दो दो प्रकार के 'ए' और 'ओ' हैं। 'ए' के दो प्रकार इस प्रकार हैं। एक ए वह है जिसका सन्धि में अय् (या अइ) होता है (हरये); दूसरा 'ए' वह है जिसका सन्धि में अय् (या अइ) न होकर तथावत् रह जाता है जैसे 'जानेऽहम्' इसी प्रकार 'ओ' भी दो प्रकार का है। एक वह जिसका अव् (या अउ) होता है (माधवः) दूसरा वह जिसका तथावत् रूप रह जाता है 'रामोऽस्मि' 'सरोऽस्ति'। इनमें से प्रथम प्रकार के ए और ओ को दूसरा ही नाम दिया गया है, यह नाम गुण 'ए' और गुण ओ है। अर्थात् ये स्वर 'ए' ध्वनि के गौण स्वरूप हैं या गुणित स्वरूप हैं, अर्थात् इनकी ध्वनि शुद्ध 'ए ओ' से गुणित या अधिक विकसित है, 'ए' की गुणित ध्वनि या विकसित ध्वनि ऐ [ɛ] ही हो सकती है। क्योंकि ए के उच्चारण को अधिक विवृत करें तो स्वयं ऐ [ɛ] की श्रुति उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार ओ की गुणित ध्वनि औ [ɔ.] है। इन्हीं गुणित ध्वनि रूप ए और ओ [ɛ, ɔ.] का अय् और अव् होता है, हो भी सकता है। शुद्ध 'ए' 'ओ' का सवर्ण दीर्घ या यण् हो सकता है न कि अय् अव्। कुमाउनी के ऐ और औ [ɛ ɔ.] के निर्माण की रीति से इस बात की पुष्टि स्पष्टतः हो जाती है। गैःर = गइर गहिर गम्भीर; खैःर = खइर = खदिर। यहाँ अइ से 'ऐ' बना है यही 'ऐ' गुण रूप है। संस्कृत में 'नर + इन्द्र' =

'नरेन्द्र' को 'नरैन्द्र' पढ़ना उचित है; क्योंकि इस प्रकार की सन्धि में गुणित ए = ऐ (ै) का होना उक्त प्रमाणों से बिलकुल स्पष्ट है। दै = दइ, कै = कइ, सै = सइ (दही, कही, सही)। इसी प्रकार गुणित ओ = औ, जैसे मौ = मउ = मधु, कौ = कउ = क्व् = कथ (कहो) आदि का संस्कृत प्रति रूप एक + ऊन विंशति = [एकोनविंशति] = एकौनविंशति, उत्तम + उत्तम = (उत्तमोत्तम) = उत्तमौत्तम होना अनिवार्य है। यह इसलिये कहा जा रहा है कि अ और आ में इ और उ किसी भी प्रकार घुल मिल ही नहीं सकते। प्रातिशाख्यादिकों ने जो यह कहा है कि इनका योग क्षीरोदकवत् या पांशूदकवत् रहता है वह इन सन्धियों के लिये नहीं कहा गया है, वरन् नूतन स्वरों की [ε. æ, ɔ; ɔː] की व्याख्या देने का प्रयास किया है; उसे वे 'अपृथक्श्रुति' नाम समुचित ही दे गये है। ऐ और औ का निर्माण या प्रादुर्भाव अइ, अउ को सन्ध्युपरान्त बिलकुल अपृथक्श्रुतिक नवीन स्वर के रूप में 'दै' 'मौ' (दइ मउ) की तरह होता है, इनका उच्चारण शुद्ध ए और ओ से विवृतर [ε, ɔ.] स्वरों के स्थानों से होता है। प्रातिशाख्य 'ऐ' को जो 'अइ' समान होते हुये भी उसको एक स्वरतावान् एकश्रुतितावान् या सन्ध्यक्षरतावान् मध्यवर्तीस्वरवान् कहते आ रहे हैं, उसे समझने का प्रयत्न अब तक किसी ने कर ही नहीं दिया है। अग्र स्वरों या आभ्यन्तर स्वरों के उच्चारण में मुख के चार भाग माने जाते हैं इ, ए, ऐ [ε] ऐ (æ)। इन्हीं भेदों को प्राति-शाख्यकार समझाने का प्रयास कर रहे हैं, कोई समझ ही नहीं देता। वे तो यहाँ अइ, अउ में यहाँ तक कह गये हैं कि इनमें प्रथम 'अ' स्वर उसी प्रकार व्यर्थ या समझाने मात्र के लिये जानना चाहिये जिस प्रकार (ं) को या अनुस्वार को संकेतिक करने के लिये लोग (ं) 'अं' लिखते आ रहे हैं। यहाँ 'अ' लिखना बिलकुल व्यर्थ ही है; (ं) संकेत पर्याप्त है। यह नवीन ध्वनि है, 'अ' इसमें है ही नहीं; हम फिर भी इसमें 'अ' लिखते ही चले आ रहे हैं (अं)। ऐसे ही गुण रूप ए ओ को समझाने के लिये अइ अउ (अय् अव्) जो लिखते आ रहे है, उनमें उक्त जोड़ों की द्विस्वरता का नाम मात्र भी नहीं है। इन सब बातों की पुष्टि में यह कह ही देना पड़ रहा है कि आधुनिक भाषा विज्ञानी तथा प्राचीन वैयाकरण यदि अपना सिर लाख बार भी दीवाल से पटकें तब भी अइ = ए, अउ = ओ को इस जीवन में सन्देह रूप में भी नहीं बना पायेंगे। उच्चारण की प्रयोगशाला में देख लें'। इनकी स्वाभाविक सन्ध्यक्षरता अइ = ऐ [ε] और अउ = औ [ɔ] ही रहेगी। इनकी उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई है, यह भी इसका प्रतिगामी प्रतिकूल पक्का प्रमाण है ही (उदाहरण ऊपर दे दिये गये है)। निष्कर्ष यह निकला कि गुणरूप ए ओ = ऐ औ [ε, ɔ] के हैं। इन्हीं के

अइ, अउ या अय् अव् आदेश भी होते हैं। शुद्ध ए ओ के अय् अव् आदेश का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा तो हो ही नहीं सकता, न भूतो न भविष्यति। इसमें पा० शि० (१८) का वचन 'ए ऐ तु कण्ठ-तालव्यौ' दृढ प्रमाण है। यहां 'ए ऐ' की सन्धि में अयादोश नहीं है।

अब यह देख लें कि प्रातिशाख्यकारों के शुद्ध 'ए' ओ, हमें शब्दों या वाक्यों में कहाँ मिलते हैं? और वे हैं कैसे? वैयाकरणों ने 'रामोऽस्मि' 'सरोऽस्ति' 'जानेऽहम्' 'वनेऽत्र' की सन्धि को पूर्व रूप नामी काला कम्बल पहिना कर जो बड़ा भारी धोखा देने का प्रयास किया है वह भाषातत्त्व विशारद वृद्ध को ठगने में सफल नहीं हो पा रहा है। यदि ए = अय् या अइ है और ओ = अउ = या अव्, तो यहाँ उक्त उदाहरणों के ए और ओ ने क्या भंग पी रखी है कि वे 'अ' के पर में आने पर अय् अव् बनने को मना कर दें। इसे वैयाकरण 'ससुजुषोरु' मानकर भिन्न 'ओ' भले ही मानें, वे इस 'ओ' के निर्माता नहीं हैं, यह उनकी इस 'ओ' की अपनी ढंग की व्याख्या शैली है। यह विसर्गीय 'ओ' है, यह विसर्जनीय या पदान्तीय 'ओ' है। यह शुद्ध 'ओ' है, इसी प्रकार पदान्तीय 'ए' भी (जानेऽहं) शुद्ध ए है। जो जो ए ओ, गुणित ध्वनि से नहीं बनते हैं, वे सब शुद्ध ए ओ हैं। ऐसे ए ओ प्रायः पदान्त में या विभक्तियों के पूर्व में मिलेंगे या वहाँ जहाँ इनकी सत्ता विना गुण हुये पहिले ही से स्वयं तद्रूप में विद्यमान है जैसे ओकः (गृह) अवोचत् (बोला) एकः = एक, एतत् (यह) आदि शब्दों में, विभक्ति के पहिले जैसे रामेभ्यः, रामेषु सरोभ्यः अहोभिः आदि रूपों में; पदान्त में 'जाने' 'रामे' रमे, 'रे' अहो, भो, 'सरोऽस्मि' आदि में। वैयाकरणों ने अहो, भो, रे, पर अव्यय नाम का काला कम्बल डाला है, यह भी ठगी ही है। इन सब शुद्ध ए ओ का अइ अउ (अय् अव्) बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः इस प्रकार के ए ओ शुद्ध ए ओ हैं। हां, रामे = इति में 'एइ' सन्धि रूप बनता है; यह (उसी प्रकार) गुण सन्धि हो गई है जिस प्रकार अ + इ = ऐ, ऐसे ही एइ = ऐ अतः रामे इति = रामेइति या रामइति या रामयिति सबका उच्चारणः प्रायः एकसा है, बहुत सूचम अविचारणीय भेद तो कुछ है ही, फिर यह गुणसन्धि के ही अन्दर आती है [एइ = अइ = ऐ.]। क्योंकि यहाँ 'ए' ध्वनि इ प्रत्यय की सन्धि या संयोग से गुणित हो रही है; जो उदाहरण से स्पष्ट है, दीर्घ है।

ऐ और औ के बारे में दो प्रकार के मत अंकित हो चुके हैं, कुछ इन्हें अइ अउ रूप मानते हैं और कुछ आइ, आउ रूप (उद्धरण देखें)। वास्तव में ये दोनों मत ठीक हैं, पर इनके समर्थक एक दूसरे के मत का अनुगमन नहीं कर सके हैं। ये लेखक विभिन्न प्रान्तीय हैं। पाणिनि शालातुरीय ,हैं पतञ्जलि,

काश्मीरी, जिसकी उच्चारण शैली जैसी रही वह उसी का समर्थन कर रहा है। यह इन दोनों के स्थानीय उच्चारण शैली पर प्रकाश डाल रहा है। संस्कृत में अइ अउ = ऐ औ. थे तो आइ' आउ = ऐः औः थे। प्रथम गुणित ध्वनि रूप थे, तो द्वितीय गुणित के साथ साथ वृद्धि मय भी थे। अतः प्रथम को गुणसन्धि या गुणरूप कहा है तो दूसरे को गुणितवृद्धि या' शाकपार्थिव प्रणाली से केवल वृद्धि सन्धि या वृद्धि रूप कहा गया है। यह वृद्धि अइ अउ के गुण या गुणित रूप में आइ आउ रूप या अ का आ रूप वृद्धि ले रही है। फलतः वृद्धि हुई है गुणित रूप अइ अउ में, जिनका वृद्धि रूप आइ आउ बना। अतः आइ आउ (या आय् आव्) को वृद्धि नाम दिया गया है। यह ध्यान रहे सभी प्रातिशाख्यकार और शिक्षा लेखक इस वृद्धि रूप आइ आउ (आय् आव्) को एकाक्षर अभिन्न स्वर, एकश्रुति स्वर हैं, कहकर चिल्लाते आ रहे हैं। इन्हें कोई भी द्विस्वरता प्रदान नहीं करता। तब प्रश्न उठता है कि वे ऐसे कौन स्वर होंगे जिनकी व्याख्या वे इस प्रकार देते देते थके जा रहे हैं, पर समझ में किसी के भी नहीं आ रहा है? इस समस्या को समझाने के लिए हमें पुनः अपनी आधुनिक भाषाओं की प्रत्यक्ष मूर्तियों की, विशेषकर यहाँ कुमाउनी की शरण में आना पड़ेगा। कुमाउनी और बँगला में उक्त दोनों स्वर प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिनका निर्माण भी (ऐ. औ. के अइ अउ की तरह) आइ आउ से ही हुआ है। अब इन वृद्धि रूपों को यहाँ ऐः औः (ैः ौः) संकेतों से दिखलाना, गुणरूपों (ऐ औ) से पार्थक्य का विविक्त संकेत देने में समर्थ होगा। नहीं तो समझने में गड़बड़ी सी लगेगी। इन वृद्धि रूप के ऐः औः को आजकल [æ:, ɔ:] संकेतों से लिखा जाता है, जब कि गुण रूप के ऐ औ को [ɛ· ɔ,] संकेत से पहिले संकेतित किया जा चुका है। अब कुमाउनी से उक्त वृद्धि रूपों के उदाहरणों को लेकर परीक्षा कर लें। पुरानी कुमाउनी में माःई भाःई गाःई आदि रूप थे; उनके स्थान में अब मै`, भै`, गै`, ( æ ) युक्त रूप प्रस्तुत हो गए हैं, इसी प्रकार भाऊ, साऊ आऊ ( बच्चा साहू, आवो ) रूपों के भौः सौः, औः ( ɔ: ) भी बने हैं। जब इनकी सन्धि होती है तो इनका क्रम से आय् और आव् आदेश हो जाता है; जैसे गै` + आव् = गा.य्या.व् (गा आवो) चै` + आव् = चा.य्याव (देख आओ), लफौ + उति=लफाउति (फैंको वहाँ) आदि। द्वितीय उदाहरण प्रथम उदाहरणों से स्थापित सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए यह निश्चय करा दे रहे हैं कि संस्कृत के ऐः औः जिनका आय् आव् होता रहा वे सन्ध्यक्षर या द्विस्वर न होकर, एकस्वरीय एकश्रुतिक एकालयीय स्वर थे; यदि ऐसा था तो निश्चय पूर्वक 'ऐः' = æ: तथा 'औः' = ɔ: था; इसमें सन्देह का लेश भी नहीं रह जाता। एक विचित्र समानता देखकर

आश्चर्य हो रहा है। जिस प्रकार पाणिनि पतञ्जलि के उद्धरणों में उनके दैशिक उच्चारण आइ, अइ सम्बन्धी भेद दिया हुआ है, ठीक उसी प्रकार कुमाउनी में भी दैशिक उच्चारणों में आइ अइ सम्बन्धी भेद विद्यमान है। अल्मोड़ा नगर के निवासी भै मै आदि को भै मै कहते हैं, जब कि गङ्गोइ कुमाउनी में उक्त उदाहृत भै मै ही रूप मिलते हैं, प्रथम 'अइ' मत का अनुयायी है द्वितीय आइ मत का। प्रथम मत (अल्मोड़े) में ऐ (ै:) प्राप्त ही नहीं है। अतः पाणिनि पतञ्जलि के मत भेद दैशिक उच्चारण के भेद ही रहे होंगे; इसमें सन्देह नहीं रह जाता। संस्कृत में वैसे ही दोनों प्रकार के ऐ ऐः, औ, औः थे, जैसे कि गंगोई कुमाउनी में मिलते हैं। हिन्दी में 'ऐसा' शब्द को कोई भी 'अइसा' नहीं उच्चरित करता; सब 'ऐःसा' (ऐः = ɛ·) उच्चरित करते हैं। इसी प्रकार औरत को कोई 'अवुरत' नहीं कहता, सब 'औःरत' (औः = ɔ :) ही बोलते हैं। इसी प्रकार 'चौःबीस' आदि शब्दों का उच्चारण होता है; और क् ख् ग् को सब कै खै गै (ɛ ऐ सहित) कहते हैं। स्वरों के पाठ में जो हम
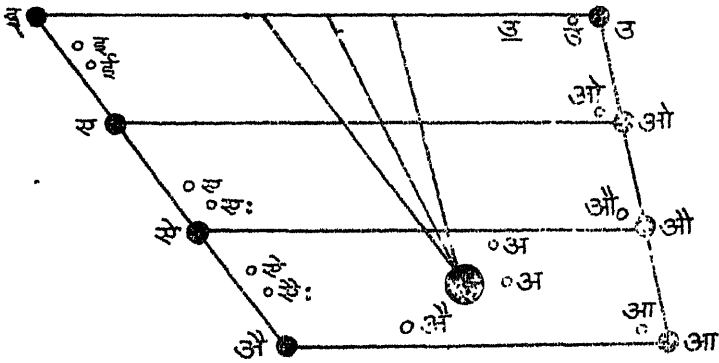
आभ्यान्तर स्वर इ

(शुद्ध) ए

अइ से निर्मिति, अयादेश (गुण रूपी) ऐ

आइ से निर्मिति आयादेश (वृद्धि रूपी) ऐः

उ बाह्यस्वर

ओ (शुद्ध)

औ. (अउ से निर्मिति, अवादेश, गुण)

औः (आउ से निर्मिति, आवादेश, वृद्धि)

आ (वृद्धि रूपी, आर्, आल् से गुरु)

लोग ए, [अ इ] ऐ, ओ, [अ उ =] औ, कहते हैं, यह अवश्यमेव संशोधन की अपेक्षा रखता है। जैसे :—

वस्तुतः उक्त निर्णयानुसार अब इन स्वरों की स्थिति यह हो गई है :— इ, ई; ए (शुद्ध), ऐ (गुण) [ɛ·], ऐः (वृद्धि) (æ), उ, ऊ; ओ (शुद्ध), औ, (गुण) (ɔ.), औः (वृद्धि) [ɔ :] अ, आ। आदि के ए ओ शुद्ध हैं, द्वितीय गुण या गुणित ध्वनियाँ हैं, तृतीय गुणित वृद्धि ध्वनियाँ हैं। गुण और वृद्धि शब्द, सन्धि पूर्व के स्वरूपों की स्थितियों के नाम है; अइ अउ = गुण नाम, आइ आउ = वृद्धि नाम। यह स्थिति स्वर निर्माण के पूर्व काल की रही, जैसे पुरानी कुमाउनी के रूपों में। जब नवीन कुमाउनी में इन्हीं नवीन ए औ ऐः औः के आगे अन्य स्वर आता है तो फिर इनका स्वरूप उन्हीं पुराने गुण वृद्धि रूपों में परिणत होता है। यह वाक्यस्तर की बात है, पहिली स्थिति शब्द स्तर की थी। अतः गुण वृद्धि दोनों दो-दो प्रकार की हैं, शब्द-स्तरीय और वाक्यस्तरीय। प्रथम शब्दस्तरीय निर्माता है, द्वितीय शब्दस्तरीय 'पुनर्मूषिकोभव' कह कर उनको इनकी अपनी पूर्व या मौलिक स्थिति में लाने वाला है। सबसे बड़े खेद की बात तो यह है कि आज कल के भाषा विज्ञानियों ने यह भी सोचने का कष्ट नहीं किया कि परम वैज्ञानिक प्रातिशाख्य-शिक्षा जैसे शास्त्र के धुरंधर ध्वनि तत्व वेत्ताओं को क्या स्वरों की पूरी सूची भी विदित रही होगी या नहीं। यदि इन्होंने नकारात्मक में सोचा है तो इनके ज्ञान की परिधि यहीं पर कुए के मुख के समान सीमित हो जाती है। प्राचीनों ने तो चित्रलिखित स्वरों की ही व्याख्या दी है। इन लोगों के समक्ष हुए अइ अउ, आइ आउ रूप द्वयक्षरों का कहीं वर्णन नहीं है। सब स्वर 'एकस्वरीय' एकश्रुतिक ही हैं।

अध्याय १३

मात्रा और भार

(१) मात्रा

स्वरों में मात्रा का बड़ा महत्त्व है। स्वर के उच्चारण की लम्बाई को मात्रा कहते हैं। उच्चरित स्वर की लम्बाई, उच्चारण में प्रयुक्त काल या क्षण की माप से आँकी जाती है। यह ध्वनितत्त्व शास्त्र की ध्वनि विकास शास्त्र' नामक शाखा का कार्य ह। मात्राओं का निश्चयात्मक निर्धारण प्रयुक्त क्षणात्मककाल के आधार पर जिस प्रकार किया गया है, उन्हें ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत ये तीन नाम दिये गये हैं। 'ह्रस्वदीर्घ उभये स्वक्षराणि; (ऋ० प्रा० १–१७, १९)। तथा 'मात्रा ह्रस्वः द्वे दीर्घे तिस्रःप्लुत उच्यते स्वरः (ऋ० प्रा० १, २७, २९, ३०); । तै० प्रा० लिखता है, 'ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ अकारश्च, द्विस्तावन् दीर्घः, त्रिः प्लुतः; ह्रस्वार्द्धकालं व्यञ्जनम्' (वर्णसमाम्नाय १–३१–३६)। अथर्व प्रा० कहता है कि 'एकमात्रो ह्रस्वः, द्विमात्रो दीर्घः' (१–५९, ६१)। कात्यायन प्रा० लिखता है, कि 'अ मात्र स्वरो ह्रस्वः, मात्रा च, द्विस्तावान् दीर्घः, प्लुतस्त्रिः।' (१–५५–५८) उक्त उद्धरणों के अनुसार 'अ' की निश्चित और परिमित मात्रा है। यह मात्रा (अ की) ह्रस्व है, ऋ० पा० के अनुसार ऋ और ऌ की मात्रा भी 'अ' के समान नित्य निर्धारित एक या ह्रस्व मात्रा है, इसकी दूनी मात्रा 'दीर्घ' और तिगुनी 'प्लुत' कहलाती है। १ मात्रा ह्रस्व, २ मात्रा दीर्घ और तीन मात्रा प्लुत हैं। मात्रा काल का निर्धारण अ ऋ ऌ के उच्चारण में लगने वाले निश्चित समय से किया जाता रहा। आजकल के यन्त्रमय ध्वनि तत्त्व विशारदों ने यह निश्चय पूर्वक, आँखों से देख लिया है कि एक ही स्वर के ह्रस्व और दीर्घ या प्लुत के उच्चारण में आभ्यन्तर या बाह्य प्रयत्नकारी अर्द्धेन्दु, कण्ठविल, जिह्वा और ओठों की मुद्रा या स्थान की स्थिति में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य रहता है। अतः वे ह्रस्व दीर्घ जैसी अनुरूपतामान्यता वाली ध्वनियों को पृथक् ध्वनियाँ ही मानते हैं। फिर भी उन ध्वनियों में जो एक जातित्वमय अनुरूपता है उसमें कोई यन्त्र विछोड़ नहीं डाल सकता। हमारे शास्त्रियों का ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद मानने का मुख्य आधार, ध्वनि जातित्व मूलक है। एक स्वर की जितनी ध्वनियाँ है, वे उस अक्षर (फोनेम) या वर्णकुल की विभिन्न श्रुतियाँ हैं। ध्वनिजातित्व को

स्वीकार करके ही हमारे यहाँ सवर्ण दीर्घ से दीर्घ सन्धि में ह्रस्व से ह्रस्व, या ह्रस्व से दीर्घ, या दीर्घ से ह्रस्व या दीर्घ से दीर्घ, कोई भी दो श्रुतियाँ एक साथ आवें तो वे सब मिलकर केवल दीर्घ ही बनाती है। यह जोड़ (सन्धि) जादू भरी गणित वाली है। जैसे उक्त सन्धियाँ के जोड़ ऐसे हैं:— १ + १, १ + २, २ + १, २ + २, इनका जोड़ २, ३, ३, ४ होता है। पर वास्तव में इन सबको २ ही माना जाता है, फलतः २=२ ३ = २, ३ = २, ४ = २ के है। १ + १ ह्रस्व + ह्रस्व = दीर्घ तो स्वयं स्वभावतः ठीक जोड़ या सन्धि है, १ + २ ह्रस्व + दीर्घ = दीर्घ में प्रथम ह्रस्व दूसरे दीर्घ में खो जाता है, २ + १ दीर्घ + ह्रस्व = दीर्घ में दूसरा ह्रस्व प्रथम दीर्घ में खो जाता है; २ + २ दीर्घ + दीर्घ में, द्वितीय दीर्घ प्रथम दीर्घ के ठप्पे में वैसे समा जाता है, जैसे अर्द्धनारीश्वर। अतः अन्तिम तीनों में से द्वितीय तृतीय में प्लुत की, चतुर्थ में प्लुत की चार मात्रा की सम्भावना नहीं आती।

प्लुत का प्रयोग अधिकांश में सम्बोधन में होता है भो ३, अहो ३ अरे ३, आदि शब्दों तथा प्रत्येक सम्बोधित नाम के अन्तिम स्वर में हे ३ रमे ३ हे ३ हरे ३, हे ३ राम ३, हे ३ साधो ३, हे ३ नदी ३, के ए, अ, ओ ई ऊ ये सब प्लुत हैं। 'आ' का प्लुत हे रमाः ३ दाराः ३ हे ३ अच्युताः ३ में मिलता है। ह्रस्व स्वरों में केवल 'अ' का प्लुत मिलता है। ह्रस्व इ, उ का प्लुत देखने में नहीं आता। ऐ, औ का भी प्लुत मिलना कठिन ही है। अतः संस्कृत को इ, उ, ऐ, औ, ऌ के प्लुत से मुक्त करना ही ठीक है, इ उ का सन्बोधन में संस्कृत में ए, ओ हो जाता है। परन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इनके प्लुत अवश्यमेव सन्बोधन में मिलते हैं। क्यों कि इनके उच्चारण में सम्बोधन में इ का 'ए', उ का 'ओ' नहीं होता। संस्कृत स्त्रीलिंग आ का ए तो एक वचन मात्र में होता है बहुवचन में तो आः ३ ही रहता है। पु० में ए० व० में भी आ० ही रहता है, हे हाहा ३। वेदों में, ब्राह्मणों में, आरण्यक और उपनिषदों में ऐसे सम्बोधनशब्दों की कमी नहीं है। अतः यह अपनी यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध है। जहां पर अवधारण देना होता है या उत्तरयुक्त प्रश्नोक्ति होती है, वहां का प्लुत भी वेदों में अल्पमात्रा में उपलब्ध है ही। "अधःस्विदासी ३ द्, उपरि स्विदासी ३ द् अर्थं प्लुति र्भीरिव विन्दतीम् ३ त्रिः" (ऋ० पा० १–३१)

अब उच्चारण क्षण प्रयोगानुसार मात्राओं में कई भेद किये गये हैं। तै० प्रा० ने लिखा है कि व्यञ्जन की मात्रा ह्रस्व मात्रा की आधी मात्रा होती है, 'ह्रस्वार्द्धं कालं व्यञ्जनम्' (१–३१–३७)। ऋक्प्राति शाख्य संयुक्त व्यञ्जनों की मात्रा, ह्रस्व की एक चौथाई मात्रा मानता है जैसे 'व्वर्ष्यान्' के

'र् ष् ष् थ्' इन चारों में से प्रत्येक को ¼ मात्रा दी गई है "'अर्द्धोनान्या' (आर्ष्टिपेण व्वष्व्यान्)" (१. ३१. ३०)। इसी भाव को कात्यायन प्रा० अधिक वैज्ञानिक ढंग से कहता है कि व्यञ्जन की आधी मात्रा है, इसकी आधी मात्रा को अणु या 'क्षण' कहते हैं, इस अणु की आधी मात्रा को परमाणु कहते हैं। "व्यञ्जनमर्द्धमात्रा तदर्द्धमणुः, परमाणु रर्द्धाणु मात्रा" (१-५९, ६१)। न जाने क्यों अथर्व प्रातिशाख्य व्यञ्जन को एक पूरी मात्रा देने का जो साहस करता है वह कुछ हद तक अनुचित कहा जा सकता है, परन्तु व्यञ्जनों की भी दीर्घमात्रा होती है, यह तथ्य अभी बहुत से विद्वानों से छिपा हुआ सा प्रतीत होता है। 'सम्मान' 'तन्नाम' 'अक्के' 'अल्ले' 'निस्सन्देह' आदि शब्दों में म् न् क् ल् स् की दो दो मात्रा २ = स्वर मात्रा १ है। प्राकृतों में ऐसे दीर्घ व्यञ्जनों की बड़ी भरमार थी; 'धम्म कम्म अज्ज' आदि; आजकल भी कम नहीं हैं। अतः 'व्यञ्जन सन्दर्भ में मात्रा का प्रश्न नहीं उठता' यह बक देना, ध्वनि तत्त्व शास्त्र मर्म के विरुद्ध तो है ही, उससे अधिक अनुचित है पाश्चात्यों का हमारे उक्त ऋषियों के सन्दर्भ को लगाने में असमर्थ होकर अनर्गल वक्तव्य दे देने की खोज में बैठे रहना। उक्त उदाहरणों से यह कह देना कि व्यञ्जन का मात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता; क्योंकि मात्रा स्वरों की अपनी अलग सम्पत्ति है; यह एक बड़ी भारी भूल सिद्ध हो चुकी है। हमारे आचार्यों ने जब जब व्यञ्जन की मात्रा का प्रश्न उठाया है तब तब उनके द्वित्व स्वरूप को दृष्टि पथ में रखकर तथा स्वरों के साहचर्य में आने से व्यञ्जन स्वर की मात्रा में भाररूप भेद करने में अवश्य समर्थ होता देखकर ही किया है। ऋक् प्रातिशाख्य ने जब 'द्राधीयसी सार्द्ध मात्रा, अर्द्धोनान्या' वाक्य कहे हैं, वह कई व्यञ्जनों की समष्टि युक्त स्वर की स्थिति पर विचार करते हुए, व्यञ्जन समष्टि का जो प्रभाव स्वर में मात्रात्मक रूप में भारात्मक स्थिति से आया, उसी की व्युत्पत्ति देने में वे प्रत्येक व्यञ्जन के भार को यथोचित मात्राशब्द में प्रकट कर गये हैं, यह उनके उदाहरण 'कार्हि प्रत्यु अदर्शि' (१½ मात्रा) 'व्वष्व्यान्' (प्रत्येक की ¼ मात्रा) से बिलकुल स्पष्ट है। इसका विशेष विवेचन 'भार' शीर्षक में किया जावेगा। अतः ऋषियों का कोई वक्तव्य ध्वनि विकास शास्त्र के विरुद्ध नहीं जाता। उनका लक्ष्य यह सूचित करने का अवश्य था—जो सचमुच एक तथ्य है—कि व्यञ्जन के उच्चारण में सबसे कम समय, ह्रस्व मात्रा का आधा या चौथाई तक लगता है, उनमें केवल एक टक् सी (स्पर्श) होकर रह जाती है, उसकी ध्वनि, स्वर के साथ गुञ्जित होकर आती है, बस। इस पर तूमार बाँधने का अवकाश नहीं है। इसी प्रकार मात्रा की माप भिन्नता को

रूपक से स्पष्ट करने के लिए कहा है :—"चाषस्तु वदते मात्रं द्विमात्रं चैव वायसः। शिखी त्रिमात्रो विज्ञेय एष मात्रा परिग्रहः ॥" (ऋ० प्रा० १३-५०)। (का० प्र० ४९)। चाष पक्षी एक मात्रा में बोलता है, कौवा दो मात्रा में, मोर तीन मात्रा में। ये स्थूल भेद हैं; स्थूल से सूक्ष्म की ओर मोड़ने का मार्ग है। यह श्लोक दो प्रातिशाख्यों में मिलता है, अतः किसका मौलिक है, यह नहीं कहा जा सकता, हो सकता है यह उक्त दोनों में से किसी का न हो, किसी टीकाकार ने रूपक बाँध कर रख दिया हो। अतः इसकी स्थूल दृष्टि पर नाक भौं सिकोड़ने का अवसर भी नहीं आता।

(२) स्वरों में भार

हमारे ऋषियों ने, स्वरों में, काल या क्षण की नाप से, जहाँ ह्रस्व दीर्घ प्लुत नामक तीन मुख्य भेद एक अक्षर ध्वनि की जातियों के, किए, वहाँ उनके दो अन्य बड़े महत्व पूर्ण भेदों का भी वैज्ञानिक विवेचन दे दिया। ये दो नये भेद, गुरु और लघु नाम से पुकारे गये हैं। बड़े खेद के साथ लिखना ही पड़ता है कि इन गुरु लघु नामक भेदों को, हमारे भारतीय और पाश्चात्य दोनों देशों के विद्वान् ठीक तरह से नहीं समझ पाये हैं। प्रायः सब यही समझते हैं कि गुरु माने दीर्घ, ह्रस्व माने लघु, या लघु माने ह्रस्व, दीर्घ माने गुरु। बस। इससे आगे उनकी गति नहीं है। हां कविता में मात्रा गिनते समय प्रायः सब लोग ऐसे ह्रस्व स्वर को भी दीर्घ मानते हैं जिसके आगे संयुक्त व्यञ्जन हो। यहां ये मात्रा गिनने मात्र के लिए दीर्घ कहते हैं। तथास्तु हो गई। इतने ही से इति श्री नहीं हो गई। अभी एक और बड़ा अनर्थ किया जा रहा है। अभी तक क्या पौर्वात्य क्या पाश्चात्य सभी विद्वान् गुरु लघु भेदों को केवल वृत्त या छन्द या पद्य के लिए ही उपयोगी समझते आ रहे हैं। ध्वनिशास्त्रवेत्ताओं की यह भूल तो किसी प्रकार क्षम्य हो ही नहीं सकती। अस्तु यहां पर पहिले 'गुरु' और 'लघु' नामक ध्वनि तत्व पर प्रकाश डालना सुविधा जनक होगा, तब गाड़ी आगे चलेगी। 'गुरु' माने भारी होता है। यह भारीपन ध्वनि सम्बन्ध में ध्वनि का भारीपन या गुरुत्व है। जब हम बोलते हैं तो कभी जोर की, भारी या 'गुरु' साँस लेनी पड़ती है, कभी हलकी या 'लघु'। गुरु या भारी साँस लेने का अवसर तब आता है जब किसी स्वर के आगे संयुक्त व्यञ्जन आवे। जैसे 'मुक्का' 'बट्टा'; यहां म् के उ को उच्चारण करने में इतना जोर लग रहा है कि भीतर से धक्का सा लग रहा है, वही दशा बट्टा के 'ब' के 'अ' का उच्चारण करने में हो रही है। अब दूसरा उदाहरण लीजिए। 'मात्रा' 'साक्षा' 'नाक्षा'

इनमें म् स् न् के आ के उच्चारण में भी ध्वनि के लिए आने वाली प्राण वायु उतनी ही जोरदार भारी या गुरु प्रतीत हो रही है, जितनी प्रथम मुक्का, वट्टा के 'उ' 'अ' के उच्चारण में। अतः उक्त उ, अ और 'आ' तीनों भारी वेग वाली प्राण वायु वाले होने से 'गुरु' कहलाये। अतः 'गुरु' वह है जिसके उच्चारण में भारी वेग वाली प्राण वायु निकले। इसके विपरीत, अनुराग, मतिमान् धनवान् में प्रत्येक स्वर के, चाहे ह्रस्व हो या दीर्घ,—उच्चारण में हमारी प्राण वायु में तनिक भी भारीपन या वेग शक्ति का अनुभव नहीं हो रहा है। यह स्वयं स्पष्ट है। अतः ये सब लघु हैं। पर ह्रस्व ह्रस्व है, दीर्घ दीर्घ ही हैं! इसका यह निष्कर्ष निकला (१) स्वर चाहे ह्रस्व हो या दीर्घ, यदि उनके उच्चारण में भारी वेगवती प्राणवायु निकले—चाहे संयुक्ताक्षर से अनुसारित अनुगामी होने से या अवधारण से, या यदृच्छा से—वह गुरु है। इसके विपरीत चाहे स्वर ह्रस्व हो या दीर्घ—यदि उसके उच्चारण में प्राणवायु न तो वेगवती हो, न भारी तो वे सब लघु हैं, पर ह्रस्व स्वर, ह्रस्व-लघु हैं; दीर्घ स्वर, दीर्घ-लघु। इस प्रकार हमारे पास चार प्रकार के गुरु, लघु हो गये है। (१) ह्रस्व गुरु (२) दीर्घ गुरु, (३) ह्रस्व लघु (४) दीर्घ लघु। इनमें से तृतीय (ह्रस्वलघु) को छोड़ सब दीर्घ या द्विमात्रा के माने जाते हैं, ह्रस्वलघु केवल एक मात्रा का। यह तो रही वास्तविकता। अब हम अपने ऋषियों के वचनों को टटोल लें कि उनका ऐसा ही आशय था या कुछ और।

ऋक् प्रा० ने लिखा है "गुरु दीर्घम्, गरीयांस्तु यदि सव्यञ्जनं भवेत्, लघु-सव्यञ्जनं ह्रस्वं लघीयो व्यञ्जनादृते।" (१३-४१, ४४)। लोगों ने इसका अर्थ यह लगाया है। "दीर्घ स्वर 'गुरु' है, यदि वह गुरु व्यञ्जन से अनुगामित हो तो वह 'गुरुतर' है, यदि ह्रस्वस्वर का पूर्ववर्ती व्यञ्जन हो तो वह ह्रस्व है, यदि व्यञ्जन हीन हो तो लघुतर है जैसे 'दानम्' का आ 'गुरु' है, दात्रम् का आ गुरुतर है, 'दया' के द का अ ह्रस्व है, 'अतः' का आदि का 'अ' लघुतर है।" यह अर्थ बिलकुल उलटा है। ध्वनि शास्त्र की दृष्टि में इसका कोई महत्व नहीं है। 'लघु सव्यञ्जनं ह्रस्वं' में मात्रा वाचक 'ह्रस्व' शब्द विधेय न हो कर 'लघु' का विशेषण है, यह इसके आगे के वाक्य में आये 'लघीयः' शब्द की तुलनात्मकता से दर्पणवत् स्पष्ट है। उक्त वाक्य का प्रातिशाख्य जैसे ध्वनिशास्त्र वैज्ञानिक दृष्टि कोण वाले का स्पष्ट अर्थ यह है। भारी वेगवती प्राणवायु से उच्चरित ह्रस्व भी दीर्घ है। 'अ' को यदि हम कुमाउनी में (आओ) अर्थ में भारी वेगवती प्राण वायु में (अवधारण के लिए) बोलते हैं तो यह ह्रस्व 'अ' 'गुरु' होने से 'दीर्घ' है, दो मात्रा के समान है। इसके दीर्घत्व का कारण इसका गुरुत्व है। यदि गुरुत्व का कारण दीर्घत्व होता तो कहना चाहिये था

'दीर्घम् गुरु'। यहां उद्देश्य 'गुरुत्व' है दीर्घत्व विधेय, यह स्पष्ट है। आगे चलिए। यदि वह 'गुरु' उक्त कुमाउनी में आओ अर्थ वाला 'अ' व्यञ्जन से अनुगामित होकर 'अत्' (आवो ३ तो ३ अर्थवाला) रूप लेकर सव्यञ्जन हो जावे तो यहां अत का 'अ' गरीयान् या गुरुतर २½ मात्रा का हो गया (क्यों कि आप देख आये हैं कि व्यंजन की ½ मात्रा मानी गई है—'ह्रस्वार्द्ध-कालं व्यञ्जनम्', 'तै० प्रा० १-१९-२०')। यदि भारी वेग रहित लघु ह्रस्व स्वर का पूर्ववर्ती व्यञ्जन है तो वह 'लघु' ह्रस्व है। (यह वाक्य अपने पूर्ववर्ती वाक्य का उलटा स्वरूप सामने रख रहा है); जैसे बिना वेग के 'क' (कुमा-उनी में 'कहो') का 'अ' सव्यञ्जन (पूर्ववर्ती होने से) होते हुये भी 'लघु' डेढ़ मात्रा है। यदि वही स्वर विना पूर्ववर्ती व्यञ्जन के हो तो लघुतर (लघीय) एक मात्रा है; जैसे 'अनुमति' में प्रथम 'अ' विना व्यञ्जन, विना वेग का है, अतः लघुतर है। इन चारों वाक्यों में मुख्य उद्देश्य गुरु, गुरुतर, लघु, लघुतर का वर्णन करना है 'दीर्घ ह्रस्व' शब्द उन्हीं की मात्रा का बोध कराने के लिए प्रयुक्त हैं। अब लघुतर को एक मात्रा मानकर यह स्थिति, हुई :—

गुरु (अ) = दीर्घ, दो मात्रा
गुरुतर (अ = अत्) = दीर्घ से बढ़कर २½ मात्रा
लघु (अ = क) = ह्रस्व १½ मात्रा
लघुतर (अ = अनुमति) = १ मात्रा

इसको ठीक क्रम से रखें तो यह होगा (१) लघुतर १ मात्रा, (२) लघु १½ मात्रा, (३) गुरु २ मात्रा (४) गुरुतर २½ मात्रा। अब इस प्रकार की प्रस्तुति का ऋग्वेद के प्राति शाख्य के दूसरे वचन से हूबहू समर्थन कर लीजिए। "ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ताः स्वराणाम्। अन्ये दीर्घा उभये स्वचराणि। गुरूणि दीर्घाणि तथेतरेषां संयोगानुस्वारपराणि यानि॥ अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गं स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य। पूर्वस्यानुस्वार विसर्जनीयौ संयोगादिर्वा च परक्रमे द्वे॥ मात्रा ह्रस्वस्तावदवग्रहः द्वे दीर्घे तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः। स्वर भक्ति पूर्वभागाक्षराङ्गम् द्रघीयसी सार्द्धमात्रा अर्द्धोनान्या रक्तसंज्ञोऽ-नुनासिकः। संयोगो व्यञ्जनसन्निपातः स्वरोपाहितो द्विरुच्यते संयोगादिः॥" (१-१ से ६ तक)। यहां पर यदि आप ध्यान से देखें तो सन्दर्भ बिलकुल साफ है। यहां पर यह विचार किया जा रहा है कि ध्वनिशास्त्र के अनुसार कौन ध्वनि ह्रस्व है और कौन दीर्घ, तथा उन ह्रस्व दीर्घों का मान या परिमाण किस अनुपात से निर्धारित किया जाना उचित है। ऋ० प्रा० ने 'अ ऋ इ उ ए ऐ ओ औ' इन अष्ट वर्णों को स्वीकार कर, 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ' इन

आठों को समानाक्षर माना है। ये 'अ आ' 'इ ई' 'उ ऊ' 'ऋ ॠ' चार गुच्छे अलग अलग सवर्ण हैं; अतः समानाक्षर हैं। इनमें से विषम 'अ इ उ ऋ' ह्रस्व हैं जिनका अन्तिम सप्तम ऋ है। अन्य आ ई ऊ ॠ दीर्घ हैं। अब कहते हैं कि गुरु वर्ण भी दीर्घ हैं; यह नहीं कहा है कि दीर्घ वर्ण, गुरु हैं। यहां के 'गुरु' शब्द को न समझ कर सबने गत्ता खाया है। हमारे आचार्यों ने 'गुरु' वर्ण की परिभाषा, 'गुरु' (भारी) शब्द में ही निहित समझकर, जैसा हमने इस परिच्छेद से पिछले तीसरे परिच्छेद में दिया है वैसा अपने आप समझ लेंगे, यह सोचकर लम्बे चौड़े वाक्यों में लिखने की आवश्यकता ही नहीं समझी थी। वे क्या जानते थे कि बाद के लोग उनकी ऐसी भद्द उड़ायेंगे ? हां, प्रस्तुत प्रसंग को आगे बढ़ाकर वे 'गुरु' से भी गुरुतर की व्याख्या देने के लिए कहते हैं, जो शब्द दूसरे वर्ण (व्यञ्जन) और अनुस्वार युक्त हैं वे भी दीर्घ होते हैं; चाहे वे ह्रस्व ही क्यों न हों, [यही बात 'गुरु' वर्ण की भी है। जिस वर्ण को वेगवती भारी प्राणवायु से उच्चरित किया जाय, चाहे वह ह्रस्व हो, या संयुक्त व्यञ्जन रहित, तौ भी वह गुरु है]। अनुस्वार और व्यञ्जन, पूर्व स्वर के अङ्ग होते हैं, जैसे 'संवत्' का अन्तिम त्, व् के 'अ' का, और सं का अनुस्वार स् के 'अ' का अंग हैं, न कि 'व्' व्यञ्जन का, अतः ये दोनों गुरु हैं, दीर्घ भी। स्वर के आगे के व्यञ्जन, अपने आगे वाले स्वर के अंग होते हैं; जब कि आगे दूसरा स्वर आ जावे जैसे 'बहु में ब् प्रथम अ का और ह्, उ का अङ्ग है। विसर्ग सदा पूर्व स्वर का अङ्ग होता है, जहां स्वर के आगे दो संयुक्त व्यञ्जन आते हैं, वहां प्रथम व्यञ्जन पूर्व स्वर का, द्वितीय पर स्वर का अंग होता है। जहां चार संयुक्त व्यञ्जन आवें वहां भी यही समझना चाहिए। 'विद्वान्' में द्, इ का अङ्ग है, द्वितीय व् आ का, 'आर्त्त्नी' में र्, आ का अङ्ग है, त् त् न् तीन ई के। उक्त वर्णन के सब स्वर गुरु हैं; अतः दीर्घ हैं (केवल रेखाङ्कित वाक्य वालों को छोड़कर)

अब तमाशा देखिये, वृत्त, छन्द, या पद्य वालों की केवल दो मात्रायें ह्रस्व और दीर्घ होती हैं। पर ध्वनि शास्त्र की मात्रायें गुरु और लघु के भेद से इतना सूक्ष्म रूप लेती हैं कि उन्हें वैज्ञानिक कसौटी में रखने पर चार भागों में विभक्त करना पड़ता है। पद्यादि वालों के गुरु लघु का महत्व प्राण-वायुवेगभार न होकर, केवल संयुक्त व्यञ्जन पूर्वकत्व मात्र मानदंड से ह्रस्व को दीर्घत्व प्रदान कर, उसकी द्विमात्रात्मकता मात्र सिद्धि फल है। उन्हें इस दीर्घत्व के ध्वन्यात्मक 'गुरुत्व' की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उन्हें आम खाने हैं, पेड़ गिनने नहीं। ध्वनि शास्त्र वाले आम भी खाते हैं, साथ में पेड़ भी गिन लाते हैं। अस्तु हमारे ध्वनि शास्त्र की मात्रा,

वृत्त छन्द पद्य वालों की मात्रा से बहुत सूक्ष्म है। मात्रा एक मात्रा है। यह एक मात्रा अ इ उ ऋ की एक मात्रा नहीं है। यह एक मात्रा 'अवग्रह' की है; 'मात्रा ह्रस्वस्तावदवग्रहः'। एक मात्रा, ह्रस्व मात्रा है। वह बहुत छोटी मात्रा ह्रस्व मात्रा है, उसका परिमाण 'अवग्रह' में साँस पलटने वाले क्षण के बराबर है। एक शब्द में जब दो पद आते हैं तो पहिले पद के साँस लेने के बाद दूसरे पद की साँस लेने के लिए जो समय लगता है, वह अवग्रह है; जैसे पुरोऽहितम् 'रत्नऽधाऽऽतमम्' में पुरो के ओ और रत्न के अ तथा धा के आ के बाद साँस पलटती है। इनमें साँस पलटने में जो अल्पीयान् समय लगता है, वह अवग्रह भी है, वही ह्रस्व की एक मात्रा भी है। कहिए क्या छन्दशास्त्र वाले इसे मात्रा या ह्रस्व मात्रा मानेंगे? कदापि नहीं। गुरु में या दीर्घ में दो मात्रा होती है। द्राघीयसी में, गुरुतरा में सार्द्ध मात्रा या ढाई मात्रा होती है। अब लघु में कितनी मात्रा हो? गुरु में दो हैं तो लघु में उससे 'अर्द्धोनाऽन्या' (अन्या मात्रा अर्द्धेण ऊना भवति) आधी मात्रा कम अर्थात् डेढ़ मात्रा हुई, तब अवग्रह वाली 'ह्रस्व मात्रा' एक १ मात्रा हुई। फततः गुरुतर में (वेगवती भारी प्राणवायुयुक्त तथा संयुक्त व्यञ्जन से अनुगामित, ह्रस्व या दीर्घ स्वर की) २½ ढाई मात्रा हुई। गुरु में (वेगवती भारी प्राण वायुयुक्त, पर संयुक्त व्यञ्जन से अनुगामित न होते हुये ह्रस्व या दीर्घ स्वर की) २ दो मात्रा हुई। लघु में (वेगवती भारी प्राण वायु रहित अव्यञ्जन या सव्यञ्जन हलके स्वर की) डेढ़ १½ मात्रा हुई, तथा व्यञ्जन रहित केवल अवग्रह में प्रयुक्त होने वाली स्वर मात्र या स्वर पलटने मात्र, स्वर की हलकी से हलकी श्रुति 'लघुतर' कहलाती हुई एक १ मात्रा की हुई। यह बैठ गया नितान्त वैज्ञानिकता से अति सूक्ष्मतम अभिप्राय जो ऋ० प्रा० के ध्वनि शास्त्र मर्मज्ञ ने उक्त दो उद्धृत स्थलों में सन्निविष्ट किया था।

एक अन्य महत्व पूर्ण तत्व पर प्रकाश डाले बिना यह प्रकारण अधूरा ही रह जावेगा। द्वितीय उद्धरण में तथा, मात्रा प्रकरण में पहिले कहा जा चुका है कि 'प्लुत' में तीन मात्रायें होती हैं 'तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः'। आप जानते हैं कि प्लुत में जोर से बोलना पड़ता है, पुकार तब तक सम्बोधन नहीं हो सकती या अवधारण तब तक निश्चित नहीं हो सकता, जब तक उस पुकार की, या अवधारणत्मक शब्दावली में वेगवती भारी प्राण वायु वाली ध्वनि न हो। अतः ये दोनों प्लुत के स्वरूप नित्य गुरु हैं, नहीं नहीं, गुरुतम हैं। क्योंकि गुरुतर में हम ऊपर देख आये हैं, ढाई मात्रा हैं, इस (प्लुत) में सबने तीन मात्रायें स्वभावतः मानी हैं, अतः प्लुत गुरुतम तीन (३) मात्रा का है। इस प्रकार ध्वन्यात्मक गुरुलघुता पाँच प्रकार की हो गई, जिनकी

मात्रायें अब क्रमशः इस प्रकार स्थिर होती हैं। (१) गुरुतम ३ तीन मात्रा प्लुत, (२) गुरुतर ढाई मात्रा, (३) गुरु दो मात्रा, (४) लघु डेढ़ मात्रा (५) लघुतर एक मात्रा (ह्रस्व)। इनमें अन्तिम दो ह्रस्व भेद है, दूसरे तीसरे दीर्घ भेद, तथा प्रथम प्लुत का एक मात्र भेद है। एक बड़े मखौल की बात है कि वृत्त छन्द और पद्य वालों में प्लुत की मान्यता बिलकुल नहीं है। वे प्लुत में (सम्बोधन अवधारण में) केवल दीर्घता या दो ही मात्रा मानते हैं। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि पद्यादि में पाठ के अन्त का स्वर, ह्रस्व भी हो तो दीर्घ ही गिना या माना जाता है, गिना चाहे न भी जाय, उच्चारण तो दीर्घ ही करते हैं। वैदिक छन्दों को छोड़कर इतने अवैज्ञानिकता के गर्तोंवाले अन्य छन्द शास्त्रों के साथ जो लोग ध्वनिशास्त्र के सिद्धान्तों की तुलना करने जाँय उसकी बुद्धि की बलैया ही लेनी चाहिए।

अन्त में, व्यञ्जन या अनुस्वार, अनुनासिक तथा विसर्गों को भी हमारे ध्वनि शास्त्रियों ने जो 'आधी मात्रा' प्रदान करने का प्रस्ताव उपस्थित किया है, उसको भी पूर्वोक्त पाँच भागों में पूर्ण स्थान दिया गया है। यह बात नहीं कि उक्त पाँच प्रकार के विभाजनों में मात्रायें केवल स्वरों ही की हैं, उनमें व्यञ्जनों की भी मात्रायें सम्मिलित हैं। पञ्चम भाग लघुतर है उसमें व्यञ्जन नहीं है, केवल स्वर है। अतः उसमें स्वर की १ मात्रा अवग्रहात्मक है। चौथे की लघु की डेढ़ मात्रा की ध्वनि में स्वर और व्यञ्जन हैं, स्वर की एक मात्रा, व्यञ्जन की आधी मात्रा दोनों मिलकर डेढ़ मात्रा हुई। तीसरे में गुरु की दो मात्राओं में व्यञ्जन पूर्ववर्ती होने पर आधी मात्रा व्यञ्जन की, डेढ़ मात्रा स्वर की होगी, व्यञ्जन पूर्ववर्ती न होने पर पूरी दो मात्रा स्वर की, गुरु होगी। दूसरे गुरुतर में व्यञ्जनपूर्व और संयुक्त व्यञ्जनोत्तर होने में, पूर्वोत्तर व्यञ्जनों की आधी आधी मिलाकर एक (१) मात्रा व्यञ्जन की, डेढ़ मात्रा स्वर की, कुल ढाई मात्रा होगी। यदि पूर्व में ही व्यञ्जन न हो उत्तर में संयुक्त हो तो आधी व्यञ्जन की और दो मात्रा स्वर की होगी, प्रथम प्लुत में, गुरुतम के समान एक या आधी मात्रा व्यञ्जन की, दो या ढाई, शेष मात्रा, स्वर की होगी। उक्त पाँच विभाजनों में आधी मात्रा का गणित इन्हीं व्यञ्जनों के स्पर्शादि क्षण की सूक्ष्मता का उल्लेख करने लिए रखा गया है। उच्चारण करके देख लें। व्यञ्जन की पृथक् मात्रा नहीं है, पर जब वह स्वर के साथ है, तभी उसकी मात्रा की मान्यता है। व्यञ्जन कभी भी स्वतन्त्र नहीं माना गया है, या तो वह स्वर से आगे से बँधा है या पीछे से चिपका है।[1]

---

१. व्यञ्जनं स्वराङ्गम् तत्परं स्वरम्। अवसितं पूर्वस्य, संयोगादि परेण चासंहितम्,

व्यञ्जन नित्य ही या तो स्वरादि है या स्वरान्त। अस्तु तै० प्रा० (१२-१४, १५) ने "यद्व्यञ्जनान्तं यदु चापि दीर्घं संयोग पूर्वं च तथाऽनुनासिकम्। एतानि सर्वाणि गुरूणि विन्द्यात् शेषान्यतोऽन्यानि ततो लघूनि ॥ यद्व्यञ्जनान्तं यद्ध्रस्वमसंयोगपरं च यत्। अनुस्वारेण संयुक्त मेतल्लघु निबोधत ॥" में केवल स्थूल विभाजन दिये हैं, गुरु और लघु; जिन्हें क्रम से दीर्घ और ह्रस्व कहा है। यह छन्दशास्त्रानुकूल वक्तव्य है, वैज्ञानिकता से बहुत दूर है। ध्वनि शास्त्र में इतने से कुछ काम नहीं चलता, उसमें अनन्त गहराई तक जाने की परम आवश्यकता है, जिसके बिना कोई ध्वनि-शास्त्र का विद्यार्थी तक नहीं कहा जा सकता। भारतीय ध्वनि शास्त्रीय शब्द या ध्वनि को सूक्ष्म अणु मानते हैं। जब व्यञ्जन की मात्रा आधी है तो इसकी आधी मात्रा का नाम अणु है,[1] अणु की आधी मात्रा, परमाणु है। अतः शब्द या ध्वनि का परमाणु एक मात्रा का आठवां भाग हुआ; व्यञ्जन मात्रा $\frac{1}{2} \times \frac{1}{2}$ (अणु) $\times \frac{1}{2} = \frac{1}{8}$ मात्रा = परमाणु; या शब्द ध्वनि के आठ परमाणु की एक मात्रा हुई, डेढ़ मात्रा १२ परमाणु की, २ मात्रा=१६ परमाणु की, २$\frac{1}{2}$ मात्रा २० परमाणु की, तथा ३ मात्रा २४ परमाणु की होती है।

अनुस्वारस्वरभक्तिश्च। नान्तःस्था परमसवर्णं नासिक्याः, स्पर्शश्चोष्मपर ऊष्मा चेत्।"
(तै० प्रा० २१)

केवल ऊष्माण व्यञ्जन स्वरों के विना उच्चरित हो सकते हैं, इनका वर्णन आगे व्यञ्जन व्याख्या में देखें।

१. 'व्यञ्जनं अर्द्धमात्रा, तदर्द्धं अणुः, परमाणुरर्द्धाणु मात्रा' (का० प्रा० १-५९-६१)

अध्याय १४

(१) स्वर या स्वार[1]

स्वर का महत्व—शब्दों या वाक्यों का शाब्दबोध उनके अर्थबोध के साथ साथ तादात्म्य से जैसे चलता है, शाब्दबोध बिना अर्थबोध नहीं, अर्थ बोध बिना शाब्द बोध नहीं होता। शब्द कम हैं, अर्थ अनन्त। अर्थों की अनन्तता से, सर्वत्र तादात्म्य रखने की चेष्टा या होड़ में अल्पसंख्यक शब्दों ने स्वर या स्वार नाम की ऐसी जादू की अँगूठी पहिन रखी है कि वे अल्प शब्द बहु अर्थों में सर्वत्र अर्द्धनारीश्वर बन एकात्मता स्थापित कर लेते हैं। चीनी और जापानी भाषायें तथा संसार की कई अन्य भाषायें उक्त जादू की अँगूठी के समान स्वरों या स्वारों की सहायता से एक ही शब्द को उसके स्वर भेद द्वारा अनेक स्वरूपों का चोगा पहिना कर प्रत्येक अर्थ से या अनेकों अर्थों से पृथक् पृथक् तादात्म्य कर, प्रत्येक अर्थ के बोध के साथ शब्दों का शाब्दबोध बिलकुल भिन्न करने में समर्थ हैं। यह तो सर्वविदित तथ्य है ही। इन भाषाओं को स्वर-भाषायें कहते हैं। स्वरों से ही इनके शब्दों का अर्थों से तादात्म्य हो सकता है, अन्यथा नहीं। पर जिनकी भाषाओं में स्वर का उतना अधिक बखेड़ा नहीं है जितना स्वर भाषाओं, उनमें ये स्वर कम महत्व रखते हों, यह बात सोचनी भी, अत्यन्त बड़ी भूल होगी। हमारे यहां एक कथा प्रचलित है कि वृत्रासुर के यज्ञ में 'इन्द्रशत्रु र्जह्यात्' पदों में यज्ञ कर्ताओं ने स्वर के उच्चारण में जान बूझ करके, 'इन्द्रशत्रु' के कर्म धारय के अर्थ को तत्पुरुष में बदल कर, उलटे, 'वृत्र मारा जाय' अर्थ कर दिया, बजाय इसके 'इन्द्र मारा जाय' 'यथेन्द्र शत्रुः स्वरितोपघातात्'। स्वर ज्ञानी के लिए यह कोई नई बात नहीं है। स्वर के गलत होने पर आज कल भी ऐसे अनर्थ होते रहते हैं। हमारी सबकी भाषाओं में स्वरों का उतना ही अधिक महत्व है, जितना स्वर भाषाओं या वैदिक भाषा में है या था। 'दे दीजिये' वाक्य लीजिये। यह आज्ञा में, अनुनय में, विनय में, ऋण लेने में, प्रेम में, घृणा में, ईर्ष्या में, क्रोध में, आवेश में, अनुकृति में, विकृति में, व्यंग में, ताने में, सम्भावना में, विधि में, आशीर्वाद में, आदि आदि में इन्हीं दो शब्दों में बोला जावेगा। तब क्या सब प्रयोगों में वाक्य का स्वर एक ही होगा। कदापि नहीं। यह कहीं

---

१. आधुनिक भाषाओं में स्वर और घात की व्याख्या आगे तृतीय खंड में देखे।

आद्योदात्त होगा, कहीं मध्योदात्त, कहीं आद्यानुदात्त होगा, कहीं मध्यानुदात्त, कहीं अन्त्यानुदात्त, और कहीं आदि स्वरित होगा कहीं मध्यस्वरित, कहीं अन्त्य स्वरित। सब के सम्मिश्रणों के २७ भेद हो गये। इनमें 'दे दीजिये' दो शब्द हैं जिससे ५४ या ३६ भेद कम से कम हो गये। तब एक शब्द इतने अर्थों में तादात्म्य करने में समर्थ होता है। यदि विनय करने वाले ने आज्ञा का स्वर अपना लिया तो झट चपत-सी लगाते हुए श्रोता बोल बैठता है, आप तो 'आज्ञा' कर रहे हैं। व्यंग में स्वर ही प्रधान रहता है। समझ और सन्दर्भ-सापेक्षता स्वर से ही उद्घाटित होती है। अनुनय विधि आज्ञा सम्भावना के भाव को आवेश क्रोधादि के स्वर विनष्ट कर अर्थ बोध में गहरी दरार डालकर अनर्थकारी होते हैं, यह किससे छिपा है। क्रोध आज्ञा आवेश धीमी ध्वनि में भी होते हैं, पर उनमें उदात्त आदि प्रभेद ध्वनि के प्रमाण से निर्धारित होते हैं। तब यह जादू भरा स्वर क्या है, इसका पहिले विवेचन हो जाना चाहिए।

(२) स्वर या स्वार की व्याख्या

ध्वनितत्व के सम्बन्ध में, काल और विस्तार को मात्रा नामक मानदंड से निर्धारित किया जाता है तो उन क्षणों और विस्तारों की गुरुता या गम्भीरता, और लघुता या हलका पन, उक्त मात्रा के मानदंड में भारानुरूप संशोधन कर, कालानुरूप मात्रापरिमापकता को, भारानुरूप मात्रा में परिवर्तित कर, और मात्रा पक्ष से कालपक्ष की ह्रस्वता को गुरुत्व रूप दीर्घत्व, दीर्घत्व को गुरुतर रूप अधिक दीर्घत्व (२½ मात्रा) आदि प्रदान करने में समर्थ होकर, मात्रा का एकदम नवीन वैज्ञानिक स्वरूप खड़ा कर देता है। यह रहा आभ्यन्तर अनुभूति द्वारा ध्वनि के मानका निर्धारण ! अब बाह्यानुभूति द्वारा, उसी ध्वनि या शब्द की, गति विधियों को श्रावण प्रत्यक्ष से, उनके उत्थान निःस्थान और प्रस्थान नामक स्थितियों की तहों में देखना, उक्त मात्रा और भार नामक तत्वों से अधिक आकर्षक, अधिक सूक्ष्म और अधिक कठिन भी हैं, इसे एक शब्द में 'स्वर' कहते हैं, क्योंकि इसमें विशेष परीक्षणीय तत्व हैं, नाद श्वास और घोष। नाद श्वास और घोष तीनों के लिए एक शब्द 'स्वर' ही उपयुक्त हैं, इसको अंग्रेजी में टोन या एक्सेन्ट कहते हैं। यद्यपि इन दोनों शब्दों में वह भाव पूरा नहीं आता जो 'स्वर' शब्द में घोष श्वास और नाद' के मिश्रित अर्थ में भरा है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ध्वनि में जहां मात्रा और भार मिलकर उस ध्वनि के पिछले परिच्छेदों में दिये पाँच मात्रात्मक भेद गुरुतम

गुरुतर गुरु लघु और लघुतर बनाने में समर्थ होकर दोनों के जोड़ या वर्ग से १५ भेद (५ × ३ ह्रस्वदीर्घ प्लुत) बनाते हैं, वहां उसी ध्वनि को उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन भेद उनका घन करके (१५ × ३ =) ४५ भेद कर देते हैं। जब हम कोई शब्द बोलते हैं तो उसके स्वरों में मात्रा और भार तो रहता ही है, इसके अतिरिक्त हम उस शब्द को या उस शब्द के एक भाग को तीव्र तीखी ध्वनि में—ऐसी ध्वनि में जो ब्रह्माण्ड (शिर) को बेधती सी लगती है—दूसरी को उससे पतनावस्था वाली तद्वत् ध्वनि में,—यह स्वभाव है उत्थान पतन की प्रथम सीढी है—तीसरे भाग को उत्थान पतन दोनों मिश्रित ध्वनि में—जो ऋणधन के सिद्धान्त का स्वाभाविक तकाजा है—उच्चरित करते हैं। शब्द या ध्वनि की इस घनात्मकता का विवेचन दुरूह, सा लगता है, पर बात ऐसी नहीं है। उदात्तादि स्वरों की मुख्य जननी है हमारे अर्द्धेन्दु के मुख द्वार की संवृतता और संवृतविवृतता। जब अर्द्धेन्दु का मुख बन्द रहे, कोष्ठ और उदर से (फेफड़े) प्राण वायु जोर लगा कर उसके मुख द्वार के तारों को गुञ्जित करने लगते हैं तो बड़ी तीखी तीव्र ध्वनि निकल कर बहुत ऊँचे उठती सी प्रतीत होती है। यह ध्वनि उदात्त है, ऊंची और चढ़ती हुई सी ध्वनि है, जैसे भोंपू में सबसे पहिले की थोड़ी सी ध्वनि धीरे धीरे ऊपर ऊंची उठती सी ध्वनि स्पष्ट प्रतीत होती है। उसी के सिलसिले में जब ध्वनि उतरने लगती है तो उस समय हमारे अर्द्धेन्दु के मुख द्वार विवृत या कुछ खुले हो जाते हैं, ध्वनि मोटी सी हो जाती है। भोंपू के पूर्व भाग के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार की पतनीय मोटी ध्वनि का अनुभव आपने किया होगा। यह विवृत ध्वनि अनुदात्त है। भोंपू के अन्त में बन्द होते समय फिर पतली सी ध्वनि होती है, वह फिर, नीचे से ऊपर को जाने वाली उदात्त ध्वनि है, मुख बन्द होते समय वेगवती है; आदि की ध्वनि से भले ही कम प्रमाण की हो, पर वह तीव्र है संवृत होती है। भोंपू की पूरी ध्वनि का चित्र ऐसा होगा।
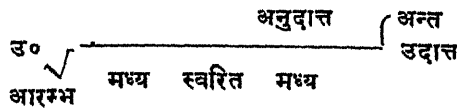
रेल के पुराने इंजनों की पूरी ध्वनि केवल उदात्त स्वर में होती है। ये दोनों ध्वनियाँ महा प्रमाण में ध्वनि तारों के ठोस गुच्छे से बनकर हमारे कान के पर्दों में छेद सा कर देते हैं। स्वरित में उदात्त और अनुदात्त दोनों स्वरों का सम्मिश्रण रहता है। जैसे किसी ने 'आओ' इस शब्द को कहने में 'आ' की

दो मात्रा में से प्रथम मात्रा को ऊंचे स्वर में आरम्भ कर के उसकी दूसरी मात्रा में नीची ध्वनि कर दी तो 'आ' के उच्चारण की ऐसी स्थिति हो गई, प्रथम मात्रा में उत्थान द्वितीय में पतन। 'ओ' में भी इसी रीति को अपनाया तो 'आओ' शब्द में इस प्रकार का ध्वनि चित्र बन गया। यह तो स्थूल विवेचन है। अब इनका सूक्ष्म और शास्त्रीय विवेचन सुनिये।
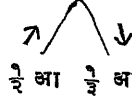
(१) स्वरों के विधान के बारे में सब ग्रन्थ प्रायः एकमत हैं। तै० प्रा० ने लिखा है 'उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः' 'उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितः (१४-२८) (सटीकं) उच्चैस्तरामुदात्तादन्तरे यः स्वर्यते स स्वरः। तस्यादिस्तावत् उच्चैस्तरामुदात्ततरो भवति यावद् ह्रस्वस्यार्द्धं यथा 'स इधान' उदात्तसमः शेषः' सव्यञ्जनोऽपि तस्य स्वरितस्य ह्रस्वार्द्धकालाच्छेषः। नीचैस्तराम् अनुदात्ततरो भवति, अनुदात्तसमो वा। 'आदिरस्योदात्तसमः शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः सर्वप्रवणः इत्येके प्रवणः स्वरितः।" (उव्वट, तै प्रा० १-३८ से ४७)

(२) ऋ० प्रा० ने लिखा है:—"उदात्तानुदात्तस्वरिताः—आयाम-विश्रम्भाक्षेपैरुच्यन्ते, आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमनं गात्राणाम्, तेन य उच्यते स उदात्तः; 'आ ये', विश्रम्भो नाम अधोगमनं वायुनिमित्तं, 'न. नौ.' आक्षेपो नाम तिर्य्यग्गमनं गात्राणाम् वायु निमित्तं, 'क्व न्यक्'; आक्षेपः स्वरितः; 'अक्षराश्रया'; स्वराणां अक्षरैः सह धर्मधर्मि सम्बन्धः न तु व्यञ्जनैः" (तृतीय पटलम् ३-१ से ५)। 'तस्योदात्ततरोदात्तामर्द्धं मात्रार्द्धं मेववाऽनुदात्तपर शेषः'।

(३) पाणिनि शिक्षा (११) 'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः'

(४) अथर्व प्रा०—'समानयामेऽक्षरमुच्चैरुदात्तं नीचैरनुदात्तमाक्षिप्तं स्वरितं, स्वरितस्यादितो मात्रार्द्धमुदात्तम्' (१-१४-१७)

(५) कात्यायन प्रा०—उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, उभयवान्स्वरितः (१-१०८ से ११०) 'तस्यादित उदात्तं स्वरार्द्धमात्रम्' (१-२६) 'ऋजुं निहत्य प्रणि हन्यते उदात्ते' (१-१२४) 'स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रणिहन्यते' (४-१४०) तत्रोदात्ते ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य अनुदात्तेऽधोगमनं हस्तस्य (१-१२१)

(६) पाणिनि—उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८-४-६६) उच्चैरुदात्तः नीचैरनुदात्तः समाहारः स्वरितः (१-२-२९, ३२, ३३)

(७) उपलेखा—'उदात्तादनुदात्तं स्वारयेत्' (८-७)

(८) माध्यन्दिनी—'अथ हैतत्तिर्यक् योऽयं यात्रतैवादत्ते तावता निदध्यात् (११-४-२-७)

(९) पुनः तै० प्रा०—आयामो दारुण्यमणुता खस्य इति उच्चैःकराणि शब्दस्य, अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्य इति नीचैःकराणि' (२२-९-१०)

(१०) पारी शिक्षा—अणुता कण्ठविलस्य,···विस्तृतता कण्ठ-विलस्य' (८१-८२)

(११) सिद्धान्तकौमुदी—"उच्चैरुदात्तः (१–२–२९)—ताल्वादिसभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागो निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् । 'आये' । नीचैरनुदात्तः (१–२–३०) । अर्वाङ् । समाहारः स्वरितः (१-२-३१) । उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते नस्यादित उदात्तमर्द्धह्रस्वम् । ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम् । स्वरितस्य आदितोऽर्द्ध-मुदात्तं बोध्यम् । उत्तरार्द्धं तु परिशेषादनुदात्तम् । तस्य च उदात्तस्वरितपरत्वे श्रवणं स्पष्टम् । अन्यत्र तूदात्तश्रुतिः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धा । क ? वो श्वा रथानां न ये रे राः शु त चक्रं यो इं द्यः' इत्यादिषु अनुदात्तः । अग्निमीले इत्यादौ उदात्तश्रुतिः । स नवविधोऽपि अनुनासिकाऽननुनासिकाभ्यां द्विधा" ('माहेश्वर-सूत्र प्रकरण')

मनुष्य कई प्रकार से बोलता है (१) कानाफूसी में फुसफुसाकर केवल श्वासों के अल्पीयान् मृदुलतम तृतीयाश्रव्य मन्दतम श्वास के घोष मात्र में, (२) उससे कुछ ऊँचे स्तर के गुनगुनाने के नाद युक्त घोष में, (३) दो चार जनों में मध्यम स्वर में (४) पांच सात जनों में कुछ उच्च स्वर में (५) उच्चतम स्वर में व्याख्यानादि में, सम्बोधनादि में (६) महापरिमाण के स्वर में, भय, हर्ष, त्रास, जोर से डाँटने, गुस्से, गाली, आदि में, (प्रथम तीन में स्वर नाश भी कभी कभी हो जाता है) (७) अति महापरिमाण में, दूर की पुकार में, (८) हर्ष 'शोकादि' रसों और आज्ञा अनुनयादि में, (९) तब भोंपू रेल की सीटी, बम्ब, बन्दूक, अणु बम आदि की ध्वनियाँ मानव मुख शक्ति के बाहर हैं, वही दशा मकान गिरने, पेड़ गिरने आदि की ध्वनियों की है । उदात्तादि स्वरों का विधान प्रथम और अन्तिम (नवें) को छोड़ सबमें किया जाता है । कानाफूसी में स्वर ही नहीं होता, स्वर विधान कैसे हो, इसीलिए तै० प्रा० (२३–४–११) ने इस उच्चारण को उदात्तादि स्वरों के विधान से तटस्थ या पृथक् माना या अविचारणीय समझा है । आजकल के

यन्त्र इस उच्चारण में भी कम्पन संख्याओं की गिनती कर सकेंगे; पर ये 'स्वर' नहीं हैं; अतः इनका स्वर विधान फिर भी 'कल' की ही अकल समझी जायेगी, मानवीय ध्वनि की नहीं। ध्वनि है ही नहीं अल्पीयान् श्वास मात्र है। शेष सात प्रकार की विभिन्न ध्वनियाँ हैं, उनमें अपने अपने प्रमाण के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित होंगे। प्रत्येक की माप तौल के बटखरे. अपने अपने पृथक् पृथक् होंगे। इन बटखरों का निर्धारण किया ही नहीं जा सकता। हमें किसी के उच्चारण को सुनकर उसकी ध्वनि की श्रुति के अनुकूल उदात्तादि के बटखरे बनाने पड़ेंगे। इसी लिए पतञ्जलि जी ने अपने महाभाष्य में बिलकुल ठीक लिखा है कि ध्वनियों में यह उच्च है, यह नीच है आदि का निर्धारण अनवस्थित अस्थिर पदार्थ है "इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थम्" (१. २-१ पा० अ० १. २-२९, ३०)। यही बात अथर्व प्रा० (१-१४-१७) ने कही है।

'वर्णसमाम्नाय' के वर्णन के प्रकरण में 'अर्द्धेन्दु' का विवेचन देते हुये इस प्रकरण में उद्धृत ११ उल्लेखों में से अधिकांश की व्याख्या दी जा चुकी है। उसमें बताया जा चुका है कि ध्वनि निकलने का मुख्य कारण अर्द्धेन्दु ('ख' या कण्ठबिल) के द्वार के तारों में कम्पन या झनझनाहट का होना मुख्य है। उक्त कम्पनों में मुख्यतः तीन स्थितियाँ होती हैं, आयाम, विश्रम्भ और आक्षेप। आयाम में अर्द्धेन्दु का मुख द्वार संवृत (बन्द) रहता है, जब कोष्ठ (कण्ठनली) से प्राण वायु बाहर निकलने का यत्न करती है तो वह आतिशबाजी के गुब्बारे की तरह सीधे ऊंचे जाती है, और आकाश में रंग-बिरंगी चिनगारियों में नष्ट हो जाती है, यह उदात्त ध्वनि है, उसमें ध्वनि ऊँचे जाकर शान्त हो जाती है। इसमें ध्वनि में तीखापन, कठोरपन, अति-पतलायन होता है। जब अर्द्धेन्दु का मुख खुल जाता है, ध्वनि ऐसी नीचे को लुढ़कती सी आती है जैसे टीन की या खपरैल की छत की धुरी से ध्वनि का गेंद या लच्छी जोर से नीचे को क्रमशः गिरती चली आ रही हो। यह अनुदात्त ध्वनि है, कोमल ध्वनि है, चौड़ी ध्वनि है, मोटी ध्वनि है, ढीली शिथिल ध्वनि है, इसे विश्रम्भ कहते हैं—बिगड़ा श्रम्भन, गिरता हुआ यत्न। स्वरित स्वर में उक्त दोनों का सम्मिश्रण रहता है। इसमें 'आक्षेप' नामक यत्न होता है। लोगों को 'आक्षेप' शब्द का ठीक अर्थ नहीं लगा है, वे समझते हैं कि आक्षेप माने केवल नीचे फेंकना होता है, पर इसका अर्थ है 'आ समन्तात् क्षेपः आक्षेपः' कई बार क्षेप करना एक उत्थान का दूसरा पतन का (आ = बार बार)। जैसे गेंद को जोर की चोट से ऊपर फेंको तो वह बहुत दूर

ऊँचे जाता है, (उदात्त से भी ऊपर) दूसरे क्षेप में अपनी जगह आ जाता है, ऐसी ही क्रिया का नाम आक्षेप है। क्षेप माने 'खेप', यहाँ दो खेप चाहिए है, 'आक्षेप' शब्द में स्वयं (आ) का अर्थ बार बार है, इस शब्द के बदले में निहत्य और 'प्रणिहण्यते' शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। 'प्रणिहण्यते' और 'निहत्य' में तो गेंद को हथेली से पीटकर उसे ऊपर नीचे पटकने या करने का अर्थ दर्पणवत् स्पष्ट है ही, 'प्रकर्षेण वारं वारं नि अल्पमात्रया हन्यते' क्षिप्यते इति प्रणिहण्यते'' 'निहत्य', 'आक्षेप' को स्पष्ट करने के लिए 'तिर्यग्गमनं गात्राणां वायुनिमित्तं' वाक्य द्वारा बारम्बार क्षेपण का या निहन्यमानता का स्पष्ट बोध कराया गया है। इस प्रकार की ध्वनियों की गतियों को कोई वेदपाठी भूलने न पावे, इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर, प्रातिशाख्यकारों ने स्वरों के उच्चारण के साथ साथ उनके उच्चारण में ध्वनि की गति को भी तद्वत् (उच्चारणानुकूल) चित्रित करने के लिए उदात्त में हाथ को सीधे ऊपर उठाने का, अनुदात्त में हाथ को ऊपर से सीधे नीचे गिराने का तथा स्वरित में हाथ को सीधे तिरछे चलाने का (जो गेंद को जमीन में बारबार पटकने की सीधी तिरछी पंक्ति का सूचक है) कठोर विधान कर के, वेदों के उदात्तादि शब्दों या ध्वनियों का अमर चित्र खींच कर रख दिया है। इससे अधिक स्पष्टीकरण और क्या हो सकता है।

• आज के यन्त्रात्मक युग में जिस प्रकार का वर्णन उदात्तादि का ऊपर किया जा चुका है उससे सन्तोष नहीं हो सकता। जब हम यन्त्र में ध्वनियों के कम्पनों में आधारित स्वरों की जाँच करने चलते हैं तो यन्त्र हमें उन उदात्तादि की पहिचान तीन रेखाओं में सीमित करके प्रदर्शित करती है। ध्वनि की उच्चतमता सूचक रेखा, उदात्त की सूचक रेखा, निम्नतम रेखा अनुदात्त स्वर की सूचक रेखा है। स्वरित स्वर बड़ा पेचीदा है।
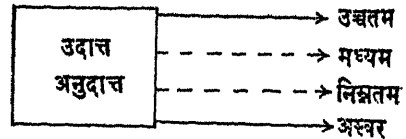
इसमें उदात्त और अनुदात्त दोनों का मिश्रण होता है। एक बड़े महत्त्व की बात यह है कि स्वरित स्वर की मात्रा के दो विभाग किये जाते हैं, जिनमें से प्रथम भाग, मात्रा का आधा उदात्त होता है, दूसरा भाग अनुदात्त; पर इसका उदात्त का भाग, स्वाभाविक उदात्त से. उच्चतम स्वर होता है, दूसरा भाग अनुदात्त से निम्नतम। इस बात को प्रायः सभी प्रातिशाख्यकारों ने स्वीकार किया है (दे० उद्धरण ' उदात्त स्वर को चित्र में ऊँचे उठते

(यन्त्र में) दिखलाया जाता है जैसे सामने के चित्र में (द्वितीय) या प्रथम चित्र के समान उदात्त स्वर की अन्तिम सीमा दिखलाई जाती है। अनुदात्त में या तो चौथे चित्र के समान उसकी अन्तिम सीमा दिखाई जाती है या तीसरे चित्र के समान उसकी पतन की रेखा। पर जैसा आपको बतलाया गया है कि स्वरित का पूर्वार्द्ध का भाग उदात्त से भी ऊँचा होता है, उसको पूर्वोक्त उदात्त और अनुदात्त के साथ मध्य की लम्बी पतनोन्मुखी रेखा से दिखलाया जा सकता है (दे० चि० ५)। यही आक्षेप है, जैसे गेंद चोट खाकर ऊँचे से नीचे को
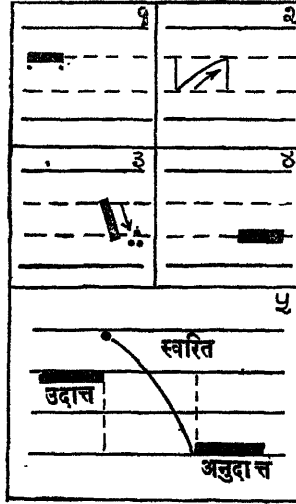
आती है। आक्षेप से ऊपर गई, उदात्त से भी ऊँचे, फिर धीरे धीरे नीचे आई। इस नीचे आने को 'प्रवण' नाम से भी पुकारा गया है। 'प्रवण' का अर्थ है 'उतार' ऊँचे से नीचे की ओर का ढाल, ढालू, जैसे पहाड़ों का ढाल। हमारे प्रा० शा० कारों और वैदिकों ने स्वरों के चिह्नों को वेद मन्त्र में लगाने के लिए कम बुद्धिमत्ता और वैज्ञानिकता नहीं दिखलाई है। उन्होंने स्वरों के चिह्नों में से उदात्त को एकदम छोड़ दिया है। स्वरित को सब स्वरों में सर्वोच्च स्थान दिया है। स्वरित स्वर का चिह्न स्वर के शिर में इसीलिए लगाया जाता है कि उसका स्वर उदात्त से भी ऊँचे उठता है, या सब स्वरों में उच्चतम स्वर स्वरित ही है। अनुदात्त में 'पतन' प्रधान है, उसकी अन्तिम सीमा में स्वर के पांव में एक तिरछी पतनसूचक रेखा लगाई जाती है। पर स्वरित का स्वर, स्वर के शिर में खड़ी पाई के रूप में परमोच्च उत्थान सूचन करने के लिए दी जाती है। यह शैली ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद सब में अपनायी गई है। यह कम चमत्कार की बात नहीं है। केवल सामवेद में अङ्क प्रणाली का अनुसरण किया गया है। सामवेद स्वरित को उदात्त और अनुदात्त का मध्यवर्ती या शिखर विन्दु मानता है (उदात्तानुदात्तमध्ये स्वरितः)। अतः उदात्त के शिर में १ स्वरित के सिर में २ तथा अनुदात्त के सिर में ३ लिखा जाता है, जिनका उच्चतम मध्यविन्दु स्वरित ही ठहरता है। स्वरित के लिए कई अन्य नाम भी मिलते हैं जैसे तै० प्रा (१९–३) इसे 'द्वियम' (द्विशिखर) नाम से पुकारता है, ये दो शिखर उदात्त और अनुदात्त के सम्मिश्रण से कहे गये

हैं, एक शिखर उदात्त से ऊँचे उठे स्वर का, दूसरा उदात्त की सीमा से पतन का शिखर है। अतः यह नाम भी कम वैज्ञानिक नहीं है। कुछ प्रातिशाख्यों ने इसे 'उच्चीचः' नाम दिया है जिसका आशय ठीक वही है जो 'द्वियम' का अभी दे दिया गया है; उद् = ऊँचा (उदात्त से भी ऊँचा); नीच = अनुदात्त की पतन रूप क्रिया। स्वरित के उदात्त और अनुदात्त दो विभागों की स्पष्ट श्रुति तब अधिक स्पष्टता से सुनाई पड़ती है, जब स्वरित स्वर के (दो भाग युक्त के) बाद या तो उदात्त आवे, या स्वरित ही आ जाय। इनके आगे आने से स्वरित का प्रथम भाग अति ऊँचा द्वितीय भाग अति नीच, पतनीय, स्पष्ट होगा, क्यों कि तुरन्त उदात्त या स्वरित स्वर में ऊँचे उठना पड़ेगा। जो वेदपाठी कुशल हैं वे अब भी, स्वरित के इन दो भागों की ध्वनियों को, प्रथम भाग को उदात्ततर में, द्वितीय भाग को अनुदात्त में स्पष्ट रूप से उच्चरित करते हैं, ऐसे दक्ष वेदपाठी कम नहीं हैं, वेदपाठी की सच्ची परीक्षा इसी स्वर के उच्चारण से हो भी सकती है।

स्वरित स्वर दो प्रकार का होता है। क्षैप्र और प्रश्लिष्ट; प्रथम स्वतन्त्र है; द्वितीय-भेद सन्धि और संगम दो प्रकार से निर्धारित होता है। सन्धि में जब उदात्त स्वर में अनुदात्त स्वर सवर्ण दीर्घता पा जाता है तो उन उदात्त और अनुदात्त के बदले सन्धि से उत्पन्न दीर्घ स्वर को स्वरित स्वर दिया जाता है। 'सङ्गम' सन्धि भी है (सवर्णदीर्घेतर) और संसर्ग भी। जब सवर्णदीर्घेतर सन्धि में या दो भिन्न संसर्गीय स्वरों में से प्रथम में उदात्त हो, दूसरे में अनुदात्त तो सन्धि में दोनों के बदले स्वरित, संसर्ग में अनुदात्त का स्वरित होता है; प्रथम उदात्त का उदात्त ही रहता है। पाणिनि (८-४-६६) ने भी यही विधान किया है 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित' जैसे 'क्व न्यंक्' पहिले 'क्व नि + अ॒क्' था; अब हो गया 'क्व न्यंक्' 'नि' का उदात्त, अ॒ क् के 'अ' के अनुदात्त के कारण संसर्ग में स्वरित हो गया। इसी प्रकार 'दि॒वींव॒' पहिले दि॒ वि + इ॒ व॒ था; दोनों की सन्धि से 'वी' का 'ई' (उदात्त के बाद अनुदात्त आने से) उदात्त का स्वरित हो गया। इसी प्रकार के वक्तव्य अन्य वैदिकी प्रक्रियाओं में मिलते हैं। इस परिवर्तन को दृष्टि पथ में रखकर 'स्वरित' को जो 'प्रवण, क्षैप्र, आक्षेप, स्वर-प्रचय, प्रणिहन्यते, स्वार, द्वियम, या उच्चीच आदि नाम दिये गये हैं वे अक्षरशः सचाई की कसौटी में कस जाते हैं। क्यों कि उदात्त के आगे के अनुदात्त का स्वरित में बदल जाना उक्त नामों की प्रक्रिया का शत प्रतिशत समर्थन कर देता है। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि स्वरित की स्थिति उदात्त और अनुदात्त से नापी और निश्चित तो की जाती ही है, पर स्वरित

स्वर इन दोनों स्वरों का योग है। अतः पूर्व भाग उदात्त द्वितीय अनुदात्त है, यह कथन भी साक्षात् स्पष्ट हो गया। इतना ही नहीं, यह स्वरित स्वर, अन्य उदात्त और अनुदात्त से अधिक ऊंचा, अधिक महत्व का तथा अन्त भाग अनुदात्त सम होता है, यह भी जल समान स्पष्ट है। इस प्रकार के स्वर को आजकल के यन्त्र भी अङ्कित करने में समर्थ है, उदात्त अनुदात्त का तो करते ही हैं। पर स्वर वास्तव में दो ही हैं, उदात्त और अनुदात्त। स्वरित इन दोनों का मिश्रण है; मध्यवर्ती नया स्वर नहीं। हाँ इसमें उदात्तीय भाग, साधारण उदात्त से उदात्ततर होता है, यह उदात्ततर उदात्त की ही ऊँची या उच्चतम स्थिति है। सङ्गीत और वेद पाठ में इस स्वर की पृथक् स्पष्टता सर्वविदित है। इस स्वर के पहिचानने में कठिनाई न हो, इसलिए प्रातिशाख्यकारों ने इसकी स्थिति में सबसे अधिक और स्पष्टतर प्रकाश डाला है। सङ्गीत वालों ने आलापादि की ध्वनियों में प्रथम से द्वितीय भाग को द्विगुणित कहकर ध्वनि कम्पनों की संख्या का भी स्पष्टतर ज्ञान कर लिया था, इसमें सन्देह नहीं रह जाता। ऋक्प्रातिशाख्य ने स्वरित स्वर की सावधानी के निम्नलिखित नियम दिये हैं :—

"एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः। तस्योदात्ततरोदात्तादर्द्धमात्रार्द्धमेव वा ॥ अनुदात्तः पर शेषः स उदात्तश्रुतिर्न चेत्। उदात्तं वोच्यते किञ्चित्स्वरितं वाक्षरं परम्। उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्। अतोऽन्यत्स्वरितं स्वारं जात्यमाचक्षते परे॥ उभाभ्यां तु परं विद्यात्ताभ्यामुदात्तमक्षरम्। अनेकमप्यनुदात्तं न चेत्पूर्वं तथागतम्॥ उदात्तवत्येकीभाव उदात्तं सन्ध्यमक्षरम्॥ अनुदात्तोपधे पुनः स्वरितं स्वरितोपधे॥ इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहतेषु च॥ उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत्॥ माण्डूकेयस्य सर्वेषु प्रश्लिष्टेषु तथा स्मरेत्। इत्येकीभाविनां धर्मः परैः प्रथमभाविनः॥ उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्या व्यञ्जनेन वा। स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्॥ वैवृत्त तैरो व्यञ्जनो क्षैप्राभिनिहितौ च तान्। प्रश्लिष्टं च यथा संधिः स्वरानाचक्षते पृथक्॥ स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः। उदात्तश्रुतितां यान्त्येकं द्वे वा बहूनि वा॥ केचित्त्वेकमनेकं वा नियच्छन्त्यन्तोऽक्षरम्। आ वा शेषान्नियुक्तं तूदात्तस्वरितोदयम्॥ नियमं कारणादेके प्रचयः स्वरधर्मवत्। प्रचयः स्वर आचारः शाकल्यान्यतरेययोः॥ परिग्रहे त्वनार्षान्ता तेन वेकाक्षरी कृतात्। परेषां न्यासमाचारं व्यालिस्तौ चेत्स्वरौ परौ॥ यथा सन्धीयमानानामनेकी भवतां स्वरः। उपदिष्टस्तथा विद्यादक्षराणामवग्रहे॥ पद्यादोस्तु त्वुदात्तानामसंहितवदुत्तरान्। जात्यवद्वा तथैवान्तौ तनूशचीति पूर्वयोः॥ त्रिमात्रयोरुत्तरयोरन्त्यापि प्रचयः स्वरे। मात्रान्यस्ततरेकेषामुभे व्यालिः समः स्वरे॥

असंदिग्धान् स्वरान् ब्रूयात् अविकृष्टाननकम्पितान्। स्वरितं नातिनिर्हन्यात् पूर्वो नाति विवर्तयेत्। जात्योभिनिहतश्चैव क्षैप्रप्रश्लिष्ट एव च। एते स्वराः प्रकम्पन्ते यत्रोच्चस्वरितादयः॥"

(ऋ० प्रा० तृतीयपटलम्)

[अन्य वैदिक स्वर प्रक्रियाओं में भी ऐसे ही नियम हैं देख लें]

है। करुणा, विलाप, दैन्य, हीनता, दुर्बलता आदि हमें विलम्बिता वृत्ति का आसरा लेने को बाध्य कर देती हैं। अतः विलम्बिता वृत्ति उक्त करुणादि की अभिव्यञ्जिका है। इसके विपरीत क्रोधादि और करुणादि में यदि मध्यमा वृत्ति का उपयोग किया जाय तो वह कहने वाले के धैर्य तितिक्षा धृति साहस गम्भीरता और ज्ञान का स्पष्ट रूप से अभिव्यञ्जक होती है। अतः कहा है "वृत्यन्तरे कर्म विशेषमाहुः मात्रा विशेषः प्रतिवृत्युपैति'। ये तो वृत्तियों की (ध्वनि विकासशास्त्र) भाव सागर में उमड़ती लहरें स्पष्ट हैं। पर ध्वनिशास्त्र में भी इन वृत्तियों का प्रयोग कम प्रभाव नहीं डालता। आस्यचित्रों में यन्त्रात्मक ध्वनितत्व विशारदों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वृत्तिभेद से ध्वनियों के स्थान और करण तथा प्रयत्न में महान् अन्तर आ जाते हैं, जिनको आस्य चित्रों में स्पष्ट अंकित तक किया जा चुका है। अतः एक ध्वनितत्व के (४५ × ३) = १३५ भेद हो गये (दे० स्वर में ४५ भेद)। इनमें प्रत्येक ध्वनि के षड्ज मध्यम धैवत निषाद ऋषभ गान्धार कोकिल के यमों का किया हुआ भेद भी सम्मिलित करें तो एक स्वर के १३५ × ७ = ९४५ भेद हो गये, और तीन ग्रामों में ९४५ × ३ = २८३५ भेद हो गये।

१६ अध्याय

ऊष्माण ध्वनियाँ

(१) अनुस्वार

अम् या अं या ॱं और ँ ६·

स्वर और व्यञ्जनों का मध्य विन्दु

अनुस्वार, एक ऐसा बिन्दु है, जो स्वर और व्यञ्जन दो प्रकार की पृथक्-पृथक् प्रकार की ध्वनियों का एक विशाल प्रकाश स्तम्भ के ज्वलन्त मध्यबिन्दु के समान सुशोभित है। इसको अ के साथ बिन्दु देकर इसलिए संकेतित किया जाता है कि यहाँ स्वरों का अन्त हो जाता है और यहीं से अनुस्वार रूप व्यञ्जन का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह अनुस्वार स्वर और व्यञ्जन रूप दो महाकपाटों को एकीभूत या एकात्म्य करने के लिए अर्गल का सा काम करता है। भारतीय लिपि में इसे व्यञ्जनों में न रखकर स्वरों में इसलिए रखा जाता है कि स्वर मुख्य कपाट हैं, अर्गल भी मुख्य कपाट से ही सम्बद्ध किया जाता है। तब वह दोनों को नित्य बन्द करने या ध्वनि कोष्ठ को सुरक्षित रखने में समर्थ होता है। यह अनुस्वार न तो पूर्णरूपेण स्वर ही है, न पूर्णरूपेण व्यञ्जन ही। वैसे यह दोनों के धर्मों से संयुक्त है। यह स्वरों के साथ स्वर ही का सा व्यवहार करता है, और व्यञ्जनों के साथ व्यञ्जन का सा, उनमें भी, अपने प्रथम विरादर उष्माणों के साथ ऊष्मा सा बनता है. तो अन्तःस्थों के साथ अन्तःस्थ सा, तथा पञ्चवर्गीय व्यञ्जनों में यह तत्तद् वर्गीय का नासिक्य बनकर समस्त ध्वनियों का परम रागी या प्रिय मित्र बना रहता है। ध्वनियों में जितनी बहुरूपिया, जल की तरह तदाकारता में घुलने वाली ध्वनि इस अनुस्वार में है, वह संवृत अ को छोड़ अन्यत्र सर्वत्र दुर्लभ हैं। इस प्रकार इसका एक ही जोड़ीदार 'अ' ध्वनि है। इसलिए इसको 'अ' के साथ 'अं' या 'अम्' सा लिखकर प्रगट भी करते हैं। स्वरों में यह अन्तिम ध्वनि है तो ऊष्माणों और व्यञ्जनों में सर्वप्रथम। अतः इन भावनाओं को मन में रखकर ऋ० प्रा० ने लिखा है 'अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो वा' (१-५)। इस ध्वनि की सर्वप्रियता को ध्यान में रखकर पाणिनि शिक्षा कहती है कि इसकी ध्वनि में अलावू वीणा की सी मीठी झङ्कार होती है 'अलावुवीणानिर्घोषः, (२३)।

यह अनुस्वार ध्वनि कितनी मीठी लगती है या लगती रही यह प्रातिशाख्य-कारों के दिये हुये इसके नाम 'रक्त' से स्वयं स्पष्ट है 'रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः' (ऋ० प्रा० १–३६)। दूसरी जगह इसे 'रङ्ग' नाम देते हुये लिखा है 'प्लुतो वर्णः पदान्तस्थो नासिक्यो रङ्गसंज्ञकः' (स० सं० शि० १–६३)। तीसरी जगह इसे 'राग' 'सङ्गीतमय ध्वनि' नाम से पुकारा गया है, 'रक्तै रागः समवाये स्वराणाम्' (ऋ० प्रा० १४–५६) कि यह अनुस्वार स्वरों और व्यञ्जनों को संगीतमय लाल रंग में रँग जैसे देता है। सर्व सम्मत शिक्षा ने तो कलम तोड़कर इसकी प्रशंसा के पुलिन्दे बाँधते हुये लिखा है कि 'अनुस्वार के उच्चारण में वैसी हृदयग्राहिणी ध्वनि हृदय (कोष्ठय) से निकलती है जैसी कांसे के वर्तन की झनझनत्कार होती है, जिसका सबसे मीठा दृष्टान्त सौराष्ट्र की महिला 'तक्राँ ४ँ' कह कर उपस्थित करती है। इसके उच्चारण में ऐसा ही राग (संगीतमत ध्वनि) का प्रयोग करना चाहिए। जैसे "कांस्यं ध्वनिसमं रंगं हृदयादुत्थितं भवेत्। यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्राँ ४ इत्यभिधासते ॥ एवं रंगः प्रयोक्तव्यः" (४८)। इस प्रकार यह अनुस्वार हमारे ध्वनि शास्त्रियों को जितना प्यारा था उतनी-कोई अन्य स्वर या व्यञ्जन की ध्वनि न थी। यह ध्वनि, स्वरों को अनुनासिकता का मीठा राग (संगीत) समर्पित करती है तो ऊष्माणों व्यञ्जनों के रूखे पन में रंग सा जमा देती है। इसलिए सब स्वरों की एक नई सृष्टि सी हो जाती है। जितने भेद अक्षर (वर्णकुल फोनीमों) के हैं या वर्ण (फोनेमिक्स) के हैं, उनके उतने ही भेद अनुनासिकता से हो जाते हैं। अतः कहा है 'स द्विविधः अनुनासिकोऽननुनासिकश्चेति।' प्रत्येक स्वर दो प्रकार का होता है, शुद्ध (अननुनासिक) और अनुनासिक (अनुस्वार के राग या संगीतमय ध्वनियुक्त) (अथर्व प्रातिशाख्य ४-१२१, पटल ३, ५)। चारणीय शिक्षा ने कहा है कि 'राग' (संगीतमय ध्वनि) की उत्पत्ति नासिका से होती है 'नासादुत्पद्यते रागः'। इस कथन में वास्तविकता का न्यास है। क्योंकि प्रायः सभी प्रातिशाख्यकारों, उनके टीकाकारों तथा पाणिनि जैसे शब्दानुशासन लेखकों और इनके टीका भाष्यकारों ने सबने मिलकर, एक स्वर में निम्नलिखित उद्धरणों के अनुसार, 'अनुनासिक' की व्याख्या में कहा है कि यह ध्वनि मुख और नासिका से उत्पन्न होती है (ऋ० प्रा०) 'नासिक्य-मनुस्वारान्' (१-४५); (तै० प्रा० २-५२) 'नासिका विवरणादानुनासिक्यम् इति रंग उक्तः' (कात्यायन प्र० १-७५) 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकाः'; अथर्व प्रातिशाख्य १-२७) 'अनुनासिकानाम् मुखनासिकम्'; (पाणिनि १-१-८) 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः'; (भट्टोजिदीक्षित) 'मुख-नासिकाभ्यामुच्चार्यमाणध्वनि अनुनासिकम्' 'प्रत्येकं अनुनासिकाऽननुनासि-

काभ्यां द्विधा'। इन सब उद्धरणों में 'मुख' शब्द का प्रयोग है। यहां के 'मुख' शब्द में कम से कम उतनी बड़ी पोल है जितनी अर्न्द्धेंदु से लेकर ओष्ठ तक हो सकती है। इस 'मुख' शब्द की उक्त वचनों में सन्निविष्ट पोल पर, इस अनुस्वार के उच्चारण के स्थान करण और प्रयत्नों के विवेचन करने के अवसर पर अग्रिम परिच्छेद में पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जावेगा।

•

इस अनुस्वार के प्रतीक 'अं' या 'अम्' ध्वनि में उस गम्भीर व्यञ्जनात्मक ध्वनि (व्यंग) का भी समावेश है जिसे साहित्यकार (आलंकारिक) उत्तम काव्य कहते हैं। अं या अम् यह सूचित करता है कि स्वरों का आरम्भ 'अ' संवृत से होकर अं या अम् के 'अ' में समाप्त होता है, दूसरी सूचना साथ में यह देता है कि ऊष्माणों और व्यञ्जनों का आरम्भ अं या अम् के बिन्दु या 'म्' से आरम्भ होकर अन्त भी पञ्चवर्गीयों की अन्तिम ध्वनि म् में पर्यवसान करता है; उष्माण और अन्तःस्थ, पंचवर्गीय व्यञ्जनों से पहिले गिनाये जाते और उत्पन्न होते हैं। अतः इस अं या अम् नामक सूत्र में इतना विशाल समुद्र रूपी गम्भीर अर्थ भरा हुआ है। यह अनुस्वार पञ्चवर्गीय नासिक्य ङ् ञ् ण्, न् और म् से बिलकुल पृथक् ध्वनि है। यह अनुस्वार ऊष्मा (फ्रिकेटिव्) है, पञ्चवर्गीय नासिक्य स्पर्शीय हैं। पर शब्दानुशासनकारों (पाणिनिप्रभृति) तथा प्रातिशाख्यकारों ने पञ्चवर्गीय नासिक्यों को ह को छोड़ शेष व्यञ्जनों के पहिले आने पर अनुस्वार में परिवर्तित करने का विधान निम्नलिखित उल्लेखों के द्वारा किया है। कात्यायन प्रा० 'अनुस्वारेण व्यञ्जने' (३-१३०-२)। ऋ० प्रा० 'व्यालि नासिक्यं अनुनासिकं वा' (१३-३७) 'तै० प्रा० अनुस्वारोत्तमा अनुनासिक्यः' (२-३०); पाणिनि 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिकः'। पर इन लोगों के कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पंचवर्गीय नासिक्य को बिन्दी या अनुस्वार में बदलो, पर उनका तात्पर्य यह है कि पंचवर्गीय नासिक्य (स्पर्श) अनुस्वार रूप ऊष्मा में परिवर्तित हो जाता है। अतः लिखने में जो लोग सरलता के लिए शङ्ख को शंख लिखते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि उन्होंने, ऐसे स्थलों में नासिक्य की काया पलट कर दी है। लोग अनुस्वार का प्राचीन ऊष्म उच्चारण करना तो भूल गये हैं, पर चाहे वे शंख लिखें या शङ्ख दोनों के उच्चारण वर्गानुकूल व्यञ्जन के नासिक्य का सा ही करते हैं। क्योंकि नासिक्य का वर्गानुकूल उच्चारण का करना प्रातिशाख्यकारों और शब्दानुशासन लेखकों के नियमों की डर से या विधि से नहीं होता। यह तो परिस्थिति का स्वाभाविक तकाजा है, जहां कवर्गीय के पहिले उक्त अनुस्वार (अनूष्म) आयेगा उसका उच्चारण अपने आप ङ् जैसा ही होगा। ऐसा ही

अन्य वर्ग के साथ आने में अपने सवर्ण नासिक्य होंगे। पर जब यही नासिक्य प्रधान होंगे या व्यञ्जन के बाद में होंगे तो इनमें कोई परिवर्तन नहीं होगा जैसे 'पलिक्नी' रुक्मिणी, प्राह्ण, चिह्न, पत्नी, वह्मि, स्वप्न, आदि। केवल र, और ष्, ऐसे स्थलों में अपना लम्बा या दूर का या समीप का प्रभाव डाले बिना नहीं रहते, जैसे रामेण सहिष्णु, पर स्थास्नु।

(२) अनुस्वार और ॲ, ॱ ꣳ

वर्गीय नासिक्यों को अनुस्वार में बदल कर, उसका उच्चारण, उक्त उदाहरणों के अनुसार, वर्गीय नासिक्यों के ही अनुसार करके भूले पंडितों और विद्वानों ने अनुस्वार के उच्चारण के रहस्य को सदा के लिए अन्धकार के गर्त में डाल दिया है। इस प्रकार, अनुस्वार के रहस्य ज्ञान से रहित डा० ग्रियर्सन महाशय ने जब किसी स्कूल या पाठशाला के पंडित से पूछा तो उसके 'अॲशुना' के 'अ 'ग्वं' शुना' उच्चारण ने डा० साहब को पचड़ में न डाल सका। डा० साहब ने तुरन्त एक लेख या पुस्तक लिख डाली कि पंडितों को अनुस्वार का उच्चारण करना नहीं आता; उन्हें ठीक उच्चारण करना सिखाया जाय (वर्तमान भारतीय (दास) भाषायें पृ० १०१)। अभी तक पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों में यही धारणा आरूढ़ होती चली आ रही है। खेद। इस विवाद का निर्णय करने के लिए हमें अनुस्वार के उच्चारण स्थान, उसके करण और प्रयत्न से भलीभाँति परिचित हो जाना चाहिए। ऋ० प्रा० (१३-११, १२) ने लिखा है कि अनुस्वार उष्माण व्यञ्जन है, तथा स्वरों का तथा अनुस्वार का और अन्य ऊष्माणों का स्पर्श अस्थित होता है, घृष्ट सा होता है। कुछ लोग ऊष्माणों की स्थिति वर्षण स्थान कण्ठ नहीं मानते। इसका तात्पर्य यह है कि ऋक्प्रातिशाख्यकार अनुस्वार (ऊष्माण) का स्थान कंठ ही मानते हैं। 'स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम्, नैके कण्ठस्य स्थितमाहुरूष्मणः' 'उत्तरे अष्टा ऊष्माणः' (ह श ष स अः ᳵ क ᳵ प अं) । आहुर्घोषं घोषवतामकारमेकेऽनुस्वारमनुनासिकानाम् (१३-१५)। तै० प्रा० ने अनुस्वार के उच्चारण का स्थान ऊष्माणों में सम्मिलित करके लिखा है 'ऊष्माणां करणमध्यं तु विवृतं, कंठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ, उदयस्वरादिसंस्थानो हकार एकेषाम् पूर्वान्तसंस्थानो विसर्जनीयः।' पंचवर्गीय नासिक्यों को अनुस्वार से अलग करते हुये लिखा है—नासिक्या नासिकानाम्, मुक्तनासिका वा वररुचिः, वर्गवत्सेपु, नासिका विवरणादानुनासिक्यम्' (२-४५ से ५२)। अनुस्वार के स्थान के बारे में अपना निश्चित मत रखते हुए, किसी एक आचार्य की अनर्गल

सी सम्मति भी देते हुये लिखा है 'एकेषामनुस्वारस्वरभक्त्योश्च'···वत्सर्थे" (२–१९)। ऋ० प्रा० ने नासिक्यों से परिवर्तित अनुस्वार को नासिक्य कहते हुये उनका एकस्थान नासिक्य कहा है। यह सन्दर्भ से स्पष्ट है। 'शेष ओष्ठ्यो अपवाद्य नासिकान् (ङ् ञ् ण् न् म्) नासिक्यमनुस्वारान्' (द्वितीय पटल स्थान निर्देश)। आपिस्थली शिक्षा (१–१०) और कात्यायन प्रतिज्ञा ने तो स्पष्टतः अनुस्वार को जिह्वामूलीय स्थान देते हुये लिखा है 'जिह्वा-मूलीयाऽनुस्वारा हनुमूलेन' (१–८३)। पतञ्जलि जी ने महाभाष्य में उष्माणों के लिये लिखा है कि इनके उच्चारण में अर्द्धेन्दु तथा स्थान और करण मध्य स्थान विवृत खाली खुला रहता है 'विवृतमूष्माणामीषदित्येवानुवर्तते' (१–१–४ पा० अ० १–१–१०)। इन प्रमाणों के साथ वेदपाठियों में प्रचलित अनुस्वार की उच्चारण शैली 'ग्वं' को भी दृष्टिपथ से न उतारिये। दूसरी मुख्य बात जो नहीं भूलने योग्य है, वह है, अनुस्वार का सोष्म या ऊष्म या घृष्टप्रयत्न का होना। जिह्वामूलीय स्थान हनुमूलीय स्थान से भीतर है। यह वह स्थान है जिस स्थान से फारसी के या अरबी के क़ाफ़ ग़ाफ का गम्भीर उच्चारण, तथा जर्मन ख़ (ach या x) का उच्चारण होता है। इनके उच्चारण के लिए, जिह्वा के मूल से हनुमूलीय कोमल तालु भाग को बन्द किया जाता है तो क़ ग़ का उच्चारण होता है, यदि कुछ खुला रह गया तो 'ख़' का। ठीक 'ख़' के उच्चारण की सी परिस्थिति हमारे उक्त वेदव अनुस्वार के उच्चारण की स्थिति रही। अन्तर इतना है, हमारे अं या अम् के उच्चारण में जिह्वामूल और हनुमूलीय कोमल तालु के मध्य का अन्तर या विवृति क़ ग़ के उच्चारण से अधिक, पर ख़ के उच्चारण से कम (खुली) थी। हमारा अं का उच्चारण सानुनासिक घृष्टप्रयत्नीय था, शुद्ध क़ ग़ ख़ सम स्पर्शीय नहीं। अतः इस अं का उच्चारण सानुनासिकता घृष्टप्रयत्नता (उष्माणता) से, न कँ सम था न ग़ँ सम न ख़ँ सम; पर था ῤ सम या ꣳ सम। ῤ ह्रस्व है, ꣳ दीर्घ है। अब बतलाइये इन ῤ और ꣳ का कैसा शुद्ध उच्चारण हो सकता है? जब हम परिस्थिति को इतनी जल सम निर्मल कर चुके हैं तो, इसके उच्चारण के लिए हमें न पाश्चात्यों से पूछने की कोई अनर्गलता करनी है, न पौर्वात्यों के अनुस्वार के भ्रष्टोच्चारण का भरोसा। हमारे वेदपाठी भले ही ῤ और ꣳ को 'ग्वं' सा आजकल के ग्+व+ं का सा उच्चारण कर सबको भ्रम में डालने के मुख्य कारण बने रहें, पर उन्होंने हमारे पूर्व पूर्वजों के इस अनुस्वार के शुद्ध उच्चारण की एक बड़ी सूक्ष्म और बड़ी धुँधली रूपरेखा उस गन्दे 'ग्वं' में अवश्य छिपा रखी है, और पूर्णतः सुरक्षित रखी है, इस विषय में, उस सम्पूर्ण

विवेचन से, दो मत का अवकाश ही नहीं रह सकता। फलतः हमारे ˘ं और ः का उच्चारण उक्त क ग और ख के मध्यवर्ती, घृष्टीय उष्माणीय सानुनासिक ध्वनि में स्पष्टतर होगा। इसका स्वयं प्रयत्न करें। आजकल का 'ग्वं' भी भ्रष्टोच्चारण है; (ं) भी नष्टोच्चारण है; उच्चारण की स्पष्टता के लिए यदि वेदपाठी या उच्चारण प्रिय, शुद्ध उच्चारण करना चाहे तो ˘ं और ः में मुँह या ओष्ठ पहिले बन्द कर दें, तब जिह्वा के मूल काकालकीय कोमल तालु से सामने घृष्ट प्रयत्न (स्पृष्ट प्रयत्न नहीं) करते हुये नाक से ध्वनि निकालें, तो ˘ं या ः के शुद्ध उच्चारण में न क्कं जैसी न गं जैसी न ग्वं जैसी ध्वनि होगी, पर इन सबके मध्यवर्ती सानुनासिक शुद्ध ˘ं या ः ध्वनि होगी। क्क ग ग्व के उच्चारण में ओठ खुले रहते हैं और जिह्वा मूल का काकालकीय तालु स्थान में स्पर्श होता है। पर ˘ं या ः के उच्चारण में ओठ अवश्य बन्द रहने चाहिए, तथा जिह्वा मूल का हनुमूलीय तालु से स्पर्श नहीं, वरन् घृष्ट प्रयत्न होना चाहिए। अपने आप शुद्ध ˘ं और ः का उच्चारण हो जावेगा। अनुस्वार ˘ं तीन प्रकार का होता है (१) ह्रस्व (२) दीर्घ (३) गुरु। "अथानुस्वारस्य (˘ं रूपस्प) ः इत्यादेशः शषसहरेफेषु, तस्य त्रैविध्यमाख्यातं ह्रस्वदीर्घगुरुभेदैः। दीर्घात्परो ह्रस्वः, ह्रस्वात्परो दीर्घः, गुरौ परे गुरुः, परसवर्णपरप्रकृत्या चान्यत्र" (कात्यायन प्रतिज्ञा ९)। यदि ˘ं ह्रस्वस्वर परे हो तो वह दीर्घ होता है जैसे 'त्रि ः शत्' में ः दीर्घ हो गया। दीर्घ स्वर से परे ˘ं हो तो वह ह्रस्व ही रहता है जैसे 'पृथिव्या ˘ं शेन' में ˘ं ह्रस्व रह गया; क्यों कि दीर्घ के परे है। गुरु वर्ण के पश्चात् आया ˘ं गुरु होता है जैसे 'कल्पन्ता ˘ं श्रोत्रम्' में दीर्घ से परे आ के आगे का ˘ं ह्रस्व तो है पर श्रोत्र के व्यञ्जन संयोग पूर्व होने से यह ह्रस्व गुरु ˘ं हो गया। इसी प्रकार 'सोमान ˘ं स्वरणम्' में ह्रस्व परक ˘ं को दीर्घ ः होना था, पर, 'स्वरणम्' के 'स्व' व्यञ्जन संयोग के पूर्व में होने से ह्रस्व गुरु ˘ं ही रह गया। इस प्रकार ˘ं तीन प्रकार का है; ह्रस्व, ह्रस्व गुरु, और दीर्घ गुरु; पर ः रूप केवल ˘ं के दीर्घ मात्र का बोधक है। ः रूप दीर्घ गुरु का रूप है।

(३) अनुस्वार ˘ं, ः और नासिक्य ङ् ञ् ण् न् म् में अन्तर

१ अनुस्वार या ˘ं, ः ऊष्म है।	१ नासिक्य अनूष्म हैं।
२ अनुस्वार या ˘ं, ः स्थित प्रयत्नीय या ईषद्विवृत घृष्ट प्रयत्नीय हैं।	२ नासिक्य अस्थित प्रयत्न और स्पृष्ट या स्पर्श हैं।

३ अनुस्वार या ं, ँ का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है।

४ अनुस्वार या ं, ँ, स्वरों को अनुनासिकता का सङ्गीत मय राग प्रदान करता है।

५ अनुस्वार या ं, ँ अपने से परे के व्यञ्जन को भी पूर्णतः प्रभावित करके उसमें अपना रङ्ग जमा देता है।

६ अनुस्वार, ं ँ (मौलिक) नासिक्यों में नहीं बदलता।

७ अनुस्वार ं ँ अपने से आगे के व्यञ्जन और पूर्व के स्वर के बीच में ऊष्म स्वरीय तत्व स् श् ष् र् आदि को स्थापित कर के रहस्यमय परिणाम उपस्थित करते हैं।

८ अनुस्वार ं ँ पूर्व स्वर का अङ्ग होता है।

९ अनुस्वार ं ँ स्थानीय या सम नासिक्य व्यञ्जन स्वर परे द्वित्व को प्राप्त होता है।

१० अनुस्वार ं ँ अन्तःस्थों के पहिले आकर अन्तःस्थों को गम्भीरतया अनुनासिक बना देता है, सँयँयँवन्ते आदि।

३ नासिक्यों के स्थान हनु मूल के आगे से लेकर क्रमशः ओष्ठ तक हैं।

४ नासिक्यों से स्वरों में अनुनासिकता का आना स्वाभाविक नहीं है। लापरवाही या असावधानी से या आदत से अनुनासिकता आती है।

५ नासिक्यों के व्यञ्जन अपने से परे के व्यञ्जन को प्रभावित करना दूर रहा वे स्वयं उसके स्थान के अनुरूप नासिक्य में बदल जाते हैं।

६ नासिक्य, अनुस्वार में बदल कर पुनः वर्गीय नासिक्यों में बदल जाते हैं।

७ नासिक्यों में इस प्रकार की कोई घटना घटने का अवसर ही नहीं आता, क्योंकि ये स्पर्श हैं और अस्थित प्रयत्न हों भी तो अनूष्म हैं।

८ नासिक्य, पर व्यञ्जन का अङ्ग होता है। यद्यपि व्यञ्जन अकेले पूर्व स्वर का अङ्ग होता है, दूसरे स्वर के होने में पर स्वर का अङ्ग होता है।

९ नासिक्यों में यह नहीं होता।

१० नासिक्य अन्तःस्थों के पहिले ज्यों के त्यों बने रहते हैं जैसे-साम्य, विक्रम्य विक्रान्त, सम्राट्, अम्ल, म्लायते, चिन्वन्ति, कृण्वन्ति।

११ अनुस्वार केवल पदमध्य, शब्द मध्य, वाक्यमध्य में ही आता है, पदादि, वाक्यादि, शब्दादि, पादादि या पदान्त, वाक्यान्त, शब्दान्त पादान्त में कभी नहीं आता। 'अनन्तस्थं तमनुस्वारमाहुः' (ऋ० प्रा० वर्ण बदल १३–४७)

११ नासिक्य, पदादि, पदमध्य पदान्त, शब्दादि, शब्द मध्य, शब्दान्त, पादादि, पादमध्य, पादान्त सर्वत्र आता है।

१२ अनुस्वार ँ ँ का विशेष स्थान ह ष श स ≍क ≍प और अन्तःस्थ के पूर्व में है।

१२ नासिक्यों का स्थान, उष्माणों को छोड़ सब व्यञ्जनों के पूर्वापर में होता है।

(४) यम व्याख्या

एक बड़ी विचित्र बात यह है कि वैदिक संस्कृत के समय में, जब नासिक्य पंचवर्गीय व्यञ्जनों के परे आता था तो, जिस व्यञ्जन से नासिक्य संयोग पाता रहा, उसका द्वित्व होता था, और उस द्वित्व किये वर्णों में से द्वितीय को यम नाम से पुकारते थे, उस यम को अनुनासिक करके उच्चरित किया जाता था। उसकी अनुनासिकता ही उस द्वित्व वाले द्वितीय वर्ण को 'यम' नाम देने की उत्तरदायिनी है। जैसे पलिक्नीं, चख्नतु, अग्नि, घ्नन्ति शब्द है, इनमें नासिक्य से मिले व्यञ्जनों को द्वित्व करके अनुनासिक कीजिए जैसे पलिक्क्नीं, चख्ख्नँतु, अग्ग्निः घ्घ्नँन्ती। इनमें अनुनासिक किये गये क्ँ, ख्ँ, ग्ँ, घ्ँ सब यम कहलाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग में चार यम हो सकते हैं, पाँच वर्गों में २० यम हो जाने पर इनमें केवल एक बड़ा विचित्र अपवाद मिलता है, वह है 'पत्न्यौ' का 'पत्क्नँयौ' रात्नी का 'रात्क्नीँ', स्तनयित्नु का 'स्तनयित्क्नुँ' (पु० सू० २२ रु, रुद्री ५-१०, शान्ति २१)। शास्त्रीय संस्कृत में ये सब बातें नष्ट हो चुकी हैं। अन्तिम तीन उदाहरणों को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि यम केवल प्रथम वर्ग के चार वर्ण हैं। अतः यहां के 'यम' को स्पष्ट करने के लिए प्रथम वर्गीय व्यञ्जन को लगाते रहे। पाणिनिशिक्षा (४) ने 'चत्वारो वा यमाः स्मृताः', तथा कात्यायन-प्रतिज्ञा (१·०२) ने 'यमाश्चत्वारः' कह कर इस बात की पुष्टि कर दी है। इसमा समर्थन ऋ० प्रा० पुनः 'सरूपैश्चत्वार एव' कहकर करता है। अन्य उदाहरण जैसे

---

१ कृत्स्न और कृष्ण के उच्चारण की अनुभूति 'कृत्ष्ण' सी होती है। यहां की सन्धि कृत्+न है, न ऊष्माण है, सोष्म है। अतः उक्त रीति से कृत्स्न नकली कृत्ष्ण असली रूप होते हैं।

भगवान् + समः = भगवान्त्सम[1], ताम् + ताम् = 'तान्स्ताम्' हैं जिनमें यम का काम 'स्स' = ऊष्म कर रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में, तथा पाणिनि जी के समय तक नासिक्यों में से कम से कम न् और म् के अनुस्वार का उच्चारण ऊष्म जिह्वामूलीय ही रहा होगा। तान्स्तान् में स् का न् के बाद का योग, उस अनुस्वार की घृष्ट अस्पृष्टता को स्पष्ट करने तथा रक्षित रखने के ही लिये, दिया गया सा प्रतीत होता है, पर शुद्ध रूप तान्स्स्तान् ही होगा। 'भगवान्त्सम' में स् में न् के बाद का त् भी स् के योग से अपने आप घृष्टास्पृष्टता धारण कर लेता है, त् + स् = ऊष्म या विवृतप्रयत्नीय अपने आप हो जाता है। यह भगवां के अनुस्वार की ऊष्मता सुरक्षित रखने का उपाय है। स् स्वयं उष्माण है, अतः न् ध्वनि अनुस्वार की सवर्णता की स्पष्टता के लिए हैं, और 'त्' का आगम, एक पंथ दो काज कर रहा है। हमारा सिद्ध यम वर्ण 'ज्ञ' इस मत की पुष्टि है।

(५) हमारा यम—'ज्ञ'

ज्ञ ऐसी ध्वनि है जो वैदिक काल में ही सिद्ध ध्वनि बन कर स्वतन्त्र वर्ण बन गयी थी। इसकी उत्पत्ति यम के संयोग से इस प्रकार हुई—ज् + ञ् = ज् + गँ् + ञ् = ज्गँञ् = ज्गँञ = ज्ञ = ज्ञान। अतः इसके उच्चारण में ज् गँ् ञ् तीनों व्यञ्जनों का संयोग है, जो लोग केवल ज्ञ् जैसे बोलते हैं वे गलत बोलते हैं, इसमें ज् के समसंख्यक यम गँ् का उच्चारण होना परम आवश्यक है, जो लोग ग्यँ् जैसा बोलते हैं वे भी गलती ही करते हैं, इसका ठीक उच्चारण ज्गँञ है, इनकी सम्मिलित ध्वनि ज् और गँ् के सम्मिश्रण में ञ् का योग समुचित सिद्ध ध्वनि 'ज्ञ' का उच्चारण होगा। सौराष्ट्र और बम्बई प्रान्त वाले इसका जो उच्चारण 'द्ञ्' से करते हैं। वह यमों के नियम के नितान्त विरुद्ध है। यहां द् का ञ् के साथ का योग किसी भी नियम से साध्य नहीं हो सकता। यदि सभी वर्गीय व्यञ्जनों को भी यम माना जाय तो भी यहां ग् या द् की जगह ज् आना चाहिये जिससे 'ज्ज्ञँ' सा रूप होगा। यह होता तो पृथक् सिद्ध ध्वनि रूप अक्षर 'ज्ञ' की आवश्यकता ही न पड़ती। बात यह है कि सौराष्ट्र और बम्बई प्रान्त की प्रान्तीय भाषाओं में तवर्ग का उच्चारण कुछ घृष्ट प्रयत्नीय त्स्, त्स्ह् सा है जो आजकल के भारतीय सभी भाषाओं के पुराने तालव्य कहे जाने वाले च छ ज झ के समान है। भारत की अधिकांश भाषाओं में पुराने वैदिक तालव्य च छ ज झ सब के सब त्स, त्स्ह, द्स्, द्स्ह से घृष्ट प्रयत्नीय हो चुके हैं। अतः बम्बई और सौराष्ट्र वालों का ज्ञ का द्न सा उच्चारण इस वर्तमान युग के उच्चारण का एक

प्रत्यक्ष नमूना है। पर खेद तो यह है कि इस 'द्न' उच्चारण में वह वस्तु बिलकुल गायब है जिसके आधार पर 'ज्ञ' ध्वनि को एक सिद्ध अक्षर स्वीकार किया गया था। वह गायब हुई वस्तु है ञ् तत्व जिसके बदले इसमें न् का समावेश है। द् के साथ ञ् का जोड़ा है ही नहीं। वर्तमान उच्चारण से ञ् लावें तो द् तत्व अपने दन्त्यत्व का अस्तित्त्व खोकर, घृष्ट-प्रयत्नीय रूप ले लेता है। अतः द्न रूप किसी भी प्रकार स्वीकार्य नहीं हो सकता। ज्ञ का समीपस्थ उच्चारण ग्ञँ (ग्यँ सा) है, इसमें ज् तत्व का लय गँ में है। यह एक ध्वनितत्वीय नियम का ही स्वाभाविक परिणाम है सच्ची सिद्ध ध्वनि ज्ञँ 'ज्ञ' है। यमों में विच्छेद[1] (विराम) माना गया है। पर 'ज्ञ' सिद्ध ध्वनि में विच्छेद का प्रश्न ही नहीं आता। अतः इसे यमों में गिनाया ही नहीं गया है।

उक्त स्पष्ट विवरण से यह सिद्ध हो जाता है कि वास्तविक यम केवल चार ही हैं (क् ख् ग् घ्)। ऋ० प्रा० ने कहा है :—'सप्तयमानि वाचः, अनन्तरश्चात्र यमोऽविशेषः'; सप्तस्वरा ये यमास्ते पृथग्वा ॥" कि वाणी में सात यम हैं, सात स्वर हैं, स्वरों के और वाणी के यम एक हैं (अविशेष) या अलग भी कहे जा सकते हैं। इन सात में कँ खँ गँ घँ ⨯कँ⨯पँ और हँ हैं। अतः त्रिभाष्य रत्न टीका में (ऋ० प्रा० १-५०) जो यमों की संख्या २० बतलाई है वह गलत है। "एवं विंशतिर्यमा बह्वृचां भवन्ति" का उव्वट ने "विंशतित्वात्स्थानिनामपि यमानाम् विंशतित्वप्रसंगः, स माभूत्, चतुर्णामेव यमानां प्रथमा प्रथमं द्वितीया द्वितीयम् एवं पञ्चमादापद्येरन्नित्युच्यते" कह कर उक्त मत का खण्डन कर दिया है। क्योंकि ऋ० प्रा० तो स्पष्टतः चार ही यम मानता है 'सरूपैश्चत्वार एव'। सात की संख्या में ⨯क ⨯प और ह सरूप ही है (क और अनुस्वार के); शेष चार ही रह गये। अतः भट्टोजी दीक्षित ने जो २० यमों की पुनरुक्ति की है वह प्रातिशाख्यकारों के मत को न समझ सकने के कारण ही है, यह उनके वाक्य से स्पष्ट है। ये प्रा० शा० के छन्द को तो उद्धृत करते हैं, पर उसका अशुद्ध अर्थ देते हैं—"वर्गेषु आद्यानां चतुर्णां पञ्चम परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः, पलिक्‌क्नी, चख्‌ख्नतु, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति। इत्यत्र क्रमेण कखगघेभ्यः परे तत्सदृशा एव यमाः" यहां उदाहरण तो ठीक हैं; पर भाव और अर्थ गलत हैं (सिद्धान्तकौमुदी)।

अब अन्त में हमारे अनुस्वार ᳵ ᳶ या ಀ का उच्चारण जिह्वामूलीय ही

---

१ कात्यायन प्रतिज्ञा ४-१६३-७ अन्तः पदेऽपञ्चमापञ्चमेषु विच्छेदम्' जैसे पद्म = पद्न्। म पद्म्न का विच्छेद विराम द्वारा पद्म = पद् + म। न् विच्छेदीय ध्वनि है। उव्वट ने विच्छेद, नाम यम का बताया है 'विच्छेदो यम इति'।

होता रहा इसका अकाट्य प्रमाण पाणिनि जी के प्रसिद्ध सूत्र 'कुप्वो ≍ क ≍ पौ च' से लीजिये, जिसके अनुसार पुम् + कोकिल, = पु म् + ≍कोकिलः=पुँ ≍ कोकिलः या पुँस्कोकिल, तथा 'नाकम् पुनाति' का 'नाकम् ≍ पुनाति = नाकँ ≍ पुनाति = नाकँः पुनाति' रूप बनते हैं। तथा 'हे मपरे वा' (८-३-२६, २७) से किम् + ह्नुते = 'किँ ह् ह्नुँते', 'कि–हुँ ह्नुते' 'किंः ह्नुते', के समान रूप बनते हैं। यहाँ ं ँ ः के पूर्ववर्ती होने से क प ह ≍ क ≍ प अः में परिवर्तित होते हैं[1]। यह ं ँ ः के जिह्वामूलीय प्रयत्न के प्रभाव का ज्वलन्त प्रमाण है। अन्तःस्थों या स्वरों के पहिले भी ऐसी ही स्थिति आती है। 'अनुस्वार' शब्द का अर्थ है 'स्वर के बाद की ध्वनि', यह सदा स्वर के बाद ही आती है। अतः अन्तःस्थों के पहिले या सन्ध्यक्षरों के पहिले बड़े विचित्र स्वरूप सामने आते हैं। जैसे त्रीन् + एकादश = त्रीम् + एकादश = त्रीँः एकादश = त्रीँ रेकादशः और त्रीन् + एकादशान् = इह = त्रीं रेकादशा ं इह। इह में इ न तो अन्तस्थ है, न सन्ध्यक्षर, अतः ह्रस्व ं रह गया। सम् + वत् = सँ वँ वत्', सम् + यम = सँ यँ यमः; अक्षरम् रक्षति = अक्षरं ≍ रक्षति, अक्षर रँ रक्षति, सम् रक्षति = सं ≍ रक्षति, सँरँ रक्षति; सम् + लिखति=सँः लिखति। सँ + तँ + लिखति सँलँलिखति सँलिँलखति। इत्यादि[2]। सम् + युधि = सयँयुधि, सुवर्णं + लोकं = सुवर्णम् + लोकं = सुवर्णलँलोकम्, यज्ञम् + वस्तु = यज्ञवँवस्तु।

यम का स्थान स्पर्श और नासिक्य के मध्य में होता है, जहां कवर्गीय यम होते हैं वहां तो 'यम' का यमल (जोड़ा-जुड़वाँ) अर्थ ठीक बैठता है, जहां अन्यवर्गीय स्पर्शों के साथ नासिक्य आता है, वहां यम का अर्थ जुड़वाँ न होकर जोड़ीदार होता है। ये यम सब अनुनासिक उच्चारण से बोले जाते हैं। इनका स्थान नासिकामूल वा हनुसमीप या जिह्वामूलीय ही बतलाया गया है 'नासिकामूलेन यमः' (कात्यायन प्रतिज्ञा १-८२)। 'तै० प्रा० (२१-१२-१३) लिखता है कि यम वह है जो पिछले स्पर्श और नासिक्य के मध्य में अनुनासिक यम रखा जाता है। इसी बात की पुष्टि ऋ० प्रा० और अथर्व प्रातिशाख्यों ने भी की है "स्पर्शादनुत्तमादुत्तमापरादानुपूर्व्यान् नासिक्यास्तान् यमानेके' (तै०प्रा० २१-१२-१३)। "ऋ० प्रा० ४-२९-३२— स्पर्शाद् यमाननुनासिका स्वान्परेषु स्पर्शेषु अनुनासिकेषु यमः प्रकृत्यैव सदृक्"।

---

१ "तै० प्रा० ११-१४-हकाराम् न णमपरान् नासिक्यम्।"—"अथर्व प्रा० १-९९-१०० हकारं नासिक्येन" "सर्वसम्मत शिक्षा ४२-हकारमुत्तमेषु परेषु एवं नासिक्यत्वमिहाधिकम्"

२ "कात्यायन वार्तिक—यवल परे यवला वेति वक्तव्यम्" (२६) 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (पाणिनि), "तै० प्रा०—अन्तस्थापरश्च सवर्गमनुनासिकम्" (४-२८)

"अथर्व प्रा० १–९९—समानपदे अनुत्तमाद् स्पर्शादुत्तमे यमैर्यथासंख्यम्"। "शिक्षासंग्रह—अन्त्यस्य च भवेत्पूर्वोऽन्त्यस्य च परतो यदि। तत्र मध्ये यमः तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः'। पाणिनि १–१–६७ 'तस्मादित्युत्तरस्य'। 'का० प्रा० ४–१६३—अन्तः पदे पञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदः' 'उव्वट—विच्छेदः यमः'। का० प्र० और उव्वट के अन्तिम उल्लेख से स्पष्ट पता लगता है कि उक्त तीन व्यञ्जन संयोग वाले यम वाले शब्दों का उच्चारण विच्छेद करके या दो टुकड़े करके किया जाता रहा। जहां पर जैसी स्थिति हो वहां पर उसी के अनुकूल स्वरभक्ति या अभिनिधान का उपयोग किया जाता रहा। जो स्वर अनुनासिक बोले जाते हैं उन्हें ऋ० प्रा० (२–६७) अनुनासिकों की उपधा नाम देते हैं 'अनुनासिकोपधा विवृति'। इनमें विवृतता रहती है। जो मकार स्पर्श परे रहे उसका स्थान भी अनुनासिक ही कहा गया है; जैसे–तै० प्रा० (४–२७) 'मकारः स्पर्शपरस्तस्य सँस्थानमनुनासिकम्'। यही बात फिर दुहराकर पुष्ट करते हुए लिखा है "अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः" तथा 'पूर्वः स्वरः अनुनासिकः' (१५–१)। का० प्रतिज्ञा ने ऋ० प्रा० के मत का समर्थन करते हुये लिखा है "अनुनासिकम् उपधा, स्वरः अश्वपतिः; अनुस्वारेण व्यञ्जने' (३–१३०, १३२)। उव्वट जी ने उपधा के लिए न् को छुड़ाते हुए लिखा है—"अयमुपधा नकारयोरन्तरा भवति'। ऋ० प्रा० ने 'अम् या अँ' की एक उपमा बनाकर ऐ और औ में अ इ, अ उ, के 'अ' की पृथक् श्रुति का स्पष्ट उदाहरण दिया है। 'ह्रस्वानुस्वारव्यतिषंगवत्परे, पृथक्श्रुतौ कारणमेक मिदम्' (१३-४१)। जो लोग, अनुस्वार का प्रयोग ऐसे स्थलों में करते हैं जहां उसकी स्थिति खटकती है उसके बारे में सर्वसम्मत शिक्षा का मत है कि ऐसे स्थलों में वह अपने धर्म से या गुण से च्युत सा दीखता है। 'अत्रानुस्वारोऽपि विधर्मकः' (३२)। ऋ० प्रा० (१३-४१) के यहीं ऊपर दिये उल्लेख से यह भी स्पष्ट झलक रहा है कि इसके मत से का० प्रा० की तरह तीन प्रकार के अनुस्वार थे, ह्रस्व दीर्घ और गुरु ँ ऽ ६। इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुये लिखा है "ह्रस्वमर्धस्वरभक्त्या समासामनुस्वारस्योपधामाहुरेके। अनुस्वारं तावतैवाधिकं च ह्रस्वोपधम्। दीर्घपूर्वं तदूनम्।" (१३-३२)। जितनी ह्रस्वता स्वर में होगी, उतनी ही अधिक दीर्घता अनुस्वार में होगी, जो अर्द्ध स्वरभक्ति का अनुस्वार या ह्रस्व का अनुस्वार है उसे कुछ लोग उपधा कहते हैं। जिस प्रकार घोषीय व्यञ्जनों के साथ के अ को घोषवान् मानते हैं उसी प्रकार घोषवानों के साथ का अनुनासिकों का अनुस्वार घोषवान् होता है, नादवानों के साथ में नादवान्। "आहुर्घोषं घोषवतामकारमेकेऽनुस्वार मनुनासिकानाम्" (ऋ० प्रा० १३-१५)

आजकल पाश्चात्य लोग उक्त अं अम् या ँ ं ꣳ के उच्चारण और स्थान तथा प्रयत्न के लिए जो हम भारतीयों के आधुनिक उच्चारण को आधार बनाने की चेष्टा कर रहे हैं वह मूलतः गलत मार्ग है। हम लोगों के अब के उच्चारण वैदिक काल की उच्चारण विधि से नितान्त भिन्न हो चुके हैं, यह किसी भाषातत्वज्ञानी से छिपा नहीं है, दूसरे आजकल की भाषाओं में पुराने ँ ं ꣳ के बदले जो विकास पाये जाते हैं, उनसे यद्यपि बहुत कुछ सहायता मिल सकती है, पर प्रत्येक भाषा में उक्त अनुनासिक शब्दों में जो लब्ध विकास है, उनके तत्समों को विभिन्नयुगीय स्तरों में अपनाया गया है, अतः ऐसे शब्दों को चुनने में बड़ी सावधानी बरतने की परम आवश्यकता है। जैसे मराठी का 'अहिंसा' के बदले 'अहिवँसा' शब्द है। यह इसी युग में अपनाया हुआ तत्सम शब्द का मराठी के उच्चारण का स्वरूप है। ऐसी तत्समता वैदिक कालीन उच्चारण पर प्रकाश डालने के स्थान में, उनके आजकल के उच्चारण की प्रतिनिधिता से आजकल के उच्चारण शैली में प्रकाश डालती हैं। ऐसे शब्द वैदिक काल से अबतक इतने पूरे रूप में रह ही नहीं सकते। अतः वैदिक काल के उच्चारण की खोज में ँ ं ꣳ के प्रभावों को उसी काल की सन्धियों में टटोलना ही एक मार्ग है, जैसा इस प्रकरण में किया जा चुका है। अनुनासिक और नासिक्य सब विवृत या घृष्ट प्रयत्नीय ध्वनियाँ हैं, यह आजकल इनके यन्त्रात्मक अध्ययन से पुष्ट हो चुका है। उनके ँ ं ꣳ रूप ऊष्म थे इसकी पुष्टि में पिछले दो-तीन परिच्छेदों के स्पष्ट प्रमाण सामने हैं, अतः इनका वास्तविक उच्चारण तदनुकूल ही रहा होगा, उनके स्थान और करण तथा प्रयत्न वैसे ही रहे होंगे जैसा, इनके प्रामाणिक उच्चारणकर्ताओं ने वैज्ञानिक रीति से दिये हैं, इसमें तिलभर भी सन्देह के लेश का अवकाश नहीं रह जाता। इस बात की पुष्टि में एक अकाट्य प्रमाण यह है कि जिन जिन स्थानों पर वैदिक काल में ँ ं ꣳ थे उनकी जगह प्राचीन (तद्भव) प्राकृत शब्दों में इनके पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो गये हैं जो इनकी ऊष्माणता तथा अभिनिधानता, स्वरभक्तिता, विच्छेदता के विकासों के ज्वलन्त प्रमाण हैं। कु० चानणि, हि० चाँदनी (चन्द्रः), बाँध—बन्ध ; कु० कान्० हि० कन्धा (स्कन्ध) ; कु० षाण्-साँड (षण्ड), कु० बाण्, बाँट (वण्ट), कु० काँण् काँटा (कण्टक) आदि।

१७ अध्याय

(१) ह, अः ×क और ×प

हकार के बारे में इसकी 'घोषता', 'मध्यस्वरता', और घोषियों में सम्मिश्रता आदि आदि का विस्तृत विवेचन 'श्वास नाद घोष का भेद और अल्पप्राण महाप्राण का अन्तर' तथा 'संवृत 'अ'' के प्रकरणों में दिया जा चुका है। अब इसके स्थान, करण, प्रयत्न और उच्चारण विधि का दर्शन शेष रह गया है। सबसे पहिले ऋ० प्रा० ने लिखा है कि ह कंठस्थानीय है, पर दूसरे का मत देते हुये कहा है कि कुछ लोग इसे औरस्य या कोष्ठ्य या कंठनलीय मानते हैं। उरस्य फेफड़े से निकलने वाली वायु या प्राण या श्वास से सम्बन्ध रखता है। तै० प्रा० लिखता है कि ह कण्ठस्थानीय तो है, पर दूसरों का मत प्रगट करते हुये कहता है कि कुछ लोग इस ध्वनि को स्वतन्त्र ध्वनि न मानकर, इसे इसके अन्त में आने वाले स्वर का अंग मानते हैं। दूसरे मत की पुष्टि में ऋ० प्रा० ने अशुद्ध उच्चारणों की सूची में ठीक यही बात कह डाली है। ऋक्तन्त्र व्याकरण ह को कण्ठ्य ही मानता है, पर पाणिनि-शिक्षा दो बातों को दो ढंग से स्पष्ट करती हुई लिखती है कि जब हकार पंचवर्गीय व्यञ्जनों और अन्तःस्थों से संयुक्त रहता है तो इसका स्थान औरस्य या कोष्ठ्य होता है, जब यह स्वतन्त्र या स्वर उष्माण युक्त रहता है तो इसका स्थान कण्ठ्य है। सर्वसम्मत शिक्षा उक्त सबसे आगे बढ़कर लिखती है कि ह चाहे अन्तःस्थों के साथ आवे या पञ्चमों के साथ, (ङ् ञ् ण् न् म् ᳲ ᳳ ᳵ) या किसी और के संग, इसका स्थान औरस्य या कोष्ठ्यीय ही है। त्रिभाष्यरत्न टीका ऋ० प्रा० के या तै० प्रा० के दिये हुये दूसरे मतों की पुष्टि में कहता है कि हकार का कोई करण है ही नहीं; अतः यह स्वतन्त्र ध्वनि भी नहीं है। एक और टीकाकार हैं जो कहते हैं कि इसका करणाभाव मानना अवैज्ञानिकता है, क्योंकि करणाभाव से इसका उच्चारण देवता भी नहीं कर सकेंगे। लीजिए इनके उद्धरण ये हैं:—"ऋ० प्रा० १-३९,४०—कण्ठ्योऽकारः, प्रथमपञ्चमौ द्वा ऊष्मौ च (ह अः) केचिदेतौ उरस्यौ"; । तै० प्रा० २-४६-८—कण्ठ्यस्थानौ ह-कार विसर्जनीयौ; उदयस्वरादि सस्थानो हकार एकेषाम्"; । "ऋ० प्रा० १४-३०— हकार ; सोष्मोपहिताकाराद्धकाराद्वा सर्वसोष्मोष्मपूर्वात् । तत्स्थानं पूर्वमूष्माण माहुस्तुच्छ्यान्दद्धयाऽऽपृच्छ्यमृभ्वाह्वयेऽह्यः" । "ऋक्तन्त्रव्याकरण २-३—'हः कण्ठे'; । "पाणिनिशिक्षा (१६)—'हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम् । औरस्यं तं विजाजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्" । "सर्वसम्मत शिक्षा (४२)

'हंकारमौरस्यं विद्यात् अन्तःस्थासु परासु च । उत्तमेषु परेष्वेवम्"; । "त्रिभाष्यरत्न—"अनयोः करणाभावः"; । "टीकाकारः——अन्यस्थाने——देवैरपि न शक्यमुच्चारयितुम्" ।

'ह' की स्थिति का समीचीन वैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित करने के लिए यहां पर एकाएक, एक बड़ी महत्त्वपूर्ण, वैज्ञानिक समस्या को सुलझा देने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है, जो पौर्वात्यों और पाश्चात्यों दोनों की आँखों में एक नवीनतम ज्योति देने वाले सुरमे का काम करेगी । हमारे भारतीय पद्धति के विद्वानों के मुख से यह सुनकर कि व्यञ्जनों का उच्चारण स्वरों के बिना नहीं हो सकता, पाश्चात्य लोग बहुत दिन तक चक्कर में पड़े रहे । लिखा है 'व्यञ्जनं स्वरांगम्' (ऋ० प्रा० २१-१-९); 'व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम्' (का० प्र० १-१०७) आदि । जब वेस्टरमान और वार्ड ने 'अफ्रिकन भाषाओं का प्रायोगिक ध्वनितत्त्व विज्ञान' नामक ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया तो उन्हें चार या पांच व्यञ्जन एक साथ बिना स्वर के मिले 'त्फ्क्त्' 'ङ् ग् ङ् ग् ङ्' । तब उन्होंने अंग्रेजी में सन्धिपूर्वक शीघ्रता से बोले जाने वाले शब्दों को खोजा तो 'द् न् ब्' (ब्रैड् एण्ड बटअ = ब्रै'ड्न्'बटअ) जर्मन के—'ड्रश् कान् न्न्इष्ट सेइन' (न् न् न् + इ) आदि मिल गये । तब उन्होंने मन में फूलकर भारतीयों की धारणा का खंडन करते हुये लिखा कि भारतीयों का यह कहना गलत है कि बिना स्वर के व्यञ्जनों का उच्चारण नहीं हो सकता' (पृष्ठ २० नियम ३९ देखें) । जिन पौर्वात्यों ने पाश्चात्यों को उक्त नियम को स्वयं न समझ कर बर्गलाया, उन्होंने हमें पाश्चात्यों से ऐसी भद्दी आलोचना सुनने का लज्जाजनक अवसर प्रदान किया । उक्त उल्लेखों में जहां 'व्यञ्जनं स्वरांगम्' या 'व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरं' कहा है वहां इनके लेखकों का व्यञ्जनों की उच्चारण की कठिनता बतलाने से कोई भी सन्दर्भ है ही नहीं । वे तो यहां पर 'पद' की व्याख्या कर रहे हैं, वे कह रहे हैं कि एक पद केवल अ या किसी स्वर का होता है, यदि उनसे व्यञ्जन पूर्व या पर में आवे तो उस स्वर के पद के वे व्यञ्जन पूर्वांग या परांग होते हैं, बस । दूसरे में तो यही बात दूसरे ढंग से कही गई है । व्यञ्जन, स्वर के साथ हो तो वह सस्वर पद कहलाता है । अतः यह मानना गलत है कि पंचवर्गीय २० व्यञ्जनों का भी उच्चारण बिना स्वर के नहीं हो सकता; क्योंकि स्वर समान उच्चारण वाले व्यञ्जनों के साथ इन २० व्यञ्जनों का उच्चारण बिना स्वर के भी हो सकता है ।

(२) ऊष्म

बात यह है ह अः अं (‍ँ ँ ँ) ᳵक ᳵप श ष स ये आठों कहलाते

हैं 'ऊष्म'। ऊष्म माने होता है 'गरम भपका', वैसा भपका जैसा डेगची या बटलोई के मुख में पकाने के समय रखी हुई हलकी तस्तरी, भाप के जोर से ऊपर उठ कर, बटलोई से एक किनारे से उठ कर धीरे से ऊपर नीचे होती है, पर बटलोई को उस ओर से उस समय छूती नहीं; भार दूसरी ओर दबाता है तो उस सन्तानीय उत्थान-पतन से (अस्पष्ट उत्थानपतन से) एक ध्वनि गरम भपके की आती है। ठीक ऐसी ही परिस्थिति उक्त आठ ध्वनियों के उच्चारण में हमारी जिह्वा की होती है, विशेष कर ᳵ क ᳵ प श ष स में। अतः कहा है "स्वरानुस्वारोष्माणामस्पष्टं स्थितम्' (उव्वट—यत्र वर्णस्थान-माश्रित्य जिह्वा अवतिष्ठते तत्स्थितम्), 'नैके कण्ठस्य स्थितमाहुरूष्मणः' (स्पृष्टं अस्थितम्) (ऋ० प्रा० १३-९, ११)। 'कण्ठ्यानामाधारः कंठः' (अथर्व प्रा० १-१९); 'विवृतं ऊष्माणानामिषदित्येवानुवर्तते' (महाभाष्य पतंजलि १-१-४ पा० १-१-१०);, 'नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः' (पाणिनिशिक्षा ३८); 'ऊष्माणां विवृतं च स्वराणां च,' (आपिस्थली शिक्षा १-२९-३२)। "स्पर्शस्थानेषूष्माणामानुपूर्व्येण, (ऊष्माणां) करणं तु विवृतम्' (तै० प्रा० २-४४,४५)। "षकीरस्य द्रोणिका' (अथर्व प्रा० १-२३)। 'कंठस्थानौ हकार-विसर्जनीयौ, उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषां, पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः, नासिक्या नासिकानां, वर्गवच्चेषु' (तै० प्रा० २-४६-५१)। "अर्द्धस्पृष्टं" (याज्ञवल्क्य शि० २०९)। इनका अर्थ यह है। "स्वर उष्माण अनुस्वार इन तीनों प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में अर्द्धेन्दु के द्वार खुले रहते हैं, जिह्वा मुख के किसी भाग में स्पर्श नहीं करती, जहां पर जिह्वा का अंग प्रयत्न करता है वह अंग बिना स्पर्श किये स्थिर सा रहता है, कुछ लोग कहते हैं कि ऊष्मों के उच्चारण में अर्द्धेन्दु के द्वार भी स्थित या स्थिर नहीं रहते। (अस्थित माने क्षणिक स्पर्श है, स्थित माने तारतम्य से अस्पर्श है)।" "कंठीय ध्वनियों का आधार (उच्चारण का) कंठ है।" "ऊष्माणों के उच्चारण में अर्द्धेन्दु द्वार कुछ खुले रहते हैं। "शषसह में ईषत् विवृत प्रयत्न होता है" "स्वरों और ऊष्माणों के उच्चारण विवृत कंठ से होते हैं"। "ऊष्माणों का विवृतत्व करणत्व अपने अपने स्थान में होता है।" "स के उच्चारण में जिह्वा चौड़ी अर्घपात्र सी बनती है या कढ़ाई सी।" "हकार विसर्ग का स्थान कंठ है, हकार और प्रथम स्वरों का स्थान आदि है, ह का उच्चारण, स्वरों की ध्वनि से पहिले आती है, विसर्ग के बाद में, नासिक्यों का वर्गानुसार स्थान में प्रयत्न होता है"।

उक्त उल्लेखों से यह बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे ध्वनितत्व शास्त्री अनुस्वार और आठों ऊष्मों के उच्चारण में अर्द्धेन्दु या वर्गीय स्थानों में करण

की ठीक वैसी ही विवृतता या खुलापन मानते हैं, जैसी स्वरों के उच्चारण में (संवृत अ को छोड़कर)। जिससे यह स्पष्ट है कि नासिक्यों (ङ् ञ् ण् न् म्) ए ९ ६· और ऊष्मों के उच्चारण में और स्वरों के उच्चारण में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इनकी ध्वनियों में सहायक ध्वनि की या स्वरों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। ये तानीय या सन्तानीय या तारतम्यीय ध्वनियाँ हैं। पाणिनि जी ने 'ह्' को माहेश्वर सूत्रों में अन्तःस्थों में इसीलिए स्थान दिया है (हयवरट्, लण्)। अन्तःस्थों में भी प्रथम स्थान दिया है जिससे हम इसे स्वरों के अन्त में भी मान सकते हैं। इसकी पुष्टि में विसर्ग को लीजिए। विसर्ग सदा शब्दान्त या वाक्यान्त में आते हैं। उसके उच्चारण के लिए क्यों कोई स्वर नहीं जोड़ा जाता। विसर्ग के माने ही, विसर्जनीय (त्यागीय नहीं) या अन्तिम विरामीय ध्वनि या अन्तःस्थ य् व् सम फिसलन् वाली स्वररूपिणी स्वयम् उच्चरणीय ध्वनि है। इसीलिए इसका उ बनकर ओ भी होता है (संधि में)। और यह शब्दान्त यां वाक्यान्त का विरामसूचक ध्वनि है, सदा बिना स्वर के उच्चरित होती है। बड़ी उल्लेखनीय बात तो यह है कि ये विसर्ग सन्धि स्थल में स्वर में (ओ, में) बदल जाते हैं, स ष् श र् भी होते हैं, इनका स्वर में बदलना ही यह प्रत्यक्ष रूप से पुकार कर कह रहा है कि 'विसर्गः' स्वर के समान है। स् का भी 'ओ' होता है, वह भी स्वर जाति का हुआ। ये दोनों र् में भी बदलते हैं। र् स्वर भाक्त भी है, ऋ का रूप भी, वह भी स्वरात्मा हुआ। आजकल हम समझते हैं कि हमारी भाषा से विसर्जनीय ध्वनि लुप्त हो गई है। यह गलत है। जहाँ ह्रस्वस्वरान्त शब्द का प्रयोग वाक्यान्त या शब्दान्त में होता है, वहाँ हम कुछ विरामीय ध्वनि अवश्य छोड़ते हैं। पर आधुनिक भाषाओं में ऐसे ह्रस्व स्वरान्त शब्द कम हैं। ये शब्द इसी विरामीय ध्वनि के बल से दीर्घान्त हो गये हैं, दीर्घान्त में विसर्ग संस्कृत में कम थे, दीर्घान्तों में विसर्जनीय ध्वनि की आवश्यकता ही कम पड़ती है, शेष जिन शब्दों को हम 'राम' सा लिखते हैं वे व्यञ्जनान्त हैं 'राम्' से हैं। म् अनुनासिक है। अतः स्वयम् स्वतन्त्र उच्चारण रखता है। पदान्त वाक्यान्त के व्यञ्जनों को तृतीय वर्णों में (ग् ज् ड् द् ब्) में बदल दिया जाता है जो नादवान् घोषवान् हैं। यही इनकी व्यक्ति का कारण हैं। इसके समर्थन में 'वैदिकाभरण' नामकी तै० प्रा० की टीका ने एक महत्वपूर्ण विचार प्रगट किया है कि 'पदान्त या शब्दान्त का व्यञ्जन, अपने पूर्व के स्वर को दीर्घ तो बनाता ही है, पर साथ में, स्वरितादि स्वरों के अन्तिम भाग को अपनाता है, यदि ऐसे व्यञ्जनों को कुछ अधिक काल न दिया जावे तो उनका उच्चारण करना ही सम्भव नहीं होता। "तदनुदात्तसमत्वं कश्चित्स्वरितस्वरेषु न भवति,

किन्तु तदंगभूतेषु व्यञ्जनेषु एव, तानि स्वरितग्राही णीत्युच्यन्ते, तेषां कालाधिकं विनोच्चारणं न घटते" (तै० प्रा० १-३७)। यह तो हैं स्वीकृत सिद्धान्त।

(३) अयोगवाह

हमारा यहाँ पर अन्य व्यञ्जनों से मतलब न होकर, केवल ऊष्माण और नासिक्यों से है। ह को छोड़कर शेष सात ऊष्माणों और नासिक्यों को पाणिनिशिक्षा (५, २२) ने एक बड़ा रहस्यपूर्ण नाम दिया है। लिखा है कि ये 'पराश्रय' हैं अर्थात् दूसरी ध्वनियों के स्थान पर स्थित प्रयत्न करते हैं, (पराधीन नहीं)। दूसरे इनको बड़ी विचित्र पदवी 'अयोगवाह' नाम की दी है "अनुस्वारो विसर्गश्च ᳲकᳲपौ चापि पराश्रयौ।" "अयोगवाहा उच्यन्त आश्रय-स्थानभागिनः"। 'अयोगवाह' शब्द का क्या अर्थ है इस पर पतञ्जलि जी कहते हैं कि ये बिना सूची (माहेश्वर सूत्र) में गिनाये हुये भी, भाषा और साहित्य में बिना जोते हुये से सुनाई और दिखाई पड़ते हैं। "कथं पुन-रयोगवाहा इति यदयुक्ता वहन्त्यनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते" (१-१-२ म० भाष्य) कैयट ने यह समझकर कि—इन को माहेश्वर सूत्रों में युक्त नहीं किया गया है अतः 'अयोगवाह' कहे गये हैं—लिखा है 'अयुक्ताः प्रत्याहारलक्षणेन'। पाणिनि शिक्षा की पञ्जिका नाम्नी टीका कुछ और ही कहती है कि जिनका अन्य वर्णों से संयोग नहीं होता, उन्हें 'अयोगवाह' कहते हैं 'न विद्यते योगः संयोगो वर्णान्तरेण येषाम्'। कात्यायन प्रतिज्ञा भी इन्हें 'अयोगवाह' ही नाम देती है, उव्वट ने टीका में एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है कि ये ध्वनियाँ अकारादि वर्णों के योग से ही प्रयुक्त होते हैं अतः अयोगवाह कहलाते हैं। अ = अकारदि स्वर व्यञ्जन। "अकारादिना वर्ण समाम्नायेन संहिताः सन्त एव वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्तीत्ययोगवाहाः"। कई लोगों को इस शब्द का ठीक-ठीक अर्थ न लगा तब उन्होंने 'अयोगवाह' की जगह 'योगवाह' शब्द कर भी दिया है (वेबेर, प० स० स० शास्त्री), तथा अमरेषी शिक्षा भी 'संयोगवाह' शब्द का प्रयोग करती है। ऋक्तन्त्रव्याकरण मे लिखा है कि अयोगवाह माने पराधीन वर्ण तथा योगवाह माने अन्य वर्ण है।

(४) 'अयोगवाह' शब्द के वास्तविक तीन अर्थ

यदि लेखक पर भरोसा किया जाय तो 'अयोगवाह' शब्द की जितनी व्याख्यायें उक्त आदि से अन्त तक के लेखकों ने देने का प्रयास किया है वे सबकी सब अपनी-अपनी मनगढ़ंत कोरी काँव-काँव ही हैं। इस शब्द के सन्दर्भ की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया है, पाणिनि जी ने इनमें से बहुतों को तो क्या ᳲक ᳲप, ँ ँ ः केवल तीन को नहीं दिया है। शेष

विसर्ग (प्रथम हयवरट् का ह्) ह (हल् का ह) ञमङणन का तो स्पष्ट उल्लेख दिया है। इनमें भी अनुस्वार और ⤫ क ⤫ प का निर्देश सूत्रों में आ गया है (कुप्वो ⤫ क ⤫ प्वौ च, 'यरोऽनुनासिके वा' 'मोऽनुस्वारः' । तब यह कहना कि पाणिनि जी ने इनका निर्देश नहीं किया है सरासर गलत है। ऋ० प्रा० ने ⤫ क ⤫ प और अनुस्वार को यमों में यह कहकर नहीं दिया है कि ये क् प् म् के सरूप हैं, अतः उसने यम सात माने हैं (क ख ग घ ⤫ क ⤫ प अं) पर गिनाये केवल चार (क ख ग घ) ही हैं "सप्त यमानि वाचः" पर फिर लिखा 'सरूपैश्चत्वार एव'। यही पद्धति पाणिनि जी ने भी अपनाई है उन्होंने क्या नई बात की ? वास्तव में 'अयोगवाह' शब्द ऊष्माणों अनुस्वार और नासिक्यों का एक नाम है, इस नाम देने का मुख्य कारण कुछ और ही है (१) तै० प्रा० ने लिखा है, और सभी शिक्षाओं और प्रातिशाख्यों ने स्वीकार किया है कि स्वरों को संज्ञा में बोलने के लिए 'कार' शब्द जोड़ो, व्यञ्जनों से अकार; पर विसर्जनीय जिह्वामूलीय (⤫ क ह) उपध्मानीय (⤫ प) अनुस्वार और नासिक्यों के आगे न 'कार' जोड़ा जाता है न अकार, इनको बे'कार' छोड़ दिया जाता है, ये छोड़े साड़ों की तरह स्वतन्त्र छोड़ दिये गये हैं। इन्हें 'कार' 'अकार' के जुवे से रहित कर दिया गया है। अतः ये अयोगवाह हैं अर्थात् 'कारादि' योग को नहीं वहन करते'। (२) दूसरी ओर 'अयोगवाह' माने 'छोड़े साँड' की जैसी इनकी प्रकृति भी है, किसी स्वर या अन्य व्यञ्जन के उच्चारणरूपी खेत या दुकान में इन्होंने (ऊष्मादियों ने) असावधानी देखी नहीं, फुर्ती से लपक कर ही, एकदम ऐसा झपटते हैं कि कोई ध्वनि ऊष्म कोई अनुनासिक अपने आप होकर सुनने वाले (मालिक) के कान खड़े कर देते हैं। ये दोनों हैं इनकी 'अयोगवाहकतायें'। (३) तै० प्रा० १-१५, १६, १७—अकार व्यवेतो व्यञ्जनानाम्, वर्णकारोत्तरो वर्णाख्या, "न विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारा नासिक्यानाम्" इसका यह तात्पर्य हुआ म् को मकार न् को न कार आदि जो हम बोलते हैं वह बिलकुल अशुद्ध है। हमें म् न् ङ्, ञ्, ण्, ॅ, ँ, ः, श्, ष्, स्, ह्, ⤫ क्, ⤫, प्, आदि का उच्चारण अयोगवाहता के साथ या स्वतन्त्रता के साथ या इन्हीं को पृथक् पृथक् बिना कार या अकार या किसी स्वर की सहायता से करना चाहिए। शेष व्यञ्जनों (२० वर्गीय व्यञ्जनों) में अकार अवश्य लगाना चाहिए। इसके पुष्ट समर्थन में यहां पर यह याद दिला देना आवश्यक है कि अनुस्वार के तीन भेद हैं ह्रस्व, दीर्घ और गुरु। ये भेद तो स्वरों के समान हैं यह पहिले बताया जा चुका है। इसी प्रकार अन्य ऊष्माण और नासिक्यों को भी केवल ह्रस्व ध्वनि

में ही नहीं वरन् दीर्घादि ध्वनि में भी सन्तानित किया जा सकता है। अतः 'अयोगवाह' शब्द का वैज्ञानिक और ध्वनिशास्त्रीय-सम्मत अर्थ है 'सन्तानित ध्वनि' या 'सन्तान' या 'तान् की ध्वनि' जिसमें लगाम नहीं हैं, इनके उच्चारण में लगा के लगाम लगानी पड़ती है; नहीं तो ये बह जाते हैं; अतः 'अयोगवाह ध्वनियाँ' हैं। सचमुच आजकल के पाश्चात्य ध्वनिशास्त्री नासिक्यों को 'सन्तानित ध्वनि' या सन्तानीय या तानीय ध्वनि नाम से पुकारते हैं। हम नासिक्यों, अनुस्वार और ऊष्माणों को सबको 'सन्तानीय या तानीय' ध्वनि शब्द के बदले सर्वोत्तम नाम 'अयोगवाह' कह कर ही पुकारें तो कितना अभीष्ट कितना यथेष्ट, कितना सार्थक तथा कितना मीठा न लगेगा। धन्य उसकी प्रतिभा को जो हमें ऐसा कोहिनूर मणि समान अमूल्य शब्दरत्न दे गया, जिसे हमारे भाष्य टीका-टिप्पणीकार कांच की गोली समझ कर उसकी (अर्थ की, बच्चों के समान) गोली सी खेलते रहे जिसके उक्त तीन अर्थ छोड़, चौथा नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है।

अब अपने प्रस्तुत विषय पर पुनः पदार्पण करें। 'संवृत अ' की विवेचना में विसर्ग, 'ह' तथा 'अ' के श्वासीय प्राण, घोषीय प्राण तथा नादीय प्राण (क्रम से) होते हैं; यह स्पष्ट किया जा चुका है। ये तीनों ध्वनियां विभिन्न प्रकार की श्वासों की अवस्थायें हैं, (१) विसर्ग में अर्द्धेन्दु पूरा खुला रहता है, विवृत है, (२) ह में वह मध्यम रूप से विवृत रहता है. (३) अ में वही संवृत या बन्द रहता है। स्वरों में वह ईषद् विवृत रहता है (हकार से कम)। इन अवस्थाओं को दृष्टि पथ में रख कर 'ह' अर्द्धेन्दु के मध्यम रूप में विवृत रहने से कण्ठ्य तो हुआ ही, पर इस कंठ पर कुछ न कुछ प्रभाव श्वास नली या कोष्ट या उदर की प्रक्रिया का भी है, अतः उदर भी ह का स्थान अवश्य हुआ। अन्य ऊष्माणों और नासिक्यों के उच्चारण में आभ्यन्तर ताल्व्यादि पर स्थित प्रयत्न होता है, पर विसर्ग और 'ह', ऐसी अबाध शुद्ध ध्वनियाँ हैं जो संवृत अ की कोटि में आ सकती हैं। जिस प्रकार सब नादों में 'अ' श्रुति की विद्यमानता मानी जाती है वैसे ही विवृत स्वरों, और घोषियों में ह की ध्वनि की विद्यमानता रहती है। तथा उसी प्रकार सभी ऊष्मों और नासिक्यों तथा वर्ग के प्रथम द्वितीय वर्णों में (ध्वनियों में) विसर्ग ध्वनि की सदा विद्यमानता रहती है, ह और विसर्ग की ध्वनियों की विद्यमानता के माने उनके घोषवान् तथा अघोषवान् (क्रमसे) श्वासों की विद्यमानता समझनी चाहिए। यह सूचित किया जा चुका है कि विसर्ग या विसर्जनीय का प्रयोग पदान्त या शब्दान्त में होता है। आधुनिक आर्य भाषाओं के ह्रस्वस्वरान्त पदों या शब्दों के अन्त में अब भी विसर्जनीयता की कुछ ध्वनि खींची जाती है। सन्धि स्थलों

में इस विसर्जनीय ध्वनि का परिवर्तन स्वर में (ओ) या स्वरभक्ति (र्) में, स्वरादि के पूर्व में इसका लोप भी होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कृते + एवम् = कृतः + एवम् 'कृत एवम्' और रामः आगच्छति = राम आगच्छति। ये विसर्ग श् ष् स् र् में भी बदलते हैं। ये सब इसके अपने ही विशिष्ट रूप, विशिष्ट करण और स्थान वालों के संसर्ग से होते हैं। ये परिवर्तन ध्वनि तत्व शास्त्र के सन्धि भागीय सिद्धान्तों के वैज्ञानिक फल हैं। इनमें उच्चारण का स्वाभाविक नियम इस प्रकार के नये रूपों में ढाल देता है, कि ये ध्वनियाँ नई सी लगती हैं। विसर्ग सन्धि के वर्गवत् स्वरूपों की सत्ता रूप श् ष् स् र् ये सब स्वतन्त्र ध्वनियां भी हैं यह सब इस विसर्ग की बहुरूपिया 'अयोगवाहता' है। इस अयोगवाहता की कलई तब खुलती है जब सन्धि विच्छेद कर दिया जाता है, तब उक्त सब बाहरी भेष के रूपों को उतार कर वह फिर 'पुनर्मूको-भव' सा हो, अपने स्वरूप में आ, विसर्ग का विसर्ग ही हो जाता है। विशेषता तो यह है, श ष स र् अपना बदला चुकाने के लिए जैसे, सन्धि स्थलों में कहीं कहीं विसर्ग का भी रूप धारण करते हैं, प्रायः क प और इन्हीं श् स् ष् र् के आगे आने पर (निस् + सन्देह = निस्सन्देह या निःसन्देहः), ऐसी करते हैं ये अदला बदली, स् तो विसर्ग को स्वरता की होड़ में अपना सत्व खोकर विसर्ग बन, ओ' स्वर तक में बदल जाता है।[1] ऐसी है इनमें होड़ाहोड़ी या एकात्मीयता, स्वरता या ऊष्मता जो पग पग पर अपना रूप बदल बदल कर चक्कर में डालती रहती हैं। पर ये सब परिवर्तन ध्वनितत्त्व और ध्वनि विकास दोनों नियमों से ऐसे जकड़े हैं या सत्य सिद्ध रूप हैं कि तत्तद् स्थलों में दूसरा रूप हो ही नहीं सकता, यह इनकी परम वैज्ञानिक भित्ति भी है। ये ध्वनियाँ सोष्मों को ऊष्मता, और घोषियों को 'ह' की हकारता जिस निराले ढंग से प्रदान कर उनमें एकदम घुलमिलकर वर्णसमाम्नाय के परिवार की अद्भुत अघट वृद्धि करते हैं वह तो पहिले बतलाया जा चुका है (दे० श्वास नाद घोष में भेद और अल्पप्राण और महाप्राण में अन्तर' पीछे 'वर्ण समाम्नाय')। अतः ऊष्माण तो हमारे वर्ण समाम्नाय की आत्मा है, बल हैं क्या नहीं हैं? सब कुछ हैं। इन्हीं बातों को दृष्टि पथ में रख कर ऋक् प्रातिशाख्य ने ग्रन्थारम्भ में ही कहा है "प्राणः सकारो यच्चबलं णकारः' (१-१-१) और ऐतरेय आरण्यक लिखता है 'य ऊष्माणः स प्राणः' 'सकारः प्राण आत्मा' (३-२-४,६)। इन्हीं के परस्पर के होम से या विनियोग से

१. उक्त सन्धिनियमों के प्रचारक प्रातिशाख्यकार तथा अग्निवेष, बाल्मीकि, शाकल्य है। शाकटायन पदान्त में ही विकार मानते हैं, तै० प्रा० ९-४ का० पू० ३ का ह्रौ० प्रा० ९-५, का० प्र० ३-१०, पा० ३-३६।

वर्ण समाम्नाय की सृष्टि होती है "वाक् प्राणयो र्यच्च होमः परस्परम्' 'अष्टौ वर्णाः' आदि (ऋ० प्रा० १-१-१)। अनुस्वार तो उक्त वर्ण समाम्नाय में नया रंग और दिव्य राग जमाता है, यह भी बतलाया जा चुका है (दे० अनुस्वार ॐ ँ ६· पीछे)। यह है दिव्य ऊष्माणों की अद्भुत कहानी। ऊष्माणों के अशुद्ध उच्चारण को 'लोमस्य' (कठोर ध्वनि या ह् की जैसी मोटी ध्वनि) और च्वेडन ('ष्वी' की सी सांप की सी ध्वनि तीव्रता से करना) बतलाया है। प्रथम श् ष् में द्वितीय 'स्' में प्रयुक्त हो सकता है। इससे पता लगता है कि ऊष्माणों का उच्चारण विविक्त रूप से निश्चित था; स् कहने में हम प्रायः 'स्वी' की सी सांप की सी ध्वनि निकाल बैठते हैं। श् ष में श्वास को नाद में कह देते हैं। तब कहा है 'सोष्मोष्मणामनुनादोऽप्यनादो लोमश्यं च च्वेडन-मूष्मणान्तु' (ऋ० प्रा० १४-६)

(५) ᳵक और ᳵप

आजकल के संस्कृतज्ञ विद्वान् यह सोचते हैं कि ᳵक और ᳵप ध्वनियाँ वैदिक और शास्त्रीय सँस्कृत में देखने को प्रायः नहीं मिलतीं। उनका ऐसा सोचना, 'कन्धे में ग़मछे को रखते हुये सारे संसार में गमछे की खोज में हल्ला मचाने वाले की घटना' के समान है। वे दिन भर में कई बार 'सँस्कृत' शब्द का उच्चारण करते हैं; क्या कभी किसी ने इस 'सँस्कृत' शब्द की रचना पर भी विचार किया? यह किस धातु से किस प्रकार व्युत्पादनीय है? यहाँ पर जो व्युत्पत्ति दी जायेगी वह ध्वनिशास्त्रीय स्वाभाविक उच्चारणानुकूल विवशता के साधारण नियमों का अनुसरण करके प्रस्तुत की जायेगी, जिसका हल, शब्दानुशासनकार ध्वन्यात्मक या ध्वनि-विकास की स्वाभाविक सरणि के व्याख्यान को ताख में रखकर सीधे आगम लोप या प्रत्यय लाकर ऐसी रीति से करते हैं कि वे सब वैज्ञानिक तुलाङ्कन में बेतुकी सी लगती हैं। पर इन आगमादिकों का विश्लेषण ध्वन्यात्मक और ध्वनिविकासात्मक नियमों के क्षेत्र से कहीं भी बाहर नहीं जाता। आगमादिकों को जबरदस्ती लगाया मानना, बड़ी भूल है, और यह शैली अवैज्ञानिक है, इसमें भी सन्देह नहीं। अतः यहाँ उसे अलग ही रखा जावेगा। हमारे सामने, तीन शब्द हैं, शंकर, संकर और सँस्कृत; जो शम् + कृ, सम् + कृ, सम् + × कृ से बने हैं। शंकरण संकरण सँस्करण; शंकार, संकार सँस्कार। अब देखना यह है कि प्रथम दो में स् बीच में क्यों नहीं आया, नही तो 'संस्कृत' का रूप भी 'संकृत' होना था, क्यों कि ध्वन्यात्मक और ध्वनिविका-रात्मक परिस्थितियाँ सब रूपों में एक ही हैं। यहाँ पर 'सँस्कृत' शब्द में

बीच में स् का आगम किसी भी भाव में नहीं बिक सकता। तब यह निश्चित है कि 'संस्कृत' शब्द का मौलिक धातु 'संकर' और 'शंकर' इन दो शब्दों के धातु से बिलकुल भिन्न है, यह भिन्न धातु 'ष्कृ' है जिसका अर्थ 'बीनना' 'सुधारना' 'छूँटना' है। यहाँ 'ष्कृ' हमारा ऊष्म या ऊष्माण ᳲक है, कई प्रातिशाख्यों ने ᳲक को 'ष्क' लिखा भी है। अब सम्+ष्कृ+से सँस्कृत, सँस्कार शब्द अपने आप ध्वन्यात्मक और ध्वनिविकासात्मक रीति से बन गये। इसी प्रकार परिकर और परिष्कर परिष्कार शब्दों में परि+कृ=परिकर, तथा परि+ष्कृ=परिष्कर परिष्कार भी बने हैं। अब 'तस्कर' शब्द को लीजिये। लोग कहते है 'तत् करोतीति तस्करः'। पर स् कहाँ से आया? इस व्युत्पत्ति से 'तत्कर' शब्द होना चाहिए। यहाँ भी तत्+ष्कृ='तत्स्करः' शुद्ध रूप है जिसका उच्चारण 'तस्करः' सा हमें सुनाई पड़ता है, पर ध्वन्यंकन यन्त्र में इसका उच्चारण 'तत्स्कर' ही होता है, भगवान्त्सम (भगवान्+सम) इस रूप का विरादर है। तमाशा देखिये आगम करनेवाले 'तस्कर' में स् आगम मानते हैं और भगवान्त्सम में त् का। पर उसी त् का 'तत्स्कर' में लोप कर देते हैं। ये सब उच्चारणानुभूति के सूक्ष्म मर्म हैं, सच्चे स्वाभाविक और वैज्ञानिक नियम हैं। इनके विवेचन के लिए आगम लोप आदि शब्दों का प्रयोग 'ठग' का काम करते हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि हमारा ᳲक, ऊष्माण स्कन्ध स्कम्भ आदि सब धातुओं में विद्यमान है। क के पीछे ऊष्माण स के माने ही यह होते हैं कि यह क् की ऊष्माणता का प्रतीक है। अतः स्कन्ध=ᳲकन्ध, स्कम्भ=ᳲकम्भ। सचमुच प्राचीन प्राकृतों में कन्ध कम्भ ही रूप रह गये थे जो अब 'कन्धा' और खम्भा (ᳲक्=क्ᳲ (विपर्यय) =क्स्=ख) हो गये हैं।

(६) 'क्ष'

यहाँ पर हमारी सिद्ध ध्वनि 'क्ष' पर विचार करने का योग्य अवसर आ गया है। क्षमा, क्षर, क्षार, क्षीर, क्षुब्ध, क्षिपति, क्षेप, क्षोभ आदि; अक्षि, मक्षि, भक्ष, रक्ष, आदि; राक्षस, प्रक्षेप आदि शब्दों द्वारा पता लगता है कि यह सिद्ध ध्वनि पदादि पदमध्य और पदान्त सर्वत्र विद्यमान है। अतः यह वर्ण सामाम्नाय का अङ्ग बहुत पहिले ही से था। परन्तु किसी भी प्रातिशाख्यकार ने इस ध्वनि का पृथक् से कोई विवेचन देने का कष्ट नहीं किया है। पाणिनि प्रभृति शब्दानुशासनकारों ने भी इसकी ओर झाँक भी नहीं दिया। अतः इस ध्वनि का कहीं कुछ रहस्य अवश्य छिपा हुआ पड़ा है। यह अवश्य है कि उक्त सभी ग्रन्थकार 'क्ष' को संयुक्ताक्षर मानते चले आ रहे हैं।

'क् ष् संयोगे क्ष' ऐसी परम्परा है। जब हम भारोपीय भाषा का अध्ययन करते हैं तो हमें उसकी वर्णमाला में 'कस्' औ 'क् प्' दो संयुक्ताक्षर मिलते भी हैं जिनमें से द्वितीय को 'वेह्लेनिस्ट' ने ध्वन्यंकन कल द्वारा एकात्मीय ध्वनि सिद्ध कर दिया है कि यह 'क्प्' एक सिद्ध ध्वनि है, संयुक्ताक्षर की ध्वनि नहीं (व० स० ल० ३८—१३९)। यूरोपीय भाषाओं में क्ष की प्रतिनिधि सी ध्वनि 'एक्स' में कुछ अंश में सरूपता वाली है। अतः यह 'क्ष' ध्वनि अवश्यमेव भारोपीय भाषा की मौलिक सिद्ध ध्वनि है, इसमें सन्देह नहीं रह जाता और यह भी निश्चित हो जा रहा है कि भारोपीय 'कस्' का उच्चारण 'क्ष' के ही समान रहा होगा। हमारे यहाँ, ऐसा लगता है कि ऊष्माण ⨯ क के दो रूप थे ⨯ क् और क् ⨯ जिन्हें 'ष्क्' या 'क्ष्' रूप में लिखा जाता है। 'क्ष्' ही विकसित होकर हमारा 'क्ष' बन गया होगा। इसे (क्ष या क्ष् या क् ⨯) को संयुक्ताक्षर इस लिए कहा जाता है कि क् ष् इन दोनों के उच्चारण स्थान भिन्न है। दोनों का ऊष्म के बल से (क् + ⨯ क की उष्माणता) ख् सम न होकर एक पृथक् सी ध्वनि 'क्ष' की अनुभूति होती है। यजुर्वेदी ष् को ख् सा पढ़ते भी हैं। अतः 'क्ष्' में कुछ के 'ख्' का सा भी आभास है। क + ⨯ (क की उष्मता) में स्थान एक है, तब 'ख्' सोष्म एक कंठीय ध्वनि बनी। पर क + ⨯ (ष् की उष्मता) में स्थान दो हैं। कंठ और मूर्धन्य—अतः 'क्ष', कंठ मूर्धन्य ध्वनि एक संयुक्त सी पर अभिन्न सी एक पृथक् सिद्ध ध्वनि बन गई। जो लोग इसका कंठ मूर्द्धन्य उच्चारण करते रहे उनकी प्राकृतों में इसका रूप ख (क्षार-खार) बना जो इसका कण्ठ तालव्यीय 'क् + श्' सा करते रहे या 'क + स्' सा करते रहे वे छ (क्षार-छार) बोलने लगे। अंग्रेजी में जो क त प के पदादि के वर्ण में अल्प ऊष्म हैं उनका आधार या मूल भी यही क् ⨯ प् ⨯ हो तो आश्चर्य नहीं, पर त् ⨯ का कहीं कुछ पता नहीं है। यह क् ⨯ प् ⨯ की अनुकृति मूलक ध्वनि हो सकती है। प्रातिशाख्यकारों ने ⨯ क, ⨯ प की व्याख्या कर रखी है, उसी प्रकार क् ⨯ प् ⨯ की व्याख्या सरूपता से समझ लेनी चाहिए, यह उनका रहस्यमय अभिप्राय रहा होगा;[1] ठीक यमों के वर्णन की तरह जहाँ सात यमों में से चार की व्याख्या देकर शेष को 'सरूपैः चत्वार एव' कहकर टाल दिया है। ⨯ क के उच्चारण का स्थान वहीं है जो 'ह' का है, उद्धरण 'ह' वर्णन में देखें। इसका उच्चारण खकारने की ध्वनि को मीठा हलका किया जाय तो, तब सिद्ध होगा।

(७) ⨯ प्

इस ध्वनि का प्रत्यक्ष रूप 'परस्पर' शब्द में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यदि

१. जैसा पाणिनि जी ने भी किया है 'सरूपाणमेकशेष एकविभक्तौ'

'पर + पर' को जोड़ा जाय तो 'परपर' शब्द होगा। समास में या पृथक् मानने में 'परस्पर' रूप सिद्ध नहीं हो सकता, यदि प्रथमान्त सन्धि में माना जाय तो भी 'परःपरः' रूप होगा। अन्य विभक्तियों में 'परेणपरेण' आदि रूप होंगे। इस ध्वनि को उपध्मानीय ध्वनि कहते हैं। उपध्मानीय माने भक् भक् मध्ये फप् फप् की सी ध्वनि है। ऐसी ही ध्वनि 'परस्पर' के मध्य में 'पर ᳶ पर' में अभीष्ट है। ᳶ प् की उष्मता स् बनना ओष्ठीय प् और वर्त्स्य र् के समीप वाले दन्त्य स्थिति वाले ऊष्म का स्वाभाविकतया पकड़ना ध्वनि तत्त्व-*शास्त्र का तकाजा है; अन्यथा अभिनिधान या स्वर भक्ति का विच्छेदीय क्षणिक* विराम आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार स्कम्भ स्कन्ध में ᳶ क् की सम्भावना हो सकती है उसी प्रकार स्पृश् स्पृहा आदि में ᳶ प की उपस्थिति ᳶ पृहा, ᳶ पृश रूप में मौलिकतया हो सकती है। भारोपीय भाषा में उपलब्ध 'क् प्' सिद्ध ध्वनि सम्भवतः इसी ᳶ प का एक रूप है। इसका पूर्वार्द्ध क् है जो कण्ठ स्थानीय है, कण्ठ ऊष्म का ही मुख्य स्थान है, अतः यह क् भाग, प् के पूर्व में, ᳶ प के पूर्व भाग की ऊष्मता के समीप वाली ध्वनि होगी। अतः क् प् कुछ न कुछ ᳶप के समान रहा होगा। यह निश्चित है कि ᳶप् के पूर्वार्द्ध का सम्बन्ध कण्ठीय ऊष्म से है, उसी स्थान से अघोष ᳶक् का भी उच्चारण होता है। ᳶप के उच्चारण में ओष्ठ और कंठ का प्रयत्न सम्मिलित है ही। यही प्रयत्न क् प् का भी होना निश्चित है ही। जिस प्रकार ष्क् या ᳶक् के विपर्यय से हमारा 'क्ष्' एक सिद्ध ध्वनि बनी है, सम्भवतः उसी प्रकार ᳶप (या क् प्) के विपर्यय प् ᳶ से यूरोपीय भाषाओं का ऊष्म फ़ भी बना प्रतीत होता है जो वहाँ एक सिद्ध ध्वनि मानी जाती है।

(८) शषस

'शषस' भी उष्माण हैं, इनके बारे में कुछ तो 'ह' के साथ कहा जा चुका है, शेष इनके उच्चारण तथा अन्य महत्त्व पूर्ण शेष प्रभावों के बारे में इनके वर्गीय व्यञ्जनों के साथ दिया जावेगा।

१८ अध्याय

(१) अन्तःस्थ य र ल व

अन्तःस्थों के बारे में आज तक पौर्वात्य और पाश्चात्य देशों के विद्वानों के अन्तः करण में बड़ा भ्रम बैठा पड़ा है। वे यह समझते हैं कि अन्तःस्थ माने एक ओर से स्वर, दूसरी ओर से व्यञ्जन हैं, इन दोनों के बीच वाले वर्ण या ध्वनियाँ 'य् र् ल् व्' अन्तःस्थ हैं। ऐसा न तो था न कभी होगा। 'न भूतो न भविष्यति'। हमारे प्रातिशाख्य कारों ने ध्वनि वर्ण विभाजन बिलकुल वैज्ञानिक ढंग से कर रखा है, पहिले १६ स्वर दिये हैं फिर ८ ऊष्माण दिये हैं, फिर ४ अन्तःस्थ दिये है, तदनन्तर २० स्पर्श, ५ नासिक्य हैं। यह पद्धति ऋ० प्रा० (१३-१३) की हैं। तै० प्रा० ने स्वरों के बाद स्पर्शों को दिया है फिर अन्तस्थों को अन्त में छ ऊष्माण (वर्ण समाम्नाय १-१-१)। अब आप देख सकते हैं अन्तःस्थ य् र् ल् व् किनके बीच में हैं। ये अन्तःस्थ ऊष्माण और स्पर्शों के बीच में हैं इसीलिए ऊष्माण और स्पर्शों के मध्यवर्ती होने से ही इन्हें अन्तःस्थ कहा जाता है न कि स्वर और व्यञ्जनों के मध्यवर्ती होने से। उव्वट ने अपने भाष्य में इस बात का समर्थन करते हुये लिखा है (ऋ० प्रा० १-९) 'स्पर्शोष्मणा मन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीत्यन्तःस्थाः'। जब हम उक्त तीन प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण के प्रयत्न की ओर ध्यान देते हैं तो उक्त मत का पूर्ण समर्थन हो जाता है। स्पर्शों के उच्चारण में स्पर्श क्षणिक होता है, ऊष्माणों के उच्चारण में स्पर्श बिलकुल नहीं होता, पर जिह्वा और उच्चारण स्थान के मध्य में जो विवृत स्थान रहता है वहाँ पर अधिक देर तक प्रक्रिया होती है। ये दो क्रियायें उच्चारण सम्बन्धी नदी के दो किनारों के समान हैं। पर अन्तःस्थों के उच्चारण में न पूरा स्पर्श ही होता है न स्थान करण के बीच का स्थान एकदम विवृत ही रहता है। यहाँ दुःस्पर्श होता है जो ईषद् स्पर्श सा माना जाता है। इस रीति से य र ल व का अन्तःस्थ नाम ऊष्माण और स्पर्शों के उच्चारण की मध्यवर्ती शैली होने से ही पड़ा है यह स्पष्ट है ऋ० प्रा० ने लिखा है। 'स्पष्टमस्थितम् (क्षणिक स्पर्श—२० वर्गीय व्यञ्जनों में), दुःस्पष्टं प्राग्वकाराणा चतुर्णाम् (दुःस्पष्टमीषत्स्पष्टमित्यर्थः, तरलवानाम्), स्वरानुस्वारोष्मणामस्पष्टंस्थितम् (अस्पष्टं स्थिरं, स्थितं स्पर्शहीनस्थितिकं)।" (१३-१२)। बड़ी उपहास जनक बात तो यह हो पड़ी है कि पाश्चात्यों ने ने 'अन्तःस्थ' का वैसा गलत अर्थ लगाकर अंग्रेजी में 'अन्तःस्थ' शब्द का अनुवाद 'सेमीवोवल' (आधे स्वर) कर के ध्वनि शास्त्र के पावों में वज्र सम कुठाराघात कर डाला है।

'अन्तःस्थों' के बारे में अब तक पौर्वात्य और पाश्चात्यों को पता नहीं है कि 'य र ल व' दो प्रकार के हैं (१) अन्तःस्थ (२) स्वरभक्तीय, भुग्न या सन्धानीय, या वैवृत्तीय। प्रथम प्रकार के पूर्ण अन्तःस्थ हैं। ये प्रायः पदादि के होकर किसी स्थान में आदि मध्य अन्त में आवें तो गुरु प्रयत्नवान् होते हैं। दूसरे प्रकार के य र ल व प्रायः वे हैं जो पदान्त में आते हैं या दो स्वरों की सन्धि से बनते हैं, या लोप होकर भी अपना स्थान खाली बनाये रखते हैं। ये कहीं लघु होते हैं, प्रायः लघुतर होते हैं। पाणिनि जी ने उक्त दोनों प्रकार के य र ल व का भेद बतलाने के लिए लिखा है "व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य" (८-३-१८)। अंग्रेजों के सेमी वोवल यही भुग्न या सन्धानीय या स्वरभक्ति या वैवृत्तीय 'यरलव' कहला सकते हैं। प्रथम प्रकार के किसी भी भाव नहीं। इस प्रकार के स्पष्ट भेदों को न जान कर पाश्चात्यों को यह धोखा हो गया है कि भारतीय शास्त्रज्ञों ने वर्णमाला में दी गई इन ध्वनियों के स्थान को ध्वन्यात्मक स्थान समझा तथा इनका वह रूप जो इ ऋ लृ उ के समान होना था उसमें अधिक भेद कर इन्हीं का पृथक् अन्तःस्थ (सेमीवोवल) ध्वनियाँ ~~बना दीं।~~ इन्हें वे (पाश्चात्य) इ ऋ लृ उ के (अक्षरों के) वर्ण (फोनेमिक्स) मानते हैं, जो किसी अक्षर का वर्ण होगा उसके उच्चारण और उसके अक्षर के उच्चारण की विधि में इतना अन्तर नहीं आ सकता जितना हमारे आचार्यों ने इन दो वर्गों के उच्चारण विधि में बतलाया है। पर बात ही दूसरी है। जिस प्रकार के वर्णात्मक अन्तःस्थों की चर्चा पाश्चात्य लोग कर रहे हैं उनके प्रतिनिधि हमारे यहाँ स्वरभक्ति, भुग्न, सन्धानीय या वैवृत्तीय अन्तःस्थों के रूप में अवश्य विद्यमान हैं। जो हमारे वास्तविक अन्तःस्थ हैं उनकी प्रतिनिधि ध्वनियाँ पाश्चात्य देशों में व् को (V को) छोड़ अन्य हैं ही नहीं, तब उन्हें कैसे समझाया जाय। पहिली बात। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार का उच्चारण वास्तविक अन्तःस्थों का हमारे प्रातिशाख्यकार दे गये हैं, उसका तत्कालीन उच्चारण तथा आजकल का उच्चारण यह प्रामाणित और सिद्ध कर देता है कि जो कुछ लिखा गया है वह सब तब (और अब भी) प्रचलित उच्चारण शैली के आधार पर ठीक ठीक ही लिखा गया था। इसके प्रमाण में—जैसा कि पहिले बतला दिया गया है हमारे वास्तविक अन्तःस्थ पदादि या पादादि या संयोग या अवग्रह स्थानों में ही आते हैं। शेष स्थानों में स्वरों के भुग्नादि रूप आते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुये कात्यायन प्रातिशाख्य कार ने वास्तविक अन्तःस्थ य् का ज् जैसा उच्चारण करने की आज्ञा दी है, ज में

तालु में अस्थित स्पर्श होता है, पर य् में वह अस्थितर स्पर्श में परिवर्तित होता है, कहीं कोई इस य् का शुद्ध या सन्धानीय अन्तःस्थ सम उच्चारण न कर बैठे, इसकी सतर्कता के लिए यहां य् को ज् सम उच्चारण करने का विधान दिया है "पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च। जः शब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः सो य इति स्मृतः" (याज्ञवल्क्य शिक्षा १५०)। इसी प्रकार कात्यायन प्रतिज्ञा लिखती है "अथान्तःस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्य-हलसंयुक्तस्य संयुक्तस्यापि रेफोष्मान्त्याभ्यामृकारेण चाविशेषेणादि मध्याव सानेषूच्चारणे जकारोच्चारणम्" (१)। इसी प्रकार 'व' के उच्चारण की सतर्कता के लिए इसे तीन प्रकार का मानकर इसके तीन प्रकार के उच्चारणों का स्पष्ट विधान दिया गया है। कहा है कि पद के या पाद के आदि के 'व' का उच्चारण 'गुरु' रूप में (द्वित्व रूप में जैसा, जैसे 'वायवस्थ' को 'व्वाय व स्थ' सा) पद मध्य में लघु रूप में जैसे उक्त उदाहरण का दूसरा व लघु है, वैसे ही 'सविता' का व भी। अन्त का व् लघुतर होता है, जैसे 'देवः' का व्। "अथान्त्यस्यान्तःस्थानां पदादिमध्यान्तस्थस्य त्रिविधं गुरु मध्य लघु वृत्ति भिरुच्चारणम्" (का. प्रा. ६)। इस व् की उच्चारण विधि में (आदि के गुरु व् के) यह कहा गया है कि इसमें बहुत ही संस्पृष्ट या अति सूक्ष्म प्रयत्न होता है 'अति संस्पृष्ट प्रयत्नः' (याज्ञवल्क्य शिक्षा १५८)। र् तो दो हैं ही एक ऋ का र् दूसरा अन्तःस्थ र् यहां का। ऋ के र् और ऌ के ल् के बारे में ऋ ऌ के वर्णनों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यहां इनके पृथक् स्वरूप अन्तःस्थ रूपों का ही विवेचन किया जावेगा।

हमारे ध्वनि तत्त्वशास्त्रियों ने य् र् ल् व् की उच्चारण की स्पष्ट प्रचलित वैदिक विधि इस प्रकार दी है "तालौ जिह्वामध्यन्ताभ्यां यकारे; रेफे जिह्वाग्र-मध्येन प्रत्यक् दन्तमूलेभ्यः (प्रत्यगिति आभ्यन्तर उपरिभागे); दन्तमूलेषु लकारे; ओष्ठान्ताभ्यां दन्तै र्वकारे" (तै. प्रा. २-३९ से ४१)। "ताल्व्यो वेकार···इकारैकारौ यकारः शकारः; दन्तमूलीय स्तु तकार वर्गः सकार रेफ लकारश्च; रेफं वर्त्स्यमेके; शेष (व उ ओ औ) ओष्ठोऽपवाद्य नासिक्यान्," (ऋ॰ प्रा. २-६ से ९ तक)। अब इनका अर्थ देखिये—'य के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग के बीचो बीच की थोड़ी जगह खुली रखकर, उस खुली जगह के दोनों किनारों से तालु (कोमल) को थोड़ा सा छुआ जाता है।' 'र के उच्चारण में जिह्वा के अग्रिमतम भाग के कुछ पीछे के भाग से दांतों के मूल भाग को छुआ जाता है।' 'ल के उच्चारण में दांतों के मूल भाग को जिह्वा के अग्रिम भाग से छुआ जाता है।' 'व के उच्चारण में जिह्वा को दांतों के सिरे तथा ओठों के छोरों को छूना पड़ता है।" (तै. प्रा.)। ऋ प्रा. ने

केवल इनके उच्चारण स्थान य का तालु र और ल का दन्तमूल (र का वर्त्स्य किसी का मत) व का ओष्ठ, बतला दिये हैं। अथर्व प्रा. (१-३२,३३) ने किसी के मत का उल्लेख करते हुये लिखा है कि स्वरों के उच्चारण में भी स्पर्श होता है 'स्वराणां च। विवृतमित्यर्थः। एके स्पृष्टम्"। स्वरों के उच्चारणीय स्थान और करण भागों का स्पर्श तो नहीं होता, पर उनसे इतर स्थान और इतरों के करणों का कभी कभी स्पर्श रहता है जिनको स्वरों की उच्चारण विधि से कोई लगाव नहीं रहता, इसी बात का संकेत 'एके स्पृष्टम्' पद का मत उक्त भ्रम से देता है। परन्तु जब आजकल के यन्त्र वाले भी उक्त प्रकार की गलती करके 'आस्यचित्र' में इ के उच्चारण में स्पर्श देखने या दिखाने की चेष्टा करते हैं तो 'ध्वनितत्वशास्त्र' पर वज्रपात ही हो गया सा समझना चाहिए। भारत की किसी भी भाषा के स्वरों में स्पश कभी न देखा गया है न सुना गया है भोजपुरी की पुनः परीक्षा परमावश्यक है। उसके आस्य चित्र अवश्यमेव संदिग्ध भूमि हैं। तै. प्रा. के एकार के वर्णन में जो यह कहा है कि 'उसके उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग के बीचोंबीच के भाग के कोरों से उत्तराजम्भान्त (कोमल तालुकी अग्रिम छोर) को छुआ सा जाता है' वह किसी टीकाकार ने उसके 'अय्' विकार को दृष्टि पथ में रखकर कहा सा प्रतीत होता है। (जिह्वामध्यन्ताभ्यां चोत्तराजम्भान्तं स्पर्शयति), सन्दर्भ को देख कर ऐसा स्वयं लगता है कि इस वाक्य को किसी ने प्रक्षिप्त कर रख दिया है, क्योंकि एकार का पूरा वर्णन इस पंक्ति से पहिले हो चुका है 'इषत्प्रकृष्टौ एकारे; उपसंहृततरे हनुः' पूरी व्याख्या हो गई। उक्त वाक्य जिसमें स्पर्श की वात लिखी है, वह एकार की इस व्याख्या के साथ स्वयं फिजूलसी लटकी है। जब तै० प्रा० इकार का वर्णन देता है तो वहां भी एकार की चर्चा करता है। तालौ जिह्वा मध्ये इवर्णे; एकारे च' इतना कह चुकने पर इ या ए के लिए यहां या अन्यत्र कहीं भी स्पर्श की चर्चा नहीं है। अतः इस वाक्य में स्पर्श की चर्चा करने वाला व्यक्ति ही दूसरा है, यह सन्दर्भ से स्वयं स्पष्ट है। यह कोई टीका कार है जो यहां एक अप्रचलित शब्द 'उत्तराजम्भान्त' भी दे रहा है। प्रातिशाख्यों के टीका कारों ने ऐसी सैकड़ों भूलें की हैं। इनसे बड़ी बड़ी भूलें करने वाले महोदय हमारे आजकल के गौरांग टीकाकार है जो उ के उच्चारण विधि के वाक्य 'ओष्ठोपसंहार उवर्णे' (तै. प्रा. २-२४) 'उवर्णे प्रकृते रोष्ठौ दीर्घौ' (का. प्र. २८४) में 'ओठों को गोल करने' या 'ओठों को आगे की ओर लम्बा करने' के विधान में भी स्पर्श देखते हैं। हद हो गई। आगे बढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रह गई।

(२) नकली य् र् ल् व् की कहानी

ये ध्वनियाँ भुग्न कहलाती हैं भुग्न माने लचके, लचकदार और लचकीले होता है। इनकी यह लचक सन्धियों में अपना लचकीलापन दिखलाती हैं। अतः इन्हें सन्धान या सन्धानीय या सन्धि सम्बन्धी लचक वाली ध्वनियाँ कहते हैं। "ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नं अन्तःस्थे वकारो अत्रान्तरागमः' (ऋ. प्रा. २-३१) 'भुग्नं नाम चैतत् सन्धानं भवति' (उव्वट)। पर ऋक्तन्त्रव्याकरण कहता है कि इनमें अन्तःस्थ यरलव का आधा भाग कट सा जाता है। 'अर्द्धं वा' 'वकारयकारयोर्लुम्पति' (१६१)। कई स्थलों में जबइनका लोप हो जाता है या ये उच्चारण विधि में अपना सत्कार नहीं पाते तो अप्रसन्न होकर चले जाते हैं, पर इनकी जगह में किसी को बैठने नहीं दिया जाता न पड़ोस के स्वरों को सटकर मिलने की हिम्मत या अनुमति मिलती है। ऐसी स्थिति को 'विवृत्ति' कहते हैं। अतः इन्हें वैवृत्तीय ध्वनियां भी कहते हैं। ये स्वरभक्ति और अवग्रह स्थलों में भी दखल रखते हैं, अतः स्वरभक्तिक भी कहलाते हैं, और अवग्रहीय भी। उक्त स्थितियों का स्पष्टी करण निम्नलिखित उदाहरणों में मिलेगा। वैदिक और शास्त्रीय सँस्कृत में विसर्जनीय ध्वनि को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता रहा। यह ऐसी परिवर्तन शील ध्वनि है, कि इसके परिवर्तनों से इसके मौलिक स्वरूप का अनुमान ध्वनितत्वशास्त्रज्ञ को छोड़ दूसरा कर ही नहीं सकता। इनके लचकीलेपन से इन्हें जो भुग्न नाम दिया गया है या वैवृत्तीय आदि नाम दिये गये हैं वे अंग्रेजी के लिक्विड शब्द से अधिक स्पष्टता से इनकी गतिविधियों में प्रकाश डालने में समर्थ हैं। ये वे ध्वनियाँ है जिन्हें हम इ ऋ लृ उ अक्षरों (फोनीमों) के वर्ण (फोनेमिक्स) कह सकते हैं। इनके उच्चारण में और वास्तविक अन्तःस्थों की उच्चारण विधि में जितना अन्तर है, उतनी ही अधिक समानता इनके अपने स्वरों की उच्चारण विधि से है। स्थूल दृष्टि से इन य् र् ल् व् और इ ऋ लृ उ में भी कम अन्तर है, यह तो इनकी एक विशेषस्थिति का बोध कराने वाली संकेतावली (य् र् ल् व्) है। इनके उच्चारण के बारे में तत्तद् प्रातिशाख्य कारों, शिक्षा लेखकों और शब्दानुशासन कारों ने अपने अपने अलग मत दिये हैं। सिद्धान्त कौमुदी लिखती है कि जिसके उच्चारण में जिह्वा के भाग उपाग्र अग्र, मध्य या मूल में शिथिलता आती है उसे लघु उच्चारण या पाणिनि की भाषा में लघु प्रयत्नतर कहते हैं। शाकटायन जी का मत उद्धृत करते हुये पाणिनि जी उक्त मत से सहमत है (८-३-१८ दे. पहिले)। कात्यायन प्रतिज्ञा में जिस लघुवृत्ति का उल्लेख किया है (दे. *पिछला परिच्छेद*) उस लघुवृत्ति

का तात्पर्य भी इसी उक्त प्रकार के शिथिल प्रयत्न से है। अथर्व प्रा. ने (२-२४) शाकटायन जी के मत में हां में हां मिलाते हुये लिखा है कि उक्त यरलव के उच्चारण में लेशमात्र ही स्पर्श की सम्भावना है (लेशवृत्तिरधिस्पर्शं शाकटायनः)। तै. प्रा. ने कई आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि 'नोख्य' के मत से अवर्ण से परे के य व् का लोप होता है; पर 'संकृत' का मत है कि केवल व का लोप होता है य का नहीं; याचीक का कहना है कि उकार और ओकार परे रहने पर य् व् दोनों का लोप हो जाता है, पर 'वात्स' और 'प्रस्येत' कहते हैं कि तब य् व् का उच्चारण लेश मात्र के लिए होता है। "लुप्यते त्ववर्ण परौ य व कारौ नोख्यस्य, वकारस्तु संकृतस्य, उकारौकारकारपरौ लुप्येते माचीकस्य, लेशो वात्सप्रस्यैतयोः" (१०-१९-२२)। ऋक् तन्त्रव्याकरण के मत में य् व् का उच्चारण आधा रह जाता है, लघुवृत्ति से तात्पर्य है "अर्द्ध वा"—(वकारयकारयो र्लुम्पति') (१६१)। सबसे अच्छी बात तो ऋ. प्रा. लिखता है कि ये वर्ण लचकदार हैं 'ओष्ठ्ययोन्यो भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽत्रान्तरागमः'। (२-३१)। (पा. ८-३-१८—व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य) (सिद्धान्त कौमुदी में उक्त सूत्र पर लिखा है "यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः")। इन विवरणों से इतना तो बिल्कुल स्पष्ट है कि अन्तःस्थ यरलव से इन नकली यरलव की स्थितियों और उच्चारणों में महान् भेद है। और यह भी स्पष्ट है कि इन यरलव ध्वनियों की सत्ता इनके स्वरों पर आधारित है।

(३) नकली य् र् ल् व् की उत्पत्ति का अद्भुत रहस्य

१. 'य' का रहस्य

ए ए, के सन्धि स्थल में अय् आय् में परिणत होने वाली य् की (नकली) स्थिति सब जानते हैं। पर वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत में विसर्गध्वनि एक ऐसी बहुमूल्य वस्तु है कि, वह पदान्त में बिना बुलाये ही विद्यमान सी हो जाती है। भगवान् महान् विद्वान् आदि के अन्त में हम समझते हैं कि पद का अन्त न् में हो रहा है। नहीं इसका अन्तः विसर्ग के श्वास रूप में हो रहा है, जिसकी अनुभूति न् की प्रस्तुति दबा सी देती है, पर सूक्ष्मतया देखें तो विसर्ग का श्वासीय रूप अर्द्धांश में विद्यमान है, अर्द्धांश का भागीदार न् बन गया है, जो अपने परिमाण से बढ़ गया है। जब ऐसे शब्दों के आगे कोई स्वर आता है तो वह अर्द्धांश विसर्गीय श्वास भुग्न या लचकन या श्वास फिसलन से य् (नकली) का रूप वैवृत्तीय रूप सा ले

लेता है। तब इनके रूप इस प्रकार के हो जाते हैं। महान् + अग्निः = महाँ यग्निः, विद्वान् + अग्रे विद्वाँयग्रे, भगवान् + अस्ति = भगवाँयस्ति। इनके न् के द्वित्व के रूपों का भी विधान शास्त्रीय संस्कृत में मिलता है। यह वैदिक या शुद्ध या ध्वनितत्व शास्त्र के विरोध में आता है। 'अथ स्वरे परो यकारम्' (तै० प्रा० ९-१०)। 'स्वरे यकार:' (अथर्व प्रा० २-४१)। एक महत्व पूर्ण बात यह है कि नकली या भुग्न यरलव की पंक्ति में व्यञ्जन साथ नहीं देते। ये व्यञ्जनों के अछूत हैं, इनको वे दुगल्ला समझते हैं। अतः भगवान् आदि के न् का अनुनासिक हो जाता है। 'न्यास' की तरह मिलते नहीं। वास्तव में यहाँ न् की अधिकांश ऊष्मता की श्वासता य् में परिवर्तित होकर उसे अर्द्धोष्म (या अनुस्वार) अनुनासिक कर छोड़ देती है। इसी प्रकार सः एव = स येव होता है। पर शास्त्रीय संस्कृत में वैकल्पिक रूप स एव, सयेव करके प्रथम का जो 'सैव' रूप शुद्ध मान लिया गया है वह ध्वनि तत्व शास्त्र का विरोध करता है। ऋ० प्रा० १४-६०-६१ ने ऐसे रूपों को गलतियों में गिना रखा है। "विवृत्तिस्तु प्रत्यायादेरदर्शनं यथा या ऐच्छच्च य औशिजञ्च। इ उ सन्धौ सन्ध्यवचनं च क्वासुचित् स इद्स्ता कस्त उषो यथैते॥" इस प्रकार के रूपों का केवल विकल्प 'विवृत्ति'-स्थान छोड़ने से होता है सन्धि से नहीं। जहां सन्धि हो वहां य् की उपस्थिति आवश्यक है जैसे रमायै इति = रमाया या रमायायिति, यहां यि=इ है, अत रमाया इति = रमायायिति पुत्राः एव = पुत्रा येव या पुत्रा एव अस्मै + अत्र=अस्मायत्र, अस्मा अत्र। आदि। ते + आ= तया, मे + आ = मया, ये नित्य रूप है, विकल्प नहीं सहते। यण सन्धि का य् भी इसी कोटि का य् होता है सुधी + उपास्य = सुद्ध्युपास्य।

२. र का रहस्य

र ध्वनि तीन प्रकार की है (१) ऋ स्वर की ध्वनि जिसका विस्तृत विवेचन 'ऋ ऌ' के शीर्षक द्वारा दिया जा चुका है। (२) र् मूर्द्धन्य, और अन्तःस्थ शुद्ध और 'रेफ' नाम से पुकारा जाता है। ये दोनों बड़े प्रभावशाली ध्वनियाँ है, अपने से आगे आने वाले न का ण बना देते हैं। द्वितीय को रेफ क्यों कहा गया है, इसकी व्युत्पत्ति देते हुये मूर्द्धन्य र के उच्चारण विधि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है कि जिस प्रकार कपड़े को फाड़ने में (अ) र्रर्र की ध्वनि होती है उसी प्रकार ध्वनि र् के (मूर्द्धन्य) उच्चारण में होती है। अतः इसे रेफ् कहते हैं "रिफ्यते विपाटयते वस्त्रादिपाटन ध्वनिवद् उच्चार्यत इति रेफः" (वैदिकाभरण तै० प्रा० १-१९)। (३) तीसरी र् ध्वनि भुग्न या सन्धानीय या वैवृत्तीय या स्वर भक्तिक की है। इसका वैसा प्रभाव नही पड़ता जैसा

मूर्द्धन्य र् का जैसे 'निर्निमेष' का 'निर्णिमेष' नहीं होता। उक्त तीनों का उच्चारण स्थान भी पृथक् पृथक् है; प्रथम का कंठ या जिह्वामूल या हनुमूल है, द्वितीय का मूर्द्धन्य है, तीसरे का नकली र का उच्चारण स्थान वर्त्स्य है। प्रथम का वर्णन किया जा चुका है। द्वितीय तृतीय की व्याख्या के प्रमाण ये हैं। (२) 'ऋ टु रषाणां मूर्द्धा' (पा० शि० १७)। 'जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्द्धनि ट वर्गे' (तै० प्रा २-३७)। 'मूर्द्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रति वेष्टितम्' (अथर्व प्रा० १-२२) 'मूर्द्धन्याः प्रतिवेष्टिताग्रम्' (का० प्र० १-७८)। 'कवर्गादौ जिह्वादि मध्यन्तोष्ठेन चोपरि। ट वर्गे वक्रमध्येन जिह्वाग्रेण यथा स्पृशेत्' (व्यास शिक्षा २८८-९)। 'मूर्द्धन्य इति चा परे'-रेफः स्यात्, (वर्णपटल २·४)। इन सब उद्धरणों ने यह सूचित किया है कि जिह्वा के मुख को (प्रतिवेष्टित) उलटा करके करछी के आकार का या द्रोणिका के आकार का बनाकर, कठोर तालु या मूर्द्धन्य से स्पर्श करने या जिह्वा के मध्य भाग से तालुस्पर्श करने से र् का उच्चारण है। इसका अति स्पर्श और वर्वरता पूर्ण उच्चारण अशुद्धियों में गिना गया है। जैसे (ऋ० प्रा० १४-२६) "अतिस्पर्शो वर्वरता च रेफे" वर्वरता असौकुमार्य को कहते हैं। अब तीसरे के ~~रूप में~~ लिखा है। (३) 'रेफस्य दन्तमूलानि' (अथर्व प्रा० १-१८)। 'रो दन्तमूले स्थानमेकेषाम्' (आपिस्थली शिक्षा १-१३)। 'रो दन्त मूले' (का० प्रा० १-६८)। 'रेफे जिह्वाग्र-मध्येन प्रत्यक् दन्त मूलेभ्यः' (तैप्रा० २-४१)। 'रेफं वर्त्स्यमेके' (ऋ० प्रा० १-४६)। 'सकार रेफ लकारश्च दन्त मूलीयः' (ऋ० प्रा० १-४६)। 'दन्तमूलेषु वा पुनः' (वर्णपटल २-५)। 'दन्ते स्स्ला रेफो मूले वा' (ऋक्तन्त्र व्याकरण ७, ८)। 'कस्यां शाखायां रेफो मूर्द्धन्यः कस्यां दन्त मूलीय इति (ऋ. प्रा. १-१)। उक्त विवेचनों में र् को कोई दन्त मूल में उच्चरित मानते हैं, कोई उससे पीछे वर्त्स्य में। यह र् प्रायः विसर्गों का प्रति रूपी होता है, जहां सन्धि में विसर्ग का य् या व् नहीं हो सकता वहां अ आ को छोड़ अन्य के बाद या अ और आ क प, श ष स छोड़ अन्यों के पहिले र् बनने को बाध्य हो जाता है। उसकी ध्वनि परिवर्तन सम्बन्धी प्रक्रिया इस प्रकार की रूप रेखा लेती है। रविः + इव = रविश् + इव = रविह् + इव = रविह् + इव = रविरिव। जन्तोः + जनि = जन्तोश् जनि = जन्तोह् जनिः = जन्तोर्जनिः इत्यादि। इस र् को ष स् के परिवर्तनों द्वारा घोषवान् ह के कमजोर रूप में ध्वनित किया जाता है। अतः शुभ्र र् सन्धेय स्थलों में ही पाया जाता है। इसका उच्चारण शिथिल है। अतः फिसल कर वर्त्स्य या दन्तमूल तक इसका उच्चारणीय स्थान हो जाता है। यह रेफ सम विपाटमान ध्वनिक नहीं है, बहुत कोमल है। यदि विसर्ग के आगे सजातीय ऊष्म श ष स और अघोष व्यञ्जन क च त ट प आदि आते हैं

तो परिवर्तन क्रम में घोषवान् 'ह्' बनने का अवसर आता ही नहीं। अतः ये विसर्ग कहीं विसर्ग (क प), कहीं सजातीय ऊष्म श्, च के साथ; श् ष, ट के साथ; ष् और स, त आदि के साथ बन जाते हैं। यहां र् में परिवर्तन की परिस्थिति ही नहीं आती। वहां यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि कालान्तर में वैदिक ऋ तथा मूर्द्धन्य र् के उच्चारण को यथारूप करना कुछ लोग भूलने लगे तो कई शाखाओं ने इस भुग्न र् के स्थान से ही मूर्द्धन्य या अन्तःस्थ र का उच्चारण करने की आदत डाल ली। इसी लिए तै. प्रा., ऋ. प्रा. और कई शिक्षायें र् के उच्चारण का जो स्वतन्त्रजनों का मत देती हैं, उसका भण्डाफोड़ ऋ. प्रा. ने यह कह कर कर दिया है कि किसी वेद की शाखावालों के र् के उच्चारण का स्थान मूर्धन्य है कि किसी का दन्तमूल या वर्त्स्य (दे. उक्त उद्धरण)।

३. ल का रहस्य

वैदिक आर्यों की तरह नकली ल् को भी कट्टरता अधिक प्यारी है। इसकी उत्पत्ति बिना अन्तःस्थ ल की उपस्थिति के हो ही नहीं सकती, विद्वान् + लिखति = विद्वाँस् + लिखति = विद्वाँहलिखति = विद्वांल्लिखति के समान रूपों में ही उपलब्ध होती है। कहीं कहीं त् भी इसकी बिरादरी में आता है उत् + लिखति = उद् लिखति = उह् लिखति = उल्लिखति। इसका उच्चारण स्थान दन्त या दन्तमूल या वर्त्स्य है, जब कि ऌ का कंठ है (देखिये दन्त्य व्यञ्जन)। इसके उच्चारण की विधि में लिखा है कि दन्त्यों के उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग फैला रहता है। परन्तु ऋ. प्रा. ने जिह्वा के किनारों को अधिक फैलाना दोष माना है। 'दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णं' (का. प्र. और अथर्व. प्रा.), 'जिह्वान्ताभ्यां च वचनं लकारे—दोषः) (ऋ. प्रा. १४-२१)। यह ध्यान रहे कि ऌ से जो कंठ्य तालव्य ल उत्पन्न होता है वह इससे बिलकुल भिन्न है। वह कंठ्य तालव्य ल है अन्तःस्थ, और प्रस्तुत दन्त्य है भुग्न। पर आजकल हमारी भाषाओं में र और ल दोनों दन्त मूलीय या वर्त्स्य या दन्त्य हो गये हैं। हमारे सब र ल इसी स्थान वाले हैं, केवल कुमाउनी में वैदिक ऌ का ल (कंठीय) अब तक विद्यमान मिलता है। इसे अंग्रेजी में काला ल् कहते हैं (लिटिल् का अन्तिम ल् काला ल है। (देखिये ऋ और ऌ का विवेचन पीछे)

४. व का रहस्य

भुग्न या वैवृत्तीय या सन्धानीय व् तीन प्रकार से प्रस्तुत पाया जाता है (१) स्वर की स्वर से सन्धि में, रवौ + अस्थिन् = रवा वस्मिन् या

र वा अष्मिन्, कलौ + इत्थम् = कलावित्थम् या कला इत्थम्, (२) यण् सन्धि में विधु + इच्छा = विधिवत्छा, कटु + अम्लः = कद्वम्लौ आदि। (३) जहां जहां पर विसर्ग का 'ओ' होता है, वहां यह ओ वास्तव में 'व' का ही प्रतिनिधि है। वह इस प्रकार = रामः + गच्छति = रामस् + गच्छति = रामह् + गच्छति = राम व् गच्छति = राम उ गच्छति = रामो गच्छति। अतः जहां जहां विसर्ग 'ओ' बनता है वहां पर व् का रूप उ होकर पुनः सन्धि द्वारा 'ओ' बना है, है यहाँ पर मूलतः यही व्। अष्टाध्यायी प्रभृति ने यहाँ पर निश्चित रूप से आने वाले व् का उल्लेख न कर के एकदम उ का विधान और गुण सन्धि कर दी है। यह शैली ध्वन्यात्मक विश्लेषणकारों के लिए कठिन समस्या उपस्थित कर देती है। इस व् के और अन्तः स्थ व के उच्चारण की विधि इस प्रकार दी हुई है। 'उ वोः पा ओष्ठे' (ऋ० प्रा० ९, का० प्र० १७०)। 'दन्त्योष्ठो वः स्मृतो बुधैः' (पा० शि० १०)। 'ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे' (तै० प्रा० २-३९) 'वकारो दन्त्योष्ठ्यः, सृक्कस्थानमेके' (आपिस्थली शिक्षा १६-१७)। 'उ और व का उच्चारणस्थान ओष्ठ है'; 'व का उच्चारण दांत और ओठ से होता है; 'व का उच्चारण ओठ के कोरों और दांतों से होता है', वकार दन्त्योष्ठ है; पर कोई कहते हैं कि इसका उच्चारण सृक्क स्थान (ओष्ठस्य वाम दक्षिण प्रान्त भागौ) है, ('प्रान्तावोष्ठस्य सृक्किणी'; अमरः २-६-९१)। यहाँ भी तीन प्रकार के उच्चारण हैं (१) सृक्कस्थानीय (२) दन्तोष्ठीय (३) ओष्ठीय। प्रथम उच्चारण पदादि के अन्तःस्थ व का है, द्वितीय पद मध्यवर्ती सन्धेय या वैवृतीय का, तृतीय पदान्त या विसर्गीय ओं वाले का। प्रथम गुरु है, द्वितीय लघु, तृतीय लघुतर। (देखिये इस प्रकरणका परि० २)

आजकल नकली मुख बनाकर (जिसकी ध्वनियों की जाँच करनी हो उसके तालु और जीभ का ठप्पा लेकर) कल द्वारा ध्वनि चित्र या आस्य चित्र लिए जाते हैं। यदि चुने शब्दों में ल या श आ गये तो कोई चित्र अङ्कित नहीं हो पाता। क्यों कि ये ध्वनियाँ चित्र देने में बाधक सिद्ध हो जाती हैं। परन्तु जब नकली य् को चुने शब्दों में स्थान मिलता है तो चित्र निकल आते हैं। इससे पाश्चात्य ध्वन्यंकनकारों का कहना है कि य् के उच्चारण में स्पर्श नहीं माना जा सकता क्यों कि यह चित्र में बाधक नहीं होता। नकली य् जिसे वे सेमीवोवल कहते हैं वह तो भुग्न या सन्धेय या वैवृत्तीय य है। जब हमारे अन्तःस्थ य का हमारी स्वीकृत विधि—जैसा कि पहिले बताया जा चुका है–से उच्चारण किया जावेगा तो वह ल और श की तरह चित्र देने में अवश्य बाधक सिद्ध होगा। अन्तःस्थ य, वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत का य् है जिसका

उच्चारण ज् के समान करने का आदेश दिया गया है। हमारे य् में (कुमाउनी में तो अवश्यमेव) स्पर्श होता ही है जो अवश्य बाधक ही निकलेगा; अंग्रेजी य् की तरह अबाधक नहीं। ये लोग अपने 'य्' की नाप जोख कर रहे हैं, अंग्रेजी के य् की नाप जोख कर रहे हैं, हमारे भारतीय या वैदिक या शास्त्रीय सँस्कृत के य् को मापने का मुख प्रयत्न उनके पास कहां से हो सकता है? इसके लिए तो हमें उन्हीं वैदिक या प्रातिशाख्यकारों पर भरोसा या विश्वास करना पड़ेगा जिनका यह य् है और जिसके उच्चारण की विधि वे स्वयं लिख कर दे गये हैं।

१६ अध्याय

(१) वास्तविक व्यञ्जन

अब हम वास्तविक व्यञ्जनों के क्षेत्र में आ गये हैं। व्यञ्जन शब्द की व्याख्या में महाभाष्य ने लिखा है 'अन्वग्भवति (इति) व्यञ्जनम्' (पतञ्जलि १-२-१ पा० १-२-२९, ३०)। उव्वट ने ऋ० प्रा० (१-६) में आये व्यञ्जन शब्द की व्याख्या में लिखा है 'व्यञ्जयन्ति प्रकटं कुर्वन्ति अर्थान् इति व्यञ्जनानि' और वैदिकाभरण ने तै० प्रा० (१-६) में आये व्यञ्जन शब्द की व्याख्या में कहा है:—परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्'। इन सब व्याख्याओं में 'पीछे झुकने वाला' 'अर्थ प्रगट करने वाला' 'स्वर से प्रगट होने-वाला' व्यञ्जन कहलाता है। इन व्याख्याओं से व्यञ्जन तत्त्व की व्याख्या नहीं हो सकती, ये व्याख्यायें भले ही व्यञ्जनों की किसी किसी विशिष्टता को सच और झूठ में बतलाने की चेष्टा करें। इसी प्रकार की धोखे की व्याख्या 'स्वर' शब्द की की है 'स्वयं राजते स्वरा' जो स्वयं शोभायमान या प्रगट होने में समर्थ है (पतञ्जलि १-२-१ पा० १-२-२९, ३०)। पर 'स्वर' शब्द 'स्वृ' धातु से निकला है जिसका अर्थ 'स्वरते ध्वनते शब्दायते इति यावत्' है। 'स्वर' माने स्फुट ध्वनि। वर्णमाला के स्वर स्फुट ध्वनियाँ हैं। यही स्वर शब्द का वास्तविक अर्थ है। इसी प्रकार 'व्यञ्जन' शब्द में वि+अञ्ज् धातु है, अञ्ज माने अङ्ग या तत्त्व होता है 'तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयम्' (अमर ३-४-१२)। 'व्यञ्जन' माने विशिष्ट अङ्ग या विशिष्ट तत्त्व है। यह तात्त्विक या अङ्गीय विशिष्टता ध्वनि मूलक है। जहाँ स्वर पूर्ण रूप से स्फुट ध्वनियाँ (स्वृ=स्वैर ध्वनियाँ स्फुट ध्वनियाँ) हैं वहाँ व्यञ्जन इनके अङ्ग सी, अंश सी, तत्त्व सी अस्फुट ध्वनियाँ हैं। व्यञ्जनों में आधे तो अघोष हैं, आधे नादवान् घोषवान्। अतः ये विशिष्ट ध्वनितत्त्व हैं, इसलिए व्यञ्जन कहलाते हैं, इसलिए नहीं कि ये अर्थ प्रगट करते हैं, पीछे लगे रहते हैं या स्वर से प्रगट होते हैं। दूसरा विशिष्टता का अर्थ यह है कि (वि = विशिष्टं अस्थितं यावत् (क्षणिकं)+ अञ्जनं=स्पर्शं यस्य—येषां तत् तानि व्यञ्जनं व्यञ्जनानि वा), व्यञ्जन वे हैं जिनके उच्चारण में क्षणिक स्पर्श होता है। फलतः व्यञ्जन वे अंश सी, अस्फुट सी स्फुट ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में क्षणिक स्पर्श होता है। कहा जा चुका है कि ऊष्माणों और नासिक्यों का उच्चारण विना स्वर की सहायता से किया

जा सकता है। पर उक्त स्पर्शीय २० व्यञ्जनों के केवल पृथक् वर्णमाला में स्फुट उच्चारण के लिए (क् च् ट् त् प् के लिए) अवश्यमेव स्वर की आवश्यकता पड़ती है, पर पदान्त शब्दान्त वाक्यान्त में स्वर की भी आवश्यकता नहीं पड़ती, न सम्मिलित व्यञ्जन वाले पदादि या शब्दादि के व्यञ्जन के उच्चारण में जैसे 'क्रमः' 'ग्रास' 'क्षैण'; मध्य में तो प्रश्न ही नहीं उठता। पदादि या शब्दादि में प्रायः ऐसे संयुक्त व्यञ्जन मिलते हैं जिनमें से एक न एक या तो ऊष्माण होगा या नासिक्य होगा या ञुन्न य र ल व, जिनके कारण २० व्यञ्जनों के उच्चारण में कठिनाई ही नहीं आ सकती। अतः केवल उच्चारण के आधार पर 'व्यञ्जन' शब्द की दी गई प्राचीन लेखकों की व्याख्यायें स्वयं निर्मूल हो जाती हैं। यदि 'व्यञ्जन' शब्द से स्वरों को छोड़ शेष सब ध्वनियों—ऊष्माण अन्तःस्थ और स्पर्शों—को समझना आवश्यक ही हो तो व्युत्पत्ति में थोड़ा सा अन्तर करना पड़ेगा। वि + अञ्जन = विभिन्न प्रकार के + अञ्जन तात्त्विक रूप सूक्ष्म स्पर्श वाले व्यञ्जन (विभिन्नानि तत्त्वसमसूक्ष्माणि अञ्जनानि स्पर्शाणि येषां तानि व्यञ्जनानि)। अञ्जन शब्द ही इस शब्द की आत्मा है, अञ्जन ही के माने तत्त्वरूप सूक्ष्म स्पर्श होता है, वि; माने विभिन्न, ऊष्माणों में स्थित स्पर्श, स्पर्शों में अस्थित (क्षणिक) स्पर्श और अन्तःस्थों में दुःस्पर्श या ईषद् स्पर्श—ये तीन तत्त्वरूप सूक्ष्म स्पर्श की विभिन्नतायें हैं।

(२) क वर्ग

इसमें पांच स्पर्श है, क ख ग घ ङ्। अन्तिम नासिक्य है। प्रथम दो अघोष है, तृतीय चतुर्थ नादवान् घोषवान् हैं। प्रथम तृतीय अल्प-प्राण हैं, द्वितीय चतुर्थ महाप्राण जिनकी महाप्राणता का आधार ᳵक है। ᳵक को जिह्वामूलीय ऊष्माण कहा जाता है। अतः यह निश्चित है कि ᳵक तथा कवर्ग का उच्चारण जिह्वामूल से होता रहा होगा। यही मत ऋ० प्रा० का भी है "ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा (ᳵक), जिह्वामूलीया प्रथमश्च वर्गः" (२-४)। पर न जाने क्या बात है कि कुछ लोग इस वर्ग के उच्चारण स्थान को जिह्वामूल से नीचे कंठ तक ले गये हैं तो कुछ जिह्वामूल से आगे हनुमूल तक। प्रतीत ऐसा होता है कि यह भेद शाखान्तरों के उच्चारण के कारण हुआ होगा। सबसे विचित्र बात तो अथर्वप्रातिशाख्य करता है, वह कवर्ग का नाम तो देता है 'जिह्वामूलीय' जो उसके उच्चारण स्थान का स्पष्ट द्योतक है, पर कहता है कि जिह्वामूलीयों का उच्चारण स्थान हनुमूल (काकालक के पास का स्थान जहां दोनों दांतों की जड़ें समाप्त होती हैं) है। यह आश्चर्य में

डालने वाली बात है "जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्" (१-२०)। इसी बात को तै० प्रा० अपनी टोपी बचाते हुये (आलोचना से) लिखता है कि कवर्ग के उच्चारण में जिह्वामूल से हनुमूल का स्पर्श किया जाता है "हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गं स्पर्शयति" (२-३५)। इसी बात को कात्यायन प्रतिज्ञा (१-८३) भी दुहराती है। गनीमत इतनी है कि यह (का० प्रा०) ⨯ क को जिह्वामूलीय कहती है और ऋक्तन्त्र व्याकरण भी यही लिखता है (१-६५; ऋ० व्या० ४)। आपिस्थली शिक्षा कवर्ग को 'जिह्व्य' नाम से पुकारती है। सिद्धान्त कौमुदी ने एक दूसरी विचित्रता कर दी है। इसने कवर्ग के उच्चारण का स्थान जिह्वामूल से नीचे कंठ में रख दिया है पर ⨯ क के उच्चारण का स्थान जिह्वामूल ही मान रखा है। कवर्ग के साथ इसमें 'अ ह' और विसर्ग को भी सम्मिलित किया है 'अकुहविसर्जनीयानां कंठः' 'जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्'। आपिस्थली शिक्षा (१-७) ने इसी मत की पुष्टि की है। इनका दिया हुआ 'कंठ' शब्द जिह्वामूल ही माना जाना उचित है। क्योंकि ⨯ क का उच्चारण ये जिह्वामूल में ही मानते हैं; अ, ह, और विसर्ग का स्थान कंठ है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो भट्टोजिदीक्षित ने अवश्य गलती की है। हनुमूल मानने वालों के भ्रम को तै० प्रा० ने दूर कर दिया है, जहां जिह्वामूल है उसी के समानान्तर भाग में हनुमूल का माना जाना अनिवार्य है, करण तो जिह्वामूल है और प्रयत्न स्थान है उस जिह्वामूल के ही समानान्तर सम्मुख भाग का हनुमूल। यह बाह्यप्रयत्न में आता है। इस वर्ग का नाम जिह्वामूलीय ही है, अंग्रेजी के नाम ग्लोटल, गटरल, लिंग्वौल, वेलर सब भ्रमात्मक हैं, इनमें से कोई भी शब्द 'जिह्वामूलीय' शब्द का अनुवाद नहीं कर सकता।

(३) च वर्ग

चवर्ग में च छ ज झ ञ पांच स्पर्श हैं, पञ्चम नासिक्य है; प्रथम दो अघोष, तृतीय चतुर्थ नादवान् घोषवान् हैं, प्रथम तृतीय अल्पप्राण हैं, द्वितीय चतुर्थ महाप्राण। इनमें महाप्राणता श् ऊष्म की है। श् भी इसी वर्ग का ऊष्माण है। आजकल हम इन सब का उच्चारण भूल गये हैं; हमारी वर्तमान आर्यभाषाओं में च वर्ग अब स्पर्श नहीं रह गये हैं, ये अब संयुक्त ऊष्म हो गये हैं च = त्स, छ् = त्स्श्, ज् = द् स्, झ = द् स् श् हैं। पर प्राचीन काल में ये शुद्ध स्पर्श थे। इनका उच्चारण जिह्वामध्य भाग से तालु (कोमल तालु) में स्पर्श करके किया जाता रहा "तालौ जिह्वामध्येन चवर्गं" (तै. प्रा. २-३६, का. प्र. १-७९, अथर्व प्रा. १-२१); "तालव्यो चेकारः। चकारवर्गाविकारेकारयकारशकाराः" (ऋ. प्रा. २-७; ऋ. व्या. ५, का. प्र. १-६६)। यहाँ

पर य् को भी चवर्ग का उच्चारण स्थान दिया है, स्थान तो यही है, पर जिह्वा के स्पर्श की विधि य् में कुछ भिन्न है। य् में जिह्वा के मध्य भाग के कोरों से तालु को छुआ जाता है (देखिये य का रहस्य और य अन्तःस्थ पीछे)। हमारी भाषाओं से इस वर्ग का नासिक्य भी नष्टप्राय है। चञ्चल को 'चन्चल' लिखना हमारे उच्चारण से शुद्ध है 'चञ्चल' लिखना लकीर का फकीर बनना है। कुमाउनी में पाञ् (पद्म का पेड़) शब्द में अवश्य इस नासिक्य का दर्शन होता है। इसी स्थान से स्थित प्रयत्न या स्पर्श द्वारा श् ऊष्माण का उच्चारण किया जाता है।

(४) ट वर्ग

इस वर्ग का नाम मूर्द्धन्य है। किसी किसी ने मूर्द्धन्य शब्द की जगह 'शिर' लिखा है (पाणिनि शिक्षा १३)। इन दोनों नामों ने पाश्चात्यों को चक्कर में डाला है कि मूर्द्धन्य या मूर्द्धन् या शिर शब्द कठोर तालु का वाचक कैसे हो सकता है? इस बात का समाधान इस प्रकरण के आदि में ही स्पष्ट रूप से किया जा चुका है। इस स्थान से उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ ट ठ ड ढ ण, ष और र हैं। इनके उच्चारण की विधि के सब उद्धरण अन्तःस्थ र् और भुग्न ऱ् की व्याख्या में दे दिये जा चुके हैं [(१) 'मूर्द्धन्यानां जिह्वाग्रम् प्रतिवेष्टितम्' (२) 'जिह्वाग्रे ह प्रतिवेष्ट्य मूर्द्धनि टवर्गे' (३) 'जिह्वोपाग्रेण मूर्द्धन्यानां जिह्वाग्राधःकरणम्' (४) 'मूर्द्धन्यं प्रतिवेष्ट्याग्रम्' (५) 'ट वर्गे वक्त्रमध्येन जिह्वाग्रेण यथा स्पृशेत्'] 'मूर्द्धन्यौ षकारटकारवर्गौ' (ऋ० प्रा० २-९) [(१) अथर्व प्रा० १-२८; (२) तै० प्रा० २—३७, (३) आपिस्थली शिक्षा २-६, ७; (४) का० प्र० १-७८; (५) व्यास शिक्षा २८८, ८९] 'षकारस्य द्रोणिका' (अथर्व प्रा० १-२३) (कुछ लोगों ने 'ऋ' को भी मूर्द्धन्य स्थानीय माना है। इस पर 'ऋ' स्वर के प्रकरण में विचार किया जा चुका है 'ऋ टु र षाणां मूर्द्धन्यः' (आपिस्थली शिक्षा १-१३; 'स्युर्मूर्द्धन्या ऋ टु र षाः' (पा० शि० १७)। भट्टोजि—सिद्धान्तकौमुदी 'ऋ टु र षाणां मूर्द्धा'। इनके उच्चारण में जिह्वा को ऊपर की ओर मोड़कर चौड़े अर्धपात्र का सा रूप बनाना पड़ता है तब इनका शुद्ध उच्चारण होता है। आजकल की आर्यभाषाओं में इन वर्णों के उच्चारण का स्थान भी मूर्द्धन्य की अन्तिम अग्रिम सीमा वा वर्त्स्य में आ गया है। अतः हम इनका भी पुराना शुद्ध उच्चारण नहीं करते, इन्हें मूर्द्धन्य कहते जा रहे हैं। ष के उच्चारण में जिह्वा का द्रोणिका का आकार बनता है; केवल व्यासशिक्षा यह कहती है कि ट वर्ग में जिह्वा के मध्य भाग से तालु को उसी प्रकार स्पर्श

किया जाता है जैसे जिह्वा के अग्रभाग से अन्य स्थलों का स्पर्श किया जाता है। यह नितान्त असम्भव है। इस ढंग से किसी भी प्रकार ट वर्ग का उच्चारण किया ही नहीं जा सकता। इस वर्ग का उष्मा बड़ा प्रभावशाली था, यह अपने से आगे पीछे के न को ण में बदल देता रहा। इसके उच्चारण की रक्षा के निमित्त का. प्र. ने इसका उच्चारण ख जैसा करने की आज्ञा देदी थी 'अथो मूर्द्धन्योष्मणोऽसंयुक्तस्य टुमृते संयुक्तस्य च खकारोच्चारणम्' (१८)।

(५) त वर्ग

इस वर्ग में त थ द ध न ल स मुख्यतः आते हैं जिनमें से काला ल और लृ का वर्णन पहिले दे दिया जा चुका है। तै. प्रा. ने इनके उच्चारण की विधि में लिखा है कि ये दन्तमूल में जिह्वाग्रभाग से स्पर्श करके उच्चरित किये जाते हैं 'जिह्वाग्रे तवर्गे दन्तमूलेषु' 'दन्तमूलेषु लकारे' 'स्पर्श-स्थानेषूष्माणमानुपूर्व्येण' (२-३७,...४७)। इसी बात को ऋ. प्रा. ने भी दुहराया है 'दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः', 'सकाररेफलकाराश्च' (२-९, १०)। इनके उच्चारण में जिह्वाग्र भाग को फैलाया सा जाता है। अतः अथर्व प्रा. ठीक लिखता है कि 'दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम्' (१-२४) और कात्यायन प्र. कहती है कि दन्त्यों का करण जिह्वाग्र भाग है 'दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः' (१-७६)। परन्तु ऋ. प्रा. में जिह्वा का अधिक फैलाया जाना दोषों में गिनाया है 'वर्गेषु जिह्वाप्रथनं (प्रस्तारण) चतुर्षु' (त थ द ध) (१४-२१)। यही दोष ल के उच्चारण में भी दिया है 'जिह्वान्ताभ्यां च वचनं लकारे' (१४-२७) कि जीभ के किनारों से ल का उच्चारण करना दोष है (व के समान इसका मतलब है)। तै. प्रा. ने लृ का उच्चारण स्थान वर्त्स्य माना है 'उपसंहततरे च—जिह्वाग ऋकारर्कारलकारेषु वर्त्स्येषूपसंहरति' (२-३९)। पर इसके विवेचन में पहिले, इसका उच्चारण कण्ठ्य है, यह कहा जा चुका है। अतः भट्टोजि प्रभृति ने लृ को इस वर्ग में सम्मिलित करके जो भ्रम उपस्थित किया है उसका प्रश्न नहीं उठता; 'लृ तु लसानां दन्ताः' (सि. कौमुदी)

(६) ड = ळ ढ = ळह

वेदों में और कहीं कहीं शास्त्रीय संस्कृत में 'ड' को ळ, या ळ को ड पढ़ा जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दोनों के उच्चारण में बहुत कम अन्तर था या श्रुति में कुछ न कुछ साम्य अवश्य था, यही इनके आपसी परिवर्तन की आधारीय भित्ति हो सकती है। इन दो ध्वनियों के साथ ऋ लृ की वर्गीयता का इतिहास भी सम्मिलित है, जो ऋ या र् बोलते थे वे ही ळ को ड भी बोलते रहे जो ऋ र् के स्थान में

ऌ या ळ बोलते थे वे प्रथम दल के ड को भी ळ ही बोलते रहे। ऐसी परिस्थिति में इन ड और ळ का उच्चारण क्रम से मूर्द्धन्य या दन्त्य या वर्त्स्य न हो कर कुछ और ही रहा होगा। क्योंकि जो उक्त स्थानों से बोले जाते हैं उनकी श्रुतियों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। इन दोनों की ध्वनियों में कुछ उसी प्रकार का साम्य युक्त अन्तर होना परमावश्यक है जो ऋ और ऌ की श्रुतियों में स्पष्टता पाता है। अतः यह निश्चित सा है कि 'ड' का उच्चारण 'ड़' के समीप और ल का ळ के समीप होगा, दूसरे को तो ळ चिह्न से लिखा भी जाता है, इतना ही नहीं ऋक्प्रातिशाख्य तो दो और रूप देता है ढ आ 'ळह' जिनका उच्चारण उक्त ड़ और ळ के महाप्राणता के रूप में ढ़ और ळह होता है। इन श्रुतियों में 'ड़' का उच्चारण स्थान तालु दिया है, और ढ़ को उस ड़ का हकारता युक्त रूप माना है। 'वेदमित्रमते डकारस्य स्थानं तालुः' द्वयोः स्वरयोर्मध्ये डकारो ळकारः सम्पद्यते, स एव हकारतायुक्त-ढकारः सोष्मो भवति" (ऋ. प्रा. २-१४ से १६) वीड्वङ्ग वीळ्वङ्ग, इढ़ा = इळ्हा, मीढ्वस्तोकाय मीळ्ह्वस्तोकाय। इस परिवर्तन की प्रथम प्रतिज्ञा यह है कि ऐसा ड़ या ढ़ दो स्वरों के बीच में आवे, नहीं तो यह परिवर्तन नहीं होगा 'अग्निमीड' अग्निमीळे, पुरोहितम्) इस ळ या ळह का उच्चारण कंठ्य ही रहा होगा (ऌ के समान) तथा ड़ और ढ़ का भी ऋ के समान वही स्थान रहा होगा, इसका तालु स्थान केवल वेदमित्र के मत में है, कोई ऐसी भी शाखा रही होगी। कहने का यह आशय है कि ड़ और ढ़ या ळ और ळ्ह ये आज की नई ध्वनियाँ नहीं हैं, वरन् ये ध्वनियाँ वैदिक काल से ही प्रचलित होकर सुरक्षित होती आ रही हैं। आजकल की भाषाओं में जो ड़ ढ़ मिलते हैं वे उक्त ड ढ या ळ ळ्ह से ही निकले हैं, यह आगे के अध्याय में भलीभांति सिद्ध कर दिया गया है, वहीं देखें, वे ड ट ढ से कदापि नहीं निकल सकते।

(७) पवर्ग

पवर्ग में प फ ब भ म और उपध्मानीय ⨯प आते हैं, ये ओष्ठ्य कहलाते हैं। उ ऊ को भी ओष्ठ्य ही कहते हैं 'उपूपध्मानीयानामोष्ठौ' (सि. कौमुदी)। इनका उच्चारण दोनों ओठों से होता है, जिनमें से ऊपर का ओष्ठ इनका स्थान कहलाता है, नीचे का ओठ (अधर) इनका करण। तै. प्रा. २-३९ 'ओष्ठाभ्यां पवर्गे'। ऋ. प्रा. २-१४ 'शेष ओष्ठयोऽपवाद्यनासिक्यान्'। का. प्र. १-७० 'उ वो वा ओष्ठे'। सभी वर्गों में घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, श्वासीय नादीयता का क्रम एक सा है, जैसा पहिले दूसरे वर्ग में वर्णित किया गया है; वैसा ही शेष वर्गों का भी समझ लेना चाहिए।

२० अध्याय

(१) ऊष्माण, अन्तःस्थ और स्पर्शों के सन्निपात में स्पष्ट उच्चारणविधि :

'संयोगः व्यञ्जनसन्निपातः' (ऋ० प्रा० २-१५)। जब कई व्यञ्जनों का एक जगह ढेर लग जाता है तो वह संयोग नाम से पुकारा जाता है। सब प्रकार की उक्त ध्वनियाँ, कितनी सूक्ष्मता रखती है, यह उनकी उच्चारण विधि स्पर्श, ईषत्स्पर्श और दुःस्पर्श से ही स्पष्ट है। जब ये कई ध्वनियाँ एक साथ आ पड़ती हैं तो इनको स्पष्टता से अनुगम करने के लिए हमारा मुख स्वयं कुछ स्वाभाविक नियमों को अपना कर, उनका उच्चारण करता है। इन स्वाभाविक नियमों के तीन भेद हैं (१) अभिनिधान (२) स्वरभक्ति और (३) ध्रुव। अथर्व प्रातिशाख्य ने प्रथम दो का नाम 'स्फोटणा' दिया है "स्फोटणं नाम पिंडीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्" 'तदेव स्फोटणः' (प० ३)। इस स्फोटण या अभिनिधान या स्वरभक्ति में लगने वाले समय की अवधि $\frac{1}{2}$ मात्रा मानी गई है। "रेफादूष्मणि परे स्वरपरे स्वरभक्ति अकारस्यार्द्धंचतुर्थम् इत्येके, अन्यस्मिन् व्यञ्जने चतुर्थमष्टमं वा।" (अथर्व प्रा० १-१०१, १०२)। यदि कंठ्य के पश्चात् तालव्य मूर्द्धन्य दन्त्य ओष्ठ्य आवे, या तालव्य के बाद मूर्द्धन्य दन्त्य ओष्ठ्य, या इसी क्रम से मूर्द्धन्य से आगे दन्त्य या ओष्ठ्य, या दन्त्य से ओष्ठ्य तो दोनों की स्फोटण क्रिया को अभिनिधान कहते हैं, यदि संयोग इनके उलटे हों, ओष्ठ्य में दन्त्यादि, दन्त्य में मूर्द्धन्यादि, मूर्द्धन्य में तालव्यादि, तालव्य में कण्ठ्य तो इस स्थिति की ध्वनियों की स्फोटण क्रिया को स्वरभक्ति कहते हैं। (दे० वर्णमाला की वैज्ञानिक भित्ति पीछे उद्धरणों के लिए) 'वर्गविपर्यये स्फोटणः पूर्वेण चेद्विरामः' (अथर्व प्रा० २-३०) 'स्फोटणं च ककारवर्गं वा स्पर्शात्' (का० प्र० ४-१६५)। वर्गविपर्यय दूसरी उलटी क्रिया को कहते हैं, इस अभिनिधान को स्फोटण या स्वरभक्ति कहते हैं, पूर्व-पूर्वस्थानीय प्रथम, द्वितीयादि स्थानीय पश्चात् आवें तो यह स्फोटण, विराम चाहता है, इसे अभिनिधान कहते हैं। "अभिनिधानं कृतसंहितानां स्पर्शान्त-स्थानामपवाद्य रेफं संधारण संवरणं श्रुतेश्च स्पर्शोदयानाम् अपि चावसाने" (ऋ० प्रा० ४-१७, १८)। ऐसे संयुक्त व्यञ्जनों की स्पष्ट श्रुति के लिए जो जो अभिनिधानीय या स्वरभक्तिक या स्फोटणीय विराम या अभिनिधान या स्वरभक्ति काल होता है, उसमें अघोषों से $\frac{1}{2}$ मात्रीय श्वास तथा घोष (ह) से $\frac{1}{2}$ मात्रिक घोष और नादीयों से $\frac{1}{2}$ मात्रिक नाद उत्पन्न हो पड़ता है। ऐसे श्वासों, घोषों या नादों को 'ध्रुव' नाम से पुकारते हैं। "नादः परोऽभिनिधानाद्

ध्रुवम्, तत्तत्कालस्थानम्, अश्रुतिस्त्वघोषात्, नासिकास्थानम् अनुनासिकाच्चेत्" । (ऋ० प्रा० ६-२९, ४१) जिनमें श्वास निकलता है वे नहीं सुनाई पड़ते, घोष और नादवान् सुनाई पड़ते हैं। अनुनासिकों की ध्वनि नासिकाविवर से निकल आती है। ध्यान रहे, पदान्त शब्दान्त या वाक्यान्त के संयुक्त या असंयुक्त व्यञ्जनों में भी उक्त ध्रुव समान परिस्थिति अवश्य रहती है, वे व्यञ्जन अतिशिथिल होते हैं। इसी लिए पदान्त में नादीयों (ज् ब् ग् ड् द्) को श्वासीय (क् च् ट् त् प्) में बदला जाता है, बदला क्या जाता है, यह स्वयं स्वभाव से हो पड़ता है; नादीय शिथिल होकर श्वासीय से लगते हैं। यह बात आजकल के यन्त्र से सिद्ध हो गई है कि अंग्रेजी के 'ब ग द' जब अन्त में आते हैं तो उनका अन्तिम भाग नादहीन या श्वासीय हो जाता है; जब ये आदि में आते हैं तो इनका आदि का भाग नादहीन या श्वासीय सा प्रतीत होकर यन्त्र में बिन्दुमय रेखा देता है। यह परिस्थिति हमारी वर्तमान आर्य-भाषाओं में भी ज्यों की त्यों नहीं मिलती। हमारे यहां पदान्त में यह स्थिति रहती है; पद के आदि मध्य में पूर्णनाद रहता है। अभिनिधान-ऋक्छन्दः, स्वरभक्ति-षड्जन्मा। ध्रुव-क् और ड् में, पदान्तध्रुव-अस्मद्=अस्मत् अब्=अप्। वास्तव में यहाँ द् का त्, ब् का प् आदि होता नहीं है, पर वे कुछ ऐसे सुनाई से पड़ते हैं ये रहते द् ब् ग् ज् ड् ही हैं। पर इनका अन्तिम भाग अघोष हो जाता है। यदि ये हलन्त रहते हैं तो पूर्व स्वर को गुरु तो बनाते ही हैं, पर कुछ दीर्घ भी बना देते हैं। अघोष क् च् ट् त् प् आदि अपने स्वर को कुछ ह्रस्व गुरु सा भी कर देते हैं। दूसरी एक बड़े महत्व की बात यह है कि ज् ब् ग् ड् द् श्, और इनके महाप्राण झ् भ् घ् ढ् ध्, के साथ जो स्वर आता है उसे ये दीर्घ सा बना देते हैं। 'कचः' (क्लेश) और 'गदः' (रोग) इन दोनों शब्दों के उच्चारण में प्रथम में 'अ' लघु ह्रस्व सा, और 'गद' के अ में दीर्घता और गुरुता या अधिक घोषता स्वयं प्रतीत होती है। अतः कहा है 'आहुर्घोषं घोषवता मकारम्' (ऋ० प्रा० १३-१६,१७)। यही बात अन्य स्वरों की भी समझी जाय। यहाँ शब्दों और वाक्यों में भी यही होता है। अन्तिम ध्रुव ध्वनि की सत्यता के समर्थन के साथ साथ हमारे अभिनिधान या स्वरभक्ति या स्फोटणकालीन ध्रुव ध्वनि की भी प्रतिष्ठा यंत्रात्मक जाँच ने करदी है। इसे अब लोग (क्रौसिंग ग्लाइड या) 'अन्तःस्थ ध्वनि' या माध्यमिक ध्वनि या परिवर्तनकालीन ध्वनि नाम देने लग गये हैं। यह गौरव की बात है। स्वरभक्ति का सीधा सम्बन्ध व्यञ्जनों से रेफ के संयोग से अधिक है। विशेष करके जब रेफ का संयोग ऊष्माणों से होता है तो स्वरभक्ति आवश्यक है। यहां तक कि इस स्वरभक्ति के उदर में ऋ ऌ को उस अवस्था में डाल दिया जाता है जब इनके बाद

ऊष्माण आ पड़ते हैं। यजुर्वेद में ऐसे र् ऋ और ऌ को रे, ले सा पढ़ने का आदेश दिया है, पर दूसरे ग्रन्थों ने रि र रु लि ल लु सम रूपों का भी विधान दिया है। 'सहस्रशीर्षा = सहस्र शी रे खा, शी रिखा, शी रु खा, शीरखा' आदि। 'पूर्वोत्तरा स्वरसरूपतां च' (ऋ० प्रा० ६-५३) "रेफात् स्वरोपहितात् व्यञ्जनोदयात् ऋकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा" (ऋ० प्रा० ६-४६) 'रेफोष्मासंयोगे रेफः स्वरभक्तिः' (तै० श० २१-१५)। "रलावृॢवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र" 'अथापरान्तःस्थस्यायुक्तान्यहलः संयुक्तस्योष्मा ऋकारैरेकःर-सहितोच्चारणम्, एवं तृतीयान्तस्य क्वचित्'' (का० प्र० १४-१५, ४-१७)। स्वरभक्ति काल $\frac{1}{2}$ मात्रा का है यह बतलाया जा चुका है, पर कोई कोई अ की $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{4}$ मात्रा मानते हैं। "रेफादुष्मणि स्वरपरे स्वरभक्ति रकारस्यार्द्धं चतुर्थमित्येके, अन्यस्मिन् व्यञ्जने चतुर्थमष्टमं वा" (अथर्व प्रा० १-१०१, १०२)। अब एक अन्य प्रकार के अभिनिधान या स्फोटण की बात सुनिये। जब ऋ या र के पश्चात् चवर्ग आता है तो उसका नाम 'कर्षण' या 'काल विप्रकर्ष' कहा जाता है। इन सबका मुख्य तात्पर्य यह है कि व्यञ्जनों का उच्चारण बिलकुल स्पष्ट हो, वे लुप्त से उच्चरित न हों, न उनमें श्वास नादादि की कमी रहे, न दुर्बल से प्रतीत हों, यह परिस्थिति तब आती है जब स्पर्श से स्पर्श का संयोग होता है। अभिनिधान के माने 'आस्थापित' या शुद्धरूप से व्यवस्थित करना होता है। यह परिस्थिति पदादि, पद मध्य में ही नहीं, वरन् पदान्त में भी आती है। "व्यञ्जनविधारणमभिनिधानः पीडितः सन्नितरो हीनश्वासनादः, स्पर्शस्य स्पर्शेऽभिनिधानः आस्थापितं च" (अथर्व प्रा० १–४३,४४,४८); "अपि चावसाने" (ऋ० प्रा० ६-१८)। व्यास शिक्षा ने एक बड़ी महत्वपूर्ण बात लिखी है जिसका उल्लेख किये बिना यह प्रकरण पुष्टता नहीं पा सकता। यदि पदादि के स्वर के साथ व्यञ्जन न हो तो उन सब स्वरों का उच्चारण स्थान अर्द्धेन्दु होता है। उन्हें कंठ्य ही मानना उपयुक्त है, उनमें घोष की या नाद की अधिकता रहेगी। "अव्यञ्जनस्वराणां चादौ कंठ इतीरितः" (व्यासशिक्षा २८५)। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि स्फोटण या अभिनिधान या स्वरभक्ति या कर्षण या ध्रुव से व्यञ्जनों के संयोग का विच्छेद नहीं माना जाता, संयोग संयोग ही रहता है, स्फोटणादि उच्चारण की सुविधा और स्वाभाविक स्थिति का चित्र मात्र देते हैं। 'न सयोगं स्वरभक्तिर्विहन्ति' (ऋ० प्रा० ६-३५)।

(२) पद की व्याख्या

पद का निर्माण बिना स्वर के नहीं होता, स्वर स्वयं पद हो सकता है,

पर ऊष्माण अन्तःस्थ और स्पर्श स्वयं स्वतन्त्र रूप से (बिना स्वर के) पद नहीं बना सकते। ऊष्माणादिकों के आदि या अन्त में जब कोई स्वर रहेगा, तब भी वे स्वतन्त्र रूप से पद नहीं कहलाते, वे पद के अंग कहे गये हैं। पद की आत्मा स्वर है। पद का प्राचीन नाम अक्षर भी है, यद्यपि अक्षर फोनीम को कहते हैं, पर पद अर्थ में भी इसका प्रयोग किया गया है। अतः कोई स्वर पद बना सकता है। दूसरे ने लिखा है कि स्वर चाहे स्वतन्त्र रूप में आवे चाहे व्यञ्जन के साथ, वह पद कहलाता है, तीसरे ने लिखा है कि पद, स्वर से बनता है, यदि उस स्वर के पूर्व या पश्चात् स्वरेतर ध्वनियाँ आवें तो भी वे पद बनाते हैं। चौथे ने लिखा है कि ऊष्माण अन्तःस्थ और स्पर्श ये सब, पदनिर्माण में स्वर के अंग हैं। "स्वरोऽक्षरम्" (अथर्व प्रा० १-९३); 'सव्यञ्जनः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्' (ऋ० या० १८-३२) "स्वरोऽक्षरं सहाद्यैर्व्यंञ्जनैरुत्तरैश्चावसितैः" (का प्रा० १-९९,१०१) "व्यञ्जनं स्वराङ्गम्" (तै० प्रा० २१-१)। शेष उद्धरण अक्षर (फोनीम) वर्णन के अवसर पर पहिले ही उल्लिखित किये जा चुके हैं, उन्हें वहीं देख लिया जावे।

इस खण्ड के अन्त में एक ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जाता। यह तो सर्वस्वीकृत मत है कि भारतीय ध्वनि शास्त्र का अभ्युदय प्राचीन वैदिक युग में हो चुका था जिसका परिपक्व रूप प्रातिशाख्यों और शिक्षाओं के रूप में कम से कम विक्रम संवत् से ७००, या ८०० वर्ष पहिले हो चुका था। इस शास्त्र में यूनानियों को कोई विशेष ज्ञान नहीं रहा सा प्रतीत होता है। उनका भाषा विषयक व्याकरण प्रायः विक्रम संवत् से ४५० वर्ष पश्चात् (५०० ई०) से आरम्भ हुआ है।[1] उस समय भी जो कुछ लिखा है वह सब प्रारम्भिक स्थूल सा विवेचन देता है। यह तथ्य उन इतिहासकारों की आँखें खोलने में पर्य्याप्त सफल रहेगा जो कई अन्य बातों में भारतीय विद्याओं में यूनानी प्रभाव ढूँढ़ने जाते हैं। हमारा ध्वनिशास्त्र डंके की चोट से घोषणा करता है कि ज्ञान-विज्ञान की मौलिक भूमि भारत ही रहा, कोई यूनानी आदि देश कभी नहीं। जिसने सीखा, भारत से सीखा।

'स्वं स्वं चरित्रं (विद्यां) शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' (मनुः) यह वाक्य अक्षरशः सत्य है।

---

१ देखिये ब्लूमफील्ड 'लैङ्ग्वेज' प्रथम अध्याय।

२१ अध्याय

(१) अन्तर्राष्ट्रीय वर्णमाला (सन् ५७ तक संशोधित)

अब आपके सामने वह अन्तर्राष्ट्रीय वर्णमाला का पटल रखा जाता है जिसका निर्माण, पाश्चात्यों ने हमारे पिछले खंड में वर्णित ध्वनि तत्व शास्त्र का गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् हमारे ध्वनिशास्त्र के विभाजन की रूप रेखा के सामने घुटने टेक, नतमस्तक हो, पूर्णरूप से स्वीकार कर लेने के पश्चात् किया है। पाश्चात्यों को उपनिवेशवाद के जोश ने अनेक देश-देशान्तरों की जातियों तथा उनकी भाषाओं के सम्पर्क में आने के लिए बाध्य किया। अतः ध्वनितत्वसम्बन्धी सिद्धान्तों में अधिक आगे बढ़ने की गुंजायश न पाकर, उन्हें उनकी अपनी कही जा सकने वाली खोजें, उपनिवेशों में प्राप्त या प्रयुक्त वर्णात्मक विशिष्ट ध्वनियाँ, अपने अंग्रेजी के वैज्ञानिक वर्णों में लिखने की आवश्यकता तक सीमित रखनी पड़ीं, जिस लिपि को स्वीकार करने का मौलिक कारण, समस्त यूरोपीय भाषाओं की नितान्त अवैज्ञानिक पर राजनैतिक (संक्षिप्त) लिपि का अन्धकार था। देवनागरी सी लिपि उनके पास होती तो सम्भवतः वे उसी में कुछ हेर फेर करते जैसा कि यहां पर दिखाने में किया गया है। और उन संकेतित ध्वनियों की व्याख्या की तुलना से आपको विदित हो जावेगा कि अक्षरशः हमारी नकल कर रहे हैं।

निम्न चित्र में ध्वनियों के जो संकेत देवनागरी चिह्नों में दिये गये हैं, वे केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृत चिह्नों की प्रतिलिपि मात्र हैं, ये संकेत न तो हमारे वैदिक या शास्त्रीय श्रुतियों का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करते हैं न हमारी आज-कल की आर्यभाषाओं की स्वर-व्यञ्जनादिकों की देवनागरी लिपिसम्बन्धी स्फुट ध्वनियों का। ये एक प्रकार से मानदण्डीय ध्वनिसंकेत हैं जिनकी तुला में चढ़ाकर प्रत्येक भाषाभाषी को अपनी अपनी भाषाओं की संकेतावली पृथक् पृथक् बनानी पड़ती है। आपने अंकित किया होगा कि यहां पर आभ्यन्तर या बाह्य प्रयत्न स्थानों में उन्हीं को चुना है जिनका विविध प्रकार का विवेचन, पिछले खंड में विस्तारपूर्वक, किया जा चुका है, प्रायः ध्वनियाँ भी वही हैं। जो श्रुतियाँ पाश्चात्य देशों में नहीं हैं (जैसे सोष्म और महाप्राण) उनकी इन्होंने चर्चा भी नहीं चलाई है। जिन्हें आप यहाँ नई ध्वनियाँ या नये संकेतों में निर्दिष्ट देख रहे हैं, वे सब मानदंडीय ध्वनियाँ या अक्षर (फोनीम) न होकर छोटी छोटी भाषाओं या विभिन्न भाषाओं की छोटी छोटी विभाषाओं में उच्चरित वर्ण (फोनेमिक्स) हैं। जिसकी भाषा में इनमें से जो कोई श्रुति पनप चुकी हो वह उसका स्पष्ट विवरण देने का यथाशक्य

सत्य प्रयत्न करे। हमारे प्रातिशाख्यकारों ने अपनी ही भाषा का, वैदिक का (विशेष करके) और शास्त्रीय संस्कृत की ध्वनियों का, उनकी शाखा

	स्थान→ / भेद↓	ओष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य और वर्त्स्य	मूर्द्धन्य	तालव्यवर्त्स्य	वर्त्स्यतालव्य	तालव्य	हनुमूलीय	जिह्वामूलीय	कण्ठ्य	अर्द्धदवीय
व्यञ्जन	स्पर्श	प ब		त द	ट ड			च ज	क ग	~क ग़		घोष
	नासिक्य	म	ं	न	ण			ञ	ङ	ँ		
	ऊष्म ल			(ऌ)								
	ल शुद्ध			ल	ळ			ळ (कालाळ)		ल		
	रेफ			र						ऋ र्		
	ड़ ढ़			ड़	ढ़					ह		
	ऊष्माण	~प~ब	~फ ह्व	द़ द़ स ज़ ऱ	ष ष़	श़ ज़	श- श-	श,-श	-ख,-ग	ख़ ग़	-ह, :,	ह, ।:
	अनूष्मतानीय-अन्तःस्थ	व ह्व	च़	ऱ्				ष (-ह)	(व)	(ड़)		
स्वर	संवृत	(भुग्न) (इ्य्उ्व्)						आभ्यन्तर: अग्रिम मध्यम; वाह्य: इ य् अ, उ				
	अर्द्ध संवृत	(ओ ओ)						ए (वे) (वो) ओ				
	अर्द्ध विवृत	(ए औ)						ऐ (वै) अ अ औ				
								अै अ				
								आ आ आ				
	विवृत	(आ) (भुग्न अ)										

प्रशाखाओं में प्रचलित प्रथा के अनुसार सजीव चित्रण कर रखा है। अन्य भाषाओं ने तब तक भाषा का वैसा प्रौढ़ स्वरूप ही नहीं पाया था, बहुत बहुत पुरानी बात है; विक्रम संवत् से पूर्व ७००, ८०० वर्षों से बहुत बहुत पूर्व की बात है।

चित्राङ्कित ध्वनियों के अतिरिक्त कई ऐसी मिश्रित ध्वनियाँ भी विभिन्न भाषाओं में मिलती हैं जिनके लिए पृथक् संकेत बनाने पड़ते हैं। जैसे तवर्ग को कोई तालव्यमय सा बनाकर बोलते हैं उनको त्य थ्य सा संकेतित कर सकते हैं; कोई श < श़ तालव्य वर्त्स्य को तालव्य सा उच्चरित करते हैं। इन्हें श < श़ लिखा जा सकता है; बहुत सी भाषाओं में ल को जिह्वामूलीय या कण्ठ्य सा उच्चरित करते हैं उसे 'ल़' लिखा जा सकता है। विकृत उपध्मानीय

को ✕ प् और पूर्वोष्म त को ✕ त् लिखा जाना उचित है। कुछ लोग ब द ज ग ड को पूर्ण ध्वनि करते हुये इन्हें नूतन सा रूप देते हैं इन्हें ब़ द़ ज़ ग़ ड़ लिखा जावे। जिस र के उच्चारण में र्र्र्र की ध्वनि हो उसे र॰ लिखा जावे। थ द स स़ को जो ओष्ठीय उच्चारण या प्रयत्न दे उनके माथे में ओठ जैसी लकीर दें, थि दि सि सि। श-श़ को जो ओष्ठीय करे उनको भी वैसी ही लकीर दे शि शि। जुलू जाति की चुम्मा लेने के समान, जिह्वा के मध्य भाग से तालु को छूकर छटकाने से उत्पन्न ध्वनि को (च् चू त् को) च़ त़ ट़ प़ क़ लिखा जाय, क्योंकि इसमें श्वास नाद की शून्यता रहती है। र और ल के मध्य की ध्वनि को 'लृं' लिखा जाय। जापनी पदीय नासिक्य को ञ लिखा जाय। ख् और स् के योग को च लिखा जाय। अघोष व को व. लिखे, इ उ य के हल्की ध्वनियों को इ़ उ़ य़ लिखा जाय। संक्षिप्त अ को अ लिखें। जिस ओ को गोल और चौड़े दोनों प्रकार के ओठों की मुद्रा या प्रयत्न से उच्चरित किया जाय उसे ओ लिखें। हमारे वैदिक और शास्त्रीय ऊष्माण (फ्रिकेटिव) एक स्थान पर स्थित विवृत प्रयत्न करते थे (ᐡ ह श ष स अः ✕ क ✕ प)। ये अब भी वैसे ही हैं, पर हमने अपनी अपनी भाषाओं में च छ ज झ ञ् को (अफ्रिकेट) बना डाला है। अब हमारी भाषाओं में ये ध्वनियाँ शुद्ध रूप में नहीं हैं। अतः अब इन्हीं संकेतों को घृष्ट ध्वनि (अफ्रिकेट) का संकेत मानने में कोई आपत्ति नहीं, हाँ अपने अपने विवेचन में यह खुलासा अवश्य दे देना चाहिए। घृष्ट माने यह होता है—च के उच्चारण में हम त्स कहते हैं। जिह्वा वर्त्स्य और दन्त दो स्थलों के बीच विवृत स्थित प्रयत्न करती है, अतः ये घृष्ट हैं। अंग्रेजी या यूरोपीय भाषाओं में सोष्मों और महाप्राणों के ही संकेत नहीं हैं, च छ ज झ जैसे भी संकेत नहीं हैं। इनके लिए दो और तीन संकेत मिलाकर काम चलाते हैं, वे इन द्विस्थितों के लिए दो दो संकेत न मिलावें तो क्या करें। दूसरा चारा ही नहीं है, हमारे पास निश्चित एकाक्षरीय संकेत हैं। उन्हीं को काम में लाना गौरव की बात है। सोष्मों और महाप्राणों (खफछठथ—झभघढध) के भी एकाक्षरीय संकेत हैं ही। उनके प्रयोग के लिए कुछ कहने सुनने की आवश्यकता नहीं है, उनका प्रयोग तो स्वयं सिद्ध है। कुछ लोगों की भाषाओं में स्वरों में र् वर्ण का रंग सा रंगा रहता है। उनके लिए स्वरों के बाद में व्यञ्जनों की तरह र् लगा लिया जाय। अ़ आ़ इ़ इ़ आदि या अँ आँ इँ उँ आदि। ये प्रायः अंग्रेजी के पदान्त या र् मध्य वाले शब्दों में मिलते हैं, जैसे मद्र (माता) ब्रद्र (भाई)। इनमें र का उच्चारण नहीं होता पर इ का रंग रंगा रहता है ऐसे ही 'स्मार्ट' (फुर्तीला)। इसमें भी र् का उच्चारण नहीं होता, पर र का रंग 'आ' (स्मा के आ) में जमा रहता है। भारतीय भाषाओं में ऐसी ध्वनियाँ स्थानीय

विभाषाओं के उन सर्वनामीय रूपों में मिल सकती हैं जिनके अन्त र में होता है, हिन्दी 'हमार' (पूर्वी) आमादेर (बंगाली) हमार (कुमाउनी)। जब इनको शीघ्र बोला जाता हो, या शीघ्र बोलते हुये वाक्य में प्रयोग किया जावे तब उक्त परिस्थिति की सम्भावना है, फिर भी यहाँ ये, यूरोपीय भाषाओं और विभाषाओं के समान प्रचुर मात्रा में न मिल सकेंगे। अनुस्वार या अनुनासिक के लिए हमारे यहाँ पर्याप्त संकेत हैं जैसे ँ ं आदि उसी की नकल अंग्रेजी में भी होने लगी है हर्ष की बात है। जिस ध्वनि में अघोषता आ जावे उसके पाद में शून्य रख दिया जाय तो वह उसकी अघोषता का सूचन करेगा जैसे वाछ्० (बछुड़े) के छ की अघोषता या अस्फुटता। जिस अघोष को सघोष या नाद में कहा जाय उसके पाद ‿ लगा देना ठीक है साग = हाग (शाक भाजी)। अंग्रेजी के पदादि के प त क अल्प अल्प ऊष्म से हैं, उनके लिए क ‿ प ‿ त ‿ लिखना उचित है। दन्त्यों को ओष्ठ्य में किये हुये शब्दों के नीचे ω ओठ का आकार और ओष्ठ्यों को दन्त्य होने वालों के नीचे ⌐¬ चिह्न लगावें, तालव्यता के लिए पीछे बिन्दी ('स) दें। अधिक संवृत ए दिखाने में पाद में ए़ बिन्दी दें, अधिक विवृतता बतलाने के लिए c चिह्न दें (ए c)। जिह्वा अधिक नीचे को गई यह सूचित करने के लिए ⊤ छोटा चिह्न दें ए⊤ , जिह्वा अधिक ऊपर उठी बताने में ए ⊥ ऐसा चिह्न दें, जीभ आगे बढ़ी यह सूचना देने में उ + चिह्न, 'अधिक पीछे हटी' की सूचना में – चिह्न दें (इ –)। ओठ अधिक गोल होने का चिह्न ɔ है, अधिक फैलने का c (छोटा सा चिह्न) मध्यवर्ती स्वरों के माथे में दो बिन्दी दें, इं उं, एं ओं औं आदि, पद बनाने वाले व्यञ्जन के नीचे ͵ लकीर दें 'अर्वाङ्' आदि। जो व्यञ्जन स्वर सा व्यवहार करे उसके सिर में ˘ चिह्न दें। 'श^स' चिह्न एक प्रकार का श़ बतलाता है। मात्रा में, ह्रस्व में अंग्रेजी अक्षरों के आगे एक बिन्दी, दीर्घ में दो बिन्दी प्लुत में ३ अंक लिखते हैं, हिन्दी में इसका प्रश्न कम उठता है, प्रायः ह्रस्व-दीर्घ की मात्रायें निश्चित हैं पर — ह्रस्व 'आ' दीर्घ 'आ' सूचन करने तथा ह्रस्व 'अ' और दीर्घ अ बताने के लिए, और ए ऐ ओ औ तथा इनके दीर्घों को सूचित करने के लिए जहां स्पष्टता हो वहां उक्त प्रणाली का अनुसरण अनुचित नहीं कहा जा सकता। जहां पर घात हो (अवधारण) वहां ˈ चिह्न; जहां मध्यम घात हो वही नीचे की ओर ˌ चिह्न' लगावें। स्वरों में तीन भाग होते हैं–उच्च, मध्यम और नीच। उच्च स्वर स्वरितोदात्त का होता है उसे सबसे ऊँचे में ¯ दिखलाना चाहिए, मध्यमोच्च उदात्त का होता है उसे मध्यम बीच में—चिह्न से बताना चाहिए, अनुदात्त सबसे नीचे रहता है, उसे _ दिखलाना चाहिए। जो बहुत से ऊँचे से चढ़े उसे ˈ चिह्नित करे जो नीचे से चढ़े

उसे ˌ दिखलावें। जो बहुत ऊँचे से उतरे उसे ˊ दिखलावें, और जो बीच से उतरे उसे , दिखलावे। जहां चढ़ाव उतार हो वहां ∧ चिह्न करे, जहां उतार चढ़ाव हो वहां ∨ संकेत करे। ये सब चिह्न अन्तर्राष्ट्रीय नियमों में आते हैं, इनका प्रयोग अंग्रेजी वर्णमाला में किया जाता है। हिन्दी में इनमें से अधिकांश की आवश्यकता ही नहीं है; जहां है वहां के लिए हमारे अक्षर भी अपने हैं; संकेत भी अपने। उदात्तादि स्वरों को तो वैदिक प्रणाली से लगाना अच्छा है, पर वह शैली पद्यात्मक और कठिन है, गद्य में कोई शैली अपनायी जा सकती है। वास्तव में जो जिस भाषा की व्याख्या कर रहा है, उसका मुख्य काम भाषा की ध्वनियों और स्वरों की स्पष्ट विवेचना देना है। यदि उसकी दी हुई विवेचना वैज्ञानिक है तो उन ध्वनियों या स्वरों के जो कोई संकेत करना वह उचित समझे वही प्रामाणिक है, उसे भाषा के लिखित और उच्चारित दोनों रूपों को स्पष्टतः समझा देना है। चिह्न कोई हो, यदि वह देवनागरी लिपि से या प्राचीन लिपि से काम चला ले तो अच्छा, यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय संकेतों की इस ग्रन्थ में दी गई प्रतिलिपि में दे तो अच्छा या अपने नये संकेतों में दे तो अच्छा, इसमें कोई बन्धन नहीं। आम खाने हैं, पेड़ गिनने नहीं। हिन्दी में ग्रन्थ लिखना है तो हमें विवशता से सब संकेत हिन्दी में ही देने पड़ेंगे। इसी दृष्टिकोण से उक्त समस्त नवीन संकेतावली प्रस्तुत की गई है, जो एक ओर से अन्तर्राष्ट्रीय संकेतों को समझने-समझाने में सहायक है; दूसरी ओर भारतीय भाषाओं की व्याख्या के लिए नवीन संकेतावली वैज्ञानिकता के साथ उपस्थित करती है।

(२) चित्राङ्कित ध्वनि विवेचन

ध्वनियाँ दो प्रकार की होती हैं, स्फुट और अस्फुट, प्रथम का भाषातत्त्व शास्त्र से सम्बन्ध है, द्वितीय का प्राकृतिक व्यापार से। द्वितीय को इसी लिए स्वयंजात ध्वनि स्वधिति ध्वनि कहते हैं, प्रथम की (स्फुट की) व्यक्ति के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करने पड़ते हैं। इनका तादात्म्य उन वस्तुओं, भावनाओं या चित्रों से—प्रारम्भ ही से हुआ रहता है जिनको इन ध्वनियों का अर्थ कहते हैं। कुछ माने में अस्फुट ध्वनियाँ भी अपना स्वरूप प्रकटनकारी एक तथ्य रूप अर्थ से अपना तादात्म्य बनाये रखती हैं, अतः भाषा में इनका समावेश उन अस्फुट ध्वनियों की आनुकृतिक स्फुट ध्वनियों के अभिनय से करके उनके प्रयोग से रंगमंचीय नाट्यकला का सा आनन्द लिया जाता है। अतः स्फुट और अस्फुट दोनों प्रकार की ध्वनियाँ अपना तादात्म्य अपने-अपने कहे जाने वाले अर्थ से अधिक या कम मात्रा में अवश्य रखते हैं। 'स्फुट

ध्वनियाँ शब्द और भाव तथा चित्र उपस्थित करती हैं। उनकी परीक्षा श्रव्य पक्ष की उच्चारण विधि में इस प्रकार की जाती है।

पतञ्जलिजी ने ध्वनियों के स्थान के बारे में जो यह लिखा था कि ये स्थान ओष्ठ से लेकर काकालक तक फैले हैं 'ओष्ठात्प्रभृति प्राक् काकालकात्' (१.१-४) उसी का अनुसरण करते हुये पाश्चात्य लोग ध्वनियों का विवेचन काकालकीय क्षेत्र से आरम्भ करते हैं। काकालक को अंग्रेजी में आदम्स आपिल कहते हैं। इसके भीतरी भाग को कण्ठ या अंग्रेजी में लारेंग्स् कहते हैं। इसके मुख में अर्द्धेन्दु या एपीग्लोटिस होता है। अर्द्धेन्दु कण्ठ के मुख को दो अर्द्ध चन्द्रों में बाँटता है। उसके ऊपर कण्ठविल या ख या फारेंग्स है जो कण्ठ और जिह्वामूल के बीच का बिल सा है। जब हम खाना खाते या पानी पीते हैं तो अर्द्धेन्दु की बीच की दरार बन्द हो जाती है और खाना भोजन नली से निकल जाता है। अर्द्धेन्दु की बीच की दरार को ध्वनितार या ग्लोटिस कहते हैं। जब अर्द्धेन्दु बन्द हो उरस्य से प्राण वायु उसी प्रकार धक्का लगाकर आवे जिस प्रकार खांसने में तो अर्द्धेन्दवीय स्पर्श ×क का उच्चारण होता है। इसे अर्द्धेन्दवीय स्पर्श कहते हैं। जब यह अर्द्धेन्दु पूरा बन्द न हो, ध्वनितार खिंच जावें, तब किनारे से वायु उन ध्वनितारों (अर्द्धेन्दु के भीतरी किनारों) में तीव्रतम कम्पनों को उत्पन्न करती है तो दन्त्योष्ठ अंग्रेजी 'ह' की सी (नादीय) ध्वनि सुनाई पड़ती है (हम यहाँ ह मानते हैं)। जब उक्त कम्पन धीमा होता है तो अघोष × फ ध्वनि (अंग्रेजी यफ़ सी) उत्पन्न होती है। जब अर्द्धेन्दु पूर्वोक्त स्थिति में ही हो पर, ध्वनितार (अर्द्धेन्दु के भीतरी किनारे) कुछ कठोर से बन कम्पन क्रिया को रोक लेते हैं तो जो प्राणवायु निकलती है, वह कानाफूसी की सी ध्वनि करती है, अघोष ध्वनि होती है। अंग्रेजी के (यफ़) फ़ के उच्चारण में अर्द्धेन्दु पूरा खुला रहता है।

अरेबिक का हेमजा (ह़) का उच्चारण कण्ठबिल (फारेंग्स्) से होता है। इसमें प्राणवायु का मार्ग अर्द्ध विवृत रहता है तथा जिह्वा का मूल कुछ बाहर को सिकुड़ता है तब उस 'ह़' ध्वनि की उत्पत्ति होती है; यह और यफ़ कुछ कुछ हमारे विसर्जनीय (अः) से मिलती जुलती ध्वनियाँ हैं। जब जिह्वा के मूल से कुछ आगे की ओर (ओठ की ओर) का भाग हनुमूल या कोमल तालु के कंठ की ओर के भाग को स्पर्श करता है तो एक प्रकार के क; ग की ध्वनि उत्पन्न होती है। जब स्पर्श न होकर या अस्थित प्रयत्न न होकर कुछ विवृतता रह जाती है तो जर्मन (ख़) जैसे एक्स या ए सी यच (आख़) की उत्पत्ति होती है, इसी स्थान से जब कम्पन अधिक होता है तो उसी की सवर्ण सघोष या नादीय ग़ ध्वनि उत्पन्न होती है। जब जिह्वामूल पर लटके कौवा या घंटी (अलिजिह्वा)में तीव्र कम्पन होता है तो (र)

र्र्र् की ध्वनि होती है। हमारे ऋ और ऌ सम्भवतः इसी कौवे या घंटी या अलिजिह्वा के कम्पन की गतियों से उच्चारित होते रहे होंगे। जिह्वा के अग्रिम भाग के तल और कठोर तालु (मूर्द्धन्) के बीच में कुछ विवृतता या विवारता या विवरता से अंग्रेजी के यस् (अघोष) और जैड (नादवान्) की उत्पत्ति होती है। इसी स्थान पर जब जिह्वा की अग्रिम नोक को करछी की तरह पलट कर उच्चारण करें तो एक प्रकार के अमेरिकन र् की उत्पत्ति होती है। अंग्रेजी में दो प्रकार के द् है। भारतीय लोग जो इन्हें 'ड' सा बोलते हैं, वह अशुद्ध है। जो द, टी और एच के योग से बनता है उसके उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग को ऊपर नीचे के दोनों दांतों के बीच में फँसा कर ध्वनि निकालनी पड़ती है, जो द् केवल (डी) दी से बनता है उसके उच्चारण में जिह्वा का मुख वर्त्स्य स्थान को स्पर्श करता है। इनमें से प्रथम नादवान् द् है, द्वितीय अघोष या अल्पप्राण या श्वासवान्[1]। अंग्रेजी 'प' के उच्चारण में, दोनों ओठों को बन्द करके उनके पीछे मुख में फेफड़ों से आने वाली वेगवती प्राणवायु को रोक कर, उन ओठों को एकदम ऐसे पृथक् करे कि कुछ विस्फोट सा होता प्रतीत हो, तब स्वयं 'प' ध्वनि सुनाई देगी। दक्षिण अफ्रिका की नीग्रो जाति में एक ऐसी ध्वनि है जिसमें भीतरी प्राणवायु काम नहीं करती, पर जिह्वा ही बाहरी वायु को लेकर तालु के चिपकन से उतरने के समय जैसी ध्वनि चि चि सी चुम्बन या शोक प्रगट करने में करती हैं, वैसी ही ओठों को मिलाकर बाहर से मुख के भीतर वायु को खींचने में (जिस प्रकार चुम्मा लेने में किया जाता है) जो ध्वनि होती है उसे ओष्ठीय चुस्य (ध्वनि) कहते हैं। अंग्रेजी में इसे क्लिक या तीव्र ध्वनि कहते हैं। जब अर्धेन्दु का मुख बन्द रहता है तो घोषवान् 'ह' उत्पन्न होता है जब वह कुछ खुला रहता है तो श्वासवान् ह या विसर्जनीय ध्वनि होती है (सूचना—'ह' का यह विवेचन सोलह आने गलत है)। नादवान् स्पर्श ग द ब के उच्चारण में अर्द्धेन्दु के ध्वनितार अति कम्पित होते हैं, पर अघोष प त क के उच्चारण में वे ध्वनितार कम्पित नहीं होते। इन दोनों प्रकार की ध्वनियों की उत्पत्ति तब होती है जब हमारी जिह्वा कंठ, हनुमूल, तालु, मूर्द्धन्य, वर्त्स्य, दन्तमूल, दन्त, ओष्ठ में से किसी न किसी स्थान का स्पर्श (अस्थित = क्षणिक) करते हैं, अतः ये स्पर्श कहलाते हैं। ऊष्माणों में स्पर्श नहीं होता, पर उक्त स्थानों के अति समीप में कुछ अधिक काल तक जिह्वा के किसी न किसी भाग का स्थित प्रयत्न होता है, जिसमें अर्द्धेन्दु के तार अधिक कम्पित नहीं होते, अतः अघोष या श्वासीय ध्वनि होती है।

---

१ जो 'थ' टी एच से बनता है वह अघोष है।

नासिक्य सकार, लकार, र, ऋ, ड़, ढ़, य् व् को तारतम्यीय (अयोगवाह) ध्वनियाँ कहते हैं, क्योंकि इनको देर तक उच्चरित किया जा सकता है जितने स्वर हैं उन्हें तो पर्याप्त देर तक उच्चरित किया जा सकता है[1], पर व्यञ्जनों में केवल उक्त ध्वनियों ही को देर तक खींचा जा सकता है, अतः उन्हें तारतम्यीय कहते हैं। नासिक्यों के उच्चारण में वायु नासिका के विवर से निकलती है, ल के उच्चारण में वायु, जिह्वा के एक किनारे से बाहर निकलती है, र ऋ, ड़, ढ़ के उच्चारण में वायु जिह्वा के दोनों किनारों से बाहर बहती है, य् व् के उच्चारण में वायु जिह्वा के मध्यभाग से निकलती है। उष्म र् का स्थान वर्त्स्य है, दूसरा र ऋ ड़ ढ़ का स्थान हनुमूल या जिह्वामूल है। इनमें टपका या झपका बहुत सूक्ष्म और अति संक्षिप्त होता है, पर ढ़ ड़ में कई बार सा प्रतीत होता है। फ्रांसीसी उ और जर्मन उं तथा फ्रांसीसी इ् उ् और जर्मन ओं का उच्चारण ओठों को (साधारण उ ओ से) अधिक गोल करके किया जाता है, फलतः उ इउ = उइ, ओं = ओइ; ओए समझना चाहिए। अंग्रेजी इ ई (पिन कीन) का उच्चारण ओठों के कोनों को अधिक फैला कर किया जाता है, फ्रांसीसी इ ई के उच्चारण में कम फैलाये जाते हैं। उक्त सब ध्वनियाँ अनुनासिक भी हो सकती हैं, किसी देश या भाषा में कम मात्रा में किसी देश या भाषा में अधिक, जैसे अमेरिका के कुछ जिलों में अनुनासिकता का अधिक चलन हो पड़ा है। हमारे ऋ ऌ को ये लोग पदीय व्यञ्जन या व्यावहारिक स्वर कहते हैं। इनका व्यवहार स्वर की तरह है, उच्चारण और कार्य व्यञ्जन के समान। उपध्मानीय ⨯ प ⨯ त के उच्चारण में अर्द्धेन्दु बन्द रहता है, तब फेफड़ों से वेगवती प्राणवायु निकल कर मुख में भरे, फिर एकदम वेग से ओठ खोल देने से स्पष्ट ध्वनि होती है।

(३) आस्यचित्र या तालुचित्र

आजकल भाषाओं की जो विवेचनायें भाषातत्वशास्त्रानुकूल दी जा रही हैं उनमें हमारे ध्वनिशास्त्र में उल्लिखित निखिल शैलियों का ही शत-प्रतिशत अनुसरण किया जा रहा है, पदादि पदमध्य पदान्त, वाक्यादि वाक्यमध्य वाक्यान्त, सन्धि, संयोग, अभिनिधान, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत की विभिन्न ध्वनियों को ध्वनिविकास या ध्वनिपरिवर्तन नाम से न कह कर एक दूसरे 'प्रोजोडी' नाम से पुकारते हैं। हैं ये सब वैदिक प्रातिशाख्यों की शैली की पूर्ण अनुकृतियाँ जिनका सोदाहरण चित्रण अगले प्रकरण में किया जायेगा, जो चित्र भारतीय दृष्टिकोण से शारीरी वीणा कहलाती है और है, उसके स्थान में ये तालुचित्र या आस्य चित्र द्वारा प्रत्यक्ष करने का सफल प्रयास, यन्त्रानुकृति से करते हैं। उसे 'पैलेटोग्राम' कहते हैं। उसका चित्र इस प्रकार बनाया जाता है—

१ नासिक्यों की वास्तविक स्थिति को 'कुमा० के व्यञ्जन' की टिप्पणी में देखें।
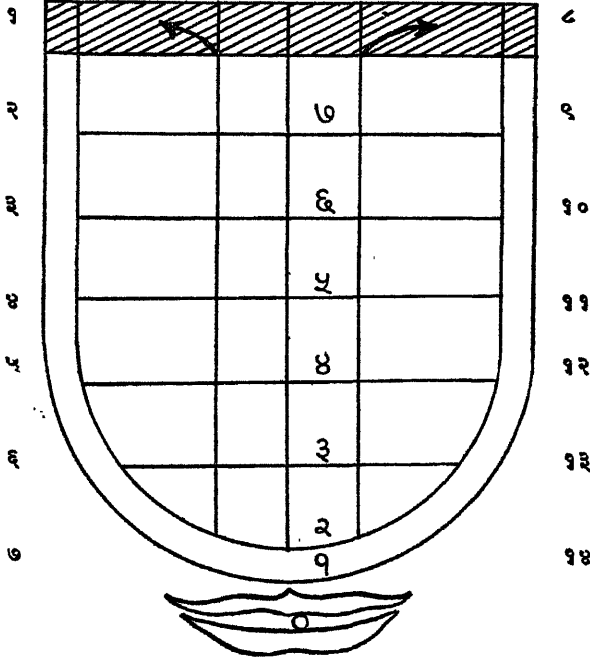
१ पीसने वाले
" दाढ़ दाँतों की चौथी पंक्ति
२ " दाढ़ दाँतों की तीसरी पंक्ति
३ " दाढ़ दाँतों की दूसरी पंक्ति
४ " दाढ़ दाँतों की प्रथम पंक्ति
५ " कुक्कुरीय दन्त पंक्ति
६ " काटने वाले (कर्तकी) तिरछे दाँतों की पंक्ति
७ " काटने वाले (कर्तकी) दाँतों की सम्मुखीय पंक्ति

८ पीसने वाले
" दाढ़ दाँतों की दूसरी पंक्ति
९ " दाढ़ दाँतों की प्रथम पंक्ति
१० " दाढ़ दाँतों से पहिले के दाँतों की दूसरी पंक्ति
११ " दाढ़ दाँतों की प्रथम पंक्ति
१२ " कुक्कुरीय दन्त पंक्ति
१३ " काटने वाले (कर्तकी) तिरछे दाँतों की द्वितीय पंक्ति
१४ " काटने वाले (कर्तकी) दाँतों की प्रथम पंक्ति (सम्मुखीय)

० भारतीय पद्धति से ० ओष्ठ्य है, १, २ दन्त्य, ३ दन्तमूलीय, ४ वर्त्स्य, ५ मूर्द्धन्य, ६ तालव्य, ७ हनुमूल, उससे आगे जिह्वामूल, कंठ्य, अर्द्धेन्दु और उरस्य होंगे।

२२ अध्याय

अक्षर (या फोनीम) क्या वस्तु है।

अक्षर शब्द का अर्थ है 'अनश्वर' अप्रवाहित, स्वतन्त्र रूप से स्थिर, या स्वतन्त्ररूप से प्रकाशमान। इस अभिप्राय से कई ग्रन्थकारों ने अक्षर शब्द को 'स्वर' अर्थ में लिया है। परन्तु प्राचीन प्रातिशाख्यकारों ने अक्षर शब्द को पदीय स्वर या एकश्वासीय शब्द के स्वर के लिए प्रयुक्त किया है, केवल 'स्वर' के लिए नहीं। 'स्वरोऽक्षरम्' (अथर्व प्रा० १०-९३) 'सव्यञ्जन···शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्' (ऋ० पा० १८-३२) 'व्यञ्जनं स्वरांगम्' (तै० प्रा० २१-१) 'स्वरोऽक्षरम्, सहाद्यै र्व्यंञ्जनैरुत्तरैश्चावसितैः' (का० प्रा० १-९९, १०१)। यहां अक्षर वह है जो पद के उच्चारण में प्रधान ध्वनि होती है, ऐसी ध्वनि स्वर ही होती है। ऐसे स्वर के आदि या अन्त में व्यञ्जन आ भी जावें तो वे उस स्वर के अंग से लटके रहते हैं, शुद्ध स्वर भी अक्षर या पद कहलाता है। पर हम इस प्रकरण में 'अक्षर' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं, उसकी व्याख्या हम इससे प्रथम खंड में 'अक्षर और वर्ण का भेद' नामक शीर्षक द्वारा कर आये हैं। हमारा 'अक्षर' एक नाम है, जो समस्त मौलिक ध्वनियों के कुलों का पृथक् पृथक् प्रतिनिधि है जिसे आजकल के पाश्चात्य लोग फोनीम कहते हैं। किसी भी स्फुट ध्वनि के तीन रूप होते हैं— (१) ध्वनि (२) ध्वनिरूप आनुपूर्व्यीरूप (३) उसका संकेतित पदार्थ। इसको लैटिन में क्रम से नाम (२) रूप (३) मूल्य (नाम, फिगुरा पोतेस्ता) कहते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए पाणिनि जी ने लिखा है, 'स्वं रूपं, शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (१—१—६८)। झगड़ा यह है—शब्द में कई ध्वनियां होती हैं, वे हैं 'शब्द', इनका एक समूह अलग रूप धारण करता है यह है 'स्वं रूपं' इसका किसी से संकेत होता है वह है, 'संज्ञा'। व्याकरण में इस अन्तिम संज्ञा को छोड़ कर अशब्द संज्ञा या द्वितीय 'रूप' संज्ञा का ग्रहण होता है उसी में प्रत्यय लगते और आदेश विकार होते हैं, ध्वनि से भी नहीं, संकेतित संज्ञा से भी नहीं। पर जहां इससे भी सूक्ष्म विचार किया जाता है जैसे अ ध्वनि इ ध्वनि, यहां की रीति ही दूसरी है। ध्वनि है 'उ' उसका रूप उ, उसका नाम 'उकार', ऐसी ही, ध्वनि है क् उसका रूप 'क्' उसका नाम ककार या 'किति' या क्। यहां ध्वनि उ या क् 'मूल्य' है। प्रत्येक स्वर और व्यञ्जन का एक स्थायी अक्षर होता है, जिसे प्रत्येक भाषा की विभिन्न ध्वनियों के कुलों की

एक एक, (जाति स्वीकृत उच्चारण की) मानदंडीय ध्वनि कह सकते हैं। परन्तु आजकल इस अक्षर की परिभाषा के बारे में अनेक मत उपस्थित हो गये हैं जिन पर यहां विचार कर लेना आवश्यक हो गया है।

आजकल पाश्चात्य देशों में भाषा तत्व शास्त्र के पाँच मुख्य आश्रम हैं। 'फोनीम' शब्द के जन्मदाता प्राग विश्वविद्यालय के प्राचार्य क्रुशेफ़स्की (कजान गणराज्य रूस के) थे। यह आश्रम अपनी अलग विशिष्टता रखता है। दो आश्रम लंदन में हैं। उनमें से एक डैनियल जोन्स का संस्थान कहलाता है; दूसरा प्राचार्य ज. र. फर्थ (भारतीय और अफ्रिकन विद्या केन्द्र) का भाषातत्व शास्त्र विभाग। अमेरिका में फोनीम के बारे में सर्वप्रथम लेखक ब्लूमफील्ड हैं। ये अपना अलग विचार रखते हैं, पर आजकल के कुछ अन्य अमेरिकनों ने फोनीम के बारे में कुछ विचित्र मत अपना रखा है। उक्त पाँच आश्रमों के अतिरिक्त कई अन्य फुटकर विद्वान् हैं जो फोनीम के बारे में कुछ न कुछ विभिन्नतासूचक मत रखते हैं।

ध्वनि एक ऐसी जटिल तत्व रूपिणी वस्तु है जिसका व्यवहार जगत् की अन्य वस्तुओं से कुछ अनोखे ढंग से किया जाता है। मौखिक स्फुट ध्वनि की उत्पत्ति में मुख के विभिन्न अंगों तथा फेफड़ों और अर्द्धेन्दु के प्रयत्नों के साथ साथ एक अदृश्य शक्ति का हाथ मान लेना भी नितान्त अनुचित नहीं कहा जा सकता, पर पाश्चात्यों में से अधिकांश इस अदृश्य शक्ति का नाम सुनते ही नांक-भौं सिकोड़ने लग जाते हैं। जहां तक केवल ध्वनि शास्त्र का शास्त्र रूप से सम्बन्ध है, उसमें, किसी ध्वनि के भी केवल दो पहलुओं पर ही अधिक विचार किया जाता है, वे दो रूप ध्वनि और ध्वनि रूप हैं। इनके आगे पीछे के अदृश्यशक्ति प्रेरणा — — और संकेतित वस्तु का विचार उक्त शुद्ध ध्वनि शास्त्र के क्षेत्र से बाहर हैं, इसका क्षेत्र शब्दार्थबोध की कोटि में आता है। ध्वनि शास्त्र का मौलिक क्षेत्र उत्पत्ति प्रकार (उच्चारण-प्रयत्न व्याख्या सहित) और उसका रूप ज्ञान मात्र है। ध्वनि का रूप दो प्रकार का होता है, एक सामूहिक श्रुति रूप में, दूसरे उसके लिखित रूप में। यह दूसरा लिखित रूप है तो सबसे अधिक उपयोगी, पर क्या किया, जाय वह मनुष्य जीवन की संक्षिप्त सुविधा के नियम की विवशता से सामूहिक या पार्थक्य श्रुति के अनन्त रूपों को लिखित रूप में चित्रित करने के लिए सर्वथा अशक्त रहता है। लिपि की इस असीम अशक्तता की पूर्ति के लिए ध्वनि शास्त्रियों को एक मानदंडीय अक्षर या फोनीम की सत्ता का अवधारण करना पड़ रहा है। पर इस अक्षर या फोनीम की व्याख्या करने में किसी ने मानसिक पक्ष को प्रधानता दी है तो किसी ने कायिक पक्ष को, कोई केवल भौतिक पक्ष का

समर्थन करते हैं तो कोई उक्त सब बातों को व्यर्थ समझ कर उसे भाषा विश्लेषण के लिए अनुपयोगी और अनुपयुक्त मानते हैं।

अक्षर को सर्वप्रथम फोनीम नाम देने वाले क्रुशेफ्स्की ने ध्वनिविपर्ययों को दो प्रकार का माना है (१) भौतिक कारणों से उत्पन्न ध्वनियाँ जिनकी सत्ता है और जिनकी व्याख्या दी जा सकती है, ये सन्दर्भीय ध्वनियाँ हैं, परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होती हैं। ये एक ही ध्वनि के रूपान्तर हैं सन्दर्भ से भिन्न प्रतीत होती हैं (२) जब ध्वनि, रूपघटन में या सामूहिक श्रुति रूप में उपस्थित होती है तो वह एक नवीन-सा रूप लेती है, ये ध्वनियाँ न तो प्रथम की तरह सन्दर्भ से घनिष्ठता रखती हैं, न रूपान्तर का सा रूप लेती हैं न इनकी तत्कालिक व्याख्या की जा सकती है न ऐतिहासिक, ये नित नये और एकदम नवीन ध्वनियाँ होती हैं। इसी कोटि की ध्वनि को वे फोनीम कहते हैं। उनका कहना है कि "फोनीम वह (फोनोलाजिकल) ध्वनि विकासात्मक ऐक्य का अवधारणीय तत्व है, जो ध्वन्यात्मक दृष्टि से अखण्डनीय है, और जो ध्वनि के विपरीत ध्वन्यात्मक ऐक्य है"। इनसे आगे बढ़कर, इनके गुरु गोद्वां द कुर्तने ने यह मत प्रगट किया है कि अक्षर या फोनीम ध्वनि का मानसिक समाहार है, एक ही ऐक्य की विभिन्न व्यञ्जनायें होती हैं। इनका समर्थन ट्रूवैट्सकोय ने यह कह कर किया है कि "ध्वनि मानस में स्थित अक्षर (फोनीम) का प्रत्यक्षीकरण है"। इस मत के अनुयायियों में अमेरिका के एडवर्ड सपीर भी हैं। कुछ दिन बीतने पर ट्रूवैट्सकोय ने अपने विचारों में विकास करके अक्षर (फोनीम) की परिभाषा में भौतिकता का अध्याहार कर के लिखा कि "फोनीम एक ऐसा लघुतम ध्वनि विकासात्मक ऐक्य है जिसके फिर कोई टुकड़े नहीं किये जा सकते" जिसके निर्धारण की दो शैलियाँ हो सकती हैं। (१) समानान्तर बँटवारे के आधार पर (२) पूरक बँटवारे के आधार पर। यदि दो ध्वनियाँ एक ही अर्थ में प्रयुक्त हों और अर्थ में बिना परिवर्तन किये न बदली जा सकें तो वे दोनों दो भिन्न फोनीम हैं। यह समानान्तर बँटवारा रहा। यदि ध्वनियाँ एक ही सन्दर्भ में कभी प्रयुक्त न हो सकें तो वे ध्वनियाँ एक ही फोनीम के कुल की दो ध्वनियाँ हैं, यह पूरक बँटवारा हुआ। इस मत के समर्थन में उन्हें एक दूसरे महाशय जाकोबसन मिल गये जिनके अनुसार अक्षर (फोनीम) युगपद भेदक लक्षणों के गुच्छे हैं जिनकी भेदक लक्षणता के निश्चायक दो विरोधी तत्व अघोष घोष, अल्पप्राण महाप्राण, उदात्त अनुदात्त हैं। प्रत्येक भाषा में ये भेदक अक्षर ५ से ६ तक हैं। और वर्णकुल (फोनेमिक्स) में एक अक्षर के २५ से ३० तक भेद हो सकते हैं। भौतिकता के आधार पर उपन्यस्त यह सिद्धान्त

उक्त कायिक विवेचन उपस्थित करता है। यह सब 'प्राग' आश्रम का अक्षर (फोनीम) सम्बन्धी विचार कहलाता है।

अमेरिका के 'ब्लूमफील्ड' महाशय भाषातत्व शास्त्र के गम्भीर विद्वान् होने के साथ-साथ नृतत्व विवर्तवाद के अनुयायी हैं, वैज्ञानिक भी हैं। इनके मत से अक्षर (फोनीम) भेदक ध्वनि लक्षण की अलिपष्ठ इकाई है। इनका विश्वास है कि ध्वनि के तारों के गुच्छे-से होते हैं जिनकी लहरें हमें ध्वनि-सी प्रतीत होती हैं, सम्भवतः कभी न कभी विज्ञान ध्वनितारों के गुच्छों को ध्वनि-लहररूप में पकड़ सकने में समर्थ हो जावेगा। क्रुशेफ़स्की, बोद्वां द कुर्तने, ट्रबैट्सकोय और जाकोवसन जिस 'ऐक्य' को अस्पष्ट भाषा में कहते रहे उसका समुचित विश्लेषण यहाँ पर महाशय ब्लूमफील्ड ने स्पष्टतः दे दिया है। (इस पर स्पष्ट प्रकाश शब्दार्थ बोध प्रकरण में विस्तारपूर्वक डाला जावेगा)। अमेरिका के कुछ अन्य विद्वान् जैलिस हैरिस के मत का अनुसरण करते हुये अक्षर (फोनीम) को वर्णकुल की वर्गीयता या भेदकता की मौलिक इकाई मानते हैं जिसका निर्धारण समानान्तर और पूरक बँटवारे के आधार पर किया जाना प्राग आश्रमी विद्वान् बतला चुके हैं। पर ब्रौण्डल महोदय ध्वनि और फोनीम के अन्तर को निम्न प्रकार से प्रगट करते हैं। ध्वनि—तात्कालिक है वैयक्तिक है, वैयक्तिक अन्वेषण का विषय है, यथार्थ है, भौतिक है और अनियमित है, कभी भी ज्यों की त्यों नहीं दुहराई जा सकती, नित्य परिवर्तनशील है, असीम है। इसका अध्ययन ध्वनि-शिक्षा है। फोनीम—कल्पनात्मक है, अपरिवर्तनशील है, अवैयक्तिक है, एक मान्य प्रत्याहार है, वैज्ञानिक खोज के लिए आवश्यक और उपयोगी है। यह नियमित है, व्यवस्थात्मक प्रत्याहारीय तत्व है, प्रत्येक भाषा में इसकी संख्या निश्चित है। पर इसका अध्ययन प्रयोगशाला में परीक्षण द्वारा न किया जा सकता है न देखा जा सकता है। इसका अध्ययन ध्वनिविकास या (फोनोलोजी) है।

इङ्गलैंड वालों का (फोनीम) अक्षर, उक्त सभी विवेचनार्थों से बिलकुल भिन्न, लिखित रूप का प्रत्यायक चिह्न है। इस ओर सर्वप्रथम दृष्टिपात बेल ने 'दृश्यवाणी' नामक संकेत बनाकर किया था। उससे स्वीट ने विस्तृत रोमन शैली प्रस्तुत की थी, वही विकसित होकर अन्तर्राष्ट्रीय वर्णमाला का रूप धारण कर चुकी है; जिसके निर्धारण में ऐलिस पास्सी और देनियल जोन्स ने सहयोग प्रदान किया था। ये तब इन्हें फोनीम न कहकर लिपि कहते रहे। प्रागवालों के फोनीम नाम को इन्होंने इस लिपि के अक्षरों के लिए प्रयुक्त कर रखा है। ये लोग ध्वनि को लिपि का रूप देने में जिन

संकेतों का प्रयोग करते हैं वे संकेत ही ध्वनि के फोनीम या अक्षर हैं। इनका मूल लक्ष ध्वनियों का लिखित रूप में शुद्ध उच्चारण करने से है। अतः अक्षर (या फोनीम) किसी भाषा के ध्वनियों के कुल को कहते हैं, जिस पर अनेक प्रकार के अन्य संकेत-विन्दु आदि लगाकर उसके ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, घोष, अघोष, उदात्त, अनुदात्त आदि का शुद्ध उच्चारण किया जा सके; यह मत डेनियल जोन्स का है। इनका यह आशय है कि अक्षर की भिन्नता, अर्थ की भिन्नता के द्योतन करने में समर्थ होती है। ये ध्वनियाँ परस्पर सम्बन्धित होती हैं। प्राचार्य फर्थ इनसे आगे बढ़कर कहते हैं कि ये अक्षर (फोनीम) भाषा के विश्लेषण में उपयोगी प्रत्याहार नहीं हैं, पर वे भाषा की प्रतिलिपि के लिए वे इन्हें अवश्य उपयोगी मानते हैं। अतः वे फोनीम को भाषा विश्लेषण की इकाई न मानकर उसे एक लेखनोपयोगी संकेत मानते हैं। इङ्गलैंड वाले प्राग वालों के फोनीम की तात्त्विक विवेचना के आध्यात्मिक तेज की कढ़ाई और अमेरिकनों के वैज्ञानिक विश्लेषण के सम्भाव्य मेघाडम्बरों में डूबकर भी, जब उतराये तो रूखे के रूखे ही निकले। ये शब्द या ध्वनि-तत्त्व पर विचार करना छोड़ उसके संकेतकारी रूप को फोनीम कहने का जो साहस कर रहे है वह ध्वनि-तत्त्व, और ध्वनि-तत्त्वशास्त्र के तिरस्कार के साथ-साथ, प्राग और अमेरिकन संस्थानों की अवहेलना करने का रहस्यमय पर अक्षम्य अपराध है। ध्वनि-तत्त्वशास्त्र का लिपि से, विशेषकर लिपि का (फोनीम या) अक्षर से कोई तात्त्विक सम्बन्ध हो भी सकता है? इङ्गलैंड वालों को इसकी खोज करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि जो तत्त्व ध्वन्यात्मक हैं, चाहे वह प्रत्याहारीय ही क्यों न हो, उसका विवेचन तत्त्वरूप में पदार्थरूप में ही किया जा सकता है न कि लिपिरूप में। कोई भी लिपि उच्चरित ध्वनि का पूर्ण संकेत नहीं कर सकती यह कहा जा चुका है, अतः लिपि चाहे अन्तराष्ट्रीय हो या विभिन्न राष्ट्रीय, प्रत्येक संकेत से संकेतित ध्वनि की व्याख्या उसके उच्चारण स्थान, करण, प्रयत्न, घोषता, अघोषता, नादता, श्वासता, अल्पप्राणता, महाप्राणता, संवृतता, विवृतता, उदात्तता, उनुदात्तता, स्वरितता, गुरु-लघुता, ह्रस्व-दीर्घता आदि भेदों में किये बिना उज्ज्वल चित्र नहीं दे सकती। तब लिपि किस प्रकार भाषा विश्लेषण कर सकेगी? लिपि की इस कमी की पूर्ति 'अक्षर' (फोनीम) निर्णय ही कर सकता है। यह सूक्ष्म विभाजन से स्थूल विवेचन और स्थूल विवेचन से सूक्ष्म विभाजन उपस्थित करने की सर्वश्रेष्ठ शैली है। अतः फ्रौग ने लिखा है कि वर्णकुल (फोनीमेस्स) ध्वनि का महत्तम समा-वर्तनीय शारीरिक स्वरूप है, (इनके निर्णय का आधार—उक्त उच्चारण स्थानादि २० भेद आदि हैं) तथा अक्षर (फोनीम) उसका लघुत्तम समा-

वर्तनीय शारीरिक स्वरूप है। वर्णकुल एक प्रकार की बन्धुता या बिरादरी है। ट्वैडल और आर्किब्सन ने भी इसी मत की पुष्टि की है। जोन्स ने वर्णकुल की परिभाषा में कहा है कि इसमें उन मुख्य ध्वनियों के वर्ग का समावेश रहता है जो उसी परिस्थिति में दुबारा नहीं आ सकतीं। इन्हें प्रा० फर्थ सरूप ध्वनि (अलोफोन) मानते हैं या एक कक्ष या वर्ग की ध्वनि कहते हैं। दूसरे महोदय भी अक्षर (फोनीम) को ध्वनि की लघुत्तम इकाई मानते हैं। अतः अक्षर (फोनीम) का साक्षात्सम्बन्ध ध्वनि तत्व से है, लिपि से नहीं, लिपि में उसकी व्याख्या अपेक्षित है, जो उक्त व्याख्या से सम्बन्ध न रखकर ध्वनि-विकास (फोनोलोजी) या वर्णकुल (फोनेमिक्स) का प्रतिनिधि ही होगा।

२३ अध्याय

(१) ध्वनि-तत्वशास्त्र के प्रायोगिक साधन

ध्वनि-तत्वशास्त्र तो प्रयोगशाला परीक्षित विषय है। इसका शब्दार्थ से आरम्भ में कोई लगाव नहीं है। इसे प्रायोगिक ध्वनि-तत्वशास्त्र भी कह सकते हैं। यह दो प्रकार के प्रयोगों पर निर्भर रहता है। (१) शारीरिक स्थान करण प्रयत्न साध्य (२) श्रव्य ध्वनि-तत्वसाध्य। दूसरे प्रकार के प्रयोग—श्रोता के कर्णताल की क्रिया देखने—की कोई विधि नहीं निकाली जा सकी है। पर शारीरिक ध्वनि-तत्वसाध्य के प्रयोगों के साक्षात्कार के लिए कई प्रकार के उपकरण उपलब्ध हो चुके हैं। (१) अर्द्धेन्दुवीक्षण यन्त्र से हम दूसरे या अपने ध्वनितारों की क्रियायें या कम्पन क्रियायें स्पष्ट देख सकते हैं। यह भी बोलने में बाधक सिद्ध होता है। अतः इससे बहुत कम सूचना उपलब्ध हो सकती है। (२) अक्षकिरण से अर्द्धेन्दुवीक्षण यन्त्र की कमी को पूरा किया जा सकता है। (३) जिह्वा के स्पर्श की सीमा का ज्ञान करने के लिए पूरे तालु में या जिह्वा के ऊपरी तल में एक सूक्ष्म कागज लगा कर बोला जाय तो स्पर्श स्थल पर चिह्न बन जावेगा, ठीक स्पर्श-स्थान का बोध हो जावेगा। (४) अन्य उपाय परिवर्तित चित्र देते हैं जैसे नकली रङ्गीन तालु बनाकर मुँह में लगाया जाय तो उसमें जिह्वा के स्पर्श स्थान का रङ्ग उड़ जायेगा और उसका ज्ञान हो जावेगा। (५) कुछ लोग बोलनेवाले के बोलने वाले अङ्गों में जैसे काकालक में, एक बल्ब लगा देते हैं जैसा पृथिवी के कम्पन जानने के प्रयोग में किया जाता है। इसमें एक कागज की कलम-सी लगा दी जाती है, बोलने की गति कागज को इधर-उधर घुमाती जाती है जो एक लहरीय रेखा सी दे देती है। इसको (कीमोग्राफ) शब्दोर्मिग्राहकरेखा कहते हैं। (६) श्रव्य पक्ष में आजकल (ओसिलोग्राफ) शब्दांकन कल ध्वनि-लहरों को अङ्कित कर देती है, रेकार्ड पूरी बाणी को उगल देता है। इन सब साधनों से ध्वनि के केवल उस पक्ष का चित्रण होता है जिसे हम शब्द तत्व या शब्द गुणक आकाश कहते हैं। इस शब्द या ध्वनि की उन ध्वनियों से कोई सापेक्षता नहीं रहती जिनका प्रयोग हम अपने व्यवहार साधन के लिए संकेत रूप में करते हैं। शब्द का सांसारिक व्यवहारीय क्षेत्र अपनी अलग विशिष्टता रखता है, उसका अध्ययन, ध्वनि-तत्वशास्त्र के अध्ययन से एक विपरीत दिशा की ओर जाता है, इन दोनों का एक ही मिलनबिन्दु है, उसे हमारे यहाँ

'स्फोट' कहा जाता है। यह स्फोट, ध्वनि-तत्वशास्त्र और व्यावहारिक शब्द-शास्त्र को दो उलटे मार्गों में बहने देता है।

(२) भाषा के अध्ययन की आधुनिक विधि

आजकल पाश्चात्य भाषा तत्वविद् भाषा के अध्ययन में ध्वनियों की परीक्षा अनेक ढंग से करने लग गये हैं। सबसे पहिले एक ही ध्वनि का पद के आदि मध्य अन्त स्थान में उच्चरित स्वरूप का पृथक्-पृथक् मूल्यांकन करके, उसके स्थान प्रयत्नों का पुनः निर्धारण कर कई निश्चयात्मक नियम बना लिये जाते हैं, तदनन्तर पदों की सन्धिस्थलों और वाक्य के अवधारण साधारण स्थलों तथा गुरु-लघु और ह्रस्व-दीर्घ के प्रभाव से उस ध्वनि का वाक्यान्तर्गत जो विकार या विकास या ह्रास हो उसका विविक्त विवेचन देकर एक विस्तृत प्रकरण, कई प्रकार के स्वरूपों के खण्डों में विभक्त कर देना पड़ता है। तब ध्वन्यात्मक विश्लेषण से छुट्टी मिलती है। इस व्यवस्था को निभाने के लिए ध्वनि विचार को दो मुख्य भागों में बाँटना पड़ता है, (१) स्वनिक इकाई (२) रागात्मक इकाई। स्वनिक इकाइयों की, ग्राफ की तरह क्षैतिज और अनुलम्ब सम्बन्धों से परीक्षा की जाती है। स्वरों का धरातल क्षैतिज माना जाता है, व्यञ्जनों का 'अनुलम्ब'। यह संरचना हमारे 'पद' की व्याख्या के समानान्तर खींची गई है जिसने प्रातिशाख्यकार स्वर मात्र को पद कहते थे, या (व्यञ्जनयुक्त) स्वर को पद कहते थे उसी को ये इस प्रकार कठिन बना कर विषय को प्रतिहत या निहतार्थ दोष युक्त बना रहे हैं। इनके अनुसार स्वर संरचना की आत्मा है। व्यञ्जनों का अनुलम्ब रूप से रहना न रहना कोई अनिवार्य नहीं है। वाक्य की परीक्षा ये इस प्रकार करते हैं।

संरचना (स्वरों की)

क्षैतिज	व्यं	स्वर	व्यं	स्वर	व्यं	स्वर	(व्यं = व्यंजन)
	क		ज		क		
	च		ब		च		
अनुलम्ब	ट		ग		ट		
	त		ड		त		
	प		द		प		

अनुलम्ब व्यञ्जन होते हैं; जो स्वरों की आत्मीय संरचना की पूरी व्यवस्था कर देते हैं, पद या वाक्य में अप्रधान रहते हुए भी पद या वाक्य निर्माण में

इनका मुख्य हाथ है। वाक्य की ध्वनियों को (व्यं, स्व (स्वर) व्यं स्व व्यं स्व) रूप में कहना सामान्य निर्देश है, जब उसमें व्यञ्जन का चुनाव हो जाता है तो उक्त सामान्य वक्तव्य में एक व्यवस्था आ जाती है। स्वनिक इकाइयों का फोनिमिक्स इकाइयों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। स्वनिक इकाइयाँ स्वनिक व्यवस्था करती हैं इनमें रागात्मक पक्ष, उदात्तादि बलाघात, वृत्तियाँ भार रीति सभी मुख्य तत्त्वों की, वक्ता की आत्माभीष्ट उगलने की शक्ति तादात्म्य से व्याप्त रहती है, जिनके मध्य-मध्य में अनुलम्ब इकाइयाँ पद या वाक्य के खम्भों की तरह खड़ी रह कर वाक्य को स्थिरता देती रहती हैं। यह अध्ययन शैली हमारे 'पद' की परिभाषा के आधार पर विस्तृत की गई है। रागात्मक पक्ष 'आलंकारिक स्फोटवाद' में देखें।

२४ अध्याय

(१) कुमाउनी की ध्वनियों का विवेचन

स्वर

अब पिछली वर्णित शैली के अनुसार किस प्रकार हम अपनी भाषाओं की उपयुक्त व्याख्या कर सकते है, इसको स्पष्ट करने के लिए यहां पर कुमाउनी भाषा की ध्वनियों का विवेचन दिया जाता है। किसी भाषा की ध्वनितत्व शास्त्र सम्बन्धिनी व्याख्या आरम्भ करने के पहिले लेखक को यह भली भांति विदित रहना परम आवश्यक है कि उसकी भाषा में कितने मौलिक स्वर (अक्षर या फोनीम) हैं और कितने मौलिक व्यञ्जनरूप अक्षर। प्रत्येक अक्षर अपने वर्णकुल का अधिष्ठाता देवता-सा होगा। पर यह भी हो सकता है कि एक ही स्वर या व्यञ्जन के स्थान करण और प्रयत्न भेद से दो-दो अक्षर (फोनीम) हों, उसे उनका यथार्थ निरूपण देकर उनके लिए उपयुक्त संकेत भी निर्धारित कर देना परम आवश्यक है। सभी भाषाओं में न तो बराबर स्वर हो सकते हैं, न बराबर व्यञ्जन। पाश्चात्य देशों में ख छ घ झ, ट ठ ड ढ ष भ ध ञ ण ध्वनियाँ बिलकुल नहीं मिलतीं। अंग्रेजी में आठ मौलिक स्वर है, कुछ अमेरिकन अंग्रेजी में सात ही हैं, स्पेनिश और रूसी भाषा में केवल पांच मौलिक स्वर (इ ए उ ओ आ) हैं। तगलोक भाषा में केवल तीन मौलिक (इ आ उ) स्वर हैं। फ्रेंच में अंग्रेजी से तीन वर्तुल स्वर अधिक हैं, तुर्की में चार स्वर (इ ए उ ओ) तो हैं पर चारों वर्तुल और समतल भेद से आठ भेद बना लेते हैं। जर्मन में वर्तुल और सीधे मिलाकर १४ स्वर हो जाते हैं। वर्तुल स्वर वे हैं जिनके उच्चारण में ओठों को गोल करना पड़ता है जैसे वर्तुल इ ए समतल उ और ओ (जिनमें ओठों को गोल करना उचित है) में उच्चारण समतल ओठों से किया जाता है। इसी प्रकार व्यञ्जनों की भी छान-बीन कर लेनी आवश्यक है। गंगोली कुमाउनी भाषा के स्वरों के अक्षरों (फोनीम) की स्थिति मानदंडीय अक्षरों की तुलना में निम्नलिखित चित्र में प्रस्तुत की जाती है। गंगोली कुमाउनी अक्षरों की स्थिति बिन्दुओं से (तथा मानदण्डीय स्वरों को वृत्ताकार रेखा से रेखाओं के योग में) दिखाई गयी है।
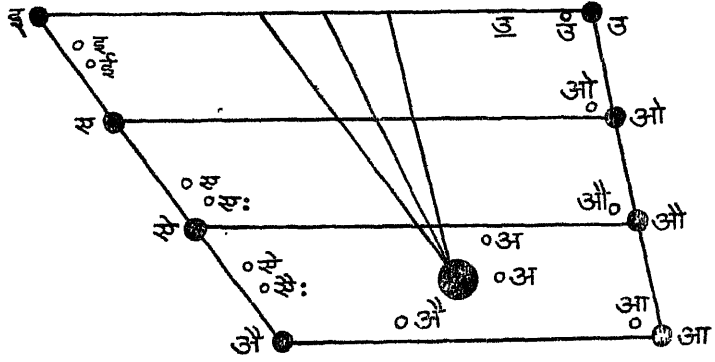
कुल स्वर— इ ई ई॰ (=इइ॒) इ॒ इ (=यि)   उ॒   उ ऊ उ॒ ऊ॒ उ (वू)
ए ए: ए॒ ए (= ये)   ओ ओः ओ॒ ओ(=वो)
ऐ ऐ: ए॒   अ   औ औः
औ औः औ॒   अ   आ आः आ॒

ः चिह्न दीर्घ वा द्विमात्रा का है। उक्त सब स्वर अनुनासिक हो सकते हैं।

कुमाउनी में अति सूक्ष्मता और अवधारण में प्रत्येक अक्षर की प्लुत=मात्रा रहती है यह इसकी सब भाषाओं से विशेष महत्व की बात है। सम्बोधन में प्लुत तो सभी भारतीय भाषाओं में होता है।

(२) स्वरों की व्याख्या

(स्वरों की शब्द स्तरीय व्याख्या आगे के अध्यायों में देखें)

इ—तालव्य स्वर है, इसके उच्चारण में जिह्वा का मध्यभाग बहुत थोड़ा-सा स्थान नादीय श्वास निकलने के लिए खुला रखता है, ओठ एक चौथाई अंगुल बराबर खुले रहते हैं चित्र में इसका स्थान दो स्वरों के मध्य से कुछ ऊँचे पर है। ई—इकार से अधिक विवृत है, इसके उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग तालु के सामने जब प्रयत्न करता है, तो प्रथम इ से कुछ पीछे हटकर तथा अगले भाग को, तथा ओठों को अधिक खुले रखने को बाध्य कर देता है, चित्र में इसका स्थान इकार से पर्याप्त नीचे, पर ए से अधिक ऊँचा है। इ॒—गंगोई कुमाउनी का अघोष स्वर है, प्रायः पदान्त या शब्दान्त में आता है, इ इ॒ = ई॰ उसी इ के उत्तरार्द्ध में अघोष-सा ध्रुवान्त-सा इ स्वर है जिससे यह अन्तिम भाग विसर्जनीय श्वास-सा लगता है।

इ्=य्=भुग्न इ है, कई स्थलों में इ को भुग्न य् सा शिथिल उच्चरित किया जाता है।

इ–तिसर (तीसरा), तितुर (तीतर), दिदि (दीदी),
हगिल (अगले आगे), लगिल (बेल)।

ई–रीश (क्रोध) तीश = प्यास, चौवीश (२४)
थाली (थाली), मली (ऊपर)।

इ॰–खेति॰ (खेती), कोठि॰ (कोठी), नैति॰ (नाती), जैति॰ (जाती)।

ई॰ = इइ॰–खस्सिइ॰ (खशजाति), बेइइ॰ (बीता कल)
मोट्टिइ॰ (मोटी मोटा), नदिइ॰ (नदिया)।

इ्–बामिण=बाम्यिण (ब्राह्मणी), खसिणि = खस्यिणि (खश स्त्री),
सिण = स्यिण (सीना)।

इ३–नानी ३ नानि॰ (सबसे छोटी), भली ३ भलि (बहुत बहुत अच्छी) आदि।

ए—इ के उच्चारण में मुख जितना खुलता है, उससे लगभग दूना, ए के उच्चारण में खुलता है, जिह्वा के जिस मध्य भाग से ई का प्रयत्न होता है उससे कुछ पीछे का भाग इस ए के उच्चारण में प्रयत्न करता है। इसका चित्र का स्थान तृतीय स्वर के अधिक समीप में है। एः — ए का दीर्घ है, इसके उच्चारण में स्थान और करण ए से दो अंश पीछे है। ए॰ — का अघोष स्वर है जो प्रायः अन्त में आता है। यह शिथिल भी है। ए् — शिथिल घोषवान् है (चवर्ग के साथ)

ऐ–नेथि॰ (मन्थन डोरी), मेटि॰ (मिटाकर), देखि॰ (देखकर)
लेखि॰ (लिखकर)

एः–तेःल (तेल), मेःल (मेल), खेःल (खेल), अवेःर (देर), ढेःड़ (ढेड़)

ए॰–ह्वेःह्वे॰ (हां हां), दी दिए॰ (दे देना)
करिए॰ (कर लेना), खितिए॰ (फेंक देना) खित्ये॰।

ए्–चेलि = च्येलि॰ (बेटी), बछेड़ि॰ – बछ्येडि (बछड़ी)।

ए३–जाए३ जाए (अवश्यमेव जाना)

ऐ—यह सन्ध्यक्षर नहीं है। यह ए से अधिक विवृत मौलिक ध्वनि है। इसके उच्चारण में मुख, ए के उच्चारण से अधिक खुलता है, जिह्वा का मध्यभाग भी, ए से कुछ पीछे के स्थान से प्रयत्न करता है। चित्र में इसका स्थान मानदंडीय ऐ से दो अंश नीचे है। ऐः इसका दीर्घ और अधिक विवृत रूप है जिह्वा का मध्य भाग और पीछे के भाग से इसका उच्चारण का प्रयत्न करता है। ऐ॰ = ऐ का अघोष रूप है।

ऐ = दै. (दही) मै. (पटेला करने का औजार), कै (कौन, कह दे)
ऐः—गैःर् (गहिरा), मैःल् (मैला), सैःर् (घूमना), बैःर (बैर)

ऐ—जन करै॰ (मत कीजिए); जन भाजै॰ (मत भागिए), आवै॰ (आवै) मै ३ मै करनो छ (वह में में कर रहा है), चै ३ चै जानो छ (वह देख-देख कर जा रहा है ।

विशेष—इस स्वर के उच्चारण में पूरे ओठ किनारों तक कुछ (एक अंश) बराबर खुल जाते हैं ।

अै—इसके उच्चारण में ओठों के बीच में एक अंगुल का फासला हो जाता है; ओठ पूरे कोनों तक खुल जाते हैं, कोनों का फासला कम रहता है। जिह्वा के मध्य भाग का कंठकी ओर का अन्तिम छोर प्रयत्न करता है, तालु के हनुमूलीय भाग के अग्रिम सीमा के सामने प्रयत्न होता है। यह आ से ३ अंश आगे प्रतीत होता है। चित्र में इसका स्थान केन्द्रीय 'अ' से कुछ आगे की ओर है, मानदंडीय (अै) से बहुत अधिक पीछे है। यह 'आ' से बहुत अधिक विवृत है। इसके तीन रूप मिलते हैं। अै, अैः अै॰। यह ध्वनि प्राकृत और अपभ्रंश (और संस्कृत) के आ + इ के योग से बने शब्दों में प्रायः मिलती है। प्राचीन कुमाउनी के आ + इ तो सब के सब 'अै' बन गये हैं। व्यञ्जनों के साथ इस स्वर की स्पष्टता के लिये तीन 'लग' देंगे जैसे जैं वेर, खैं वेर,

अै—मैंः (माई माता), गैंः (गाई गाकर), चैं आ (देख आ), नैंःलियो॰ (नहा लो)
अैः—अैःल (इस समय), पैःल पड़ो (पल्ला पड़ा)
खैंःवेर (खाकर), करैं (करने का ढंग)
अै॰—झन खायैं॰, झन जायैं॰, झन करैं॰ (मत खाना, मत जाना, मत करना)

यह अै॰ प्रायः पदान्त में आता है, यदि अधिक शीघ्रता से बोला जावे तो 'ऐ॰' सा प्रतीत होता है, है वह अै ही। अै ३—अवैं३ बटि (पहिले ही से)

आ—कुमाउनी में 'आ' पाँच प्रकार का है। ह्रस्व, दीर्घ, अघोष, प्लुत और लकारीय। ह्रस्व आ प्रायः गुरु या उदात्त होता है, दीर्घ में ऐसा नियम नहीं है। आ—का स्थान चित्र में मानदण्डीय केन्द्रवर्ती अ और 'आ' के मध्य में है। आः उससे अधिक खुला तथा अधिक पृष्ठतरीय है। इनके उच्चारण में अनुपात से पूरा मुख खुल जाता है। प्रयत्न हनुमूल के सामने, जिह्वामूल के अग्रिम भाग से होता है। लकारीय आ का प्रयत्न कंठ्य है। यह 'औ' के समीप-सा प्रतीत होता है पर है 'आ' ही। गढ़वाली में भी इस ध्वनि की प्रचुरता है। अघोष 'आ' पदान्त में आता है।

आ—घा (घास), चा (देख)	आः—घाःन, आःन, बाःन (सुन्दरी)
राज (राजा), बाज (बाजा)	राःज (राज्य), बाःज (बाज न आना, बाज पक्षी)
खाज (भुने चावल), काव (कौवा)	खाःज (खुजली), काःव (काल देव)
वास (निवास रात का, रास्ते में)	वाःस (बहुत दिनों का निवास)

आ़—मावा़ (माला), म्वाटा़ (मोटे), र्वांटा (रोटियाँ), घ्वाड़ा़ (घोड़े)

आ ३—ददा ३ दाद कूर्णोंछि (वह बड़े भैया बड़े भैया कहता था), ममा ३ माम (मामू मामू)

अ—संवृत प्रयत्न का स्वर है, सबसे कम खुला है। अबतक वर्णित स्वरों में सबसे अधिक नादवान् है। पदादि वाक्यादि में, बिना व्यञ्जन के जब यह ध्वनि आती है तो इसका उच्चारण कंठ से होता है, व्यञ्जनों के साथ जिह्वामूलीय प्रयत्न होता है, यह मानदण्डीय अ से कम खुला है, उससे कंठ की ओर तीन अंश आगे है। यह मानदण्डीय स्वर औ के कुछ समीप है। इसका दीर्घ रूप भी होता है जो उक्त अ और औ के मध्य में पड़ता है। इसकी सत्ता उस अकारान्त शब्द में मिलती है जिसको श्रोता निश्चयात्मक बोध के लिए दुहरा कर पूछता है कि वही शब्द कहा है क्या? इस दुहराने में व्यञ्जनान्त को भी अकारान्त कर दिया जाता है जैसे बामण = बामणः, तस् = तसः, यहाँ विसर्ग नहीं है, पर दीर्घ मात्रा बोधक दो बिन्दु हैं जैसा पहिले दिखाते आये हैं। अन्य उदाहरण जैसे अम्कणि (बेतुकी बात), अलग, अच्गछ (तितर वितर), बण (वन), कमर (कमर), सुकण (सूखना) आदि।

अ ३—दिग ३ दिग् (वह कितना अद्भुत वाह), भल ३ भल् (बहुत बहुत ही अच्छा)

औ—यह स्वर सन्ध्यक्षर नहीं है, शुद्ध स्वर है, पर पुरानी कुमा. के आ + उ से बनता है। यह मानदंडीय औ के बहुत समीप है, इसका उच्चारण स्थान कंठ है, इसके उच्चारण में ओठ दूज के चन्द्रमा के बराबर लम्बा वृत्त बनाते हैं। यह घात वाले अक्षरों में अधिक मिलता है। औः द्विमात्रिक स्वर है, इसके उच्चारण में मुख अधिक खुलता है, अधिक गम्भीरता रहती है।

औ—घौ (घाव), मौ (मधु), कौ (कहो), अपौं (आप), समौ (पकड़ो) लफौ (फेंको)

औः—घौःल (एक पेड़), रौःल (मथानी), शौःल (वराह), कौःल (प्रण) बौःल (मजूर काम)

औ ३—आवौ ३ आव (अवश्यमेव आइये)। खावौ ३ खाव (अवश्यमेव खाइये)

ओ—पाँच प्रकार का है ह्रस्व ओ, दीर्घ ओः, अघोष ओ, अधिक वर्तुल (ओ = वो) इसके उच्चारण में ओठ गोल करने पड़ते हैं। दीर्घ ओः अधिक विवृत है। अघोष पदान्त या शब्दान्त में आता है। अधिक वर्तुल में ओठ बहुत कम खुले रहते हैं। यह मानदंडीय ओ के समीप में बाहर की ओर है।

ओ—ओड़ (एक जाति), होइ (हाँ), तमोइ (तमोली), पोथि, (पुस्तक)

ओः—मोःल, गोःल, सोःल (सोलह), ओःठ् (ओठ), होःश, बोःजि (भौजाई)

ओ़—स्वरो़ (बिरादर), घोड़ो़ (घोड़ा), कामलो़ (कम्बल), चेलो़ (लड़का)

ओ = वो—ग्वोरी (गोरी), प्वोथी, पोथि (पुस्तक), मोड़ि, म्वोड़ि (मोड़कर)

ओ २ = ठुलो २ ठुल (बहुत ही बड़ा)

उ—कुमाउनी की गंगोई विभाषा में उ छः प्रकार का है, ह्रस्व उ, दीर्घ ऊ अघोष उ़, अधिक वर्तुल उ और उउ़। अन्तिम उउ़ सघोष अन्तिम उ की ध्रुवान्त उकारीय ध्वनि सी है जो प्राय द्विस्व या दीर्घ व्यञ्जनों के अन्त में प्रायः मिलती है। उ ध्वनि मानदंडीय ध्वनि से कुछ समीप और अधिक खुली है। ऊ उसकी दीर्घ ध्वनि है और ह्रस्व से अधिक संवृत है। अकेले उ और ऊ के उच्चारण में ओठ उपसंहृत और गोल होते हैं, पर व्यञ्जनों के साथ न अधिक उपसंहृत होते हैं न वर्तुल, ओठ बहुत थोड़े खिंच से जाते हैं ध्वनि ओष्ठ कंठीय प्रयत्न से होती है।

उ—उदास, बुकूँःडँ (चबाना), दुँड़ँ (दूना), टुण (तोड़ना), खुण (लकड़ी का जला टुकड़ा)

ऊ—दूद् (दूध), सूत (तागा), लूण (नमक), बूंण (बोना), कूण (कहना)

उ़—गोरु़ (गाय), आउ़ (आओ), जाणु़ (जाना), खाणु़ (खाना)

उ (वर्तुल)—थमूण थम्वूण (पकड़ना), बुट ब्वुट (बूटे), लुट ल्वुट (लूटो)

ऊ़ = उउ़—मद्दू़ पद्दू़ नत्थू़ बक्सू़ = मद्दुउ़, नत्थुउ़, बक्सुउ़ (बटन)

इसमें अन्तिम भाग उ़ अघोष श्वास-सा ध्रुवान्त पद-सा लगता है यह सन्ध्यक्षर-सा या द्विस्वर-सा भी नहीं है, यह दीर्घ ऊ के समान है जिसकी एक मात्रा नादीय घोषीय है उत्तरार्द्ध की श्वासीय अघोष। उ २ = नानु २ नान (बहुत ही छोटा), खानु २ खानु = (हाँ खाते ही हैं), जानु २ जानु (हाँ जाते ही हैं या जा ही रहे हैं)

अ—यह आकार का लघु रूप है, जो प्रथम अ से अधिक संवृत और शिथिल है, और स्वरहीन (घातविहीन) आदि के स्थान में शिथिल सा तथा व्यञ्जनान्तों के अन्त में सुप्त अ-सा या ध्रुपद-सा श्वासीयध्वनिरूप में मिलता है। अघोर (छूत हो जाना छूत लग जाना), अखोड़ (अखरोट) पक्क् अ, साँच् अ (पक्का, सच्चा), चट्ट् अ (सब खा जाना)

उ—यह तिरछे ओठों से उच्चरित उ सा अ है। यह अधिकांश में र के पूर्व या परे में ह्रस्व या दीर्घ रूपों में मिलता है। दूसरा दीर्घ रूप तो बिना र के भी प्रायः अन्त में तब आता है जब उक्ति की पुष्टि के लिए उसी शब्द को दुहराया जाता है। व्यञ्जनों के साथ इसकी मात्रा [✓] पाद में दी गई है।

उ—अर्उग (अर्घ), न र् उ ग (नरक), ख र् उ ग (जंगल की गौ-शाला, वर्उश (वर्ष), सर्उग (स्वर्ग), हर्उग (दूसरा)।

उः—तस्उः (वैसा ?), यस्उः (ऐसा ?), कस्उः (कैसा हो ?)।

या—तस्✓: यस्✓: कस्✓

उक्त स्वरों का प्राचीन शैली का विवेचन ठीक वैसा ही होगा जैसा कि प्रातिशाख्यों और शिक्षाओं में वर्णित वैदिक और शास्त्रीय स्वरों का पिछले अध्यायों और प्रकरणों में दिया जा चुका है। यह संभव है कि किसी समय वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत भाषाओं में इकारादि के उतने भेद रहे होंगे जितने आजकल की आर्य भाषाओं में, विशेषकर गंगोई कुमाउनी में, इस प्रकरण में वर्णित भेद स्पष्टतया मिलते हैं। इन सबका विवेचन इनके मुख्य अक्षरों के अनुसार तथा उनमें जो विशिष्ट स्थान और करण के भेद हैं उनके अनुसार बना लेना चाहिए। कुल स्वर इस प्रकार लिखे जाते हैं—

इ	इ = यि	उ	उ (व्)	उ
ए	ए (= ऐं)	ओ = वो		ओ
ऐ		अ		औ
ऐं		अ		आ

अतः मौलिक अक्षर (फोनीम) १५ हैं।

२५ अध्याय

(१) गढ़्वोई कुमाउनी व्यञ्जन

स्थान→ / भेद↓	ओष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य मूलीय	वर्त्स्य मूर्द्धन्य	मूर्द्धन्य	वर्त्स्यतालव्य शिथिल	तालव्यवर्त्स्य घृष्ट	तालव्य	हनुमूलीय	जिह्वामूलीय	कण्ठ्य	अर्द्धदन्तीय	उरस्य
श्वासीय या अघोष स्पर्श	प		त	ट			च		क				
सोष्म स्पर्श	फ		थ	ठ			छ		ख				
नादवान् स्पर्श	ब		द	ड			ज		ग				
महाप्राण स्पर्श	भ		ध	ढ			झ		घ				
घृष्ट							च छ ज झ						
नासिक्य	म		न	ण	ँड़ँ			ञ	ङ			ः	
लकार				ल				ळ		(ऌ)			
महाप्राण	म्ह		न्ह	ल्ह				ळ्ह		(ॠ)			
रेफ				र	र								
ड़ ढ़				ड़ ढ़	ड़ ढ़								
अन्तःस्थ	व	व व्व		र ल	र	य		य					
ऊष्माण			स	व	ष		श					ह ह् ा: =	

टिप्पणी—(१) प्रत्येक भाषा में स्वर व्यञ्जनों की संख्या बराबर नहीं होती. किसी में ८ स्वर हैं (अंग्रेजी), किसी में ७ (इटालियन), किसी में ५ (स्पैनिश और रूसी), किसी में ३ (तगलोक), किसी में ८ शुद्ध, तीन गोल (फ्रेंच), किसी में चार शुद्ध चार गोल (तुर्की), किसी में ६ शुद्ध ६ गोल (जर्मन) इत्यादि। इसी प्रकार व्यञ्जनों की भी संख्या समझी जाय। इनके वर्ण कहीं-कहीं अनेक हैं (दे. ब्लूमफील्ड 'लैंग्वेज' पृ० १०३-१०८)।

(२) यूरोपीय भाषाओं में अन्तःस्थ दो (य व) ही है । ब्लूमफील्ड पृ० १०२ के अनुसार इनके र् ल् कहीं-कहीं अन्त में स्वर सम हैं और वे पदीय कहलाते हैं। ऐसे स्थलों में इन्हें स्वर मान लेना अनुचित नहीं हैं। वहाँ ये ऋ लृ की छाया-सी हैं। पाइक ने स्वरों और व्यञ्जनों को कुछ दूसरा नाम वौकोइड और कैन्टोइड दिया है। उनका कहना है कि स्वरों में भी ऊष्माणता मिलती है, केवल शुद्ध घोषता नहीं होती। यह उनके कहने की रीति मात्र है, संवृतता, विवृनता, ईषद्विवृतता आदि स्वयं कुछ न कुछ संघर्ष से सम्बन्ध रखते हैं, स्वर तो घोषध्वनियों की स्थानीय भेदक हैं जिनमें जिह्वा ओठ आदि का स्पर्श या घर्षण नहीं होता, हाँ कहीं उबलती ध्वनियों के स्वर हो सकते हैं, कहीं अघोष, कहीं निर्घोष, जिनके उच्चारण में अर्द्धेन्दु के तारों की झंकारों की संख्या अत्यधिक या क्रमशः कम-कम रहती है। स्वर उतने होते हैं जितने मुख, ऐसे ही व्यञ्जन भी, इसीलिए हम बोली की ध्वनि से व्यक्ति को पहिचान लेते हैं। पर मनुष्य स्वरों में अधिक से अधिक ५० की व्याख्या कर सकता है, यद्यपि ये सर्वत्र ८ से अधिक नहीं आंके गये हैं (डेनियल जोन्स आउट लाईन ई० फो० ११२)। अतः पाइक का मत अनुचित है ।

(३) नासिक्यों और ऊष्माणों को पाश्चात्य लोग तारतम्यवान् मानते हैं और हमारे यहाँ इन्हें ह्रस्व दीर्घ प्लुत माना जाता है, दे. ऊष्माण ध्वनियां-अनुस्वार पीछे। वास्तव में नासिक्यों को स्पर्शीय और ऊष्माणों को स्थिति प्रयत्नीय माना जाता है, नासिक्यों की तारतम्यता तदनुरूप स्वर की अनुनासिकता है। अनुस्वार स्वरांग होता है, स्पर्श एक स्पर्श है। ऊष्माणों का स्थित प्रयत्न कुछ तारतम्यता रखता है पर स्फुट ध्वनि की सीमा निर्धारित लम्बी तान में वह अस्फुट ध्वनियों में गिना जा सकता है ।

(२) वर्गीय व्यञ्जन

गङ्गोई कुमाउनी के अघोष या श्वासीय क च ट त प शुद्ध स्पर्श हैं। इनमें ऊष्माणता का लेश नहीं है। इनमें अंग्रेजी के पदादि के क त प के समान हकारता या अल्पयसी हकारता भी नहीं हैं। इनके जो सोष्म ध्वनियाँ हैं उनमें भी हकारता नहीं है वरन् ऊष्मता है जैसा कि वैदिक सोष्मों में प्राप्त है। दूसरी मुख्य बात यह है कि भारतीय व्यञ्जन और कुमाउनी व्यञ्जनों के सोष्म और हकारता युक्त स्पर्श ख छ ठ थ फ (सोष्म) और घ झ ढ ध भ (हकारता युक्त) संयुक्त से वर्ण या ध्वनियाँ नहीं हैं। ये एक ध्वनीय व्यञ्जन है। जिस प्रकार पंजाबी का भाई शब्द या अंग्रेजी में लिखा अंग्रेज के मुख से पढ़ा

में होता है, कोमल तालु और वर्त्स्य में। कोमल तालु के सामने का जिह्वाभाग और जिह्वा के अग्रिमतम भाग से एक सेन्टीमीटर पीछे का भाग, तालु और वर्त्स्य स्थान पर स्थित प्रयत्न करते हैं जो घृष्ट प्रयत्न-सा लगता है। जिह्वा की नोक नीचे के दाँतों के भीतरी भाग पर चिपकी रहती है, वर्त्स्य और तालु के सामने का जिह्वा का भाग थोड़ा-सा खुला रहता है। इनके उच्चारण की ध्वनि में ऊष्म दन्तमूलीय सकारता की सी ध्वनि प्रत्यक्षतः प्रतीत होती है।

विशेष—प्रत्येक स्पर्श और घृष्ट व्यञ्जन विस्फोटित और अस्फोटित दो प्रकार के होते हैं। जब व्यञ्जन संयोग होता है तो प्रथम व्यञ्जन अस्फोटित रहता है। जब ये व्यञ्जन स्वरों के साथ रहते हैं तो ये सब विस्फोटित हो जाते हैं। पदान्त, वाक्यान्त या शब्दान्त के व्यञ्जन भी अस्फोटित रहते हैं, पर उनके अन्त में ध्रुवीय श्वास निखर पड़ता है जो अघोष अ के समान (आधी मात्रा का) प्रतीत होता है। विभिन्न स्थानीय व्यञ्जन संयोगों में अभिनिधान और स्वरभक्ति की भी स्पष्ट प्रयुक्ति और अनुभूति होती है। जब एक ही स्पर्श द्वित्व होकर प्रयुक्त होता है, तो उसका प्रथम स्पर्श अस्फोटित और द्वितीय स्वर विस्फोटित होता है जिससे उस द्वित्व वाले स्पर्श को हम दीर्घ स्पर्श कह सकते हैं। जैसे—अट्टार = 'अठ्ःआर' (अठ्ठारह); नक्क = नक्ः (बुरा) साँच् = साँचः। जब ऐसे द्वित्व व्यञ्जन शब्दान्त में आते हैं तो उनमें ध्रुवीय ध्वनि अपने आप निकल पड़ती है। 'पत्त् अ' = 'पत्ः अ' (बिलकुल पता) 'नक्ः अ' 'साँच्ः अ'

(३) नासिक्य

बड़े सौभाग्य की बात है कि गङ्गोई कुमाउनी में पाँचों नासिक्य अबतक सुरक्षित हैं। ञ के उच्चारण में जिह्वामूल का अग्रभाग तालु से स्पर्श करता है और नादीय श्वास मुख और नासिका विवर से निकल आता है। म् के उच्चारण में नीचे का ओठ ऊपर के ओठ से स्पर्श करता है और श्वास मुख तथा नासिका विवर से निकल पड़ता है। न का उच्चारण दन्तमूल में जिह्वा के स्पर्श से होता है। नाद मुख नासिका विवर से निकलता है। ङ् में जिह्वा का मूल हनुमूल से स्पर्श करके नाद को मुख और नासिका विवर से निकल जाने देता है। ण् का उच्चारण वर्त्स्यमूर्द्धन्य स्थल पर जिह्वा के उपाग्र से स्पर्श करके श्वास मुख और नासिका विवर से छोड़ा जाता है। यह नासिक्य कम स्थलों में उपलब्ध होता है। लिखित में जिसके लिए अधिकांश में 'ण' लिखा जाता है वह मूर्द्धन्य ड़ का अनुनासिक रूप ' ँ ड़ँ ' है। जाणु करणु आदि = जाँड़ँु करँड़ँु आदि हैं। पर बाण् (भाग) = 'बाँड़ँ' नहीं है, (१) बाण

(२) बाँङँ (जोतना) में प्रथम अशुद्ध, द्वितीय शुद्ध है। ञ् और ङ् का प्रयोग पदादि और शब्दादि में किसी की भद्दी नकल या चिढ़ाने में किया जाता है कि वह 'ङैङैङै' बोलता है', या 'ञै ञै ञै ञै' कहता है' जिसके माने अस्पष्टता और दीनता दोनों होती हैं। ण् और ँ ङँ का प्रयोग उक्त ञ और ङ के ढंग में भी पदादि शब्दादि में नहीं होता, न म का प्रयोग सर्वत्र (आदि मध्य अन्त में) होता है, ण ँ ङँ का मध्य या अन्त में ही होता है। कथित स्थलों को छोड़, शेष सब स्थलों में ञ और ङ का प्रयोग प्रायः मध्य या अन्त में आता है। अनुस्वार और ये नासिक्य अपने पूर्ववर्ती या परवर्ती स्वर को अनुनासिक बना देते हैं। विशेषकर के ण या ँङँ पूर्ववर्ती स्वर को सदा अनुनासिक कर ही देते हैं। अनुनासिकता का चिह्न अर्द्ध चन्द्रबिन्दु है जो प्राकृत और अपभ्रंशों के अनुस्वार का संक्षिप्त रूप शेष रह गया है वाँकू—बंकं वक्रम् (सुन्दर और एक साग), आँकू—अंक अर्क (आंक का पेड)। व्यञ्जन के पूर्व के नासिक्य को अनुस्वार में लिखने की एक शैली चल तो पड़ी है, पर वह अशुद्ध शैली है 'शङ्ख' को 'शंख' लिखना उच्चारण की अशुद्धि का सूचक है हम उच्चारण में 'शङ्ख' ही करते हैं 'शंख' नहीं। क्योंकि इनका एकात्म्य ङ से ही होता है। इस अनुस्वार की भ्रमपूर्ण शैली से आजकल हिन्दी में सरूपता की अशुद्धियाँ होने लगीं हैं। लोग दण्ड को दंड लिखने लगे तो अब लोग 'दन्ड' भी लिखने लगे हैं। ऐसे ही—'चञ्चल' को 'चंचल' लिखने लगे थे, तो अब 'चन्चल' लिखने लगे हैं। यह महान् अनर्थ हो रहा है, प्रत्येक वर्ग में अनुस्वार अपने वर्ग के ही नासिक्य में परिवर्तित होता है, यह स्वभाव का, प्रकृति का कठोर नियम है, दूसरा नासिक्य कदापि भी उच्चारित हो ही नहीं सकता। अनुस्वार की भी एक जबरदस्ती की शैली है, न जाने क्यों पाणिनि जी ने स्वीकृति दे दी। यह मूलतः गलत है, सरासर गलत है। नासिक्यों का अनुस्वार केवल (पंचवर्ग भिन्न) उष्माण और अन्तःस्थों के साथ सह्य और सही है, (संसार, संहार, संशय, संवत् संयम, संलाप, संरक्षक) अन्य स्थलों में नहीं। कुमाउनी में म्ह न्ह ल्ह में चार महाप्राण हकारता युक्त चतुर्थ घ झ ढ ध भ के समान तादात्म्य वाली ध्वनियाँ हैं। म्हतारि (माता), न्हैति (नहीं है), ल्हा (लाओ) आदि।

(४) अन्तःस्थ लकार

गङ्गोई, कुमाउनी में दो लकार हैं। (१) वर्त्स्य मूर्द्धन्य (२) तालव्य; प्रथम के उच्चारण में जिह्वा के मुख की नोक वर्त्स्य और मूर्द्धन्य की सीमा पर स्पर्श करती है। पदादि के ल का उच्चारण, वर्त्स्य से आगे बढ़कर मूर्द्धन्य की

सीमा में स्पर्श होता है (मूर्द्धन्य का ½ इञ्च भाग तथा वर्त्स्य के सीमा का स्पर्श होता है) पदमध्य और पदान्त के ल के उच्चारण में स्पर्श स्थल वर्त्स्य मूर्द्धन्य सीमा है। तालव्य ळ प्राय पदान्त या शब्दान्त में स्वर युक्त या बिना स्वर के आता है। इसके उच्चारण में तालु के सामने का जिह्वा का भाग प्रयत्न करता है, तथा जिह्वा का अग्रभाग द्रोणिका आकार बनाकर ऊपर के तालु की ओर जब पलटता है तो श्वास जिह्वा के एक किनारे से निकल जाता है तब इस तालव्य ळ की ध्वनि उत्पन्न होती है। इसके उच्चारण में कंठ भी कुछ प्रयत्न-सा प्रतीत होता है अ और आ का उच्चारण 'औ' सा प्रतीत होता है, अन्य स्वरों में भी उरस्यता या कंठ का प्रभाव कम नहीं होता। मुख बहुत वायु से भरा प्रतीत होता है जिह्वा के मुख की नोक फिसलकर बाहर को आती-सी लगती है। यह स्वरीय व्यञ्जन सा अक्षरीय (सिलेबिक) व्यञ्जन सा कुछ अजीब-सा व्यञ्जन है, बड़ा३ मीठा है। इसकी विशेषताओं में मुख में अत्यधिक प्राण वायु का भरना, तथा मुख का जिह्वा प्रयत्न में अधिक खुलना, इसके साथ आने वाले स्वरों की ध्वनि में कुछ शिथिलता आना, उनके स्वरूप में पर्य्याप्त मात्रा में अन्तर ले आना आदि हैं। यह ध्वनि गढ़वाली में भी पर्य्याप्त मात्रा में इसी अनुरूपता में विद्यमान मिलती है। ऌ हमारी भाषाओं में नहीं रह गया है। प्राचीन ऌ का विवेचन पीछे देखलें।

रेफ ड़, ढ़ और ँ ड़ँ

रेफ दो प्रकार का है, जब आश्चर्य प्रकट करना होता है तो अर्र्र्र् की ध्वनि में जिह्वा की नोक वर्त्स्य स्थान की उच्चतम रेखा के सामने तीव्र कम्पन करती है। पदादि के र में दो तीन कम्पनों का अनुभव होता है यह अल्पकम्पन वर्त्स्य स्थान की उच्चतम रेखा से ऊपर मूर्द्धन् की ओर लगभग ½ इञ्च तक होता प्रतीत होता है। पदमध्य और पदान्त के र् ध्रुप्र से कुछ शिथिल से लगते हैं। इनमें दो से अधिक कम्पन नहीं प्रतीत होते। ये वर्त्स्य के उच्चतम रेखा स्थानीय हैं, पदादि का र मूर्द्धन्य है। ड़ पूर्ण मूर्द्धन्य व्यञ्जन है इसके उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग कठोर तालु से रगड़ता हुआ वर्त्स्य स्थान तक फिसलता आता है। इस क्रिया में जिह्वा को करछी या द्रोणिका का आकार बनाकर मुर्द्धन् की ओर झपटना पड़ता है। इसका प्रयोग पदादि में नहीं मिलता, जब यह पदान्त या शब्दान्त में आता है तो इसका उच्चारण कुछ शिथिल होता है, इसको तब वर्त्स्य मूर्द्धन्य स्थान से उच्चरित करते हैं। ड़ का अनुनासिक रूप ँ ड़ँ प्रायः प्राकृत और अपभ्रंश के ण और न के स्थान में आता है। कुमाउनी की क्रिया बोध धातु नामों का 'णु' या धातु रूपों का

लिखित रूप 'ण' मूर्द्धन्य 'ण' न होकर इसी ड़ का अनुनासिक रूप ँ ड़ँ है। इसका उच्चारण स्थान कठोर तालु या मूर्द्धन्य ही है, केवल अनुनासिकता इसमें अधिक है। ढ़ इसी ड़ का हकारता युक्त रूप है यह भी पूर्ण मूर्द्धन्य और फिसलन् वाला व्यञ्जन है, उच्चारण विधि मूर्द्धन्य ड़ के समान है।

. य और व

य के उच्चारण में जिह्वा का मध्य भाग एक ओर से कोमल तालु से स्पर्श करता है, दूसरी ओर, पूरी जिह्वा अर्धाकार रूप बनाकर वर्त्स्य स्थान से वायु को बाहर छोड़ती है। यह अर्धाकार रूप जिह्वा के बीचोंबीच लम्बे भाग का बनता है, जिह्वा के दोनों किनारे दोनों ओर के दांतों की जड़ों से मिले-से रहते हैं। अकेले य के उच्चारण में कुछ-कुछ ओठों को गोल करने का सा या उपसंहृत करने का सा प्रत्यक्ष प्रयत्न होता है। पर पद और वाक्य में ऐसी स्थिति नहीं आती, आभ्यन्तर प्रयत्न मात्र होता है। पदान्त और शब्दान्त या वाक्यान्त में इसका उच्चारण शिथिल या भुग्न रहता है। भुग्न य का उच्चारण अस्फोटित सा या इ सा सुनाई पड़ता है। भुग्न शिथिल या पूरक ध्वनि है, कमाइओं = कमायों, आय् = आइ। नयन = नइन। जँवाइ = जँवाय् = जमाथ्‌या = जामाता।

व—इसका स्थान दन्त और ओष्ठ है। इसके उच्चारण में ओठ गोल होते हैं। नीचे का ओठ ऊपर के ओठ से दोनों किनारों में तो मिला रहता है पर अल्प वर्तुली स्थान में दोनों ओठों के बीच में थोड़ा सा स्थान खाली रहता है। उ के उच्चारण में यह स्थान बहुत कम खाली होता है, पर व के उच्चारण में उसका दूना स्थान खाली रहता है। अतः यह वह 'व' जैसा सुनाई पड़ता है। इसमें इ के उच्चारण से ओठ भी कम गोल होते हैं, पर अधर का भीतरी भाग ऊपर के दांतों से स्पर्श करता है। अल्प स्पर्श होता है। जिह्वा की स्थिति उ के उच्चारण की स्थिति के समान कण्ठ से नीचे के दांतों के कुछ पीछे तक सीधी पड़ी जैसी होती है, पर जिह्वा का मध्य भाग निचला तथा अग्रभाग ऊँचा होता है। पदान्त और शब्दान्त का व भुग्न या शिथिल होता है। इसके उच्चारण में ओठ दांतों से ईषद् स्पर्श नहीं करते, ओठ भी गोल नहीं होते, न प्रयत्न करते हैं। माव मावा (माला), क्याव् क्यावा (केला)। वाँ (वहां), याँ वाल् (इधर का), वील (उसने)। पदादि के व को 'व्व' लिखा जाय तो ठीक हो।

(५) ऊष्माण

ह, और ह्,—गङ्गोई कुमाउनी में "ह" का उच्चारण कण्ठ से होता है यह घोषवान् है, श्वासवान् नहीं। इसके उच्चारण में अर्द्धेन्दु द्वार ईषद् विवृत

रहते हैं। यह पदादि, पदमध्य, पदान्त में सर्वत्र आता है। हमि (हम), बहर (बहिरा), महर (एक जाति), सह लियो (सह लो)

ह़्—अल्प घोष ह है। यह भी कण्ठ्य है। पर इसके उच्चारण में अर्द्धेन्दु द्वार तथा मुख की विवृतता घोषीय ह के उच्चारण से बहुत अधिक रहती है। इसकी ध्वनि स और ह के बीच की सी ध्वनि होती है। प्रायः खश जाति इसका उच्चारण अधिक करती है, (शाक) शाग = ह़ाग, शाँस = ह़ाँस (सायं या सांझ) इत्यादि। यह ध्वनि प्रायः पदादि या शब्दादि में ही आती है। यह अंग्रेजी के होटेल हौस्पिटल आदि के एच से कुछ अधिक विवृत है। अंग्रेजी 'हैज' से तो पर्य्याप्त विवृत है। यह संस्कृत के विसर्गनीय से कम विवृत है, ह से अधिक। यह इन दोनों की मध्यवर्ती अल्प घोषीय ध्वनि है। यह कुमाउनी की एक महत्व पूर्ण विशेषता है।

श—तालव्य वर्त्स्य है। इसके उच्चारण में जिह्वा का मध्योत्तर भाग कोमल तालु और जिह्वा का उपाग्र भाग वर्त्स्य के सामने प्रयत्न करता है। इसमें स्थित प्रयत्न होता है। श्वास वेग से निकलता है।

स—के उच्चारण में जिह्वा का मुख दन्तमूल के पास स्थित प्रयत्न करता है, श्वास की वायु जिह्वा और दन्तमूल के बीच से बड़े वेग से बाहर निकलती है। जिह्वा श्वास वायु के लिए नाली सी बनकर ओर छोरों से वर्त्स्य स्थान में चिपकी रहती है, बीच में वायु को वेग से जाने के लिए स्थान रहता है, वहीं स्थित प्रयत्न करता है। कुमाउनी में दन्तमूलीय स से तालव्य वर्त्स्य श अधिक प्रयोग में आता है।

ष—संस्कृत तत्सम शब्दों के उच्चारण में जहां टवर्ग से मिला ष कार आता है, या जहां कुमाउनी में श और स् का योग टवर्ग से पड़ता है वहीं यह ष ध्वनि मिलती है; अन्यथा अन्यत्र यह नहीं मिलती।

प्रतिभा दर्शन की आत्मा
स्फोट और अर्थनाद
तृतीय खण्ड

१ अध्याय

स्फोटवाद

भारतीय भाषातत्व शास्त्रियों के उन्मेष की पराकाष्ठा का अमर स्मारक सिद्धान्त 'स्फोट' वाद है। इस सिद्धान्त की मुख्य आधार शिला सांख्य-योग दर्शन की श्रावण प्रत्यक्ष-विषयक गम्भीर गवेषणा है। शब्द चित्रों, अर्थ चित्रों और भाव चित्रों का सीधा सम्बन्ध भी सांख्ययोग दर्शन के प्रत्यक्षविषयक सिद्धान्त से ही है। 'सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार' नामक ग्रन्थ के अध्याय १७ में यह स्पष्टतः प्रतिपादित किया जा चुका है। स्फोटवाद एक स्वतन्त्र दर्शन है, यह है प्रतिभादर्शन, जिसे शब्द ब्रह्म दर्शन या ॐकार ब्रह्म दर्शन कहते हैं। यह स्फोटवाद ज्ञान की प्रथम सीढ़ी है, और अर्थबोध का प्रथम द्वार है, पूर्व मध्यकालीन वैयाकरणों और निरुक्तकारों की चलती गाड़ी ने इस स्फोटवाद को आद्योपान्त कुचलने का यथाशक्ति प्रयास किया, पर वे इस लक्ष में असफल रहे। ज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। वे स्फोट को ठीक रीति से समझ भी न सके, न वे उसे विविक्ततः समझा सके। अब धीरे-धीरे वह स्पष्ट स्फोटवाद एक 'रहस्यमय' विषय सा बन गया। अतः संस्कृत साहित्य पर सैकड़ों ग्रन्थ लिखने वाले, डा० ए० बी० कीथ महाशय ने जब इस स्फोटवाद का अध्ययन आरम्भ किया तो उनके पल्ले कुछ न पड़ सका। वे निराश होकर लिख गये "स्फोट एक रहस्यमय इकाई है, एक प्रकार का ध्वनियों का माना हुआ रूप है, जिसकी अभिव्यक्ति ध्वनि है" (संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ३८७)। इसी प्रकार प्राचार्य स. क. डे. महाशय अपने 'आलंकारिक शास्त्र के इतिहास के अध्ययन' (भाग २ पृ० १८०) में लिखते हैं कि "कुछ दार्शनिकों ने एक सिद्धान्त स्थापित किया कि शब्दों का एक प्रतिरूप सा पूर्वरूप स्वभावतः होता है, उसी को वैयाकरणों ने (आँख मीचकर) अपना लिया, और यह स्फोटवाद वास्तव में रहस्यमय मत है"। श्रीमान् जौन ब्रूफ, प्राचार्य भारतीय विद्या विभाग 'प्राच्य और अफ्रिकन विद्या केन्द्र लन्दन', महाशय कहते तो यह हैं कि स्फोटवाद उनकी समझ में आ गया है और उसमें कोई रहस्यमय बात नहीं है, पर जैसा आप आगे चल कर देखेंगे, और अनुभव कर लेंगे कि 'स्फोटवाद' इन के भी पल्ले नहीं पड़ पाया। प्रस्तुत महोदय ने कई जगह कई मौलिक ग्रन्थों के मुख्य वाक्यों के वास्तविक अर्थों को गलत लिख दिया है। प्रसंगवश कुछेक ऐसे वाक्यों पर यहां विचार करना परम आवश्यक है।

(१) स्फोटवाद का सर्वप्रथम उल्लेख

भाषा तत्त्व शास्त्र ने पहिले भाषा विज्ञान नाम धारण करके आज जो प्रस्तुत स्वरूप धारण कर सकता है उसका मूल स्रोत यास्क आचार्य महोदय के निरुक्त में वर्णित कतिपय भाषातत्त्व शास्त्रों का मुख्य और संक्षिप्त विवेचन हैं। इसी निरुक्त ने पहले पहल पाश्चात्य विद्वानों के ध्यान को भाषा के परिवर्तन और विकास के मूल सिद्धान्तों की ओर आकर्षित कर भारोपीय भाषा की स्थापना कराके भाषाविज्ञान नामक शास्त्र की नीव डलवायी थी, वही पुनः उसी निरुक्त के विशेष अध्ययन द्वारा आज 'भाषा तत्त्व शास्त्र' रूप में विकसित हो गया है। यह बड़े गर्व की बात है। पाश्चात्य भाषातत्त्वविद् अब इस भाषातत्त्व शास्त्र को अपना नया आविर्भूत शास्त्र कहकर हम भारतीयों की आँखों में धूल झोंकने में पर्य्याप्त मात्रा में अधिकांशतः इसलिए समर्थ हो रहे हैं कि उन्होंने हमारे पूर्वजों के उक्त तथ्यों को विज्ञान की कलों की सहायता का व्याघ्राडम्बरीय भयावना चोगा पहिना कर उसे स्वांग का सा विचित्र रूप दे डाला है।

यास्काचार्य सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न विभूति थे, और थे सांख्ययोग के धुरंधर आचार्य (दे. सा. यो. द. जी. अध्याय ३, ६, ९, ११ और १३)। उन्होंने निरुक्त लिखने में सर्वप्रथम आक्रमण प्रतिभादर्शन या भाषातत्त्व के मूल और मुख्य सिद्धान्त 'स्फोटवाद' पर ही किया। उन्होंने भाषा को चार मुख्य भागों 'नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात' में बाँटा है। नाम संज्ञा को कहते हैं, आख्यात क्रिया को। संज्ञा में सत्त्व प्रधान रहता है तो क्रिया में भाव प्रधान 'सत्त्वप्रधानानि नामानि, भाव-प्रधानमाख्यातम्' (निरुक्त १-१)। इन परिभाषाओं में आये शब्द 'सत्त्व' और 'भाव' को आलोचकों ने बिलकुल गलत समझ रखा है। वे इनका अर्थ व्याकरण की परिभाषा के अनुसार देते हैं। यास्काचार्य के मस्तिष्क में यहां पर दार्शनिक वातावरण मँडरा रहा है। 'भाव' गुण या गुण रूप सतत क्रियाशीलता का नाम है। सत्त्व उन गुणों के विकसित ठोसरूप पदार्थ और प्राण हैं। 'भाव' शब्द का अंग्रजी 'अनुवाद बीइंग् और बिकमिंग्' या 'बीइंग्' अपूर्ण है। 'भाव' वार्ष्यायणि के मतानुसार छह प्रकार के होते हैं। 'षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः, जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते विनश्यतीति' (निरुक्त १-१-४)। उत्पन्न होना, रहना, परिणत होना, बढ़ना, क्षीण होना और नाश होना ये छह भावभेद हैं। ये गुणों की नित्यक्रियाशीलता द्वारा विकास या ह्रास सूचित करते हैं। 'बीइंग् और बिकमिंग्' तो भावों से मैं

केवल दो का ही बोध करा सकते हैं, अन्य चारों के लिए इस अनुवाद में चारा कहाँ है ? अस्तु । यास्काचार्य अपने दिये हुये भाषा के चार मुख्य भागों 'नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात' को दृढ़तापूर्वक स्थापित करने के लक्ष से अपने पूर्ववर्ती औदुम्बरायण, प्रतिभादर्शन के उपलब्ध प्रथम आचार्य जी के उस मत का पूर्ण खण्डन करने का खुला और स्पष्ट प्रयास करते हैं जिसमें वे (यास्क के) उक्त चारभागों को मानना व्यर्थ समझते हैं । औदुम्बरायण जी ने अपने पक्ष के समर्थन के लिए भाषासम्बन्धी सिद्धान्त ही, यास्क प्रभृति अन्य तत्कालीन आचार्यों से विभिन्न रूप में स्थापित कर रखा है, जिसकी बोटी बोटी की कड़ी आलोचना करते हुये यास्काचार्य उनके उद्धरणपूर्वक लिखते हैं :—

"गौरश्वः पुरुषो हस्तीति भवतीति भावस्यास्ते शेते व्रजति तिष्ठतीतीन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः । तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यतेऽयुगपदुत्पन्नानां शब्दानां वा इतरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च (नोपपद्यते) । व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्दस्य संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके, तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम् । पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ।" (निरुक्त १-१-४) । यहाँ पर विषय को विविक्तता देने के लिए भर्तृहरि जी के उक्त वाक्य के समझे हुये आशय को दे देना परम सहायक होगा । ऐसा प्रतीत होता है कि जब भर्तृहरि जी निम्नलिखित छन्द लिख रहे थे तो उनके सामने निरुक्त का उक्त वाक्य अवश्य उपस्थित था, क्योंकि, भर्तृहरि जी ने औदुम्बरायण जी के मत का समर्थन करने के लक्ष से यास्काचार्य जी की उक्त सभी कोटियों का क्रमशः खण्डन दे डाला है । वह इस प्रकार है :—

"सर्वं सत्त्वपदं शुद्धं यदि भावनिबन्धनम् ।
संसर्गे च विभक्तस्य तस्यार्थो न पृथग्यदि ॥
क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्त्वप्रधानता ।
चत्वारि पदजातानि सर्वमेतद्विरुध्यते ॥
वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम् ।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ ॥
व्याप्तिमाँश्च लघुश्चैव व्यवहारः पदाश्रयः ।
लोके शास्त्रे च कार्यार्थं विभागेनैव कल्पितः ॥
न लोके प्रतिपत्तॄणामर्थयोगात्प्रसिद्धयः ।
तस्मादलौकिको वाक्यादन्यः कश्चिन्न विद्यते ॥

(वाक्यपदीय २–३४५–४९)

विवाद सागर में डुबकियाँ लगाने के पूर्व उक्त दोनों उद्धरणों का वास्तविक आशय दे देना पाठकों को समझने में अधिकसफल और सहायक सिद्ध होगा ।

यास्काचार्य जी के उल्लेखानुसार औदुम्बरायण जी का मत इस प्रकार का है :—

(२) औदुम्बरायण जी का मत

औदुम्बरायण जी कहते हैं कि गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति प्रभृति संज्ञा नहीं नहीं है, ये हैं (भवतीति भावस्य अतः) भाव, ये 'अस्ति' परक भाव हैं। ध्यान रहे वार्ष्यायणि जी जो छह प्रकार के भावविकारों को मानते हैं, वे भी औदुम्बरायण जी के मत के समर्थकों में से एक हैं। गाय बैठी है, घोड़ा सोता है, पुरुष जाता है, और हाथी खड़ा है, ये वचन इन्द्रिय में नित्य रूप से विद्यमान रहते हैं। भाव ही भावात्मक क्रिया में सम्पन्न होता है। इन वाक्यों में 'गाय' 'बैठी' 'है' इन तीनों शब्दों का अलग अलग कुछ अर्थ नहीं होता। तीनों का एक समुच्चय स्वरूप बोध हमारी इन्द्रिय या क्षीरसागर में पहिले से या नित्य चित्रित रहता है, वाक्य का उच्चारण उस समूचे चित्र को उद्बोधित करता है। भाषा का मूल आधार वाक्य चित्रों का क्षीरसागर में नित्यरूप से रहना मात्र है। (वाक्य के खंड के उच्चारण से कोई चित्र उपस्थित नहीं हो सकता। अतः वाक्य-खंड, भाषा के लिए कोई महत्व रखता ही नहीं, उसे मानना व्यर्थ है। कुछ लोग एकशब्दीय वाक्यों की दुहाई दे सकते हैं; जैसे 'हां' 'नहीं' 'जाऊँगा' 'क्या ?' इत्यादि। पर इन एकशब्दीय वाक्यों में कहीं उद्देश्य (संज्ञाभाव), कहीं विधेय (क्रियाभाव), स्वयं आक्षिप्त होता है, बिना ऐसे आक्षेपक सन्दर्भ के उनका न बोध हो सकता है न चित्र उपस्थित हो सकता है।)

औदुम्बरायण जी के मत का खंडन

अब यास्काचार्य जी अपना मत स्थापित करने के लिए औदुम्बरायण जी के मत का खण्डन करते हुये लिखते हैं कि (१) उनके उक्त मत से भाषा के सर्वमान्य चार विभाजन नहीं ठहर सकते। (२) दूसरी बात यह है कि प्रत्येक वाक्य में कई शब्द होते हैं, (क ख ग ध्वनियाँ नहीं) जिनका उच्चारण एक क्षण में न होकर पृथक् पृथक् क्षणों में ही हो सकता है, उच्चारण में क्रमिक क्षणों और तारतम्य की आवश्यकता स्वभावतः पड़ती है। तब अयुगपद् या अलग अलग क्षणों में उत्पन्न उन उन शब्दों का यदि क्रम न माना जाय, या उनका एक तारतम्यवान् क्रमिक सम्बन्ध न माना जाय तो कर्ता का स्थान कर्म ले ले, कर्म का स्थान क्रिया ले ले, कर्ता कर्म बन जाय, कर्म बन जाय कर्ता, इस प्रकार का इतरेतर का उपदेश या एक दूसरे की

स्थानापन्नता का विकट दोष उपस्थित हो जाय। ऐसे सम्बन्ध के बिना अलग अलग क्षणों में उच्चरित शब्द खम्भों की तरह अलग अलग असम्बद्ध से खड़े होकर, अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने में नितान्त असमर्थ हो जाँय। (३) तीसरी बात यह है कि यदि हम पृथक् पृथक् शब्दों में अर्थ-अभिव्यक्ति की सामर्थ्य न माने तो हम यह भी निश्चित नहीं कर सकते कि उद्देश्य क्या है, विधेय कौन है, कौन संज्ञा है, कौन क्रिया या उपसर्ग या निपात। यह तो शब्दों का एक कबाड़खाना सा असम्बद्ध वाक्य होगा। यह शास्त्रसम्बन्धी सन्दर्भ भी, वाक्य स्फोट मानने से जमता ही नहीं। औदुम्बरायण जी के वाक्य स्फोट के मत का उक्त ढंग से खंडन कर लेने के बाद यास्काचार्य पुनः अपने मत 'शब्दस्फोट' की दृढ़ स्थापना के निमित्त अपनी स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डालते हुये कहते हैं :—

(३) यास्काचार्य जी का अपना मत

स्थिति यह है। औदुम्बरायण जी 'वाक्य स्फोट' को मानते हुये यह कहते हैं 'इन्द्रियनित्यं वचनम्', तब यास्काचार्य जी उनसे एकदम असहमत होकर यह कहते से प्रतीत होते हैं 'इन्द्रियनित्यं पदम्' कि 'पद स्फोट' ही भाषा का मूल आधार है। औदुम्बरायण जी 'वाक्य स्फोट' को इन्द्रिय (क्षीरसागर बुद्धि) में नित्य मानते हैं तो यास्क महोदय 'पद स्फोट' को इन्द्रिय में नित्य मानते हैं। मोटे मोटे विचार से, या 'नित्यता' को दृष्टिपथ में रख कर औदुम्बरायण जी का मत यास्क और वैयाकरणों को अपने दृष्टिकोण से, एक प्रकार से कुछ दुर्बल सा प्रतीत हो रहा है। क्योंकि वे (औदुम्बरायण) 'वाक्य स्फोट' को नित्य मानते हैं। 'वाक्य स्फोट' को यास्क जी अपने 'पद स्फोट' से स्पष्टतः कई गुना स्थूल समझे बैठे हैं। इसी लिए वे स्थूलता और नित्यता दोनों को एक दूसरे के विरोधी पक्ष कहने की हिम्मत भी कर रहे हैं? औदुम्बरायण जी के मत की इस अपनी समझी या गलत समझी दुर्बलता को आगे रख कर यास्काचार्य जी अपने मत की पुष्टि के लिए 'शब्द' की अणीयस्ता या अतिसूक्ष्मता को प्रमुखता देकर ललकार कर कहते हैं कि 'शब्द' तो विभु और व्यापक है, उसी का स्फोट नित्य रूप ले सकता है, वाक्य या वाक्य स्फोट (स्थूलरूप) नहीं। इस प्रकार हमारा (यास्क का) 'पद स्फोट' तो नित्य, सूक्ष्म और व्यापक है। उन 'शब्द स्फोटों' के ध्वन्यात्मक (उच्चरित) शब्दों से हम इस ब्रह्माण्ड के नाम-रूपों का, केवल लौकिक व्यवहार के लिए प्रयोग करते हैं। इन नित्य विभु सूक्ष्म 'शब्द स्फोटों' के

ध्वन्यात्मक उच्चरित नाम-रूपों को व्यवहार से उड़ा दिया जावे तो भी वे 'शब्द स्फोट' नित्य स्थायी ही बने रहेंगे। हमारे ऐसे व्यवहार की कोई नित्यता या आस्था है ही नहीं। उसी एक उच्चरित शब्द से हम मनुष्य को सम्बोधित करते हैं उसी से जड़ और तिर्यग्योनि को भी, तथा काम सारने के लिए देवताओं और तत्वों या पदार्थों या खगोलों को भी उसी शब्द से पुकारते हैं। ऐसा है यह नितान्त अव्यवस्थित व्यवहार। और तो अलग रहा, जब देवी-देवता प्रभृति देवयोनियाँ बोलती हैं तो वे भी उसी शब्द का प्रयोग करते हैं। बिना ध्वन्यात्मक शब्दों के व्यवहार के किसी का भी काम नहीं चल सकता। ऐसा व्यवहार नितान्त विवशता से किया जाता है क्योंकि मनुष्य की विद्या या ज्ञान अनित्य या सीमित या अस्थायी है। वह बहुत सीमित संख्या के शब्दों का ज्ञानोपार्जन कर सकता है। विश्व या ब्रह्माण्ड के समूचे शब्द वाङ्मय का ज्ञान वह अनेक जन्मों में भी शायद ही कर सके। जब शब्दों के ज्ञान की ऐसी विषम समस्या है तो 'वाक्यों' के ज्ञान का तो उस धारणा से, उस शब्द ज्ञान के लक्षांश से भी कम अनुपात में ही होना संभव हो सकता है। 'वाक्य स्फोट' की यह दूसरी महती दुर्बलता है। लौकिक व्यवहार में हम देखते हैं कि वैयाकरण हमें शब्द शब्द के निर्माण का नियम बताकर (हमें) भाषा की गति या प्रगति में प्रवीण कर देता है। बालक जब भाषा का बोध करता है तो वह शब्द शब्द को ग्रहण करके ही वाक्य को समझने में समर्थ हो पाता है। जब हम भाषाविद् भी बन जाते हैं तो भी, हम शब्द शब्द को पहले छानते-बीनते-चुनते से प्रतीत होते हैं। हम सभी शब्दों और धातुओं के सभी प्रकार के शब्दों को रट कर भाषाविद् नहीं बनते। हम भाषा के शब्द और धातु सम्बन्धी कुछ नियमों का भाषाप्रयोग या व्याकरण से ज्ञान करके पुनः उन नियमों द्वारा अनेक प्रकार के संज्ञा, तद्धित, कृदन्त, समास, विभक्ति आदि प्रत्ययों का प्रयोग कर प्रौढ भाषा का प्रयोग करने में समर्थ होते हैं। यदि हम 'वाक्यों' का इस प्रकार अध्ययन करें तो शायद ही कोई अच्छा भाषाविद् हो सके। भाषा और शब्दों की ऐसी अस्थिरता, कहीं ऐसा न हो, अव्यावहारिकता में परिणत न हो जाय, इसलिए हमारे पास स्थायी साहित्य रूप 'वेद' हैं जिनमें शब्दों के समुचित रूपों या ग्राह्य रूपों का भण्डार है, उनके वे मन्त्र जिनमें समाज-स्वीकृत ग्राह्य शब्दों या वाक्यों के रूपों को प्रामाणिकता मिल गई है, वही रूप हमारी कर्मसम्पत्ति या व्याकरण या भाषा के नियमों का प्रयोगक्षेत्ररूपी भंडार हैं। हमें अपनी भाषा और शब्द प्रयोग को शिष्ट और स्वीकृत रूप देने के लिए, नियमों का प्रयोग उसी सीमा तक सीमित रखना चाहिए जहाँ तक हमारा समाज स्वीकृत

पवित्र साहित्य वेद प्रयोग में ला चुका है। नियमों से जो अधिक शब्द बनते हैं उनमें निहतार्थ, अप्रायोगिक आदि दोष होंगे, और भाषा या शब्द का भोंड़ा सा दोष दृष्टिगोचर होगा। अतः बिना 'पद स्फोट' माने भाषा का ज्ञान असम्भव है।

वास्तव में निरुक्तकारों और वैयाकरणों की एक साम्प्रदायिक हठ है, उनको नित्यप्रति की निरुक्ति और व्युत्पत्ति में सदा पदवर्ण का पल्ला पकड़े रहना पड़ता है, अतः वे केवल इनके पृथक् स्फोट मानने की ही जिद नहीं करते वरन् वाक्य स्फोट को भी मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। इस दृष्टि से स्फोट जैसा गम्भीर विषय इनके समझ में नहीं आया सा प्रतीत होता है। यास्क जी 'शब्द' शब्द का प्रयोग भी अशुद्ध कर रहे हैं, 'शब्द' माने तो वाक्य ही होता है, पद नहीं जैसा ये समझ रहे हैं। कहा जा चुका है, और आगे विस्तार पूर्वक लिखा जायेगा कि अर्थबोध वाक्य ही से होता है वाक्य एकपदीय, एकाक्षरीय हो या अनेकपदीय या अनेकाक्षरीय, अर्थबोध के लिए वाक्य ही एक मुख्य तत्व है। इस बात को भली भाँति समझ कर भर्तृहरि जी यास्क जी के पिछले दोनों परिच्छेदों में उठाये प्रश्नों और उनके समाधानों का खण्डन करते हुए लिख गये हैं (उद्धरण इस प्रकरण के आदि में देखें)। इतरेतरोपदेश समस्या के समाधान में भर्तृहरि जी सन्दर्भ या भावनिबन्धन को प्रमुखता देते हैं जिसे यास्क जी अपने अगले परिच्छेदों में स्वयं स्वीकार कर बैठे हैं। साथ में वे यह भी कह रहे हैं कि यदि उस वाक्य या वाक्यान्तर्गत पद का संग और पार्थक्य में अर्थभेद है ही नहीं तो यह समस्या उठती ही कहां है। क्रियायें कर्मप्रधान हैं, संज्ञायें प्राणिप्रधान; इनका सम्बन्ध जो उलटे, कठिनता से बैठेगा। हम तो दोनों में भावप्रधानता मानते हैं। इसलिए 'नामाख्यातोपसर्गनिपात' का विभाजन, अर्थवाद के एकदम विरुद्ध है। वाक्य स्फोट का निर्धारण (अभ्यास से) बुद्धि में रहता है जिसका उद्बोधन या प्रकाशन, लोक-व्यवहार या तत्तद् संकेतित शब्दोच्चारण से होता है। इसी लिए वार्तात्त और औदुम्बरायण जी निरुक्त और व्याकरण के संज्ञादि चार भागों को मानने में नितान्त असमर्थ हैं।

आपने जो यह कहा कि शब्द तो व्याप्तिमान् और अणीयान् है वह ठीक है; पर इसका विवेचन पद या वाक्य के उच्चारण के समय नहीं होता। जहां उच्चारण है वहीं स्थूलता है, सीमितता है; जहां स्फोट है वहां वाक्य कितना ही बड़ा हो, पद कितना ही छोटा हो, दोनों की सूक्ष्मता सूक्ष्मता ही है, व्याप्ति व्याप्ति ही है, स्फोट दोनों के एक से (सूक्ष्म और व्यापक) होंगे। प्रयोग पक्ष के समर्थन में सिद्धान्त पक्ष को घसीटना अनुचित है। इन दोनों पक्षों का विवेचन पार्थक्य

रूप से ही शास्त्रों और लोक में किया जाता है। अन्त में यह भी तो जान लीजिए कि पहले अर्थ समझ लें तब शब्द की अनुभूति करें, ऐसा न कभी सुना गया है, न होता पाया गया है, न हो सकता है। आपके संज्ञा क्रिया लिंग वचन कालादि ज्ञान के फेर में पड़े रह गये तो हो गया बेड़ा पार। अर्थ-बोध हो चुका। अर्थबोध में आपके भेदों की ओर ताकने-झांकने-समझने बूझने की फ़ुरसत किसको पड़ी है? और तो अलग रहा अर्थबोध में पदों को पृथक् पृथक् कर समझने का महावरा होता किसको है? अलग अलग समझने में ही वह आपत्ति आयेगी जो आपने इतरेतरोपदेश की समस्या बतलाई थी। साहित्यिक भाषा-निर्माण में भी वाक्य स्फोट ही काम देता है; नियम रूप वाक्य स्फोट से शब्दरूप वाक्य बनाकर, पुनः उन्हें वाक्य में प्रयुक्त किया जाता है। नियम भी वाक्य ही है, उनका प्रयोग भी वाक्य ही है, उनका फ़ल भी वाक्य ही है। अतः सभी वाक्यों को सीखना पड़ेगा, यह समझना भी नितान्त भ्रम ही है।

इसलिए वाक्य को छोड़ कर अर्थबोध में कोई दूसरी वस्तु नहीं मानी जा सकती। वाक्य स्फोट हमारे जीवन का एक अलौकिक तत्व है। अर्थबोध में पदवर्ण की पृथक् सत्ता ही नहीं रहती, वाक्य सर्वाङ्गीण रूप में अंगप्राधान्य से अर्थप्राधान्य का बोधक होता है अतः कहा है—

'पदे न वर्णा विद्यन्ते, वर्णेस्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

(ब्रह्मकाण्ड वाक्यपदीय)

(४) यास्क के उक्त परिच्छेद का अंग्रेजी अनुवाद—

यास्काचार्य के निरुक्त की सर्वप्रथम प्रामाणिक टीका 'दुर्गा' ने लिखी है। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों की शैली को भली भाँति समझ कर उक्त परिच्छेद को तीन भागों में विभक्त किया है, (१) 'इन्द्रियनित्यं वचनं' औदुम्बरायण का मत (२) पूर्वपक्ष—यास्क द्वारा उत्थापित—'तत्रचतुष्ट्वं······शास्त्रकृतो योगश्च' कि उक्त मत की स्वीकृति से शब्दों के चार विभाग और उनका सम्बन्ध न तो माने जा सकते हैं न अर्थ लग सकता है। और (३) यास्क का अपना मत—शब्दों के नित्य विभु सूक्ष्म होने से शब्दों के चार भाग आदि अपनाये जा सकते हैं आदि। 'स्वरूप' नामक अनुवादक जी को यास्क का उठाया पूर्व पक्ष (सं० २) एक तीसरे व्यक्ति का मत सा लगा है। अतः वे कहते हैं दुर्गा जी ने गलती की, यहां पर तो दो ही व्यक्ति हैं। उनका यह भी कहना है यहां पर तीसरा व्यक्ति मानने से (पूर्व पक्ष सं० २) ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क तीसरे

का खंडन करके औदुम्बरायण के मत का पूरा समर्थन कर रहे हैं। पूर्वपक्ष को तीसरा व्यक्ति मान कर, या समझ कर वे इतने आगे बढ़ गये हैं। यहां पूर्वपक्ष मात्र है, तीसरा कोई नहीं, कोई होता तो औदुम्बरायण जी के नाम की तरह इस तीसरे के नाम को देने में न यास्क को डर था न दुर्गा को। दुर्गा जी ने परिच्छेद को तीन भागों में इसलिये बाँटा है कि यास्क जी ने 'सिद्धान्त-पूर्वपक्ष-उत्तर की' संस्कृत ग्रन्थों की नित्य की, अपनायी शैली में लिखा है; उसी को स्पष्ट किया है। पूर्वपक्ष कभी भी कोई तीसरा व्यक्ति नहीं होता; लेखक स्वयं ही होता है। अपने आप भ्रम उत्पन्न करके स्वरूप साहब कहते हैं कि यहां दो ही दल हैं, दुर्गा ने तीन दल गलत समझे। दुर्गा ने परिच्छेद के तीन जैसे विविक्त भाग थे उनका दर्पणवत् दिखलाया, तीसरा दल उन्होंने माना ही कहां है? जिसका ये खामखाह खंडन करने लगे। अपनी नासमझी दुर्गा जी के मत्थे मढ़ रहे हैं। उक्त परिच्छेद के तीसरे भाग का अर्थ स्वरूपजी की समझ में बिलकुल नहीं आया। वे कहते हैं, यहां यास्क बिलकुल नये शीर्षक की बात कर रहे हैं, 'यह बात भाषा को, संकेतों से उच्चता देना है" उनका अनुवाद देखिये "मनुष्य-ज्ञान की अनित्यता से, मन्त्र (डाइरेक्टिंग्) कार्यों की पूर्णता वेदों में (पाई जाती) है।" क्या हुआ इसका अर्थ! वही जानें। हां उन्होंने केवल एक बात ठीक कही है कि यास्क का उत्तर 'तत्र चतुष्ट्वं' आदि से प्रारम्भ होता है, यही दुर्गा ने भी पूर्वपक्ष रूप में माना है जिसे ये गलत समझ बैठे हैं? (निरुक्त और निघंटु—अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणी—ले० लक्ष्मण स्वरूप–आक्सफोर्ड १९२१ पृ० ६-१९२७ पंजाब विश्वविद्यालय)

एक दूसरे विद्वान् 'जौनब्रूफ़' (लन्दन, प्राच्य और अफ्रीकी विद्या केन्द्र, भारतीय विभाग के प्रधान) कहते हैं कि स्वरूप का यह कहना कि यास्क का उत्तर 'तत्र चतुष्ट्वं' आदि से आरम्भ होता है—बिलकुल गलत है। इनके मत से यास्क का उत्तर—(सं ३) 'व्याप्तिमत्वात्तु' से आरम्भ होता है। अपने पक्ष की पुष्टि में ये कहते हैं कि यहाँ आया हुआ 'तु' उपसर्ग ही निर्णय देता है कि यास्क का उत्तर यहाँ (तु) से आरम्भ होता है। सं० २ को ये औदुम्बरायण जी का मत मानकर उसकी पुष्टि में भर्तृहरि जी के उन वाक्यों को देते हैं जिनको इस विवादग्रस्त परिच्छेद के साथ पहले दे दिया गया है। प्रस्तुत वाक्य सं० २ या पूर्वपक्ष (दुर्गा) के आरम्भ के कुछ शब्दों का विषय ऐसा है, जिसे हम यह भी कह सकते हैं कि यह औदुम्बरायण जी के मत वाक्य सं० १ की विशद व्याख्या करते हुये कहता है कि "हमारे मत में शब्द के चार भागों या व्याकरण और व्यवहार के सम्बन्धों की आवश्यकता नहीं उत्पन्न होती।" पूर्वपक्ष' के पक्ष में यह कि "उनके मत में, न तो शब्दों

के चार भाग उत्पन्न होते हैं न व्याकरण और व्यवहार के सम्बन्ध, क्योंकि उनका उच्चारण भिन्न-भिन्न काल में हुआ है। नहीं तो एक स्थान में दूसरा उपस्थित हो जाय"। आपने देख लिया है किउक्त दोनों अर्थों का औदुम्बरायण का मानने पर 'नोपपद्यते' का अर्थ ठीक नहीं बैठता, उनका मत होता तो 'नेष्टम्' कहना था। क्योंकि उस अर्थ में 'आवश्यकता नहीं' ऐसा अर्थ आक्षिप्त करना पड़ा है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्ष का स्वयं उत्तरार्द्ध का भाग "अयुगपद्‌-दुत्पन्नानां शब्दानां वा इतरेतरोपदेशः' वाला वाक्य तो औदुम्बरायण जी के मत का खण्डन करता है। क्या औदुम्बरायण जी इतने नादान थे कि अपने मत का अपने आप खण्डन कर जाते। तब यास्क जी को अपने मत को स्थिर करने की, उनके मत का उल्लेख करने की आवश्यकता की क्या थी? तीसरी बात यह है यदि यह वाक्य औदुम्बरायण जी का होता तो इस वाक्य का आरम्भ 'तत्र चतुष्ट्वं' की जगह 'अत्र चतुष्ट्वं' कह कर करना था कि '(अत्र) यहां हमारे मत में'; यहां तो लिखा है कि '(तत्र) वहां उनके मत में'। यह 'तत्र' शब्द, यहां पर कुञ्जी सी है जो 'औदुम्बरायण' के मत का 'वहां उसमत में' कह कर स्थिति एकदम स्पष्ट कर रहा है कि 'तत्र' शब्द से यास्क जी का पूर्वपक्ष और उत्तर प्रारम्भ हो गये हैं। चौथी बात विशेष ध्यान देने की यह है। जिस भर्तृहरि जी के उद्धरण से ब्रूफ महाशय अपना मत पुष्ट कर रहे हैं उसी में भाग्यवशात् एक परम रहस्य छिपा है। पहिले कहा जा चुका है कि भर्तृहरि जी ने उक्त वाक्य निरुक्त के इस विवादग्रस्त परिच्छेद को सामने रखकर लिखा है। जब वे यास्क के विरोधों को देते हैं तो, वे (भर्तृहरि) यास्क के प्रत्येक विरोध का समाधान, अपनी ओर से 'औदुम्बरायण और वार्ताक्ष के बदले' देते गये हैं। देखिये प्रथम श्लोक में 'यदि भाव निबन्धनम्' यह पद यास्क के 'शास्त्रकृतो योगश्च नोपपद्यते' का उत्तर है, और 'संसर्गे च विभक्तौ च तस्यार्थो न पृथक् यदि' यह श्लोकार्द्ध यास्क के 'अयुगपद्दुत्पन्नानां शब्दानांवेतरेतरोपदेशः नोपपद्यते' का स्पष्ट उत्तर है। इससे यह स्पष्ट तात्पर्य निकलता है कि भर्तृहरि जी भी यही समझते थे कि यास्काचार्य का पूर्वपक्ष और उत्तर 'तत्र चतुष्ट्वं' आदि वाक्य सं २ से ही आरम्भ करता है। उनके 'चतुष्ट्वं' शब्द को दोनों जगह पाकर वे व्यर्थ ही उलट-पुलट करने लगे। उक्त श्लोक तो स्वयं उनके विचार के विरुद्ध पड़ते हैं, यह स्वयं स्पष्ट है। रह गई बात सं० ३ के उपसर्ग 'तु' की। यह 'तु' उपसर्ग यास्काचार्य के स्वयं स्वीकृत अपने मत (शब्द स्फोट) की स्थापना के आरम्भ का सूचक है। अपना मत तब तक स्थापित नहीं किया जा सकता जब तक विपक्षी के मत को पूर्वपक्ष में अपना कर उसका पूर्ण खंडन न कर लिया जाय। यहां यह कार्य

सं० २ में किया गया है। अतः, तत्रचतुष्ट्वं नोपपद्यते' आदि सं० २ से, यास्काचार्य जी के स्वयं अपने कथन का आरम्भ होता है कि यह अब निर्मल जल सम स्वतः स्पष्ट है।

स्फोट तत्व के रहस्य को न समझ सकने के कारण, दुर्गा ने अपनी टीका में, तथा लक्ष्मण स्वरूप और जान ब्रूफ ने अपने अंग्रेजी अनुवादों और टिप्पणियों में और लेविश तथा स्ट्रॉस [यूबेर देन स्फोट, ज द म ग (Z. D. M. G.) न. क. २ (७७) १९२३ पृ० २११; लेखक वी लेविश; और ओट्टो स्ट्रॉस—आल्तिदिश स्येकु लेशमन यूबेर दी स्प्राख अन्द इरे प्रोब्लेम—ज. द. म. ग.—ब. फ. ६ (८१) १९२७ पृ० १११–११३] ने अपने जर्मन अनुवादों में यास्क के उक्त परिच्छेद में आये हुए कई परिभाषिक और रचनात्मक विशेष शब्दों का अर्थ अनुवाद अनर्थकारी शब्दों में कर डाला है जिससे औदुम्बरायण और यास्क दोनों के मतों को बराबर और पर्य्याप्त आघात पहुँचा है। वह इस प्रकार है। यास्काचार्य प्राचीन स्वर्णयुग की अलौकिक प्रतिभासम्पन्न दिव्य विभूतियों में से एक थे। उनके समय तक भाषा तत्व शास्त्र बहुत आगे बढ़ चुका था। यास्क जी ने अपने निरुक्त में ही भाषा तत्व शास्त्र सम्बन्धी तीन मुख्य विचारधाराओं का उल्लेख किया है। (१) प्रथम शाकटायन और निरुक्तकार हैं। यास्क जी इसी दल के अनुयायी हैं। ये मानते हैं कि सब संज्ञायें, क्रियाओं से ही बनती हैं। शाकटायन जी बड़े धुरंधर वैयाकरण भी थे, इनका उल्लेख पाणिनि जी ने अपनी अष्टाध्यायी में भी किया है। निरुक्त-कार भी तभी हो सकता है जब वह पहिले वैयाकरण भी हो ('नामान्या-ख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च'; यास्क निरुक्त १-१-११)। दूसरा मत गार्ग्य तथा कुछेक वैयाकरणों का है, वे यह कहते हैं कि सभी संज्ञायें, क्रियाओं से नहीं बन सकतीं ('न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके', यास्क निरुक्त–१-१-११)। इन दोनों मतों से बिलकुल विभिन्न या उलटा मत है 'वार्ष्यायणि' जी का। वे कहते हैं कि न तो 'संज्ञा' जैसी कोई वस्तु है न क्रिया जैसी ही कोई चीज। हमारी भाषा तो केवल भावविकार का एक सागर हैं। ये भाव विकार छह प्रकार के होते हैं 'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति'। इन्हीं छह भाव विकारों से हम वाक्य या भाषा का बोध करते हैं। औदुम्बरायण जी भी इसी मत के हैं। अतः यास्क के उल्लिखित उनके कथन का आरम्भ ही भावविकार विचार से 'गौरश्वः पुरुषो हस्तीति' आदि कह कर किया गया है। इस मत में वाक्य ही सब कुछ है संज्ञा, क्रिया, व्याकरण, निरुक्त आदि सब व्यर्थ हैं। जब भाषा तत्व सम्बन्ध में इतना गम्भीर मतभेद और विशिष्ट विचार होता पाया जा रहा है तो औदुम्ब-

शायण और यास्क जी के प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द 'इन्द्रिय' 'नित्य' और 'वचन' भाषातत्व सम्बन्धी कुछ रहस्य अवश्यमेव रखते होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

अनुवादकों में सबसे अन्तिम श्री जान ब्रूफ हैं, इन्होंने अपने पूर्ववर्ती अनुवादकों को वैसे तो सभी को आड़े हाथ से झाड़ा और फटकारा है, पर उनमें सबसे अधिक उसको, जिसने इन (ब्रूफ सहित) सब में सत्य के समीप आने का सबसे अधिक सफल प्रयास कर सका है। वे ओट्टो स्ट्रॉस हैं। इनकी एक ही गलती यह है कि ये 'अयुगपद्' को 'युगपद्' पढ़कर काम चला लेते हैं। 'नित्यं' शब्द के सम्बन्धी को सूचित करने का ज्ञान न दुर्गा को था, न इनमें से किसी अनुवादकार को। जहाँ औदुम्बरायण जी यह कहते हैं कि वचन नित्य है, वहाँ ये कहते हैं 'शब्द' अनित्य है। यहाँ ये सब यह दुहराते हैं कि 'शब्द' इन्द्रिय में नित्य रहता है। इन्द्रिय के माने ये ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं, ज्ञानेन्द्रिय माने फिर जिह्वाग्र (स्ट्रास), कण्ठस्थ (ब्रूफ), कान (स्वरूप) बतलाया है। ब्रूफ ने 'नित्य' शब्द के अर्थ की तो बड़ी छीछालेदर कर दी है, उन्होंने इस शब्द का अपना मनगढंत इतिहास बना कर यह दिखलाया है कि 'नित्य' माने इन्द्रिय 'स्थानस्थित' होता है (लोकेटेड्—इन दि इन्द्रिय)। अन्त में ब्रूफ महाशय लिखते हैं कि 'वाक्य सुनने वाले के प्रत्यक्षेन्द्रिय में सदा विद्यमान रहता है'। देखिये ये वाक्य को केवल 'सुनने वाले की' प्रत्यक्षेन्द्रिय (पर्सेप्टिव् फैकल्टी आफ दि हियरर) में सदा (नित्य नहीं स्थान स्थित मानते हैं। क्या जो वाक्य को बोल कर सुना रहा है उसकी प्रत्यक्षेन्द्रिय में 'वाक्य' कभी नहीं रहता ? उन्होंने 'बुद्धौ' के माने 'प्रतिपत्तृबुद्धौ' लिखा। प्रतिपत्ता वक्ता श्रोता दोनों होते हैं। केवल 'श्रोता' ही नहीं होता। (देखिये जान ब्रूफ का बारहवीं अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्वत् कांग्रेस इस्तानबुल, सितम्बर १९५१ में पढ़ा पत्र)।

अस्तु, टीकाकारों और अनुवादकों को 'इन्द्रिय' शब्द के अर्थ का वास्तविक ज्ञान नहीं है। जड़ यहीं बिगड़ी है, उसके सम्बन्ध के विषय की व्याख्या ठीक कैसे बैठती ? इन्द्रिय शब्द तीन प्रकार का अर्थ देता है, (१) 'इन्द्रिय' शब्द अकेले एकवचन में, (२) इन्द्रिय शब्द समास युक्त (३) इन्द्रिय शब्द बहुवचन में प्रयुक्त। जिन इन्द्रियों को मध्ययुग के आचार्य 'ज्ञानेन्द्रियाणि' कहकर पुकारते आ रहे हैं, उन्हें प्राचीन सांख्याचार्य केवल 'बुद्धीन्द्रियाणि' नाम से पुकारते रहे। 'इन्द्रिय' शब्द एक वचन में केवल बुद्धि का वाचक है, 'इन्दयति प्रकाशयति इति इन्द्रियम्'। प्रकाश बुद्धि का धर्म है, बुद्धि पुरुष की

ज्योति है, क्षीरसागर है, वही 'इन्द्रियम्' है। समास में श्रवणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय आदि में इन्द्रिय शब्द प्रकाश द्वार वाचक या 'शब्दतः श्रवणाभ्यां प्रकाशितं इन्द्रियमिति श्रवणेन्द्रियम्, स्पर्शेभ्यः प्रकाशितमिन्द्रियम्' इत्यादि है, जो श्रवण से, स्पर्श से, चक्षु से, रसना से प्रकाशित हो वह तत्तद् इन्द्रिय हुई या तदनुकूल बुद्धि हुई। बहुवचन में इन्द्रियाणि शब्द, इन्द्रिय या बुद्धि के द्वार श्रवणादि और तदनुकूल मस्तिष्क विभागों का वाचक है। फलतः औदुम्बरायण जी के 'इन्द्रिय नित्यं वचन' में इन्द्रिय शब्द 'बुद्धि' या क्षीरसागर का वाचक है। भर्तृहरि ने भी यही लिखा है 'वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वात्'। यही 'इन्द्रिय नित्यं वचनं' का अक्षरशः सत्य अनुवाद है। अन्तर इतना है, भर्तृहरि जी 'बुद्धि' शब्द का अर्थ वह नहीं लगा पाये हैं जिसे यह शब्द यहाँ निर्दिष्ट करता है। वे 'बुद्धि' माने 'समझ की शक्ति' समझ रहे हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि हमारी बुद्धि तो 'पुरुष का स्वयं और साक्षात् ज्योतिरूप क्षीरसागर है। फिर भी अन्य सब लेखकों में से इन्होंने यास्क और औदुम्बरायणजी को अधिक ठीक समझा है। बुद्धिरूप क्षीरसागर में जो तत्व रहेगा वह जीवन पर्यन्त अनश्वर या नित्यरूप में ही रहेगा, ऐसे नित्यरूप वाला वचन या वाक्य भी केवल सूक्ष्मरूप या शब्दचित्रादिरूप में या स्फोटरूप में ही रह सकेगा। अतः यहाँ के 'इन्द्रियनित्यं वचनं' माने शब्द का स्फोटरूप में बुद्धि में (अभ्यास द्वारा) नित्य स्थायी रहना ही है। इसका पूर्ण विवेचन आगे दिया जा रहा है।

२ अध्याय

वर्णपद स्फोटवादी मत (वैयाकरण मत) और निरुक्त मत

स्फोट शब्द का इतिहास और अर्थ

जिस स्फोट के विषय की चर्चा पिछले प्रकरण में औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, नैरुक्त, वैयाकरण आदि के मार्गों का उल्लेख करते हुये, यास्क ने अपने निरुक्त में संक्षिप्त, पर विशद रूप से कर दी है, उसके नाम (स्फोट) का उल्लेख हमें न तो निरुक्त में मिलता है, न पाणिनि जी की अष्टाध्यायी में, जैसा कि आगे चल कर विदित हो जावेगा। पाणिनि जी ने भी स्फोट के विषय की व्याख्या को ध्यान में रखकर कई महत्वपूर्ण सूत्रों की सृष्टि की है जिनसे 'स्फोट' विषय उन्हें विविक्तता से ज्ञात सा प्रतीत होता है। तब इस 'स्फोट' शब्द का प्रथम आविष्कार किसने किया होगा, इस पर अभी पर्याप्त भ्रम भरा पड़ा है। नागेश भट्ट जी 'स्फोटवाद' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि स्फोटवाद के और 'स्फोट' शब्द के जन्मदाता 'स्फोटायन' नामक वैयाकरण हैं जिनका मत सहित उल्लेख पाणिनी जी ने ('अवङ् स्फोटायनस्य' ६-१-१२३) अपनी अष्टाध्यायी में किया हैं। इतिहासकारों को ऐसी नाममात्र की सरूपता से प्रतीति नहीं हो सकती, इसके समर्थन के लिए पुनः बलिष्ठ प्रमाण की आवश्यकता है जो न उपलब्ध ही हो सकता है, न प्राप्य ही हैं। अतः यह कोरी हेत्वाभासीय कल्पना तथा सव्यभिचार तर्कना है। (पृ० १०२ स्फोटवाद)

वस्तुतः 'स्फुट धातु का, ध्वनिशास्त्र में सर्वप्रथम प्रयोग 'स्फोटण' नाम से किया हुआ प्रातिशाख्यों में मिलता है। कात्यायन प्रातिशाख्य (४-१६५) ने लिखा है कि कवर्ग में जब स्पर्श मिलते हैं तो उनकी स्फुटोक्ति के लिए 'स्फोटण' नाम की ध्वनि या ध्रुव (या परिवर्तन क्रमकालीन ध्वनि) की स्वीकृति की गई है। यही बात अथर्वप्रातिशाख्य ने (२-३८ तथा १-१०३) लिखी है "वर्ग विपर्यये स्फोटणः" "तदेव स्फोटणः" (देखिये "ऊष्माण अन्तःस्थ और स्पर्शों के सन्निपात में स्पष्ट उच्चारण विधि" पीछे)। यह तो रही 'स्फोटण' की परिभाषा। यहां 'स्फोटण' के माने ध्वनि की स्फुटता है, केवल एक ध्वनि की स्फुटता है, अथवा सन्निपात के व्यञ्जनों के प्रथम व्यञ्जन की ध्वनि की स्फुटता है। यही 'स्फोटण' जब सन्निपातीय प्रथम व्यञ्जन की

जगह, पूर्ण पद या शब्द या वाक्य की स्फुटता के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा तो उसमें कुछ अर्थान्तर करने की भी आवश्यकता पड़ी। यह अर्थान्तर था, प्रत्येक पद या शब्द के उच्चारण में उसकी सब ध्वनियों की एक सामूहिक ध्वनि की स्फुटता। इस विस्तृत क्षेत्र के स्फोटण को स्फोटण कहना अवश्य असंगत था। अतः इसे तभी से आचार्यों ने 'स्फोट' या एक प्रकार का विस्फोट या एक प्रकार का विशिष्ट स्फोट या विशिष्ट स्फुटता नाम दिया। स्फोटण के प्रयोग की सीमा केवल व्यञ्जन सन्निपात तक है, 'स्फोट' का क्षेत्र एक श्रुति से लेकर सब प्रकार के संयोग और सन्निपात से बने पद, शब्द और वाक्य है। दोनों का निकट सम्बन्ध ध्वनि स्फुटता से है, पर स्फोटण में कुछ ध्वनि अधिक जोड़ी जाती है या ध्वनि विस्तार किया जाता है और 'स्फोट' में उक्त ध्वनि विस्तार से कोई लगाव न होकर, ध्वनि या ध्वनियों के मौलिक मेरुदण्डीय रूप रेखा का एक या सामूहिक ऐक्यरूप का आह्वान किया जाता है। यास्क जी के समय में उक्त प्रकार की स्फोट की धारणा या बातें प्रथित रूप में प्रचलित थीं यह पिछले प्रकरण से स्पष्ट है, *यहां तक कि भर्तृहरि जी के शब्द ब्रह्मवाद या स्फोटवाद की गोमुखी या मूल उद्गम वही यास्क जी की पक्तियाँ हैं।* पर यास्क जी ने स्फोट का नाम 'वचन' और 'शब्द' दिये हैं। वाक्यस्फोट मानने वाले (औदुम्बरायण और वार्ष्यायणि) स्फोट को 'वचन' कहते थे (इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः) तथा शब्द स्फोट मानने वाले स्फोट को 'शब्द' नाम से पुकारते थे (अयुगपद् उत्पन्नानां शब्दानां वा······, व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्दस्य संज्ञाकरणं)। जिसे हमलोग आजकल 'शब्द' कहते हैं उसे यास्क प्रभृति 'संज्ञा' कहते थे, (शब्दस्य संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके)। ये संज्ञायें चार प्रकार की मानी जाती थीं (नामाख्यातोपसर्गनिपाताः)। (वाक्य स्फोट वाले) वचन वाले उक्त चार विभागों के स्थान पर 'संज्ञा' के बदले 'भाव' शब्द का प्रयोग करते थे। उनके मत में भाव छह प्रकार के माने जाते थे ('जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति–षड् भाव विकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः'–निरुक्त १-१-४)। जिसको यास्क 'संज्ञा' नाम से पुकारते हैं उसे वार्ष्यायणि और औदुम्बरायण प्रभृति 'भाव' नाम से पुकारते थे। जिसे हम स्फोट कहते हैं उसे यास्क 'शब्द' (व्याप्तिमान्) कहते थे तो औदुम्बरायणप्रभृति वचनं (वाक्य)। देखिये पाणिनि जी ने यास्क जी की शैली का अनुसरण करके अष्टाध्यायी (१-१-६८) में लिखा है 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'। मिलान कीजिये 'शब्देन संज्ञा करणं लोके' (यास्क)। शब्द तो ध्वनिरूप (स्फोट) है। उस ध्वनि से जिसका संकेत किया जाता है वह संज्ञा या भाव है। तब पाणिनि जी कहते हैं कि जहां पर शब्द को

संज्ञा के लिए प्रयुक्त नहीं किया गया है वहां 'शब्द' अपने रूप को, शब्द को, या स्फोट को निर्दिष्ट करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पाणिनि जी 'स्फोट' के बदले 'शब्द' या शब्द के 'स्वंरूपं' का प्रयोग कर गये हैं। कात्यायन जी ने भी 'स्फोट' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। पाणिनि जी के उक्त सूत्र की व्याख्या में कात्यायन जी दो वार्तिक लिख गये हैं ('शब्देनार्थगतेरर्थस्यासम्भवात् तद्वाचिनः सम्प्रतिषेधार्थं स्वंरूपग्रहणम्' 'न वा शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययस्तस्मादर्थनिवृत्तिः'—वार्तिक १, २) जिनमें उन्होंने शब्द को 'स्फोट' अर्थ में तथा 'अर्थ' और 'वाची' को संज्ञा के लिए प्रयुक्त किया है। कात्यायन जी 'संज्ञा' या संकेतित पदार्थ के लिए यहाँ पर हमें दो नये शब्द 'अर्थ' और 'वाची' दे रहे हैं, यह इस दिशा में विकास का परिचायक है। पर यह सब, स्फोटण की, या स्फुटता की (शब्द की स्फुटता की) पहेली सुलझाने के ही लिये सबने लिखा है। इस दिशा में विचार करते समय पतञ्जलि जी ने कात्यायन जी के मत की पुष्टि करते हुए लिखा है "शब्देनोच्चरितेनार्थो गम्यते गामानय दध्यशनात्यर्थं आनीयते अर्थश्च भुज्यते, अर्थस्य असम्भवात्, इह व्याकरणे अर्थो कार्यस्य असम्भवः, अग्नेर्ढगिति न शक्यतेऽग्नारेभ्यः परो ढक्कर्तुम्।" (४-२-३३)। पतंजलि जी कह रहे हैं कि "शब्द के उच्चरित होने से अर्थ की प्रतीति हो जाती है, 'गाय लाओ, दही खाओ में' अर्थ लाया और खाया जाता है। पर व्याकरण में अर्थ के साथ कार्य नहीं हो सकता। 'अग्नि' के साथ ढक् प्रत्यय लगाने में अग्नि के अर्थ के साथ ढक् प्रत्यय नहीं लग सकता।"

कुछ दिनों पश्चात् लोग यास्क, पाणिनि और कात्यायन के समय में प्रचलित शब्द (स्फोट अर्थ वाला) और संज्ञा (संकेतित पदार्थ सूचक) का प्राचीन प्रयोग और प्राचीन भाव भूल गये। पर इन परवर्ती लेखकों ने पाणिनि के 'स्वंरूपं' पद को स्फोट का संकेतक मान कर उसे अपने ग्रन्थों में स्थान दिया। भर्तृहरि जी ने इस 'स्वं रूपं' को दृष्टिपथ में रखते हुए पतंजलि जी के उक्त कथन को छन्दोबद्ध करके लिखा है "वृद्ध्यादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः। आदैच्प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः॥॥ अग्निशब्दस्तथैवायमग्निशब्दनिबन्धनः। अग्निश्रुत्यैति सम्बन्धमग्निशब्दाभिधेयया॥॥ यो य उच्चार्यते शब्दो नित्यं न स कार्यभाक्। अन्य प्रत्यायने शक्तिर्नतस्य प्रतिबध्यते" ॥॥ (वाक्यपदीय १-५९,६०,६१)। तदनन्तर भर्तृहरि जी ने 'स्वंरूपं' के बारे में प्रचलित कई मतों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—"स्वं रूप मिति कैश्चित्तु व्यक्तिः संज्ञोपदिश्यते। व्यक्तौ कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते॥ संज्ञिनं व्यक्ति मिच्छन्ति सूत्रग्राह्यामथापरे। जाति प्रत्यायिता व्यक्तिः

प्रदेशेषूपतिष्ठते ।।" (वाक्यपदीय १-६८,६९) "स्वं रूपं" का अर्थ व्यक्ति (शब्द या स्फोट) है जिससे संज्ञा का संकेत किया जाता है। इस 'व्यक्ति' से प्रत्ययादि कार्य किये जाते हैं। संज्ञा को उस व्यक्ति से संकेतित किया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि व्यक्ति (कोई दूसरी वस्तु न होकर) वही है जिसे प्रथम मत वाले संज्ञी (संज्ञा से संकेतित) कहते हैं। ये सूत्र का यही अभीष्ट अर्थ समझते हैं। ये जाति को ही व्यक्ति'मानते हैं, व्यक्ति से भले ही प्रत्ययादि कार्य हों, पर उसकी प्रतीति उसकी जाति या संज्ञी या संकेतित पदार्थ से ही होती है।" आप देख चुके हैं इस दिशा में कात्यायन जी ने हमें 'अर्थ' और 'वाची' दो शब्द नये दिये थे, यहाँ पर भर्तृहरि जी हमें तीन और नये शब्दों का उपहार दे रहे हैं वे हैं 'व्यक्ति' जाति और संज्ञिन्। यहां पर यास्क के 'शब्द' या 'वचन' को व्यक्ति, और 'भाव' तथा 'संज्ञा' को जाति या संज्ञी नाम से पुकारा जा रहा है। यह भाषा की उत्तरोत्तर बदलती शैली पर प्रकाश डालता है।

पतञ्जलि जी ने यास्क प्रभृति के स्फोट सूचक 'शब्द' पद की व्याख्या एकदम बदल दी है। अतः उन्हें अर्थ, संज्ञो, व्यक्ति, जाति पदों को स्वीकार करते हुए अन्त में 'स्फोट' शब्द का सबसे प्रथम बार प्रयोग करना पड़ा है। पतञ्जलि ने ही 'स्फोट' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। उनके अनुसार 'शब्द' की बदली हुई परिभाषा यह है :—"अथ गौरित्यत्र कः शब्दः······येनोच्चरितेन सास्नालाङ्गूल ककुदखुर विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति सः शब्दः" (१-१-१) "अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिशब्द इत्युच्यते, तद्यथा शब्दं कुरु, मां शब्दं कार्षीं, शब्दकारी अयं माणवकः इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते" 'योऽपि आश्वाहूयते नाम्ना नाम यदनेन नोपलब्धं भवति तदा पृच्छति किं भवानाहेति' (महाभाष्य १-१-१)। 'अतो निर्ज्ञात रूपत्वात् किमाहेत्यभिधीयते' (वाक्य-पदीय १-५७)। "पतञ्जलि जी पूछते हैं 'गो' कहने में, कौन शब्द है? जिसके उच्चारण करने से पूँछ, जुड़वाँ, खुर, सींग और गलकम्बलयुक्त पशु का बोध होता है वह गौ शब्द है।" "कुछ लोग उस ध्वनि को शब्द कहते हैं जिससे पदार्थ की प्रतीति होती है जैसे शब्द करो, शब्द न करो, यह बालक शब्दकारी है तब कहा जाता है जब वह ध्वनि करता है।" "जो व्यक्ति जल्दी बोलने वाले की ध्वनि को अच्छी तरह अनुगम नहीं कर पाता, वह फिर पूछता है 'आपने क्या कहा ?"। इन तीनों स्थलों में पतञ्जलि जी ने यास्क और पाणिनि जी के उस परम महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक परिभाषा वाले (स्फोट अर्थ रखने वाले) 'शब्द' की छानबीन के लिये इतने प्रकार के शब्दों की परीक्षा की

है। यहां पर पतञ्जलि जी के प्रश्न 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः' में यह 'शब्दः' पद यास्क पाणिनि के व्याप्तिमान् अणीयान् शब्द से एकदम अलग शब्द-संज्ञा या संज्ञि या जाति का बोधक है, ('व्यक्ति' या 'स्वं रूपं' का नहीं)। इस प्रकार पतञ्जलि जी जब 'शब्द' का प्रयोग यास्क की संज्ञा और अपने संज्ञि अर्थ में करने लगे तो उनको यास्क के 'शब्द' के बदले दूसरे पद की आवश्यकता पड़ गई। तब वे यास्क के 'व्याप्तिमान् अणीयान् शब्द' को स्फोट नाम से पुकारने लगे। इस स्थिति को स्पष्ट करने का अवसर उन्हें तब मिला जब वे पाणिनि के दो सूत्र 'तपरस्तत्कालस्य' तथा 'कृपो रो लः' (१-१-७० और ८-२-१८) की व्याख्या करने का प्रयत्न करने लगे। यहां पर यह बतला देना आवश्यक है कि पाणिनि जी ने स्फोट की परिभाषा तो 'स्वंरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' सूत्र से दे दी है। इसे पतञ्जलि जी भूले जा रहे हैं, अतः उक्त दो सूत्रों में स्फोट की सामग्री ढूँढ़ रहे हैं। पाणिनि जी उक्त प्रथम सूत्र में अपनी शैली में त् से संकेतित स्वरों को उसी मात्रा का मानने का आदेश दे रहे हैं जिस मात्रायुक्त स्वर के अन्त में त् लगा है, जहाँ त् नहीं लगा है वहाँ प्रत्येक स्वर अपने सवर्ण का भी प्रतिनिधि होता है जैसे 'ऊकालोऽज्झ्रस्व दीर्घ प्लुतः' (१-२-२९) में ऊ=उ+ऊ+ऊ३ है। लोगों को यहां पर मात्रा और ध्वनि में या स्फुट ध्वनि और स्फोट में अन्तर दिखाई पड़ा है, यह उनका महान् भ्रम है। त् का लगाना स्वर मात्रा संयमन करता है; यदि यहीं पर स्फोट माना जाय तो जहां त् नहीं लगा है वहां पर क्या वह स्वर 'शब्द' नहीं है? क्या उसका स्फोट नहीं है, क्या उसकी संज्ञा या संज्ञि या जाति नहीं है? फिर भी कैयट जी ने एक नकली शंका उठा कर उसका अपने आप समाधान करते हुए लिखा है—बोलने में तीन वृत्तियाँ होती हैं—द्रुत, मध्यम और विलम्बित। तीनों गतियों की ध्वनियों में त् लगाने के पश्चात् भी अन्तर आयेगा। तब उन्होंने समाधान में कहा है कि स्वर या वर्ण अवस्थित या व्यवस्थित होते हैं, जैसी वृत्ति वैसी व्यवस्थिति में त् का वही मूल्य होगा 'अवस्थिता वर्णा' (वार्तिक ४)। इसी बात का स्पष्टीकरण देते हुये पतञ्जलि जी ने लिखा है :—

"वक्ता कश्चिदाशु अभिधायी भवति आशुवर्णानभिधत्ते, कश्चित् चिरेण, कश्चित् चिरतरेण। तद्यथा। तमेवाध्वानं कश्चिद् आशु गच्छति कश्चित् चिरेण गच्छति कश्चित् चिरतरेण। रथिक आशु गच्छति, आश्विकश्चिरेण, पदातिश्चिरतरेण। विषम उपन्यासः; अधिकरणम् अथाध्वा व्रजति क्रियायाः, तत्रायुक्तं यदधिकरणस्य वृद्धिराशी स्याताम्, एवं तर्हि स्फोटः शब्दः; ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्। भेर्याघातवत्। तद्यथा। भेर्याघातो भेरीं आहत्य कश्चित् विंशति पदानि गच्छति, कश्चित् त्रिंशत्, कश्चित् चत्वारिंशत्। स्फोटश्च एतावानेव भवति, ध्वनिकृता वृद्धिः।"

"कोई बोलने वाला तेज चाल से बोलता है, वर्णों को तीव्रगति से उच्चरित करता है, कोई मध्यम गति से, कोई विलम्बित गति से बोलता है। जैसे उसी मार्ग को कोई शीघ्र पूरा करता है, कोई मध्यम गति से कुछ देर में, तीसरा उससे देर में। रथ उस मार्ग को सबसे कम समय में, अश्वारोही उससे अधिक समय में, और पैदल सबसे अधिक समय में पूरा करता है। बड़ी कठिन समस्या है। यहाँ 'जाना' क्रिया का आधार मार्ग है, अब वृद्धि किसकी हुई? मार्ग की या गति की या आशुता की? अन्तिम का होना अनुपयुक्त है। अतः स्फोट शब्द है, ध्वनिः शब्द का गुण है। किस प्रकार? इस प्रकार—भेरी में की चोट, भेरी में चोट पहुँचा कर, कोई बीस पग जाती है, कोई तीस पग, कोई चालीस। स्फोट या शब्द का 'स्वं रूपं' उतना ही होता है। वृद्धि केवल ध्वनि ने अपनाई है (आघातानुपात से)। अतः, अब इतने वाद-विवाद कर लेने के पश्चात् पतञ्जलि जी को अपनी दी हुई 'शब्द' की परिभाषा को विवश होकर पुनः बदल कर यास्क और पाणिनि जी के अनुकूल मानना पड़ा और अब ये यास्क और पाणिनि के 'शब्द' (स्वंरूपं व्याप्तिमान् अणीयान्) को स्फोट कहने लग गये हैं, जिससे स्थिति स्पष्ट हो गई है कि स्फोट वही वस्तु है जिसे यास्क, पाणिनि शब्द कहते हैं और औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि 'वचन'। कात्यायन जी उक्त पहेली को सुलझाने में 'अवस्थिता वर्णा' कहकर स्फोट या शब्द की दिशा के अधिक समीप भटकते से लग रहे हैं, यहाँ पर 'शब्द' या ध्वनि की बातें चल रही हैं 'वर्णों की जगह वर्णध्वनि कहना चाहिये था। वर्ण तो अक्षरों के भेद (फोनेमिक्स) हैं, वे भी व्यवस्थित होते हैं। उनकी अवस्थितता का मौलिक आधार तो स्फोट या शब्द ही है। ध्वनि की चर्चा किये बिना यह दलील लँगड़ी-सी स्वयं लग रही है। दूसरे सूत्र की व्याख्या में पतञ्जलि जी ने स्फोट पर अधिक स्पष्ट प्रकाश डालते हुये लिखा है :—"अथो भयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते। रश्रुतिर्लश्रुतिर्भवति" "र और ल दोनों श्रुतियाँ स्फोट का निर्देश करती हैं कि र श्रुति का ल श्रुति में परिवर्तन हो जाता है'। उक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि जी ने 'स्फोट' शब्द का जिस तत्व के लिए प्रयोग किया है, उसमें उनकी कोई नई उद्भावना नहीं है वे पुरानी लकीर के फकीर बन कर, स्फोटण से विकसित स्फोट शब्द का नया प्रयोग कर रहे हैं, हो सकता है, इस शब्द का प्रयोग पाणिनि व्याकरण से भिन्न व्याकरण के ग्रन्थों में प्रा० शा० के स्फोटण की 'स्फुटता' को लेकर पहले ही से पनप चुका हो। पतञ्जलि जी ने शब्द के तीन रूप मान लिए हैं (१) स्फोटः शब्दः (२) शब्दः गौ (उच्चरित स्फोटित) (३) विषय प्रत्यायिक संज्ञि शब्द या जाति शब्द या संकेतिक शब्द। तीसरा, पदार्थ या

कोष का उपादेय है। व्याकरण के कार्य द्वितीय से होते हैं, उनका विविक्त बोध प्रथम से (स्फोट से)। ये सब बातें स्फोटः शब्दः के साथ-साथ समझाते चले आ रहे हैं। पाणिनि, पतञ्जलि प्रभृति सब यास्क के पदवर्ण स्फोट को मानने वाले हैं। वाक्यस्फोट से इन्हें छूत है।

३ अध्याय

(१) स्फोट किसे कहते हैं ? और अनेक शास्त्रकार तथा उनके स्फोट शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ?

जब हम किसी शब्द या वाक्य को बोलते हैं तो हमारे शब्द या वाक्य संग्रथित वस्त्र खण्ड से, ताने बाने से ओतप्रोत और उद्ग्रथित से होते हैं। शब्द या वाक्य में कई ध्वनियाँ होती हैं जैसे 'पवित्रम्' शब्द है इसमें प् अ व् इ त् र् अ म् आठ ध्वनियाँ हैं। इनमें स्वर ताने हैं, इनको संरचना कहते हैं, और व्यञ्जन बाने हैं, इनको व्यवस्था कहते हैं। इन आठों ध्वनियों का उच्चारण क्रमशः एक-एक करके होता है। जैसे पहिले प् का, फिर अ का, फिर व् का, फिर इ का, तब त् का, तब र् का, फिर अ का, अन्त में म् का। तब एक सामूहिक रूप 'पवित्रम्' की उपस्थिति होती है। जिस प्रकार कई रेखायें मिलकर एक चित्र उपस्थित करती हैं उसी प्रकार कई ध्वनियाँ मिलकर (उक्त 'पवित्रम्' के आठ ध्वनियों के) समूह से 'पवित्रम्' प्रकार का एक सामूहिक चित्र उपस्थित करते हैं। जिस प्रकार आंख के चित्र में तारी की अन्तिम विन्दु पूरी आँख का चित्र उपस्थित कर देती है, उसी प्रकार 'पवित्रम्' आदि शब्दों की अन्तिम ध्वनि, यहाँ म् ध्वनि, पूरे 'पवित्रम्' का पूरा चित्र उपस्थित कर देती है, यही अन्तिम ध्वनि से उद्बोधित सब ध्वनियों का एक सामूहिक चित्र 'स्फोट' या शब्दः, या स्वं रूपं, या वचनं, नाम से पुकारा जाता है। प्रत्येक वाक्य या शब्द की अन्तिम ध्वनि उनकी सम्पूर्ण ध्वनियों के चित्र को एकाएक उपस्थित करती है। इसी उपस्थित होने वाले ध्वनिचित्र को स्फोट कहते हैं। ध्वनिचित्र माने, ध्वनिप्रकाश है। अतः स्फोट भी प्रकाश है।

उक्त विवेचना से यह बिलकुल स्पष्ट है कि स्फोट का वास्तविक अर्थ ध्वनि-चित्र है, यह चित्रता है। चित्रता या विचित्रता अनेक ध्वनियों की संरचना व्यवस्थामयी सामूहिकता है। स्फोट का तब अंग्रेजी या लैटिन के 'फोटो' शब्द से कुछ साम्य सा लागेगा। पर आजकल के भाषा विज्ञान ने 'ग्रिम्सला' और 'वेर्नेरस ला' नाम के कुछ ऐसे नियम बनाये हैं जिनके आधार

पर अंग्रेजी के 'फोटो' शब्द का समानान्तर संस्कृत शब्द 'भाः' बनेगा (फोटो= फौस=प् हौ स्=बा ह् स्=भाः)। अतः स्फोट का अर्थ भाः या भास या स्फुटता या चित्र या चित्रता है। चित्र एक प्रकार का प्रकाश ही है, अतः चित्रता, प्रकाशता या स्फुटता है या विचित्रतायुक्त स्फुटता है, या विशिष्ट चित्रतायुक्त स्फुटता है। कुछ अंग्रेजों ने इस स्फोट शब्द का अर्थ 'विस्फोट' सा समझ कर 'बर्स्टिङ्ग' लिखा है जो उनकी इस विषय की पूर्ण अनभिज्ञता का एक पक्का प्रमाण है। एक अंग्रेज महाशय लिखते हैं कि स्फोट माने प्रतिभा है, ये भी दूर की सोचने वाले, विषय स्थल से कोसों दूर हैं। एक और हैं जो अक्षरों या लिखित अक्षरों का स्फोट मानते हैं, ध्वनियों का नहीं। इनकी क्या आलोचना की जाय। स्फोट का विषय इन सबकी समझ से बाहर की वस्तु है।

(२) स्फोट तत्व मानने की ऐसी अनिवार्य आवश्यकता ही क्या है ?

जहाँ पाश्चात्य भाषातत्वविद् अपने को भाषातत्वशास्त्र का पारङ्गत कहते हैं, वहाँ उनके स्फोट विषयक अज्ञान को देखकर दुःखी हुए बिना नहीं रहा जाता। भाषातत्वविद् की सर्वप्रथम पहिचान स्फोट का ज्ञानवान् होना है। स्फोट के ज्ञान के बिना कोई भी भाषातत्वविद् कहा ही नहीं जा सकता। क्योंकि स्फोट तो भाषा की आत्मा है। स्फोट, निरवयव और शब्द या वाक्य में व्याप्त, अन्तिम ध्वनि से प्रज्वलित दीप सम भाषा की आत्मा है कहा है। जैसे 'ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते' (वा० प० १-७८) स्फोट, सचमुच में, बिजली के तारों से बने अक्षरों का बटन खुलने पर स्फुटित होने या चित्रित होने के समान भाषा की दीप्तिसम आत्मा है। ध्वनियाँ बिजली के तार हैं, अन्तिम ध्वनि बिजली का बटन है, उस बटन के दबने पर सब ध्वनि तारों का गुञ्जित-सा होना या चमक जाना निरवयव व्याप्त स्फोट-रूपी आत्मा है। ध्वनि तारों को चमकाने वाले स्फोट को प्रकाशित करने में जितनी सामर्थ्य स्फोट में है उससे भी कहीं अधिक सामर्थ्य मौनरूपी अन्धकार में है। यदि आकाश नीला न होकर तारों की तरह चमकीला हो तो हमें कोई तारा न दिखलाई पड़े, इसीलिए वे दिन में दिखलाई भी नहीं पड़ते। इसी प्रकार हम सुनते तब हैं जब सुनने से या ध्वनियों से अधिक, या कम से कम बराबर नहीं तो कुछ तो अवश्यमेव 'मौन' का विस्तृत आकाश खुला मैदान सा विद्यमान रहे। यदि मौनरूपी आकाश खाली न रहे तो हमें ध्वनि तारों का गुञ्जनरूप प्रकाश कदापि नहीं मिल सकता।
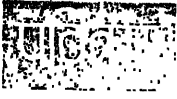
प्रस्तुत चित्र में 'पवित्रम्' शब्द की स्फोटरूप आत्मा कितनी सूक्ष्म है, पर उस सूक्ष्म रूप को काले स्थान-रूप मौन के आकाश में कितनी स्फुटता या चित्रता या प्रकाशता-सी दिखलाई पड़ रही है, वह स्वतः स्पष्ट है। यहाँ पर उदाहरण के लिए लिखित अक्षरों के रूप का चित्र दिया है, पर स्फोट लिखित अक्षर या वर्णों का नहीं, वरन् ध्वनियों या श्रुतियों का होता है। 'पवित्रम्' की आठ श्रुतियों के उच्चारण में प्रत्येक के बीच में जो मौन रूपी आकाश है, उसी मौन-रूपी आकाश के प्राङ्गण में स्फोटरूपी ध्वनिचित्र पूर्वोक्त विधि से प्रकाशित होता है। कहने का मुख्य प्रयोजन यह है कि श्रावण प्रत्यक्ष में जितना महत्व ध्वनियों या श्रुतियों की स्फुटता का है उससे अधिक महत्व उन ध्वनियों के मध्यवर्ती विस्तृत मौनरूप आकाश का है। मौन है चित्रभित्ति, ध्वनियों की स्फुटता या स्फोट हुये उस मौनरूपी भित्ति पर चमकने वाले शब्द चित्र। फलतः मौनरूपी नीले गगन में चमकने वाली निरवयव शब्द स्फुटता ही स्फोट कहलाती है। स्फोट और मौन दोनों धूप छाँह या प्रकाश अन्धकार या रात दिन या दीप और कक्ष के समान हैं। बिना मौन के स्फोट की सिद्धि असम्भव है। हमारे आचार्यों ने 'स्फोट' की स्फुटता का वर्णन 'प्रधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के न्याय से कर रखा है, जिसका मूलभूत आधार मौन है, यह सर्वत्र अध्याहृत समझा जाना चाहिए।

'स्फोट' दार्शनिक तत्व है। 'दार्शनिक' शब्द का नाम सुनते ही पाश्चात्य लोग बिदग जाते हैं। क्योंकि वे लोग 'दार्शनिक' के माने 'काल्पनिक' सा समझते हैं। पाश्चात्य दर्शन सम्भवतः अधिकांश में कल्पना की भित्ति में खड़ा किया हुआ बालू का महल हो, पर भारतीयों का वास्तविक दर्शन (सांख्य और योग) उक्त दृष्टि का सा नाममात्र का दर्शन नहीं है, इसकी समस्त व्याख्या परम वैज्ञानिक है। यही हमारे आचार्यों का अभीष्ट मत भी रहा है, लिखा है, 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' (गीता)। अतः हमारा दर्शन, ज्ञान और विज्ञान दोनों का मीठा सम्मिश्रण है। 'स्फोट' भी ज्ञान और विज्ञान दोनों दृष्टिकोणों से आद्योपान्त परीक्षित, समीक्षित और निरीक्षित तत्व है, इससे बिदगना ज्ञान विज्ञान दोनों से हाथ धोना है। अब ज्ञान और विज्ञान दोनों की कसौटियों में स्फोट की, परख कर लें।

किसी प्रतिपक्षी का कहना है कि 'स्फोट' को जो आप भाषा की आत्मा और नित्य शब्द मानते हैं वह हमें जचता नहीं। इसमें प्रमाण ही नहीं है। उत्तर में कहना चाहिए इसमें प्रमाण ढूँढने का प्रश्न ही कहाँ उठता है, स्फोट

तो प्रत्यक्ष वस्तु है, प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की कहीं आवश्यकता नहीं रहती 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्'। 'गौः' एक पद है, यह सब कहते हैं, इसमें नाना वर्ण हैं पर उन नाना वर्णों से (ग् + औ + ः) अतिरिक्त सामूहिक एकत्वशाली 'गौः' पद की प्रतीति किस को नहीं होती, सब को होती है। ऐसे बाधकहीन पद के अनुभव को कोई भी असत्य नहीं कह सकता। ऐसे (गौः) पद के सामूहिक अनुभव का कोई दूसरा मार्ग या उपाय भी तो नहीं है। अतः स्फोट का मानना अनिवार्य ही हो जाता है। प्रतिपक्षी पुनः गर्दन उठा कर कहता है, अजी (वर्णों) श्रुतियों या ध्वनियों से ही पदरूपी स्फोट का ज्ञान हो जाता है, तो स्फोट एक नये तत्व को मानने की आवश्यकता ही क्या है ?। इसके समाधान में दो प्रश्न किये जाते हैं (१) क्या श्रुतियाँ या ध्वनियाँ समस्त रूप में पद बना सकते हैं या व्यस्त रूप में (पृथक् पृथक् ध्वनि रूप में) ?। यदि आप कहें विभिन्न ध्वनियाँ समस्त या समूह रूप में पद बनाने में समर्थ होते हैं, तो यह नितान्त अनर्गल और अवैज्ञानिक तर्क है। क्योंकि प्रत्येक वर्ण की ध्वनि तो अनित्य है, जब तक दूसरी ध्वनि का उच्चारण होता है तब तक उससे प्रथम ध्वनि नष्ट हो जाती है, तीसरी ध्वनि के उच्चारण तक प्रथम दोनों ध्वनियाँ गायब हो जाती हैं। तब बतलाइये इन अनित्य ध्वनियों का आप समूहालम्बन कैसे कर सकते हैं। उक्त क्रम से क्रमशः नष्ट होने वाली ध्वनियों का पद रूप समूहालम्बन नितान्त असम्भव है, और क्षणिक पदार्थों का समुच्चय सदा ही असम्भव होता है। यदि आप दूसरे पक्ष पर जोर दें और कहें प्रत्येक ध्वनि क्रमशः पद बनाने में समर्थ होती है तो हो गया पटरा। प्रत्येक वर्ण की ध्वनि पार्थक्य रूप में उपस्थित होने से अपना अभीष्ट (अर्थ या) प्रत्यक्ष नहीं करा सकती। प्रत्येक वर्णध्वनि किस पद के वर्णध्वनि का बोधक होगा। 'गौ' शब्द का ग् उच्चरित होने से वह ग्राम, ग्रीष्म, गल, गरल आदि पदों के ग् से क्या विभिन्नता रखता है ? अतः यह निरर्थक है, साहचर्य मात्र से सार्थक होता है, पार्थक्य से नहीं। अब समस्त और व्यस्त दो मार्गों से कोई तीसरा मार्ग भी तो आपके पास सम्भाव्य नहीं है। अतः झखमार कर 'स्फोट तत्व' को मानना अनिवार्य हो जाता है। पार्थक्य में उच्चरित वर्णध्वनियों के शाब्द प्रत्यक्ष में असमर्थ होने के कारण, जिस सामूहिक नित्य शब्द स्फोट की जागृति से स्पष्ट और अभीष्ट शाब्द प्रत्यक्ष उद्दीपित होता है वह स्फोट है।

स्फोट को पतञ्जलि प्रभृति सभी शब्दानुशासनकारों ने अर्थप्रत्यायक माना है। स्फोट और स्फोट से संकेतित पदार्थ एक दूसरे से कोसों दूर की वस्तुयें हैं। पर भाषा में इन दोनों का सम्बन्ध जड़ और आत्मा का सा नित्य

सम्बन्ध माना गया है। इस विषय पर हमें स्वतन्त्र रूप से अगले प्रकरण में विस्तृत विचार करना पड़ेगा। यहाँ पर हम किसी भी उच्चरित शब्द के शाब्द प्रत्यक्ष तक 'स्फोट' की सीमा निर्धारित कर के विचार कर रहे हैं। अनेक ध्वनियों के उच्चारणानन्तर, उनका जो वर्ण ध्वनि से अतिरिक्त, शाब्दबोध प्रत्यायक जो स्वरूप स्वभावतः सम्मुख उपस्थित होता है वह नित्य शब्द स्फोट है, भले ही यह स्फोट अपने संकेतित पदार्थ का तत्काल उद्बोधक क्यों न हो जाय (जो स्वभावतः होता ही है)। पर स्फोट का मुख्य कर्तव्य शाब्द बोध का प्रत्यायकत्व है। स्फोट का काम शब्द रूप बल्ब के तारों के समान ध्वनियों को सामूहिक रूप में प्रकाशित कर देना है, भले ही, उस स्फोट रूप बल्ब से संकेतित पदार्थ रूप कमरा तथा उसकी सब वस्तुयें दिखलायी पड़ने लग जाँय। यह दिखलाई पड़ना या संकेतित पदार्थ का उद्बोधन, स्फोट रूप बल्ब का फल या गौण कार्य है। स्फोट के इस फल या गौण कार्य को अर्थ-प्रत्यायकता कहते हैं। पतञ्जलि प्रभृति ने इसी अर्थप्रत्यायकत्व कोटि को मुख्यता देते हुये लिखा है "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः, येनोच्चरितेन सास्ना-लाङ्गूलककुद्खुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः (स्फोटः)" (पा० महाभाष्य १-१-१) कि 'गौः' इसमें स्फोट क्या है? जिसके उच्चरित होने से गलकम्बल, पूँछ, खुर, सींग और ककुद् का एक साथ बोध होता है वह स्फोट है। स्फोट की यह व्याख्या गलत है, यह स्फोट की अर्थ-प्रत्यायकता है। कैयट ने उक्त वाक्य की व्याख्या में लिखा है 'वैयाकरणा वर्णातिरिक्तस्य पदस्य वाचकत्वमिच्छन्ति' कि स्फोट वह वाचक पद है जो वर्णों से अतिरिक्त है। अतः कैयट भी स्फोट में वाचकता का आरोप किये बिना नहीं रह सके हैं; जिससे ऐसा लगता है कि उन्होंने स्फोट की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता की ओर कम ध्यान दिया है।

स्फोट की उक्त प्रकार की वाचकता या अर्थप्रत्यायकता पर अधिक ध्यान आकर्षित रखने के कारण स्फोटसम्बन्धी कई बातों का विश्लेषण इसी अर्थ-प्रत्यायकता के साथ साथ किया गया है। अतः उसका ज्यों का त्यों विवरण दे देना ही समुचित होगा। प्रतिपक्षी का उलाहना है कि स्फोट की वाचकता या अर्थप्रत्यायकता चीरफाड़ की विचारणा से टिक नहीं सकती। क्या स्फोट अभिव्यक्त होने के पश्चात् अर्थप्रत्यायक होता है या अभिव्यक्त होने से पहिले ही? अभिव्यक्त होने से पहिले ही स्फोट यदि अर्थ का प्रत्यायक होता है तो सदा ही अर्थप्रत्यायकता प्रस्तुत रहेगी, प्रत्येक शब्द के उच्चारण में सबके अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। यह तो महान् अनर्थ होगा। क्योंकि स्फोट तो नित्य है, उसे किसी कारण की आवश्यकता नहीं है, उसकी सत्ता भी नित्य है,

उससे अर्थप्रतीति अविलम्ब ही हो पड़ेगी। इस दोष का निवारण करने के के लिए ही 'अभिव्यक्त स्फोट ही अर्थप्रत्यायक होता है' यह मत स्वीकार किया गया है। फिर भी प्रतिपक्षी प्रश्न करता है, "अभिव्यञ्जित वर्णध्वनियाँ, क्या सामूहिक रूप से अर्थप्रत्यायकता का काम करती हैं या प्रत्येक ध्वनि अलग अलग ?" इसके उत्तर में, यह कहा गया है कि प्रतिपक्षी ने वर्णध्वनियाँ की वाचकता के पक्ष में जो जो दोष उपस्थित किये हैं, उन्हीं को हम स्फोट की अभिव्यञ्जकता के पक्ष से दूर रखते हैं। स्फोट तो निरवयव है, एकाङ्गी एकात्मीय एक ध्वनि है, उसमें वर्णध्वनियों की पृथक् सत्ता है ही नहीं, न उसमें समूह ही है। भट्टाचार्यजी ने मीमांसा श्लोक वार्तिक में स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'स्फोट तत्व अनवयव है, वर्णबुद्धि से अभिव्यक्त होता है, उसके क्रम के प्रयोग के पक्ष में कोई भी ध्वनि विरक्त या पृथक् नहीं रह सकती' "यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः। सोऽपि पर्यनुयोगेन नैकेनापि विमुच्यते॥" यदि स्फोट की व्यञ्जकता में पद की प्रत्येक श्रुति या ध्वनि को महत्व दिया जावेगा तो पाणिनि जी के सूत्र 'सुप्तिङन्तं पदम्' (अ० १-४-१४) और गौतमसूत्र 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' (२-२-६०) के अनुसार 'पद' के ज्ञान के लिए विभक्ति की वर्णध्वनियों की ओर यदि बुद्धि आकर्षित हो गई तो स्फोट का विस्फोट नहीं होता। अच्छा 'सर' इस शब्द के अन्दर जितनी ध्वनियाँ हैं, उतनी ही वैसी ही 'रस' शब्द में भी तो हैं। इसी प्रकार 'वन, नव'; 'नदी, दीन; 'राम, मार'; 'राज जरा' शब्दों या पदों में यदि बुद्धि, वर्ण ध्वनियों की ओर आकर्षित हो पड़ी तो इनके अर्थ के भेद की प्रतीति नहीं हो सकेगी। सर की जगह रस, वन की जगह नव की प्रतीत होगी। ऐसा नहीं हो सकता। क्यों कि स्फोट का बोध एक नियत क्रम से होता है। तौतातित जी ने लिखा है "यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने। वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥" कि जितनी जिस प्रकार की वर्णध्वनियाँ जिस अर्थ के प्रतिपादक या प्रत्यायक होती हैं, वे उतने ही और उसी अर्थ के बोध कराने में समर्थ होती हैं। इसका मुख्य कारण उन उन वर्णध्वनियों का अपने अपने व्यवस्थित नियत क्रमिक स्थान और क्षण में उच्चरित होना है। अतः वर्णध्वनि बुद्धि अभिव्यञ्जकता में दोष उत्पन्न करने वाली नहीं होती, न 'सर' का 'रस' सा ज्ञान होना सम्भव है, न नव का वन सा, न नदी का दीन सा, न राज का जरा सा।

प्रतिपक्षी के हाथ, स्फोट में वर्णध्वनि बुद्धि की स्वीकृति की एक ऐसी नस लग गई है कि वह अभी हार मानने को प्रस्तुत नहीं है। वह कहता है कि अब तो दोष दोनों पक्षों में बराबर सा हो गया है। वर्णध्वनि बुद्धिता की

स्वीकृति से वाचकता तो स्फोट से हट कर वर्णध्वनि में आ गई है, तब स्फोट जैसे एक नये तत्व को मानने की आवश्यकता ही कहां रह गई है ? इसके उत्तर में फिर चीरफाड़ की विधि का आसरा लेना अनिवार्य हो गया है, जिसकी छुरी से उक्त प्रश्न की कपालक्रिया हो जाती है। प्रश्न पर प्रश्न करते हुए प्रतीपक्षी से पुनः पूछा जाता है कि क्या वर्णध्वनिमात्र पद की प्रत्यायकता का आलम्बन है या वर्णध्वनिसमूह ? प्रथम की स्वीकृति के पक्ष में, जब तक पद की विभिन्न श्रुति या ध्वनि रूप पुष्पों को प्रोत करने के लिए स्फोट रूप सूत्र नहीं माना जाता तब तक वे सब वर्णध्वनियाँ बिना सूत्र के फूलों की तरह बिखरी पड़ी रह जावेंगी। उनसे एकपदत्व की सिद्धि या प्रतीति तो नितान्त असम्भव ही है। उन भिन्न ध्वनियों को एक अभिन्नता के सूत्र में बाँधने का यहां कौन सा उपकरण उपलब्ध है। अतः वर्णध्वनि मात्र की विचारणा नितान्त कपोलकल्पना सिद्ध हो जाती है। द्वितीय पक्ष में वर्णध्वनियाँ क्रम से उच्चरित होते होते ध्वस्त भी होती चली जाती हैं; अतः उनका एक सामूहिक आलम्बन करना भी स्वभावतः असम्भव है। यदि उन ध्वनियों का एक समूह मान भी लिया जाय तो वे अनेक प्रकार के पदार्थों की एकत्र जुटाई सामग्री धव-खदिर-पलाशसमूह सदृश प्रतीत होगी। पर वर्णध्वनियों की इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती। क्योंकि वे उत्पन्न हो होकर नष्ट होती जाती हैं। उनकी अभिव्यक्ति भी क्रम से ही होती है। अतः जिनकी अभिव्यक्ति क्रम से होकर नष्ट होती जाती है उनका समूह भी हो कैसे सकता है ? यदि वर्णध्वनियों का एक काल्पनिक समूह मानने का हठ भी करें, तो सर रस, नवं वनं आदि जैसे अक्रमिक समूह की प्रस्तुति से ध्वनियों का परस्पराश्रय प्रसंग दोष आ पड़ेगा। सार्वजनीन अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि विभिन्न वर्णश्रुतियों से निष्पन्न एक नवीन पद का शाब्द-बोध, तत्संकेतित पदार्थ का नित्य रूप से बोध कराता है। ऐसे एकपदत्व की प्रतीति और एकार्थ की प्रत्यायकता, वर्णों की ध्वनियों की पृथक् वाचकता का विरोध करती हुई स्फोट की सत्ता की स्थापना करती है, हां पद में आनुपूर्वी-वर्णबुद्धिता की सहायता को भेदकता का कारण मानने में दोष नहीं आता।

स्फोट की धारणा बुद्धि में होती है। जब हम किसी शब्द को प्रथम बार सुनते हैं तो स्फोट का चित्र हमारी बुद्धि में परिपक्व रूप से आरूढ नहीं हो पाता। स्फोट के चित्र को बुद्धि में स्थिर बनाने के लिए शब्द की ध्वनि की कई बार आवृत्ति हो जानी परम आवश्यक है। अतः प्रथम श्रवणकाल में शब्द स्फोट अस्फुट सा ही रहता है। द्वितीय आवृत्ति में कुछ-कुछ स्फुटता की

धारणा होती है। तृतीय आवृत्ति में उससे अधिक स्फुटता, ततः चतुर्थ-पञ्चम आवृत्ति में कहीं स्फुटतर स्फुटतम, अन्त में परिपक्व धारणा रूप में स्फोट रूप में शब्द का सूक्ष्म चित्र हमारी बुद्धि में नित्य स्थान पा जाता है। यही क्रम हमारे पठन-पाठन के विषयों के स्फोटरूप स्मरण या परिपक्व धारणा में घटित होता है। अतः कहा है :—"नादैराहितबीजानामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥" (वाक्यपदीय १-८५)। व्यावहारिक दशा में जब हम यह कहते हैं कि हमें इस शब्द या वाक्य का अर्थ लग गया है, उसका यही अर्थ होता है कि हमारे मस्तिष्क में उस शब्द या वाक्य का स्फोटरूप चित्र परिपक्व होकर स्थिरता पा गया है। यह चित्र निरवयव शब्दतत्त्वरूप स्फोट है। यह स्फोट परमार्थ संवित् लक्षण वाला है और सत्तारूप या जातिरूप का अर्थ या संकेत का प्रत्यायक होता है।

प्रतिपक्षी के अधर फड़कते से दिखाई देने लग गये हैं। हां कहना भी आरम्भ कर दिया है कि यदि सभी शब्दों की सत्ता ही उनका अर्थ है तो सभी शब्द पर्य्यायवाची हो जायेंगे। सत्ता तो सभी शब्दों में है। इस प्रकार कहीं-कहीं तो तीन-चार पदों का एक साथ प्रयोग हो जाने का अवसर भी आ पड़ेगा, किसके साथ संकेत है इसका निर्धारण करना कठिन हो जावेगा। उत्तर में निवेदन है कि ऐसा कदापि नहीं हो सकता। सबसे पहिली बात तो यह है कि पर्य्यायों का प्रयोग यौगपद्य रूप से कहीं न अभीष्ट होता है न स्वभावतः किया ही जा सकता है, वे पर्य्याय अपने क्रमसे उतरते हैं, संहत रूप में कभी उपस्थित हो ही नहीं सकते; उनके उच्चारण में क्रम और काल जो नित्य के बाधक है। कौन ऐसा व्यक्ति है जो एक क्षण में युगपद् दो या अधिक पर्य्यायों का उच्चारण कर सकता है। अतः कहा है "पर्य्यायाणां प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते। पर्यायेणैव ते यस्माद्वदन्त्यर्थं न संहताः ॥" दूसरी बात यह है कि सत्ता तो स्फटिक मणि के समान है और पर्य्याय या संकेतित पदार्थ नीलमणि, पोखराज, लालमणि के समान भिन्न-भिन्न वर्ण ध्वनियों के हैं। इन भिन्न-भिन्न रंग की भिन्न-भिन्न वर्णध्वनियों का स्वरूप उस स्फटिकमणिरूप सत्ता में अपना-अपना सा रंग ले आती हैं। अतः प्रत्येक पर्य्याय या संकेतित पदार्थ भिन्न रंग की सत्ता में भासमान होता है, और सत्ता में भी भिन्नता स्वभावतः आ जाती है। "स्फटिकं विमलं द्रव्यं यथा युक्तं पृथक्-पृथक्। नीललोहित-पीताद्यैस्तद्वर्णमुपलभ्यते ॥" तीसरी बात यह है कि सत्ता तो एक प्रकार से महासामान्य जाति ही है। गौ, अश्व आदि आश्रयों के सम्बन्ध से विभिन्न सी प्रतीत होती हुई उन आश्रित (पर्य्याय या संकेतित) पदार्थों में सत्ता जिस रूप में विद्यमान मानी जाती है वह सामान्यरूपिणी नहीं तो महासामान्य-

रूपिणी जाति ही तो है। गोत्व, अश्वत्व जिस एक सामान्य जाति का बोध कराते हैं, सत्ता भी उसी का तो बोध कराती है, अतः गोत्व, अश्वत्व रूप जाति से गौ और अश्व की सत्ता में भेद ही कहां रह जाता है। गोसत्ता ही गोत्व सी स्वयं प्रतिभासित हो रही है। इसी प्रकार अश्वसत्ता ही अश्वत्व है, यह कहना सर्वथा संगत है। अतः गवादि भेद से भिन्न भिन्न सत्ता वाली जाति में सभी गौ शब्दादि वाचकत्व रूप से व्यवस्थित होते हैं। प्रातिपदिकार्थ भी सत्ता ही है, यह तो सर्वविदित है ही। धातु भाववाची होता है, अतः धातु की सत्ता धातु का भाव है। धातु का अर्थ तो सत्ता ही होती है। यदि धातु की व्याख्या 'क्रियावाची' रूप में की जावे तब भी क्रिया को भी जाति ही माना गया है। अतः जातिरूप प्रतिपादन करने वाले धातु का अर्थ भी सत्ता ही ठहरी "जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम्।' (वाक्यपदीय ३–)। 'तस्य भावस्त्वतलौ' (पा० सू० ५–१–११९) भावार्थ में त्व और तल प्रत्ययों का जो विधान है वे भी सत्तावाचकता में ही प्रयुक्त किये गये हैं। यह सत्ता, उदय और नाश से हीन होने के कारण स्वयं नित्य ठहरी। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के देश, काल और वस्तु द्वारा विवर्त रूप की ईदृक्ता और इयत्ता की अपरिमितता, इस सत्ता को महानात्मा सिद्ध किये बिना कदापि नहीं रह सकती। अतः कहा है "सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु। जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥ तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते। सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः॥" (वाक्यपदीय)

स्फोट को कुछ लोग सत्ता या जाति नाम से पुकारने के स्थान में द्रव्य या संविल्लक्षण मानते हैं। सत्ता तो स्वयं द्रव्य है ही, जाति भी सत्ता का ही एक संकुचित क्षेत्र का नाम है; अतः यह भी द्रव्य ही हुआ। पर विभिन्न शास्त्रों की अपनी-अपनी पारिभाषिक शब्दावली का तकाजा इन नामों के भेदों का उत्तरदायी है। स्फोट की सत्ता को द्रव्य मानने वालों का मत इस प्रकार दिया गया है :—"सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते। असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते॥ अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा। गृहीतं गृहशब्देन शुद्धमेवाभिधीयते॥" (वाक्यपदीय)। वस्तु या स्फोट सत्य या सत्ता या द्रव्य है। उसका निर्धारण असत् या अनित्य द्रव्य से (क्षण-क्षण में नाशवान् ध्वनियों से) होता है। असत् नाम की ध्वनियों से सत् पदार्थ का ही संकेत होता है। जिस प्रकार अनित्य निमित्त से देवदत्त के 'घर' का घर इस अनित्य ध्वनियों से गृहीत शब्द से संकेतित होकर द्रव्य रूप घर का बोध होता है, वह संकेतक स्फोट भी द्रव्य ही है। इसी लिए कात्यायन जी ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हुए लिखा है 'सिद्धेः शब्दार्थ-

धारा प्रवाह में अधिक दाक्षिण्य आ जाता है। अतः जाति वाचकता और द्रव्य वाचकता दोनों स्फोट रूप शब्द ब्रह्म विषय की सत्यतायें हैं। अतः कहा है :—

तस्माच्छक्ति विभागेन सत्यः सर्वः सदात्मकः।
एकोऽर्थः शब्द वाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते॥ (वाक्यपदीय)

"प्रत्येक शब्द का वाच्य अर्थ शक्ति विभाग से निश्चित और नियमित होता हुआ सब का सब सदा सत्य सदात्मक है, और एक ही अर्थ शक्ति विभाग द्वारा बहुरूपों में प्रतिभासित या प्रकाशित होता है।" भर्तृहरि जी ने स्फोट और अर्थ का सम्बन्ध सोना और कुण्डल, तथा जीव और आत्मा के समान समवाय सम्बन्धवाला बतलाया है, "यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चा-विकल्पितम्। तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवेदिनः॥ विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा। विकारापगमो यत्र तामाहुः प्रकृतिं पराम्॥ वाच्या सा सर्व शब्दानां शब्दाश्च न पृथक् ततः। अपृथक्त्वेऽपि सम्बन्धस्तयो जीवात्मनो रिव॥ नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः॥" (वाक्यपदीय)

पद वर्ण स्फोट सिद्धान्तवादियों में सबसे अहितकर कार्य नागेश भट्ट और भट्टोजि दीक्षित क्रम से 'स्फोटवाद' और 'शब्दकौस्तुभ' नामक अपने ग्रन्थों में स्फोट के, कम भी नहीं, 'आठ' भेद गिना के कर बैठे हैं। उनकी समक्ष में 'स्फोट' तत्व और पतञ्जलि जी का महाभाष्य आया था कि नहीं कुछ कहा नहीं जा सकता, ये आठ भेद तो नकारात्मक उत्तर दे रहे हैं। सबसे पहिले भट्टोजि दीक्षित ने स्फोट के दो मुख्य विभेद बतलाते हुए, भतृहरि जी के जिन श्लोकों को उद्धृत किया है उनका भी अर्थ गलत लगा गये हैं। स्फोट के दो भेद जाति स्फोट और व्यक्ति स्फोट मानने में इन श्लोकों को उद्धृत किया है "सम्बन्धि भेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु। जातिरित्युच्यते तेषां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥ ३-१-३३॥ अनेक व्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता। कैश्चित् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता॥॥" (वाक्यपदीय १-९४) प्रथम श्लोक में भर्तृहरि जी सत्ता को ही 'जाति' बतला रहे हैं, गवादि की जिस प्रकार सत्ता पृथक् है उसी प्रकार गोत्वादि जाति भी पृथक् है, जब ये दोनों शब्द अन्ततोगत्वा गवादि के पार्थक्य के द्योतक हैं तो जो सत्ता है वही जाति भी है। जाति और सत्ता का प्रश्न इसलिए उठा है कि सब वाक्य व्यवस्थित हैं। अब बतलाइये इसमें जाति स्फोट या व्यक्ति स्फोट की चर्चा कहाँ आई है? दूसरे श्लोक में भट्टोजि ने प्रथमार्द्ध को पूरा वाक्य समझने की हिमालय के बराबर भूल की है, उसका अन्वय उत्तरार्द्ध में आये

'केश्चिद्' शब्द के साथ है जैसा कि नागेश जी ने समझदारी से स्वीकार किया है। पुण्यराज ने इस श्लोक की भूमिका में इस को 'मतान्तरमाह' कहके 'मतान्तर' बतलाया भी है। तब इसका यह अर्थ हुआ कि 'अनेक ध्वनिरूप व्यक्तियों से अभिव्यञ्जित होने वाले स्फोट को जाति स्फोट' कहने वाले कुछ लोग यह स्वीकार करते हैं कि इसकी व्यक्तियाँ वही अनेक ध्वनियाँ हैं। इसमें भर्तृहरि जी अपना मत कहाँ दे रहे हैं यह तो कुछ ऐसे ही नगण्य लोगों का मत है जिनका नाम देना भी उचित नहीं समझा गया है। जिस प्रकार ज्ञान, एक विशिष्ट व्यक्ति रूप ठोस होता है वैसे ही स्फोट भी व्यक्ति ही होता है, जाति ध्वनि में होती है। स्फोट तो 'एकोऽनवयवः स्फोटः' है, वहाँ जातित्व किसका है जहाँ अवयव ही नहीं, अखण्ड है। जाति में सङ्घात चाहिए 'जातिः सङ्घात-वर्तिनी'। वह स्फोट में कहाँ से आवे ? यह जाति, सत्ता आदि शब्दानुशासनियों की हेकड़ी या जिद है। उसे सिद्ध करने के लिए अर्थ गलत समझने और समझाने में भी नहीं झिझकते। वर्ण स्फोट मानने की जिद का तर्क यह है कि 'गच्छति गच्छतः गच्छन्ति' में ति, तः, न्ति वर्ण अर्थ प्रत्यायक है, यह स्फोट की हठ में 'रामो गच्छति' में रामः और गच्छति दोनों पद अर्थ प्रत्यायक हैं। पर पूछना यह है कि इन वर्णों या पदों को, पदों और वाक्यों से अलग करके अर्थप्रत्यायकता मिलती है या सम्मिलित रूप से ? पार्थक्य में तो किसी को जब अर्थ का बोध होता ही नहीं, तब इनका स्फोट कैसे माना जाय, स्फोट तो वाक्य रूप में अखण्ड रूप से ही प्रतीत होता है। फिर ये कहते हैं 'इदं एकं पदं, एको वर्णः,' में वर्ण पद की प्रतीति होती है। अच्छा ! बतलाइये 'इदं एकं पदं' एक वर्ण या पद है, या एक वाक्य, यहाँ तो प्रत्यायक पूरा पूरा वाक्य है न कि 'इदं' या 'एकं' या 'पदं'। यह सब ढकोसला निभने का है ही नहीं। अतः महाभाष्यकार पतञ्जलि जी को जब इन सब गड़बड़ियों का अनुभव होने लगा तो वे विवश होकर, वर्णपद स्फोटों की अनर्थकता और अमान्यता की दुन्दुभी बजाते हुए लिख ही गये "अर्थवन्तो वर्णाः। धातु प्रातिपदिक प्रत्यय निपातानामेक वर्णानामर्थ दर्शनात् वर्ण व्यत्यये चार्थन्तरगमनात्, वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः। अनर्थकास्तु प्रतिवर्णम् अर्थानुपलब्धेः" यहाँ पतञ्जलि जी की जिद धातु प्रातिपदिक प्रत्यय निपातों में जो एक वर्ण के हों उनका स्फोट अर्थ मानने की है, पर 'अनर्थकास्तु प्रतिवर्णम् अर्थानुपलब्धेः' यह स्पष्ट वाक्य उनके पूर्व पक्ष को एकदम खण्डित कर देता है कि प्रतिवर्ण अनर्थक है, उसके पृथक् अर्थ की प्रतीति नहीं होती। यही बात धात्वादि प्रत्ययों के वर्णों में भी लागू होती है पर वे जिद में हैं क्या किया जाय। फलतः नागेश और भट्टोजि दीक्षित के

निम्नलिखित आठ प्रकार के भेदों को काटकर फेंक देना चाहिए। व्यक्ति स्फोट—वर्ण स्फोट, पद स्फोट, वाक्य स्फोट, अखण्ड पद स्फोट, अखण्ड वाक्य स्फोट; जाति स्फोट—वर्ण जाति स्फोट, पदजाति स्फोट, वाक्य जाति स्फोट। अखण्ड पद और अखण्ड वाक्य माने समास से बने पद और वाक्य हैं। ये आठों भेद, उनके किये हैं जिन्हें स्फोट का सच्चा ज्ञान नहीं हो पाया है और जिद्दी हैं। स्फोट एक है, अखण्ड और अक्रम है और केवल वाक्य का ही होता है। यह अगले प्रकरण में देखें। "पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च। वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चनः॥" (१-७३ वा० प)। गच्छति, चलति, रामः, रामौ के प्रत्यय 'ति' 'अः' 'औ' की पृथक् सत्ता है ही नहीं। सत्ता तो इन पूरे पदों की 'गच्छति' 'रामः' की है, और इन पदों की भी वाक्य से उसी प्रकार पृथक् सत्ता है ही नहीं, सत्ता तो केवल वाक्य की ही है, वही सदा बोला जाता है, प्रत्ययपद तो काट छांट के नकली या अलीक साधन या उपाय मात्र हैं।

४ अध्याय

प्रतिभा दर्शन का मत

(१) वाक्यस्फोटवादी मत

अब तक स्फोट-विषय पर जितना प्रकाश डाला जा सका है, वह हमारे प्राचीन ग्रन्थों में यत्र तत्र सर्वत्र बिखरी सामग्री को सामञ्जस्यपूर्ण शैली में प्रस्तुत करके, उसे पूर्णता का स्वरूप प्रदान करने का प्रयासमात्र है। इस सामग्री का आधार कोई एक ग्रन्थ इसलिए नहीं बन सका है, कि जिस किसी ने भी स्फोट-विषय पर जो कुछ लिखा है वह स्फोट को प्रधान विषय बनाकर नहीं, वरन् प्रासंगिक स्पर्श सा करते हुए लिखा है। यह प्रकट सत्य है कि स्फोट का सन्देश अबतक परम्परा से प्रवाहित किये रखने का परम श्रेय और श्रद्धाञ्जलि सर्वप्रथम यास्काचार्य जी को दी जाती है, तदनन्तर कात्यायन और पतञ्जलि जी को, जिन्होंने यास्क जी के मत को बलिष्ठ समर्थन देने के लिए पाणिनि जी के सूत्रों में प्रच्छन्न स्फोट विषय को कुरेद-कुरेद कर प्रकाश में लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न करके उसका विशिष्ट वैज्ञानिक विवेचन (शास्त्र रूप में) प्रस्तुत किया। यास्काचार्य जी ने अपने ग्रन्थ में औदुम्बरायण और वार्ष्यायणि जी के वचनों का स्फोट या वाक्यस्फोट का उल्लेख करके खण्डन कर दिया था। पर प्रतीत ऐसा होता है कि औदुम्बरायण और वार्ष्यायणि जी के वाक्य स्फोट के मत का प्रसार कालान्तर में वार्ताक्ष जी ने किया था जिनका उल्लेख भर्तृहरि जी करते हैं। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि प्रभृति ने यास्क जी के शब्द स्फोट को ही मान्यता दी। अतः समस्त शब्दानुशासनियों में यही मत प्रचलित होता गया। औदुम्बरायण प्रभृति के मत का जैसा प्रसार वार्ताक्ष जी ने किया था उसका अनुसरण वाजप्यायन और व्याडि जी ने किया था। अभाग्यवश अब वाक्य स्फोट मानने वाले इन महापुरुषों में से किसी का कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः भर्तृहरि जी (६०० वि० सं०) को इन आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध थे। अतः आज हमारे पास वाक्य स्फोट मानने वालों में से केवल भर्तृहरि जी का एकमात्र ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' ही प्रस्तुत है। धन्य हो भर्तृहरि जी को, कि उन्होंने स्फोट के विषय में कई अन्य अनुपलब्ध विषयों और कोटियों पर सर्वाङ्गीण सम्पूर्ण प्रकाश डाल कर केवल वाक्य स्फोट मत का ही उद्धार नहीं कर दिया है, वरन् 'स्फोट' सामान्य का वैज्ञानिक

भव्य महल भी खड़ा कर दिया है। यदि भर्तृहरि जी के वाक्यपदीय को स्फोट का ताजमहल या तख्तताऊस या कोहिनूर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी, यह अपने विषय का वैसा ही ठोस, अनूठा, अद्भुत, अनुपम और अद्वितीय ग्रन्थ है जैसा पाणिनि जी का सार सार कूट-कूट कर भरा हुआ अष्टाध्यायी ग्रन्थ। इसकी जितनी भी प्रशंसा की जावे वह कम ही होगी।

भर्तृहरि जी ने शब्द के तीन मुख्य भेद दिये हैं। (१) शब्द ब्रह्म (२) स्फोट (३) वर्णानुपूर्वी नादवान्। इन भेदों के अतिरिक्त चौथा रूप संज्ञा है जिससे शब्दानुशासन वाले प्रत्यय, आदेश, विकार आदि का आयोजन या संस्कार करने में समर्थ होते हैं। इसका नाम 'स्वं रूपं' भी है। छठा रूप संज्ञी है जो स्फोट से संकेतित माना और कहा जाता है, जिसे अर्थ या पदार्थ भी कहते हैं। तृतीय आनुपूर्वी नादवान् को आकृति नाम से भी पुकारा जाता है। इनमें से शब्द ब्रह्म सांख्ययोग दर्शन के प्रकृति या हिरण्यगर्भस्थ आदि-तत्व, सर्वतत्व-साररूप, सारभूत, अव्यता-मात्र-सूक्ष्मत्वरूप प्रकृति का प्रतिनिधि है जिससे हमारा यह समस्त ब्रह्माण्ड उत्तरोत्तर विकास पाकर इस वर्तमान स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ होता है। वह अनादि और अनन्त है, वह अक्षर ब्रह्म है, वही प्रणवरूप ब्रह्म भी है, वह विद्या रूप भी है विशुद्ध रूप भी है। अतः सर्ववादों का अविरोधी, सर्वसम्मत, सर्वज्ञानमय, सर्वप्रकाशमय और सार्वजनीन-आस्था-सम्पन्न है। "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" ॥ १–१ ॥ "सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा। युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी" ॥ १–९ ॥ उक्त शब्दब्रह्म या प्रणव ब्रह्म की विद्या (व्याकरणशास्त्र) को सब विद्याओं में पवित्र तथा अपवर्ग का द्वार, सिद्धिरूप सोपान की प्रथम श्रेणी और मोक्ष प्राप्त करने वालों का सर्वतो सरल ऋजु राजमार्ग बतलाते हुए यह संकेत किया गया है कि यह शब्द-ब्रह्मविद्या, भगवद्गीता में वर्णित अहोरात्र मार्गीय, ओंकार ब्रह्म साधक, मोक्ष योग का ही एक स्वरूप है (दे० सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार मोक्षयोग)। "तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्। पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रचक्षते ॥ इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्। इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥" (वाक्यपदीय १–१४, १६)। अतः इस शब्दब्रह्म विषय के प्रतिपादक शास्त्र व्याकरण को शब्दब्रह्म का समीपस्थ और सब तपों में उत्तम तथा सब वेदाङ्गों में श्रेष्ठ मानना स्वभावतः उपयुक्त कहा गया है। "आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः। प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥" (वाक्यपदीय १–११)। यह ध्यान रहे भर्तृहरि जी यहां पर जिस व्याकरण शास्त्र की प्रशंसा कर रहे हैं वह पाणिनि पतञ्जलि जी

के शब्दानुशासनों से नितान्त भिन्न दर्शन शास्त्र है जिसका विशद् विवेचन इस प्रस्तुत ग्रन्थ के आदि में दिया जा चुका है। जो व्याकरण को वेद का मुख कहने में गर्व का अनुभव कर रहे हैं, इन्हें विदित होना चाहिये कि यह व्याकरण तो प्रतिभादर्शन ही है जो सर्व दर्शनों और शास्त्रों की नाक और मुख दोनों है। प्राचीन प्रातिशाख्य युग में शब्द ब्रह्म-व्याख्या-शास्त्र को व्याकरण कहते थे, वे ही प्रातिशाख्यकार शिक्षा और ऐसा व्याकरण साथ साथ लिख गये हैं।

(२) शब्दतत्त्व की व्युत्पत्ति

(१) शब्द को भर्तृहरिजी पवित्र ज्योति या शुद्ध ज्योति मानते हैं। दीपादि की ज्योति अति विकृत तथा अति विकसित होने से न तो पवित्र है न शुद्ध। कभी कभी हमारे अन्तस्तल या मस्तिष्क में ज्ञान की जो पवित्र और शुद्ध ज्योति सी जगमगाती सी प्रतीत होती है, ठीक वही आकार प्रकार, शब्द की पवित्र और शुद्ध ज्योति का होता है, यह जैसी ज्योति होती है वही ज्योति शब्द का वास्तविक रूप है। "प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः। यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः॥ प्रत्यस्तमितरूपाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्। यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं प्रवर्तते॥" (वा० प० १-१२, १८)। पुरुष सूक्त में 'मुखादग्निरजायत' मंत्र में जिस अग्नि की मुख से उत्पत्ति बतलाई गई है वह यही शब्द रूप शुद्ध और पवित्र ज्योति (अग्नि) का निर्देश करती है। पीछे ध्वनितत्त्व शास्त्र प्रकरण में उद्धृत गणेशाथर्वशीर्ष उपनिषद् के परिच्छेद में शब्द को जो 'तद् वैद्युतम्' या विद्युत् या विद्युत् प्रकाशमय माना गया है। उससे पता लगता है कि हमारे यहां शब्द को शुद्ध वैद्युतीय ज्योति बहुत पहिले ही से माना जाता रहा। भर्तृहरिजी उन्हीं उपनिषद् वाक्यों का अनुसरण करते हुये इस मत की पुनः स्थापना कर रहे हैं। (२) शुद्ध और पवित्र ज्योति रूप शब्द परमाणु या अतितमसूक्ष्मतम अणु रूप में विद्यमान रहते हैं। यह ज्योति इन्हीं अतितम सूक्ष्मतम शब्दाणुओं की है। जो अणु हैं वही ज्योति है, वही शब्द हैं। जब हम बोलने का प्रयास करते हैं तो ये ज्योति रूप शब्दाणु मेघों की घनघोर घटाओं की तरह बवंडर सी उमड़ घुमड़ कर श्रृंखलाबद्ध होकर हीरक हार के दानों के समान अभिधेय के सूत्र में ओतप्रोत होकर मुख से क्रमशः एक एक करके उज्ज्वल हीरे या मोती के दानों या श्वेत पुष्पों की फुलझड़ी बरसाने लग जाते हैं। (३) आप इन ज्योति रूप अतितम सूक्ष्मतम शब्दाणुओं को शब्दाणु ही

समझ बैठे तो बड़ी भारी भूल करेंगे। ये ज्योतिरूप शब्दाणु, शब्दाणु नहीं, ज्योति के अणु नहीं, वरन् ज्ञान के अणु हैं। हमारा आन्तरिक ज्ञान सदा ही सूक्ष्म शब्द की शुद्ध ज्योति रूप में ही विद्यमान रहता है। फलतः जो शुद्ध ज्योति है वही शब्दाणु है और जो शुद्ध ज्योति या शब्दाणु है वही हमारा आन्तरिक सूक्ष्म ज्ञान है। यह ज्ञान सबसे पहिले मानसी अवस्था में परिणत होता है, तब ज्योति उसमें पाक लाती है, तब वायु प्राणों में संचारित होकर उसे शब्दाणु रूप में प्रगट करती है। ये सब प्रक्रियायें शब्दाणुओं की ज्योति के प्रभाव से ही उत्तरोत्तर विकसित होती हैं। प्राण वायु उस ज्ञान को मानसी अवस्था (शब्दाणु अवस्था) और विभिन्न श्रुतियों की अवस्था तक पनपाने में समर्थ होती है। वायु या प्राणवायु को आप कहीं शब्द से पृथक् न समझ बैठें। ज्योति रूप शब्दाणु तो नित्य क्रियाशील है। उसकी नित्य क्रियाशीलता ही प्राणवायु की भी उत्पादिका है। शब्दाणुओं की अतितम सूक्ष्मतमता उसकी नित्य क्रियाशीलता का पता लगाने में असमर्थ कर देती है। अतः उसकी उस नित्यक्रियाशीलता को ही एक दूसरा नाम वायु या प्राणवायु दे देते हैं, वह व्यक्त होने से वायु या प्राणवायु सी लगती है, वास्तव में वह है शब्दाणुओं की नित्य-क्रिया-शीलता। ज्ञान-रूप या ज्योति-रूप या अतितम सूक्ष्मतम शब्दाणु रूप शब्द का परम विधान या नित्य निवासस्थान तो है बुद्धि या क्षीरसागर, पर उसमें स्फुरण शक्ति का आभास तब होता है जब इसकी नित्य क्रियाशीलता वायु या प्राणवायु नाम से पुकारे जाने योग्य हो जाती है। अतः इस स्थिति को भी शब्द की शक्ति का स्थान कहते हैं। (४) कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत हो रहा होगा कि भर्तृहरि जी यहां पर शब्द की व्याख्या के बारे में अपनी कोरी कल्पना की जल्पना सी कर रहे हैं। यह बात नहीं है। भर्तृहरि जी यहां पर शब्द तत्व की वैज्ञानिक व्याख्या दे रहे हैं। यहां पर दी हुई भर्तृहरि जी की शब्द तत्व की व्याख्या का मूलस्रोत सांख्ययोग दर्शन का अभूतपूर्व सिद्धान्त है। इनका शब्द ब्रह्म प्रकृति या हिरण्यगर्भ का प्रतीक है। शब्द तत्व की जिस प्रकार की व्याख्या ऊपर दी गई है वह है सत्व गुण की व्याख्या। प्रकृति या हिरण्यगर्भ को आप चाहे सत्वगुण का पुञ्ज कहें या शब्दाणुओं का पुञ्ज कहें, दोनों एक ही बातें हैं; यहां अन्तर पारिभाषिक शब्द सम्बन्धी है तत्व या विषय सम्बन्धी नहीं। सत्वगुण के भी अतितम सूक्ष्मतम कण ही होते हैं उनकी विशेषतायें—जैसी ग्रन्थकार के 'सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार' नामक ग्रन्थ में दी जा चुकी हैं—ये हैं :—

सत्व के कण या शब्द के कण—निर्मल स्वच्छ, शुद्ध ज्योतिर्मय, प्रतिबिम्बग्राही, पारदर्शी, निर्विकार, सड़न गलन से रहित, आनन्दमय, ज्ञानमय, बुद्धिमय,

चमकीले, हलके, लचकीले, ढलने योग्य, चैतन्यता के मूल आधार, नित्य-क्रियाशील, समस्त ब्रह्माण्ड के समस्त स्वरूपों की शक्ति के स्रोत, स्फूर्ति और शान्त स्वभाव वाले होते हैं। भर्तृहरि जी शब्दब्रह्म की या सत्वगुण की इस अवस्था का एक दूसरा नाम 'प्रतिभा' भी देते हैं। सत्वगुण या शब्दब्रह्म का यह प्रतिभा नाम हमें यास्काचार्य जी के दिये हुए सांख्य मत में भी मिलता है। फलतः ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति विषयक यह प्रतिभावाद प्रतिभा दर्शन का अपना विशिष्ट मत था। ये लोग शब्दब्रह्म की अलौकिक सात्विकता को ही प्रतिभा पद से घोषित करते रहे। इसी प्रतिभात्मा स्वरूप शब्द ब्रह्म से या शब्दाणुओं से हमारा निखिल ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, शब्दाणु ही जगत्कारणकारक दोनों हैं। प्रतिभात्मा रूप शब्दाणुपुञ्ज को भर्तृहरि जी ने 'नेत्र' नाम से भी पुकारा है। यह पुरुष सूक्त के 'चक्षोःसूर्योऽजायत' मंत्र के भाव की गुञ्जायमान ध्वनि की ओर संकेत करते हुये पौराणिक भावनानुसार महाकाल रुद्र रूप प्रकृति के तृतीय नेत्र खुलने का प्रच्छन्न व्याख्यान कर रहा है। यह नेत्र, प्रतिभारूप ज्योतिरूप शब्दाणु पुञ्ज ही है (दे० सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार अहोरात्र शाखा—सम्भ्रान्त सांख्ययोग)। जो व्यक्ति प्रकृति या प्रतिभा या शब्दब्रह्म या शब्दतत्व के उक्त प्रकार के ज्ञान से परिचित होगा वही उपनिषद् के निम्न लिखित वाक्य की यथार्थता और सार्थकता देख दंग रह जावेगा। नहीं तो कहेगा कि भारतीयों की तो शैली ही ऐसी है कि जिसका वर्णन करने लगे उसे ऊँचे से भी ऊँचे उछाल देते हैं। यह बात यहाँ क्या कही नहीं है, कमी वेशी लिखने वालों में नहीं समझने वालों में है। "वागेवार्थं पश्यति, वाग्ब्रवीति, वागेवार्थं सन्निहितं सन्तनोति, वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धम् (निर्मितम्); तदेतदेकं प्रविभज्योपभुंक्ते" "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वममृत् यच्च मर्त्यम्।" "छन्दोमयीभिर्वाचाभिर्बहुधैव विवेश तम्" इत्यादि (५) उक्त प्रकार के विश्लेषण को न समझ कर, आजकल के कई टीकाकारों ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय में प्रयुक्त विवर्त शब्द की व्याख्या शंकराचार्य जी के वितर्त अर्थ में करके, वाक्यपदीय की मौलिक भावना में कैसा मार्मिक कुठाराघात कर दिया है उसे देख कर ही लेखक तक को वेदना का अनुभव हो रहा है; भर्तृहरि जी होते तो मूर्च्छित ही हो जाते। विवर्त शब्द सांख्ययोग दर्शन का है। तत्वों का जो विकास प्रकृति से लेकर अहंकार तक होता है उसे विवर्त कहते हैं। अहंकार से आगे स्थूल भूतों और पदार्थों की विकास शैली परिणाम से होती हैं। उक्त स्थल में जिस शब्द तत्व की व्याख्या दी गई है वह अव्यक्त शब्द की है, उसका विकास आरम्भ में विवर्त रूप में होता है। जब वह अव्यक्त शब्द

व्यक्त या नाद का रूप लेने का उपक्रम करते हुये प्राणवायु सा प्रतीत होकर शक्तिशाली सा स्वरूप ग्रहण करने में क्षम होने लगता है वहाँ से शब्द तत्व परिणाम और परिमाण रूप में व्यक्त होने लगता है (६) शब्द परिणाम और परिमाण रूपता की व्यक्ति में प्राणवायु मुख्य रूप से (जो स्वयं अव्यक्त शब्द है) कारण है, तदनन्तर उसका द्रव्याभिघात आवश्यक है, द्रव्याभिघात स्थान और करण की टक्कर है। स्थान और करण की टक्कर कम्प उत्पन्न करता है। इस कम्प से प्राणवायु का अव्यक्त शब्द, व्यक्तता का प्राप्त होकर नाद, घोष, श्वास रूप में परिणत होकर, ह्रस्वदीर्घप्लुत और लघु, गुरु आदि परिमाणों का शरीर धारण करता है। तब षड्जादि सप्त स्वर तथा स्वर, अन्तःस्थ, ऊष्माण, स्पर्शादि स्फुट ध्वनियों की स्फुटता तथा अर्थावलम्बन कारी स्फोट की प्रभा दीप्त हो जाती है। संसार की समस्त इतिकर्तव्यता का मौलिक आधार ये ही शब्द हैं। नवीनोत्पन्न बालक अपने पूर्व संस्कारों से शब्द भावना संयुक्त होने से शब्द करने में स्वयं प्रवृत्त होता है। (७) संसार में कोई ऐसी अनुभूति नहीं है जिसमें शब्द की प्रस्तुति न हो। जो कुछ भी अनुभव वा ज्ञान होता है वह शब्द की मध्यस्थता को लेकर होता है। ज्ञान-कण ही शब्द के अव्यक्त कण है। जब ज्ञान या शब्द के अव्यक्त कण स्थान प्रयत्नों में आघात तदनन्तर उनमें कम्पन उत्पन्न करके अपना (उन्हीं अव्यक्त कणों का) मन्थन करते हैं तो जहाँ एक ओर से नाद, घोष, श्वास और दूसरी ओर वही ह्रस्वदीर्घादि, उदात्तादि, गुरुलघु आदि परिमाणों में प्रतीत होते हैं, तीसरी ओर वही व्यक्त ध्वनि अपनी अव्यक्तता को ज्ञान रूप प्रकाश से भी प्रकाशित करती चलती है, जिससे ऐसा लगता है कि स्थूल या व्यक्त नादादिक, अव्यक्त शब्द या ज्ञान के कणों के सूत्र में प्रोत से हैं। यदि शब्द के कणों की वाग्रूपता का विनाश हो जाय अर्थात् शब्द कण अपने अव्यक्त शब्दत्व को एकदम वायु अग्नि आदि अग्रिम विकासों में पूर्णतः घुला दें तो जीव तब बेहोश या असंज्ञ या मूर्च्छित सा हो जाता है। फलतः जब तक अव्यक्त शब्द तत्व रूप ज्ञान के कण अपने स्वत्व की सत्ता बनाये रखते हैं तभी तक हमें प्रकाश या ज्ञान या बोध का होश या संज्ञा की प्रतीति होती है। अतः शब्द तत्व ही सवि-कल्पकज्ञान की सम्पादिका शक्ति रखती है। सविकल्पक ज्ञान की सम्पादिनी शब्द तत्व की शक्ति ही मनुष्य सभ्यता में कला कौशल शिल्प, दर्शन, विज्ञान साहित्य, धर्म, राजनीति आदि-आदि सबकी जननी है; उसी के बल से सब उछलते, उन्नति, स्थिति, पतन भी पाते हैं। (८) और तो अलग रहा, जीव-धारियों की भीतरी (मूर्च्छावस्था में) और बाहरी चेतनता (व्यवहारा-वस्था में) का जो बोध हमें होता है वह भी इसी शब्दतत्व के व्यक्त या

अव्यक्त रूप से होता है। हम किसी को जीवित या मृत की संज्ञा उसमें विद्यमान व्यक्ताव्यक्त शब्दतत्त्व की स्थिति से ही देते हैं। जब तक नाड़ी या हृदय शब्द करता है तब तक हम उसे जीवित मानते हैं, इनके अभाव में मृत। फलतः इस संसार के संसारियों की चेतना की स्थिति का सूचक भी यही व्यक्त या अव्यक्त शब्द है। यदि यह शब्द तत्त्व अपने स्वाभाविक स्वरूप को एक क्षण के लिए भी इस ब्रह्माण्ड से छुट्टी ले ले तो सब का सब उजाड़ खंडहर सा श्मशान भूमि सा निश्चेष्ट, निश्चल, मूर्च्छित, मृत सा हाहाकार मय दीख पड़ेगा। अतः शब्द तत्त्व ही परा प्रकृति है, अन्तिम, शुद्ध, बुद्ध, ज्योतिर्मय, ज्ञानमय, नित्य-क्रियाशील, चेतनमय प्रतिभामय सत्त्व-गुण-पुञ्ज-मय है। भर्तृहरि जी ने शब्द तत्त्व के उत्तरोत्तर क्रमिक विकासों को दृष्टि पथ में रखकर 'शब्द' का नाम 'क्रतुः' (क्रमवान्) रख दिया है जिसका अर्थ किसी भी टीकाकार को अबतक ठीक ठीक नहीं लग पाया है (वा० प० १-५१) यह 'क्रतुः' नाम अव्यक्त शब्द तत्त्व या ज्ञानमय शब्दाणुओं का ही नाम है। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'क्रमरहित' या 'संकल्प' या 'क्रामतीति अर्थात् गृह्णाति' लिखा है। धन्य है। यहां पर जो व्युत्पत्ति दी गई है उसका मूल आधार निम्नलिखित है—

"स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः॥
लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिनः।
स्थानेष्वभिहितो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते॥
तस्य कारणसामर्थ्यात् वेग-प्रचय-धर्मिणः।
सन्निपाताद् विभज्यन्ते सारवत्यो हि मूर्तयः॥
अणवः सर्वशक्तित्वात् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमः शब्दभावेन परिणामिनः॥
द्रव्याभिघातात्प्रचितौ भिन्नौ दीर्घं प्लुतावपि।
कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषका॥
अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्म वागात्मनास्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥
स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते॥
अन्तः करणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते॥
विभज्य स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुति रूपैः पृथक् विधैः।

प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते ॥
अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते ।
व्यञ्जनाद्वायुरिव स स्वनिमित्तात्प्रतीयते ॥
तस्य प्राणे च या शक्ति र्या च बुद्धौ व्यवस्थिता ।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते ॥

शब्देष्वेवाश्रिता शक्ति र्विश्वस्यास्य निबन्धनी ।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥
षड्जादि भेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः ।
तस्मादर्थ विधाः सर्वाः शब्द मात्रासु निश्रिताः ॥

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ॥
इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया ।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ॥

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम् ।
स्थानाना मभिघातश्च न विना शब्द भावनाम् ॥
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिवं ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत साहि प्रत्यवमर्शिनी ॥
सा सर्वविद्या शिल्पानां कलानाञ्चोपबन्धनी ।
तद्वशादभिनिष्पत्तौ सर्वं वस्तु विभज्यते ॥

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
तन्मात्रमव्यतिक्रान्तेऽचैतन्यं सर्वं जन्तुषु ॥
अर्थ क्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः ।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठ कुड्यवत् ॥

भेदोग्राह विवर्तेन लब्धाकार परिग्रहाः ।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा ॥
अण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः ।
वृत्तिस्तस्य क्रिया रूपा भागशो भजते क्रमम् ॥

(भर्तृहरि जी का वाक्य पदीय—ब्रह्मकाण्ड १–१०६ से १२८ तक और ५१ भी मिश्रित)

(३) वाक्य-स्फोट का मूलस्रोत

भर्तृहरि जी के वाक्य-स्फोट-वाद का मूल स्रोत यास्काचार्य उल्लिखित औदुम्बरायण जी का मत है। यास्क के उल्लेख के अनुसार औदुम्बरायण जी का मत इस प्रकार है। "गौरश्वः पुरुषो हस्तीति भावस्यास्ते शेते व्रजति तिष्ठतीन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः" कि 'गाय बैठी है' 'घोड़ा सोता है' 'पुरुष जाता है' और 'हाथी खड़ा है' ये चारों वाक्य भाव हैं। ये भाव (स्फोट) रूप में बुद्धि में नित्य रूप से (आवृत्ति द्वारा पाक पाकर) रहते हैं। ये वचन या वाक्य के भाव (या स्फोट) हैं। यास्काचार्य जी ने इस मत का खण्डन कर दिया था (दे० इस प्रकरण का प्रथम भाग)। पर वार्तात्त जी ने पुनः यास्क जी के मत का खण्डन कर दिया था, ऐसा भर्तृहरि जी के अपने ग्रन्थ में दिये हुए यास्क के मत के खण्डन में उल्लिखित वार्तात्त के नाम द्वारा स्पष्ट झलकता है। यास्काचार्य के मत के खण्डन में भर्तृहरि जी ने यास्क के अपने पक्ष में दी हुई कोटियों को तद्वत् शब्दों में उद्धृत करते हुए स्फोटवाद की अतिप्राचीनता की पुष्टि कर दी है। इस खण्डन विषयक भर्तृहरि जी के श्लोकों को आदि में ही दे दिया गया है। (दे० वाक्य पदीय २–३४५ से ३४९ तक)

(४) वाक्यस्फोट और वर्णपदस्फोट मतवालों का मौलिक सिद्धान्तीय भेद।

शब्द स्फोट मानने वाले वाक्य के प्रत्येक शब्द का स्फोट मानते है। प्रत्येक शब्द के स्फोट मानने में उन्हें शब्दों को कई कोटियों में विभक्त करना पड़ता है। शब्दों की कोटियों के बारे में इस वर्ग के आचार्यों में मतैक्य नही है। कोई कहता है कि शब्दों को केवल दो कोटियों नाम (संज्ञा) और आख्यात (क्रिया) में ही विभक्त करना उचित है। यास्काचार्य प्रभृति शब्दों की चार श्रेणियां मानते हैं; नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। पर कुछ अन्य आचार्य हैं जो शब्दों के पांच भेद गिनते है; पाँचवा भेद 'कर्म प्रवचनीय' है। महाभाष्यकार पतञ्जलि जी ने इस पाचवें भेद का उपसर्गों में अन्तर्भाव करके, यास्कादि के मत की पुष्ट व्यवस्था करदी है। "द्विधा कैश्चिद् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा। अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिः प्रत्ययादिवत्॥" (वाक्य पदीय)। इन लोगों का कहना है कि जबतक हम वाक्य के उक्त भेद नहीं करते तब तक हमें यह कैसे पता लग सकता है कि वाक्य का सिर कहाँ है, पूंछ कहाँ, उद्देश्य कौन है, विधेय कौन, संज्ञादि भाग कौन-कौन हैं? अतः प्रत्येक शब्द के स्फोट की मान्यता के बिना किसी भी वाक्य का अर्थ नहीं लग

सकता। भाषा अनन्त है और अपार है, उसमें शब्दों की संख्या असंख्य है और हम जीवन भर शब्दों का बोध करते ही जाते हैं। दूसरी भाषा सीखने के लिए इससे दूसरा सरल उपाय भी नहीं है। अपनी ही भाषा के एक-एक शब्द से अनेकों प्रकार के शब्द और रूपान्तर बनते हैं, हम शब्दानुशासन के नियमों के सहारे नित नये-नये शब्द बनाते जाते हैं। बालक जब भाषा का ज्ञान करना आरम्भ करता है तो वह वर्णों के, एक अक्षर के उच्चारण से उसे सीखने लगता है, फिर एक एक शब्द की बार बार आवृत्ति करके शब्द द्वारा ही अन्त में वाक्य का बोध करने योग्य बनता है। अतः शब्द स्फोट ही परम आवश्यक है। शेष शास्त्रीय दोष यास्क के मत में दे दिये गये हैं। लिखा जा चुका है कि प्रतिभा दर्शन के बीज वेदों में ही बोये जा चुके थे। जिसके जन्म दाता दीर्घतमा ऋषि हैं; 'ऋचो अक्षरे' 'चत्वारिवाक्परिमिता' देखें। शास्त्रकारों में वाक्य स्फोट मानने वालों के सर्वप्रथम गुरु वार्ष्यायणि जी हैं। उन्होंने शब्दों के पूर्वोक्त चार भेदों को मानना एकदम मना करके, उनके स्थान में छह प्रकार के भावों को मानने का आरूढ आग्रह किया। हजारों लाखों प्रकार की संज्ञाओं, क्रियाओं, उपसर्ग, निपातोंको मानने की जगह उन सब को केवल छह भागों में इस प्रकार विभक्त कर दिया। "षड् भाव विकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः, जायतेऽस्ति विपरिणमते विवर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति" (निरुक्त) कि चाहे कोई संज्ञा हो या क्रिया हो या उपसर्ग या निपात, उन सब में केवल यही छह भाव—उत्पत्ति, स्थिति, विशेष परिणाम, विवृद्धि, अपचय और विनाश पाये जाते हैं। प्रत्येक वाक्य इन्ही छह भेदों में एक भेद की व्याख्या करता है। प्रत्येक वाक्य या वचन शब्द ब्रह्म है (या स्फोट निदानीय ध्वनि है)। अतः औदुम्बरायण जी ने वार्ष्यायणि जी के स्थापित इस सिद्धान्त के महल में 'वचन' (वाक्य स्फोट) की मूर्ति रूप नूतन सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर दी। भर्तृहरि जी ने उनसे आगे बढ़कर यह स्वीकार किया है कि शब्दतत्त्व या शब्द ब्रह्म तो स्फोटात्मा है, वह अव्याहत कला वाला अर्थात् काल से अबाधित है; इसका संकोच विकास नहीं होता। जब स्फोट ध्वनि रूप में गुञ्जित होता है तब उसे कला (क्रम) की निश्चित रूप से आवश्यकता पड़ती है, यह कला रूप क्रम, काल और भाव दो प्रकार की मुख्य शक्तियों या सत्ताओं का आश्रय लेता है। ध्वनि जन्मादि भाव रूपों में व्यक्त हो जाती है।

अव्याहता कला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता।
जन्मादयो विकारा षट् भाव भेदस्य योनयः॥"

(वाक्यपदीप १–३)।

यह काल शक्ति जब भाव शक्ति में परिणत करती है तो वही स्फोट रूप

अविकृत शब्द ब्रह्म, भोक्तृ भोक्तव्य और भोग तीन रूपों में प्रगट होने लगता है। "एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा। भोक्तृ भोक्तव्य रूपेण भोग-रूपेण च स्थितिः॥" (वा० प० १--४) (शेष यास्क के खण्डन में देखें)।

(५) स्फोट, नाद और अर्थ में भेद

वाक्यस्फोट की भूमिका जमाते हुये भर्तृहरि जी सर्व प्रथम वाक्य या शब्द के दो मुख्य रूपों की व्यवस्था करते हैं। ये 'शब्द' शब्द का प्रयोग वाक्य अर्थ में करते हैं, यह नहीं भूलना चाहिए। शब्द में दो उपादान रूप होते है। उनमें से एक 'निमित्त' कहलाता है दूसरा अर्थ में प्रयुक्त होता है। इनमें से निमित रूप शब्द तो ध्वनि या नाद है, अर्थ में प्रयुक्त होने वाला स्फोट कहलाता है। इन दोनों रूपों का आपस का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न मतवाले भिन्न-भिन्न मानते आ रहे हैं। न्याय शास्त्र वालों का कथन है कि ये दोनों कारण और कार्य रूप सम्बन्ध रखते हैं। जिस प्रकार तन्तु और पट का सम्बन्ध है उसी प्रकार का सम्बन्ध निमित्त और स्फोट में है। सांख्यवालों का कहना है कि इन दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। प्राचीन लोग इन दोनों का स्वाभाविक भेद मानते हैं। कुछ और लोग हैं जो यह कहते हैं कि इनका सुवर्ण और कुण्डल की तरह तादात्म्य तो है पर इनमें बुद्धि विषयक भेद अवश्य प्रतीत होता है। बुद्धि में ये दो पृथक् से भासमान होते तो हैं, पर हैं एक ही वस्तु। इनके अलावा कुछ और हैं जो यह मानते हैं कि इनकी मूर्तियों में स्पष्ट भेद प्रतीत होता है, जिनका मूर्ति भेद प्रतीत होता है उनका तादात्म्य नहीं माना जा सकता। निमित्त शब्द और स्फोट शब्द के सम्बन्ध के बारे में अपना पक्का मत देते हुये भर्तृहरि जी दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि निमित्त शब्द अरणि के समान है। जिस प्रकार अरणि में अव्यक्त अग्नि द्वितीय अरणि के घर्षणादि क्रिया से व्यक्त होती है उसी प्रकार बुद्धि में स्थित स्फोट, निमित्त शब्द के घर्षणादि प्रयत्नों से पृथक्-पृथक् श्रुति रूप अग्नि के उत्पादन में समर्थ हो जाती है। जब हम बोलते हैं तो हम भली प्रकार सोच विचार लेते हैं, कि क्या कहना है, तब उस सोचे स्फोट को किसी अर्थ से सम्बद्ध कर लेते हैं। तदनन्तर उस स्फोट शब्द को स्थान और करणों के प्रयत्नों से व्यक्त करने की चेष्टा करते हुये उसे ध्वनि रूप में प्रकट और ग्रहण करते हैं। स्फोट का न आदि है न अन्त, न इसमें क्रम है न अक्रम, न इसका पूर्वार्द्ध है न परार्द्ध। पर इसकी अभिव्यक्ति नाद से होती है। नाद स्थूल है, अतः इसकी व्यक्ति क्रम से ही होती है, क्रमवान् नाद से क्रमशः व्यक्त होने के कारण वह स्फोट क्रमहीन

होते हुये भी क्रमवान् या भेदवान् सा प्रतीत और गृहीत सा होता है। स्फोट और नाद की वास्तविक स्थिति प्रतिविम्ब और प्रतिविम्बीय पदार्थ की जैसी है। प्रतिविम्ब के वारे में हमारे यहाँ कई मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि चन्द्र आदि के समीप या सम्मुख होने पर जल के अवयव ही प्रतिविम्ब का रूप धारण करते हैं; चन्द्रादि पृथक् वस्तु जल में नहीं होती। कुछ लोग कहते हैं कि प्रतिविम्ब जल से पृथक् वस्तु है। कुछ लोग यह कहते हैं कि चक्षु और किरण के भास्वर द्रव्य से प्रतिहत होकर जलादि में चन्द्रादि स्वयं प्रकट से प्रतीत होते हैं। वास्तव में प्रतिविम्ब छाया का शुद्ध रूप है, छाया प्रकाश का प्रतिरोध विपरीत दिशा में होता है। यह स्थूल और अपारदर्शी द्रव्यों में होता है। पार दर्शी द्रव्य सम्मुख दिशा में स्पष्ट छाया देते हैं। ये दोनों प्रकाश के प्रभाव हैं। जो कुछ भी हो स्फोट चन्द्रादि स्वरूप के समान एक निश्चित रूपरेखा का है, नाद विभिन्न आकार प्रकार के नाना प्रतिविम्बों के समान भासमान होने वाला पदार्थ सा है। पतञ्जलि जी ने भी यही कहा है 'स्फोट' निश्चित और सीमित है, ध्वनि संकोचविकास शील। 'स्फोटस्तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धि भेर्य्याघातवत्'। जिस प्रकार ज्ञान स्वयं अपने रूप प्रकट करते हुए ज्ञेय के रूप को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार स्फोट या शब्द अपने स्वरूप को प्रगट करते हुये अर्थरूप को भी प्रकाशित करता है। वेदान्ती लोग ज्ञान को स्वयं-प्रकाश मानते हैं, तार्किक लोग ज्ञान को परप्रकाश्य समझते हैं। जब आवृत्ति द्वारा स्फोट रूप ज्ञान स्थिर हो जाता है वह घटादि विषय को अतीतानागतवर्तमान अवस्थाओं में तद्रूपता से ज्ञेय रूप में अनुगत कर लेता है। नैयायिकों का कहना है कि घटादि अर्थ घकारादि आनुपूर्वी शब्द के विशेषण रूप से प्रतीयमान होता है, वैयाकरणों का कहना है कि गाय लाओ दही खाओ इस लौकिक व्यवहार में शब्द विशेष्य रूप से अर्थ का बोध कराता है। शब्द या स्फोट तो हिरण्यगर्भ के समान एकाकार अण्डाकार है। अतः वह 'ऋतुः' या विकास शील क्रमशः विकाश शील या क्रिया शील है। वह अक्रम रूप में विद्यमान रहता है पर उसमें क्रम के बीज भरे रहते हैं। ये क्रम के वीज, प्रकृति प्रत्यय पद वाक्य महावाक्यादि रूप वृत्तियों की क्रियाओं के भागों के रूप में अंकुरित होकर नाद रूप लेते हैं। वह 'क्रतु' शब्द, उक्तवृत्तियों की क्रिया रूप में प्रत्येक भाग को आविर्भूत करते हुये क्रम को स्वीकार किये विना नहीं रह सकता। जिसप्रकार वस्त्र में अंकित किये जानी वाली मूर्ति, पहिले ही से बुद्धि में निश्चित आकार प्रकार में स्थिर बनी होती है तदनन्तर उसी को क्रमशः पट में ताना जाता है, इसी प्रकार स्फोट पहिले ही से बुद्धि में स्थित रहता

है, उसी को स्थान करण प्रयत्नों द्वारा स्फोट के शब्दाणु रूप प्राणवायु, पट रूप आकाश या मौनाकाश में ध्वनि रूप शब्द या पद या वाक्य (नाद) प्रकट करता है। बुद्धिस्थ मूर्ति, व्यक्त मूर्ति की रचना का मुख्य कारण है। उच्चारण करने वाले की बुद्धि पहिले शब्द की ओर ध्यान आकर्षित करती है अर्थ या पदार्थ की ओर नहीं। इसी प्रकार श्रोता का ध्यान या बुद्धि भी पहिले शब्द की ही ओर आकर्षित होती है, पदार्थ की ओर नहीं। अतः शब्द ही प्रधानता रखते हुये अर्थ की ओर विशेषण बनकर खिंचते हैं। जब हम किसी वाक्य में सविशेषण शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा ध्यान या बुद्धि उन विशेषणों की ओर प्रधानतया नहीं जाता, हमारा ध्यान केवल उस शब्द की ही ओर जाता है। जैसे गौ लाओ शब्द सुनने से 'सास्ना खुरविषाणवती' विशेषण की ओर हमारा ध्यान न जाकर, केवल गौ को 'लाने' के अर्थ मात्र का बोध होता है। क्योंकि ये सास्नादिमत्वादि अर्थ क्रिया के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। जिस प्रकार तेज की दो शक्तियाँ ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व होती हैं वैसी ही दो शक्तियाँ सभी शब्दों की पृथक् पृथक् होती हैं। ग्राह्यत्व शक्ति चक्षु की दर्शकत्व शक्ति और शब्द की प्रतिपादकत्व शक्ति है, ग्राहकत्व शक्ति चक्षुकी विषय दर्शन शक्ति और शब्द की प्रतिपाद्यत्व शक्ति है। जब तक शब्द के उच्चारण से विषय का ग्रहण पूर्ण रूप से नहीं हो पाता, तब तक उच्चरित होते हुये भी शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। उच्चारण मात्र की सत्ता, इस प्रकार अर्थ ग्रहण और प्रकाशन में समर्थ नहीं हो सकती। अतः जब उच्चरित शब्द से श्रोता अर्थ का ज्ञान नहीं कर पाता तो वह पुनः पूछता है "आपने क्या कहा ?" यद्यपि शब्द की तरह इन्द्रियों में भी ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों शक्तियाँ होती हैं, पर जहाँ शब्द की ग्राह्यत्व ग्राहकत्व शक्ति की अपेक्षा है, उसकी कमी होने पर, श्रवणेन्द्रिय की ग्राह्यत्व ग्राहकत्व शक्ति के सञ्चार का अवसर नहीं आ पाता। क्योंकि यहाँ शब्द और अर्थ में विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हो सका है। अतः भाष्यकार पतंजलि जी कहते हैं "आतश्च शब्दपूर्वकोऽर्थ सम्प्रत्ययः; यो हि नाम्ना आहूयते नाम च यदा यदाऽनेन नोपलब्धो भवति तदा पृच्छति किं भवानाह इति"। शब्द के धर्म या शक्ति (ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व) एकाश्रयी होने से अभिन्न होते हुए भी विभिन्नता से अनुभूत किये जाते हैं, अतः व्याख्यानावसर में भेदकतया प्रतीत होने से शब्द की ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व शक्तियाँ कारण कार्य रूप में अविरोध अबाध रूप से चलती हैं। गुण और वृद्धि ये दो शब्द संज्ञायें हैं 'स्वरूपं' के प्रकाशक है, इनसे 'अदेङ् गुणः' और 'वृद्धि रादैच' से अ ए ओ और आ ऐ औ का क्रमशः संकेत होता है।

'अदेङ्' तथा 'आदैच्' ये दोनों संज्ञि हैं। अतः गुणवृद्धि नामक स्वरूप निबन्धक संज्ञायें 'अदेङ्' 'आदैच' संज्ञियों के साथ अपने आप सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। इसके विपरीत अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय के विधान में अग्नि शब्द केवल अपने 'अकाराद्यनुपूर्वी' 'स्वं रूपं' का निबन्धन करते हुए, अंगारार्थक अग्नि से अपना सम्बन्ध स्थापित करने में स्वभावतः असमर्थ होता है। यहाँ अभिधेयत्व शक्ति प्रबलता पाती है। शास्त्र या सूत्रों में जिस जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है उसके साथ प्रत्ययादि का संस्कार कदापि नहीं होता। ऐसे शब्द अपने 'स्वरूप' के प्रत्यय या बोध करने की शक्ति से प्रतिबन्धित नहीं होते। अतः उन्हीं स्वरूपनिबन्धनीय स्वरूपों से प्रत्ययादि होते हैं, उनसे संकेतित अर्थों के साथ नहीं; उच्चार्यमाण शब्द, स्वार्थ प्रत्यायन में व्यग्र रहने के कारण, प्रत्ययादि के कार्यों के संस्कार के सम्बन्ध को स्थापित भी नहीं कर सकता। अतः अर्थ विशिष्ट शब्दों के इन्द्रिय प्रकाश्य स्फोट तथा तदर्थ विषय मध्ये, किसके साथ प्रत्ययादि लगाने अभीष्ट हैं? इसके निर्णय के लिए प्रत्यय रूप कार्य का स्वरूप शब्द से उद्देश्य विधेयरूप सम्बन्ध की स्थापना करनी पड़ती है। उपमान और उपमेय में जो समान्यता होती है वह दोनों में आश्रित रहती है। पर यह समानता दोनों पक्षों में विशिष्टता पूर्वक भेदकता युक्त होती हुई भी विच्छेदकता की सीमा को नहीं छूती, पर विशिष्टता तक ही सीमित रहती है। जहाँ पर गुण का प्रकर्ष दिखलाना आवश्यक होता है वहाँ पर उपमान उपमेय और सामान्य धर्म को दिखलाने का अवसर नहीं रहता, यहाँ गुण प्रकर्ष प्राधान्य पा जाता है, वही प्रकृष्टता को पाता है। सबसे मुख्य बात है अभिधेयता। अभिधा शब्द को व्यवस्थित कर देती है। उसके उच्चारण की विवक्षा ही उसके अर्थ की ओर ध्यान न ले जाकर उसके स्वरूप संज्ञा की ओर ले जाती है, संज्ञी यहाँ अभिधा भी नहीं है, अभिधेय भी नहीं। दूसरी बात यह है कि शब्द, संज्ञि से सम्बन्ध स्थापित करने के पहिले अपना सम्बन्ध संज्ञा (स्वंरूपं) से ही करता है। यह सम्बन्ध षष्ठी या प्रथमा को निमित्त बनाकर निर्धारित हो जाता है। स्वंरूप निरूपित हो जाने पर उसे संज्ञा रूप में गृहीत करने के लिये प्रथमा विभक्ति का आश्रय लेना पड़ता है, तथा उसके अर्थ संज्ञी को ग्रहण करने के लिए षष्ठी का प्रयोग करते हैं जिससे उक्त दोनों में एक प्रकार से अन्वय और व्यतिरेक का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कुछ आचार्यों का यह मत है कि 'स्वं' यह पद शब्द की संज्ञा का द्योतक है, और रूपं शब्द संज्ञि का बोधक है, संज्ञा में व्यक्तित्व है, संज्ञि में जातित्व। शब्द का रूप अपना ग्राहक होता है। दूसरे आचार्यों का कहना है कि शब्द की विवेचना में 'स्वंरूपं' शब्द में

स्वं 'व्यक्ति' का बोधक है, रूपं जाति का। शब्द के व्यक्ति रूप से या संज्ञा रूप से प्रत्ययादि संस्कार किये जाते हैं, संज्ञि तो जाति है, यह उस संस्कृत या असंस्कृत 'स्वं' व्यक्ति द्वारा उपलक्षित होती है। भाष्यकार ने कहा है "व्यक्तिरेव गौ नाकृतिः, गुण एव नीलो न गुणसामान्यनीलत्वम्।" कुछ आचार्य उक्त मत के बिलकुल उलटे (मत) में विश्वास रखते हुये कहते हैं कि शब्द की जाति विशिष्ट 'स्वं' व्यक्ति है, 'रूप' शब्द सामान्य की 'संज्ञा' है। इस प्रकार 'स्वं' उद्देश्य है रूपं विधेय, और संज्ञि जाति व्यक्ति है, संज्ञा सामान्य संज्ञा। दूसरे लोग समझते हैं कि व्यक्ति ढक् इत्यादि प्रत्यय रूप उद्देश्य अग्नि आदि संज्ञिनी का बोध करता है। जाति तो संज्ञा है, यह स्वतः सिद्ध है। अग्नि आदि शब्द की जो जाति है, वह संज्ञा है, उससे प्रतीति में लाई गई व्यक्ति अग्नि शब्द रूपिणी है। वह तब या कार्य स्थल में ग्राह्यत्व रूप से स्वयं उपस्थित रहती है। सविकल्प ज्ञान में निर्विकल्प ज्ञान कारण होता है। निर्विकल्पक ज्ञान में धर्म ज्ञान के बिना, द्वितीय वस्तु (घटादि) के ज्ञान का निवारण नहीं हो सकता। 'नागृहीत विशेषणाः बुद्धि र्विशेष्यमधि गच्छति' यह न्याय लग जाता है। कुछ आचार्य शब्दों को शब्दानुशासन द्वारा संस्कार कार्य करने के पक्ष में भी नित्यत्व मानते हैं। तथा प्रत्ययादि संस्कृत शब्दों में एकत्व ही मानते हैं। 'ग्राम शब्दोऽयं बह्वर्थः अकारस्यैकत्वात्सिद्धम्'। क्योंकि पुनः पुनः संस्कार करने के अवसर पर यह वही शब्द है ऐसी नित्यता सूचक प्रतीति होती है। जो लोग संस्कार क्षण में शब्द में अनित्यता मानते हैं, वे प्रत्येक शब्द को प्रत्येक संस्कार काल में नव नव मानकर एक ही शब्द के नानात्व में विश्वास रखते हैं; जैसेः—

"द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥
आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुर्मनीषिणः।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते॥
अरणिस्थं यथा ज्योतिप्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्॥
वितर्कितं पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
कारणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥
नादस्य क्रमजातित्वान्न पूर्वो नापरश्च स।
अक्रमक्रमरूपेण भेदवानिव गृह्यते॥
प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः॥

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥
अण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो भजते क्रमम्॥
यथैकबुद्धिविषयामूर्तिराक्रियते पटे।
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते॥
यथा प्रयोक्तुः प्राक् बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।
व्यवसायो गृहीतृणामेवं तेष्वेव जायते॥
अर्थोपसर्जनीभूतानभिधेयेषु केषुचिद्।
चरितार्थान्परार्थत्वान्न लोकः प्रतिपद्यते॥
ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वेशक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्व शब्दानामेते पृथगवस्थिते॥
विपयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रतीयते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः॥
अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात्किमाहेत्यभिधीयते।
नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं गृह्यते तथाः॥
भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्द धर्मावपोद्धृतौ।
भेदकार्येसु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः॥
वृद्धयादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिवन्धनाः।
आदैच् प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः॥
अग्निशब्दस्तथैवायमग्निशब्दनिवन्धनः।
अग्निश्रुत्यैति सम्बन्धमग्निशब्दाभिधेयया॥
यो य उच्चार्यते शब्दो नियतं न स कार्यभाक्।
अन्यप्रत्यायने शक्ति नं तस्य प्रतिवध्यते॥
उच्चरन् परतन्त्रत्वाद् गुणः कार्यै नं युज्यते।
तस्मात्तदर्थे कार्याणां सम्बन्धः परिकल्पते॥
सामान्यमाश्रितं यद्यदुपमानोपमेययोः।
तस्य तस्योपमानेषु धर्म्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते॥
गुणः प्रकर्ष हेतुर्यः स्वातन्त्र्येणोपदिश्यते।
तस्याश्रितादृगुणादेव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते॥
तस्याभिधेय भावेन यः शब्दः समवस्थितः।
तस्याप्युच्चारणे रूपमन्यत्तस्माद्विविच्यते॥
प्राक् संज्ञिनामभि संवंधात् संज्ञारूपपदार्थिका।

षष्ठ्याश्च प्रथमायाश्च निमितत्वाय कल्पते।
तन्त्रार्थत्वात्प्रथमा संज्ञाशब्दाद्विधीयते।
अस्येति व्यतिरेकश्च तदर्थादेव जायते॥
स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्ति संज्ञोपदिश्यते।
व्यक्तौ कार्य्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते॥
संज्ञिनी व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रग्राह्यामथापरे।
जातिप्रत्यायिताव्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते॥
कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिदेकत्ववादिनः।
कार्यत्वेऽनित्यतायां वा केचिन्नानात्ववादिनः॥
(वाक्य पदीय ब्रह्मकाण्ड १–४४ से ७० तक)

(६) वाक्य-स्फोट की व्याख्या

अब वाक्य स्फोट की जड़ जमाने के हेतु वाक्य के विभिन्न अंगों और अंशों की एकात्मता और अखण्डता स्थापित करने के निमित्त उनके सत्य स्वरूप का विवेचन कर लेना परम आवश्यक है। स्फोट एकात्मा, अखंड, अक्रम और एकरूप है। ये सब गुण प्रत्येक (वर्णध्वनि) वर्ण स्फोट (पद ध्वनि) पद स्फोट और (वाक्य ध्वनि और) वाक्य स्फोट में किस प्रकार विद्यमान रहते हैं इनका विवेचन करते हुए भर्तृहरि जी कहते हैं। 'अनन्त' 'अनादि' आदि पदों के भिन्न होते होते हुये भी इनके अ, न आदि वर्ण ध्वनियों की एकता में कोई अन्तर नहीं है, जो अ और न 'अनन्त' में हैं, वही 'अनादि' में हैं। इन पदों में यह अ और न वही हैं यह प्रतीति सबको होती है। प्रत्येक वाक्य भिन्न-भिन्न वर्णध्वनियों की आनुपूर्व्यी से युक्त होते हुये भी 'घोड़े को देखो' 'घोड़े को लाओ' वाक्यों के 'घोड़े को' पद एक दूसरे से भिन्न नहीं प्रतीत होते। दोनों 'घोड़ेको' पदों की एकात्मता में तिलभर भी अन्तर नहीं हैं। फलतः पदों में भेद होते हुये भी उनके वर्णों की एकात्मता और अखण्डता में भेद नहीं होता, तथा वाक्यों में भेद होते हुये भी उनके पदों की एकात्मता और अखण्डता में अन्तर उपलब्ध नहीं होता। अतः वर्ण समूह ही पद है, पद समूह वाक्य। वर्णों के अयुगपद्-कालीन क्रमशः उच्चरित प्रध्वंसित होते हुये भी उनकी सावयवता की जो अखण्ड प्रतीति होती है, पद उनसे व्यतिरिक्त वस्तु नहीं है। इसी प्रकार पदों के अयुगपद् कालीन क्रमशः उच्चरित प्रध्वंसित होते हुये भी, उनकी सावयवता की जो अखण्ड प्रतीति होती है, वाक्य उनसे व्यक्तिरिक्त वस्तु नहीं है। फलतः वर्णों की अखण्ड सामुदायिकता ही पद है, पदों की अखण्ड

सामुदायिकता वाक्य है। पद में वर्ण समुदाय अखण्ड और एकात्म्य रूप से रहता है, वाक्य में सभी पद अखण्ड और एकात्म्य रूप से उपस्थित रहते हैं। अतः वाक्य, वर्णों और पदों की एकात्मता या अखण्डता के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है, अथवा वर्णों और पदों की अखण्डता ही वाक्य है। दूसरे शब्दों में 'वाक्य नित्यरूप से एकात्मा और अखण्ड है, इस अखंडता की दृष्टि से यह कहना अधिक संगत होगा कि 'न तो पद में वर्णों का समूह है, न वर्णों के अवयव (फोनेमिक्स या अक्षर) होते हैं, न वाक्य में कोई भी पद विद्यमान रहता है' क्योंकि वर्ण भी अखण्ड है, पद भी अखण्ड है) वाक्य पूर्ण अखण्ड है। पदों और वर्णों की अखण्डता का विचार केवल वाक्य की अखण्डता को स्थापित करने के उद्देश्य से—तथा पद स्फोट-वाली धारणा का विश्लेषण द्वारा खण्डन-स्वतः खण्डन हो जाने के उद्देश्य मात्र से किया गया है। फलतः " 'वाक्य' ही भाषा तत्व शास्त्र की एक मात्र मुख्य इकाई है"। प्रत्येक वाक्य का अर्थ नामाख्यात उपसर्ग निपात भेद से नहीं वरन् षड्भाव विकारों की सरल पद्धति से अपने आप लग जाता है। परन्तु निरुक्तकारों और शब्दानुशानकारों को लाचारी से वर्ण और पद का सहारा लेना पड़ता है। उनके प्रायः सभी संस्कार पद और वर्णों से होते हैं पर उन्हें इनका विवेचन तो वाक्य से ही करना पड़ता है। यास्कादि, पाणिन्यादि प्रभृति पद-स्फोट माने बिना प्रत्यय और संस्कार का काम नहीं चला सकते थे, यह समझना भी भूल ही है। यहां प्रत्यय और संस्कार में वर्ण या पद प्राधान्य पाता भी है तो उसे कहा सुना और समझा तो वाक्य से ही जाता है। अतः यास्कादि का पदस्फोट व्यावहारिक शब्दनिरुक्ति या पदसंस्कार तक भी सीमित रखना उचित नहीं था। पर उन्होंने अपना एक मत खड़ा कर दिया। ये लोग एक शब्द के अनेक भेद या अर्थ मानने को विवश हैं, अतः एक शब्द में अनेकत्व भावना करते हैं, उस अनेकत्व में एक काल्पनिक एकत्व भी मानते हैं। वाक्य स्फोटवादी मत में पदादि भेद काल्पनिक है, सत्तावान् नहीं है, सत्ता केवल व्यावहारिक वाक्य या वाक्य स्फोट की है जिसमें एकत्व और अखंडत्व दोनों हैं। इस प्रकार जिस पदस्फोट की पदानेकार्थता में यास्कादि विश्वास रखते हैं, उससे बिलकुल उलटे विपरीत मत वाक्य स्फोट की एकता और अखंडता में वार्ष्यायणि औदुम्बरायण से लेकर भर्तृहरि जी तक सबकी पक्की श्रद्धा है।

वाक्य-स्फोट प्रतिभात्मा स्वरूप या आत्मा स्वरूप है, नित्य है, काल रहित है, अखंड मूर्तिमान् सा है। इसकी अनुभूति या अभिव्यक्ति वैकृत ध्वनि से होती है, यह स्वयं प्राकृत ध्वनि या अव्यक्त ध्वनि रूप है, ज्ञानाणु रूप कहिये या शब्दाणु रूप कहिए या प्रकाशाणु या वैद्युतीयाणु रूप कहिए, सचमुच

कुछ इसी प्रकार का प्रतिभात्मा स्वरूप आलोक स्वरूप अलौकिक तत्त्व है। जब यह वैकृत ध्वनि में अभिव्यक्त होता है तो यह वैकृत ध्वनि वृत्तियों को (द्रुता मध्यमा विलाम्बता को) अपनाये बिना स्फुटता भी नहीं पा सकती। वैकृत ध्वनि जब भी अभिव्यक्त होगी वह किसी न किसी वृत्ति में ढलकर ही प्रगट हो सकती है। स्फोट का ध्वनि की इस प्रकार की वृत्तियों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। स्फोट वृत्ति हीन है या यों कहिए वृत्ति वैकृत ध्वनि में होती है, प्राकृत ध्वनि में नहीं। स्फोट प्राकृत-ध्वनि-वृति-हीन अखंड ध्वनि है। वैकृतध्वनि में ग्रहणोपाधि की क्रमिक स्फुटता अनिवार्य है। प्राकृत ध्वनि इस प्रकार की ग्रहणोपाधि की क्रमिक स्फुटता से भी तटस्थ है, वह स्वयं स्फुट या स्फोट या अखण्ड स्फुटता सम्पन्न पूर्ण चित्र सा है, जब यह स्फुट होता है तो अखण्ड रूप में, पूर्ण का पूर्ण ही उपस्थित होता है; वैकृत ध्वनि की तरह क्रमशः उत्पन्न विनष्ट नहीं होता। स्फोट में लघुगुरु उदात्त अनुदात्तादि का तो प्रश्न ही नहीं उठता, पर उसमें ह्रस्वदीर्घप्लुतादि वर्णों की एकात्मता जिस रूप में विद्यमान रहती है उसे ह्रस्वदीर्घ प्लुतादि कहना या समझना केवल उपचार या समझने के लिए ही कहना चाहिए। स्फोट तो अखंड एकात्मा निर्विकार और अनवयव है। जो अनवयव और अखंड है, उसके आदिमध्यान्त हीन होने से, यहां ह्रस्व है यहां दीर्घादि की चर्चा का प्रश्न ही नहीं उठता। ह्रस्व-दीर्घादि विभाग की और अवयव की अपेक्षा रखते है। जहाँ विभाग और अवयवों का अभाव है वहाँ ह्रस्व दीर्घादि का स्वभाव ही प्रवृत्त नहीं हो सकता। ह्रस्वदीर्घादि में काल भेद भी तो अपेक्षित है, स्फोट तो काल हीन भी है क्रम हीन भी। अतः स्फ़ोट में ह्रस्व दीर्घादि की तिल भर भी गुंजायश नहीं हो सकती जो ऐसा कहते हैं वे उपलक्षण मात्र से। जैसे पाणिनि जी के 'तपरस्तत् कालस्य' और 'कृपो रोलः' में केवल उपचारीय उपलक्षणीय या आरोपित तत्कालीय ह्रस्वदीर्घादि की सीमा का निर्देश है। कहने का तात्पर्य यह है कि ह्रस्वदीर्घ प्लुतादि भी स्वभावतः भेदवान् हैं और नित्य हैं, इनकी इस नित्यता से ही प्राकृत ध्वनि में काल का आरोप करते हैं या ह्रस्वदीर्घ कहते हैं, स्फोट में जब काल है ही नहीं तो इन नित्य ह्रस्व दीर्घादि में कालभेद कहां से हो सकता है? अतः यह सब व्यावहारिक औपचारिकता मात्र है। शब्द या वाक्य के ग्रहण में या ज्ञान या बोध या श्रावण प्रत्यक्ष में प्राकृत ध्वनि काम करती है। यह प्राकृत ध्वनि, वृत्तिवाली वैकृत ध्वनि की उत्पत्ति के लिए निमित्त या कारण होती है। स्फोट की प्राकृत ध्वनि के उपरान्त शब्द की अभिव्यक्ति के साथ-साथ वृत्तियों के भेदों से युक्त होकर जो ध्वनि प्रगट होती है उसे वैकृत ध्वनि कहते हैं। इन वैकृत ध्वनियों की वृत्तियों से स्फोट की प्राकृत ध्वनि में

कोई अन्तर नहीं आता। एक ही स्फोट की अनेक वृत्तियाँ होती हैं तो स्फोट में वृत्तिभेद से भेद नहीं आता, न स्फोट से ये वृत्ति भेद युक्त वैकृत ध्वनियाँ भिन्न ही हैं। प्राकृत और वैकृत ध्वनियों की भी एकात्मता ही है, दोनों एक ही हैं, एक में (वैकृत में) वृत्ति भेद से ध्वनिता में लघु गुरुता या ह्रस्व दीर्घता काल और क्रम से बद्ध है, दूसरे (प्राकृत-स्फोट) में वृत्ति काल क्रम हीनता है। 'स्फोटस्तु तावानेव भवति भेर्य्याघातवत्' वाक्य से भाष्यकार पतञ्जलि जी ने भी यही मत अभिव्यक्त किया है। प्राकृत ध्वनि, वैकृत ध्वनि का मौलिक शरीर है, वैकृत ध्वनि मौलिक ध्वनि का विकसित वर्द्धित स्वरूप है। अतः ये एक दूसरे के कारण कार्य रूप हैं, तत्वतः ये दोनों एक ही हैं, इनमें तात्विक अभेद है, शारीरिक भेद। ज्ञान काल में ये दोनों स्वरूप स्थूल के अन्दर सूक्ष्म से या सूक्ष्म में स्थूल से लटकते हुए, तादात्म्य रूप से रहते हैं, अतः अभिन्न से प्रतीत भी होते हैं।

(७) श्रावणप्रत्यक्ष

कुछ आचार्यों का मत है कि वैकृत ध्वनि की अभिव्यक्ति के अनन्तर, यह वैकृत ध्वनि श्रवणेन्द्रिय को प्राकृत ध्वनि की ग्राहकत्व शक्ति देकर संस्कृत कर देती है। इसे इन्द्रिय संस्कार कहते हैं। दूसरे आचार्यों का कहना है कि वैकृत ध्वनि प्राकृत ध्वनि के शब्द स्फोट का संस्कार या तद् ग्राह्यत्व शक्ति (वैकृत ध्वनि ग्राह्यत्व) शक्ति देकर उसे संस्कृत कर देती है। तब वह श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध स्थापित करती है। इसे शब्द संस्कार कहते हैं। कुछ अन्य आचार्य हैं जो इन्द्रिय-संस्कार और शब्द-संस्कार दोनों में विश्वास रखते हैं। इनके मतानुसार वैकृतध्वनि तीन काम करती है (१) श्रोत्रेन्द्रिय संसर्ग, (२) स्फोट की अभिव्यक्ति (३) अर्थ ग्रहण। जैसे दीपक स्वप्रकाश चक्षुप्रकाश तथा वस्तुप्रकाश तीन का युगपद् कारण बनता है वैसे ही वैकृत ध्वनि भी उक्त तीनों का कारण है। इन्द्रिय-संस्कार-वादी मत में 'चित्तैकाग्रता' रूप अञ्जन लगाने की आवश्यकता पड़ती है। इस समाधानता (एकाग्रता) से इन्द्रिय की तत्परता ध्वनि की तद्ग्राहकत्व शक्ति में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार शब्द संस्कार वादी मत में, जिस प्रकार पृथिवी की गंध को जाग्रत करने के लिए जल छिड़काव आवश्यक होता है, उसी प्रकार शब्द की श्रवणता को जाग्रत करने के लिए शब्द में स्फुटता का संस्कार किया जाता है, तब शब्द श्रवणेन्द्रिय की ग्राह्यता का विषय बन सकता है। जिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष में आलोकविषय और इन्द्रिय दोनों का संस्कार करके, अन्धकार में स्थित पुरुष को आलोक में स्थित विषय का दर्शन करा देता है, उसी प्रकार श्रावण

प्रत्यक्ष में भी ध्वनि की स्फुटता श्रवणोन्द्रिय तथा उसके विषय दोनों का एक साथ संस्कार कर देती है। 'प्राप्यकारित्व' एक क्षण में एक ही इन्द्रिय को उपलब्ध होता है, जिस क्षण में एक इन्द्रिय को प्राप्यकारित्व प्राप्त होता है, उस समय अन्य इन्द्रियां अप्राप्यकारित्ववती रहती है। प्राप्यकारिता विषय की अनुगमता को कहते हैं।

(८) स्फोट का प्रत्यक्ष

कुछ आचार्यों का कहना है कि स्फोट का प्रत्यक्ष वैकृत ध्वनि के प्रत्यक्ष से अपार्थक्य रूप से होता है, स्फोट और ध्वनि का प्रत्यक्ष युगपद् और साथ-साथ होता है। जिस प्रकार स्फटिक मणि का सरसों गुलाब के फूलों के रंग सहित सम्मिश्रित प्रत्यक्ष होता है वैसा ही स्फोट रूप स्फटिक मणि का ध्वनिरूप रंग या तरंग युक्त प्रत्यक्ष होता है। कोई कहते हैं कि स्फोट असंवेद्य है। असंवेद्य के माने स्वयं अज्ञात नहीं वरन् अनिर्वचनीय है। स्फोट की अनिर्वचनीयता ज्ञानमय या प्रतिभामय, अखंड, अक्रम, अकाल रूपता है। यह इस प्रकार का निलीन-विलीन सा, अव्यक्त व्यक्तसा, स्वयं अग्रहीत सा होने पर भी ग्राह्यमाण होते हुए शब्द ग्रहण में निमित्त का काम करता है। अन्य आचार्यों का कहना है कि स्फोट स्वतन्त्र है, निलीन-विलीन नहीं है। दूर के शब्दों में स्फोट के नहीं सुने जाने पर भी ध्वनि सुनाई पड़ती है। दूर की स्फोट-श्रुति-हीन-ध्वनि का बोध दूरत्व के कारण अस्फुट या सूक्ष्म स्फोट का आभास किये बिना नहीं रहती। अतः स्फोट स्वतन्त्र इकाई है; ध्वनि में निलीन या विलीन नहीं। इस प्रकार स्फोट प्रत्यक्ष के निम्नलिखित चार मत हैं (१) ध्वनि में अनुषक्त स्फोट का ग्रहण (२) केवल स्फोट का ग्रहण, ध्वनि का नहीं (३) स्फोट को छोड़ केवल ध्वनि मात्र का ग्रहण (४) ध्वनि ग्रहण काल में स्फुट स्फोट का ग्रहण। अब प्रश्न यह उठता है जब विद्यार्थी एक ही मंत्र या श्लोक या वाक्य को रटने के लिए बार-बार उच्चरित करता है तो क्या उतनी बार स्फोट की भी अभिव्यक्ति होती है या नहीं? स्फोट की अभिव्यक्ति अर्थ के लिए मानी जाय तो, रटने में आनुपूर्व्यी मात्र से तात्पर्य रहता है, अर्थ से नहीं, तब स्फोट स्वयं अनुपस्थित रहा, यदि स्फोट केवल श्रावण प्रत्यक्ष मात्र के लिए माना जाय तो बिना स्फोट के श्रावण प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में विचारणीय यह है कि ऐसा स्फोट एक ही होगा या अलग-अलग? बारम्बार की आवृत्ति में विभिन्न वृत्तियों का होना भी सम्भव है, अनिवार्य भी है। तब उन सब आवृत्तियों की वृत्तियों का स्फोट एक ही होगा, केवल वाक्य के पदवर्णानुपूर्वी की वृत्तिरूपता में आवृत्ति होगी, स्फोट उनके सिर में सुमेरु की तरह चमकता रहेगा। अतः स्फोट की

अनन्तता का भी प्रश्न नहीं उठता। इसको दूसरे ढंग से भी समझिये। स्फोट तो नित्य अक्रम अकाल अखण्ड एकात्मा और प्रतिभात्मा है। जितनी बार एक वाक्य का उच्चारण जिस किसी भी वृत्ति में होगा, स्फोट तो सब में एक रूप में ही उपस्थित होगा, जो अब है यहाँ है, वह तब है, वहाँ भी है। सर्वत्र एक ही है। स्फोट में अक्रमावृत्ति में इस प्रकार भी आनन्त्य नहीं है तो जब एक ही क्रम में आवृत्ति है तो फिर स्फोट की पुनरावृत्ति का अवसर ही नहीं आता। यदि यह कहा जाय कि शब्दानुशासन के शब्द स्फोट में जिस प्रकार प्रत्ययों के संस्कार के लिये ध्वनि स्वं रूपं का ग्रहण करती है उसी प्रकार यहाँ आवृत्ति में स्वं रूपं का ग्रहण क्यों नहीं मानते तो उत्तर में निवेदन है कि 'पुनरावृत्ति' पूर्ण वाक्य की न होकर, श्लोक या मंत्र के चरण या विरामीय लयबिन्दु तक के खंड करके की जाती है। स्फोट तो पूर्ण वाक्य का होता है, खंडवाक्य का नहीं। खण्डवाक्य न कोई अर्थ रखता है, न स्फोट का अधिकारी या पात्र बन सकता है। यह अनन्त स्थान करणों के घात प्रतिघात के अभ्यास से तदनुकूल ध्वनि की आनुपूर्व्यी का स्वयमेव तारतम्य से जिह्वा में बैठा देना है। तीसरी बात यह है कि बिना अर्थानुगम के न तो स्फोट को बुद्धि में स्थान मिलता है न वह स्फुटित ही होता है। जभी कंठस्थ हो जाय या अर्थ लगजाय तभी स्फोट की अभिव्यक्ति हो सकती है। स्फोट के ग्रहण के लिए अनिर्वचनीय गुण तथा अनुभूति की आवश्यकता होती है, ये गुण और अनुभूतियाँ प्रतीति विषय में आई स्थूल ध्वनियों में स्वं रूपं नामक स्फोट का निर्धारण करते हैं। आवृत्ति में अनुभूति और गुणों का भी तो अभाव ही है। वाक्य के भागरूप पदों, पदों के भाग रूप वर्णों की ध्वनियों की भागता काल्पनिक है, वास्तविक भागता नहीं है, क्योंकि वाक्य तो अखण्ड है। अतः पद और वर्णों की काल्पनिक भागता की आवान्तर ध्वनियों को अखंड वाक्यध्वनि की क्रमता कह सकते हैं, सहकारी कह सकते हैं, इनसे अलग रूप से स्फोट व्यक्त नहीं हो सकता। हाँ दण्डचक्रचीवरादि न्याय से इन्हें आवान्तर सहचारी कारण माना भी जाय तो स्फोट की अखण्डता में भेद नहीं आता। दण्डचक्रचीवरादि न्याय ध्वनि की क्रमता विषयक मात्र रहेगी। वाक्य के नाद के आदि वर्णध्वनि से लेकर अन्त्य की ध्वनि तक क्रमशः आनुपूर्वी ध्वनियों के बीज की बार-बार आवृत्ति द्वारा जब स्फोट क्रमशः अस्फुटतर, अस्फुट स्फुट, स्फुटतर होते हुये परिपक्व होते हुए अन्त में पूर्ण पाक पाकर स्फुटतम रूप को धारण करता है तब वह बुद्धि या प्रतिभा में अपना स्थान निश्चित कर लेता है। तब वह श्रोत्रेन्द्रिय को ध्वनि के उच्चारण काल के युगपत् काल में ग्राह्य होता जाता है। अतः भाष्यकार पंतजलि जी ने लिखा है "श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः,

प्रयोगेण अभिज्वलित आकाश देशः शब्दः"। स्फोट की पूर्ण स्फुटता का मुख्य निर्देशक वाक्य की अन्तिम वर्णध्वनि इसलिए मानी जाती है कि तभी स्फोट का पूर्ण रूप अभिव्यक्त हो पाता है, उसके पहिले क्रमिक ध्वनियों की खण्डता, अखंड स्फोट की अखंडता की व्यक्ति करने में अपनी ही खंडीय क्रमिकता की दुर्बलतावश नितान्त असमर्थ रहती है। अन्तिम ध्वनि को स्फोट की अभिव्य-अकता का मुख्य कारण मानना प्रतिभा दर्शन (इसी दर्शन) की प्रतिभा का फल है, न्याय आदि अन्य दर्शनों को इसकी हवा तक नहीं लग पाई थी, उनका स्फोट विषयक विचार यहीं के उधार खाते में लिखा पड़ा है। प्रतिभा दर्शन सांख्य दर्शन की एक शाखा है, अतः स्फोट विषय मूलतः सांख्य का ही है। प्राचीन काल में स्फोट को 'शब्द' नाम से पुकारते रहे, यास्कादि ने भी स्फोट का नाम शब्द ही दिया है। भर्तृहरि जी ने भी स्फोट के बदले 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया है। इनके 'शब्द' (स्फोट) शब्द का अर्थ वाक्य (स्फोट) है।

जो लोग यह कहते हैं कि वाक्य स्फोट की अभिव्यक्ति के अवसर पर वाक्य के अन्तराल (मध्य) में वर्ण और पद की ध्वनियों की सत्ता का भी बोध होता है, उन्हें यह याद दिलानी है कि वाक्य स्फोट अक्रम और निरवयव है, श्रोता का ध्यान मुख्यतः वाक्य स्फोट पर ही केन्द्रित रहता है। वह प्रत्येक वर्ण और पद ध्वनि के क्रम का अनुसरण, पूर्ण वाक्य स्फोट लब्धि के निमित्त मात्र करता है, अतः वह वर्ण और पद की ध्वनियों को पार्थक्य से ग्रहण करने में नितान्त असमर्थ रहता है। यदि वाक्य स्फोटावसर में उसका ध्यान वर्ण पदध्वनि में बाधित हो जाय तो 'अश्वः तुलनां करोति' में—'अ' (वर्ण) श्वः (कल) तु (तो) 'ल' (वर्ण) ना (नहीं) क (शिर) रोति (शब्दयति)—सा अनर्गल असंगत अर्थ भासमान होगा। वाक्य के प्रयोग का अभीष्ट फल सदा दूर रहेगा। अतः वाक्य स्फोट में वर्ण और पद की ध्वनियाँ, पूर्ण वाक्य स्फोट ग्रहण करने में सहकारी उपाय से होते हैं; उनकी पृथक् सत्ता उक्त उदाहरण समान महान् अनर्थकारी है। वर्ण-ध्वनि-बुद्धि या पद-ध्वनि-बुद्धि एक अखण्ड स्फोट के खंडशः व्यक्ति की ग्रहण की सूत्रता या निबन्धन तारतम्यता है जो आगे-आगे को स्वयं खिंच कर पूर्णता की सिद्धि में रबर की तान की तरह काम करती है।

ज्ञान और ज्ञेय दो भिन्न तत्व हैं। ज्ञान ज्ञेय के अधीन रहता है। ज्ञान तो एक है अखण्ड है। पर हम लोग विभिन्न वस्तुओं के ज्ञान को विभिन्न समझते हुए, व्यवहार में घट पट के ज्ञानों का भेद करते हैं। पर 'ज्ञान' दोनों का एक ही है 'सत्यं ज्ञानं'। इसी प्रकार 'वाक्य स्फोट' अक्रम अभिन्न अखण्ड

होते हुए, क्रमबद्ध प्रणाली से अभिव्यञ्जित होने से, व्यञ्जन क्रम काल में क्रमशः आविर्भूत होते हुए नानारूपवान् सा प्रतीत होता है, जब उसका पूर्ण रूप प्रगट हो जाता है तो उसके पूर्वानुभूत क्रमेण प्रतीत अंग या अंश, उसके पूर्ण रूप में पूर्णतः घुल मिल कर एक नवीन सा रूप दे देते हैं। वर्ण तो ५२ ही हैं वाक्य स्फोट अनन्त, यह इसी स्फोटात्मा का जादू है। वाक्य स्फोट ज्ञेय है, वर्णपद ध्वनियों का क्रम ज्ञान का क्रम है, वाक्य के क्रम का पूर्ण वाक्य से पूर्ण रूप से भिन्न होना निश्चित ही है। अतः वर्णपद का क्रमिक ज्ञान वाक्य स्फोट ज्ञेय से भिन्न होना अनिवार्य ही है। अतः कहा है "ज्ञेयेन न विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते। नालब्ध क्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥" वास्तव में ज्ञान के लिये सबसे महत्त्व पूर्ण वस्तु 'क्रम' ही है। हमें बिना क्रम के कोई भी किसी भी प्रकार का ज्ञान हो ही नहीं सकता। संख्या का उदाहरण लीजिए। 'दो' का ज्ञान तब तक असम्भव है जब तक 'एक' का ज्ञान न हो, 'एक-एक' को तब दो कहेंगे। 'दो' के ज्ञान के बिना 'तीन' का बोध भी असम्भव है। इसी प्रकार अनन्त तक सभी संख्याओं के ज्ञान में उनके पूर्ववर्ती संख्याओं का ज्ञान परम आवश्यक है। इनके ज्ञान में भी दो प्रकार का ज्ञान है; नियत संख्याक, योग संख्याक। नियत संख्याक में पाँच में पाँच ही है, योग संख्याक में पाँच में १५ हैं। वर्ण नियत संख्याक है, पद योग संख्याक। तब जो वाक्य में वर्ण पद दोनों का स्फोट मानेंगे उन्हें १५+५=२० का ज्ञान होगा, पर स्फोट में यथाभीष्ट होगा, न १५, न २०, न ५, पर इनमें से कोई एक अभीष्ट होगा। वह अभीष्ट वर्ण पदों की ही रचना क्रम पर ही उपन्यस्त होगा। अतः क्रम स्फोट की अभिव्यक्ति का सहायक है, यह क्रम, क्रम मात्र है, उक्त शैली से अपना कोई अर्थ न रखकर स्फोट का अर्थ अभिव्यञ्जन मात्र में सहकारी मात्र है। इस क्रम के बिना जगत का कोई भी कार्य सम्पादित हो ही नहीं सकता। किसी भी विकास या स्फोट में क्रम पहिली वस्तु है। क्रम, अभिव्यञ्जनोत्तर काल में अक्रम स्फोट रूप में उपस्थित हो जाता है। अतः स्फोट में वर्णपदातिरिक्त एक नवीन श्रुति प्राप्त और प्रतीत होती है जिसे कोई मना नहीं कर सकता। वाक्य के वर्ण और पदों में, पृथक् पृथक् स्पष्ट भेद के रहते हुए भी, उनकी पृथक्-पृथक् अभिव्यक्ति रहते हुए भी, उनकी शक्तियाँ ऐसी सम्मिलित स्वरूपता से संघटित रहती हैं कि उनका पार्थक्य बोध का आभास तक सामने नहीं आता। वर्णों का क्रम पद में अक्रमता से अवस्थित हो जाता है, पदों का क्रम वाक्य में अक्रमता पा जाता है। क्रम क्रमशः अक्रमता में परिणत होता हुआ अन्त में नितान्त अक्रमता का स्फोट वाक्य का स्वरूप धारण कर लेता है। वर्ण पद की शक्तियाँ वाक्य रूप दीपशिखा प्रज्वलित

करने के लिए उसी प्रकार सम्मिलितरूपेण, अपार्थक्यरूपेण काम करती हैं जैसे तेल अग्नि और वर्तिका दीप शिखा की ज्योति के आविर्भाव के लिए। वर्तिका 'वाक्य का वर्णपद निर्मित ध्वनिरूप शरीर है दीपशिखा उसका स्फोट।' जो लोग वाक्य के वर्ण और पद को स्फोट रूप में देखते हैं सचमुच उन्हें धन्य है। स्फोट तो केवल वाक्य का ही अनुभूत हो सकता है। जैसे अन्धकार में खड़े व्यक्ति को हम दूर से पहिले पेड़ सा, फिर भूत सा, फिर हाथी भेड़ सा, फिर स्वांग सा, फिर इन सबसे भिन्न सा मानव सा, फिर अन्त में अमुक विशेष व्यक्ति सा देखते हैं, ठीक उसी प्रकार वर्ण और पद हमें वाक्य के स्वरूप को प्रगट करने में कभी पेड़ सा, भूत सा, हाथी भेड़ सा, स्वांग सा, वाक्य सा, पुन 'स्फोट' सा क्रमशः अस्फुटतर, अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर होते हुए स्फुटतम स्फोट रूप में प्रतीत होता है। प्रत्येक भाग की यह क्रमशः स्फुटता भाव के आग्रह और चित्तैकाग्रता की क्रमिक आनुपूर्व्यता और सूक्ष्मता से उत्तरोत्तर स्पष्टता पाती हुई बुद्धिस्थ स्फोट को अन्त में एकाएक उदीयमान कर देती है।

जिस प्रकार बीज से वृक्ष, दूध से घी बनने में एक स्वाभाविक आनुपूर्व्यी क्रम नियत रूप से, आदि से अन्त तक चलते हुए—बीज का फूलना, फटना, अंकुर आना, दो अंकुर, तीन अंकुर, पौधा, प्रौढ़ पौधा तब—वृक्षरूपता को प्राप्त होता है, और जैसे दूध का फटना, जमना, मलाई लगना, गाढ़ा होना, मथना, मक्खन बनना, उष्णता से घी बनने में समर्थ होता है, उसी प्रकार ध्वनियों के उच्चारण के पूर्व भाव का अनुगमन, उस भाव को स्वरूपता देने के लिए स्थान करणों के प्रयत्नों द्वारा क्रमशः वर्ण ध्वनियों के उच्चारण द्वारा पद पूर्ति, तदनन्तर उसी प्रकार के कई पदों द्वारा वाक्य पूर्ति का जो क्रम असाधारण और अनिवार्य रूप से स्थान पाता है उसके बिना आरम्भ का भाव, अन्त में स्फोट रूप वृक्षता या घृतता पा ही नहीं सकता। आरम्भ के मनोगत सूक्ष्म भाव का वाक्यध्वनि द्वारा मूर्तिमान अखण्ड स्फोट का रूप धारण करना निश्चित क्रम का ही अनिवार्य अटल अनुसरण है। वर्णपदवाक्य ध्वनियों में विभागता के कारण ध्वनि पार्थक्य है, जो ध्वनि वर्णों की है, उससे पद की ध्वनि में बिलकुल विभिन्नता रहती है, और जो ध्वनि पदों में है वह पदों के संयोग रूप वाक्य ध्वनि से नितान्त भिन्न ही होती है। अतः वर्णध्वनि की एकता, पदध्वनि की एकता में परिवर्तित होकर वही पुनः वाक्यध्वनि में वर्णपदध्वनियों की बिलकुल व्यतिरेकिणी एक ध्वनि की एकता में परिणत हो जाती है। वाक्य-ध्वनि की एकता निर्भागवती होते हुए भी वर्ण पदध्वनियों की विभागता केवल क्रम निर्वाहरूपता के लिए कल्पना की जाती है सत्ता रूप में वे

विद्यमान नहीं हो सकतीं। मीमांसक लोग 'गाय बैठी है' वाक्य में गौपदार्थ की प्रत्यायकता में आदि के वर्ण ग को और अन्य वर्णों को नित्य कह कर युगपद् उद्यमशील मानते हैं। इससे पद के स्वरूप का निर्धारण होना असम्भव हो जायेगा। क्योंकि वर्णध्वनि की उत्पत्ति क्रम से होती है, युगपद् सबकी उत्पत्ति होने पर 'नदी' का 'दीन', 'नव' का 'वन' बन जाने को कोई शक्ति नहीं रोक सकेगी, इनकी ऐसी अविशेषता से अर्थ का अनर्थ हो जावेगा।

कुछ आचार्यों का यह मत है कि 'स्फोट' अनेक वर्णपदादियों से अभिव्यङ्ग्य होता है, अतः वह एक 'जाति' है। पर दूसरे आचार्य कहते हैं, चाहे वह कितने ही वर्णपदादियों से व्यङ्ग्य क्यों न हो है वह उसकी–स्फोट की जाति उन्ही वर्णपदादियों की ध्वनियों की ध्वनिता है। अर्थात् स्फोट की जाति वाक्य के सर्ववर्णपदों की ध्वनियों के एक ध्वनित्व को कहते हैं। यही मत भर्तृहरि जी का है, वे पहिले कह आये हैं कि 'ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते' (८४) हेलिराज ने अपनी टीका में लिखा है "प्रधानभूत स्फोटरूप व्यङ्ग्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतो बुधैः"। प्राकृत ध्वनि अविकारी है, वह स्थान करण और उरस्य वायु प्रभृति के प्रयत्नों के निमित्तों या कारणों से जब विकृत या विकारी होती है तो वैकृत ध्वनि में परिणत हो जाती है, इस वैकृत ध्वनि की उपलब्धि में वह प्राकृत शब्द या ध्वनि प्रकाश के समान अपने को स्फोट रूप में तथा ध्वनि को वैकृत रूप में प्रगट करने के लिये स्वयं निमित्त या कारण बनता या बनती है; इससे कहीं यह न समझ लिया जावे कि जिनकी अभिव्यक्ति होती है वे सदा ही अनित्य ही होते हैं। नित्य पदार्थों की भी अभिव्यक्ति होती है। घटादि पद अनित्य हैं, उनकी अभिव्यक्ति में अनित्य की अभिव्यक्ति का जो नियम बनता है वह सर्वत्र लागू नहीं हो सकता। क्योंकि घटत्वादि जाति नित्य है, इन घटत्वादि जातियों के व्यक्तियों या आश्रयों से भी अभिव्यक्ति स्वीकार की जाती है। अतः वाक्य के वर्णपद ध्वनियों की एक ध्वनित्वं की नित्य जाति से नित्य स्फोट भी अभिव्यक्त होता है। फलतः नित्य से नित्य की और अनित्य की दोनों की अभिव्यक्ति मानना ही वैज्ञानिकता है। इसीलिए आचार्यों ने स्फोट को नित्य माना है भले ही वह अभिव्यक्त क्यों न किया जाय या हुआ करे। अभिव्यक्ति पक्षमात्र से स्फोट को अनित्य नहीं ठहराया जा सकता। शरीरधारी सूर्य नक्षत्र आदियों का इस लोक से देश काल भेद की अतीव स्पष्ट भिन्नता रहते हुए भी उनका इतनी दूर यहाँ उष्णत्व प्रकाशत्वादि प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित रहता है तो प्राकृत और वैकृत ध्वनि में तो ऐसा दूर देश भेद भी तो नहीं है, उनके सम्बन्ध न रहने की बात सोचना ही अनर्गल है। अतः प्राकृत और वैकृत ध्वनियों में भेद करने का प्रश्न ही

नहीं उठता क्योंकि इनका आकाश रूप एक ही देश साथ-साथ सीमा-सीमा रेखा से एकदम जुड़ा हुआ है। महाभाष्यकार पतञ्जलि जी ने इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है 'आकाश देशः शब्दः' "एक आदित्यो भिन्नाधिकरणस्थो युगपद् देश पृथक्त्वेषूपलभ्यते"। इसी प्रकार स्फोट और ध्वनि की युगपद् उपलब्धि से उन दोनों की अभिव्यक्ति में कोई भेद नहीं हो सकता। दोनों एक ही तत्त्व के दो रूप हैं, तत्त्वतः अभिन्न हैं, सत्त्वतः भले ही भिन्न से भासमान होते रहें। जिस प्रकार विषय ग्रहणकारी इन्द्रिय, तथा इन्द्रियों की ग्राह्यता को प्राप्त करने वाले विषय या घटादि वस्तु की व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव की योग्यता—या अनादि से सिद्ध प्रातिश्रुत्क (प्राकृत वैकृत ध्वनि) के ग्राहकत्व और ग्रहणत्व की विषयता—स्वयं सिद्ध रहती है उसी प्रकार की व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव की उक्त योग्यता, स्फोट और नाद दोनों में सम्बद्ध रहती है। जिस प्रकार दीपक अपने समीप के ही घटादि विषय का अभिव्यञ्जक होता है, अन्य देशस्थादियों का नहीं, उसी प्रकार नाद रूप दीप स्फोट रूप अपने सन्निकट विषय का अभिव्यञ्जक होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब हम किसी विषय का ज्ञान करते हैं तो विषय केवल एक ही तत्त्व का अविमिश्रित द्रव्य नहीं होता, एक ही वस्तु में अनेक तत्त्व होते हैं। वायु में शब्द और स्पर्श है, अग्नि में शब्दस्पर्शरूप है, जल में शब्दस्पर्शरूप रस हैं, पृथिवी में शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध हैं। तब विषय ज्ञान अपने सम्मिलित तत्त्वों के ज्ञान का अधिकारी स्वयं हो जाता है। वायु अग्नि जल पृथिवी रूप विषय क्रम से दो तीन चार पाँच ज्ञानों का तकाजा एक साथ करेंगे। तब कौन ज्ञान यहाँ पर प्रथम, और अन्य ज्ञान किस क्रम से होंगे? इस शंका का निवारण करने के लिए, एक स्वाभाविक नियम की याद दिलायी जाती है। सर्वप्रथम बात वक्ता के विषय सम्बन्धी अभीष्ट लक्ष्य की प्रधानता है, वक्ता जिस इन्द्रिय ग्राह्यता पर अधिक जोर देना चाहता है, विषय के उसी इन्द्रिय विषय का ज्ञान पहिले होगा, अन्य इन्द्रियों से ज्ञातव्य विषय का ज्ञान तदनन्तर वक्ता के अभीष्ट लक्ष्य क्रम से होगा या अनभीष्ट का नहीं होगा। अतः जिसे द्रव्य रूप विषय के ज्ञान में अनेक इन्द्रियों के सम्बद्ध होने का अवसर आता है वहां पर उक्त प्रकार के नियत क्रम की व्यवस्था वक्ता के अभीष्ट लक्ष्य और अवधारण के अनुसार निश्चित हो जाती है। इतना निश्चित है एक क्षण में एक ही इन्द्रिय की ग्राह्यकता होने से, प्रथम एक ही इन्द्रिय की विषयता का बोध होगा, अन्य अपने निश्चित क्रम से अन्य इन्द्रियों से अभिव्यञ्जित होंगे। सांख्य दर्शन वालों के मत में विषय की ग्राह्यता में फल के बल से निर्धारण करना आवश्यक है। इसीलिए कहते हैं 'फलबलकल्प्यनियमेन विषयग्राह्यता'।

जब अभिव्यञ्जक कई हैं (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध), तो अभिव्यङ्ग्य (स्फोट) भी कई होने चाहिए, इस प्रकार की शंका का निवारण करते हुए कहा गया है कि प्रकाशक (अभिव्यञ्जक) एक ही प्रकाश्य (अभिव्यङ्ग्य) को अनेक या अपने रूपाकार में परिणत सा कर लेता है, प्रकाश्य एक ही होते हुए प्रकाशक का रूप धारण कर लेता है जैसे जल जिस वर्तन में रखा जाय उसी के आकार में अपना आकार बदल लेता है। उससे जल या दूध के स्वरूप (रूप स्फोट) में अन्तर नही आता। इसी प्रकार एक ही वस्तु का प्रतिबिम्ब तेल जलमणि, खड्ग में दीर्घ, वर्तुल, चौड़ा और उनके अलग-अलग रंग तथा परिमाण में प्राप्त होता है, यहां तक कि जल तरंगों में एक का प्रतिबिम्ब अनेक संख्या में उपलब्ध होता है जिसे सांख्य वाले 'एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव' कहते हैं। अतः विभिन्न अभिव्यञ्जकों द्वारा अभिव्यङ्ग्य स्फोट के स्वरूप में लेशमात्र भी अन्तर नहीं आता, यह उक्त प्रत्यक्ष दृष्टान्तों से स्पष्ट हो गया है। पर प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त नहीं जच रहा है, क्योंकि जल दर्पणादि में चन्द्रादि का जो स्वरूप है वह चन्द्रादि पदार्थों से बिलकुल भिन्न है, प्रतिबिम्ब नहीं है। ऐसा नहीं है। क्योंकि जल, दर्पण, मणि, खड्ग प्रभृति में पर्वतादि स्थूल पदार्थों का जो स्वरूप दिखलाई पड़ता है वह अपने परिमाणों में प्रस्तुत न होकर जल, दर्पण, मणि, खड्ग प्रभृति के परिमाणों में उपस्थित होते हैं, इनके छोटे परिमाण में उतने बड़ों के बड़े परिमाण से भिन्न लघु परिमाण की प्रस्तुति को, "यह उनका स्वरूप नहीं है।" कहना पर्य्याप्त युक्ति और प्रमाण नहीं है, यहां उनका प्रतिबिम्ब न मानें तो भावान्तर की उत्पत्ति रूप विरुद्ध परिणाम की (कारणकार्य क्रम हीन) उपहासास्पद अनुपपत्ति सामने उपस्थित होगी। अतः ये प्रतिबिम्ब ही है, और ध्वनि शब्द (स्फोट) के दृष्टान्त का जैसा विवरण दिया जा चुका है वह सर्वथा संगत और युक्त है।

वर्ण पद, वाक्य, परिच्छेद, निबन्धादि सब प्राकृत ध्वनि स्वरूप में अतीतानागत वर्तमान काल की विभिन्नता से हीन होती हैं। जब ये वैकृत ध्वनि या नादरूपता को प्राप्त होते हैं तो ये वृत्तियों को अपनाते हुए वृत्ति काल और अपने प्राकृत ध्वनि रूप अकाल को विभिन्न रूप में अभिव्यञ्जित करते हैं। तात्पर्य यह है कि ये सब व्यवहार में पौर्वापर्य भाव से अनुगम्यमान होते हुए भी, शब्द रूप स्फोट की वर्णपद वाक्य रूप अखण्डता तथा अकालता, अक्रमता की स्थिति को, वैकृत ध्वनि से उपस्थित किये गये भेद के ही तादात्म्य से, प्रकट करते हुये भी, दोनों के काल भेदादि का स्वरूप सामने रख देते हैं। इस प्रकार स्थान और करणों के संयोग विभागादि प्रयत्नों से उत्पन्न वैकृत ध्वनि से ग्रहीत या प्रस्फुरित या प्रस्फुटित प्राकृत ध्वनि स्वरूप ही स्फोट है। यह स्फोट

रूप प्रतिविम्ब ग्राही, सर्वदिग्व्यापी, मन्द प्रदीप प्रकाश सदृश, कदम्ब कलिका सदृश, वीचि प्रवाह सम, दशदिशाओं में अवस्थित होता हुआ श्रवणेन्द्रिय पुट में प्रवेश पात्रता संयुक्त शब्द है। इसकी नित्यता के सम्बन्ध में जाति व्यक्ति वादियों के दो मत हैं (१) स्थानकरण के संयोग विभाग जन्य अनेक ध्वनियों से अभिव्यङ्ग्य, निरवयव वर्ण पदादिमान् तो जाति स्फोट है। (२) स्थान करण के संयोग विभाग जन्य ध्वनि से उत्पन्न नाद से अभिव्यङ्ग्य व्यक्ति स्फोट है। प्रथम प्राकृत ध्वनि हेतुक है, वह उत्तरोत्तर वृद्धि या विकास पाता हुआ अभिव्यङ्ग्य (स्फोट) के अभिव्यञ्जन में समर्थ और वृत्तियों से युक्त वैकृत ध्वनि रूप व्यवहार का कारण भी है। वैकृत ध्वनि अल्प हो या महान् समीप वर्तिनी रह जाय या दूरगामिनी हो जाय, प्राकृत ध्वनि स्फोट के काल में कोई अन्तर नहीं आ सकता। 'स्फोटस्तु तावानेव ध्वनिकृता वृद्धिः' पतञ्जलि जी भी कह गये हैं। क्योंकि शब्द के दो स्पष्ट रूप हैं (१) उत्तरोत्तर विकासता को प्राप्त होने की मौलिक शक्ति सम्पन्न कारण रूप प्राकृत ध्वनि (२) उत्तरोत्तर उपचीयमान और विशालता को प्राप्त कार्य-रूप-वैकृत ध्वनि। शब्द को नित्य मानने वालों के पक्ष में प्राकृत ध्वनि रूप अभिव्यङ्ग्य ध्वनि ही स्फोट है। जो शब्द को अनित्य मानते हैं (न्यायादि) वे कारण रूप प्राकृत ध्वनि के निमित्त भेद से वैकृत ध्वनि की सामर्थ्य रूप शक्ति को स्फोट मानते हैं। अतः प्राकृत और वैकृत दो प्रकार की ध्वनियों को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि (१) प्राकृत तो स्फोट ग्रहण का कारण है। (२) द्वितीय को पर या वैकृत कहते हैं जो प्रचय और अपचय, या संकोच और विकाश शील है। यह स्वल्प अल्प अल्पतर अल्पतम, महत् महत्तर महत्तम महामहत्तम स्वरूपिणी होती रहती है। इसी में स्फोट की अभिव्यञ्जक शक्ति छिपी रहती है, स्फोट अपने ही अक्रम अकाल अप्रमाण रूप में रहता है। जिस प्रकार दूर स्थित दीप की प्रभा साफ दिखलाई देती है, उसी प्रकार वैकृत ध्वनि में केवल प्राकृत ध्वनि रूप स्फोट ही स्पष्ट प्रतीत होता है, वैकृत ध्वनि की विकृतता की ओर ध्यान भी नहीं जाता, वह केवल स्फोट को अभिव्यङ्ग्य करने की निमित्त सी बनती है। जिस प्रकार प्रकाश हीन पुरुष प्रदीप के पास तक सीधे पहुँच जाता है वैसे ही ध्वनि का अनुसरण कर स्फोट भी स्वयं अनुगत हो जाता है। यदि ऐसी बात है तो वैकृत ध्वनि का मानना ही व्यर्थ है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। उसके बिना तो स्फोट की अभिव्यक्ति ही असम्भव है। अतः दूसरा उदाहरण लीजिए। घंटा जब बजता है तो प्रथम रणन तो गम्भीर, ठोस, और महान् होता है, पर उसके अनुयायी द्वितीय तृतीयादि रणन क्रमशः विस्तृत, छिछले, हलके, पतले और सूक्ष्म से सूक्ष्म

होकर विलीन हो जाते हैं। जब वैकृत ध्वनि के प्रगट रूप में ही इतने क्षणिक भेद हैं तो उसमें स्फोट रूप प्राकृत ध्वनि का अक्रम अखण्ड रूप में विद्यमान रहने की युक्ति में किसी भी प्रकार की शंका का अवसर ही नहीं आ सकता। स्फोट और नाद के इस विस्तृत विवेचन का मुख्य आधार भर्तृहरि जी के वाक्य पदीय के शब्द ब्रह्मकाण्ड का निम्नलिखित मूल पाठ दे दिया जाता है। (१—७१ से १०५ तक)।

"पदे भेदेऽपि वर्णानामेकत्वन्न निवर्तते।
वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते॥
तद्वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यन्न विद्यते।
वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किंचन॥
पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चनः॥
भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते।
तत्र यन्मुख्यमेकेषां तत्रैतेषां विपर्ययः॥
स्फोटस्याऽभिन्नकालस्य ध्वनि कालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥"
"स्वभावभेदन्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥
शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्ते वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥
इन्द्रियस्यैव सँस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोभिव्यक्तिवादिनाम्॥
इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिभिः।
विषयस्य तु संस्कारस्तद्गन्ध प्रतिपत्तये॥
चाक्षुषप्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोरपि।
विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः स क्रमो ध्वनेः॥
स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।
कैश्चिद् ध्वनि रसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकाशकः॥
यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्त्या निरूप्यते॥

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥
नादैराहितबीजानामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥
असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते ।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः ॥
भेदानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः ।
क्रमोपसृष्टरूपाया ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम् ॥
यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये ।
संख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तर श्रुतिः ॥
प्रत्येकं व्यञ्जका भिन्ना वर्णा वाक्यपदेषु ये ।
तेषामत्यन्तभेदेऽपि संकीर्णा इव शक्तयः ॥
यथैव दर्शनैः पूर्वैर्दूरात्सन्तमसेऽपिवा ।
अन्यथा कृत्यविषयमन्यथैवाध्यवस्यति ॥
व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्ति हेतुभिः ।
भागावग्रहरूपेण पूर्वबुद्धिः प्रवर्तते ॥
यथानुपूर्वीनियमो विकारे क्षीरबीजयोः ।
तथैव प्रतिपत्तॄणां नियतो बुद्धिषु क्रमः ॥
भागवत्स्वपि तेष्वेवं रूपभेदो ध्वनेः क्रमात् ।
निर्भागेष्वप्युपायो वा भागभेदप्रकल्पनम् ॥
अनेक व्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जाति स्फोट इति स्मृता ।
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः ॥
अविकारस्य शब्दस्य निमित्तैर्विकृतो ध्वनिः ।
उपलब्धौ निमित्तत्वमुपयाति प्रकाशवत् ॥
न चानित्येष्वभिव्यक्ति र्नियमेन व्यवस्थिता ।
आश्रयैरपि नित्यानां जातीनां व्यक्ति रिष्यते ॥
देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामिह ।
देशभेद विकल्पेऽपि न भेदो ध्वनि शब्दयोः ॥
ग्रहण ग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा ।
व्यङ्ग्यव्यञ्जक भावेन तथैव स्फोट नादयोः ॥
सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम् ।
निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम् ॥
प्रकाशकानां भेदाश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते ।

तैलोदकादिभेदे तत् प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके ॥
विरुद्ध परिमाणेषु वज्रादर्शतलादिषु ।
पर्वतादि सरूपाणां भावानां नास्ति सम्भवः ॥
तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु ।
वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद्विभज्यते ॥
यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥
अल्पे महति वा शब्दे स्फोट कालो न भिद्यते ।
परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयाप्रचयात्मकः ॥
दूरात्प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्रं तु लक्षते ।
घण्टादीनां च शब्देषु व्यक्तो भेदःस दृश्यते ॥"

(९) वर्णपद स्फोटवाद और वाक्यस्फोटवादी मतों में कौन मार्ग उचित है ?

'अर्थबोध' नामक प्रकरण में आगे चलकर यह स्पष्ट कर दिया जावेगा कि जिन लोगों ने निरुक्त और शब्दानुशासन नामक शास्त्रों को लिखकर भाषा तत्त्व शास्त्र की एक बड़ी भारी समस्या सुलझाई थी, उन्हीं आचार्यों ने 'रक्षो-हागम लध्वसन्देहा' लक्ष के क्षेत्र से बाहर कूद कर, स्वयं उस अखाड़े में पांव जमाने का दुःस्साहस कर डाला जहाँ उनकी दाल गल ही नहीं सकती। वाक्य के नामाख्यात उपसर्ग निपात नामी भाग शब्दानुशासन विषय समझाने के शब्दानुशासन के अध्याय या प्रकरण हैं न कि भाषा के। यहीं से गलत-फहमी का आरम्भ हुआ, वे अपने शास्त्र के अध्याय के नामों को भाषा या वाक्य पर बराबर थोपते आये। शब्दानुशासन में पद और वर्णों की इतस्ततः बखेर, परिवर्तन, वृद्धि गुण आदि करने ही पड़ते हैं, करने क्या पड़ते हैं, उन्हें संक्षिप्त नियमों से उक्त विकासमय चित्र दिखलाना ही पड़ता है। यह इस प्रकार की शैली एक अद्भुत और अनुपम शैली तो है, पर जब इसने शब्दानुशासन विषय से बहुत दूर आगे बढ़कर शब्दानुशासन की भाषा को शास्त्र बना डाला तो वधिया बैठ गई। वर्ण पद स्फोट मानने के लिए सभी लेखकों ने पाणिनि जी के सूत्र 'तपरस्तत्कालस्य' और 'कृपो रोलः' का आसरा लिया है। मुख्य बात तो यह है 'कृप् क्लृप्' दो धातु रूप हैं। पाणिनि जी के 'क्त' प्रत्यय के रूपों कृप् का 'कृप्त' रूप नहीं बनता न 'कर्पना' रूप बनता है, पर उसके स्थान में उनके 'क्लृप्' का 'क्लृप्त' 'कल्पना' दोनों रूप बनते हैं। कुमाउनी में 'करपँणों'

और 'कलपँढ़ीं' (पाने की उत्सुकता में छटपटाना) रूप 'कर्पना' और 'कल्पना' के विकास हैं। (दे० 'ऋ और ऌ की दरार' पीछे)। कृप और कृप् धातुओं के ये रूप पाणिनि जी के समय में जनभाषा में अवश्य रहे होंगे, पर राष्ट्रभाषा साहित्यिक भाषा में केवल कल्पना और क्लृप्त ही रूप थे। संक्षेप पाणिनि जी का मार्जित हस्त कौशल था। अतः कृप् धातु को उड़ा कर कृप् से क्लृप्त रूप बनाने के लिए यह दूसरा सूत्र, सूत्र रूप में बनाना पड़ा। भाष्यकार पतञ्जलि जी ने 'रश्रुतेर्लश्रुति भवति' कहा है। र स्फोट, ल स्फोट में परिवर्तित माना है। यहीं पर गद्दी खिसकती है। र और ल के स्फोट का यहां अवसर ही कहां आता है। एक तो पाणिनि जी 'कृप्' धातु को दफना गये, दूसरे नैरुक्तों और शब्दानुशासनकारों की एक हेकड़ी की झूठी परम्परा 'वर्णपद स्फोटवाद' की—जिसकी वाक्य या भाषा में कहीं भी आवश्यकता पड़ ही नहीं सकती—न निरुक्त या शब्दानुशासन में ही, यदि ध्यान से देखा जाय तो—पुष्टि सी कर गये। वर्णपद स्फोटवाद का मुख्य लक्ष्य रूप नामाख्यातादि चार भागों को भाषा में अपने धुरंधरत्व के बलिष्ठ प्रभाव से जबरदस्ती थोपने का प्रयास सफल सिद्ध हो चुका है। अब देखिये 'कृपो रो लः' (भवति) एक वाक्य (स्फोट) है, इसको समझाने में पतंजलि जी कह गये हैं 'र श्रुते लंश्रुतिर्भवति' यह दूसरा वाक्य (स्फोट) है, फिर कहेंगे 'अहं रश्रुतिं लश्रुतिं करोमि' यह चौथा वाक्य (स्फोट) है। तब कहा जावेगा कि 'अधुना रश्रुतिः, ऋ लंश्रुतिः ऌः सम्पन्ना' यह पाँचवाँ वाक्य (स्फोट) होगा। अन्त में कहेंगे 'अतः कृपः क्लृप्तस्थाने क्लृप्तं सिद्धम्' यह छठा वाक्य (स्फोट) है। जो कोई भी समझायेगा वह इसी रीति से समझायेगा। यह थोड़ी है कि र रूप दांत को उखाड़ कर ल रूप मिट्टी के दांत को लगा देगा। जो बोलेगा या समझायेगा वाक्य में ही समझायेगा; जो वाक्य में समझायेगा उसे उक्त रीति का ही अनुसरण करना पड़ेगा। शब्दानुशासन और निरुक्त की निरुक्ति में सभी लेखकों को इसी वाक्य शैली की संक्षिप्त या विस्तृत रचना में बोलना या लिखना पड़ा या पड़ता है। जिस जिस वर्ण के विकार विकास परिवर्तन आदेश आदि के विधान या उपपत्तियाँ होंगी उन्हें लिखना भी वाक्य में पड़ता है, समझाना भी वाक्य में ही पड़ता है, बोलना भी वाक्य में ही पड़ता है। तब वर्ण या पद कब कैसे स्वतन्त्र रूप से मिल सकेंगे यह समझ से बाहर की ही वस्तु है। बीजगणित में किसी को 'क' किसी को 'ख' भी माना जाता है तो भी कहना पड़ता है कि 'क बराबर या इतना गुना है ख के' यह कहना भी तो वाक्य ही है। ऐसा ही रेखागणित में भी होता है। बिना वाक्य बोले कोई किसी बात को नहीं समझा या बता या कह सकता है। वर्णमाला बारहखड़ी

ह्यवचरादि बोध में बालकों को स्फोट ज्ञान नहीं होता; पर स्फोट के लिए अभ्यास कराया जाता है "आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते।" प्रत्युत्तर के हां, ना, दुःख हर्ष के ओह, वाह आदि सापेक्ष पद है, इनमे अनुकूल क्रिया सम्बद्ध रहती है, उनके अभ्यासके बिना 'हां' का अर्थ 'ना' और 'ना' का 'हां' हो जाता है। जहां अध्याहार का सन्दर्भ गलत लग जाता है। वहां सचमुच उलटा अर्थ लगता और समझा भी जाता है जिनसे बड़े बड़े अनर्थ तक हो चुके हैं। बालकों की तोतली बोली में 'राम' को 'लाम', 'पानी' को 'मानी' कहना 'स्फोट' के अवधारण करने की आवृत्ति हो रही है! अभी स्थानकरण प्रयत्न स्पष्टता ही नहीं है वाक्य भी नहीं है स्फोट कहां से हो, जिन वाक्यों को समझता या बोलता है उनका उसे अवश्यमेव स्फोट ज्ञान है। पाणिनि जी के 'त परस्तत्कालस्य' की व्याख्या 'कृपो रोलः' के समान ही होगी। 'सरूपाणा-मेकशेष एक विभक्तौ' में 'रामः रामः इति वचने, सरूपयोः राम शब्दयोः एक शेषः विभक्ति योगश्च' कहकर 'रामः राम इति द्वयोः स्थाने 'रामौ' इति सम्पन्नम्' कहा जायेगा। इसी प्रकार बहुवचन की भी व्याख्या होगी। जो भी व्याख्या होगी वह 'वाक्य' (स्फोट) में ही होगी। कोई भी पद या वर्ण बिना वाक्य को बोले प्रयुक्त ही नहीं होगा, कोई 'क' मात्र बोलेगा तो दूसरे को समझाने में कहेगा 'अह' 'कउच्चरामि' मैं क् का उच्चारण करता हूँ। दूसरा इस बात को समझायेगा तो भी यही कहेगा या इसी प्रकार कोई और वाक्य कहेगा। अतः भाषा में तो वर्ण और पद के स्फोट का कहीं स्थान हो ही नहीं सकता, पर निरुक्त शब्दानुशासन रेखागणित बीजगणित विज्ञानादि में भी वर्णपद स्फोट की स्वीकृति की कहीं कोई गुञ्जायश नहीं है। जो कोई ऐसा मानते आ रहे हैं वे लकीर के फकीर बन कर भेड़ियाधसान के रूप में मानते आ रहे हैं। अन्त में इतना जोड़ना आवश्यक है कि किसी वाक्य में क्रिया न भी आवे तो उसका भाव स्पष्ट हो जाता है। अतः संस्कृत में बालकों की भाषा में, संक्षिप्त भाषा में जहां क्रिया का प्रयोग नहीं पाया जाता वहां 'स्फोट' अवश्य व्यंग होता है क्योंकि स्फोट तो भाव प्रधान है 'नामाख्यात उपसर्ग निपात' प्रधान नहीं। ऐसे स्थलों में षड् भाव विकार अर्थ की प्रशस्तता और विशदता कर देते हैं, क्रिया जैसे विभाग की अपेक्षा ही नहीं रखते। भाव प्रगट करना ही भाषा का लक्ष है शब्द गिनती नहीं (दे० पीछे औदुम्बरायण मत व्याख्या)।

(१०) आलंकारिकों का स्फोटवाद

हमारे वेद काव्य के उत्तम लक्षण और गुणों के भण्डार है इसमें दो मत नहीं हो सकते। उनमें उपमादि अर्थालंकार, अनुप्रासादि शब्दालंकार, व्यङ्ग्यादि

आलङ्कारिकों का स्फोटवाद नैरुक्तों और शब्दानुशासनकारों के वर्णपद स्फोटवाद तथा भाषातत्व शास्त्री वार्षायणि, औदुम्बरायण, वार्ताक्ष और भर्तृहरि के वाक्य स्फोटवाद से भिन्न एक अपूर्व शरीरी, रमणीय, रसानुभूतियुक्त, अलङ्कारालंकृत और उक्त स्फोटों से अन्यतम स्फोटवाद है। इस प्रकार के स्फोटवाद की विस्तृत विवेचना किसी एक ग्रन्थ में स्फोटवाद रूपमें वर्णित नहीं मिलती, जिसका एक मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि इस विषय के (अलङ्कार-शास्त्र के) लेखक प्राचीन प्रतिभादर्शन या शब्ददर्शन को प्रायः भुला बैठे थे। वे स्फोट के दार्शनिक विवेचना से बहुत अधिक दूर इसलिए भी पड़ गये थे कि उन्हें अलङ्कार और रसादि के व्याख्यानों ने बुरी तरह उलझा दिया था, और इस ओर न उनकी गति ही रह गई थी न अधिक अवसर। इसी कारण जहां प्रत्येक लेखक ने प्रतिभा, प्रज्ञा, प्रख्या, शक्ति, प्रीति आदि को काव्य करण का मूलभूत कारण मानने का कुछ न कुछ विवेचन ग्रन्थारम्भ में ही दिया है, वहां वे उस 'प्रतिभा' प्रज्ञा प्रख्या या शक्ति का अभिमत दार्शनिक विवेचन देने में नितान्त असमर्थ रहे हैं। वे प्राचीनों से श्रुत प्रतिभा तत्व का स्वानुगत अदार्शनिक विवरण देकर पुरानी लकीर पीटते हुए, एक बात की पुष्टि तो अवश्य कर गये हैं कि काव्यरूप स्फोट को 'प्रतिभा दर्शन' से बिना सम्बद्ध किये आगे नहीं बढ़ा जा सकता। उपलब्ध अलङ्कार ग्रन्थों में व्याकरण का नामोल्लेख करते हुए, स्फोट अर्थ में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक में किया है, उनके पश्चात् मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में 'स्फोट' शब्द का प्रयोग और विवरण व्याकरण के उल्लेख पुरःसर देकर हमें कृतार्थ कर दिया है। इन दोनों लेखकों से क्रम से लगभग तीन से पाँच सौ वर्ष पूर्व (वि० सं० ५५०) में भर्तृहरि जी ने आचार्य के नामोल्लेख के बिना एक इसी प्रकार के—जो अलङ्कार शास्त्र को अभिमत है—स्फोट की व्याख्या, एक बड़े मनोमोहक और स्पष्ट चित्रदायी श्लोक में देने का स्तुत्य प्रयास किया है। भर्तृहरि जी कहते हैं (१—१०७) "अनवस्थित कम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरे। स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला जालान्तरादिव।" "जब हम बोलना चाहते हैं तो सर्वप्रथम प्राणवायु उरस्थ (फेफड़े) से बाहर को धक्का मारती हुई आती है। वह स्थान में करण से स्पर्श या आघात या कम्प करती है। यह कम्पादि क्रिया ही प्राकृत ध्वनि है, या प्राकृत ध्वनिव्यञ्जक है, वह वागिन्द्रिय में भी रहती है, प्राणवायु में भी। आलङ्कारिकों का कहना है कि करण में कम्प हो या न हो, दोनों अवस्थाओं में प्राणवायु के पीडन मात्र की या प्राणवायु पीडनयुक्त कम्पन की प्राकृतध्वनि से व्यक्त स्फोट (पीडन-कम्पनजन्य) से वैकृत ध्वनि उत्पन्न होती है। वैकृत

ध्वनि सीधे प्राकृत ध्वनि से व्यक्त न होकर, प्राकृत ध्वनिव्यक्त स्फोट से उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रथम ज्वाला से द्वितीय ज्वाला, उससे तृतीय, चतुर्थादि ज्वालायें क्रमशः जलाई जा सकती हैं उसी प्रकार प्राकृत ध्वनि से व्यक्त स्फोट प्रथम ज्वाला है, उस ज्वाला से प्रज्वलित सी दूसरी ज्वाला वैकृत ध्वनि है।" यही स्फोट और यही ध्वनि हमारे अलङ्कारशास्त्रकारों को अभीष्ट प्रतीत होती है। ये लोग उक्त द्वितीय वैकृत ध्वनि रूप ज्वाला से या वाच्यार्थ से भिन्न वक्ता को अभीष्ट ज्वाला रूप अर्थों या व्यङ्ग्यों (व्यंग्यकाव्यों) को मानते से प्रतीत होते हैं जिसका स्पष्टीकरण भर्तृहरि जी ने 'अर्थग्रहण' प्रकरण में आगे चल कर इस प्रकार दे दिया है (वा० प० २-१४५) "विच्छेद ग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते। वाक्यार्थं इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताः॥" जब किसी वाक्य को समझने के लिए विच्छेद पदवर्ण में दिये गये अवधारण और स्वर के महत्व—पर विचार या ध्यान आकर्षित किया जाता है तो प्रतिभा एक दूसरा ही स्वरूप धारण करके, कुछ और ही अर्थ लगाने में समर्थ हो जाती है। इसे वाक्यार्थ कहते हैं, जिनका उपपादन वाक्यस्थित वर्णपदादि के अवधारण स्वर प्रभृति वाक्य के अन्दर अन्दर रह कर ही—न कि पार्थक्य से उत्थापित या उखाड़े से होकर—एक नये अर्थ रूप में कर लेते हैं। यहां वर्ण पद की महत्ता वाक्यान्तर्गत होते हुये है, अलग स्फोट रूप में (वर्णपद स्फोट रूप में) कदापि नहीं, अलग होने में इतने महत्वपूर्ण होने पर भी निरर्थक ही हो जावेंगे। प्रमुखता ही यहां अभीष्ट है पृथकता नहीं। पृथकता में प्रमुखता भी नहीं रह जायेगी। प्रमुखता की दीप्ति का कारण वाक्य शरीर की आत्मा स्फोट है, स्फोट की छिन्नता पदवर्ण को शव बना देगी। इसी आशय को अभीष्ट समझ कर भर्तृहरि जी ने लिखा है 'स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते' (वा० प० १-७८) और 'वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चनः' (वा० प० १-७३) (दे० पीछे)

अस्तु। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि (स्फोट) का अलङ्कारशास्त्र में सर्वप्रथम उल्लेख करते हुए लिखा है "प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। तेषु श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसंमिश्रः शब्दात्मा काव्यम् इति व्यपदेशो व्यञ्जकत्वसाम्यात् ध्वनिरित्युक्तः।" 'काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।' (ध्वन्यालोक १-१३)। प्राचीन वैयाकरण या शिक्षादर्शन वाले शब्द जगत् के सर्वप्रथम वैज्ञानिक हैं। अतः वही शिक्षादर्शन नामक व्याकरण सब विद्याओं का मूलभूत निस्रोत है। व्याकरण के आचार्य, श्रूयमाण वर्णपदवाक्य ध्वनियों को 'ध्वनि' नाम से पुकारते थे। उसी प्रकार, उनके मत

का अनुसरण करने वाले काव्यतत्त्व के अर्थ दर्शन करने वाले अलङ्कारशास्त्र के (विद्वानों) कवियों ने यह मत निर्धारित किया कि 'वाच्य वाचक से सम्मिश्रित शब्द काव्य की आत्मा है', यह व्यवहार स्फोट से अर्थ-व्यञ्जकत्व की शैली से शब्द से वाच्यार्थ के अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जकत्व की समता के कारण स्वीकार किया गया है। [अतः इसे स्फोट न कह कर 'ध्वनि' नाम से पुकारा गया है, यहां स्फोट और अर्थ-व्यञ्जकत्व की साम्यता लेकर प्राचीन मत की रक्षा मात्र की गई है]। आनन्दवर्द्धनाचार्य का 'ध्वनि तत्त्व' स्फोट और नाद से कुछ क्या नितान्त भिन्न है; यह काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य जी ने बिलकुल स्पष्ट शब्दों में अंकित कर दिया है, वे लिखते हैं "इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।"—इदमिति काव्यं बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्य-व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।" (काव्यप्रकाश १–४)। यद्यपि आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ठीक इसी आशय का श्लोक और व्याख्या दी है पर उन्होंने स्फोट शब्द का प्रयोग न करके शब्द के तीन रूपों का संकेत दिया है (१) प्राकृत (स्फोट) (२) वैकृत (अर्थ वाच्य-संकेतित) (३) ध्वनि (अर्थ व्यञ्जित)। इसी प्रकार मम्मट जी कहते हैं " 'ध्वनि' उत्तम काव्य है, इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक सुन्दर और चमत्कारजनक होता है। अतः काव्यतत्त्वदर्शी आचार्य इसे ध्वनिकाव्य कहते हैं।" इस आशय को आनन्दवर्द्धन जी ने अधिक स्पष्टता, गम्भीरता और मार्मिकता के साथ लिखने की सफलता पाई है। "यत्रार्थः शब्दो वा तमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥" (१-१३ ध्वन्यालोक) "जहां स्फोट (शब्द) और अर्थ (अभिधा) दोनों अपनी अपनी सत्ता को पृष्ठभूमि में गौण रूप से रख, एक विशिष्ट नये अर्थ को व्यञ्जित या प्रस्फुरित करके उसे प्राधान्य भी दे देते हैं, ऐसे परम रहस्यमय अर्थ वाले शब्द (स्फोट) या अर्थ को काव्य शास्त्रकोविद कवि 'ध्वनि' नाम का सर्वोत्तम काव्य कहते हैं।" अपने श्लोक की व्याख्या करते हुए, मम्मट जी अपने मनोनीत भाव को दर्पणवत् सामने रखने के लिए लिखते हैं "यहां 'इदम्' शब्द से 'काव्य' शब्द का ग्रहण अभिप्रेत है। व्याकरण दर्शन के आचार्यों ने जिस स्फोट रूप शब्द को व्यङ्ग्य का व्यञ्जक मान कर, 'ध्वनि' नाम से पुकारा है, उस स्फोट मत का अनुसरण करते हुए, काव्य शास्त्र-विशारद अन्य आलंकारिक आचार्यों ने उस स्फोट मत को (कुछ संशोधन करके) स्वीकार किया है (जिस संशोधन से) शब्द के वाच्य अर्थ को अप्रधान, पृष्ठभूमिक स्थान देकर उन दोनों से वाच्यार्थ के

अतिरिक्त जिस नये, वक्ता को वास्तविकतया अभीष्ट, अर्थ को उसी व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध से अभिव्यञ्जन किया जाता है उस शब्द (स्फोट) को 'ध्वनि' नामक उत्तम काव्य कहते हैं।" उक्त विवेचना में जिस संशोधन की चर्चा की गई है, वह वास्तविक संशोधन नहीं है। आलंकारिकों ने स्फोट वाद को ज्यों का त्यों तथावत् रूप में अपनाया है, पर जहां स्फोटवादी शब्द और अर्थ को 'प्राकृत ध्वनि' और 'वैकृत ध्वनि' दो पृथक् नाम से पुकारते हैं, वहाँ ये दोनों को केवल एक ही नाम 'ध्वनि' नाम से पुकार रहे हैं। फलतः इनके ध्वनि शब्द के माने शब्द और अर्थ दोनों होता है। इस भेद को मानने से ये ध्वनि के वाच्य अर्थ को उपसर्जनीभूत करके उसके व्यंग्य अर्थ को मुख्यता देते हैं। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने जिस 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' पद का प्रयोग काव्य की परिभाषा में किया है, वह भर्तृहरि जी के वाक्यपदीय से ज्यों का त्यों ही उतार कर रख लिया गया है "अर्थोपसर्जनीभूतानभिधेयेषु केषुचित्। चरितार्थान् परार्थत्वान्न लोकः प्रतिपद्यते॥" (१-५४) इसका अर्थ पहिले दे दिया गया है। यहां, यहां तक कह दिया है कि उपसर्जनीभूत अर्थ परार्थ में चरितार्थ हो जाने से, व्यवहारकर्ता जन ध्यान में भी नही लाते। इसका मुख्य कारण यह है कि वक्ता पहिले कुछ सोच कर शब्द (वाक्य) का प्रयोग करता है, श्रोता वक्ता के उसी सोचे अर्थ को ग्रहण करने की चेष्टा करता है। जब तक वक्ता के उक्त प्रकार से प्रयुक्त शब्द (वाक्य) श्रोता को उनके अभिमत विषय तक नहीं पहुँचा देता तब तक उसे अर्थबोध होता ही नहीं। वह कहता है आपने क्या कहा या आपका क्या आशय है? क्योंकि इस प्रकार की प्रतीति में कुछ अनिर्वचनीय ग्रहण-शक्ति की अपेक्षा रहती है, वह अनिर्वचनीय ग्रहणानुरूप प्रतीति, वक्ता का अभीष्ट अर्थ, वाच्य भी हो सकता है वाच्यार्थ से अतिरिक्त अन्य व्यङ्ग्य अर्थ भी। अतः आलंकारिकों का स्फोट का अर्थ ध्वनि रूप में मानना, बिलकुल स्फोट मत शुद्ध के अन्तर्गत ही है। "यथा प्रयोक्तुर्वाग्बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते। व्यवसायो ग्रहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते॥" १-५३॥ "विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रतीयते। न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताप्रकाशकाः॥ १—५६॥ प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा। ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते'॥ १—८४॥ वाक्यपदीय॥ फलतः स्फोट के अर्थ के स्वरूप के निर्धारण में वक्ता को कई अनिर्वचनीय अभीष्ट प्रतीतियों के अनुगम की आवश्यकता रहती है। ऐसी प्रतीति आलंकारिकों के व्यंग रूप या ध्वनि रूप अर्थ या काव्य की व्यञ्जकता, सीधे स्फोट से ही कराती है; इसमें सन्देह का लेश नहीं रह जाता। इतना अवश्य कहना पड़ता है कि स्फोट से उक्त प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि के ग्रहण में स्नायुओं

में कुछ तनाव या जोर अवश्य लगाना पड़ता है, कहा है "इत्थं निष्कृष्यमाणं यच्छब्दतत्वं निरञ्जनम्। ब्रह्मैवेत्यक्षरं प्राहुस्तस्मै पूर्णात्मने नमः॥" इस अक्षरब्रह्म रूप शब्द तत्व या स्फोट को सभी लेखकों ने 'शब्द' नाम से पुकारा है। स्फोट के सम्बन्ध में 'शब्द' के माने 'वाक्य' ही होता है, पद नहीं, जैसा कई लोग प्रायः समझा करते हैं। जो लोग 'शब्द' (स्फोट) का अर्थ 'पद' लगाते हैं, सन्देह होता है उनकी समझ में किसी भी आलंकारिक की दी हुई काव्य की परिभाषा आई होगी। 'यत्रार्थः शब्दो वा'...(आनन्दवर्द्धन) 'तद्दोषौ शब्दार्थौ' (मम्मट) 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (विश्वनाथ) 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (जगन्नाथ)। इन सब परिभाषाओं में 'शब्द' का स्पष्ट अर्थ वाक्य स्फोट है। विश्वनाथ जी ने भ्रम को दूर करने के लिए 'शब्द' के स्थान में 'वाक्य' (स्फोट) का प्रयोग करके सबकी आंखें खोलने का एक प्रकार का प्रयास सा भी कर दिया है। अर्थ और व्यंग्य केवल वाक्य स्फोट मात्र के होते हैं, यह कहा जा चुका है। अर्थव्यंग, वस्तुव्यंग, लक्ष्यार्थ रस व्यंग, अलंकार व्यंग, भाव व्यंग सब की व्यञ्जना सीधे स्फोट से होती है। तभी शब्द (वाक्य) काव्य कहलाता है। आलंकारिकों ने जहां-जहां एक-एक पद या वर्ण को व्यञ्जक कहने की शैली अपनाई है वह शैली अवैज्ञानिक है। इससे प्रथम परिच्छेद के अन्त में पद वर्ण की यथार्थ स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डाला जा चुका है कि इनकी प्रमुखता को पार्थक्य समझना शब्द तत्व का गलाघोट है। जिस प्रकार पद की व्यञ्जकता मानना अवैज्ञानिक है उसी प्रकार वाच्यार्थ को व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक मानना उससे अधिक अवैज्ञानिक है। व्यञ्जकत्व सदा ही शब्द (वाक्यस्फोट) का ही काम रहता है। यदि स्फोट रूप दीप को ओट में रख दें तो न वाच्य ही व्यंग्य होगा, न वाच्य से व्यङ्ग्यार्थ। यहाँ होता यह है, वाच्यार्थ वक्ता को अभीष्ट न होने से श्रोता उसे उपसर्जनीभूत करके, वक्ता के लक्ष्य की कुञ्जीरूप किसी पद या वर्ण की प्रमुखता या उसमें काकु उदात्तादि को पकड़ कर (जैसे चीनी भाषा में एक ही शब्द स्वरभेद से भिन्नार्थ का बोधक होता है, ऐसा अन्य भाषाओं में भी होता है पर कम) उस अर्थ को ग्रहण करेगा जिसे वक्ता ने सोचकर कहा था, यह अर्थ शब्द (वाक्य स्फोट) से ही व्यञ्जित होगा। पर वाच्यार्थ के उपसर्जनीभूत हो जाने से आलंकारिक इसे ध्वनि या व्यंग्यार्थ कहते हैं। फलतः ध्वनि या व्यंग्यार्थ वक्ता का मनोनीत पर्दे में प्रच्छन्न अर्थ है। स्वर श्लेष या चीनी जैसी स्वरीय भाषा शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष में भी यही प्रक्रिया प्रस्तुत होती है। तात्पर्य यह कि अर्थ को जो कोई भी नाम दिया जाय वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य, वह सब शब्द (वाक्य स्फोट) से ही सीधे सम्पर्क से प्रकाशित या अभिव्यञ्जित होगा। अप्रस्तुत

वाच्यार्थ तो स्वयं उपसर्जनीभूत हो जाता है तब शब्द (वाक्य स्फोट) से जो अभीष्ट अर्थ अभिव्यञ्जित होता है वह अवश्यमेव अपूर्व, रमणीय, रसात्मक, वक्रोक्तिमय, काकुमय, (सभ्य) रीतिमय होने से उत्तम काव्य (या वाक्य स्फोट) होता है, इसमें भी सन्देह का लेश नहीं। सभ्य रीतिमय वाक्य, ध्वनि काव्य होता है, यह श्रोता को अप्रिय वाच्य से पीडित न कर अपने भाव का ध्वनन करता है, मीठी छुरी मार कर।

(११) अलंकारशास्त्र में 'प्रतिभादर्शन' (की छाया)

स्फोटवाद प्रतिभावाद है, प्रतिभावाद एक स्वतन्त्र दर्शन 'प्रतिभादर्शन' था। यह प्रतिभा दर्शन, 'शब्द ब्रह्म दर्शन' भी कहलाता था। यह शब्द ब्रह्म दर्शन, सांख्यदर्शन की एक मुख्य शाखा थी। अतः 'प्रतिभादर्शन' एक सर्वाङ्गीण दर्शन था। वैदिकों का शब्द ब्रह्म सांख्ययोग की प्रकृति का प्रतिनिधि था तो 'प्रतिभा' उसका विकास या व्यक्त या बुद्धि स्वरूप 'स्फोट'। सांख्य वाले प्रकृति में जो प्रथम विस्फोट से बुद्धितत्व का विकास मानते हैं उसे प्रतिभादर्शन शब्द ब्रह्म के विस्फोट, स्फुटता या व्यङ्ग्य या स्फोट से बुद्धितत्व के समानान्तर 'प्रतिभा' नाम से पुकारते थे। फलतः जो स्फोट है वही प्रतिभा है, या स्फोट, शब्द ब्रह्म रूप प्राकृत ध्वनि के वैकृत ध्वनि में स्फुटतर होने से, उससे व्यंङ्ग्य है तो प्रतिभा, स्फोट का व्यञ्जित स्वरूप। यास्क का दिया हुआ अहोरात्रीय और आत्रेय शास्त्रीय सांख्य, इस प्रतिभा दर्शन का समूचा चित्र उपस्थित कर देता है। अतः उनके समय तक यह प्रतिभा दर्शन बड़ी धूमधाम से प्रचलित था, इसका प्रमाण, यही यास्क का उल्लेख है। यास्क ने इसे सांख्य नाम से पुकारा है पर वे निरुक्तकार थे, जिनका नित्य का सम्बन्ध शब्द ब्रह्म मात्र से था, अतः उन्होंने सांख्य के प्रतिभा दर्शन शाखा को ही प्रधानतया अपना लिया था, इसका प्रमाण भी उनका सांख्य दर्शन की अन्य शाखाओं का वर्णन न देना स्वयं प्रत्यक्ष है। जब से अपने चौसठ पूर्ववर्ती शब्दानुशासनियों सहित पाणिनि जी ने शब्द ब्रह्म के (वाक्य) स्फोट की उपेक्षा करके वर्णपद रचना विचार पर अधिक ध्यान आकर्षित करना आरम्भ किया, स्फोट या प्रतिभा दर्शन धीरे-धीरे लुप्त हो होकर नष्टप्राय ही हो गया। इन लोगों की धाक् के सामने, जो थोड़े से इने गिने शब्द ब्रह्म के प्रतिभा (स्फोट) वादी रहे उनकी गम्भीर पर सूक्ष्माकार की विचारधारा सरस्वती नदी की तरह कुछ-कुछ भाषातत्व-शास्त्रियों के हृदयतल के अन्दर ही अन्दर बहती हुई कहीं भर्तृहरि जी के क्षीरसागर तक पहुँच कर कृतकृत्य हुई भी पर, अधिक न चल सकी, यह बड़ा दुर्भाग्य है। समय कभी एक सा नहीं

रहता। अब प्रतिभावाद का युग है, अब पाणिनि प्रभृति की कम चलेगी, यह सौभाग्य की बात है।

अलंकार शास्त्र को स्फोटवाद या प्रतिभावाद का अन्तिम, अत्यन्त मधुरतम परिपक्वफल सिद्ध होना था। क्योंकि शब्द ब्रह्म-सम्बन्धी प्रतिभा तत्व के स्फोट का जितना और जैसा रमणीयार्थ-प्रतिपादक सुअवसर इस शास्त्र या विषय को उपलब्ध हो सकता है वह अन्य शास्त्रों या दर्शनों या ग्रन्थों के एकहरे पहलू वाले, अभिधा या कर्तृवाच्यमात्रधारी वचनों में कहां मिल सकता है, और जहां अन्य शास्त्रादिकों के वचन केवल अन्तर्मुखता का निष्ठुर कठोर और स्वार्थहीन विधान करते हैं वहां यह शास्त्र बहिर्मुखता का पूर्ण रसास्वाद दे देने के बाद भी उक्त अन्य शास्त्रों की अन्तर्मुखानन्द की गम्भीर झंकार उपस्थित किये विना भी नहीं रहता, आम के आम गुठली के दाम। खेद है कि ये आलंकारिक स्फोट की इस गम्भीर परिस्थिति की चारदीवारी से बाहर भटक कर, उसे प्रतिभा नाम से न पुकार कर 'काव्य' नाम से पुकारने लगे। यह दोष उनलोगों के मत्थे मढ़ना मुनासिब है जिनकी प्रभुता ने 'प्रतिभा' दर्शन को एक प्रकार से दफना देने का प्रच्छन्न प्रयास कर दिया था। जिन लोगों के कानों-कान इन आलंकारिकों ने प्रतिभा तत्व का अदार्शनिक स्वरूप में नाम सुना था, उसके आधार पर इन्होंने अपने ग्रन्थों में इस तात्विक प्रतिभा को शारीरिक बुद्धि के एक गुण रूप में मान और स्थान देकर, प्रतिभा दर्शन की एक बड़ी धुँधली रूपरेखा सुरक्षित सी कर ही रखी है। इन्हें कहना यह चाहिए था कि जो स्फोट है वह प्रतिभा है, जो प्रतिभा है वह शब्द या ध्वनि है, जो ध्वनि है वह काव्य है, या स्फोट ही काव्य है, प्रतिभा ही काव्य है या काव्य स्फोट है, प्रतिभा है, ध्वनि है। पर ये स्फोट को अलग, प्रतिभा को अलग और काव्य को अलग मानते हैं। ये प्रतिभा को काव्य का कारण अवश्य मानते हैं, यही इनकी अदार्शनिकता और अवैज्ञानिकता है। इतना होने पर भी 'प्रतिभा' की व्याख्या में परम्परागत श्रुतियों द्वारा प्राप्त जिन-जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे 'प्रतिभा दर्शन' के अमूल्य पारिभाषिक शब्द हैं जिनका प्रयोग इनकी अवैज्ञानिक या अदार्शनिक व्याख्या द्वारा अत्यन्त खटकने लगता है। उदाहरण के लिए मम्मट के 'शक्ति' शब्द को लीजिए 'शक्तिर्निपुणता' (का० प्र० १-३) ये शक्ति को 'कवित्वबीजं प्रतिभानं' या 'विशेष संस्कार' मानते हैं पर उसे 'स्फोट' नहीं कहते। भर्तृहरि जी ने 'शक्ति' शब्द स्फोट और प्रतिभा दोनों के लिए प्रयुक्त किया है (दे० पीछे वा० प० १-११९)। इसी प्रकार आनन्दवर्द्धन ने 'शक्ति' को अलग तत्व या ऐसा तत्व माना है जिससे अव्युत्पन्नता का दोष तिरोहित हो जाता है और प्रतिभा वह है जो अलोक

सामान्य का परिस्फुरण करती है (दे० नीचे)। राजशेखर ने भी शक्ति और प्रतिभा में अन्तर मानते हुए लिखा है 'शक्तिकर्तृके हि प्रतिभा-व्युत्पत्ति-कर्मणी।' जिसके पास शक्ति है उसकी प्रतिभा व्युत्पत्ति कर सकती है (काव्य मीमांसा)। पर रुद्रट ने 'शक्ति' शब्द का प्रयोग मम्मट के भावनानुकूल ही किया है 'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः' (काव्यालंकार १-१४)। पर शक्ति का जैसा शुद्ध ज्ञान इन्हें था वैसा किसी अन्य आलंकारिक को नहीं हो पाया। ये लिखते हैं कि "शक्ति, समाहित मन में अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) का अनेकधा स्फुरण मात्र है" "मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य। अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥" (काव्यालंकार १-१५)। सम्भवतः वामन जी जब यह कहते हैं कि— 'कवित्वबीजं प्रतिभानं कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्। जन्मान्तरागतसंस्कार विशेषः कश्चित्। यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्याद्।" (काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति १-३-१६) वहाँ वे प्रतिभा को 'शक्ति' के समान ही मान रहे हैं। आनन्दवर्द्धन और मम्मट की 'शक्ति' की व्याख्या इन्हीं वाक्यों पर आधारित भी हैं। यहां तक शक्ति और प्रतिभा के व्याख्यान में कुछ-कुछ दार्शनिकता का आभास मिलता है। महिमभट्ट ने प्रतिभा को शिव का तृतीय नेत्र कह कर प्राचीन प्रतिभा दर्शन को उगल कर रख दिया है। पर इन्हीं लोगों में से कई ने, तथा अन्य सबने प्रतिभा को जहां प्रख्या, प्रख्याति, प्रज्ञा, उपज्ञा आदि दार्शनिक नामों से पुकारा है वहां उनका विवेचन वैज्ञानिक और दार्शनिक न होकर मनोवैज्ञानिक, तार्किक तथा व्यावहारिक नीतिपरक हो गया है जिनके उद्धरण नीचे दे दिये जाते हैं। इनमें प्रतिभा का भारती से तादात्म्य भी कर दिया गया है। अतः दार्शनिक धरातल एकदम खिसक सा गया है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥"

(ध्वन्यालोक १-६)।

'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' (ध्वन्यालोक-लोचन १-६)। "अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां, जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च। क्रमात्प्रख्योपाख्या प्रसरसुभगं भासयति तत्सरस्वत्या स्तत्वं कविसहृदयाख्यं विजयते॥" (ध्वन्यालोक-लोचन आरम्भ मंगल)। 'पश्यन्त्याख्या प्रतिभा' (पुण्यराज वाक्यपदीय १-११९)। "नियतिकृत-नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्। नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥" (काव्यप्रकाश मंगल श्लोक)। 'वन्देम देवतां वाचम-

मृतामात्मनः कलाम् ।' (भवभूति) । "या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्र-युक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा । अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव । प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव ॥"

(काव्यमीमांसा अध्याय ४) ।

"नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात् ।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम् ॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः··· ।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥"

(हेमचन्द्र काव्यानुशासन उद्धरण) ।

"वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्य कस्यचित् ।
इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम् ॥"

(ध्वन्यालोक उद्योत ४) ।

"न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभा गुणः ।"

(ध्वन्यालोक ४-६) ।

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥"

(व्यक्तिविवेक पृ० १०८) ।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।
तदनुप्राणना जीवद्वर्णनानिपुणः कविः ॥"

(काव्यकौतुक माणिक्यचन्द्रकृत-काव्यप्रकाश संकेत उद्धरण) ।

"शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम् ।
व्युत्पत्तिस्तदुपयोगि समस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् ॥"

(ध्वन्यालोक-लोचन तृतीय उद्योत) ।

—०:०:०—

५ अध्याय

अर्थबोध

अर्थबोध का प्रश्न आजकल इतना जटिल बन गया है कि इस विषय में जितने ग्रन्थ या शास्त्र या विषय हैं उतने मत मिलते हैं। इन मत-मतान्तरों का मुख्य आधार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निर्णय तथा निश्चय है। पहिले इस बात का निश्चय करना है कि शब्द, वाक्य रूप में अर्थ से सम्बन्ध रखता है या पद और वर्णों के स्वतन्त्र रूप में या नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात रूप में या स्वर, व्यञ्जन श्रुति रूप में। शब्द (वाक्य) के दो मुख्य रूपों—नाद और स्फोट—की विस्तृत व्याख्या और उनके सम्बन्ध के बारे में विभिन्न मत-मतान्तरों का उल्लेख करते हुए यह भी अटल रूप से निश्चित किया जा चुका है कि वर्ण और पदों का पृथक् स्फोट नहीं माना जा सकता। वर्ण और पदों को शब्द (वाक्य स्फोट) की व्यञ्जकता का उपायमात्र माना गया है। (शब्द के) नाद और स्फोट, नाम के दो रूपों को क्रम से वैकृत और प्राकृत ध्वनियाँ भी कहते हैं। वैकृत ध्वनि का दूसरा दार्शनिक नाम 'वैखरी' वाणी भी है। यह ध्वनि श्लिष्ट क्लिष्ट श्लिष्ट वर्णों और पदों से प्राणवृत्ति विनिर्मित शब्द के उच्चारण के साधु और अपभ्रष्ट संस्कारवती होती हुई, प्रतिमुख भिन्नता रखती हुई इस अनन्ता के साथ साथ, वेणु, वंशी, वीणा, ढोल आदि अनन्त प्रकार की श्रुतियों से श्रव्यमान होती हुई अनन्तानन्त प्रकार की है। प्राकृत ध्वनि को स्फोट नाम से पुकारा गया है। इस स्फोट का दार्शनिक नाम 'मध्यमा वाणी' भी है। यह (वैखरी के) अन्तः सन्निवेशिनी परिगृहीतक्रम होते हुए भी प्रतिसंहृतक्रमा या अक्रमा, प्राणवृत्ति की अनुगामिनी, बुद्धिमात्र से उपादेया और सूक्ष्मा है। इन दोनों ध्वनियों की उपादान-कारणीभूत एक अन्य ध्वनि है जिसे 'पश्यन्ती' कहते हैं, यह चलाचलरूपा, प्रतिबद्धसमाधाना, समाविष्टज्ञेयाकारा, अविभागा, प्रतिलीनाकारा या निराकारा, परिपूर्णार्थ की प्रतिमा सी, अर्थसंसृष्ट प्रतिभासमाना, अन्तर्ज्योतिरूपिणी प्रशान्तरूपेण सर्वार्थप्रत्यक्षकारिणी, आदि अन्त भेदवती कहलाती है। यही पश्यन्ती वाणी, व्यावहारिक सब वाणी की अवस्थाओं की समस्त सम्मत व्यवस्थायें करती हुई असम्मत संयतकारिणी, पुरुष की संस्कारकारिणी, और उच्चरित ध्वनियों के अर्थ का भी अनुगमनकारिणी होती है। "वैखर्या मध्य-मायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्। अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥" (वा०

पदीय १-१४४)। पुनश्च—"स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणाम्प्राणवृत्तिनिबन्धनी॥ केवलम्बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥ अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सैषा वागनपायिनी॥ सैषा संकीर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः। अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते॥ तस्यां दृष्ट-स्वरूपायामधिकारो निवर्तते। पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्॥" (संकलित)। भर्तृहरि जी ने इन तीनों के तीन तीर्थ या क्षेत्र क्रम से आस्य उरस्य और हृदय (क्षीरसागर) माने हैं। इनका विवेचन प्रतिभादर्शन मात्र दे सकता है, अतः उसे अद्भुत माना है। वाणी के तीन रूपों को ऋग्वेद के काल से माना जाता आ रहा है "तिस्रो वाचः ईरयन्ति प्र वह्नि ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्। गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमाना सोमं यन्ति मतयो वाव-शानाः।" (निरुक्त—वह्निरात्मा भवति, स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्या-मतिबुद्धिमताम् ऋतस्य आत्मनः कर्माणि ;ब्रह्मणो मतानि अनुभवति १४-२७-१४)। पर इन तीन भेदों के अतिरिक्त शब्द का एक चतुर्थ भेद है जिसका नाम भर्तृहरि जी अपने समझे व्याकरण के, पर वास्तव में प्रतिभादर्शन के बाहर के क्षेत्र की वस्तु मान कर नहीं ले रहे हैं। वह चतुर्थ भेद 'परा वाणी, है। यह परा प्रकृति है (दे० भ० गी०—प्रकृतिं विद्धि मे पराम्–७-४, ५,६,) जैसे "आम्नाता सर्व विद्यासु वागेव प्रकृतिः परा।" इसको सम्मिलित करके जब शब्द के चार मुख्य भेद हो जाते हैं तब ऋग्वेद की ऋचा का अर्थ लगेगा—'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति" (ऋ० १-१६४-४५)। ध्यान रहे पश्यन्ती आदि इनसे भिन्न हैं दे० पृ० १७ और वै० वि० द०)।

अब इन चारों का वैज्ञानिक या दार्शनिक विवेचन सुनिये, जिसके बिना हम शब्द का सम्बन्ध अर्थ से जोड़ने में नितान्त असमर्थ रहेंगे। जिसे यहां 'परा' वाणी नाम से पुकारा गया है वह पराप्रकृति रूप शब्दतत्त्व या शब्द ब्रह्म है। भर्तृहरि जी ने इसी परावाणी से अपने ग्रन्थ का आरम्भ करते हुये लिखा है। "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥" (१-१)। यह ब्रह्म या प्रकृतिस्वरूपिणी परा वाणी आदि तत्त्व है। पर शब्द शास्त्र का आरम्भ पश्यन्ती वाणी से होता है। अतः यहीं से प्रतिभादर्शन का विचार आरम्भ होता है। यह पश्यन्ती वाणी ही 'प्रतिभा' नाम से पुकारी जाती हैं, अतः इस दर्शन का नाम भी प्रतिभा दर्शन पड़ा है। (दे० आदि में और 'आलंकारिकों में प्रतिभादर्शन की छाया' पिछले प्रकरण में)। यह प्रतिभा केवल शब्दतत्त्व रूप ही नहीं है अपितु ज्ञानमय

भी है। शब्दतत्व अणुओं या सूक्ष्म कणों का एक ज्योतिष्मान् पुंज सा है, वे कण ही ज्ञान के भी कण हैं। अतः जब ध्वनि किसी भी रूप में क्रियाशील होती है तो ज्ञान भी साथ साथ चलता है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुये भर्तृहरि जी ने लिखा है "वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते। कैश्चिद् दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितः ॥" (१-१०८)। प्राणवायु शब्दतत्व का ही विकसित स्वरूप है, जब वे वैखरी वाणी के प्रयास में स्थान और करणों से प्रयत्नशील होती है, तो उसके अणु, ज्ञान का अव्ययत्व रूप भी लिए रहते हैं। अतः ध्वनि में ध्वनि भी है, ज्ञान भी। ज्ञान चैतन्यता का भी द्योतक है, चैतन्यता का द्योतन बिना शब्द के कदापि हो ही नहीं सकता। यदि हृदय, नाड़ी, फेफड़े शब्द करना छोड़ दें उसी क्षण से अचैतन्यता मानी जायगी (दे० वाक्यपदीय १-१२७, १२८)। शब्द के बिना मनुष्य असंज्ञ अचेतन काष्ठ-कुडय-वत् होता है। अतः ज्ञान और चैतन्यता का सूचक होने से, शब्द में ज्ञान भी है चैतन्य भी, फलतः शब्द के कण, ज्ञान के भी कण हैं, और चैतन्यता से दीप्त भी। इसी मान्यता से यह दर्शन पश्यन्ती या प्रतिभा तत्व पर इतना जोर देता है। प्रतिभा क्षीरसागर महत्तत्त्व है, उसकी अविद्या या बुद्धि दूसरी श्रेणी रूप सत्व तत्व है, वह इसका निर्विकल्पक समाधि स्थल है, अहंकार सवि-कल्पक समाधि पीठ, मन इसका द्वार है, इन्द्रियाँ विज्ञानों के आदान-प्रदान के कारण या करण। वस्तुस्थिति यह है। शब्द तत्व रूप ब्रह्म, शब्द तत्व के अतिसूक्ष्मतम कणों की अपृथक्त्वमय अखंड स्फटिकशिला सम है। उसमें पुरुषोत्तम की अखंड चैतन्यता और ज्ञान की ज्योति, तदाकार रूप में अंग-प्रत्यंग सर्वतः व्याप्त है। स्पन्द की विकासशीलता उसे जब प्रतिभा का स्वरूप दे देती है तब उसमें एक नूतन शक्ति का आविर्भाव होता है। प्रतिभा में जब शब्द ब्रह्म की अपृथक्त्व अखंडत्व शक्ति को एक ओर से तद्वत् अखंडत्व अपृथक्त्व रूप में रखते हुये भी, उस अखंडत्व और अपृथक्त्व को खंडत्व और पृथक्त्व रूप में विकीर्ण करने की क्षमता आ जाती है तब उस प्रतिभा को शक्ति नाम से भी पुकारते हैं। आलंकारिकों ने इसी 'शक्ति' को प्रतिभा माना भी है। जब प्रतिभा सचमुच पृथक्त्व और खंडत्व को अखंडत्व और अपृ-थक्त्व की अभिव्यक्ति के लिए अग्रसर करती है तो वह प्राणवायु के कणों में परिवर्तित होकर वायु-गुणानुकूल स्पर्श द्वारा स्थान-करण से प्रयत्न करके, वर्ण-पद-वाक्य क्रम का अनुसरण करते हुए भी अखंडता और अक्रमता का पल्ला नहीं छोड़ती। अब वह पश्यन्तीरूप प्रतिभा द्विजिह्व सी हो जाती है (ध्वनि) नाद और स्फोट। ये दोनों प्रतिभास्थित ज्ञान के प्रतिबिम्ब रूप ज्योति से ज्योतिष्मान् रहती हैं। ध्वनि या नाद श्रोता के पास सज्ञान जाती है, (वक्ता

के पास स्फोट में सज्ञान रहती है), पुनः स्फोटरूप, अखंड ज्ञानरूप में या अखंड शब्द रूप में या शब्द में प्रतिबिम्बित ज्ञानमय रूप में उपस्थित होती है। शब्दतत्व, शुद्ध सत्व तत्वमयता के कारण स्फटिकशिलासम या हिमालयसम या क्षीरसागरसम होने से एक तो स्वयंप्रकाशमय है, पुनः पुरुषोत्तम की चैतन्यता और ज्ञानता उसे अधिक बुद्ध और प्रकाशित कर देती है, शब्दाणुओं की नित्य क्रियाशीलता-सम्पन्न स्पन्दता, उसे वैद्युतीय प्रकाश और गति में अनुप्राणित कर देती है। जब यह स्थिति है तो शब्द और अर्थ (ज्ञान) जैसी दो भिन्न वस्तुयें हैं कहां ? जिसका हम यहां विवेचन करें, जो शब्द है वही ज्ञान या अर्थ है। शब्द से भिन्न अर्थ या ज्ञान की सत्ता ही कहां है ? यह हमारी एक जीवनशैली है कि ज्ञान को प्रगट करने के निमित्त शब्द का प्रयोग करते हैं। शब्द का प्रयोग हुआ नहीं कि ज्ञान भी हो गया। शब्द और ज्ञान समझने के लिए दो तत्व हैं सत्ता में; वे एक दूसरे से पृथक् रह ही नहीं सकते। अतः शब्द या भाषा स्वयं ज्ञानमयी है, उसका शब्द या भाषा (वाक्य या परिच्छेद या निबन्ध) का उनसे पृथक् कोई दूसरा अर्थ नहीं होता, इनका जो 'स्वं रूपं' है वह स्वयं ज्ञानरूपं भी है। यह हमारी दैनिक जीवनी शब्दमय ज्ञानरूपिणी स्वंरूपिणी स्वयं ज्ञानरूपिणी है। यहां अर्थ जैसी पार्थक्य की स्थिति ही कहां उपस्थित होती है ? अतः भर्तृहरि जी ने जो निम्नलिखित श्लोक लिखा है, उसका अर्थ टीकाकारों ने गलत देकर सबको भ्रम में डाल रखा है, यहां भर्तृहरि जी वही कह रहे हैं जो यहां निर्णीत किया गया है। "तस्यार्थवादरूपाणि निश्रित्य स्वविकल्पजाः। एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः॥" (१-८)। उक्त श्लोक में 'अर्थवाद' शब्द को मीमांसकों का 'अर्थवाद' शब्द समझ कर टीकाकारों ने 'अर्थवाद' के 'शब्दार्थवाद' और भर्तृहरि जी के भाव की हत्या करडाली है। यहां पर भर्तृहरि जी शब्द के अर्थविषयक यद्यपि अनेक प्रवादों की सत्ता की ओर संकेत कर रहे हैं पर वे स्वयं शब्दार्थ-सम्बन्ध में एकत्ववादी या अद्वैतवादी हैं, यह भी घोषित कर रहे हैं, जिसकी पुष्टि आगे चलकर उन्होंने कई स्थलों में बारम्बार पुनरावृत्ति कर, कर दी है। "यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं चाऽविकल्पितम्। तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवेदिनः ॥ विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा। विकारापगमो यत्र तामाहुः प्रकृतिं पराम् ॥ वाच्या सा सर्वशब्दानां शब्दाच्च न पृथक् ततः। अपृथक्त्वेन सम्बन्धस्तयोर्जीवात्मनोरिव ॥ नित्याः शब्दार्थ-सम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः। सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥" वार्तिककार कात्यायन ने भी लिखा है "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे, सिद्धन्तु नित्यत्वात्" शेष उद्धरण शब्द व्युत्पत्ति प्रकरण में दे दिये गये हैं, वहां

शब्द की उत्पत्ति-प्रक्रिया-क्रम भी वैज्ञानिक रीति से वर्णित किया गया है (दे० पिछला प्रकरण 'वाक्यस्फोट')। और तो अलग रहे, कालिदास, माघ आदि कवियों ने इस अद्वैत का वर्णन दिया है 'वागर्थाविव संपृक्तौ' (कालिदास-रघुवंश) 'शब्दादर्थमिवाभिन्नम्' (माघ)। इस सरणि को आजकल के पाश्चात्य आलोचक 'मनोवैज्ञानिक' मार्ग (मेन्टालिस्ट) कहते हैं। यह दार्शनिक या वैज्ञानिक मार्ग है, अन्तिम मार्ग है, प्रथम भी है।

उक्त स्थिति से शब्दमयज्ञानानुभूति का अवसर यों ही बिना हाथ-पाँव चलाये किसी के हाथ नहीं लगता। इसके लिए आठ दस या अधिक वर्षों की अखंड तपस्या करनी पड़ती है। पुरुषोत्तम का जो सर्वव्यापी चैतन्यमय ज्ञान शब्दतत्व रूप शुद्धसत्व की स्फटिकशिला में एकत्व या अद्वैत से व्याप्त रहा वह प्रतिभा स्थिति में विभिन्न प्राणी या पुरुषों या अखिल जात-भावी पुरुषों और पदार्थों में अविभक्त विभक्त से (तत्तद् पदार्थ और पुरुषों के सीमित शरीरों में) अणोरणीयान् रूप पुरुषोत्तम तथा उसके प्रतिबिम्बरूप पुरुष या प्रतिभास्वरूप में, दो रूपों में सा प्रस्तुत हो जाता है। पुरुषोत्तम के अखंड अणोरणीयान् रूप को भी पूरा-पूरा अपनाने में क्षुद्र अणुशरीरों की असमर्थता देख उनमें प्रतिबिम्ब रूप से रहना अनिवार्य हो जाता है (बड़े का प्रतिबिम्ब छोटे में समा सकता है पर पूरा आकार नहीं)। यह प्रतिबिम्ब पुरुष या जीवात्मा है। यह जीवात्मा सीमित है, प्रतिबिम्ब है, इसके शब्दाणु भी सीमित हैं, ज्ञान भी तदनुरूप सीमित। पुरुषोत्तम का ज्ञान बहिर्मुख होकर सबको प्रकाशित करना चाहता है, 'हंसो लेलायते बहिः' पर शब्दाणु रूप द्रव्य में उपस्थित उसका प्रतिबिम्ब उसे आगे नहीं बढ़ने देता। अतः हम सब का ज्ञान सदा सीमित रहता है। जीवात्मा की अन्तर्मुखता योग है, पुरुषोत्तम दर्शन है, यह अति कठिन मार्ग है, अतः जीवात्मा बहिर्मुख होकर पुरुषोत्तम के बिखरे व्यक्ति-रूप विज्ञानों से चुन-चुन कर ज्ञान के विज्ञान रूप को ही ज्ञान कहने लगता है, बाहर बिखरे इतने विज्ञान हैं, जिनकी अनुभूति उतने जन्मों में भी सम्भव नहीं जितने प्राणी और पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में हैं। इस उलटी प्रक्रिया में हमें जो तपस्या करनी पड़ती है उसका नाम है "अभ्यास"। हमारा शरीर ही शब्दतत्वमय या शब्दाणुओं का पुञ्ज है, यह शब्दाणु पिंड ज्ञानमय पिंड भी है। हमारे रोम-रोम रग-रग में ज्ञान है, उनसे और उनकी पृथक्-पृथक् अनुभूति भी समय समय पर होती रहती है, विशेष कर तत्तद् अंग की अस्वस्थावस्था में। यह रग-रग रोम-रोम का ज्ञान भी अभ्यास की तपस्या से ही होता है। बच्चा बीमार पड़े तो भगवान् ही जानता है उसे किस अंग में कैसी पीड़ा है, स्वस्थता में किसका आनन्द। हम बीमारी और स्वस्थता में

अपने अंग-प्रत्यंग की सुख-दुःखानुभूति का वर्णन जो करते हैं वह हमारे अभ्यास का ही फल है। चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, लिखना-पढ़ना, पहिनना-ओढ़ना, देखना-सुनना, छूना-चीन्हना, सूंघना, अन्त में बोलना बिना अभ्यास के किसे आते हैं? फलतः हमारा जीवन अभ्यास की एक व्यायामशाला है। हम जाड़े-गर्म्मी, अच्छे-बुरे अवसरों में अपने को ढालने का भी अभ्यास किये बिना अपने जीवन को सफल नहीं बना सकते। मनुष्य-सभ्यता पूरी की पूरी अभ्यासमात्र की एक अद्भुत प्रदर्शिनी है। पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, और विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त गृहविद्यालय, मोहल्ला-विद्यालय, कृषि (खेत) विद्यालय, नगर विद्यालय, सभा-समाज, संस्थायें, पुस्तक-पुस्तकालय, वाचन-प्रवचन, वाचनालय-यात्रा में भी शत्रुता-बैर-प्रीति आदि सब इस अभ्यास के अनन्त अखाड़े हैं। योगी, यती, ज्ञानी, विज्ञानी, कला-कलाकार, कवि-काव्य, आख्यान-व्याख्यान, आदि सबके सब, अभ्यास की प्रतिमूर्ति को छोड़ हैं ही क्या? इन सब प्रकार के अभ्यासों के मूल में, शब्द तत्त्व, मूलमंत्र की तरह, कहीं प्रत्यक्ष, कहीं अप्रत्यक्ष रूप में मुख्य कारण होता है।

हमारे जीवन की ज्ञानमयी चैतन्यमयी ज्योति का प्रथम स्फुरण रुदनात्मक शब्द से ही होता है। दो-चार महीने तक यही रोदन-ध्वनि हमारी संजीवनी बूटी का काम करती है। फिर एक नई ध्वनि हुं हां आदि प्रादुर्भूत होती है, ततः उसे पापा, बाबा, दादा, दीदी आदि एकाक्षर या द्वित्वाक्षर ध्वनि का अभ्यास कराया जाता है। तदन्तर दू दू, मानी (पानी) पापा (रोटी) उसके भोज्य पेय पदार्थों के संकेतों का अभ्यास कराया जाता है। अब वह एकाक्षरी एकपदीय भाषा बोलने लगता है। उसका 'भू' शब्द 'खाना दो' अर्थ रखता है 'नि नि' शब्द 'मैं सोऊँगा'। दिन-प्रतिदिन उसे कुछ न कुछ सीखना है खाना, पीना, चलना, बोलना। जब एक शब्द या वाक्य उसके कानों में कई बार पड़ जाता है तो वह उसका उच्चारण अपने आप करने लगता है, उसके उच्चारण के साथ-साथ उसका अर्थ भी लगता रहता है। बिना बार-बार के श्रवण या शिक्षा के बालक न उच्चारण कर सकता है, न उसका अर्थ समझ सकता है। जहां अभ्यास से शब्द मन में बैठ गया, उसका अर्थ भी स्वयं सुनने ही लग गया। इस प्रकार की प्रक्रिया को मन में रखकर भर्तृहरि जी ने शब्दज्ञान में 'अभ्यास' को बड़ी महत्ता देते हुए लिखा है "परेषामसमयाख्येय-मभ्यासादेव जायते। मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम् ॥" ॥१-३५॥ "नादैराहितबीजानामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥" १-८५॥ जब इस प्रकार अभ्यास द्वारा शब्द का ग्रहण

कर लिया जाता है तो वह स्फोट रूप में बुद्धि में अपना नित्य स्थान कर लेता है; जब कभी वह उस शब्द को सुनता या कहता है, उसका अर्थ भी तत्काल युगपद् उपस्थित हो जाताहै "वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वादर्थयोगं च लोकतः ॥" (२-३४७)। मनुष्य या प्राणी को प्रत्येक भाव वाले वाक्य का इसी प्रकार अभ्यास करना पड़ता है। पद और वर्णों का अभ्यास प्राथमिकता रख भी सकता है, नहीं भी। मातृभाषा में वर्ण और पदों की पृथक्तया कोई शिक्षा-दीक्षा नहीं दी जाती। वाक्य ही सिखलाये जाते हैं, हां वर्ण, पदों की अशुद्धियां टोक कर रोक दी जाती हैं। वह टोक कर रोकना भी तो वाक्य द्वारा ही होता है। अतः स्फोट और अर्थ वाक्य का ही होता है। इस सरणि को पाश्चात्य आलोचक आवृत्तिमार्ग या अभ्यास मार्ग (बिहेवरिज्म) कहते हैं। जब अभ्यास-सरणि पूरी हो जाती है, तब प्रथम सरणि जिसे मनोवैज्ञानिक सरणि कहते हैं, धड़ाधड़ अपना काम आरम्भ करती है। यह अभ्यासमार्ग अभ्यास तक ही सीमित है। पर हम नित्य किसी न किसी नये ज्ञान का अभ्यास प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में करते रहते हैं। अतः ये दोनों मार्ग एक दूसरे के साध्य-साधक या कार्य-कारण भाव से नित्य साथ साथ भी चलते हैं। इस मार्ग को 'पाक' सिद्धान्त कहना अधिक उचित होगा। अभ्यास या आवृत्ति तो क्रियायें हैं, उनके परिणाम से स्फोट का निर्धारण होता है, नित्य स्थिर होता है। अतः यह 'पाक' है अभ्यास आवृत्ति नहीं। यह मार्ग या 'पाक' सर्वप्रथम सीढ़ी है, तब वैज्ञानिक या दार्शनिक मत लागू होगा।

स्फोट की धारणा नित्य बनाने के लिये अभ्यास या आवृत्ति की आवश्यकता होती है। अभ्यास या आवृत्ति के अखाड़े हमारे घर, मोहल्ला, ग्राम, नगर, खंड, प्रान्त, और देश होते हैं। अब हम शब्द चित्र स्फोट का सम्बन्ध उसके ज्ञान के पहलू अर्थ से जब करने जाते हैं तो, न तो प्रत्येक देश में, एक सी संज्ञायें होती हैं, न समान क्रियायें; उन संज्ञाओं और क्रियाओं के अर्थ चित्रों में इतनी विभिन्नतायें होती हैं कि एक प्रान्तादि के एक शब्द के चित्र या अर्थ चित्र दूसरे प्रान्त के शब्दार्थ चित्रों से तादात्म्य करना कठिन ही नहीं नितान्त असम्भव है। सीमान्त प्रदेश के 'मनुष्य' शब्द के उच्चारण-भिन्नता के साथ-साथ उसका अर्थ चित्र, लम्बा कुर्ता, दाढ़ी वाला, मुछमुण्ड, तीखी टोपी युक्त छोटा फेटा, वास्कट, सुथना या तैमत, देशी जूता, हाथ में डंडा वाला लम्बा चौड़ा सात फुट का होगा, बंगाल में कुर्ता, स्लीपर या चप्पल, छुटकनियाँ धोती, नंगा सिर, छोटा कद, साँवला रंग होगा। 'खाने' का चित्र सीमान्त देश में घुटने तक की तन्दूरी रोटी बड़ी, उरद की दाल, मांस होंगे तो बंगाली खाने का चित्र भात और मछली मात्र। इसी प्रकार प्रान्त-प्रान्त, वर्ग-वर्ग, नगर-नगर, ग्राम-ग्राम,

घर-घर में प्रत्येक वाक्य का अलग-अलग चित्र उपस्थित होगा। एक वाक्य का जो अर्थ एक जगह है वह दूसरी जगह कदापि नहीं मिल सकता। अतः प्रत्येक जाति के वाक्यों का अर्थ उसकी सामाजिक रहन-सहन-संस्कृति के अर्थों के चित्रों को उपस्थित करता है। जब तक हम उस समाज में न रहें तब तक हम उनकी लिखित भाषा का अपना उच्चारण और अपने समाज के वाक्यों के अर्थों के चित्रों में ढाल कर बन्दर को भालू की खाल, और भालू को बन्दर की खाल पहिनाने का उपहासास्पद साहस मात्र करते हैं। एक भाषा दूसरी भाषा में किसी प्रकार अक्षर-पदादि से अनूदित नहीं की जा सकती, भावात्मकतया कुछ-कुछ की जा सकती है। अतः शब्द या भाषा प्रत्येक जाति की अपनी-अपनी स्वतन्त्र संस्कृति है। इस भाषाचित्रवादी मत को अमेरिकन लोग अपना बताने लगे हैं। वे भाषा के इस क्षेत्र की ओर अधिक बल देते हैं। इसे वे (स्ट्रक्चरल लिङ्ग्विस्टिक्स) 'मूर्तिपार्थक्य' कहते हैं। यह हमारा सांख्ययोग दर्शन का सर्वप्राचीन मत ही है। भर्तृहरि जी ने इसे पुनः अनुप्राणित करते हुए लिखा है "रूपादयो यथा दृष्टाः प्रत्यक्षं यतशक्तयः" (१-१४०) "स्वभाव-ज्ञैश्च भावानां दृश्यन्ते शब्दशक्तयः' (१-१४५) "प्रकाशकानां भेदांश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते। तैलोदकादिभेदे तद् प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके" (१-१००) "निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम्" (१-९९) "भेदानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः। क्रमोपसृष्टरूपाया ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम्।" (१-८७) "विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रतीयते" (१-५६) इत्यादि।

(२) अक्षर पाक

'अक्षर' एक स्वर या एक स्वर पूर्व पर में एक या अनेक व्यञ्जनों के योग को कहते हैं। हमारे यहां के शब्दानुसासनियों की धातु शैली यही 'अक्षर' शैली है, इस शैली का कारण यह है। जब वेद बन चुके, उनके अध्ययन के लिए सरल उपाय सोचे गये। कहा जाता है कि सबसे पहिले बृहस्पति जी ने शब्दरूप, धातुरूप, कृतद्धित प्रत्ययान्त रूपादिकों का एक ऐसा बृहच्छ-ब्दानुशासन प्रस्तुत किया जिसे स्मरण करने में इन्द्र को एक हजार वर्ष लग गये। अतः अन्य लेखकों ने अपनी-अपनी शाखाओं के पृथक्-पृथक् शब्दानु-शासन लिखे। पाणिनि जी की अष्टाध्यायी उनमें अन्तिम है, जिसमें ६८ प्राचीन लेखकों के मत और नाम मिलते हैं। वेद की व्याख्या के लिये कई निरुक्त लिखे गये जिनमें से अन्तिम यास्क का था, वही उपलब्ध भी है। इन लोगों ने, भाषातत्त्वशास्त्र के ध्वनि शास्त्रमूलक प्रातिशाख्यों, तथा प्रतिभावादी स्फोट के ग्रन्थों की होड़ में, भाषा की व्याख्या की पगडंडीरूप एक ऐसी

कृत्रिम शैली को जन्म दिया जिसे देख आजकल भी पाश्चात्य लोग चकित हुए बिना नही रह सकते। यह प्रणाली वाक्य को नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात चार भागों या कर्मप्रवचनीय जोड़ कर पांच भागों या केवल नाम, आख्यात दो भागों में विभक्त करने की थी। वाक्य को समझने के लिए यह प्रणाली उतनी अधिक खतरनाक नहीं थी जितनी कि वाक्य को इकाई मानने के स्थान में वर्ण और पदों को भी इकाई इसलिए नहीं-सा माना गया कि प्रत्येक वर्ण या पद भी किसी न किसी ऐसे कल्पित धातु से बना स्वीकार कर लिया गया जिसके एक या दो अर्थ निश्चित और उपसर्गों द्वारा अनन्त अर्थ मान लिए। अब भाषा की इकाई न वाक्य रह गया, न पद, न वर्ण; पर इन सबके स्थान में धातु को मूल आधार ठहराया गया। बड़ी खलबली पड़ गई और तहलका मच गया। कई दल बन गये।

(१) शाकटायन और निरुक्तकारों ने सर्वसम्मत होकर कहा कि जितनी संज्ञायें हैं वे सब धातुओं से बनी या निकली हैं।

(२) कुछ वैयाकरण और गार्ग्याचार्य ने इसका खुले आम विरोध करते हुए कहा, सब संज्ञाओं को धातुओं से व्याख्यात नहीं किया जा सकता।

(३) कौत्स ने उक्त दोनों का पूर्ण विरोध करते हुए कहा कि उक्त रीति की व्युत्पत्ति से सब वेदों की की व्याख्या अनर्थक हो जायेगी (क्योंकि भाषा में ये नकली उपाय काम नही आ सकते)। भाषा की व्याख्या में प्रकरण का अधिक महत्व है।

(४) अन्त में वार्ष्यायणि जी ने एक परम वैज्ञानिक मत सामने रखते हुए कहा कि नामाख्यात जैसे विभाजन का भाषा से कोई सम्बन्ध नही हैं। प्रत्येक वाक्य समूचे का समूचा एक अलग भाव रखता है, उसके वर्णपद भी, विभिन्न स्थान में विभिन्न भाव रखते हुए, वाक्य में पुनः उनसे बिलकुल विभिन्न या एक ही भाव रखते हैं, ये भाव छः प्रकार के पाये जाते हैं।

इन मतों का प्रामाणिक उल्लेख यास्काचार्य जी वि० सं पूर्व ७०० वर्ष में अपने निरुक्त में निम्नलिखित शब्दों में कर गये हैं। (१) "नामान्याख्यात-जानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च" (२) "न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके' (निरुक्त १-१-११) (३) "कौत्सोह्यनर्थका मन्त्राः'''मन्त्रार्थं चिन्ता-भ्यूहो भ्यूढोपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः" (निरुक्त १३-१-१२) (४) "षड् भाव विकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धते, अपक्षीयते विनश्यतीति" (निरुक्त १-१-४)

इन विषयों पर विचार करने से पहिले यह निवेदन कर देना अधिक प्रकाश लाने में समर्थ होगा कि शब्दानुशासन चाहे किसी का भी लिखा हो कितना ही उत्तम लिखा हो, वह भाषा को सीखने का माध्यम कदापि नहीं हो सकता। यह भाषा की एक बाहरी या भीतरी ढांचे की शुद्धि और अशुद्धि की बोधकारिणीमात्र एक असली या नकली शैली है। शब्दानुशासन का या अन्य शास्त्रों का कोरा विद्यार्थी चार वाक्य भी शुद्ध नहीं बोल सकता, उसके पास न तो भाषा का अभ्यास है, न स्फोट, कहां से लावे वाक्यावली, वह तो बोलचाल या साहित्य में ही मिलेगा। जब तक वह पाणिनि के सूत्रों से बड़ी कठिनाई से एक आध शब्द सिद्ध कर पाता है घंटों लग जाते हैं, चुप और लज्जावनत होकर बैठ जाता है। एक बात। सिद्ध किया जा चुका है कि शब्द स्वयं ज्ञानमय है, बोला या सुना नहीं कि अर्थ साथ-साथ युगपत् लग गया। तब यह व्युत्पत्ति या निरुक्ति किसकी और किस लिए हो रही है? जब भाषा क्रमशः बनी थी तो धातु पहिले बने थे या शब्द? सन्देह नहीं कि शब्द ही पहिले बने। आरम्भ में तो एक या दो शब्दों के, बिना क्रिया के, वाक्य रहे होंगे, जैसे कोई 'आँ३' स्वर को अत्युदात्त करके चिल्लाये तो उसका अर्थ 'मैं महान् संकट में हूँ, सहायता करो' इतना बड़ा होता है। अब इस 'आँ३' में 'संकटवाची सहायता' धातु कैसे बन गया। इसकी सिद्धि के लिए कोई 'खतरे की घण्टी' अर्थ का अपना गढ़ा हुआ एक धातु ढूंढ़ा जायेगा तब उसके हाथ-पाव काटकर और आदेश लोप अनुनासिक के नियमों से जकड़ कर एक लम्बी प्रक्रिया के बाद उसे निपात नाम दिया जावेगा। व्यर्थ की रगड़ा-रगड़ी है स्नायुओं की। (आँ३) एक वाक्य है। जब समझाने में या समझने में पर्य्याय ढूढ़ा जाता या दिया जाता है तो उस समय स्फोट जमा नहीं है, स्फोट का अभ्यास किया जा रहा है। जो समझा रहा है, वाक्य में समझा रहा है, वाक्य में ही वाक्य का अर्थ भी लग रहा है, शब्द के अभ्यास के साथ-साथ। समझाने वाले के पास स्फोट है, समझने वाले को अभ्यास करने का अवसर दे रहा है। चाहे 'अक्षर' पूरा अर्थ दे या 'पद' पूरा अर्थ दे या अक्षर-पद मिलकर पूरा अर्थ दें, वे सब वाक्य ही हैं। शब्द या वाक्य एक भाव है जिससे एक भाव पूरा निकल जाय वह वाक्य है। भाव छः से सात नहीं हो सकते, वाक्य या भाव ही छः प्रकार के हुए। भाव का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है, उसका विभाजन, नाम आख्यात आदि भेद किसी भी प्रकार पूर्णतः कर ही नहीं सकते। ये विभाजन बड़े स्थूल और नितान्त अपूर्ण तथा बिलकुल कृत्रिम हैं। इस बात को दृष्टि-पथ में रख कर यास्क जी ने एक बड़ा महत्वपूर्ण उल्लेख दिया हैं। "यथो हि नु वा एतत्तद्यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ

स्याताम् सर्वं प्रादेशिकमित्येव सत्यनुपालम्भ एष भवति ॥ १-१४ ॥ अथापी-दमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते, नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशस्तदिदं विद्या-स्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थं साधकं च। यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवति 'कौत्सोऽनर्थका हि मन्त्राः' तदेतदेतदुपेक्षितव्यं, नियत वाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्त्यथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते ॥ १-१५ ॥" "अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते, अथ निर्वचनं तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम् तथा निर्ब्रूयात् अथ अनन्वितेऽर्थे प्रादेशिके विकारे अर्थः नित्यः केनचिद्वृत्ति सामान्येन अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्ण सामान्यान्निर्ब्रूयात् न त्वेव न निर्ब्रूयात् न संस्कारमाद्रियेत। विषय-वत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं सन्नमयेत् प्रत्तमवत्तमिति धात्वादि एव शिष्यते ॥ १-१६ ॥" "तद्यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम् संविज्ञातानि तानि यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति चेत्सर्वाणि आख्यात-जानि नामानि स्युः यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्वं तदाऽऽचक्षीरन् यः कश्च अध्वानमश्नुवीत अश्वः स वचनीयः स्यात्, यः कश्च गच्छति स गौ, यः कश्च तृन्द्यात् स तृणं वचनीयः स्यात्। अथापि य एषां कर्मनामिक संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तत्तथैतान्याचक्षीरन्, पुरुषं पुरिषयं तदेतन्नोपपद्यते" (१-४-१३) आपको स्मरण होगा कि यास्क जी 'पदस्फोट' वादी मार्ग के हैं। अपने मत की पूर्ण स्थापना के निमित्त उन्हें यहां उन कोटियों को क्रमशः स्थान देना पड़ा है जिनका पूर्ण खंडन उनसे यथार्थ में हो नहीं पाया है। "ये स्वर और संस्कार तथा प्रादेशिकता और अन्वय पदों को गूथ कर, वाक्य में पदों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। साथ में ये यह भी कहते हैं कि पदवर्णों की आनुपूर्व्यी और भाव नियत रहते हैं, वेदों के सम्बन्ध में भावों की इस नियतता और आनुपूर्व्यीता का निर्णय ब्राह्मण ग्रन्थों में परम्परा से उपलब्ध होता है, अन्यत्र उस लेखक की परिस्थिति और वातावरण से। अतः वर्णपद पार्थक्यता मन्त्रानर्थकता का कारण नहीं हो सकती। जो पद विभाग को आवश्यक नहीं समझते वह भी ठीक नहीं हैं, उनका निर्वचन (व्युत्पत्ति) न किया जाय तो उन्हें संस्कृत शब्दावली नहीं कह सकते, जैसे भी हो निरुक्ति करके उसको शुद्धार्थबोधक सिद्ध करना है, असली या नकली ढंग से, उसके अनुरूप धातु मिल जाय तो बहुत अच्छा, न मिले तो भी किसी वर्ण या पद के किसी भी प्रकार समानता वाले धातु को घसीट कर भी उसकी निरुक्ति अवश्य की जाय। यह कहना अनुचित है कि सभी संज्ञायें धातुओं से नहीं निकली हैं, उससे अधिक अन्याय निरुक्ति पर यह लाञ्छन लगाना करेगा जो यह कहता है कि गौ की व्युत्पत्ति यदि 'गच्छतीति गौ' होता है तो जो कोई

जाता है वह गौ कहलायेगा, अश्व की व्युत्पत्ति यदि यह की जाय 'अध्वानमश्नुवीते इति' तो जो कोई मार्गको पार करेगा वह 'अश्व' कहलायेगा, तृण की व्युत्पत्ति यदि यह की जाय 'तृंद्यादिति' तो जो कोई तोड़ता है वह भी तृण कहलायेगा। ऐसा उक्त रीति से नहीं हो सकता।" इस अवतरण में यास्क जी ने स्वरसंस्कार को प्रमुखता देकर निरुक्ति की अनिवार्यता की जो घोषणा की है वह अवैज्ञानिक और स्वमतपुष्टि की बड़ी दुर्बल तर्कना है। हाँ, उन्होंने जो पदवर्णों की आनुपूर्व्यी और भाव की नियतता का उल्लेख किया है, वे उनके मत के स्वयं विरोधी (वाक्य) हो गये हैं। उन्होंने अन्यत्र (दे० पिछला परिच्छेद) 'प्रकरण' को जो अत्यन्त प्रधानता दी है वह परम वैज्ञानिक वक्तव्य है। विरोधी दल से उत्थापित 'गौ श्वः पुरुष तृणं' की निरुक्ति के पक्ष में उठाये गये वैज्ञानिक प्रश्नों का उत्तर यास्क जी साफ-साफ नहीं दे सके हैं, उनका निराकरण स्वरसंस्कार और प्रादेशिकता नहीं कर सकती, 'नियत वाचो नियतानुपूर्व्यीकत्व' उलटे, उन्हीं का खंडन और साथ में पद वर्णों की स्वतन्त्र सत्ता के पावों में कठोर कुठाराघात कर देते हैं। क्योंकि नियतवाचता नियतानुपूर्व्यीकता और प्रकरण ये वाक्य के विषय हैं, पद वर्णों के किसी भी दशा में नहीं।

भाषा जब बनने लगती है, तो बनते-बनते वह कुछ स्वाभाविक नियमों से जकड़ती है, कुछ क्षेत्र स्वच्छन्द भी रखती है। स्वाभाविक नियमों में एक क्रिया की और संज्ञा की अनेकरूपता में मौलिक एकता, तथा कृतसिद्ध स्वरूपों की अनेकता की मौलिक एकता प्रमुख है। इन मौलिक एकताओं की खोज ने धातु जैसी वस्तु खोद निकाली। जब भाषा बनी थी तब किसी ने इस मौलिक एकता की ओर ध्यान भी दिया होगा, इसका उत्तर अधिक प्रतिशत में नकारात्मक ही सम्भव है। क्योंकि वैदिक (आर्ष) प्रयोगों में, लौकिक संस्कृत में तथा आज-कल की भाषाओं में एकता की व्याख्या अनेकता में करें तब अर्थ लगता है। (रूप एक है, अर्थ भिन्न, उदाहरण में अव्यय उपसर्ग निपात हैं, इसके अतिरिक्त 'मा भूत्' आदि क्रियारूप, कई धातुओं और कारकों के एक से रूप भी इसके उदाहरण हैं)। इस प्रकार जबरदस्ती उचेड़े गये धातु के अर्थ निश्चित करने के लिए दो चार प्रयोगों की समता का सहारा लेकर, उनके एक-दो अर्थ भी बना डाले। कोई भी धातु, किन्हीं दो वाक्यों में एक अर्थ नहीं रख सकता, धातु के उतने अर्थ जितने उसके वाक्य। और धातु ऐसी क्रिया है जिसका पारावार नहीं। तब धातु किस अर्थ का बोधक हो सकता है इसका केवल निर्णयक धातु का (अक्षररूप) धातुरूप नहीं, क्रियारूप नहीं,

(पदरूप), वरन् केवल वाक्य ही हो सकता है इसमें कौन सन्देह कर सकता है। यहीं उसकी निश्चित 'नियतानुपूर्व्यीकत्व, नियतवाचोयुक्तित्व और नियत प्रकरणता ठोसरूप से विद्यमान मिलेगी।

संज्ञाओं की व्युत्पत्ति की माया ही दूसरी है। प्रत्येक 'नाम' के पीछे उसका वातावरणीय इतिहास प्रच्छन्न रहता है। नाम की वास्तविक व्युत्पत्ति उसके वातावरण का उद्घाटन है। 'कांगरू' पशु का नाम प्रसिद्ध है, खोजक ने आदि जाति के साथी से पूछा 'इस पशु का क्या नाम है?' उसने उत्तर दिया 'मैं नहीं जानता' या 'कांगरू'। खोजक ने उस पशु को 'कांगरू' ही नाम दे दिया। अब बतलाइये 'कांगरू' की व्युत्पत्ति है 'मैं नहीं जानता', नाम है पशु का। यह 'मैं नहीं जानता' स्वरूपिणी व्युत्पत्ति या निरुक्ति को कौन ठीक बतला सकता है? 'कांगरू' की व्याख्या उक्त वातावरण उद्घाटनमात्र से हो सकती है। 'उपस्' इशारा करके, प्रातः के प्रकाश को किसी ने बताया होगा कि तब से उस काल का 'उपस् उषा' नाम पड़ गया। का-का ध्वनि में बोलने वाले को 'काका काक' कहा गया, तिर्-तिर् बोलने वाले को 'तित्तिर'। इन शब्दों की धातुओं से किस प्रकार व्युत्पत्ति दी जा सकती है। लोगों की जातियों, वंशों, प्रान्तों, गावों के नाम एक से एक ऐसे अजीब मिलते हैं, उनकी व्याख्या कौन किस धातु से करे, उनकी व्याख्या प्रकरण और वातावरण ही हैं, धातु-आतु कुछ नहीं। जिन कुछ साहित्यिक सार्थक नामों की व्याख्या धातु से करने का प्रयास किया जाता है, वे भी अपने नये वातावरण से, धातु से भिन्न कुछ और ही भाव रखते हैं। क्योंकि इनकी व्युत्पत्ति से प्राप्त तथा पृथक् स्वीकृत कोई निश्चित अर्थ हो ही नहीं सकता। अर्थ निश्चयात्मकता का मुख्य स्थल वाक्य है। कोई नाम बिना वाक्य के प्रयुक्त भी नहीं हो सकता। जप में नाम सम्बोधन है, वाक्य है। सापेक्ष है। व्युत्पन्न शब्द गौ, अश्व, तृण और पुरुष लीजिए। 'गच्छतीति गौ' व्युत्पत्ति ठीक कांगरू 'मैं नहीं जानता' के समान है। चलने वाले कौन जीव जात नहीं हैं। तब गमन धर्म को केवल गाय के मत्थे क्यों मढ़ा गया? भारतीय लोग पृथिवी को 'अचला' कहते थे, उसके नाम 'गौ' की व्युत्पत्ति में यह गमनधर्म कहां को जायेगा? जिसकी व्युत्पत्ति का अर्थ 'चलने वाली' है वह 'अचला' की बोधक कैसे हो सकती है? हां 'गौ' माने कौन 'गौ' होगा? छोटी, बड़ी, मध्यमा, गोरी, धौरी, काली, कजरी, पीली, नीली, धुमैली, किस जाति की, किस देश की, दुधारू, वंध्या, अबकी बेत की, दूर की बेत की, प्रौढ़ा, युवती, वृद्धा, आदि आदि? इसका निर्णय पृथक् पदत्व का 'गौ' शब्द किस प्रकार देगा? इसके यह माने हैं कि पृथक् पद की उच्चरित 'गौ' ध्वनि हमें किसी निश्चित अर्थ को देने में समर्थ

नहीं हो सकती। यदि गोत्व सामान्य कहें तो, कौन 'गोत्व'? विभिन्न प्रकार के सास्नाश्रृंग खुर ककुद्मत्ता का या विभिन्नवर्णवत्त्वैकत्व का या विभिन्नाकार-प्रकारत्व का, दोग्धीवन्ध्यात्व का या अन्य जातित्व का? यदि भर्तृहरि जी के कथनानुसार प्रथम स्वजाति का बोध मान भी लें तो अर्थ-जाति के बोध की निश्चायक कौन सी वस्तु होगी। अर्थ-जाति के निश्चय का पृथक् पदत्व में कोई ग्राहकत्व शक्ति देने वाला है ही नहीं। अतः समस्या सदा ही अधूरी रह जायेगी, यहाँ न प्रकरण है, प्रकरण सब बिना नियतवाचोयुक्तिता या नियतानुपूर्व्यीता के हैं। अतः पृथक् पद की व्युत्पत्ति और अर्थ दोनों की स्वीकृति अवैज्ञानिकता के साथ-साथ जितनी अनर्गल है वह स्वयं स्पष्ट है।

"स्वा जातिः प्रथमा शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते।
ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना॥"
(वाक्यपदीय ३-१-६)।

यह सब वाक्यान्तर्गत में ही सम्भव है।

वस्तुतः संज्ञा और क्रिया की स्थितियों में तनिक भी अन्तर नहीं है। जिस प्रकार एक क्रिया में आदि से अन्त तक अनेक स्थितियाँ होती हैं, उसी प्रकार संज्ञा किसी के जन्म से मरण तक की विभिन्न स्थितियों की सूचिका है, अतः जिस प्रकार क्रिया एक भाव या क्रिया की उत्तरोत्तर विकाससूचिका है उसी प्रकार संज्ञा भी संज्ञी की उत्तरोत्तर विकाससूचिका एक भाव ही है। जितने विकास उतने भाव, उतने ही अर्थ क्रिया और संज्ञा के होते हैं। जन्म समय का 'राम' नाम का अर्थ प्रौढावस्थासूचक 'राम' के अर्थ से उतना ही भिन्न है, जितना चूल्हे पर रखने समय की पकाने की क्रिया से, पानी उबलने के समय की क्रिया का। अतः प्रत्येक शब्द (नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात) अनेकार्थक या नानार्थक हैं। यह नानार्थकता एक भाव है। ये भाव संज्ञा और क्रिया के आरम्भ से अन्त तक छह मुख्य स्थितियों का विवेचन देते हैं, वैसे क्षण-क्षण के अलग-अलग भाव हैं। इन भावों की भावना का बोध किसी को भी वाक्य के बिना कदापि नहीं हो सकता। वाक्य के माने, परिच्छेद और निबन्ध भी है। जो कुछ भी एक क्रम या उपक्रम में कहा जाता है वह वाक्य ही है, परिच्छेद और निबन्ध प्रकरण और नियतानुपूर्व्यी से सम्बद्ध हो, एक महावाक्य बनाते हैं। एक-एक वाक्य प्रकरण और नियतानुपूर्व्यी के सूत्र से गुथा रहता है। प्रत्येक वाक्य में प्रत्येक शब्द और धातु विभिन्न अर्थों के रङ्ग में रंगा हुआ परिच्छेद को गुलदस्ता-सा बना देता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि जी यद्यपि पद स्फोटवादी हैं पर यथार्थता को छिपाने की हिम्मत उन्हें भी न रही, उन्होंने स्वीकार किया

है कि प्रत्येक शब्द बह्वर्थक या अनेकार्थक होता है "एकः शब्दो बह्वर्थोऽक्षाः पादा माषा इति" "ग्राम शब्दोऽयं बह्वर्थः" इत्यादि। भर्तृहरि जी ने इस बात को और अधिक स्पष्टता से कह दिया है "तस्माच्छक्ति विभागेन सत्यः सर्वः सदात्मकः। एकोऽर्थ शब्द वाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते।" मीमांसक भी निपात उपसर्ग और धातुओं की अनेकार्थता मानते हुए लिखते हैं, "निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः। अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम्॥" किसी अन्य महाशय ने यह कह दिया है कि शब्दों में प्रत्येक सब अर्थों को प्रगट करने की शक्ति रखता है। "सर्वे सर्वार्थवाचकाः"। रामानुज जी कहते हैं कि सभी शब्द परमात्मा के वाचक हैं। "सर्वे शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः, न च पर्य्यायत्वम्। द्वारभेदासम्भवात्।" "जीवात्मानुप्रवेशाज्जगति विभुरपि व्याकरोन्नामरूपे।" (तत्वमुक्तावली ४-८२)। उपसंहार में निबन्ध या प्रबन्ध या वक्तव्य एक राजप्रसाद के समान अखंड तत्व है, परिच्छेद उसके छोटे-बड़े कक्ष हैं, वाक्य उनकी दीवारें हैं, विराम उसके द्वार और वातायन और गवाक्ष हैं, पद उसके ईंटें या पत्थर हैं वर्ण उनके विभिन्न प्रकार के द्रव्य हैं, वर्ण मौनाकाश के मुलम्मे से पदों में एकात्मकता रखते हैं, पदरूप प्रस्तर या ईंटें एक दूसरे से आरोह-अवरोहावाले उदात्त-अनुदात्त स्वरितों के स्वर, अक्षरों की ध्वनि पर बलाघात ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि के परस्पर लघुत्व-गुरुत्व और सन्धि के बल से निर्मित मसाले सिमेन्ट या गारे से ऐसे जकड़े हैं कि उनकी पृथक्ता एकदम अपृथक्ता में, उनकी क्रमता एकदम अक्रमता में परिवर्तित होकर एक-रूपता अखंडता का स्वरूप लिए हैं, उनमें वर्णपद वाक्य स्वयं अपना एक एकत्वरूप, पुष्पत्वरूप (अनेक पंखुड़ियों के एक फूल सम) चित्र उपस्थित करते हुए वाच्यचित्र, व्यंग्यचित्र, भावचित्र सबको दीपक के समान स्वयं प्रकाशित करते हुए, शब्दब्रह्मरूप स्फटिकशिला में ज्ञानरूप अर्थ प्रतिबिम्बित कर एक अद्वैत ब्रह्म का सा स्वरूप उपस्थित करते हैं। "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणि-गणा इव" गीता के वाक्य में ब्रह्माण्ड के विभिन्न खगोलों की जिस एक सूत्रीय एकता का विवेचन है वह वाक्य परिच्छेद और निबन्ध में या शब्दब्रह्म में भी पूर्ण वैज्ञानिक रीति से घटित होता है। वर्ण और पद अपना स्वरूप व्यञ्जित करते हुए भी, वाक्य के लिए अपना स्वत्व समर्पण कर, अपनी पृथक्त्व की शक्ति अनुन्मीलित तिरोहित-सी कर अत्यन्त संकीर्ण-सी कर के वाक्य के एकत्व में उस पृथक्त्व की बलि चढ़ा देते हैं। फलतः पाक, स्फोट की नित्य धारणा करता है, ध्वनि हुई नहीं स्फोट उन्मीलित हुआ, स्फोट उन्मीलित हुआ नहीं कि अर्थ लग गया जिससे नाद, स्फोट और अर्थ तीनों में एकदम ऐसा अद्वैत, एकत्व है एक के सामने आने से सब सामने आ जाते हैं, भावात्मकता या नानार्थता

की कठिनाई को प्रकरण, नियतवाचोयुक्ति, नियतानुपूर्व्यी तत्व बिना किसी के प्रयास के अपने आप सुलझाती चली जाती हैं। यदि इस प्रणाली में कहीं भी विपथता का ठीक तादात्म्य न हो पाया तो एकदम टोककर रोक लगाई जाती है 'आपने क्या कहा ?' तब आगे बढ़ने दिया जाता है। ये सब काम वैद्युतीय तीव्र गति में होते हैं, शब्दाकाश के प्रकाश में होते हैं। प्रकाश से आरम्भ होकर प्रकाश में विलीन होते हैं, अन्त में ज्ञान के प्रकाश की एक ज्योति जगा जाते हैं। प्रत्येक वक्तव्य या वाक्य अपनी अलग पूर्ण सत्ता रखता है। वह शब्द अर्थ के अतिरिक्त, वाचक की अपनी व्यक्तिगत ध्वनि का, उन ध्वनियों के उस वक्ता द्वारा पूर्वापर सन्धि की विशिष्ट स्थिति का, उसके भाव व्यक्ति प्रकरण का, उनके संगत प्रकरणों से उसकी गहराई और छिछलता का, अन्त में उन सब के सम्मिलित एक प्रभाव का एक मनोहर चित्र उपस्थित करता है।

(३) स्फोट का रागात्मक पक्ष

अर्थवाद इतने ही व्याख्यान से पूरा नहीं हो जाता। यह तो अर्थवाद की भूमिकामात्र है। अर्थ तो वह वस्तु है, जिसे समझने के लिए हमारे भारतीय आचार्यों ने अपने जीवन की बाजी लगाकर, कलम तोड़ कर, ऐसी बारीकियों में प्रवेश कर रखा है कि उनकी प्रत्येक परत और तह के भूलभुलैये में पाठक अपने को खो बैठता है। प्रतिभा तत्व या पश्यन्ती नाम का तत्व जिस सूक्ष्म प्राणवायु बनकर अपने को स्थान और करणों में प्रयत्नों से घुटा कर ध्वनि-रूप अर्क बना डालती है, उसका स्वाद या रस स्फोटरूप स्फटिकशिला की चमक है। रस स्वयं ज्ञेय और ज्ञान का सम्मिश्रण होता है, सब कर्णों या वर्णों के न रस एकरूपता पा सकते हैं, न सब वर्णों में, प्रतिभा एक ही प्रकार के शब्दगुणों को बाहर घोटने के लिए भेजती है, भेज सकती है। प्रतिभा के शब्दाणु रागात्मक होते हैं। इन रागों को प्रेम, साहस, दया, घृणा आदि अनेक भागों में विभक्त किया जाता है। जिस प्रकार के रागाणुओं को प्रतिभा, प्रकरणवश बाहर प्रेरित करती है, उसी प्रकार का स्फोट रूप रस सामने उपस्थित होता है, श्रोता के पास भी वे रागाणु उपस्थित रहते हैं। अतः यह स्फोट उसके रागाणुओं को भी स्फोट रूप रस में परिणत कर उसे रसास्वाद का आनन्द देते हैं। प्रतिभाणु शब्दब्रह्माणु ही हैं, वही रागाणु हैं, वही स्फोट है। अतः पतिभा का ज्ञान प्रकाश या आत्मा स्फोट रूप में रस रूप में परिणत होकर हमें प्रकृति से वैसे ही ऊपर उठा देता है जैसे ध्वनि से स्फोट। इसी-लिए कहा है "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"। यह यही रस

रूप आत्मा, स्फोट रूप आत्मा है। अतः स्फोट को और प्रतिभा को दोनों को आत्मा भी कहा है। "स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते" "यन्नेत्रः प्रतिभात्माऽयम्" (वा० प० १-५१)। इस स्फोटात्मा की विभिन्न रागात्मकता की विभिन्नता की आत्मा को विभिन्न शरीर रूप ह्रस्व, दीर्घ, लघुगुरु, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, द्रुत, विलम्बित, मध्यमा वृत्ति, कोमल, कठोर, सामान्य ध्वनि का ऐसा बाना पहनाया जाता है कि प्रत्येक राग अपने पूर्ण आकार प्रकार का अभूतपूर्व अपूर्व, अमूर्त, शरीर धारण कर लेता है, इतना ही नहीं। व्यावहारिकता की 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' की मर्य्यादा या हिंसा की ठेठ सीढ़ी के त्याग की रक्षा हेतु ऐसी सभ्य रीति के स्फोट को उपस्थित किया जाता है, जिससे वह रीति ही स्फोट सी या स्फोटात्मा सी या वाक्यात्मा सी जचने लगती है। लोगों ने वामन की 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—(शब्दस्य-स्फोटस्य) को जो एक नकली अर्थ में समझा है वह पूर्णरूपेण भ्रमात्मक है। रीति, ध्वनि स्फोट या सभ्य रीति की ध्वनि का अहिंसात्मक स्फोटात्मा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जगत् में ऐसा कोई द्रव्य, पदार्थ, तत्व नहीं जो स्फोट में न हो, जिसे स्फोट व्यक्त नही कर सकता। स्फोट अपने को क्या व्यक्त करता है वह निखिल व्यक्त को भी व्यक्त करता है। जिसे वह व्यक्त करता है वह वही स्फोट है। स्फोट, ब्रह्माण्ड का अतितम सूक्ष्मतम शरीर या शब्दतत्व मय स्फटिक शिला है। जिस प्रकार शब्द ब्रह्म ज्ञानज्ञेय दोनों का एक तादात्म्यिक अर्द्धनारीश्वर स्वरूप है वैसे ही रागात्मक स्फोट, व्यक्तब्रह्माण्ड का एक तथा अव्यक्त प्रतिनिधि है, एक को जानने से दूसरे का स्वयं बोध अपने आप हो जाता है। अतः कहा है "एकस्य (स्फोटस्य) ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति" "एकः शब्दः (स्फोटः) सम्यग् ज्ञातः इहलोके परलोके च कामधुक् भवति।" कहा जा चुका है कि स्फोटवाद सांख्य का एक अंग है। रागात्मक शब्दाणु सब राजसिक या सततक्रियाशील कण हैं। इनकी दो प्रकार की गतिविधियाँ या सृष्टियाँ होती हैं, सात्विक और तामसिक। सात्विक में प्रेम दया वात्सल्य आदि प्रवृत्ति मार्ग के, और घृणा उद्वेग आदि निवृत्ति मार्ग के प्रवर्तक होते हैं, तामसिक में उत्साह क्रोध भय आदि भयंकर परिणामकारी हुआ करते हैं। स्फोट—वैकृत ध्वनि से व्यक्त प्राकृतध्वनि की स्फटिक शिला में प्रतिबिम्बित अर्थ चित्र है, हमारा मस्तिष्क रूप क्षीरसागर इन चित्रित रीलों के समान स्फोटों का एक विशालकाय सा अतितम सूक्ष्मतम संग्रहालय है, जिनका उद्घाटन पुनः वैकृत ध्वनि या अन्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष करणीय प्रयत्न, सिनेमा की तरह स्फुरते रहते हैं। शेष 'सांख्य-योग दर्शन के जीर्णोद्धार' के १८ वें अध्याय के अन्तिम भाग में देखने का कष्ट करें।

शब्द (वाक्य स्फोट) सम्बन्ध में जिस प्रकार पदवर्णों की पृथक् सत्ता मानने के लिए नामाख्यात उपसर्ग निपात विभागों की कल्पना का आश्रय, निरुक्तकार और शब्दानुशासनकारों ने लिया था, उसी प्रकार अपनी गलती निभाने के हेतु, उन विभागों की अर्थ प्रतीति के हेतु उन्हें अर्थ के भी चार नये भेदों की कल्पना करने के लिए विवश होना पड़ा। फलतः जिस प्रकार वे शब्द (वाक्य स्फोट) को टुकड़ों में देखने के आदी रहे, वैसे ही अर्थ को भी टुकड़ों में ही देखना पसंद करने लगे। जब यह स्थापित किया जा चुका है कि वर्ण पद की पृथक् सत्ता है ही नहीं, न हो सकती है, वाक्य अखंड स्फोट है, तो उस अखंड स्फोट का अर्थ खंडश प्राप्त होना तो दूर रहा, अखंड स्फोट से अर्थ का पृथक्, अलग होना भी तो एकत्व या अद्वैत या 'जीवात्मानोरिव' अपृथक्त्व या वागर्थाविव सम्पृक्तता या 'वाच्यादर्थमिवाभिन्नता' के स्पष्ट प्रतिपादित सिद्धान्त से किसी भी प्रकार असम्भव है। अतः इनके अर्थ प्रतीति के चार भागों की विचारणा ही निराधार है, पर जब इन बड़े धुरन्धरों ने इतना प्रयास कर रखा है तो उसे जान लेने में हर्ज ही क्या है, किसी बात को जाने बिना उसे सही-गलत कैसे कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से उनका मत यहां ज्यों का त्यों दे दिया जाता है, प्राचीन भारत में इनका बड़ा भारी प्रभाव या बोलबाला था, अतः प्रायः सभी शास्त्रकारों ने वाक्य स्फोट के स्थान में इनके पदवर्ण स्फोटवाद की भेड़ियाधसान का अनुसरण किया है, केवल एक आध आधे भटके मीमांसक को छोड़कर। अतः इन सबकी विचारधारा से परिचित हो जाना भी बुरा नहीं है, पर इनके खंडन करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि जैसा कहा गया है, अर्थ, अखंड और अद्वैत भाव से प्रतीत होता है। ये स्वयं खंडित मत इस प्रकार दिये गये हैं।

(४) पतञ्जलि-मत—शब्दानुशासनकारों का मत

(शब्द) पद से जो अर्थ संकेतित होता है वह चार प्रकार का होता है (१) जातिरूप अर्थ, (२) गुणरूप अर्थ (३) क्रियारूप अर्थ (४) यदृच्छा या संज्ञारूप अर्थ। यह शब्दानुशासनकारों का मत है। शब्द का (पदका नहीं पर वाक्य का) जातिरूप अर्थ मीमांसक भी मानते हैं उन्होंने इस जातिरूप अर्थ की अच्छी व्याख्या दी है।

"जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यथा।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम्॥
जायमानेव हि व्यक्तिर्जायते प्रतियोगिनी।
एक एव हि कालोऽस्या जातेः सम्बन्धजन्मनः॥

यथा रूपाद्यसम्बद्धा न व्यक्तिरुपलक्षते।
तथैव जात्ययुक्तेति''''''॥" (कुमारिल भट्ट-श्लोकवार्तिक)

गौः शब्द गोव्यक्तिवाचक नहीं, अपितु गोत्व जातिवाचक है जो उसे संसार भर में गोव्यक्ति सामस्त्य में अनुगत सास्नादि रूप अन्य प्राणि विलक्षण सा अलग प्रतिष्ठापित कर देता है, गोत्व जाति से असम्बद्ध गौ की प्रतीति उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार शुक्लादि गुण या चलनादि क्रिया से असम्बद्ध गौ की प्रतीति। गुणा रूप अर्थ के बारे में कहा गया है "गुणैक-नियतास्तावद् गन्धरूपरसादयः। गन्धत्वादि व्यवच्छिन्नगन्धादि गुण वाचिनः॥ तेषां न द्रव्य पर्यन्ता वृत्तिः क्वचन दृश्यते। न गन्धः पद्म इत्यस्ति सामानाधिकरण्यधीः॥" यदि द्रव्य और गुण एक होते तो कमल और उसकी सुगन्ध वाची शब्द पर्याय होते, पर ये दोनों समानार्थक नहीं होते। कमल जातिवाचक है सुगन्ध गुणवाचक, यह तो सर्वविदित प्रत्यक्ष बात है। क्रिया-रूप अर्थ दो प्रकार का माना गया है, धातुरूप निबन्धन और कृदन्त (घञादि) निबन्धन। "साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूप निबन्धना। सिद्धभावस्तु यस्तस्याः सघञादिनिबन्धनः॥" यदृच्छा या संज्ञारूप अर्थ द्रव्यवाचक अर्थ कहलाता है, यह व्यक्तिवाचक अर्थ देता है, इन नामों को यदृच्छा से चुना जाता है, अतः ये यदृच्छा अर्थवाची कहलाते हैं।

"एवं डित्थादिशब्दानां संज्ञात्वविदितात्मनाम्।
अभिधेयस्य सामान्यशून्यत्वाद्व्यक्तिवाचिता॥"

ये अपने पक्ष की दुर्बलता का अनुभव करते हुए अपने मत की पुष्टि का अन्तिम प्रमाण यह देते हैं कि भई हमने चार भाग कर ही लिए हैं तो उनको किसी प्रकार छाती से लगाये रखना एक कर्तव्य सा हो जाता है। यह विद्वज्जन अनुकूल तर्क नहीं हैं। ये यह स्वीकार करते हैं कि लौकिक व्यवहार के प्रवृत्ति और निवृत्ति का कारण व्यक्ति ही होता है, अतः अर्थ भी व्यक्ति ही होना चाहिये। पर ऐसा करने से एक व्यक्ति गो अर्थ अनन्त व्यक्ति गौओं का अर्थ देता हुआ आनन्त्य दोष लायेगा, दूसरे, जो गो शब्द एक गो का अर्थ दे चुका, वह यदृच्छा शब्द सा होकर दूसरे गौ का वाचक कैसे होगा? यह व्यभिचार दोष है, तीसरा वही कि हमारे चार भागों की व्यवस्था खतरे में पड़ती है। अतः अर्थ को व्यक्ति की उपाधि रूप में संकेतित माना जाय। उपाधि दो प्रकार की—वस्तुधर्म, और संज्ञासंन्निवेशित—है। वस्तुधर्म दो प्रकार का–सिद्ध और साध्य–होता है। सिद्ध पुनः दो प्रकार का है—पदार्थ का प्राणप्रद और विशेषाधानहेतुक। साध्य क्रियारूप उपाधि है। इनमें सिद्ध उपाधि वह है जो पदार्थ का प्राणप्रद है या जाति है। दूसरी सिद्ध उपाधि सजातीय व्यावर्तक

है, इसी को गुणरूप उपाधि कहते हैं, जिससे शुक्लत्वादि का बोध होता है। साध्यरूप उपाधि, अधिश्रयण से अवश्रयण तक पाचन क्रियादि के नाना व्यापारों का एक समूह है। संज्ञासंन्निवेशित उपाधि, व्यक्तिगत उपाधि है। यह पतंजलि जी का मत है (दे० कूपो रो ळः)। पर भर्तृहरि जी ने इस पूरे मत की पूरी-पूरि मरम्मत, 'सौ सुनार की एक लोहार की' कहावत चरितार्थ करते हुए केवल एक ही श्लोक से कर दी है "प्रकाशकानां भेदांश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते। तैलोदकादि भेदे तद् प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके।" (वा० प० १-१००) अर्थ पहिले दे दिया गया है। गुण क्रिया संज्ञा और जाति एक ही वस्तु है; जैसे एक वस्तु विभिन्न प्रकार के दर्पणों में विभिन्न आकार प्रकार रंग में दिखाई पड़ती है वैसे इन्हें एक के ये चार भेद प्रतीत हो रहे हैं।

(५) न्यायशास्त्र का मत—जाति-विशिष्टरूप अर्थ न कि जातिरूप अर्थ

जयन्त भट्ट जी ने लिखा है—अन्येषु तु प्रयोगेषु गांदेहीत्येवमादिषु। तद्वतोऽर्थः क्रियायोगात्तस्यैवाहुः पदार्थताम्॥ पदं तद्वन्तमेवार्थमाञ्जस्येनाभिजल्पति। न च व्यवहिता बुद्धिर्न च भारस्य गौरवम्॥ तस्मात्तद्वानेव पदार्थः। ननु कोऽयं तद्वान्नाम ? उच्यते वेदन्तानिर्देश्यमान शावलेयादि विशेषस्तद्वान्। न च सर्वत्रैलोक्यवर्ती व्यक्तिव्रातस्तद्वान्। किन्तु सामान्याश्रयः कश्चिदनुल्लिखित शावलेयादि विशेषः तद्वान्नित्युच्यते, सामान्याश्रयत्वाच्च नानन्त्य व्यभिचारयोस्तत्रावसरः (न्यायमञ्जरी पृ० २९६)। 'गां देहि' या इसी प्रकार के वाक्यों में क्रिया के सम्बन्ध की सहायता से गोत्वजातिविशिष्ट गाय का पदार्थ स्वयं निर्धारित हो जाता है। इसी जाति विशिष्टता को पदार्थता कहते हैं। कोई भी पद इसी प्रकार के जातिविशिष्ट अर्थ को स्वयमेव अर्पित कर देता है। इस प्रक्रिया में न तो शब्द और अर्थ के बीच कोई व्यवधान आने पाता है न मत में गौरव का दोष आता है। अर्थात् शब्द और अर्थ का तादात्म्य विच्छिन्न नहीं होता। वे स्थिति अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं जिस अर्थ की स्वीकृति में "यह नहीं वह, शावलेयादिविशिष्ट गोत्वादि जाति की विशिष्टता रहती है वह तद्वान् या जातिविशिष्ट है। त्रैलोक्यवर्ती व्यक्ति तद्वान् नहीं है, वह सामान्याश्रय है, जिससे आनन्त्य और व्यभिचार दोष, जैसे पतंजलिमत में आने लगे थे, नहीं आ सकते।" ये लोग उदाहरण में तो 'वाक्य' (गां देहि) दे रहे हैं, फिर भी पद की चर्चा कर रहे हैं, यह विलक्षण नहीं तो क्या है अन्यथा ये वाक्य स्फोटवादी से या कुछ-कुछ अभिहितान्वयवाद से समता सी

रख रहे हैं। इसका यह फल हुआ कि इन्हें स्वयं विदित् नहीं है कि वे किस पक्ष या मत का अनुसरण या व्याख्यान कर रहे हैं, भटके हुए हैं।

(६) बौद्धमत—अपोहरूपः अर्थः

अपोहवाद कई प्रकार का है और बौद्धमत चार प्रकार का; अतः प्रत्येक ने इस अपोहवाद की व्याख्या अपने-अपने स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुसार ढाल रखी है। अपोह सामान्य की व्याख्या यह है "या च भूमिर्विकल्पानां स एव विषयो गिराम्। अत एव हि शब्दार्थमन्यापोहं प्रचक्षते ॥" इसके अनुसार पदार्थ का स्वरूप न तो जाति है, न व्यक्ति है, न जातिविशिष्टता, वह एक प्रकार का अस्पष्ट स्वरूपानुभूतिरूप अन्यापोह या अपोहरूप अर्थ है। जब हम किसी बात का निर्णय करते हैं तो वह निर्णय एक स्पष्ट मूर्तिक न होकर एक ऐसी विकल्प प्रतिमा की धारणा बनाता है जो साध्य या लक्ष में अपना तादात्म्य करने में समर्थ हो जाता है, भले ही दोनों स्वरूपों में बड़ा-छोटा या उत्तम-मध्यमाधम रूप कितना ही अन्तर सा अनुभूत हुआ करे। अनुभूति इसी प्रकार हुआ करती है। यही बात वाणी से उद्बोधित स्वरूप की भी होती है। ऐसे अर्थ स्वरूप को अपोह या अन्यापोह अर्थ कहते हैं। बौद्धों के चार मतों के 'अपोह' का यह भेद है। "चतुष्प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः। अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहुमन्यते ॥ सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षो ग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः। आकार सहिता बुद्धिः योगाचारस्य सम्मता ॥ केवलां संविदां स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥" (विवेकविलास ८–२७१ से ७३ तक)। बाह्यार्थानुमेयवादी सौत्रान्तिकों का कहना है कि जो आभ्यन्तर ज्ञेय तत्त्व है वह बहिर्वद् अवभासमान होता है 'यदन्तर्ज्ञेयतत्त्वं तद्बहिर्वदवभासते'। जयन्त भट्ट ने इनके मत की विवेचना में लिखा है "यद्यपि विधिरूपेण गौरश्व इति तेषां प्रवृत्तिस्तथापि नीतिविदोऽन्यापोह विषयानेवतान् व्यवस्थापयन्ति। यथोक्तं 'व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयन्ति न व्यवहर्तारः 'इति' सोऽयं नान्तरो न बाह्योऽन्यएव कश्चिद् आरोपित आकारो व्यावृत्तिछाया योगात् च तदपोह इति व्यवह्रियते तृतीयमसत्ख्यातिगर्भा सरणिः।" "यह अपोहवाद असत्ख्यातिमूलक है। यह अर्थ न आभ्यन्तर है न बाह्य, पर एक आरोपित सा अनुमेय सा स्वरूप है, पर व्यावर्तक छायायोगरूप अर्थ है। इसी तरह गौ अश्व आदि के अर्थ अपोहरूप में प्रतीत होते हैं, व्यवहार में ऐसी ही अनुभूति होती है, व्याख्यातार कुछ लिखा करें।" विज्ञानवादी (योगाचार दल के) बौद्धों का कहना है कि अपोह का स्वरूप अपना-अपना सा प्रतीत होना है। "नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥"

"बुद्धि से किसी दूसरे का अनुभव नहीं होता, उसका कोई दूसरा अनुभव है ही नहीं। उसमें ग्राह्य ग्रहकता लक्षण का भी अभाव है, अतः वह स्वयं अपने ही रूप में प्रकाशित होती है।" जयन्त भट्ट ने इसे इस प्रकार कहा है "अथवा विकल्प प्रतिबिम्बकं ज्ञानाकारमात्रकमेव तदबाह्यमपि विचित्रवासना भेदोपाहितरूपभेदं बाह्यवदभासमानं लोक यात्रां विभर्ति व्यावृत्तिछाया योगाच्च तदपोह इति व्यवह्रियते। सेयमात्मख्यातिगर्भा सरणिः।" इसे 'आत्मख्याति' या 'स्वयंख्याति' मार्ग भी कहते हैं। इस मार्ग में बुद्धि अर्थ के आकार-प्रकार में तदाकारता को प्राप्त हो जाती है। जो स्वयंवेदनरूप बुद्धि है वही अर्थ भी है। फलतः शब्द और अर्थ का एक प्रकार से तादात्म्य सा हुआ। माध्यमिक के मत में अर्थ एक स्वस्था संविद् है, यह दो प्रकार का होता है ग्राह्य, और अध्यवसेय। प्रथम निर्विकल्पकरूप अर्थ है, द्वितीय अध्यवसायरूप। प्रथम कल्पना में अपोहरूप है द्वितीय अध्यवसाय में क्षणिक शून्यतया अपोढ अर्थ है। "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्। विकल्पो वस्तुनिर्भासा दसंवादादुपप्लवः। ग्राह्यं वस्तु प्रमाणं हि ग्रहणं यदितोऽन्यथा। न तद्वस्तु न तन्मानं शब्दलिङ्गेन्द्रियादिजम्॥" वैभाषिक मत के बौद्धों का कहना है कि अर्थ ज्ञान से अन्वित रहता है। ये बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी हैं। वह बाह्यार्थ प्रत्यक्ष-आलयविज्ञान के सन्तान (क्रम) से व्यतिरिक्त, कादाचित्क प्रवृत्ति विज्ञान का हेतुभूत अर्थ है। आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान का अन्तर यह है "तत्स्यादालय विज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्। तत्स्यात्प्रवृत्ति विज्ञानं यन्नीलादिक मुल्लिखेत्॥" इन सब अपोहवादी बौद्धों का नारा यह है :—

> तुल्येऽपि भेदे शमने ज्वरादेः काश्चिद्यथावौषधयः समर्थाः।
> सामान्यशून्या अपि तद्वदेव स्युर्व्यक्तयः कार्यविशेषयुक्ताः॥
> विशेषणादि व्यवहारक्लृप्तिः तुच्छेऽप्यपोहे न न युज्यते नः।
> अतश्च मा कारि भवद्भिरेषा जात्याकृतिर्व्यक्ति पदार्थचिन्ता॥

(७) आलंकारिकों का मत

विशेष—पतञ्जलि मत से लेकर अबतक जिन-जिन अर्थवादों का उल्लेख किया जा चुका है उनके लेखकों का पाला भाषा से नहीं पड़ा। ये शास्त्र-लेखक हैं, तत्त्व विचारक हैं, टुकड़े टुकड़ों में विवेचन करने के आदी हैं। अतः वाक्यात्मा की भी इन्होंने जो शल्य चिकित्सा कर डाली है वह भाषात्मा को न पहिचान कर। वे उसे मुर्दा शव मानकर अपनी व्युत्पत्तिरूप चैतन्यता देने के असफल प्रयास में, रागात्मक प्रतिभा (स्फोट) की हत्या मात्र कर

गये हैं। उधर आलंकारिकों ने अपने काव्य को स्फोट और उसका कारण प्रतिभा मानकर भी उक्त शास्त्रकारों की विचारधारा के प्रबल प्रवाह में चारोंखाने चित्त होकर बहने की जो बड़ी भूल की उसके लिए ये क्षमादान के पात्र भी नहीं हो सकते, क्योंकि (१) ये भाषा के पुजारी हैं, (२) स्फोट और प्रतिभा के परम उपासक भी।

स्फोटवाद (वाक्यस्फोट) की दृष्टि से काव्य या वाक्य या शब्द की सर्वोत्तम परिभाषा वामनाचार्य लिखित 'रीतिरात्मा काव्यस्य' है। अभाग्य यह है कि आज तक के सभी समझदारों ने इस 'रीति' शब्द का अर्थ अलंकारता लगा रखा है। अतः हिन्दी वालों ने केशव, बिहारी प्रभृति के अलंकारमय काव्यों को रीतिकाव्य और उनके युग को रीतिकाल नाम तक दे दिया है। विद्वद्वृन्द ? रीति एक शैली है, शैली वाक्यों (स्फोट) की होती हैं, वह तीन प्रकार की शैली में अभिव्यक्त होती है—ठेठ सीधी शैली, लक्ष शैली और व्यञ्जक शैली। यदि इन शैलियों को अलंकारमयी शैली कहें तो अनर्थ तो नहीं होता, पर इनमें उच्चकोटि के कहे जाने वाले ध्वनिकाव्य, मध्य कोटि के गौण ध्वनि-काव्य, सीधे वाक्यों से व्यक्त उत्तम, मध्यम, अधम सब आ जाते हैं। अतः रीति की आलंकारिकता रुद्रट भामहादिकों की केवल अलंकारवादी शैली (रीति) से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार वामन की काव्य की परिभाषा में रमणीयार्थ प्रतिपादकता, रसात्मकवाक्यता, वक्रोक्तिपरता सभी लक्षण सम्पन्न हैं। 'रीति' को गलत समझने के बीज, और महान् अनर्थ के बीज का मूल, व्युत्पत्ति या 'निरुक्ति' नाम के भाषा से एकदम असम्बद्ध तत्त्व ने बोया और खड़ा किया। यह व्युत्पत्ति या निरुक्ति कुछ-कुछ उपकारक होते हुए शब्द की एक-दो अर्थ की नकली व्याख्या दे सकती है, पर हम देख आये हैं कि संज्ञा धातु उपसर्ग निपात के उतने अर्थ होते हैं जितने वाक्य हैं, तब यह निरुक्ति नितान्त असफल होकर एक भयानक धारणा छोड़ गई कि जो अर्थ निरुक्तिसाध्य है वह अभिधा या वाच्य है, शेष अर्थ लक्षणा या व्यञ्जना वाच्य। यह धारणा महान् अनर्थकारिणी, स्फोट नाशकारिणी, तो थी ही, उससे अधिक अब्रह्मण्य या उल्कापात तब हुआ जब उक्त धारणा को सचमुच सच्चा समझ कर आनन्द-वर्द्धनाचार्य और मम्मट जैसे उद्भट आलंकारिकों की कलम ने लिख डाला कि वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ और लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यञ्जित होता है; और वाच्य अर्थ मुख्य है, इस मुख्य अर्थ से अमुख्य अर्थ 'लक्षणा' लक्षित होती है, ध्वनि वह है जो अविवक्षित वाच्य है या जिसमें वाच्यार्थ अर्थान्तर संक्रमित हो या अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि हो। "समुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो, व्यापारोऽस्याभिधीयते। मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्॥ अन्योऽर्थो लक्ष्यते

यस्सा लक्षणारोपिता क्रिया (का० प्र० २–८,९)" "अविवक्षित वाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद्ध्वनौ। अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्" (का० प्र० ४–२४)। देखिए ये कैसी अवैज्ञानिक और असंगत बात कह रहे हैं ? इनका मुख्य अर्थ, वाच्यार्थ या अभिधा है, लक्ष्यार्थ इनके मत से गौण या अमुख्य है, व्यङ्ग्यार्थ में इनका वाच्यार्थ अविवक्षित तिरस्कृत या अर्थान्तर संक्रमित है। इसके यह माने हुए कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ न तो मुख्यार्थ हैं न वाच्यार्थ ही हैं। इनका वाच्यार्थ या अभिधा का क्या अर्थ है यह यही जानें। इतना अवश्य है जो ये कह रहे हैं वह सोलह आने लगत है। इनके मस्तिष्क में दो बातें हैं, एक यह कि आप किसी नये अपरिचित, अपठित, अश्रुत वाक्य को पढ़ कर उससे कुछ अजीब अर्थ लगा रहे हैं, पर वक्ता को दूसरा अर्थ अभीष्ट है, उसे गुरु जी को बताना पड़ा तब समझ में आया। पहिले अर्थ को ये वाच्य या मुख्य कहेंगे, दूसरे को लक्ष्य या व्यंग या तिरस्कृत या अमुख्य या अविवक्षित। यह तो उलटा अर्थ है। सबसे पहिली बात यह है कि मुख्य अर्थ वह है जो वक्ता की रागात्मक प्रतिभा ने चित्रित कर अभीष्ट बनाया है, दिये उदाहरण में, अतः मुख्य अर्थ वह है जिसे आप नहीं समझे थे जिसे गुरुजी को समझाना पड़ा था। समझ में क्यों नहीं आया था ? और जो अर्थ लगा रहे थे वह क्यों लगा था ? इसका कारण आपके पास उक्त वाक्य का स्फोट नहीं था, अब हो गया है, सदा रहेगा। जो अर्थ आप लगा रहे थे वह दूसरे वाक्य का स्फोट था। वह भी मुख्य अर्थ ही था, पर यहां यह अनर्थ था, या यह अर्थ अजागलस्तन की तरह निरर्थक क्रीड़ा का खिलौना सा था। तब क्या एक ही आनुपूर्वी वर्णपदों से बने वाक्य के कई स्फोट होते हैं क्या ? नहीं, स्फोट तो एक ही होता है, पर प्रकरण आकांक्षा योग्यता आदि वशात् एक ही स्फोटसे विभिन्न अर्थ होते हैं। इसी के अभाव में, आपकी आकांक्षादि और प्रकरण की विभिन्नता ही विभिन्नार्थ की प्रकाशिका बनी थी। अपने प्रकरणादि में आपका लगा अर्थ मुख्य था, यहां के प्रकरणादि वशात् गुरु उद्बोधित अर्थ भी मुख्य ही है। यहां आपका अर्थ खिलौना है, वहां आपके अर्थ प्रकरण में गुरु का बताया; 'विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रतीयते' इसी लिए कहा है, शब्द की विषयताप्राप्ति पाक या अभ्यास है जिसमें प्रकरण, आकांक्षा, योग्यता सब सम्मिलित हो जाते हैं। यह लक्ष और व्यञ्जक शैली या रीति है जिसका अर्थ सीधे स्फोट से या स्फोट में तादात्म्य से प्रतीत होता है, लक्ष और व्यञ्जक जैसे अर्थ की कोई पृथक् अर्थ रूप सत्ता नहीं है। यह स्फोट की रीति मात्र है, इनके उद्बोधक माने गये वाच्यार्थ को बीच में व्यवधान रूप से खड़े होने का कहीं अवसर ही नहीं आ सकता। अर्थ किसी

भी प्रकार का हो वह तो स्फोट में तादात्म्य से रहता है, इसे सब मानते हैं, तो उनके ऐसे वाच्यार्थ जैसे तत्व की जब कोई पृथक् सत्ता है ही नहीं तब वह उनके बताये अमुख्य या तिरस्कृत या अविवक्षित अर्थ जैसे दूसरे अर्थ को किस प्रकार प्रकाशित कर सकता है ? यह नितान्त असभाव्य अवैज्ञानिक वर्णन है ही, पुनः जिस काव्य को ये उत्तम कहते हैं, उसके अर्थ को अमुख्य या अविवक्षित कहते हैं यह दूसरी उलटी गंगा है। लक्ष व्यंग शैली में जो अर्थ वक्ता को अभीष्ट है वही मुख्य है, इनका अमुख्यार्थ ही काव्य का मुख्य अर्थ है, जिसे ये मुख्य कह रहे हैं वह अर्थ यहाँ है भी नहीं; है भी तो क्रीड़ा पात्र या खिलौना या अजागलस्तन सम वेकार लटका हुआ, प्रतिध्वनि सम अमुख्य, नितान्त अमुख्य अविवक्षित और सुतरां तिरस्कृत। इन्हें लक्षणा और व्यञ्जना की व्याख्या वैज्ञानिक ढंग से करनी चाहिए थी जिसका प्रदर्शन करने में ये असमर्थ रहे, उनके लक्षणा भेद और व्यञ्जना भेद इसलिए ठीक हैं कि ये लक्ष रीति और व्यञ्जक रीति के स्फोटों की व्याख्या करते हैं। अन्यथा इनकी सब परिभाषायें अवैज्ञानिक हैं, स्वविषय विरोधिनी और अग्राह्य हैं[1]।

इन सब प्रकार के अभिधारीति लक्षणारीति और व्यञ्जनारीति आत्मा वाले स्फोट में उनके तादात्म्य से रहने वाले अर्थों की प्रतीति प्रकरण आकांक्षा योग्यता सन्निधि प्रभृति से स्वयं हो जाती है। जब ये लोग इन अर्थों की अभिव्यक्ति की प्रस्तावना करते हैं तो ये इन प्रकरणादिकों को बिना दिये आगे बढ़ भी नहीं सके हैं, यही अकाट्य प्रमाण है कि इनके अभिव्यञ्जन के मुख्य उपाय यही प्रकरणादि हैं, अन्य भूमिकायें कपोलकल्पित हैं। अभिधा लक्षणा व्यञ्जना सभी मुख्य वाच्यार्थ हैं। इनमें रीति का भेद है, अभिधा सीधी ठेठ रीति है, लक्षणा शैली छायावाद है, समासोक्त्यादि श्लेषादि सन्निधि योग्यता आकांक्षा गर्भाशया रीति है, व्यञ्जना शैली मुख्यतः प्रकरण और तात्पर्य वाची गूढ शैली है जिसे आजकल अभिव्यञ्जनावाद या प्रौढोक्ति शैली या रीति कहना उचित है, ये वाक्यों या स्फोटों की रागात्मक विशेषताओं की उल्लेख कारिणी रीतियाँ हैं जो स्फोट से या वाच्यार्थ से या मुख्यार्थ से एकदम अभिन्न और तादात्म्य रूपिणी हैं।

(दे० पीछे आलंकारिकों का स्फोटवाद)।

(२) दूसरी बात जो इन आलंकारिकों के मस्तिष्क में भ्रम की तरह समायी

---

१ काव्य की उचित परिभाषा यह होनी चाहिए (१) रमणीयार्थ (रीति) प्रतिपादकः शब्दः (स्फोटः) काव्यम्। (२) वाक्यं रसरीत्यात्मकं काव्यम् (वाक्यं = स्फोटः)। (३) ध्वनि विषयता शब्दः काव्यम्। (४) वक्रोक्तिः काव्यम् (उक्ति = स्फोटः) (५) रीतिरात्मा काव्यस्य = रमणीयरीतिः काव्यम्।

बैठी है वह यह है कि ये 'कर्मणि कुशलः' वाक्य में 'कुशल' शब्द में लक्षणा का अध्याहार करने के लिए, इसकी 'कुशान् लातीति' कुशलः व्युत्पत्ति की सुझाई 'दर्भग्रहण अर्थ' की असत्ता को कारण मानकर व्यर्थ में बात का बतंगड़ खड़ा करते हैं। 'कर्मणि कुशलः' में 'कुश' का कहां आभास होगा। शब्द तो 'कुशल' है कुश नहीं। 'कुशलः' अखंड स्फोट है, वह भी 'कर्मणि कुशलः' के स्फोट के साथ पूर्णाखंड है। इसके कुश + ल होने की इस वाक्य में आकांक्षा आशंका ही कहां से हो सकती है? इन्हें विदित होना चाहिए था कि "पदे न वर्णा विद्यन्ते, वर्णेष्ववयवा न च। वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न विद्यते ॥" (वाक्यपदीय १–७३)। वाक्य स्वयं अखंड है, वाक्य के पद भी अखण्ड हैं। अतः उक्त व्युत्पत्ति का कभी कोई अवसर आही नहीं सकता। हां जिसके पास 'पाक' नहीं है उसे किसी भी प्रकार कोई भी अर्थ नहीं लग सकता है। इस प्रकार की व्युत्पत्तियों से वैसा ही अर्थ होने लगेगा जैसा बाबा चेला ने मिलकर गीता के 'दोग्धा गोपालनन्दनः' वाक्य के 'दोग्धा' के 'दो गधा' या 'दो गदहा' अर्थ लगा लिया था। 'कुशल' का अर्थ कुशल ही है जिसे 'कुशल' शब्द का स्फोट उपलब्ध है उसे 'कुश लाने' वाले अर्थ की गंध भी नहीं लग सकती अर्थ की बात तो दूर रही। अतः इस प्रकार की लक्षणा भी किसी भी प्रकार स्थापित नहीं की जा सकती, यह इनकी जबरदस्ती की लक्षणा है, एकदम त्याज्य है। यदि ऐसा होने लगे तो सभी वाक्य कबाड़ी खाने से अक्रमोपन्यस्त हो जाँय और (पवित्रं) का अर्थ पवि (वज्रको) + त्रं (त्राणकर्ता) हो, मानव का, मा (नहीं, मुझको) नब (नया) होने लगे। यह भाषा की भद्द है, व्युत्पत्ति नहीं। अर्थ तो चौपट हो ही गया।

(८) अन्वयवाद या तात्पर्यार्थवाद—मीमांसकों का मत

अन्वयवाद या तात्पर्यार्थवाद (मीमांसक मत) को दो भागों में विभक्त किया गया है (१) अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद। ये दोनों मत वर्णपद स्फोटवादी और वाक्यस्फोटवादी मतों के स्फोटहीन वादों के कंकाल से हैं। स्फोट को न मान कर उसका काम अन्वय या अन्वितता से चलाना चाह रहे हैं, पदों और वर्णों के सामान्य स्वरूप से वाक्य के स्वरूप और अर्थ में आकाश पाताल का अन्तर आ जाता है। अतः इन्हें एक तीसरे तत्व 'तात्पर्यार्थ' को स्वीकार करने की आवश्यकता पड़ी है। ये कितना ही करें वर्णपद वाक्य की ध्वनियाँ अनित्य होती हैं। अतः उक्त तीनों मिलकर भी,

यद्यपि उनका मिलना तो नितान्त असम्भव है— वाक्यार्थ को किसी भी रूप में उपस्थित नहीं कर सकते। अभिहितान्वयवाद वाले वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ मानते हैं; अन्विताभिधानवादी वाक्यार्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। अभिहितान्वय वाद के संस्थापक कुमारिल भट्ट हो गये हैं जो अपने समय के धुरंधर मीमांसक थे। इनका कहना है कि जिसे वाक्यार्थ कहते हैं वह पदों या वर्णों का अर्थ न होकर, उन पदों और वर्णों के अन्वय से उद्भूत एक नवीन सा अर्थ है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहना समुचित है। अभिहित = पद और वर्णों की आनुपूर्वी है, उनका पारस्परिक *अन्वय या सम्बन्ध से तात्पर्य प्रकार का—वर्णपदों के* अर्थों से भिन्न नवीन सा—अर्थ प्रतीत होता है। इसीलिए इसका नाम अभिहितान्वय वाद पड़ा है। अन्वय से जो नवीन सा अर्थ प्रतीत होता है उसका कारण, आकांक्षा-पदों की समीपता का संसर्ग का प्रभाव, योग्यता—एक पद के अभिधेय अर्थ का दूसरे पद के अर्थ से सामञ्जस्य पूर्वक निर्वाहित होना, और सन्निधि—क्रिया रूप पदार्थ का पूर्वपदानुकूल संसर्गीय अर्थानुसार ढल जाना होता है। इनके मत की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये वाक्य के अर्थ को तो भाषा की या अर्थ की एक इकाई मानते हैं पर पदों की पृथक् सत्ता को माने बिना भी नहीं रह सकते; जिसकी जिद के लिए इन्होंने भी एक अवैज्ञानिक तर्क उपस्थित कर ही दिया है जो सम्भवतः शब्दानुशासनियों और निरुक्तकारों की गहरी छाप का एक नमूना सा है। ये कहते हैं कि यदि स्वतन्त्रपदों की सत्ता न मानी जाय तो, नवीन वाक्यों का अर्थ, जो हमें बराबर लगता रहता है—नहीं लगना चाहिए था। पुनः इसकी पुष्टि में ये पदों के एक ऐसे अर्थबोध की आवश्यकता पर जोर देते से लगते हैं जो शुद्ध पद का वाक्य विनिर्मुक्त अर्थ हो। ये तर्क निराधार हैं। जिन वाक्यों का हमें बराबर अर्थ लगता जाता है, चाहे वे पुराने हों या नये, उनके स्फोट का हमारे मस्तिष्क में नित्य स्थान बना रहता है, बिना इसके किसी को किसी का अर्थ लग ही नहीं सकता। अतः पदों की पृथक् सत्ता तथा उनके शुद्ध वाक्य विनिर्मुक्त अलग अर्थबोध का प्रश्न भी नहीं उठता। न्यायमञ्जरी ने इस मत की व्याख्या इस प्रकार दी है (पृ० २६५)। "तस्मात्स एव (अभिहितानामन्वय एव) श्रेयान्। पदेभ्यः प्रतिपन्नास्तावदर्थाः आकांक्षायोग्यत्ववशेन परस्परमभिसम्बध्यन्ते यो येनाकांक्षितो यश्च सन्निहितो यश्च सम्बन्धुं योग्यः स तेन सम्बध्यते नातोऽपरः···तदुक्तम्—पदानि हि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापारा अथेदानीमर्था अवगता वाक्यार्थं सम्पादयन्ति।" ये लोग पदस्फोटवादी हैं, पर इन्हें यह अनुभव हो गया है कि पदस्फोट को मानना कच्ची गोली से खेलने के समान है। फिर भी अपनी शर्म फेड़ने के लिए, पदस्फोट

की जिद न छोड़ने की विवशता, इन्हें पदस्फोट में आकांक्षा योग्यता सन्निधि का मुलम्मा चढ़ाने और उनसे उद्भूत वाक्यार्थ को अब वाक्यार्थ भी कैसे कहें, इसलिए उसे एक नया नाम तात्पर्यार्थ देने की इतनी बड़ी लम्बी प्रक्रिया, जिसे द्रविड़ प्राणायाम कहें तो अत्युक्ति न होगी, अपनाने को बाध्य कर रही है। यह तात्पर्यार्थ, आलंकारिकों के मुख्य अमुख्य अर्थों की तरह बिलकुल खोखला है। प्रत्येक वाक्य में पदों की जो नानार्थकता अनिवार्य रूप से आ जाती है, उसकी रोकथाम के उपाय आकांक्षादि नहीं, वरन् वाक्य की अखंड एकता है जिसकी व्याख्या प्रकरणादि, बिना इतने रगड़ों झगड़ों के, स्वयं कर देते हैं। फलतः इनका तात्पर्यार्थ इनको लज्जावनत किये हारा हुआ सिद्ध कर रहा है। जिस प्रकार हमारा शरीर एक है, उसके जोड़ मोड़ (रूप अन्वय) अलग नहीं हो सकते वैसे ही वाक्य का अन्वय पृथक् नहीं हो सकता।

(९) अन्विताभिधानवाद

यह वाक्यस्फोटवादी मत सा है। इस मत के प्रवर्तक (मीमांसा में) प्रभाकर गुरु हैं। इनका कहना है कि जिसे वाक्यार्थ कहते हैं वह यद्यपि अभिधावृत्ति विषयभूत अर्थ है, पर यह अभिधावृत्तिमूलक अर्थ आकांक्षादि-वशात् परस्परानुषक्त होकर संसृष्ट पदार्थरूप एक अखण्ड वाक्यार्थ देता है। परस्परानुषक्त पदवृत्ति विषयभूत अर्थ भी अभिधा तो है, पर पदसंसर्ग को पदार्थ से पृथक् करना और (तात्पर्यरूप) असंसृष्ट पदार्थ को अभिधावृत्ति विषय मानना, तथा संसर्ग या अन्वय को तात्पर्य वृत्ति विषय कहना, एक अनावश्यक और व्यर्थ कल्पना है। मनुष्य का वाग्व्यवहार पदों से नहीं वरन् वाक्य से ही सदा हुआ करता है। पद की प्रतीति केवल वाक्य में ही हो सकती है; पृथक् कहीं नहीं। अतः पदार्थ एक उपरक्त वस्तु है। वाक्यार्थ तभी सम्भव होता है जब एक पद दूसरे पद के अर्थ से उपरक्त या संवलित रूप में सम्बद्ध हो, वह शुद्ध रूप कहां रह सकता है ? कोई भी वक्ता एक अकेले पद को तो बोलता नहीं। जहाँ एकपदीय हां ना वाक्य हैं वे तो आपेक्ष वाक्य ही हैं, अन्यत्र एक पद का कोई अर्थ या प्रयोजन भी कुछ नहीं होता। वाक्यान्तर्गत पद, इसीलिए, परस्पर अन्वित या सम्बद्ध अर्थ का ही अभिधान करते हैं। पदों का अर्थ एक दूसरे से सदा असंपृक्त कभी हो ही नहीं सकता। अतः अन्विताभिधानवादी मत माने बिना वाक्यार्थ लग नहीं सकता। जिसकी व्याख्या न्यायमञ्जरी ने इस प्रकार डंके की चोट में कह कर लिखी है।

"अर्थं प्रकरण प्राप्त पदार्थान्तर वेदने।
पदं प्रयुज्यते यत्तद् वाक्यमेवोदितं भवेत् ॥

(१०) सांख्यमत

स्फोटवाद का आविर्भाव सांख्ययोग दर्शन की देन है। यह कहा जा चुका है। सांख्य में 'शब्दों का विशिष्टाविशिष्टाभिधेय निबन्धनत्व' माना जाता है। यह भाषा, न्याय निरुक्त शब्दानुशासनकारों को समझाने के लिये दी गई है। विशिष्ट रूपादि गुण से अविशिष्ट द्रव्य की अभिधेयता का एकसूत्री निबन्ध शब्द और शब्दार्थ (वाक्य और वाक्यार्थ) का प्रत्यायक होता है। शब्द और अर्थ में इस प्रकार का तादात्म्य बन्धन या सम्बन्ध है। शेष सब वाक्यस्फोट मत में स्पष्ट है। जो मत अन्य विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं वे सब उक्त मतों के ही उदर में समा जाते हैं।

अतः उनका उल्लेख व्यर्थ में विस्तार बढ़ाने के अतिरिक्त अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं होगा यह सोचकर, नहीं किया गया है।

अर्थबोध की क्रमिक पर सामूहिक शैली जिनकी संकेतकारिता युगपद् (अभ्यास से) होती है।

अन्त में अर्थबोध में जो वास्तविक प्रणाली अनुभूत होती है उसका विवरण देकर इस प्रकरण को पूरा कर लें। अर्थ का संकेत स्फोट से होता है, स्फोट वाक्य ध्वनि से स्फोटित होता है। (१) सबसे पहिले श्रुति शुद्धि या शुद्ध श्रवण अपेक्षित है कि वाक्य की जो ध्वनि है वह या उसका कोई अंग किसी अन्य अनुरूप वाक्य या वाक्यांश की ध्वनि समान सुनकर भ्रममूलक श्रुति का जनक तो नहीं हो पड़ा है, इसीलिए कभी-कभी हम पूछ बैठते हैं 'आपने क्या कहा' पुनरुक्ति से शुद्ध श्रुति का निर्धारण कर लिया जाता है। यह वाक्य की ध्वनि निश्चायकता कहलाती है। (२) वाक्य केवल ध्वनिरूप में या लिपिरूप में प्राप्त होता है कभी-कभी इङ्गित रूप में भी मिलता है। अतः लिपि और इङ्गित भी वाक्यार्थ संकेतकारिता के कारण है, यह लिपींङ्गित कारणता मानी जाती है (३) वाक्य में वचन और लिंग का समाहार भी होता है इन्ही के अनुरूप वाक्य की संकेतकारिता अपनी पृथक् सत्ता पाती है, पर इनका वाक्य से पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, ये वाक्य के रूपाकार निर्णायक से, तादात्म्य से वाक्य में ही सम्बद्ध रहते हैं। (४) वाक्य शैली की कर्तृकर्मभाव तीन या अन्य शैलियों में जिन्हें आलंकारिक भूल से अभिधा लक्षणा व्यञ्जना नामों से कहते आ रहे है—किस शैली में प्रयुक्त है ? यह शैली भी वाक्य की अर्थ संकेतकारिता में कम हाथ नहीं बटाती। यह स्पष्ट है कि शैली तो वाक्य की शरीरिणी ही होगी इसका भी वाक्य से पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। (५) यह निर्धारण कि वाक्य या वाक्यांश किस

अवस्था या काल या व्यवस्था या सन्दर्भ या प्रकरण से तात्पर्य रखता है ? इसके निर्धारित किए बिना वाक्य अपने निश्चित अर्थ की ओर संकेत करने में असमर्थ होता है। यह काम भी वाक्य का समूचा शरीर निर्धारित करेगा; उसका कोई पृथक् अंग पद वर्ण आदि नहीं। कुछ लोग इसे भूल से 'अर्थ-वाचकान्तरता' कहते हैं जैसे अंग्रेजी में सेमान्तिक या मीनिङ्ग जिनका कोई तात्पर्य ही नहीं होता। यह अवैज्ञानिक भाषा है, भाषातत्व शास्त्रीय नहीं कही जा सकती। (६) अर्थ भावना में प्रायः सामाजिक शैली का प्रभाव रहता है प्रत्येक समाज की रहन, सहन, बोलचाल, वेष, भूषा, खाना, पीना आदि की शैली कुछ न कुछ भिन्न होती ही है, प्रत्येक समाज और भाषा की अभिव्यञ्जन शैली भी इसीलिए अपनी भिन्नता या स्वतन्त्रता बरतती है। 'अवतार' का रूप मध्यपूर्व में ह० महम्मद सा, यूरोप में म० ईसा सा, भारत में राम कृष्ण सा भिन्न रूप, वेष, कर्मों वाला होगा। यह सामाजिक संकेतकारिता है, वाक्यार्थ-बोध में सब छहों का एक समूहालम्बीय संकेत होता है। "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।"

—०○※○०—

चतुर्थ खण्ड

वर्णवैचित्र्य की महामाया

१ अध्याय

वर्णवैचित्र्य से भाषा की आकृति के दृश्यमान कारण

भाषाविज्ञानियों (निरुक्तकारों और शब्दानुशासनियों) ने भाषा के अर्थवाद को ठुकरा कर, जो सबसे प्रथम काम किया वह था 'शब्द' का गलत अर्थ 'पद' समझना। दूसरा उससे अधिक हेय धारणा का बनाना कि शब्द (वाक्य) नहीं वरन् 'पद' अर्थ का सम्राट् है। इन दोनों गलतफहमियों ने उनसे 'पद निरुक्ति' तथा 'पद व्युत्पत्ति' जैसे दो जिद्दी सिद्धान्त स्थापित करा दिये। पद और व्युत्पत्ति के दृष्टिकोणों ने पदों के भावात्मक (छः प्रकार के) वास्तविक भेदों के स्थान में नामाख्यातादि चार अलीक भेदों की स्थापना करा दी। शब्दों के भावात्मक भेदों वाला मत गम्भीर तथा दार्शनिक होने से कठिन तथा गूढ़ स्वयं रहा, इसके विपरीत नामाख्यातादि भेद बालिश बोध के सरलतम उपाय होने से प्रारम्भिक ज्ञान के लिए आवश्यक होने के नाते सबसे अपनाये जाने से, भावात्मक भेदों को सदा के लिए तिलाञ्जलि दिये जाने की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान आकर्षित हो सका, अतः हमारे समस्त शास्त्रों के विद्वान् केवल पद और पदव्युत्पत्ति के दास बनने में अपना महान गौरव सा मानने लगे। यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि ने इसका द्वार खोल दिया, उनके ग्रन्थ नकली या अलीक ज्ञानों की लीकों से सुसज्जित प्रदर्शिनियाँ सी हैं। इस अलीक ज्ञान की परिपाटी ने हमारे वैदिक ३७ दर्शनों की तात्त्विक और सात्त्विक विचारणा के स्थान में एक दूसरे प्रकार के अलीक ज्ञानों को प्रमुखता देकर न्याय वैशेषिक वेदान्तादि तर्कवादों को शब्द व्युत्पत्ति शब्दाडम्बरमय वाक्यों के वादविवादों के अखाड़ों के रूप में उपस्थित कर दिया। अब इन अखाड़ों अड्डों में उसी की चलती है जिसकी जीभ, शब्द की अलीकज्ञानता अवच्छेदकावच्छिन्नता की पैनी छुरी चलाने में घुट-घुट कर विदग्ध हो गयी हो। इसे अब शास्त्रार्थ नाम से पुकारा जाता है, शास्त्रार्थ किसी विषय को लेकर अवश्य चलता है, पर शास्त्रार्थ की भूमि विषय न रह कर 'भाषा' में परिणत कर दी जाती है, पूछते हैं आपने इस ढङ्ग से (वाक्यावली से) कहा, उसमें यह दोष हुआ, प्रत्युत्तर भाषा की कमी का ही समाधान होता है, पुनः पुनः यही तारतम्य रहता है, विषय ताक में ही रखा जहां का वहीं आसन जमा कर अलग बैठा रह जाता है, भाषा त्रुटियों के परस्पर द्वन्द्व में ही दोनों पक्ष घंटों माथापच्ची करते-करते थक जाते हैं। ग्रन्थों में भी यही परिपाटी

है। वास्तव में ये शास्त्रार्थ और शास्त्र, परोसे भोजनरूप विषय को छोड़ कर, उस भोज्य विषय के उपकरण छुरी कांटेरूप वाक्यों की लम्बाई चौड़ाई, मोटाई, चिकनाई, तिखाई, आकार प्रकार आदि पर ही उलझे रह जाते हैं, विषयरूप भोज्य ठंडा पड़कर (मक्खियों का आहार बन गन्दा सा होकर) अन्त में फेंक सा दिया जाता है। अतः सब शास्त्र और शास्त्रार्थ सभ्यों की (वाक्यरूप) छुरे-बाजी हैं, बस। दूसरी अनोखी बात यह है कि प्रत्येक शास्त्र और शास्त्रार्थ, अपनी बुरी अच्छी सब बातों को उत्तमोत्तम और दूसरे की खरी भी खोटी भी सबको अधमाधम सिद्ध करता है। यह विद्वज्जन हेय मार्ग है। जो जितना यह अधिक ढोल पीट लेता है उसी का मैदान है, चाहे विषय की मार्मिकता की उनको छूत तक न लगी हो, भाषा का यह जादू अवश्यमेव एक बड़ा असाध्य रोग है। विद्वान् को इस जादू से अवश्यमेव सावधान रहना ही चाहिए, यह रोग उसे 'स्थाणु' बना देता है "स्थाणुरयं भारहर किलाभूत्" (निरुक्त में उद्धृत वेदवाक्य १–१८)। वह केवल जटिल भाषा का बोझा लादे फिरने वाला ठूँठ के समान है।

ज्ञान चेतन तत्व का विषय है, चेतन तत्व वास्तव में क्या है, ? इसका समुचित उत्तर देने का यह स्थल नहीं है। ज्ञान अर्थ का होता है, अर्थ दो प्रकार का होता है मूर्तरूप और चित्ररूप। बहिर्ब्रह्माण्ड के समस्त जातमात्र पदपदार्थादि सब मूर्त अर्थ हैं। उनका हमारे क्षीरसागर में चित्ररूप में स्थायी-रूप से रहना अन्तर्ब्रह्माण्डीय अर्थ है, बाहरी अर्थ स्थूल है, भीतरी अतिसूक्ष्म। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड अनादि है उसी प्रकार ज्ञान और अर्थ भी अनादि हैं, कहना तो यह चाहिए कि बहिर्ब्रह्माण्ड के स्थूल रूप के मूल कारण भी वही भीतरी सूक्ष्म ज्ञान और अर्थ के अणु हैं। ज्ञान, अर्थ के चित्राणुओं की अनु-भूति का नाम है, जो अर्थ है उसीका प्रवाह ज्ञान है, प्रवाह में तात्त्विकता और सात्त्विकता दोनों हैं, अर्थ में तात्त्विकता और परम्परा या राजसिकता; बहिर्ब्रह्माण्ड की स्थूलता में तामसिकता की प्रधानता है। मूर्त और चित्ररूप अर्थों के प्रवाह की समष्टि को व्यष्टि में (एक व्यक्ति रूप में) ज्ञान कहते हैं। वैदिकों और औपनिषदिकों ने इस ज्ञान ज्योति को विष्णु, हमारे क्षीरसागर को शेष शय्या, दोनों के मिश्रण को (कमला लक्ष्मी) प्रतिभा (बुद्धि) उसकी क्रियात्मकता के रज तम को जय विजय के अनुत्तम रूपक से अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। ज्ञान ज्योति पुरुषोत्तम है, और प्रतिभा या बुद्धि पुरुष है। ऐसी परिस्थिति में अर्थ हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, उस अर्थाभिव्यक्ति के लिए शब्द भी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। इस भूलोक में डग रखते ही अपनी

नवीन उपस्थिति की घंटी भी, तत्कालीन अनुभूति के अनुकूल अर्थ की अभिव्यक्तिवाचक ध्वनि (रोदन) से तुरत प्रथम क्षण में ही बज जाती है, मुहल्ला गूँज जाता है कि नया अतिथि आ गया। भाषा का सर्वप्रथम स्वरूप यही है, वही आगे चलकर माता-पिता परिजन अपनी-अपनी परम्परा की स्फुट ध्वनियों की अनुकृति से पूर्व-पूर्व की भाषा को उत्तरोत्तर वाले 'आकृति रूप' में स्वीकार करते जाते हैं। हम यह समझते हैं कि बालक हमारी भाषा को ज्यों के त्यों अनुरूपता में ग्रहण कर रहा है। ऐसा नहीं होता। बालक के वातावरण उसके माता-पिता के बालकपन के संस्कार या स्फोट बनने के वातावरण प्रायः भिन्न होते हैं, वातावरण भिन्नता से माता-पिता के जो स्फोट हैं उनसे बालक के स्फोट प्रायः भिन्न हो जाते हैं; दूसरी बात ध्वनि की है, बालक की उदर से ओष्ठ तक या आकाकालकात् ओष्ठ पर्य्यन्त के अन्तरङ्गों की रचना में पिता के अनुरूप होते हुए भी उतना अन्तर अवश्य मानना पड़ता है जितना माता-पिता, और पुत्र-पुत्री की बैखरी ध्वनि में सबको स्पष्टतया व्यक्तित्व प्रकाशन के रूप में प्रतीत होता है। तीसरी बात यह है कि माता-पिता भी अपने पुत्रोत्पत्ति जीवन तक एक ही स्फोट के अनेक संकेतक ध्वनियों या शब्दों का प्रयोग करने में पीछे नहीं रहते, बालक के जन्म के पश्चात् जो नया वातावरण स्वभावतः उपस्थित होता है, तब पुराने संकेतों के स्थान में नये शब्द संकेत, अर्थ के विभिन्न पहलुओं के प्रकाशक होने से नये से अच्छे से लगकर प्रयोग में अनायास आते रहते हैं। सबसे बड़ी बात वाक्य के लहजे, स्वर, गति, अवधारण, लघु गुरु, सन्धि आदियों की पूरी-पूरी अनुकृति है, यह किसी भी बालक से सर्वाङ्गीणतया कभी भी नहीं अपनाई जा सकती; कोई लहजे में चूका, कोई स्वर में, कोई गति में, कोई अवधारण, लघु गुरु आदि में। इससे 'पूरे वाक्य' को कोई कहीं तोड़ता मरोड़ता फोड़ता है तो कोई कहीं, तब मार पड़ती है वर्णों पर, बल खाते हैं वाक्य के पद, किसी वाक्य की छत इधर से नीची उधर से ऊँची होती है, किसी की उधर से नीची इधर से ऊंची, किसी की बीच से गहरी, किसी की बीच में ऊँची, जिससे कई वर्णों की, कहीं पदों की उगुलियाँ टांगे, दाँत टूटी फूटी सी लगने लगती हैं। पाँचवीं बात माता पिता के उच्चारण में भी प्रत्येक वर्ण की आदि मध्य अन्त की स्थिति पृथक्-पृथक् रहती है, इसका सूक्ष्म ज्ञान माता पिता को ही स्वयं नहीं रहता, नकल करने वाला, उनकी नकल में कितना अन्तर ला सकेगा; इसका बहुत स्पष्ट उदाहरण भारत में प्रचलित अंग्रेजी की त द प क ध्वनियों तथा 'कॉल' हॉल, मैन फाद अ आदि है। यहां तक कि भारत का अंग्रेजी पढ़ा बड़ा विद्वान्, इंगलैंड के एक अनपढ़ कुली से भी ठीक-ठीक उच्चारण में बात नहीं कर

सकता, उसे वहां जाकर नया असली उच्चारण नये सिरे से सीखना पड़ता है, फिर भी उसको वातादि की सैकड़ों कमियाँ ज्यों की त्यों वापिस लादनी पड़ेंगी। भाषा की ऐसी विकट परिस्थितियाँ, परम्पराकृत के संकेतक शब्दों के ढाचों को प्रतिक्षण प्रति सन्तान की अनुकृति में निरन्तर बदलती रहती हैं; जबतक वे बिगड़े हुये ढांचे 'कालिदास' पद की तरह कुछ-कुछ अनुरूपता रखते हैं तबतक ग्राहकता खोती नहीं, पर अब शब्द के दांत टूटने लग जाते हैं जैसे वचन वदन का 'वअन' तब भाषा अपना नया रूप धारण कर लेती है। मनुष्य परम्परा का पूरा-पूरा दास है। वह उसे कुछ स्वयमागत कुछ स्वयमाहूत परिवर्तनों के द्वारा नवीन रूप में ग्रहण करने में गौरव समझता है। अतः साहित्यिक भाषा या शिष्ट भाषा पुराने संकेतक शब्दों को तत्सम रूप में ग्रहण करके एक ही संकेत के अनेक पर्य्याय बनाकर पुराने और नये दोनों को एक ही भाव बेचने लग जाते हैं, यद्यपि इनके संकेतित पहलुओं में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य रहता है। इससे भाषा में अधिक विशदता आ जाती है। तात्पर्य यह कि एक संकेत के अनेक शब्दों को भले ही वैयाकरण और निरुक्तकार अपशब्द अपभ्रंश नाम से बदनाम किया करें, हमारा काम तो उनसे ही निकलता है, हमें वैदिक और लौकिक संस्कृत संकेतावली में व्यवहार करने को कब और कितना मिलता है, उलटे उनके व्यवहार को हमें उनके इन्हीं अपशब्दों या अपभ्रंशों से समझना जानना पड़ता है। कहने दीजिए उन वैयाकरणों और निरुक्तकारों को, संकेत संकेत ही है, परम्परा का अनुसरण करते हुए शब्द वर्तमान काल में जिस रूप में उपस्थित है, वही वर्तमान भाषा का शुद्ध संस्कृत शिष्ट और मान्य रूप है। यह रूप उतना ही पवित्र शुद्ध, और वैसा ही संकेतक है, जिस प्रकार वह वैदिक लौकिक संस्कृत प्राकृतों के युग में था। आज उस युग से इतने अधिक विशदता लाने वाले संकेत हैं जिनको हम उस युग की भाषा में पा ही नहीं सकते। यदि भाषा भाव प्रकाशनकारी है तो आज की भाषा का सबसे अधिक महत्व है। यदि आज की भाषा का अधिक महत्व है तो वह इसके शब्दभण्डार और उसकी शैली का भी अधिक महत्व है। अतः आज के शब्दों का पुराने शब्दों से स्वयं अधिक महत्व हुआ। पद और वाक्य तो संकेतक हैं उनमें शुद्धाशुद्धि की विवेचना वाक्य गठन की शैली से मानी जाती है, न कि परम्परा की नवीनता से, जिस नवीनता को ये अपशब्द या अपभ्रंश नाम से पुकार रहे हैं, यह शब्दों और वाक्यों का अपभ्रंश नहीं है क्योंकि ये तो वैसा ही काम दे रहे हैं जैसा वैदिक और लौकिक संस्कृत शब्द और वाक्य, बल्कि उनसे अच्छा, तब अपभ्रंश तो परम्परा का हुआ, परम्परा में नवीनता का समावेश करना मानव स्वभाव का मुख्य कार्य है,

तब यह अपभ्रंश या अपशब्द, केवल पाणिनि पतञ्जलि के व्याकरण को आज की भाषा के लिए व्यर्थ सिद्ध कर देने वाले महाबली तत्वों की शिकायत का नारा है, बिलकुल व्यर्थ है। सभी भाषायें अपने-अपने समय की चोखी शुद्ध संस्कृत और शिष्ट भाषायें होती और रहती हैं।

प्राकृत के वैयाकरणों और आजकल के भाषा विज्ञानियों का एक बड़ा खेदजनक दृष्टिकोण—यास्क पाणिनी पतञ्जलि प्रभृति के स्वार्थी दृष्टिकोण के प्रभाव के कारण—यह है कि ये सब प्रत्येक पद की परम्परा की खोज, पद को वाक्य का अङ्ग मान कर नहीं वरन् स्वतन्त्र मान कर करते आ रहे हैं। यदि प्रत्येक वर्ण या पद स्वतन्त्र होता तो उसकी परम्परा में उनकी मानी गई अपभ्रंशता, हमारी नवीनता आने का प्रश्न ही नहीं उठता। स्वतन्त्र पदता में अनुकृति विषयक भूलों के होने की सम्भावना बहुत कम होती। पद तो वाक्य की मंजिल का एक अङ्ग है, समूचे वाक्य की अनुकृति में पग-पग पर फिसलने की सम्भावना रहती और होती है, अतः वक्ता की ध्वनि की श्रोता बहुत कम अनुकृति कर सकता है। मञ्जिल की मरम्मत रूप सुधार किये जाने पर भी, एक ओर से सुधारो तो दूसरी ओर बिगड़ जाता है, तभी वाक्य नवीन रूप लेता है जिससे पद परम्परा प्रायः खतरे में आ ही जाती है, फलतः परम्परा के विघटन के मूल कारण वाक्य का लहजा, स्वर, लघु, गुरु, घात, अवधारण वृत्ति आदि अनेक तत्व हैं जिनमें से अनुकारक किसी न किसी में अवश्य चूक जाता है, बस उसी से परम्परा की मञ्जिल रूप वाक्य के कभी किसी के आदि, किसी के मध्य, किसी के अन्त भाग के पदों के आदि मध्य अन्त के किसी भाग में कोई न कोई छिद्र हो जाता है। यदि भाषा को एक-एक स्वतन्त्र पद द्वारा अपनाया जाता तो आज हम वैदिक शब्दावली का ही प्रयोग करते रहते क्योंकि वक्ता श्रोता को तत्काल रोक टोक कर सुधार करते रहता। परन्तु भाषा को वाक्य द्वारा अपनाया जाता है जिसमें उतने तत्वों का समावेश है। वाक्य लम्बा होता है। अतः मध्यवर्ती पदानुपूर्वी की अनुकृति में अनेक प्रकार के भ्रमों द्वारा अनेक भूलों के सुधार पर भी एक की भी भूल रह गई तो वाक्य एक खण्डहर सा हो जाता है और अनेक अज्ञात और असम्भाव्य परिवर्तन स्थान पा जाते हैं। यास्काचार्य ने ऐसे तत्वों की व्याख्या को निरुक्त और व्याकरण-सम्मत मतानुसार करके आजकल के भाषा विज्ञानियों को भ्रम जाल में फँसा रखा है। ये तत्व प्रतिभादर्शन से चुराये गये गहने हैं जिन्हें व्याकरण निरुक्त के ठप्पों में गढ़ लिया गया है, आज के भाषाविज्ञान का मूलस्रोत भी किसी न किसी प्रकार यास्क की यही तत्व व्याख्या है जिसका विवेचन यहां पर प्रतिभादर्शन के अनुरूप और अभिमत शैली में किया जावेगा;

व्याकरण निरुक्त-सम्मत व्याख्या बैठ ही नहीं सकती। यास्क का उल्लेख इस प्रकार का है—"अथाप्यस्ते निवृत्ति स्थानेषु आदि लोपो भवति, स्तः सन्ति इति; तथाप्यन्त लोपो भवति गत्वा गतम् इति; उपधा लोपो भवति जग्मतु जंग्मु रिति; उपधा विकारो भवति राजा दण्डी इति; अथापि वर्ण लोपो भवति तत्वा यामि इति; अथापि द्विवर्णलोपस्तृच (पिता-माता) इति; अथादि विपर्ययो भवति ज्योतिर्घनो विन्दुर्वाठ्य इति; अथाद्यन्त विपर्ययो भवति स्तोका रज्जु सिकता तर्कु रिति; अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति'''अथाप्यल्पनिष्पत्तयो भवन्ति, ऊति मृदुः पृथुः पृषतः, भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा दमूना इति, नैगमेभ्यो भाषिका यथा उष्णं घृतं; प्रकृतय एवैकेषु भाषन्ते विकृतय एकेषु शवति गति कर्मा काम्बोजेस्वेव भाष्यते'''विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति, दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्वेषु॥" (निरुक्त २-१-२, ३, ४ यास्क) महाभाष्यकार पतञ्जलि ने यास्क के उक्त परिच्छेद के 'शवति गतिकर्मा' और 'दाति लवनार्थे' के बीच में 'हम्मति सुराष्ट्रेषु, रंहति प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जन्ते' यह वाक्य जोड़ रखा है (म० भाष्य प्रथमाह्निक प्रथम पाद)

परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि सर्वप्रथम धातुओं और संज्ञाओं (तथा उपसर्ग निपातों) का आविष्कार बृहस्पति जी ने किया था। उन्होंने इन्द्र के लिए प्रतिशब्दरूपावली और प्रतिधातुरूपावली का एक विशाल ग्रन्थ प्रस्तुत किया था जिसका नाम 'ऐन्द्र व्याकरण' रखा गया था। उसके पश्चात् सैकड़ों विद्वानों ने उन रूपावलियों के आधार पर 'व्याकरण' नामक नियमों की रचना की, जिनमें सर्वश्रेष्ठ पाणिनि की अष्टाध्यायी है, दूसरे लोगों ने उक्त रूपावलियों और व्याकरणों की सहायता से प्रत्येक शब्द की निरुक्ति या व्युत्पत्ति करने का बीड़ा उठाया, जिनमें से शाकपूणि और यास्क के ग्रन्थ (निरुक्त) सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुए। इन प्रयासों की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह कम है, ये अलौकिक प्रतिभा के प्रत्यक्ष फल हैं, जगत् की भाषाओं के व्याकरण और निरुक्ति के अद्वितीय तथा गुरु ग्रन्थ हैं। पर खेद के साथ लिखना ही पड़ता है कि इनके अनुयायियों ने जिनमें यास्क पाणिनि प्रभृति भी शामिल हैं एक बड़ा अस्वाभाविक अवैज्ञानिक और हठधर्मितापूर्ण दृष्टिकोण अपना कर अपनों को भाषा का ब्रह्मा समझ लिया। प्रतिभादर्शन के भाषा-तत्त्व सम्बन्धी वैज्ञानिक विश्लेषणों को इनकी चलती गाड़ी ने कुचल कर चकनाचूर कर डाला। अतः यहाँ पर यास्क जी यह समझ रहे हैं कि व्याकरण के नियम भाषा बनने से पहिले बन गये थे, तब उन व्याकरण के नियमों के अनुसार भाषा को ढाला गया था। बात बिलकुल इसके उलटे होती है, इसे कोई मना नहीं कर सकता। पर भाषा में या पदों में जो इन्हें लोप विकार

विपर्यय, व्यापत्ति, अल्पनिष्पत्ति, प्रकृति, विकृति नाम के परिवर्तन दिखलाई पड़ रहे हैं, 'ये परिवर्तन तो हैं फल', इनका इस प्रकार से परिवर्तित हो जाने में इनके उक्त लोपविकार विपर्ययादि व्याकरण के नियम नहीं, पर भाषा से सीधा सम्बन्ध रखने वाले अन्य तत्व हैं; जिनमें से अनुकृति की असावधानी, गलतफहमी, भ्रम, यथार्थ सुनने समझने की कठिनाई, वक्ता श्रोता के आभ्यन्तर बाह्य प्रयत्नीय अंगों की उच्चारण क्षमता और शैली, मानव की नवीनता की भूख, वैचित्र्य चित्र का ठीक-ठीक अनुगमन न कर सकना, लहजे स्वर घात अवधारण वृत्ति लघुगुरुता को न पकड़ सकना, श्रुति दोष, श्रुतिभ्रम, श्रोता और वक्ता की अयोग्यता आदि-आदि मुख्य हैं।

अब भाषातत्व सम्बन्धी व्यापारों को विश्रृङ्खलता से प्रादुर्भूत नवीनता के अनुसार यास्क के उक्त परिच्छेद की व्याख्या सुनिये। (१) आदि लोप में अस् धातु के वर्तमान काल के प्रथमपुरुष के द्विवचन बहुवचन के रूप 'स्तः सन्ति' दिये हैं। ऐसा क्यों हुआ 'अस्तः असन्ति' जैसे नियमित रूप क्यों नहीं रहे। ये रूप हमारे 'ग्यारह' (कु० ग्यार), भीतर (कु० भतर भितेर), कु० नाज (अनाज) हंगार (अहंकार) ढीला (कु० ढिल) ओखली (कु० उखल) आदि पदों के समान हैं। 'ग्यारह' पद एकादश का प्रतिनिधि है, यह पद आरम्भ में 'एकदश' रहा होगा, वेद में (रुद्राष्टाध्यायी) में यही रूप दिया है (षष्ठाध्याय)। इसका 'एकादश' रूप 'विश्वामित्र' के समान (विश्वमित्र से) हुआ होगा जिसका मूल कारण उस युग में पदान्त की उदात्तता है, 'क' का 'अ' उदात्त था अब 'दश' के द के अनुदात्त के योग से यह स्वरित में परिवर्तित हो गया, तब 'क' के 'अ' का तीव्रोदात्त या स्वरित उच्चारण उसे 'आ' के अनुरूप बनाने में समर्थ हो गया, 'एकादश' की सिद्धि हुई। प्राकृत युग में क् के 'आ' की तीव्रोदात्तता ने आरम्भ के 'ए' को कमजोर बना कर उसे इ में परिणत कर दिया। अब 'एकादश' स्वरूप बन गया, फिर द लोप श का ह कार उसी लहजे और स्वर के स्थान परिवर्तन से हुआ; प्राकृत युग में प्राचीन पदान्त की उदात्तता, उपधा या पदादि में चली गई थी। अतः श का हलका घोष स्वरूप ह, द के हलके उच्चारण से 'अ' बन गया, पर द् का घोषत्व क को मिल कर उसका ग बन गया। अतः इगाअह बना। तदनन्तर स्वर भक्ति द्वारा फिर इगाअह का इगिआयह रूप बना, इ और य के अन्तराल से प्रभावित होकर आ के पूर्व में 'इ' फिर आ के जोड़ से 'इग्यायह रूप बना, कुमाउनी में 'इग्यार' रूप का 'इ' अब तक स्थायी है, बंगला, पंजाबी में 'एग्यारह' स्वरूप ह्रस्व 'ए' > इ के समान है। अब प्रश्न उठता है 'ग्यारह, इग्यार,

ग्यार, एग्यारह' इन सब वर्तमान रूपों में 'र' ध्वनि कहां से आ टपकी। जिस प्रकार ता० ११, १३ जून ५८ के वीर अर्जुन पत्र में छपे लेख में मान और अंग्रेजी 'माइण्ड' तथा मोत्तक और 'मौक्सिको' शब्दों में अवैज्ञानिक साम्यमाना है, वैसे ही वे यहां न कह बैठें कि 'ग्यारह' आदि रूपों का स्रोत 'एकादश, द्वादश' हैं न कि एकादश द्वादश। यह हमारा भाषातत्व-शास्त्र के स्वाभाविक नियमों की अज्ञानता का अभागापन होगा। यहां ग्यारह आदि के 'र' ध्वनि की कहानी ही निराली है। वह इस प्रकार; त्रयोदश या त्रिदश शब्द से 'तेरह' पद सरलता से बन जाता है, त्रयोदश या त्रिदश—तिरोदश (बोला जाता है)—तिरदश-तेरअह-तेरह। इस 'तेरह' की अनुरूपता ने उसकी समीपवर्ती संख्या इग्याअह, बाअह (द्वादश-बाअश-बाअह (द की घोषता ने व को घोष ब बना दिया) को गम्भीरता से प्रभावित करके भ्रमात्मक अनुरूपता (फौल्स अनालौजी) से इग्यारह बारह जैसे रूपों को प्रस्तुत कर दिया। क् का 'ग्' बनने का कारण द की घोषता को 'क्' में थोपना है। तब इक्याअह का इग्याअह–'इग्यारह–ग्यारह–ग्यार' बने जिनमें से अन्तिम तीनों रूप तथा इग्यारह के अनुरूप रूप एग्यारह सब उत्तरभारत में बोले जाते हैं। निरुक्तकारों और वैयाकरणों के 'लोप' की व्याख्या, के नियम ऐसी वैज्ञानिक व्याख्याओं से सन्यास लेकर अपनी नियमरूप लाठी चलाकर 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहानी चरितार्थ करते हैं। एकदश से इग्यार, ग्यारह, ग्यार, एग्यारह, बनने में चुटकी नहीं युगों लगे होंगे, इतना ही समय अस्तः का स्तः और असन्ति के सन्ति बनने में लगा होगा। बोलने वालों के ध्यान में धातु नहीं 'पद' रहा होगा जो स्वर श्रुति, स्मृति, भ्रमादि कारणों से प्रस्तुतरूप में क्रमशः उपस्थित हुआ होगा। यहां पर 'एकादशः द्वादशः' की अन्तिम ध्वनि विसर्ग का क्या हुआ होगा यह भी बताना तो शेष ही रह गया है, इसका विश्लेषण अगला परिच्छेद 'अथाप्यन्त लोपो भवति' की व्याख्या में करेगा। 'ग्यारह' की तरह भीतर > अभ्यन्तरं, नाज > अन्नाद्यं; हंगार > अहंकारः; ढील ढीला ढीलो > शिथिलः, उखल ओखली > उलूखलं आदि विभिन्न-विभिन्न परिस्थितियों में गुजरते हुए आविर्भूत हुए। भीतर, भीतेर में अभ्यन्तर के न् अनुनासिक का कोई चिह्न रहना चाहिए था, भींतर भींतेर सा होना था, पर इसको भ्रमात्मकतया अशुद्ध सा मानकर निरनुनासिक कर दिया गया हो यह अधिक सम्भव है जैसे शाप को लोग अशुद्ध सा समझ कर 'श्राप' या 'शराप' शुद्ध करके सा बोलते हैं, ऐसे ही 'खट्वा' को कोई कोई 'षट्वा', छात्र को चात्र, जवनिका को यवनिका कहते-लिखते पाये जाते हैं। वैयाकरण और निरुक्तकार

ऐसे स्थलों में "अनुनासिक लोप आदिलोप, र का आगम या आदेश ज का य और 'ख' का 'ष' आदि लट्ठमारी के अनुचित नियमों के सूत्र बना देंगे, जैसे 'विश्वामित्र' की सिद्धि के लिये पाणिनि महराज लिख गये 'मित्रस्य चर्षौ'। कहाँ तो भाषा की आभ्यन्तरीय परिस्थितियाँ उक्त प्रकार से नाना तत्त्वों के संघर्ष में फँसी है, यहाँ लट्ठमारी का सूत्र बनाकर पाठकों को निरा नालायक भाषातत्त्वशास्त्र के स्वाभाविक प्रवाह के ज्ञान से सदा के लिये शून्य बना अपनी वाक्यावली की रटन्त के निरर्थक जाल में धकेल दिया। आजकल के वैयाकरण, पाणिनि, कत्यायन, पतञ्जलि के वाक्यों के विद्वान् हैं, न भाषा के, न व्याकरण के, भाषातत्त्वशास्त्र के नियमो का तो उनके वाक्यों से जैसा नाश हुआ है वह उपरोक्त विवेचन से जलसम स्पष्ट हो चुका। यह भी खुली बात है कि पाणिन्यादि के व्याकरण को पढ़कर कोई संस्कृतज्ञ नहीं बना, इसके लिये उसे भाषा साहित्य का ही मुँह ताकना पड़ा; हाँ, कुछ थोड़े से साधारण नियमों (सूत्रों) से वह रूपज्ञान की पगडंडी अवश्य पकड़ सकता है, वह भी उक्त ढंग के भ्रम के ढोल की पोल वाले नियमों से। यह काम किसी संक्षिप्त व्याकरण से अच्छा होता; जिसे अब जल्दी बना देने की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

अब द्वितीय वाक्य 'तथाप्यन्त लोपो भवति' पर विचार किया जावे। वैदिक और लौकिक संस्कृत के युग में पद प्रायः अन्तोदात्त थे, (फिषोन्तोदात्तः), जिससे पदों की प्रत्येक विसर्गादि विभक्ति नामक अंगों की सुरक्षा होती रही, इसी अन्तोदात्तता से सन्धि स्थलों में विसर्ग के ओ, र स श ष आदि वर्गानुकूल परिवर्तन भी जबरदस्ती से नहीं वरन् स्वाभाविकतया होते रहे, इसी प्रकार स्वरों के सन्धेय विकार स्थान पाते रहे। यह स्थिति पुरानी प्राकृतों के युग में कुछ-कुछ चलती रही। पर मध्यकालीन प्राकृतों और अपभ्रन्शों के युग में उक्त स्थिति एकदम पलट गई, पदों की अन्तोदात्तता कहीं आद्योदात्तता में कहीं उपधोदात्तता में परिवर्तित हो गई जिससे अन्त के विभक्ति नामक विसर्ग में, व्यञ्जनान्त पदों के प्रयोग में या उच्चारण में अनुदात्तता में शिथिलता लादी, फलतः उनका धीरे-धीरे ह्रास होने लगा। इनके ह्रास के साथ-साथ आद्योदात्तता से अन्तानुदात्तता के प्रवाह में मध्यवर्ती अनुदात्तस्वर वाले व्यजनों को बड़ा भारी धक्का लगा, वे बुढ़िया के दांतों की तरह हिल-हिलकर निकलने लगे, पुराने पद अब खोड़े दांतों का स्वरूप धारण करने लगे, जिनसे अनेक स्वर सम्बन्धी सन्धियों ने अवसर पाकर पुराने पदों को नवीन रूप दे दिया। वचनं बअनं बयन व इ न वैन जैसे रूप सामने

आ गये। पर 'वदन' का, न 'बैन' हुआ न 'वौन', इसका प्रयोग तब बोली जाने वाली भाषा में न रहा होगा, जो प्रयोग में थे उन्ही में विकार आया, यह भी एक नवीन बात है। कुछ इसी प्रकार की प्रक्रिया गत्वा गतम् के अनुनासिक (म्) लोप की हुई होगी। पर यास्क जी यहां पर धातु का 'अन्त' मान रहे हैं पद का नही। भाषा धातु को नहीं, धातु रूपों को जानती है, धातु तो अलीक ज्ञान का एक काल्पनिक चिह्न है अतः उनका 'अन्त' पद निरुक्त नियम का पारिभाषिक पद है। फिर भी गत्वा गतम् गति आदि पदों की प्रस्तुति, भाषा ने भाव व्यञ्जन के स्वरूप में की होगी। धातु क्या था कहा नही जा सकता 'गम्' था कि 'गच्छ्' था या गन्त था या कुछ और। हमारे वैयाकरणों ने अपनी सुविधा के लिये 'गम्' माना है। अतः उक्त रूपों में म् का लोप माना है, रूप तो अधिक मात्रा में 'गच्छ्' के मिलते हैं, कुछ भी हो, इनका यह 'अन्तलोप' क्रिया का मध्यवर्ती विकार ही माना जायेगा।

उपधा लोपका कारण भी स्वर परिवर्तन है। आजकल और प्राकृत अपभ्रंश युग में उपधालोप नाम प्रक्रिया का बड़ा बोलबाला है और था। बैन (वचन) जैसे शब्दों के निर्माण का कारण उपधा लोप जग्मतु जग्मु के समान ही है। आजकल हम लिखते तो हैं चलना लिखना आदि पर बोलते हैं चल्ना लिख्ना आदि। इन जैसे रूपों में सर्वत्र उपधा लोप है। ऐसे पदों में अन्तोदात्तता मध्यवर्ती वर्णों को घसीट कर इस प्रकार ले जाती है कि उनका पूरा उच्चारण होना असम्भव हो जाता है, पूरा उच्चारण माने मध्यवर्ती व्यञ्जन अपने स्वरों को खो जाते हैं, मध्यवर्ती स्वरों का उच्चारण न हो पाना ही उपधा लोप नाम से पुकारा गया है, यह काम स्वर की परिवर्तनशीलता से वाक्य की वृत्ति में परिवर्तन लाने से स्वयमेव सिद्ध होता रहता है। राजा दण्डी प्रभृति शब्दों की उपधा विकार भी इनकी अन्तोदात्तता के दीर्घोच्चारण से हुई है, हमारे चलना लिखना के 'ना' भी उपधा विकार है, शब्द थे चलनक लिखनक जिनकी अन्तोदात्तता की समाप्ति पर 'लिखनअ चलनअ' रूप बने, फिर न के अ में उदात्तता आने से अन्तिम अ उपधा के उदात्त अ में सम्मिलित होकर चल्ना लिख्ना रूपों को प्रस्तुत करता है। 'अथापि वर्ण लोपो भवति'। वर्णलोप के तो प्राकृत अपभ्रंश और आजकल की भाषायें, एक विशाल भण्डार प्रस्तुत किये बैठी हैं। एकादश में ए और द् का, द्वादश में आदि मध्य के द् का, वचन में मध्य के च् का, जैसा लोप किस तद्भव शब्द में प्राप्त नहीं होगा? इसी प्रकार का उदाहरण 'त त्वा यामि' वैदिक वाक्य के तत् के त् के लोप का है। उक्त उदाहरणों में कहीं एकवर्ण लोप (वचन में) है, कहीं द्विवर्ण लोप एकादश द्वादश के ग्यारह बारह में, कही त्रिवर्ण लोप जैसे ग्यार बार (कु०)। इसी

प्रकार ऋ का भी एकदम लोप होता है जैसे पिता माता में पितृ मातृ के ऋ का। यह लोप वैयाकरणों के प्रतिपदिक पितृ मातृ शब्दों के ऋ वर्ण का है जिसकी निष्पत्ति पितृभिः पितृषु आदि रूपों के 'पितृ' खण्ड से की गई है। इसको 'अथापि द्विवर्ण लोपस्तृचः' कह कर समझाया गया है।

'अथाद्यन्त विपर्ययो भवति'। भाषा में पहिले एक शब्द प्रयोग में आता है, पुनः धीरे-धीरे उसमें कई परिवर्तन आते रहते और स्वीकृत होते जाते हैं। कुछ दिनों तक लोग उन्हें अशुद्ध कहते जाते हैं, पर अधिक जन सम्मत हो जाने से अशुद्ध कहने वालों के मुँह में ताला ठुक जाता है, वे भी उसी अशुद्ध रूप के उच्चारण के आदी बन कर उसमें परम शुद्धता की मुहर लगा देते हैं। 'पिशाच' शब्द को श्रुतिभ्रम से किसी ने 'पिचास' सुना होगा उसका प्रयोग पहिले अखरा होगा हास्य का उपकरण बना होगा, पर धीरे-धीरे नवीनता के लालच ने इसे प्रामाणिकता दे दी। नजीबाबाद मुरादाबाद की ओर 'मत-लब' पद को 'मतबल' कहते हैं, लेखक कई दिनों तक चक्कर में पड़ा रहा। अधिक प्रयोग ने समस्या हल की। 'व्रत' को कई लोग 'बर्त' कहते हैं, 'लघु' को अब सब हल्का कहते हैं (लघुकक—लघुकअ—लहुका—हलुका—हल्का)। फाँक (एक चीरा) पंख से वर्ण विपर्यय द्वारा इस प्रकार बना (पंख—पंकह या पंहकः पहंक—पहअंक—फाँक)। इसके उदाहरण में यास्क ने वैदिक धातुओं द्वारा वैदिक शब्दों की निरुक्ति दी है, उनके अनुसार वैदिक शब्दों के बनने के समय भी धातुओं के वर्णों में विपर्यय हुआ, जब ये शब्द बन रहे थे तब उनके सामने धातु जैसी कोई वस्तु रही होगी यह सोचना तो संशयास्पद सा है जैसे च्युति से स्तोक, सृज् से रज्जुः, कस से सिकता और कृती छेदने से तर्कुः। यास्क जी दूसरे प्रकार का वर्ण विपर्यय भी बतला रहे हैं वे कह रहे हैं कि द का 'ज' बन गया ह का घ, भ का ब, जैसे द्युति का ज्योति, हन का घन, भिदि का बिन्दु, भटभृत् का वाट्यः; 'अथादि वर्ण विपर्ययो भवति, ज्योति-र्घनो विन्दु वाट्यः'। यदि ऐसा है तो जितने परिवर्तन प्राकृत अपभ्रंश युग में स्थान पा गये हैं, उन्होंने अपने पाँव वैदिक युग में ही जमा लिए थे। अनाज = अन्नाद्य परिवर्तन द्युति के ज्योति के समान है, अब्रक अब्रख अभ्रक, और गाबिन (गाविणि कु०) >गर्भिणी परिवर्तन भिदि का 'विन्दु' और भटभृत का 'वाट्य' के समान प्रत्यक्ष है। तथा पत्थर तोड़ने वाले 'घण' का हन् से निकलना आज भी मना नहीं किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त 'प' का 'ब', 'क' का ग्, ज का य, ह का ढ (सोढं) ध्य, ह्य का झ, य का ज, ष स का ख छ आदि या इनके उलटे हजारों परिवर्तन इसी रीति से होना भी स्वाभाविक ही है। इस प्रकार प्राकृत अपभ्रंश या वर्तमान भाषाओं के परि-

वर्तन कोई नई वस्तुएँ नहीं हैं, भाषा अपना चोगा वैदिक काल ही से प्रतिदिन बदलती आ रही है, वह उन्हीं नियमों का अनुसरण आज भी कर रही है, जिन नियमों के द्वारा वैदिक भाषा का स्वयं निर्माण हुआ था। इसके यह भी माने हैं कि पदों के वर्ण समूह कुलाल की मिट्टी के समान है, उससे प्रत्येक युग पुरानी भाषा की आकृति या ठप्पा ले ले कर नव नव पद निर्माण करता-जाता है। अर्थ किसी पद की निश्चित आनुपूर्व्यी से नहीं, वरन् किसी भी आनुपूर्व्यी से समानरूप में संकेतित हो सकता है, संकेतप्रधान है आनुपूर्व्यी, कोई हो, संकेत में कमी नहीं आती, पुराने पदों को उसी से बने नये पद मिल जाने से भाषा का भण्डार अधिक बढ़ जाता है; यह और अच्छी बात होती है।

'अथाप्यन्त व्यापत्तिर्भवति'। अन्तोदात्तता के परिवर्तन ने अन्तिम वर्णों को एकदम असुरक्षित बना दिया। उनके हलके उच्चारण ने धीरे-धीरे उनका अस्तित्व ही मिटा दिया। सभी व्यञ्जनान्तों के अन्तिम वर्ण लुप्त हो गये, आद्योदात्तता ने फिर अन्तिम स्वरों की वही दुर्दशा की, पुनः नये व्यञ्जनान्त–वचन् कथन् परिवर्तन् आदि पदों की उत्पत्ति कर दी है, यद्यपि हम अभी तक इनको वचन, कथन, परिवर्तन जैसे स्वरान्त लिखकर पुरानी लकीर पीटते जा रहे हैं। साथ में पुरानी विभक्तियों के स्थान में कुछ नई विकृतियों को स्थान देते हैं जैसे 'लड़का जाता है' लड़के ने कहा, लड़कों से कहो, यहां पर 'लड़का' शब्द के तीन रूप अन्त व्यापत्ति के ज्वलन्त प्रमाण हैं, ये परिवर्तन लिंग और वचनों के स्पष्टकारक पूर्व विभक्तिरूप में स्थान पा रहे हैं। पुरानी भाषाओं के पदों का जो वेष स्त्रीलिंग में था, उसको अब पुल्लिंग पदों ने बड़े चाव से अपनाकर उन्हें दाढ़ी मूंछ लगा दी है जैसा लड़का आना जाना, भाई बाबू आदि में आ ई ऊ संस्कृतादि में स्त्रीलिंग के वेष हैं। यहां तक कि कई पुल्लिंग शब्द भी स्त्रीत्व को अपना चुके हैं, जैसे 'आत्मा', इसका वेष और शरीर दोनों स्त्रीत्वमय हो गये हैं, 'परमात्मा' में अभी पुरुषत्व है पर बाना स्त्रीत्व का ही स्वीकार किये है। यह है परिवर्तन का जादू, नवीनता का मायामोह, किसी को खटकता तक नहीं। जिसको सब अपना लें वह है भाषा, वह है शुद्ध भाषा और उत्कृष्ट भाषा। पाणिनि पतञ्जलि जी ने ऐसे रूपों को अपशब्द अपभ्रंश नाम से पुकारा था पर अब ये सर्व मान्य या शुद्ध रूप हैं।

'अथाप्यल्पनिष्पत्तयो भवन्ति'। जिस प्रकार स्वरों के दीर्घ रूपों का सम्प्रसारण अय् आय् अव् आव् इय्, उव् होता है उसी प्रकार उनका विप्रकर्ष ह्रस्वत्व भी जैसे व का उ, य का इ होता है जैसे विद्वान् का विदुषः, अनड्वान्

का अनुडुहः, वक्ति का उक्ति, ययाज का इयाज, ययत्ते का इयत्ते, आदि। ऐसी प्रथा का अनुसरण वैदिक काल में होता रहा जिनके उदाहरण यास्क ने ऊति (वच्) मृदुः (म्रद्वान्) पृथुः (पृथ्वी) पृषतः आदि दिए हैं। इस प्रकार के रूपों की आजकल की भाषाओं में भी कमी नहीं है। गयल का गइल (गया), भयल का भइल (हुआ भया) भ्राता का भाया, भैया, भाई; माता का माया मैया, माई पर मइया—मातृका में आ का अ होना एक और नवीन बात है। कुमाउनी में भ्राता का भावा उससे 'भाऊ' 'भाउ' अन्त में 'भौ' भी हो गये हैं; इसी प्रकार 'कहउ' का 'कहो' तथा 'कउ' और 'कौ' दो रूप हो गये हैं। काकः का कौवा (हिन्दी), काउ (कुमाउनी); कालः का काव उसका 'काःउ' (समय कुमा०), ऐसे ही सैकड़ों उदाहरण हैं। अल्पनिष्पत्ति या विप्रकर्ष व्यञ्जन सम्बन्धी भी है, इससे दो व्यञ्जन एक साथ मिलकर एक हो जाते हैं, यह एकीभाव या तादात्म्य रूप अल्पनिष्पत्ति है। उद्+लिखति= उल्लिखति, विद्वत् जन = विद्वज्जन। दूधदही = दूद्ही, रात दिन = राद्दिन, पँच सेरी = पँसेरी; पृष्ठ > पिट्ठ > पीठ, तिक्त-तित्त (तीता) गोष्ठ—गोट्ठ—गोठ; आदि आदि। अल्पनिष्पत्ति 'एकशेष' रूप की भी होती है, 'लड़का लड़का लड़का' का 'लड़कों' रूप एकशेष है ऐसे ही कुमाउनी में दीदी का 'दि' (नाम के और सम्बोधन के आगे) हो जाता है, खणण का 'खण' (खनना) हो जाता है। इसी प्रकार दादा (बड़ा भाई) का दा शेष रह जाता है जैसे हर्दिदा = हरिदत्तदादा। ऐसे ही 'आनन्द सिंह' का 'आनसिंह', 'हर्षसिंह' का 'हर्सिंह' होता है, सभी आधुनिक भाषाओं में चौवालीस = चतुश्चत्वारिंशत् के दो च का एकशेष देता है, इसी प्रकार बाईस=द्वाविंशति के दो 'व' का एक शेष। स्वरों की एक दूसरे प्रकार की अल्पनिष्पत्ति होती है जिसे हम स्वर संकोच कह सकते हैं जैसे नौनी या नौणी > नवनीत, उण उड़ँड़ (उड़ना) उड़न (खटोला) उड्डयन, दशरा (दशौर कु०) दशहरा—दश (दिन का) हरेला आदि में कई स्वरों का एक स्वर में संघात या संकोच हो गया है। कई पुराने समस्त पदों के संकोच की कहानी इन सबसे निराली है जैसे सुनार या सोनार—स्वर्णकार, चमार—चर्मकार, कुम्हार, या (कु०) कुमार—कुम्भकार, लोहार या ल्वार (कु०) लौहकार।

"भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा दमूना इति, नैगमेभ्यो भाषिका यथा उष्णं घृतं"। यास्क जी ने इस पंक्ति के द्वारा भाषाविज्ञानियों की आँखें खोल देने का महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिया है। वैदिक भाषा में भाषिक या तत्कालीन बोल-चाल की भाषा के 'दमूना' आदि शब्द स्थान पा गये थे। यह उस समय की

बात होगी जब वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत की ओर झुक चुकी होगी, यह समय ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों के युग का होगा। ठीक यही दशा लौकिक संस्कृत की शिष्ट भाषा रहने के युग में हुई, उस समय के नाट्यकारोंने नाटकों में स्त्रियों नौकरों आदि की भाषा को प्राकृत में दर्शाया। इतना ही नहीं, उस युग में कई देशी शब्दों के शुद्धरूप या स्वरूप संस्कृत में ले लिए गये होंगे इसमें सन्देह नहीं। यही प्रथा आजकल के लेखक भी अपना रहे हैं, वे अपने ग्रन्थों में ग्रामीण भाषा तथा उसकी कहावतों महावरों और लोकगीतों को गर्व के साथ स्वीकार करते जा रहे हैं, कई ग्रामीण शब्दों को भी यथास्थान शिष्टत्व भी प्रदान किया जा रहा है यह किसी से छिपा नहीं हैं। इसके विपरीत (नैगम) वेदों के शब्दों को भाषिक (लौकिक संस्कृत) के शब्दों में धड़ाधड़ भरते रहे जैसे उष्णं घृतं आदि। यही प्रथा प्राकृत अपभ्रंश और आजकल की भाषाओं में अपनायी जा रही है, हम, आजकल आविर्भूत तद्भव शब्दों के साथ-साथ वैदिक और लौकिक संस्कृत के शब्दों को तत्समरूप में अधिक मात्रा में प्रयुक्त करते जा रहे हैं। हिन्दी के प्रथम तीन युगों के कवियों ने व्रज और अवधी में प्राचीन प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों को अधिक मात्रा में प्राकृत तत्सम रूप में अपनाया है, जो लोग आज भी व्रज और अवधी में काव्य लिखने का प्रयास करते हैं वे भी सूर तुलसी प्रभृति की अनुकृति में अब भी प्राकृतों और अपभ्रंशों के शब्दों के तत्सम रूपों को संस्कृत के तत्सम रूपों के साथ साथ प्रयोग करते जाते हैं। इससे यह फलित हुआ कि बोलचाल की भाषा अपनी शिष्ट भाषा या राष्ट्रभाषा या राजभाषा को बिना प्रभावित किये नहीं रह सकती, यह एक स्वाभाविक नियम है।

"प्रकृतय एवेकेषु भाषन्ते विकृतय एकेषु, शवति गति कर्मा काम्बोजेषु भाष्यते,...विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति; दाति लवनार्थे प्राच्येषु दात्र मुदीच्येषु" (यास्क)। "हम्मति सुराष्ट्रेषु; रंहति प्राच्यमध्येषु; गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जन्ते।" (पतञ्जलि)।

यह उद्धरण केवल भाषाविज्ञान पर ही पूर्ण प्रकाश नहीं डालता, वरन् साथ में, इन लेखकों के समय में संस्कृत भाषा को बोलने वाले आर्यों के तीन मुख्य समुदायों का स्पष्ट उल्लेख भी करता है, आर्यों के ये तीन समुदाय कौन रहे होंगे, इस पर पहिले ही लिखा जा चुका है, इन लेखकों के अनुसार प्राचाम् और उदीचां नाम की संस्कृत बोलने वाले 'आर्य' नाम से पुकारे गये हैं पर काम्बोज और सुराष्ट्र में रहने वाले संस्कृत बोलने वालों की जाति का या वर्ग का नाम नहीं दिया गया है। इनका यह तात्पर्य तो स्पष्ट है कि काम्बोज और सुराष्ट्र में भी संस्कृत ही बोली जाती थी, पर इनकी संस्कृत और प्राचाम्

उदीचां की संस्कृत में कुछ गहरा सा, भेद आ गया था, यदि काम्बोज और सुराष्ट्र की तब की भाषा आर्यों के (वैदिक) दशगणों की भाषा से थोड़ा बहुत भेद रखती थी तो इससे दो निश्चित निर्णय निःसृत किये जा सकते हैं। (१) काम्बोज मध्यपूर्व और सुराष्ट्र की संस्कृत बोलने वाली जाति निश्चित-रूपेण एक आर्य जाति ही थी, क्योंकि संस्कृत आर्यों ही की भाषा थी। (२) यदि ये आर्यवंश के थे तो ये वैदिक दशगणी आर्यों से भिन्न ही थे, क्योंकि ये लेखक अपनों को तो आर्य नाम से पुकारते हैं, उन्हें काम्बोज सुराष्ट्र आदि देशों के नाम से। यदि यह बात सत्य है, तो हो न हो ये काम्बोज मध्यपूर्वी और सुराष्ट्र वाले आर्य, वही आर्य थे जिनको प्रथम भाग में खश आर्यों का होना सिद्ध किया जा चुका है, उक्त उद्धरण इस तथ्य और सत्य की सिद्धि का एक महाबली अकाट्य प्रमाण है। एक और नई बात यह है कि पतञ्जलि के समय में यास्क के काम्बोज संस्कृत बोलने वाले (खश आर्य) दक्षिण पूर्व बुन्देलखंड प्रभृति देशों में फैल गये थे, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य प्रगट हो रहा है।

संस्कृत भाषा में आरम्भ ही से शब्द भण्डार कम नहीं रहा। एक ही अर्थ के प्रकाशन के लिये जहां कई पद और वाक्य या रूप होते हैं वहां वक्ता-समुदाय के व्यवहार से प्रचार प्राप्त पद रूप या वाक्य को बोलचाल में प्रयोग की प्रथा या स्वीकृति मिल जाती है। पर्वतीय भाषाओं में इस प्रकार की स्थिति का स्पष्ट उदाहरण मिलता है। कथन या कहना पद के कई पर्याय हैं, भणना, बोलना आदि। इनमें से नैपाली में भणति का भान्यो भान्छो आदि का एकान्तरूप से प्रयोग पाया जाता है; कुमाउनी में प्रधानतया 'कहना' का, कोछ, कौछ, कूँण, कून, कौ आदि रूप में प्रशस्त प्रयोग होता है 'बोलना' का बहुत कम प्रयोग (तुलना में) मिलता है। उधर गढ़वाली में मुख्यता 'बोलना' पद के 'बुना' आदि रूप को अधिक मात्रा में मिलती है। ठीक इसी प्रकार यास्क के युग में काम्बोज वाले 'गच्छति' के स्थान में 'शवति' का प्रयोग अधिक मात्रा में करते थे, और दशगणी आर्य शवति के केवल एक रूप 'शव' का ही प्रयोग करते रहे। दशगणी आर्यों के अन्तर्गत भी प्रयोग पक्ष की दरार कम न थी। एक ही अर्थ वाले (एक धातु से निष्पन्न) एक ही पद के दो रूपों में एक का चलन (दाति का) पूर्व में एकान्ततः रहा तो दूसरे (दात्र) का उत्तर काश्मीर पञ्जाब की ओर। इसी प्रकार पतञ्जलि जी के कथनानुसार, 'गच्छति' के स्थान में सुराष्ट्र वाले 'हम्मति' दक्षिण पूर्व वाले 'रंहति,' का ही प्रयोग प्रधानतया करते रहे, पर दशगणी आर्य गच्छति के ही रूपों का अनु-सरण करते रहे। इस प्रकार के प्रयोग भाषा को विभाषाओं में विभक्त कर देते

हैं, वास्तव में पर्वतीय भाषाओं का मुख्य मेरुदण्ड तो एक ही है, पर नैपाली, कुमाउनी, गढ़वाली में इसी प्रकार के विभाषापन का भेद अधिक है, स्वरादि भेद भी क्रमशः बढ़ते ही जा रहे हैं। पाणिनि जी ने बुद्धिमत्ता से ही उपर्युक्त स्वरूपों को 'विभाषा' नाम से ही पुकार रखा है जिससे, उनके समय में संस्कृत भाषा की पूर्व और उत्तर की दो मुख्य विभाषायें वैसी ही थीं जैसी मध्ययुग में शौरसेनी और अर्द्ध मागधी या आजकल पर्वतों में कुमाउनी, नैपाली और गढ़वाली। यह स्पष्टतया विदित होता है कि उस समय उनमें उतना ही गहरा भेद रहा होगा (बोलचाल में) जितना हमें आज पर्वतीय विभाषाओं में या मध्यकालीन प्राकृतों में मिलता है। पाणिनि जी ने तत्कालीन शिष्ट संस्कृत या दोनों विभाषाओं की सम्मत भाषा में, या भाषा का ही व्याकरण लिखा होगा।

जिस प्रकार की परिस्थितियों का वर्णन यास्क और पतञ्जलि ने किया है, उनको माध्यम मानकर और संस्कृत व्याकरण में संगठित धातुओं के दशगणों की विभिन्न प्रकार की रूपावलियों को दृष्टिपथ में रखते हुए कुछ ऐसा सा लगता है कि हमारे वैदिक आर्यों के भी दशगण या वर्ग थे, उनका प्रत्येक वर्ग एक-एक गण के धातुओं की रूपावली में ही अपने-अपने भावों को व्यक्त करने का आदी रहा होगा। क्योंकि धातुओं के प्रत्येक गण में प्रत्येक प्रकार की क्रिया प्रकाशक धातु मिलते हैं। यह हो सकता है कि भ्वादिगण सर्वसम्मत रहा हो, और अन्य गणों में से एक वर्ग एक का अधिक प्रयोग करता रहा हो, दूसरा दूसरे का, तीसरा तीसरे का। यद्यपि इस निर्णय का समर्थन किसी अन्य उपलब्ध प्रमाण से नहीं हो सकता, धातुओं और आर्यों के दशगणों का बराबर संख्या का होना ही इसमें बलिष्ठ प्रमाण है जिसे घुणाक्षरन्याय से अप्रामाणिक भी कह सकते हैं, पर सम्भावना ऐसा होने की अधिक है। पाणिनि प्रभृति ने लृ। ऋ वाले आर्यों के दो मुख्य भेदों पर भी प्रकाश नहीं डाला है। वास्तव में पाणिनि जी ने अष्टाध्यायी तब लिखी है जब आर्यों के दशगण तो बिलकुल घुल-मिल ही गये थे, साथ में वे खश आर्य जो यास्क के समय काम्बोज में थे, वे भी उत्तर पश्चिम भारत में फैल गये थे, दोनों की संस्कृतें भी मिल गई थीं जिनको पतञ्जलि जी सुराष्ट्र, मध्यपूर्व प्राच्यदेशी संस्कृत नाम देते हैं।

आजकल के भाषाविज्ञानियों ने यास्क के, इससे पूर्व में व्याख्यात सब मतों को अपना मूलमंत्र या सूत्र मानकर, उनके पदचिह्नों में ही चलते हुए प्रान्तीय या खण्डीय भाषाओं की मूल आकृति को उनकी आज की आकृति में देखने की जो शैली अपनाई है, उसे वे फोनौलाजी या ध्वनि विकास नाम देते आये हैं। इनके ग्रन्थों में जिन नियमों का अनुसरण या पालन किया गया है, वे वैयाकरणों या निरुक्तकारों के लट्ठमारी के नियम लोप आगम

आदेश आदि के समान हैं, उनमें भाषातत्वशास्त्रानुरूप व्याख्या का प्रायः अभाव ही है, उनकी प्रथा का कुछ संक्षिप्त विवेचन कुमाउनी की आकृति के द्वारा यहां पर दे दिया जाता है। भाषा किसी जाति की एक परम्परा होती है। प्रत्येक जाति युग-युग में परम्परा की भाषा के नूतन रूप में व्यवहार करते हुए, उसके प्राचीन रूप को संस्कृति का स्रोत मानकर उस पर बड़ा गर्व भी करती है। प्रायः सभी युगों की शिष्ट भाषायें तो प्राचीन और नवीन रूपों के एक मीठे सम्मिश्रण को प्रस्तुत करती हैं। निरुक्तकार वैयाकरण और भाषा विज्ञानी प्राचीन रूप को प्रकृति और नवीन को विकृति मान कर यह समझते हैं कि वचन का 'वैन' होने में च लोप उसके अ में य का योग फिर य का इ, इ का व में जुड़ने से 'बैन' बना तो बीच के खम्भे रूप च लोप से वचन की धुरी 'वैन' में छोटी कर दी गई शेष ज्यों का त्यों रह गया ऐसा नहीं होता; 'वचन' पूरा ढा दिया जाता है, उससे वचन नहीं बन सकता 'बैन' ही बनसकता है। प्रत्येक के उच्चारण में भेद आ गया है, वाक्य में भेद आ गया है, स्वर में भेद आ गया है, यह नई सृष्टि है, नया संसार है। हम वचन में वैन की आकृति और बैन में वचन की आकृति मात्र पा सकते हैं। यह ध्वनि विकास नहीं. नवनिर्मिति है, राज्य परिवर्तन है। परम्परामात्र शेष है। इस परिवर्तन में कम से कम पांच सौ वर्ष लगे होंगे। वचन का वैन बनने में यहां भाषातत्वशास्त्र सम्बन्धी यह स्वाभाविक नियम काम करेगा। पहिले अन्तोदात्त आद्योदात्त होगा, जिससे पूरे पद का ढांचा ही एकदम बदल गया, आद्योदात्तता ने इषद् स्पष्ट अन्तस्थ व को स्पष्ट ब में परिणत कर दिया और आनुपूर्व्यो वचन के पूर्ण स्वर तारतम्य में विस्फोट आ जाने से मध्य के च का हलका उच्चारण ऊष्माण (अपने वर्गीय) श के रूप में होने लगा। यह श् भी कुछ दिनों में घोष ह, तदन्तर अघोष ह् में परिवर्तित होता हुआ ब् के अ में घात ले आया और इसका उच्चारण ब'अन सा हुआ जो कालान्तर में इसी घातता से ब'यन सा बाइन तथा बैन बना। यदि ह की अघोषता घात और स्वरभक्ति न लाती तो 'बेन' रूप होता 'बैन' नहीं। अब बतलाइये इनमें लोपागमादेश कहां हुए, यहां तो ध्वनियों का, अपना स्वाभाविक क्रमिक प्रवाह अपने आप प्रस्तुत होता जा रहा है। इसमें पुराने पद की ईंट-गारे की आकृति मात्र है। 'भाजन' से 'वासन' कैसे बना? भाजनं शब्द को प्रा० अपभ्रंश युग में तत्सम रूप में ग्रहीत किया गया। 'भाजनं' अन्तोदात्त था, उस युग में महत्स्वरा प्रायः आद्योदात्त का था। अतः अनुकरण में असावधानी स्वाभाविक थी, सोष्म भ को अनूष्म 'बह' कर बहाजन, बहाशन 'ब' आसन, बासन रूप सिद्ध हुआ; यहां बा में आ दीर्घ और सघात है; 'वास' 'निवास'

में ह्रस्व 'आ' घातहीन है। यदि इस शब्द को यह रूप प्रा० युग में मिल जाता तो अपभ्रंश में यह भी 'बैन' ही बन जाता। वदन का भी 'बैन' बौन इसीलिए नहीं हुआ कि इसका भी तब प्रयोग न रहा होगा। भाजन और वचन की प्रक्रिया में मध्ययुगीय च् छ् ज् झ् ञ् के घृष्टस्पर्शीय उच्चारण या ऊष्माणीय तालव्यता को ध्यान से न उतारना चाहिए, उसी के कारण उनमें ऊष्माणता सकारता और अघोष हकारता को सुविधा मिली है।

भाषा विज्ञानी जिन विशिष्ट नियमों-ग्रिम्स विधान और वेर्नर्स विधान-पर आज तक गर्व भरते रहे हैं, उसका समुल खंडन लिओनार्ड ब्लूमफील्ड ने २०.२ और २०.३ (पृ० ३४. पृ० ३४८ प्रकाशन १९५५ ब्रिटेन) ने पूर्णतः कर दिया है।

आदि लोप

घातहीनता के कारण जैसे प्रा० में रण्णं अरण्यम् (बन) भतर, भितर, भितेर (भीतर) अभ्यन्तर; रिठ, रिठो, (रीठा) अरिष्ठ; भिजण (भीगना) अभ्यञ्जति; हंगार—अहंकार; हम्मि (हम्मि अस्मे), दुण—द्विगुण; ढुंट (ढूँटा) अर्द्धचतुर्थ; ढिल (ढीला) शिथिल; उखव उखल—(ओखली) उलूखल; छुटण (छूटना) उत्सृष्ट; ग्यार, इग्यार—एकादश; भूख—बुभुक्षा (बुभुक्खा-भुक्खा-भूख); प्राङ्गण—आङ्गन—आङँड़ँ (आँगन)।

अन्त लोप

जिस प्रकार का अन्त का लोप यास्क को अभीष्ट है वह धातुरूप से सम्बन्ध रखता है। (गत्वा गतम् में गम् के म् का लोप बताने से) इस प्रकार की स्थिति कुमाउनी में भी है। भात खाँछु, खान्छु, खाँन्छुँ, दूसरी ओर भात खाःछ् खैहालौ, खैहैलौ खा छियो में पूर्वलिखित रूपों के अनुस्वार का लोप है। प्रथम रूपों में अनुस्वार 'खाणु' (खाना) या खाण धातु के णु या ण् का प्रतिनिधि है, जिसका द्वितीय प्रकार के भूतकाल के रूपों में लोप पाया जा रहा है। ऐसे ही जांछु जान्छु जान्छुँ (जाता हूं) के भूतकाल में ग्योछ, भविष्यत् में 'जालो' रूपों में भी अनुस्वार का लोप है। कुमाउनी में इस प्रकार का परिवर्तन उक्त प्रकार के सभी धातुओं में मिलता है। स्थिति तो यह है अनुस्वार वाले रूपों की प्रकृति णु अन्त वाला धातुरूप है, जैसे खाणु पिणु जाणु आदि पर भूतकाल और भविष्यत्काल में प्रकृति धातु का णु ध्वनिहीन रूप खा, जा, पी, आदि हैं। वैयाकरणों को और नैरुक्तों को यह स्थिति लोप की सी दीखती है यह उनकी लोपादि नाम की भाषा है।

उपधा लोप

इसका सम्बन्ध भी धातुरूपों से है (*जाग्मतुः जग्मुः*)। बड़ी विचित्र बात है कि कुमाउनी के जाणु (याति) के रूपों को जब भूतकाल में चलाया जाता है तो गम धातु का प्रयोग किया जाता है ठीक उसी प्रकार जैसे अस के भविष्यत् में भू का। मैं गयूं, गेईं, तू गोछै, ग्योछै, तुम ग्योछा, गौछ गोहा; उ ग्योछ गोछ गौछ, उँ गईं या उँ ग्यान गइन (मैं गया, तू गया, तुम गये, वह गया, वे गये) हम गयूं या गयौं (हम गये)। इन रूपों में ग्योछ गोछ गौछ ग्यान में गयो की उपधा का लोप स्पष्टहै, गयो के ग्यो गो गौ ग्या गइन आदि रूप हो गये हैं। हिन्दी में इस प्रकार का उपधा लोप चल्ना, फिर्ना, कह्ना, (चलना, फिरना, कहना) आदि रूपों में या लम्बे पदों में सर्वत्र मिलता है रामूचन्द्र् (रामचन्द्र) आदि।

उपधा विकार

राजा दण्डी (सं०)। कुमाउनी में 'राज् बाज् (राजा, बाजा) के बहुवचन के "राजन् कणि" "वाजन् कणि" रूपों में 'राज् का राजन्, बाज का वाजन् हो जाता है। इन दोनों रूपों में 'आ' ह्रस्व तथा घातीय है यह ध्यान रहे तुमि का बहुबचन में तुमन् थें, तुमन् छें, तूमूं थें, तमूं थें (तुम से) आदि में तुमि की उपधा में यहां विभिन्न प्रकार के विकार सामने आ रहे हैं। इसी प्रकार अन्य रूपों में भी देखना चाहिए।

वर्णलोप

'राजनौंयौं' (राजाओं के यहां) का पुरानी कुमाऊनी में राजनौंक यां' रूप था उसके क वर्ण (सम्बन्ध विभक्ति सूचक) का अब नई कुमाऊनी में ह्रास हो गया है, इसी प्रकार 'तुमा यां,' या 'उना वां' (तुम्हारे यहां, उनके यहां) इनका प्राचीन रूप तुमार्यां, उनार्यां था, जिसको कोई-कोई अबतक सफाई के लिये बोल भी लेते हैं। उस सम्बन्धसूचक 'र' वर्ण का लोप हो गया है। यहां पर एक विशेष बात का उल्लेख कर देना परम आवश्यक है कि 'तुमा यां' 'इना-यां' में 'तुमा' और 'इना' पदों के 'आ' का उच्चारण, उसी प्रकार र् गर्भित समझना चाहिए जिस प्रकार अंग्रेजी के 'स्माट' (स्मार्ट) पाट (पार्ट) के 'आ' में र गर्भित है। यह बड़े महत्त्व की वस्तु है। ध्वनितत्त्वशास्त्र में इससे कई समस्यायें हल हो जाती हैं।

द्विवर्ण लोप

कहीं-कहीं दो-दो वर्णों का लोप हो गया है जैसा एकादश द्वादश के क्रम से ए और द्, तथा प्रथम-द्वितीय दो 'द' वर्णों के लोप से तेरह की अनुरूपता में ग्यार, बार (ग्यारह, बाहर) बन गये हैं।

आदि विपर्यय

छार (राख), खार (कोयला सा बना तमाखू और राख) प्राचीन 'क्षार' से बने हैं; छाल छाःल (बक्कल) प्राचीन कृन्ति किच्चि+ से; और प्रायः अन्तःस्थ व का ओष्ठीय ब बन गया है बेचणु—विक्रय, ज्योंति—ज्योति तो द्युति से, (पूजा के लिए भित्ति पर लिखित मूर्ति) और घण (लोहे का पत्थर फोड़ने का अस्त्र) भी 'हन' से बना है जैसे शत्रुहन या शत्रुघ्न या शत्रुघन। प्राकृतों में ध्य औ ह्य का झ इस प्रकार बना मध्य मद्ह्य मजह्य मज्य्ह मज्ज्हं मज्झं-माजि (कु) (हि) में—मह्यं—मय्ह्यं मज्ह्यं, मज्झं मज्झ—मुझ तुझ—तुह्यं की अनुकृति से बना, और द्युति से ज्योति भी उसी प्रकार दकार होने से हो सकता है, पर हन का घन या घण बनना असम्भव सा लग रहा है, समझ में तो यह आता है कि घन से हन, घ्नन्ति से हन्ति, सोढते से सहते बने होंगे, नहीं तो सोढं कैसे बनेगा। यहां क्रम से ग और ढ् के आगम में कौन कारण है? घन का गहन से भी सम्बन्ध हो सकता है। बिन्दु भी भिद् धातु से उसी प्रकार बना है जिस प्रकार बासन-भाजन से बना है, और खांसी—कास से। इतना ही नहीं स्वरों का भी आदि विपर्यय होता है जैसे बूंदी-बिन्दु से, तब बूँद बून-बुन्द, आदि सब बुन्दी से निकले हैं। ये श्रुति भ्रम और उच्चारण भ्रममूलक पाक हैं। हिन्दी और कुमाउनी में द्य का ज अनिवार्य रूप से हुआ है, जैसे बाजा-वाद्यं, अनाज नाज, अन्नाद्यं आदि।

आद्यन्तविपर्यय

तत्सम शब्दों में पिशाच का पिचास और व्रत का वर्त तो प्रायः हिन्दी और कुमाउनी दोनों भाषा-भाषी बोलते ही हैं। इसके अतिरिक्त कुमाउनी और हिन्दी में कई तद्भव शब्दों में वर्णों का आद्यान्त विपर्यय है, और विपर्यय द्वारा नव निर्मिति भी है। जैसे धिनाई—दोहनिका+(दुधारू पशु या दूध दही घी की नैत्यिक सत्ता) फौंक-पंख (पहंक) भौत-बहुत (हिन्दी से) स्वर-विपर्यय सन्धि, व् ह् का सोष्म भ्, हव्‌‌ु, हलु—हलका—लघुक+, पुनः स्वर विपर्यय जैसे—म्हैंनरसींङ्—महेन्द्र सिंह (एक नाम) म्हैण-महीना, म्हतारि-

महतारी (मां)। फाव-लम्फ (कूदना) परतिम-प्रतिमा, रीष-ईर्ष्या (क्रोध) पछ्याण—पहिचान (च् ह् का स्थान परिवर्तन के पश्चात् सोष्मता-छ्) प्रत्यभिज्ञान; नाख—नासिका (क् स् का स्थान परिवर्तन, पुनः सोष्म ख होना) नाक;। यास्क महोदय ने 'स्तोका रज्जु तर्कु सिकता' शब्दों में भी आद्यन्त विपर्यय देखा है, उनकी समझ से धातु पहिले बने, तब शब्द बने, तभी उन्होंने च्युति से स्तोक, सृज् से रज्जु, कस से सिकता, कृत् से तर्कु शब्दों की उत्पत्ति बतलाई है। आदि-आदि में ऐसा होना असम्भव है। भला च्युति से स्तोक कैसे बनेगा किसी भी प्रकार तुच्यि तोच्यि तो बन जायेगा, आदि का स और च् का क् कैसे बनेगा जब उसमें य या इ मिला है, कस से सक बनेगा, सिकता किस प्रकार होगा, सृज् से जर्स या जृस ऋसृज् होगा, रज्जु कैसे होगा, हां कृत् से क्र-तृक् तर्क तर्कु बन भी गया तो उक्त तीन की व्याख्या कैसे हो सकेगी? अतः निश्चित है कि यास्कादि, स्तोकादि चारों के उचित धातुओं को न पा सके। ये शब्द क्रम से स्तुक, रज, सिक, और तृ या तृक धातुओं से बने हैं, जिनसे बने सैकड़ों शब्द वैदिक और लौकिक संस्कृत में मिलते हैं, अतः इनमें आद्यन्त विपर्यय की मान्यता निरुक्तकारों की अपनी कमजोरी की घोषणा है। (ऐसा विश्वास है कि स्तुक् आदि चारों धातु धातुपाठावली में भी सम्भवतः मिल ही जावेंगे, देख लें क्योंकि 'स्तोक' आदि शब्द प्रचलित हैं)।

अन्त व्यापत्ति

मनुष्य में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वह कम से कम बोल कर अधिक से अधिक भाव व्यक्त करना चाहता है। उसकी दूसरी विशेषता यह है कि वह कम से कम समय में अधिक से अधिक बोध कराना चाहता है, प्रथम प्रवृत्ति से वह प्रातिपादकों की विभक्तियों तक को छोड़ देता है—कहां से? (कहां से आये या आ रहे हो' के बदले) उत्तर में केवल 'कलकत्ता' (कलकत्ता से, आये या आ रहे हैं के बदले) के बिना विभक्तिक शब्द को वाक्य रूप में अध्याहृत किया जाता है। प्रश्न में विधेय नदारत होकर उसे उसमें अध्याहृत करना पड़ता है, उत्तर में विधेय तो गायब है ही, 'से' विभक्ति भी नहीं है, दोनों का अध्याहार करना पड़ता है। विभक्ति में मार पड़ गई कि समाप्त हो गई। 'कहां से....' प्रश्न के विशालोदर में कई प्रश्नों की माला है, उनका उत्तर भी समझदार ऐसी ही तार वाली भाषा में देगा। दूसरी बात समय की बचत के लिए रात-दिन के अभ्यास से प्राप्त लाघवता द्वारा हम सब प्रायः द्रुता वृत्ति में ही बोलते हैं, जब कोई नौसिखिया हमारे बीच में बैठा

रहता है तो उसके पल्ले एक आध पदमात्र पड़ पाता है। इससे प्रत्येक वाक्य के समस्त अंगों का उचित उच्चारण नहीं हो पाता, उस ओर ध्यान देने की फुरसत ही किसको है, आज की भूल के उच्चारण वाले शब्द को नये सिरे मखौल-मखौल में प्रचारित कर कल उस पर प्रामाणिकता की मोहर लग जाती है। इस प्रकार की द्रुत वृत्ति से चोट पड़ती है पदान्त के वर्णों में, जिनके स्वर घात और विसर्जनीयता ह्रस्व लघु गुरुता अपने भाग्य को रोने को छोड़ दिए जाते हैं, पर ये वहां से खिसक कर उसी पद के किसी अन्य अंग पर झपट कर पद को विपद्ग्रस्त कर देते हैं। अतः 'देवासः' का 'देवास्' उसका पुनः 'देवाः', 'देवः' पुनः 'देवता' जैसे रूप धड़ल्ले से बन गये। इसी प्रकार जनासः का जनास् उसका जनाः आदि रूपों के बनने की एक संक्षिप्त प्रणाली चल पड़ी। प्राकृत युग में संस्कृत के प्रायः व्यञ्जनान्त पदों के अन्तिम वर्णों का ढेर हो गया, सब प्रायः स्वरान्त हो गये, अपभ्रंश और हिन्दी युग में वे पुनः नये व्यञ्जनान्त हो गये हैं जैसे मनस् का मन, मन का अब 'मन्' बोला जाता है लिखा 'मन' ही जाता है। अपभ्रंश युग में संस्कृत तत्सम पदों के आगे कई नये प्रत्ययों रूप वर्णों को जोड़ा गया, पर कालान्तर में उनकी भी वही दशा हुई, जैसे चेलः-चेड चेड़ चेल-चेलक-चेलव्-चेल-चेलो (लड़का बेटा); वत्स-वच्छ-बाछ-बाछक-बाचव-बाछउ,-बाछो (बछड़ा) आदि बाछड़ो (कु०), हिन्दी बछड़ा में वाछ + ड + क दो प्रत्यय लगे हैं वाछ ड अ, वाछडव, पहिले से 'बछड़ा', दूसरे से 'बाछड़ो' (पुरानी कुमा०), अब नई कुमाउनी में वही फिर 'बाछड्' हो चुका है, आगे क्या होगा ईश्वर जाने। अन्तव्यापत्ति में शब्दों के उन रूपों के परिवर्तन भी सम्मिलित होते हैं जो कारक विभक्तियों के आने से आ जाते हैं, जैसे 'बाछड़' का बहुवचन में बछाड़ा (अन्त में अघोष आ तथा मध्य 'छा' में ह्रस्व आ, पहिले ब के आ के समान है)। पूरे के पूरे 'बाछड़' शब्द का नवीन रूप 'बछाड़ा' हो गया है, व्यञ्जनों से आकृति मात्र शेष है; स्वरों का एकदम उलटफेर और उथल पुथल सामने है। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द के बहुवचन में उसके अन्त में कुछ न कुछ परिवर्तन कु० हि० में होता ही है, लड़का लड़के, च्यलो, च्यालांल् , च्यालांन् कणि, च्यालान् (प्रथम दो में च्या और ला के आ दीर्घ हैं, तीसरे में दोनों ह्रस्व) (लड़कों को) आदि-आदि। अन्त-व्यापत्ति अन्य कई प्रकार की हैं। खनन का पुरानी कु० में खणण बना उसका अब 'खण' बन गया है, दो णों का एक शेष होकर अन्त के ण की व्यापत्ति हो गई है। इसी प्रकार द्रुतवृत्तिता के प्रभाव से कुमाउनी के दादा (बड़ा भाई) दिदि (बड़ी बहिन) शब्दों के भी समास में या पृथक् प्रयोग में केवल 'दा' 'दि' बोला जाता है, ओ दाः (अहो बड़े भाई) ओ दिः (अहो बड़ी

बहिन), होना था 'ओ दादा:' 'ओ दिदी:' । ऐसे नाम के साथ भी इसी संक्षेप का प्रायः व्यवहार (प्रेम व्यक्ति युक्त) किया जाता है; हर्दिदा—हरिदत्त दादा, देवदा—देवदत्तदादा । जहां दूर का व्यवहार है वहां सँभल कर पूरा शुद्ध नाम तथा पूरा दादा दिदी का उच्चारण किया जाता है । इस एक शेष को अंग्रेजीदां 'हैप्लौलौजी' नाम से पुकारते हैं, पर यह है अन्तर्व्यापत्तिमूलक एकशेष द्रुतवृत्ति से संक्षिप्त संकेतमात्र ।

अल्पनिष्पत्ति या विप्रकर्ष

इसका विस्तृत विवेचन पहिले ही दे दिया गया है । पर वह अल्पनिष्पत्ति लम्बोदरी है, इसमें कई अन्य प्रकार के विकारों या 'विप्रकर्षों' का भी समावेश है । पदान्त या पदान्तर्गत संयुक्त व्यञ्जनों का सरलता से उच्चारण करने के लोभ से उनका आदि या अन्त के व्यञ्जन में एकत्व या एकरूपत्व हो जाता है, इसे 'एकुरूपता' कहते हैं यह एकरूपता प्रायः स्ववर्गीय वर्णों में स्थान पाती है । जैसे पररूप—राद्दिन-रातदिन (रात्रिंदिनं), दत्तेरि-धत्तेरि-धिक्+तव+कृ (धिक्कार); पाँश्शौ-पाँचसौ-पञ्चशतं; शाश्शौ-सातसौ-सप्तशत; बाच्चीत-बातचीत (वार्ताचिन्ता); दूद्है-दूध-दही-दुग्धदधि, शाँग्घाँट-शंखघंट, पाश्शाव-पाठशाला; ज्यठ, जेठु-ज्येष्ठ (बड़ा भाई), पिठ-पिष्ट (चावल की भूसी की धूल); गिठि, गेठि-गृष्टि (एक साग), मिठ, तित, गोठ—मिष्ट तिक्त गोष्ठ; इनमें पूर्व वर्ण पर के अनुरूप हो गया है । अब परवर्ण का पूर्वरूप देखें—लाग्यों-लग्न+(* लग्गि अड़ँ) (लगा हुआ, लगा), दाड्यों-(दड्डअड़ँ)-दष्ट+(दांत से डसा या कटा); हिन्दी में डसा डसना इसी से निकला है, पर कुमाउनी का 'डाँस्यों' (डसा हुआ) दंष्ट्रा+से निकला है, डाँस्यों का प्रथम अनुनासिक इसका प्रमाण है । पाक्यों—पक्क+(पका हुआ) नाँःट—नष्ट (वंश समाप्ति) (*नंष्ट); नीन—(* निन्द्रा)—निद्रा (नींद); आँसु, आग, काँसो,—अश्रु, अग्नि, कनिष्ठ, जांति-यन्तिका (लोहे के सीकों का चूल्हा लकड़ी से पकाने के काम का) भुट्यों—भृष्टक (भुना) .

जिस प्रकार पिछले परिच्छेद में व्यञ्जनों का पररूप और पूर्वरूप रूप एकरूपता स्थान पाती है उसी प्रकार स्वरों का भी पररूप और पूर्वरूप होता है, यह पूर्वरूप और पररूप पाणिनि के पूर्वरूपादि से नितान्त भिन्न है । हमारी ये पूर्व पररूपतायें व्यञ्जन्तराल में होती हैं, उनकी बिना अन्तराल के । यह भारतीय भाषाओं में कुमाउनी की एक बड़ी महत्वपूर्ण विशेषता है । जैसे चेलो—च्यल—च्याला । प्रथम कें ए का द्वितीय में अ और तृतीय में आ द्वितीय तृतीय के अन्तिम स्वर अ और आ की अनुरूपता से हुए हैं (अर्थ है बेटा,

बेटा, बेटे); देलि (देगी), द्यल (देगा) द्याला (देंगे); देखींग (दीखना), द्यखण (देखना), मेरि (मेरी), म्यर (मेरा), म्यारा (मेरे), स्वर-स्वेरि (विरादर पु० स्त्री०) भ्यड़ भ्येड़ि (धड़वाला धड़वाली), खालू (खायेगा), खैलि (खायेगी); जाल (जायेगा) जैलि, (जायेगी), डोरो ड्वर ड्वारा (तागा तागे); रव्वर रव्वेरि (सिर, भाग्य, पु० स्त्री०) पड़िरयूं पौड्यूं (सो रहा हूं-दो प्रयोग); ह्वर ह्वारा (रेखा रेखायें), घोड़ो, ध्वड़, ध्वाड़ा (घोड़ा घोड़े), त्यर, तेरि, त्यारा (तेरा तेरी तेरे), डाणु डाण्डा-दण्डक (पहाड़, पहाड़ की उन्नत रेखा)

स्वरों की मण्डूकप्लुति या स्वर भक्ति

यह दो प्रकार की होती है (१) प्राचीन शब्दों या विदेशी भाषा के उन शब्दों के प्रयोग में जिनमें व्यञ्जनों के संयोग हैं, और विरुद्ध संयोग हैं; (२) मध्यकालीन दो एक शब्दों के संयोग से उत्पन्न शब्दों में। द्वितीय के उदाहरण—जानेर-यान + कृ = जान + एर (केर-कहूर-कर-कृ) = जानेर (जाने वाला)। ऐसे ही लेखनेर, पुछूनेर, हँसूनेर खेलूनेर आदि हैं (लिखनेवाला, पूछनेवाला, हँसनेवाला, खेलनेवाला)। औनैर पौनेर में आयान + एर, प्रापण + एर के आवानेर, पावनेर—आउनेर, पाउनेर—औनेर पौनेर बने हैं (आनेवाला, पानेवाला)। म्याव, क्याव, स्याव में मेवा, केला, सेवा के बीच में अनुरूपता से अन्तिम आ कूद कर बीच में आया है; मेआवा, केआला, सेआवा = जिससे आदि का ए का ह्रस्व इ हो गया है तब सन्धि द्वारा म्याव, क्याव (क्याल) स्याव रूप म्यावा क्यावा (क्याला) स्यावा के एकवचन में हैं। इसी प्रकार अव्याव अव्याला—अवेला (विपत्ति)। इन सब में ह्रस्व आ पढ़ें। यह स्थिति पूर्वरूपता या पररूपता में (पिछले परिच्छेद में वर्णित) इसी मण्डूकप्लुति द्वारा प्राप्त होती है। मैल या मैला—प्रा० के मइलं सं० मलिनं के विपर्यय मनिलं-मइलं, अथवा मलिन की अनुरूपता में 'मल' के मध्य में मण्डूकप्लुति द्वारा इ का आगम है। द्याप्त-दिआपूता, देआवूता-देवता (आ ह्रस्व है)।

अब प्रथम प्रकार की मण्डूकप्लुति देखें

असूनान या सनान-स्नान; अस्पर्श-स्पर्श; अश्लोक या सुलोग-श्लोक (सुलोग में सोलोक-सुलोग के क्रम से ओ का उ और क का ग हुआ है); इस्तिरि-स्त्री, यहां स्त्री की दीर्घ ई दो स्थलों आदि और अन्त में कूदी है, पर गुरुता के कारण ह्रस्व हो गई है। अस्तुति-स्तुति; यहां अ, स की स्पष्टता के

लिए टपक पड़ा है, यही बात अस्थान, अस्नान में हुई है । अंग्रेजी के शब्दों में इस्कूल, इस्टेशन आदि भी इसी ढंग से स्वीकृत हुए हैं । निम्नलिखित उदाहरण पदान्तर्गत स्वरों की मंडूकप्लुति को क्रम से बताते हैं (अ) सनेह स्नेह, गरब-गर्व (र का अ का उच्चारण उ सम है) सरग-स्वर्ग (र का अ= उ सम) करम-कर्म, धरम-धर्म, चकर-चक्र (क का अ = उ सम); बजर-वज्र (ज का अ = उ सम), तराश-त्रास (डर), पराणि (प्राणी, प्राण) परिग्यार-प्रकार (रि की इ अघोष) (उपाय रीति) मगन-मग्न (प्रसन्न), जाँतर-यन्त्र (चक्की); (इ)—गिरस्ति-गृहस्थी-गृहस्थ; किलेश-क्लेश; किरिः-क्रिया (तेरहीं) गिरखम-ग्रीष्म, घिरित-घृत, मिरिग-मृग, लछिमि-लक्ष्मी, गिराम-ग्राम; अगिनि-अग्नि; हरीश-हर्ष; आदि । उ—शतुर-शतुरु-शत्रु; सुम्रण (सुमिरन) स्मरण; मितुर-मितर-मित्र (यह शब्द शत्रु की अनुरूपता में उकार ग्रहण करता है (शतुर मितुर = शत्रु मित्र); सुलोग-श्लोक; जातुरि-यात्री, रुकुम-रुक्मिणी; ए—मेलेच्छ-म्लेच्छ, (ये उदाहरण प्रायः तत्सम रूपों के हैं)

व्यञ्जन भी स्वरों की होड से मण्डूकप्लुति करने लगते हैं, विशेष-कर र और ह—उदाहरण—म्हतारि-मस्तारि-मातृ (माता) —ह—होस्कि होसुक (हौसला) उत्सुक; हगिल (हगिन)—आग्र + (आगे) हौर—(और)—अवर (दूसरा), चाख-चाक्-चक्क-चक्र (चक्की); भिण-वृन्त (फल की डंठी), म्हैण-महीना-मास + (महीना) र—रिखु-ईख-इक्षु; शराप-श्राप-शाप; करोड़-क्रोड़-क्रोटि-कोटिः ।

अनुस्वार के मण्डूकप्लुति के बारे में बड़ी गलतफहमी चल रही है, ऐसे अनुस्वार या अनुनासिकता को स्वयमागत अनुनासिक कहने लगे हैं, ग्रन्थों में लिखित वैदिक और लौकिक संस्कृतों में जहां अनुनासिक को खोने की प्रवृत्ति मिलती है जैसे नश्यति > नङ्क्ष्यति जैसे रूप बहुत कम मिलते हैं, वहां सम्भवतः बोलचाल की भाषा में ऐसे रूप निरन्तर प्रयुक्त होते रहे हों; कुछ अनुनासिकता इसी आधार पर स्वयमागत हो सकती है, शेष इनकी अनुरूपता में मंडूकप्लुति रूप । इन्हें क्या किसी को भी नियम हीन नहीं कहा जा सकता । नियम यह है जहां कहीं भी र श स ष संयुक्त या असंयुक्त रूप में आये हैं अधिकांश में उन्हीं स्थलों में स्वयमागत अनुनासिकता मिलती है, थोड़े बहुत अन्य शब्द ऐसे हैं जिन्होंने इनकी असम्बद्ध अनुकृति में अनुना-सिकता स्वीकार की है । जिनमें र स श ष का संयोग या असंयोग स्वतन्त्र-रूप में है, उनकी अनुनासिकता का मुख्य कारण र ष श की मूर्धन्यता या

तालव्यता है जिसके उच्चारण में जिह्वा को भीतर की ओर उलटना या घिसना पड़ता है, इस क्रिया में कुछ स्वास, थोड़ी सी असावधानी में, विशेषकर संयुक्तता की प्रबलता या धक्के के अवसर पर नासिका से निकल जाना असम्भव नहीं, जिससे उनके स्वरों का उच्चारण सानुनासिक अपने आप धीरे-धीरे हो गया। यही कारण है कि ऐसे स्थलों में अनुस्वार नहीं मिलते, वरन् केवल अनुनासिकता मात्र मिलती है। अतः जो लोग वक्र से 'बाँका' की व्युत्पत्ति में बंक्कं शब्द की सानुस्वार की सम्भावना करते हैं वह ठीक नहीं जचता, होना सानुनासिक चाहिए। बँक्कं; जिन शब्दों का विश्लेषण नहीं मिलता उनमें इनकी या औरों की नकल ही कारण है। 'तन्द्रा निद्रा' जोड़ी वालों में 'तन्द्रा' जैसे शब्दों की नकल में निद्रा का निन्द्रा उससे 'नींन' (नींद) का बनना एक दूसरी बात है। यहां 'र संयोग से' अनुकृति, प्रबल कारण जचती है क्योंकि निद्रा के 'नि' का स्वर स्वयं अनुनासिक है वह 'न' अनुनासिक के साथ है। इस पर अर्द्धबिन्दु की भी आवश्यकता नहीं है, यह उच्चारण करने वाले पर निर्भर है। 'काञ्चन' की अनुरूपता में विरोध के जोड़ीदार शब्द 'काच' को भी 'काञ्च' कह कर काच का काँच उससे काँःच हो गया है। ऐसा ही अन्यत्र भी जाने (ऊँच् * ऊँच-उच्च)। स की सत्ता से सत्य का सच्च-सँच-साँच ('साँच बरोबर तप नहीं'—कबीर) (कु० में काँःच० में आ दीर्घ है, साँच में, विशेषण में ह्रस्व 'आ' संज्ञा में दीर्घ आ है साँःच); हँसि हँसण (हँसी, हँसना) की अनुनासिकता में भी स की सत्ता कारण है, आँक, आँच, घँषँण (घिसना, लीपना) में र की सत्ता (अर्क, अर्चि घर्षण); फाँक-पक्ष में षकार की सत्ता इत्यादि।

हकारता

यह दो प्रकार की होती है अघोष और सघोष। प्रथम कुमा० के हाग (साग) हाँचि-साँचि (सच्ची) और अंग्रेजी के होटेल, होस्पिटल में मिलती है, गढ़वाली के प्रायः अधिकांश स्वर इस अघोष स्वरान्वित उच्चरित होते हैं जैसे पञ्जाबी पहाई-भाई में। द्वितीय सघोष ह का उच्चारण भारत की विशेषता है, यह स्वतन्त्र और सोष्मों में मिलती हैं। हकारता भाषातत्त्व शास्त्र में एक प्रधान तत्त्व है। इसे आयोगवाह नाम से भी पुकारते हैं (दे० ह और अयोगवाह

*ऊँच कुँच (ओना कोना) शब्द की जोड़ी है। कुँच कुञ्च (टेढ़ा) से 'कोना' अर्थ में बना है उसकी समीपता के कारण ऊँच का उ सानुनासिक ऊँच हो गया है।

पीछे)। अयोगवाह के माने निरंकुश (उच्छृङ्खल बेलगाम) होता है। यह कहीं भी झपट कर अपने को पटक सकता है। इसी कारण अनेक स्थलों में यह भी मण्डूकप्लुति से विद्यमान हो जाता है।

आदि में—हगिल, हौर [आगे, अन्य (इनकी व्युत्पत्ति दी जा चुकी है)], भेष-वेष, खाँसि-कासः; फाँसि-पाशः; फर्श, फर्शा-परशु +; भिण-वृन्त (फल की डंडी)।

मध्य में—कुछ—किञ्चित्; पण्ह्यौल-प्रणेतृ + (प्रणीतापात्र, चावल भात काटने वाला), चभ्यौंड़-चर्वण (ड़ँ = ण) (चवाना)।

आद्यान्त विपर्यय द्वारा हकारता—भैर—बहिर् (बाहर), भूल-बहुल = विक्षिप्तता; भैंस-महिषः (× म्हहिंसः), निभौड़ँ-निर्वाहन (निभाना) भ्यड़-भेड़-बेष-मेष + ड (भेड़ बकरी), गधा-गद्दह + गर्दभः +; भाप-वाष्प, घुंडुट गुण्ठिका घूँघट), घुण्टि-ग्रन्थि (खूंट और कपड़े का बटन); रीश-ईर्ष्या (क्रोध)। पिछले परिच्छेद के अन्त में दिये उदाहरण भी देखें।

अध्याय २

वर्णवैचित्र्य से भाषा की दृश्यमान आकृति के स्वरूप की व्याख्या

अकारादि क्रम से कुमाउनी में वैदिक भाषा की आकृति

पदादि स्वर

पदादि का अ—१

'अ' (वैदिक) के आरम्भ स्थान में गलित हो जाने की कथा पिछले पृष्ठों में 'आदिलोप' की व्याख्या में गाई जा चुकी है। वह व्यञ्जनहीन आदि स्थानीय वैदिक 'अ', जिसके आगे व्यञ्जन संयोग न था, कुमा० के तत्सम तद्भव शब्दों में सुरक्षित है। अमर, अमुक, अकाव (अकाल) अघिल–अग्र + (आगे) अभागि–अभागिन् (अभागा)।

बड़ी विचित्र बात है कि जहाँ मध्ययुगीय संयुक्त व्यञ्जनों का ह्रस्व करने पर वैदिक अव्यञ्जन या सव्यञ्जन आदिम अ का अन्यत्र प्रायः आ या दीर्घ रूप होना मिलता है, वहाँ कुमा०, उसे अपने स्वरूप 'अ' में ही सुरक्षित रखती है। यह बात उन शब्दों में होती है जिनके व्यञ्जन - संयोगों में र स ष प और अनुनासिक हों,-अङुठ्-अङ्गुष्ठः, अन्न्-अन्नं, खन्यार-खण्डगृह (खंडघर (वर्ण विपर्यय)-खंडहर-खण्यअर्-खन्यार); अन्यार—अन्धकार (अन्धेरा); अक्षत्-अक्षताः ; पन्नर-पन्द्रह-पञ्चदश (तेरह की अनुकृति का र) अठ्ठार-अष्टादश (र वही); सत्तर-सत्रह-सप्तदश (र वही); शड्शटि-सप्तषष्ठि ; अड्चालीस-अष्टचत्वारिंशत् ; गङ्ङ्-गङ्गा ; सङ्ङ्-सङ्ग (नाराजी से किसी के सामने जान देना); गड्-गर्त (गड्ड) (खेत) बड्-बड्ड- (वड्ड) (बड़ा); कटारि-कर्त्रिका (कटार) आदि। उक्त विचित्रता का कारण यह है कि मध्ययुगीय प्राकृतों में यह वैदिक अ, व्यञ्जनों के द्वित्व रूप संयोग या वैदिक व्यञ्जनों के पूर्वपररूपों द्वारा सुरक्षित बना रहा; कुमा० और हिन्दी में उन द्वित्व व्यञ्जनों के स्थल में नये व्यञ्जन संयोगों ने निवास कर लिया है। अतः यह वैदिक अ निरन्तर धारा में अपने रूप में चलता चला आ रहा है।

व्यञ्जनादि लघु असंयुक्त व्यञ्जनपरक वैदिक 'अ' कई ऐसे शब्दों में

मिलता है जिनको प्राकृत युग में तत्सम रूप में गृहीत किया गया था। हँसुली-हसन्ती + (चाँदी का जेवर बच्चों के गले के लिए); मशाँड़ँ—मसाण-श्मशान (भूत); घग-घन (पत्थर तोड़ने का घन); बँड़-बण बन (बन); खण-खण-खन (खनना)।

अव्यञ्जन या सव्यञ्जन आदिम वैदिक 'अ' के पश्चात् र श ष स प और कहीं-कहीं उक्त प्रकार के अनुनासिकों को छोड़ शेषों के संयोग हों तो उसका कुमाउनी में ह्रस्व और दीर्घ दो प्रकार का 'आ' हो गया है। ह्रस्व 'आ' उन संयोगों के पहिले के अ का बना है जिन शब्दों का प्रचलन बोलचाल में प्राकृत युग तक बराबर होता रहा। प्राकृत युग में ऐसा 'अ' घातीय उच्चारण का था। अतः वह ह्रस्व गुरु 'आ' में परिणत हुआ है, जिनको अपभ्रंश युग में पुनः स्वीकार किया गया उनमें दीर्घ लघु 'आ' मिलता है।

उदाहरण—ह्रस्व गुरु 'आ'—

आग्-अग्गी-अग्नि ; साँच् सच्च-सत्य ; आँशु-अस्सू-अश्रु (आँसू); माँख-मक्खिआ-मक्षिका (मक्खी); गाब्-गब्भ-गर्भ (अरुई के गोल लपेटे पत्ते); आद्-अद्ध-अर्द्ध (आधा); आम-अम्मा-अम्बा (दादी, नानी); चाख्-चक् + ह् (मंडूकप्लुति)—चक्र (चक्की)।

उदाहरण—दीर्घ लघु 'आ'—

आँक्-अँक्क-अर्क (चिन्ह); आँचव्-अँच्चव-अञ्चल ; भात-भत्त-भक्त ; दाँत-दँत्त-दन्त ; साँक्-सँक्क-शंख ; सात-सत्त-सप्त ; आठ-अट्ठ-अष्ट ; लाख्-लक्ख्-लक्ष ; नाँट-नँट्ट-नक्कृति (वंशसमाप्ति); काठ्-कट्ठ-काष्ठ ; शाटि-षष्टि ; वाट-वट्टा-वर्त्मन् (मार्ग), भाट्-भट्ट, खाट्-खट्टा खट्वा आदि। माटो०, माट्-मट्टिया-मृत्तिका (मिट्टी); हिन्दी के 'मिट्टी' में म की इ, ऋ की रि की अनुरूपता या तत्समता से आई है।

अव्यञ्जन या सव्यञ्जन वैदिक पदादि 'अ' के असंयुक्त व्यञ्जनोत्तर 'आ' के प्रभाव से, और कुमाउनी के आदि घातीय प्रवृत्ति से, दोनों ने मिलकर उस पदादि 'अ' वैदिक अ को 'आ' (ह्रस्व गुरु) में परिणत कर दिया है। काथ्-कथा ; साब्-सभा ; जाट-जटा ; व्याथ्-व्यथा, (इसी प्रकार आजकल स्वीकृत कपाड़-कपड़ा (हि०)। बहुवचनान्त 'आ' के प्रभाव से उसके प्रथम में आने वाला 'अ' (वैदिक अवैदिक सब) स्वरानुकृति प्रभाव से मण्डूकप्लुति से आ में परिणत हो जाता है। देखिये पहिले मण्डूकप्लुति—च्यलो च्याला, क्यव-क्यावा आदि सैकड़ों उदाहरण है)।

पदादि का आ—

पदादि के वैदिक आ के कुमा० में दो रूप मिलते हैं 'ह्रस्वगुरु' और दीर्घ-लघु'। इस परिवर्तन से यह स्पष्ट है कि कुमाउनी के तद्भव शब्दों में शुद्ध वैदिक आ का मिलना कठिन है। प्राकृत युग में पद मध्य के व्यञ्जनों को द्वित्व या दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति सी बन गई थी, जिसका सूत्रपात संयुक्त व्यञ्जनों को एकरूपता में उच्चारण करने की स्वाभाविक शैली ने कर दिया था। इनकी शैली में असंयुक्त व्यञ्जनों को भी द्वित्व या दीर्घ करके बोलने लगे थे जैसे 'एक' का एक्क उससे इक्का और पुनः 'एक' शब्द निकला। अब हमारा यह 'एक' वैदिक न होकर अपभ्रंशोत्तर युग निर्मित 'एक' है, यही स्थिति कुमाउनी के 'आ' की है। जिन शब्दों में संयुक्त व्यञ्जन थे उनका 'आ' तो वैदिक 'आ' के रूप में केवल 'दीर्घता' रूप में मिलता है, दीर्घ गुरु रूप में वैदिक रूप में नहीं, जिन शब्दों में संयुक्त व्यञ्जनों से प्राकृत युग में उस 'आ' में घात था या असंयुक्त व्यञ्जन द्वित्व या दीर्घ बोले जाने लगे थे उनका वैदिक आ, दीर्घ गुरु की जगह ह्रस्व गुरु रूप में मिलता है। इन दोनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण इस प्रकार हैं—

वैदिक दीर्घ गुरु 'आ' की जगह कुमा० में दीर्घ लघु आ—

बात-वात्ता-वार्ता; बाग-वग्घो-व्याघ्रः, साथ-सात्थ-सार्थ; माण-मण्ड (मान); काव-कालः। वैदिक दीर्घ गुरु 'आ' के स्थान में कुमा० में ह्रस्व गुरु 'आ'—यह रूप अधिकांश में प्रयुक्त होता है:—आश्–आशा; मात्–माता, माव्–माला, काव-काला, शाव–श्याल, शाला (साला, यज्ञशाला), पाँड़ि—पानीय (पानी), भाण—भण्ण–भाण्ड, फाट्यो–स्फाटित (फटा)।

विशेष—उक्त प्रकार के ह्रस्व गुरु आ वाले शब्दों के अन्त में सभी व्यञ्जनों के उच्चारण में तदनुरूप विसर्जनीय अघोष श्वास छोड़ा जाता है, जिससे ये व्यञ्जन दीर्घ ही माने जाने चाहिए। यह विसर्जनीयता इस बात का प्रमाण है कि प्राकृतों और अपभ्रंशों में ये व्यञ्जन 'एक्क' की तरह द्वित्व या दीर्घता को प्राप्त हो गये थे।

आदि घात के अभाव से कई शब्दों का पदादि वैदिक 'आ' कुमा० में अ में परिवर्तित हो गया है—वखान–व्याख्यान, कपास–कार्पास, अकाश्–आकाश; अपण–आपणे-आत्मनो (आपका); रजबार–राजद्वार (एक क्षत्रिय जाति); पर जहाँ पर जिस 'आ' के आगे या पीछे ऊष्माण रहे वह 'आ' अपरिवर्तित रूप में मिलता है—नाँड़–नाण-नहाण (विपर्यय)–सनाण–स्नान (नहाना)

बाँडँ—बाण-वाहन (जोताई करना)। क्रिया रूपों में से आल=(आयाति + ल) आयेगा; आछ (आयाति + अच्छ था स्म) आया, आदि में वैदिक 'आ' अपने शुद्ध रूप, दीर्घ लघु रूप में मिलता है, पर क्रिया के धातु-मूलीय 'खांड़ु' (खाणु) 'जाड़ु' (जाणु) (खाना जाना) आदि में ह्रस्व गुरु ही है।

अवधारण देने में, किसी नाम के संक्षिप्त रूप या धातु का कर्तृवाच्य रूप आदि में 'आ' युक्त हो तो उसका अ (गुरु) कर के उसके आगे के व्यञ्जन का दीर्घ या द्वित्व किया जाता है। खद्दुः (बहुत खाने वाला) खव्वु (वही अर्थ) खदुआ—खादक; पद्दुः—पदुवा-पादक (बहुत पादने वाला), सद्दिः सद्दिया साधु सिंह आदि; मद्दुः—मदुवा-माधो सिंह आदि, लल्लुः—लल्लुवा-लालमणि, लाल सिंह आदि ये सब लाड़ प्यार के संक्षिप्त नाम भी हैं। जैसे परु-पारु-पार्वती।

पदादि के इ, ई

अव्यञ्जन या सव्यञ्जन आदि के इ ई के आगे यदि असंयुक्त या दीर्घव्यञ्जन न हो तो, वे वैदिक काल से अबतक कुमा० में सुरक्षित हैं, कुछ ऐसे इ ई वैदिक ऋ से भी बने हैं—बिंढ़ें—विणै—वीणा + ; दिय्-दियो-दीप्पो-दीपक, तील-तिल; तीन-त्रीणि; खीर-क्षीर (दूध में पका चावल) द्वि-द्वि (दो); कि—किम् (क्या); मिलण-मिलना-मिलति + ; छीण-क्षीण; किड़—कीट (कीड़ा) पीड़—पीड़ा; उक्त उदाहरणों जो वैदिक दीर्घ ई ह्रस्व ई में मिलती है, उसका कारण उन शब्दों में प्राकृत युग का घातीय उच्चारण है। इसके विपरीत 'तील'—तिल्ल—तिल जैसे रूप अपभ्रंशोत्तर युग के विकास हैं (दे० पिछले परिच्छेद)

कुमा० में इजा (माता) एक ऐसा शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति बड़ी विचित्र है। यहां आदि इ, वैदिक 'आ' को उजाड़ कर बैठी है। आर्य्या—आया—अय्या—अइया—अइजा—इजा। 'अइजा' रूप का आदि का 'अ' अन्तिम घातीय शब्द होने से गल गया है, जैसे आदि लोप के उदाहरणों में पीछे दिखाया जा चुका है। 'इजा' शब्द प्रायः सम्बोधन में प्रयुक्त होता है, अतः इसके अन्तिम 'आ' स्वर में ही घात और प्लुति होती है। यहां कुमा०, मागधी प्राकृत का अनुसरण कर रही है आर्या का अज्जा (सौरसेनी) का सा न होकर, प्रारम्भ में 'अय्या' (मागधी का सा) हुआ है।

जिन अव्यञ्जन या सव्यञ्जन वैदिक पदादि के इ ई के आगे संयुक्त या दीर्घ व्यञ्जन थे, वे भी पूर्वोक्त नियमों के अनुसार कहीं ह्रस्व, कहीं दीर्घ रूप

में सुरक्षित हैं। ईशर—ईश्शर—ईश्वर; जिबड़—जिब्बा + ड—जिह्वा; रीश—इरिश्शा—ईर्ष्या (क्रोध), सिन्नूर सिन्दूर (तत्सम); भीक—भीख—भिक्खा—भिक्षा; बीस—विंश्श—विशंति; तीस—तिंस्स—त्रिंशत्; भिण—भिन्न—बिन्न—वृन्त (फल की डंडी), रिखुः—इक्खु—इक्षुः (ईख)। 'बेलपत्रि' तत्सम शब्द में इ का ए, बेल (लता) की भ्रमानुरूपता या गुरु इ के कारण है, बेलपत्रि-बिल्वपत्रि (बेलपत्र)।

पदादि के उ ऊ

अल्पव्यञ्जन या सव्यञ्जन वैदिक पदादि उ ऊ के आगे जहाँ असंयुक्त या दीर्घ व्यञ्जन थे, वहाँ वे सुरक्षित हैं—उदास—उदासित (उदासीन); मुख्—मुक्ख—मुख; मुव्—मुवो—मूल + क (मूली), मूव्—मूल (नक्षत्र); दूर—दूर; छुरि छुरिका (छूरी); जुव्—युग (जुवा— हल जोतने का), शुव्—शुक; शूव—शूल (पीड़ा); रुपश्शि—रूपशीला (अति सुरूप)

कुछ ऐसे स्थल या पद हैं जहाँ पदादि ह्रस्व उ के आगे वैदिक और प्राकृत युग में संयुक्त या दीर्घ व्यञ्जन थे, पर उनके ह्रस्व व्यञ्जन में परिवर्तित हो जाने पर भी, इस कमी की पूर्ति में उस उ का दीर्घ नहीं हुआ है। जुजीण—जुज्झई + युद्धयति (झगड़ना); कुकुर—कुक्कुर (कुत्ता) तुमि—तुम्हें—तुस्मे (आप); पुर्—पुर्र—पूर्ण (पूरा); पुछँइँ—पुच्छइ—(पृच्छति); उन—उन्न—उण्ण—ऊर्ण (ऊन); उण्त—उण्णित—उन्निद्रित (रात जगने का खुमार)। पुन्यु—पूर्णिमा +; ऐसी ही स्थितियों में निम्नलिखितों में दीर्घ हुआ है—दूद्—दुद्ध—दुग्ध; पूत—पुत्त-पुत्र; बूज—बुज्झइ—बुद्धयति (समझ), जून-जुन्हाई—(ज्योत्स्ना)। कुछ स्थलों में उ का ओ हो गया है—पोथि—पोत्थिका-पुस्तिका; मोल—मूल्य; कोखि—कुक्षि (गोद); कोढ़ि—कोढ़िइ—कोट्ठि—कुष्ठिन् (कोढ़ी)।

पदादि के ए एः, ओ ओः

कुमाउनी में ए और ओ, दोनों दो प्रकार के ह्रस्व और दीर्घ हैं, यहाँ विसर्ग चिह्न दीर्घतासूचक है, विसर्ग का नहीं। इस ह्रस्वदीर्घता का भी वही कारण है जो पहिले अ और उ के बारे में कहा जा चुका है।

ह्रस्व ए

खेति—क्षेत्र + (खेती) ('ति' की ई अघोष है) चेलि—चेलिया चेड़िया—चेटिका (बेटी),

दीर्घ एः

भेःश,—वेष; शेःठ—श्रेष्ठिन् ; खेःत—क्षेत्र; लेःख—लेख, भेःख (मेख मारडुँ) (पट मना करना), एःक—एक ।

ए एः ओ ओः के आगे यदि अ या आ (सव्यञ्जन या अव्यञ्जन) को छोड़ कोई अन्य स्वर अव्यञ्जन या सव्यञ्जन आता है तो वे ए एः ओ ओः सुरक्षित रहते हैं; पर अ या आ के आगे आने पर ये ए एः ओ ओः में मण्डूकप्लुति से अन्तिम अ आ जुड़ कर इनका य, या, व वा बना देते हैं जैसा कि पहले स्वरानुकृतिक मंडूकप्लुति में दिखाया जा चुका है—रेखो,—रयख रयाखा (रेखायें); लेखो—ल्यख,—ल्याख (लेख, काम में लाना, कहना करना) जेठो—ज्यठ-ज्याठा (बड़ा); घाड़ो—घ्वड़-घ्वाड़ा (घोड़ा घोड़े); जोड़ो-ज्वड़-ज्वाड़ा (जोड़े), खोरो-ख्वर-ख्वारा (शिर) आदि ।

कई स्थलों में वैदिक ए का कुमा० में इ हो गया है—गिण्णुः—गेण्णुव—गेन्दुकं (गेंद); दिओर या द्योर—देवर; इण्ण-एण्ण—एरण्ड (अरंडी का पेड़ या फल)। अन्य स्थलों में वैदिक ऐ तथा प्राकृत काल के ऐ, आई अई आइ अइ से भी कुमा० ए एः बन गये हैं—गेरुः—गैरिक (गेरुवा); तेःल—तइल्ल—तैल (तेल); बेःर—बइरिआ-बदरिका (बेर)। पर अधिकांश स्थलों में प्राकृत अइ का ऐ और आई का ऍं [६,८९] हो गये हैं—खदिर-खइर-खैर (कत्थे का पेड़);मैं—माई-माया-माता; भैं—भाई-भाया-भ्राता; अई का ऐं = भैंःर—बहइर-बहिर् (बाहर) आदि (पीछे देखे अन्तिम मध्यम स्वर)।

पदादि के ओ ओः

पदादि का वैदिक ओ, जहां असंयुक्त व्यञ्जन के पूर्ववर्ती था, वहां कुमा० में दो रूपों ओ और ओः (ह्रस्व, तथा दीर्घ रूप में मिलता है। गोरु—गो + रूप (गाय), डोलि-डोलिआ—दोलिका (डोली); टोड़ि—तोडिअ—त्रोटित्वा (तोड़कर), (इन सब में ओ ह्रस्व है तथा पदान्त स्वर उ,इ अघोष हैं)। जोःग—योग; बोःध—बोध; शोःव-शोलह-षोडश; आदि । ओ ओः में कुमा० में ए एः की तरह स्वरानुकृतिक मण्डूकप्लुति की कमी नहीं है, उदाहरण ए एः के व्याख्यानावसर पर पहिले दे दिये जा चुके हैं।

पदादि का वह वैदिक ओ जो संयुक्त व्यञ्जन के पूर्व में था, वह भी कुमा० में सुरक्षित मिलता है। गोःठ—गोट्ठ—गोष्ठ; कोठि—कोट्ठिआ-कोष्ठिका (कोठी), ओःठ-ओठ—ओष्ट; कई स्थलों में वैदिक औ, कुमा० में ओ हो गया है चोःर्—चौर; आदि; प्राकृत युग में वैदिक उ का ओ हो गया था वह भी कुमा०

इस प्रवृत्ति से पदों के ढांचे ही बदल गए और उनके घात और स्वरों (उदात्तादि) वेगों ने अपना स्थान परिवर्तन कर लिया। इनका स्पष्ट उदाहरण कुमा० के 'खेति पाति' शब्द हैं इनके अन्तिम इ लघुतर तथा श्वासीय या अघोष हैं। इनको पुरानी कुमा० में 'खेती पाती' बोलते थे, ये निकले हैं चेत्री* (चेत्र) + ; पत्री, इनकी इतनी स्थितियां होंगी—चेत्र + -चेत्री–खेत्ती–खेती–खेति–खेति̥ (अघोष स्वर), पत्री, पत्ती–पाती–पाति–पाति̥ (अघोषस्वर) इनमें अन्तिम तीन स्थितियां अब तक कुमा० में मिलती हैं।

कुमाउनी में पदान्त स्वरों की व्यापत्ति के उदाहरण—(दे० अन्तव्यापत्ति)

सं	प्रा०	अप०	कुमा०	सं	प्रा०	अप०	कुमा०
अ—पञ्च	पंच	पंच	पांच्	उ—श्वश्रू	सस्सू	सासू	शासु शासु̥
सप्त	सत्त	सत्त	शात्	ए—पार्श्वे	पास्से	पास	पाश्
आ-अम्बा	अम्मा	अम्मा	आम्	मस्तके	मथ्थए	माथे	माथ् माथि̥
इ—पत्री	पत्ती	पाती	पात्ति̥	ओ—कालः	कालो	कालु	काल्
ई—रात्रि	रात्ती	राती	रात्	श्यालः	सालो	सालु	साव्
अग्नि	अग्गी	आग्गि	आग्	अम्—सूत्रम्	सुत्तं	सुत्त	सूत सूत
				इन्—अक्षिन्	अक्खी	आँखि	आँख
				उम्—अश्रु	अस्सू	आँसू	आँश् आंशु̥

जहां पर कुमाउनी में पदान्त स्वर में स्पष्टोक्ति पुनरुक्ति और अवधारण होता है वहां प्राचीन कुमा० के पदान्त स्वरों का दीर्घोच्चारण होता है, ऐसे स्थलों में 'अ' का भी दीर्घ या प्लुत उच्चारण होता है जैसे रात्–रात (२,३) (इस अन्तिम अ का उच्चारण उ के अनुरूप है) आँख (२,३) माँथ (२,३) आँसू (२,३) पास (२,३) (अन्तिम दो में अ = उ सम)।

प्राचीन पदान्तीय स्वरों की विकृति तथा पदान्तरालीय व्यञ्जनों के एकात्म्य लोपादि से उत्पन्न नई परिस्थिति से कुमाउनी ने अपने नये पदान्तीय स्वरों का निर्माण कर लिया है जिनकी व्याख्या निम्नलिखित रूप से स्पष्ट कर दी जाती है :—

१—प्राकृत अ + अ, अपभ्रंश—अ उँ = कुमा० 'औ'—चलौ-चलउ-चलअ-चलत (चलो); खावौ—खादउ-खादअ—खादत (खाओ)।

२—प्रा० अ + अ-अपभ्रं अ उ-प्रा० कुमा० ओ, नवी कुमा-०-घ्वड़-घोड़ो-घोट—घोटअ—घोटक; च्यल् च्येलो चेलउ—चेलअ-चेडकं-चेलकः;

३—प्रा० आ + अ, अ + आ (वैदिक अं + क = अ + व्यञ्जन + अ) = कुमा० में 'आ औ, आव यैं' में परिवर्तित हो गया है। आ—घा-घाअ-घासो-घासः, व्या-विआ-विआओ-विवाह (विवाह)

औ—घौ—घाउ—घाव-घात—(चोट); पौ—पाउ—पाव—पाद (पाद)

ऐँ—कड़ैं—कढ़ाई—कडाय + कटाह + (कढ़ाई लोहे का तसला)

बड़ैं—बडाई—बड्डुआई—बड्डूता + (प्रशंसा)

घटैं—घटाई—घट्टाईआ-घट्टायित्वा घट्टयित्वा (घटाकर)

आव—काव—काव—कालो—काकः, कालः (कौवा या काला)

४—प्रा. इअ, ईअ; अपभ्रंश—इअअ, इअउ का कुमा० में इँ, ईं यौं, और इ ई हो गया :—

इ = पड़ि—पडिअ—पतित्य (लेटा या गिरा) (पतित्वा)

वाशि—वासिअ—वासितं—(वासी खाना आदि)

ई, यौं—हुरीं—हयौं—हरिअउँ—हरिअअ—हरितक (हरा)

मरीं, मयौं—मरिअउँ—मरिअअ—मरितक-मृतक (मरा)

करीं, कयौं—करिअउँ—करिअअ—करितक—कृतक (किया हुआ)

बणीं—बड़ीं—वणिअ—वणिज—वणिक् (बनियाँ)

(पाणि) पाँड़िं—पाणीअ—पानीय (जल) (आ ह्रस्व, इ अघोष)

५—प्रा० आ इ अ, आ इ आ (वैदिक—इत इता) का कुमा० में ऐँ हो गया है।

खैं—खाई—खाइअ—खादित्य—खादित्वा (खा कर)

जैं—जाई—जाइअ—जायित्य—यात्वा (जा कर)

बैं—बाई—वाइअ—वाहित्य—वाहयित्वा (जोत कर)

गैं—गाई—गाइअ—गाइत्य—गात्वा (गा कर)

नागरी कुमाउनी में ऐँ के स्थान में ऐ ही है, खै, जै, बै, गै; कहीं-कहीं ए भी है, खे, जे, बे, गे।

६—वैदिककाल की बहुवचनान्त विभक्ति अः आः का प्रा० में अ आ होकर अपभ्रंश में लोप हो गया था, उनके स्थान पर, नई विभक्तियां 'आ' और अन् आन् जोड़ कर पुनः शब्दात्मक विभक्ति का प्रयोग होने लगा था ग्वड़—ग्वाड़ा, रात्—राता (लाल) वाछ्—वाछा (बछड़े) (इन पर 'कणि, हणि, थें, में, माजि, क, का' आदि शब्दात्मक विभक्तियाँ जोड़ते हैं। ग्वाड़ान् वाछान् ग्वाड़न् वाछन् आदि रूप विभक्ति योग के लिए हैं।

७—वैदिक आ—यं—आ = प्रा० आ आ = पुरानी कुमा० आई—वर्तमान कुमा०। इ बोजि—भौजि-भौजाई—भावजःआ-भ्रातृजाया (भौजाई)

८—वैदिक इका इक, प्रा० इआ इअ = कुमा० इ—जैसे—पाशिड़िं—

पासिण्णिआ—प्राशिनका (अन्नप्राशन); विच्छि—विच्छिअ वृश्चिक; (बिच्छू); माटि—मट्टिआ—मृत्तिका (मिट्टी); आदि ।

९—वैदिक उक, उका—प्रा० उअ उआ = कुमा० उ, उः जैसे—बालुः—बालुआ बालुवा—बालुका (बालू); भालु—भल्लूअ—भल्लूक (भालू), ताउ—ताऊ—तालुआ—तालुका (तालुस्थान) (ता का आ ह्रस्व) ।

१०—प्रा० अअ = अपभ्रंश—अउ = पुरानी कुमा० ओ = नवीन कुमा० ह्रस्व ओ, और लोप च्यल् चेलो—चेलउ चेलअ चेडक—चेटक, क्यव्—केलो—कइलक् कदलक (केला)—धातुरूपों में—खाँइँ—खाणो—खादनक, जाणु—जाणो—यानक ।

११—प्राचीन कुमाउनी के इ आ का नवीन कुमा० में ई हो गया है:—बेइई—बेइया वेलिया—वेला + इका ('वीता' कल) रैत्ति—रात्तिआ—प्रातिका—प्रातः + (प्रातः); अइ = ऐः—सै—सई—सहिअ *सहित्य—सोढ्वा (सहकर), दै—दई—दहि—दधि (दही) ।

१२—वैदिक या प्रा० का ए, कुमा० के पदान्त में नहीं मिलता, इसमें नये एकारान्तों का निर्माण हो गया है । घर जाँ छु—गृहे गच्छामि; पाःश—पार्श्वे (बगल में); माँथ, माँथि—मध्ये (ऊपर) आदि । नये एकारान्त = कराए—करावेइ—कारयेत् (तू कराना), करिए—करयेत्—क्रियात् (तुम करना), भरिए—भ्रियेत् (तू भरना), दे—देहि (देदो) आदि ।

पदान्तरालीय स्वर (३)

वैदिक पदान्तरालीय स्वरों का इतिहास प्राकृतों अपभ्रंशों तथा प्रान्तीय नवीन भाषाओं में बड़ी भारी उथल पुथलों से संकीर्ण और ग्रथित जाल सम है । प्रा० युग में पदान्तरालीय व्यञ्जनों के लिए एक प्रकार की महामारी आ गई थी । उनके अभाव में रिक्त स्थलों की पूर्ति, प्रथम-प्रथम काल में स्थित्यनुकूल य् या व् को रख कर की जाती रही । कुछ दिनों में इन्हें भी संकुचित रूप इ या उ धारण करना पड़ा; अब पदान्तराल क्या था एक बेमेल स्वरों का कबाड़ीखाना । कहीं तो इन संयोगों ने द्विस्वर त्रिस्वर आदि संयोग बनाये, कहीं दो एक ने आपस की सन्धि द्वारा नवीन स्वरों को ऐ ऐं औ को जन्म दिया; कहीं प्रथम मध्यम या अन्तिम किसी स्वर का उच्चारण होने का अवकाश न देकर उसे निकाल बाहर किया; जिसका मुख्य कारण स्वराघात और स्वर (उदात्तादि) वेगों के स्थानों का बदल जाना रहा । समासयुक्त पदों के पूर्वापर दोनों भाग अपने-अपने पदान्तीय स्वरों का ह्रास पाकर जब पदान्तरालीय व्यञ्जन लोप से अपना नया स्वरूप सामने रखते

हैं तो ये बड़े विस्मयकारी से लगते हैं। पदान्तरालीय उक्त स्थिति के स्वरों में कहीं-कहीं ए और ओ का संकोच इ और उ में हुआ है तो कहीं इ और उ का विकास इनके गुणरूप ए और ओ में; इसी प्रकार कहीं अ का आ; या आ का अ, तथा ऋ का उ अ, र रि रे ए आदि नानारूप हो गये हैं। इतना होने पर भी, अब भी कुमाउनी में ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जिनके पदान्तराल में वैदिक स्वर और प्रा० तथा अपभ्रंश स्वर सुरक्षित हैं। जैसे—

अ—शगड़—शकटी (अंगेठी आग सेकने की); शामव—सम्बल (मार्ग में खाने की चावल आटा आदि सामग्री); चौरस—चतुरस्र; हसँडॅ, बाचँडँ—हसनं वाचनं।

आ—सुनार—स्वर्णकार; ल्वार—लोहार—लौहकार; भणार—भाण्डागार (धन कोठी); हिमाव—हिमालय; अनार—अंगाकार (सूरत); हर्यावि—हर्यावा—हर्याला (स्वरानुकृतिक मण्डूकप्लुति) हरेला—हरेआलकः—हरितालकः (कर्क संक्रान्ति का त्यौहार और हरेला); हर्ताई—हर्तालि—हरतालिका (त्रिपठियों का उपाकर्म दिन); स्यखैं या लिखाइ, सुंडैं—सुड़ाइ, अवैं—अवाइ, जवैं—जवाई, भजैं—भजाइ, ग्वड़ैं—गोड़ाई आदि में प्राकृत अपभ्रंश के पदान्तराल आ मिलते हैं।

इ ई

कुशिरिक्—कुश्रीकः (बदसूरत); कशिनि—कासिनी (लोटा), पासिंडि—प्राश्निका + (अन्नप्राशन); आशीक—आशिष् (पूजा के फूल), नातिडँ—नातिनी—नप्तृ + इनि (पौत्री, दौहित्री), खसिडँ—खशिनी (खशस्त्री)

उ ऊ

आतुरि—आतुरः + (विपत्ति), फागुंडँ—फाल्गुन; अङुठ् बुरमुठ्ठिः—अंगुष्ठ, वरमुष्ठिका (अँगूठा); बभूत्—विभूति (मंत्रित राख); बाटुव—वट्टुव—वर्तुल (गोल); (बुरमुठ्ठि में व का उ–स्वरानुकृतिक मंडूकप्लुति से)

ए

वैदिक ए तत्सम शब्दों में मिलता है; तद्भवों में इसका इ या लोप हो गया है, प्राकृत और अपभ्रंशकालीन ए बहुत आयास में मिलता है—खानेर जानेर, बाँचनेर, औनेर, पौनेर–खादन + केर, यान + केर, वाचन + केर, आयान + केर, प्राप्त + केर आदि रूपों से निकले हैं (खाने जाने बाँचने आने पाने, 'वाला' प्रथम दो के 'आ' सानुनासिक भी बोले जाते हैं आदि, तत्समों में सनेह–

स्नेह; सन्धे—सन्देह; किलेश—क्लेश, मिलेच्छ—म्लेच्छ; आदि प्रचलित हैं। ओ—सञोग—संयोग; विछोड़—*विच्योदित, करोड़-करोड़ि—क्रोटि—कोटि; निचोड़—निश्च्योतित; तिरोदश—त्रयोदशी।

वैदिक और प्राकृतीय पदान्तरालीय स्वरों का कुमाउनी में ह्रास

अ

भन—भरण (भरना); हवूभाण—हलभाण्ड (हल और जुवा); आँचुइ—अञ्जली; यहाँ कञ्चुकी के काँचुइ की भ्रमानुकृति से अ का उ हो गया है। गधा—गर्दभ; कुम्हार—कुम्भकार; शोव्, शोल्—षोडश (सोलह); हर्द्वार् हरद्वार; हर्दत्त्—हरदत्त (नाम), पँसेरि—पञ्चसेरी; आदि।

आ

चानँड़ि—चन्द्रकान्ति (चाँदनी); मायद्त्त—मायादत्त (नाम) ज्वाल्दत्त—ज्वालादत्त (नाम); माल्मोव—मल्ला मोहल्ला; आदि।

इ ई

परख्—परीक्षा; निरख्—निरीक्षा (भाव मोल); मुनड़ि—मुन्द्रिका + मुद्रिका, काँ·श्—कनिष्ठ; कल्जुग—कलियुग; देब्दा—देवीदत्त दादा; छञर शनिश्चर (वार शनि); मुरुल्धर—मुरुलीधर (नाम); पड़ोशि—प्रतिवेशिन् (पड़ौसी); उँड़ँत्—उन्निद्रित (रात जगने का खुमार); घुँड़ँत्—घुणित (दांत का घुन) आदि।

उ ऊ

उखव्—उलूखल (ओखली); कूम्—कुटुम्ब (वंश); पश्पति—पशुपति (नैपाल के शिव); वासकि—वासुकि (एक नाग देवता); मनिख्—मनुष्य; लाकड़—लगुड (लकड़ी); बौवा—वाहुलक (पागल) आदि।

ओ

अलुँड़ँ—अलोण—अलवणक (नमक बिना); तिकुण—त्रिकोण (तिकोना); अटूट्—अटोटिअ—अत्रोटित (निरन्तर प्राप्ति); कबूतर—कपोत।

उपधा के स्वरों की स्थिति

पदान्तादि के स्वरों से उपधा के स्वरों की स्थिति कुमाउनी में बलवान् रही है। संस्कृत के न (अन्) प्रा० ण का कुमाउनी में लोप नहीं हुआ है। केवल ल और र को छोड़कर प्रायः उपधान्तर व्यञ्जनों का लोप हो गया है,

इनके स्थान में पहिले य्, व् पूरकों को स्थान मिला था, पर कालान्तर में ये भी इ उ में परिवर्तित हो गये। पुरानों ने संयोग द्वारा नवीन स्वर ऐं ऍ औ बना दिये है, नवीनो ने द्विस्वर-त्रिस्वर उपस्थित कर रखे हैं। अपभ्रंश काल में 'कर' को प्रत्यय रूप में स्वीकार किया गया था। इसका पुनः कइर केर रूप मण्डूकप्लुति से बन पड़ा था, अन्त में यह 'केर' भी 'एर' रूप में शेष रह गया, कुमाउनी में इस 'एर' प्रत्यय को धातु में मिलाकर खानेर, जानेर (खानेवाला, जानेवाला) खादनकेर, मानकेर बने जिनके पूर्व रूप खानकौर, जानकौर जैसे भी मिलते हैं। पुँग्याली में खानेर, जानेर जैसे रूपों के बदले अब भी 'खानकर' 'जानकर' बोलते हैं। उदाहरण—

उपधा का अ वैदिक प्रा० अपभ्रं, अ कुमा० अ

शाङव्—शाङल्; शाङर्—शृङ्खला; पिङव्, पिंहव्, पिङर्, पिङल्—पिङ्गल (पीला); आँचव्, आँचर, आँचल्—अञ्चल; आङँ—आंगन—प्राङ्गण (आँगन); आङड़—अङ्ग + ड (अंगरखा स्त्रियों का); माँजण—माँसँड़—मार्जन (माँजना)।

वैदिक, प्रा० अपभ्रं० आ = कुमा० आ

बिराउ, बिराड़ु बिरालु—विडालक (बिल्ली); बखान—व्याख्यान (प्रशंसा); अकाव, अकार अकाल—अकालक (अकाल अन्न-पानी का); शिराण-शिरस्थान (सोने में सिर के ओर का स्थान); पैनाँड़ँ—पदिस्थान (सोने में पाँव की ओर का स्थान); मसाँड़ँ—श्मशान (भूत)।

वैदिक प्रा० अप-इ ई = कुमा० इ ई

मङ्शीर—मङ्गशीर—मार्गशीर्ष (महीना); जामीर—जम्भीर (जमीरा-फल); तेतीस—त्रयस्त्रिंशत् (३३); चालीस—चत्वारिंशत् (४०) हगिल—अग्र + इल्ल (आगे); पछिल—पश्चात् + इल्ल—पश्चात् + (पीछे); गाबिँ ढ़िँ—गर्भिणी; हाथिँ ढ़िँ—हस्तिनी आदि।

वै. प्रा. अप. उ ऊ=कुमा० उ ऊ

सिनूर—सिन्दूर; कुकूर—कुक्कुरः (कुत्ता); गरूड़—गरुड; बाटुइ—वर्तुलिका (हिचकी) आदि।

वै. प्रा. अप. ए=कुमा० ए

अन्धेर—अन्धकेर—अन्धकार (अँधेरा); अध्येल—अधेला—अर्द्ध + इल्ल (अधेला); सुमेर—सुमेरु (पर्वत); अबेर—अबेरा—अबेला (देर); जानेर, खानेर, पौंनेर आदि अनन्त शब्द।

वै. प्रा. अप. ओ = कुमा० ओ, उ, औ

कनफोड़ि—कर्ण स्फोटिक (कान का फोड़ा); पल्लोग—परलोक (अचेत) अमोल—अमोल्ल—अमूल्य; चौकुँड़, तिकुँड़—चतुष्कोण, त्रिकोण; विछोड़—विच्छोद; आदि।

पदान्तरालीय स्वर सन्धियाँ (४)

पदान्तरालीय व्यञ्जनों के ह्रास के कारण कुमाउनी या प्रान्तीय भाषाओं में पदान्तराल में प्रायः स्वर ही स्वर रह गये थे। इन पदान्तरालीय स्वरों की चार प्रकार की स्थितियाँ मिलती हैं। (१) वै. प्रा. अप. के स्वरों को पूरक य् व् के आगम द्वारा (स्खलित व्यञ्जनों के स्थान में) सुरक्षित रखना। (२) उन स्वरों से द्विस्वर-त्रिस्वर आदि का निर्माण हो जाना। (३) उन स्वरों के एकात्म्य से नवीन स्वर ऐ ऍ औ का बन जाना। (४) पूरक य् व् का संकोच कर पहिले इन्हें क्रम से इ उ में परिवर्तित करना जिससे उक्त द्वितीय और तृतीय स्थिति का नवीन रूप में उपस्थित होना—अर्थात् इनसे कहीं द्विस्वर-त्रिस्वर आदि बनाना, कहीं संयोग द्वारा नवीन स्वर ऐ ऍ औ। इस अन्तिम प्रकार की स्थिति की सत्ता गंगोई कुमाउनी और उत्तरी व पूर्वी कुमाउनियों में अधिक मिलती है, नागरिक तथा दक्षिणी पश्चिमी कुमाउनी में इसका अभाव-सा है।

द्विस्वरयोगीय तृतीय स्थिति का विवेचन

प्राकृत अइ आइ = कुमा ऐ. ऐः (ह्रस्व, दीर्घ); छैःल—छइल—छैल्ला—छवि + इल्ल (बनाव सिंगार वाला); खैःर—खइर—खदिर (कत्थे का पेड़); कैःल—कइल—कपिल (भूरा); गैःर—गइर—गहिर—गम्भीर (गहिरा); दै.—दइ—दहि—दधि (दही)

प्रा. अइ आई = कुमा ऍ, ऐ

मैं, मै.—माइ—माया—माता (मां); भैं, भै,—भाइ—भाया—भ्राता (भाई); बैं बै—बाइ—बाहित (जोता गया); पैं, पै—पाइ—प्रापित—प्राप्त (पाया); गैं, गै—गाई—*गायित—गा + (गाया); हँसैं, हसै—हँसाइ *हँसायित—हस + (हँसाई); नचैं, नचै—नृत्यायित (नाचना)।

प्रा. अइ आई = कुमा० ए

रशे—रसोइ—रस उइ—रसवती (रसोई), रश्यो—रसिओइ—रसोइ—रसउइ—रसवती (रसोई); बेर—बइर—बदरिका (बेर); मनेसि—मनस्विनी (हिन्दी); अ आ = अ. आ—आयाहि (आवो)

प्रा. अउ आउ, अओ, अउ, आव अव, = प्राचीन कुमा० अउ = नवीन कुमा०—ओ उ औ आ

औ—धौल—धवल (श्वेत, एक पेड़); चौथ्—चउत्थ—चतुर्थ (चौथा); चौमास—चाउमास—चातुर्मास; रौव—राउल—राजकुल (मठ पुजारी) मौ—मउ. महु—मधु; ल्यखौ—लिखव—लिखथ (लिखो)

उ—करूँड़ँ—करूण—√करावेइ—कारयति (कराना), बतूँडँ—बतूण—वत्तावन—वार्ता + (बताना)

ओ—चोबीश—चउव्विश—चतुर्विंशति (२४); चोद्—चउद—चउद्दश चतुर्दश (१४); चोर—चउर—चौर (चोर)।

आ—खा—खाव—खाद् (खाओ); जा—जाव—यास्त्र, याहि (जावो)

प्रा. अ+अ=अव=कुमा औ आ और नष्ट (०)

नौँड़िँ—नौणि—नउनीअ—नवनीत (मक्खन); सौँड़ँ—सौण—सवन—सहन (सहना); दौँड़ँ—दौण—दवन—दमन (पशु का शयन स्थान) यह वैदिक शब्द से है। उड़ौँड़ँ—उडौंण—उड्डावण—उड्डायन (उड़ाना); कौँड़ँ—कौण—कवण—कहन—कथन (कहना)।

प्रा अ + अ, अव आव अवा अह, = कुमा०; ०, आव अव. ओ औ और आ—शोव, शोल, बार, ग्यार, तेर, चोद् (१६, १२, ११, १३, १४) आदि अंकों में अह नष्ट हो गया है (सोलह, बारह, ग्यारह, तेरह, आदि); इसी प्रकार ग्वड़ घोड़ो आदि ओकारान्त (पु० कुमा०) शब्दों या उनसे व्यञ्जनान्त शब्दों (नवीन कुमा०) में घोटक आदि के घोडअ. घोडउ रूपों के अ अ या अउ (अव्) का ह्रास हो गया है। जैसे तात्—तातो—तत्तउ—तत्तव—तप्तक (गरम), ऐसे ही रात—रातो—रातउ-रातव—रत्तव—रक्तक (लाल) आदि।

अव्—जा·व्–जावो–जालो जालउ–जालक (रोशनदान, खिड़की, छलमारी) जा·व्–जाव–जात–यात (जावो); दौड़–दवुरिअ—द्रवित; कौड़ि–कवड्डिआ–कपर्दिका (दौड़ना कौड़ी); नचा—नच्चव नर्तय, देखा–देक्खव—दृश्य +, बोला—बौल्लय; ब्रूहि (बुलाओ); पका—पक्कव—√पक्क (पकाओ) आदि। पठौ—पठाव—पठावअ—प्रस्थापय (भेजो); गौ, गाव—गाव√गा (गावो)

कुमाउनी में अपभ्रंश की आकृति (५)

अइ आइ = पैं (पहिले दे दिया है); अउ अओ = औ (पहिले दे दिया है); अए—ऐं=करैं—करावेइ।

इइ इई ईइ ईई = इ—दि—दिइअ—देइअ√ददाति (दे दो); सी—सीइ—सिइअ—सुविअ√स्वपति (सो जावो); (सु के उ का इ श्रुत्यनुरुपक मंडूकप्लुति से); स्वीँइँ—स्विइण—सिविण—स्वप्न।

इअ, इआ = ई, इँ, यौं, ए—एदुग एतिक एतीक एदीग—एत्तिअक एत्तिअ—इयत् + (इतना); डेढ़—डिअड्ढ—द्विअद्ध—द्व्यर्द्ध (डेढ़); पां·ढ़िं—पाणिअ—पानीय (पानी); फा·ट्यों, फा·टीं—फाटिअउँ—स्फाटितक (फटा); खा·यों, खा·ईं—खदिअउँ—खादितक (खाया हुआ); कर्यों, करीं—करिअउँ—करिअअ—कृतकक (किया हुआ) आदि।

उउ उऊ ऊउ ऊऊ = उ, ऊ—दुंइं—दुउण—द्विगुण (दूना), दु का उ द्वि के व और इ लोप से या द्वितीय उ की श्रुत्यनुरूपता से। कूम—कुउम्म—कुटुम्ब (वंश)

उव उवा = उ ऊ—भज्जुः—भज्जुवा (भगने वाला); खद्दुः—खद्दुआ (खाने वाला); हँस्सु—हँसुवा (हसने वाला)। द्वित्व अन्तस्वर का पूरक है।

एअ = ए, यो—छेढ़िं—छेअणी—छेदनी (छेनी), द्यो-देअ—देव (बर्षा); ख्यो—खेओ—खेव—खेप (एक बार की लाद); श्रुत्यनुरूपता से ए आ = या—स्याव—सेवा, क्याव—केला, म्याव—मेला।

एइ = ऐं, ए—दे—देइ—देहि (दो); गवाये, गवायैं—गवावेइ—गापयति—गवाना; बोलाए वोलाएं—बोल्लावेइ√ब्रू (बुलना)।

इउ एउ = इ, यु—द्युः—दिउ—दिव—दीप (दिया), स्युः—सीउ—सीव सीता (हल की बनी रेखा); घ्युः—घिउ—घिव—घृत; घ्यौं—घिअउँ—घृतक (घी); द्युः दी—देउ—देतु—ददातु (देदो); ग्यौं—गेउँअ—गेहुँव—गोइहूम—गोधूम (गेहूँ)। ओअ = औ, ओ—कौंव—कोअल—कोमल।

ओइ = वे ओइ—क्वे—कोइ—कोवि-कोऽपि (कोई); वी, स्वे—सोइ सोवि—सोऽपि (वही); ज्वे-जोइ—जोवि—योऽपि (जो कोई); ध्वे-धोइ-धोइअ—धावित्य—धावयित्वा (धोकर); ह्वे, होइ—होति—हवई—भवति (हां)।

उइ = वे, वी, इ ए—त्वे—तुइ—तुमि—तुम्मि—*तुस्मे (तू तुम); द्वि:—दुइ—दुहिअ—*दुहित्य—दुग्ध्वा (दुह कर), सी, से (सेइ सिइ) सुइ—सुविय—सुवित—सुप्त (सो जा)।

द्विस्वरता की स्थिति (६) (आ = आ.)

थाइ थालि—थाली—थारि—थारी—स्थाली; शाइ—शारि शालि—श्यालिका (साली); होइ–होति–हवति–भवति (हां); दइ–दरि दलि—दलिअ—दलित (दलना); हइअ–हरिअ हलिअ–हालिक (हरवाहा); ताउ–तालुअ–तालुआ-तालुका (तालु), देइ, देरि, देलि–देअली–देहली; बइ–वरि–वलि–वलि (हत्या); पूरक य व के इ उ बन जाने से द्विस्वरता—खाइ–खाय–खात (छोटी तलैया); माइ–माय–माया–माता; भैं, भाइ–भाया–भ्राता; अन्य प्रकार के द्विस्वर, त्रिस्वर, चतुरस्वरों के उदाहरण पीछे ध्वनितत्व विवेचन अध्याय (१२, २४) में विस्तारपूर्वक देखिये।

कुमाउनी में ऋ और ऌ की परिस्थिति (७)

कुमाउनी में वैदिक ऋ की आकृति, अ अर आ आर इ उ ओ ए औ रूपों में विद्यमान मिलती है। अर—करि—करिअ—*कर्य—कृत्वा (करके); घर—*गर्ह—गृह (व्यतिक्रम)। आ—म्हतारि—मातृ (मां); माटो—मृत्तिका (मिट्टी); नाच—नृत्य; आर—हार, धार, मार भार आदि,

औ इ उ ए

तैजौरसु—तादृश (वैसा) कश—कीदृश,

इ—विच्छि—वृश्चिक (बिच्छू); सीङ—शृङ्ग (सींग); हिइ—हृदय; आदि।

उ—बुड़—वृद्ध (बूढ़ा); भुट्—भृष्ट (भुना); सुँडँ—शृणु।

ए—सुमेरि—स्मृत्वा; घेरि—गेर्हिय—गृह्य—गृह्य—गृहीत्वा (घेरकर); देखि–दृष्ट्वा, तत्सम में ऋ = रि–रिंडँ–ऋण, रिशि–ऋषि आदि।

ऌ

संस्कृत में ही ऌ का लोप हो गया था, प्रा० अप० साहित्य में कहाँ से आता। पर बोलचाल की भाषा में वैदिकों का 'मीढसे' के स्थान में 'मीळहसे' कहने की जो आदत थी वह इसी ऌ के प्रभाव के कारण प्रतीत होती है। इस प्रकार का एक काला 'ळ' कुमाउनी में अब तक मिलता है यह प्राय पदान्त में आता है, कहीं पदान्तीय स्वर के साथ। हो न हो यह वैदिक ऌ की आकृति दे रहा हो, शेष ऌ ऋ विवरण में पीछे देखें। जिन शब्दों में र ल का परिवर्तन मिलता है उनमें प्रायः ऌ से निकला यही काला ळ मिलता है।

हर हळ वरद वर्द, थारि थाळि, गारि गाळि आदि।

अनुनासिकता (८)

प्रा० और अपभ्रंश के पदान्तीय अनुस्वार, कुमा० में विद्यमान हैं; अब इनका रूप अनुस्वारसे अनुनासिकता में परिणत हो गया है। हुँ, हुँणि, हणि—सन्त + (से, को); बीं—विअउँ—बीजं (बीज); चलूं—चलउँ; चलीं—चलइँ—चलन्ति (चले); सूँ—सउँ—सह + (से को); जौं—जउँ—यवकं (जौ); कराइं—कराविअउ—कारितकम् (कराया) आदि। मोःत्यों—मौक्तिकम् (मोती)।

प्रा० अनुस्वार + घोष व्यञ्जन = अर्द्धविन्दु + अघोष व्यञ्जन, इस प्रक्रिया में उपधा का स्वर घोष पूर्ति रूप में दीर्घ हो गया है—फाँक, पाँख—पंख पक्ष (पर, कतरा), शांःक, शां·क—शंख (शंख और गला)। बाँक—बंकम्—वक्र (टेढ़ा, उत्तम); आँ·ख—आँखि—अक्षि। फाँःश—पाँशी—पाश + (फाँसी) (प का फ, आदि हकारता शकार की हकारता मंडूकप्लुति से आई), मैंस—मइँस्सी—मअँस्वी—मनस्वी (मनुष्य), डाँःस—दंश (डाँस)। कैंज—कनिष्ठ आर्या (विमाता) (कइस्स इजा—कइंजा—कैंजा)। काँ·श—कनिष्ठ (छोटा भाई); बाँःश—वंश (बाँस), पाँःच—पञ्च; ताँत—तन्तु (आंत का डोरा) आदि।

वर्गीय अनुनासिक—कुमाउनी में एक विचित्र बात यह है कि जिन वर्गीय अनुनासिकों का संयोग वर्गीय व्यञ्जनोंसे है उनका एकात्म्य अनुनासिक में होता है न कि वर्गीय व्यञ्जनों में। जैसे—भा·ण—भाण्ण—भाण्ड (वर्तन); हा·ण, हण्कि—हण्णं—भाण्णं—भाण्डं, भाण्डकृत् (मिट्टी का बर्तन, कुम्हार); खा·णु—खण्णउ—खण्डक (सीधा खड्ग); काण—कण्ण कण्टक (काँटा); षा·ण—षण्णा—षण्ढ (स्वामि, बुरे भाव में); बाण—बण्ण—बण्टक (बाँट); माःण—मण्ण—मण्ड (माण); घाःण्—घण्णं—घण्टा; आःङ्—अङ्ङ—अङ्ग, सङ्—सङ्ङ—सङ्ग; आःङड़—अङ्ग + ड (चोली); मङव्, पिङव—मङ्गल पिंगल; शाङव—शृङ्खला (जंजीर), जा·ङड़—जङ्घा चानंहिं—चान्नडी—चान्निडा चन्द्रिका + ड (चादनी); आनँहँ—अन्त्रिका + ड (पलक का फोड़ा), सींङ—शृङ्ग; सिंह (सींग शेर)। भण्पान—भाण्डपावन (वर्तनों की चूल्हे की सफाई)। मनीर—मन्निर-मन्दिर; कानू, कानि—स्कन्ध स्कन्धिका (कन्धा, कन्धे से लगा गले का भाग); आ·नि—अन्धिका (आँधी); चुमँइँ—चुम्बन (चूमना); ता·मि—तम्रिका (पाव या आधा सेर नापने का पात्र); लम् लाम्—लम्ब (लम्बा); निम्मुः—निम्बक (नीबू); जा·मीर—जम्भीर, आ·म्—अम्बा (नानी दादी), खा·म—स्कम्भ (खम्भा) आदि ये सब, न्द, ण्ड, ङ्ग, ङ्घ, म्ह, ञ, ञ्ज (काँचुइ कञ्चुकी), ञ्झ, वाँःझ-वाजि-

वन्ध्या) (ञ्झ = न्ध्या), ण्ठ, म्ब, म्व, म्र, म्भ आदि के पूर्वरूपीय तादात्म्य हैं, हिन्दी में प्रायः इनके पररूपीय वर्गव्यञ्जनीय तादात्म्य मिलते हैं। कुमाउनी के पररूपीय तादात्म्य ये हैं, पर काम-कर्म; चाम-चर्म; बान-वर्ण (रखैल नवव्याहता), कान-कर्ण, घाम-घर्म आदि जो हिन्दी में भी इसी रूप में मिलते हैं।

प्रान्तीय भाषाओं और कुमाउनी में वैदिक अनुनासिकों का ह्रास—नंड़ँद, ननद—ननान्दा; और बीस, तीस, चालीस, पचपन और इनमें से प्रत्येक के आगे के सब नौ-नौ अंकों के नामों में विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत् सब के अनुनासिक नष्ट हो गये हैं। अन्य उदाहरण ये हैं दाःड़—दंष्ट्रा; कुछ—किञ्चित्; टा·क्—टङ्क (टका); भतर भितेर, भीतर—अभ्यन्तर; भिजँड़ँ—अभ्यञ्जन (भीगना) आदि, आदि।

यमलता और स्वयमागत अनुनासिकता (९)

अनुस्वार की मण्डूकप्लुति के व्याख्यानावसर पर स्वयमागत अनुनासिकता के नियत स्थान तथा सम्भावित कारणों पर विशेष और विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है (देखें 'मण्डूकप्लुति' पीछे)। र श ष स के संयोग वाले शब्दों के स्वरों में तथा जोड़ी वाले शब्दों में भ्रमानुरूपता से सानुनासिकता आ गई है। र—आँःच—अर्चि; साँःथ—सार्थ; श—काँ·श—काश, ष—साँटि—षष्टि (एक धान्); ऊँट—उष्ट्; स—साँच्—सत्य।

शब्दयमलता

कुमाउनी शब्दयमलता में बड़ी प्रशस्त है, ऐसे शब्दयमलों का मूल सूत्रपात, अत्यावश्यक संज्ञा और धातु द्वन्द्वों के प्रथित प्रयोगों द्वारा होना अधिक सम्भव लगता है। विश्रुत धातु द्वन्द्व ये हैं—खा·णुपिणु (खानापीना), औणु-जा·णि (आनाजाना) लिहणिदिणि (लेनादेना), उठबैठ (उठक बैठक) संज्ञाद्वन्द्व-मैःबुः (माँबाप), भैबन् (भाई बन्धु), स्वर भ्यढ (बिरादर और धड़ा), खेतिपाति (खेत के धान्य शाकादि), चेलिबेटि (बड़ी छोटी लड़कियाँ), साःगपाःत (फलपत्ते की भार्जी), आ·गपाणि (आगपानी) आदि, आदि। इनकी अनुरूपता में सागहाग (शाक आदि) आ·शवा·श् (आशा आदि। यस्उस (ऐसा वैसा) सुरबुर् (रेंगना) क्या·ड़भ्या·ड़ (साटों की लकड़ियाँ) मैजैःक (माँ औरत की गाली), गा·ड़मुखा·ड़ (खूब गाली-गलौज); साःमव तूमव (मार्ग की खाने पीने की सामग्री), तूतबैंक (तूतू मैंमैं) स्यैं स्यैं (अनाप सनाप)।

सानुनासिक शब्द यमल—किँकाट् (कुत्तों का हल्ला), चींचपाट (बच्चों का रोना), च्यैंच्यैं (नवजात बच्चों का रोना), छुँयाँम्याँ (छौंका पूरी बनाना), हूं हां (इशारे से बात करना), नैं नैं (नहीं नहीं), सींसीं (जाड़े की सिसकाहट), क्यैंक्यैं (बकबास), ग्यैंग्यैं (निहोरा लगाना), म्यैंम्यैं (बकरी की आवाज), चूँचाँ (चूहे और चारपाई की ध्वनि), आदि, आदि ।

पदान्तरालीय अनुनासिकों के कारण अनुनासिकता—कौंव—कोमल; दौंड़्-दमन (पशु स्थान); भीं—भूमि (*भीमि) (धरती पर), तुमूँ थैं—तुमुन् थैं (आपसे) आदि ।

वर्गीय अनुनासिकों के पूर्ववर्ती स्वरों को, कुमाउनी में प्रायः सानुनासिक बोलने का चलन सा है, यद्यपि लिखने में उन्हें सानुनासिक नहीं दिखाया जाता । दाँन = दान, माँन—मान, वचँन—वचन; खाँणु—खाणु, काँम—काम, नाँम—नाम, पाँञ्—पञ् (पद्म वृक्ष), शाँङ्—शाङ् (भारी लट्ठे को उठाने वाला ऐसा डंडा जिसे दो जने दोनों ओर से अपने-अपने कन्धे पर रखते हैं) बाँण, बाण्–वण्ट (भाग) आदि ।

हकारता (१०)

मण्डूकप्लुति के व्याख्यान में स्वयमागत हकारता का विवेचन किया जा चुका है, अब हकारता के लोप की चर्चा शेष है । आदि हकारता का लोप—बैंणि—भगिनी; बोजि—भ्रातृजाया; ठाड़—स्थित; थान—स्थान; कानि-स्कन्धिका ।

अन्तरालीय ह् लोप—अन्यार-अन्धकार; खन्यार-खण्डहर-खण्डघर-खण्डगृह (खण्डहर), गाविणि—गर्भिणी, मि—अहम्मि—अस्मि (मैं); समजँड़—सम्बुध्यते (समझना), शिकर—शिखर (चोटी); श्वोगि-सोकि-सोखि-शोषित (सुखाया), बा·दँड़ँ—बन्धन ।

पादान्तीय ह् लोप—भूक-भूख-बुभुक्षा; भीक-भीख-भिक्षा; जाङ्ङ-जङ्घा + ड (जाँघ); बोद्—बोध, बूज—बुध्यते (बूझना); शाँ:श-शाँज—साँझ—सन्ध्या; वीट-विष्ठा; आ·ध-अर्द्ध (आधा); सा:ढु—साधु (साधू), ग्य:र, ब:र-एकादश द्वादश आदि के ग्यारह, बारह आदि के ह का लोप; ढीट-ढीठ-धृष्ठ; हात-हाथ-हस्त ।

हकारशेषता—यह स्थिति हकारतालोप के बिलकुल उलटी प्रक्रिया है । जहां उक्त उदाहरणों में श ष स के ह होने के बाद उस ह का लोप, तथा सोष्म या श ष स संयुक्तों की क्रम से ऊष्ममूलक या शकारादिमूलक हकारता का लोप बतलाया गया है, वहाँ इस स्थिति में शकारादिमूलक या

सोष्ममूलक हकारता ही शेष रह जाती है, व्यञ्जनों में संयोगों के घोषीय या अघोषीय तत्वों का ह्रास हो जाता है। जैसे ह्रट्अ्–हेटा–धृष्टक (ढीठ नीच); न्हैंति–निहाँति–नहि अस्ति (नहीं है); ह्राग–शाग–शाक (सब्जी) (अघोष ह), हाण—भाण्ड (मिट्टी का घड़ा); पिंह्व पिङ्व—पिंघव–पिंगल (पीला); ह्राचि-साँचि–सत्य + ; सुहाग—सौभाग्य (स्त्री का पतियुक्त होना); ह्रे–होइ–भवति (हां, है,), कुम्ह्रार-कुम्भकार (कुम्हार) (ह अघोष है); ह्रतुर–शत्रु (ह अघोष); कां ह्र–कांछ–कुत्थ अत्थि–कुत्रास्ति (कहां है) (ह अघोष छ का अ = उ सम) आदि । हिन्दी नागरी में बारह, तेरह आदि हकारान्त सब हकारशेषता के उदाहरण हैं ।

कुमाउनी में वैदिक और प्राकृतीय व्यञ्जनों की आकृति शेष (११)

प्रायः पदान्तीय और पदान्तरालीय वैदिक और प्राकृतीय व्यञ्जनों का या तो लोप हो चुका है या उच्चारण में शैथिल्यमय से हैं । कुमाउनी ने दन्त्य स को प्रायः तालव्य में प्रयुक्त किया है, विशेषकर पदादि में । प्राकृतीय 'ण' को कुमाउनी ने ँ ङ्‌ में परिवर्तित कर दिया है, पर जो ण संयुक्तों में था उसको शुद्ध रूप में सुरक्षित रखा है, हिन्दी में इसका अभाव-सा है । पदान्तीय सोष्मो को प्रायः अनूष्म या सकारता या अघोष हकारता में बदल लिया है । क्ष का प्रायः 'ख' हो गया है, पर नये विधान में कहीं-कहीं 'छ' भी मिलता है । प्राचीन, तॅं, दॅं, और प्राकृतीय त थ द, ट ठ ड ने अब ड़ और ढ़ (हिन्दी की तरह) बना लिया है । प्राचीन और प्राकृतीय संयुक्त व्यञ्जनों का एकात्म्य द्वारा जो दीर्घत्व हुआ था, उनके दीर्घत्व को ह्रस्वत्व में परिणत कर के, दीर्घत्व को उनके पूर्ववर्ती स्वरों को सौंप दिया है । प्राचीन य, व का प्रायः ज ब हो गया था, पर अब नये य़् व़् का निर्माण कर लिया गया है; अघोष ह, पदान्तीय अघोष स्वर और ऌकार सम काले ळ की विद्यमानता कुमाउनी की अपनी विशेषतायें हैं । अन्य विशिष्टताओं में म्ह न्ह ल्ह तीन नवीन एकात्म्यीय व्यञ्जनों की सृष्टि भी है; ये संयुक्त व्यञ्जन से नहीं हैं । कुमाउनी ने अब अपने नये संयुक्त व्यञ्जनों को निर्मित कर लिया है, वह भी ऐसे संयोगों की जिनकी कल्पना वैदिक या लौकिक संस्कृत में भी नहीं की जा सकती । प्राकृतों ने तो संयोगों को केवल दीर्घत्व में (एकात्म्य में) बदल ही दिया था । यहाँ अनुनासिकों के एकात्म्य में अनुनासिक बलवान है, अन्य भाषाओं में अन्य व्यञ्जन । पदों और वाक्यों में विसर्जनीयता की विद्यमानता भी, कुमाउनी की असाधारण विशेषता है । यह बात किसी भी प्रान्तीय भाषा में नहीं मिल सकेगी ।

नये संयोग और विसर्जनीयता—जत्काइ जातकालिका (प्रसूतिका स्त्री) थाब्त थास–देवता; बाच्ना कन–वाचना + किं (पढ़ते क्यों नहीं) हिन्दी में भी नाचना को 'नाच्ना' ही पढ़ते हैं। संस्कृत में यहाँ न का ञ होता है जो यहाँ नहीं हुआ (याञ्चा); हस्नैं रौव् – हसति रहति (हसते रहो), खेन्लेर (खेलने वाला) पड़नेर (पढ़ने वाला); शग्नैं न्हाँतिन् (उससे नहीं जीत सकते, नहीं कर सकते); फस्किः (गप्पी); अश्किः (रोगी); फट्कँड़ (फटकना); खुट्कुँड़ (सीढ़ी); हण्कि (कुम्हार); कच्पच् (किच-पिच्); कठ्पौड़–काष्ठ पादुका (खड़ाऊँ); अम्कॅड़ि ढिस्कॅड़ि (वेलगाम गाली देना); अड़चालीस; इक्शुटि (६१); गड़बज् (गड़बड़); कप्कोट् (एक गाँव), झट्पट; गौट्पट् (गाढ़ा); का·च्पा·क् (कच्चा-पक्का); सप्कुँड़ि (एक गाँव); दिन्रा:त (रातदिन); खैंचताँड़ि (खींचातानी); रज्बार (एक जाति)। ऐसे ही हजारों उदाहरण हैं जिनकी व्यञ्जन सन्धियाँ पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों के व्याकरणों के कान कुतर देते हैं; उनके नियमों से ऐसे रूप बन ही नहीं सकते, पर यहाँ सबके मुख में विराजमान हैं। जैसे अम्कॅड़ि का पाणिनि व्याकरण से अङ्कॅडि होगा, फश्किः का फस्किः फःकिः; ऐसा नहीं बोला जाता।

विसर्जनीयता—उपर्युक्त उदाहरणों में जिन पदों में अन्तिम स्वर से पहिले संयोग हैं, उन स्वरों के आगे विसर्ग ध्वनि की अनुभूति होती है, केवल अघोष स्वरों को छोड़कर। फश्किः सद्दिः; मद्दुः नद्दुः (नाम हैं); रात्तैः (एक दम प्रातः), शाँ·श्शैः (बिलकुल जल्दी सायं)। अकारान्तों में यह विसर्जनीयता अ के उच्चारण को उ-सा बना देती है। पत्तः २ (क्या? पता?) यह प्रश्न के शब्दों की पुष्टि का प्रतिप्रश्न का रूप है इसमें व्यञ्जनान्त को भी अकारान्त बनाकर उक्त विसर्जनीयता को निभाया जाता है। अघोष स्वरान्त और पदान्त के व्यञ्जन संयोगों में भी एक विसर्जनीय पूरक ध्वनि का उच्चारण होता है। साँ·च्चअ् (बड़ा सच्चा), यहाँ की विसर्जनीय ध्वनि ह्रस्व अ सम या अघोष अ सम होती है। चोक्खो–च्वक्खअ् (बड़ा चोखा), ऐसे रूप प्रायः अवधारण और स्वर बल या बलयुक्त पदों में मिलते हैं। र् श् ष् स् और अनुनासिकों के पदान्त में आने पर भी विसर्जनीय तदनुरूप ध्वनि पाई जाती है। वैसे कोई भी व्यञ्जन अन्त में बिना स्वर के आवे तो उसकी स्फुटता तब तक नहीं होती जब तक उसमें विसर्जनीय 'अ' के अनुरूप कोई ध्वनि न जोड़ दी जाय, यहाँ अघोष अ सा ह्रस्व अ विसर्जनीयता पाता है, दीर्घस्वरान्तों में विसर्जनीयता नहीं मिलती। पर ध्यान रहे कुमाउनी में अ आ ए ओ औ ऐ ऐं भी सब ह्रस्व भी है दीर्घ भी प्लुत तो होते ही हैं।

इस विसर्जनीयता में ऊष्माणता कम, अघोष हकारता युक्त तत्तद् स्वरता अधिक है, इतना ध्यान रहे।

व्यञ्जनों का स्वरों पर प्रभाव—कुमाउनी एक अद्भुत भाषा है। पूर्वोक्त सब कोटियों से यह सिद्ध हो चुका है कि इसमें वैदिक और लौकिक संस्कृत के सभी गुण तो प्रतिनिधित्व करते ही हैं, पर यह उनसे भी कुछ ऐसे अधिक विशिष्ट गुणों का भाण्डार-सा बनी है जिनको हम उनमें नहीं पा सकते। ऐसे ही अद्भुत गुणों में एक गुण यह भी है कि कुमाउनी व्यञ्जनानुकूल स्वरों के उच्चारण या स्वरूप को बदल देती है, स्वरानुकूल स्वर बदलने की, या व्यञ्जनानुकूल व्यञ्जन बदलने की बात तो भ्रमानुकृतिक मण्डूकप्लुति में व्याख्यात हो चुकी है। अब स्वर व्यञ्जनानुकूल प्रयत्न बदल कर अपना स्वरूप ही बदल लेते हैं जैसे लिखा जाता है 'तै-जस्' पर उच्चरित होता है 'तैःजौस्', यहां ज् का अ, तालव्यता के प्रभाव से औ (ह्रस्व) सम बोला जा रहा है। इसी प्रकार 'पत्तः' के प का अ भी औ (ह्रस्व) सम पौत्तः सा बोला जाता है जिसमें कण्ठोष्ठ्यता बलीयसी पड़ रही है। खट्टः का 'खौट्टः सा, 'मस्तः' का 'मौस्तः' सा आदि रूप भी इसी प्रकार बने हैं, यही परिवर्तनशीलता अन्य स्वरों के संयोगोंमें भी मिलती है जिनका विस्तृत विवेचन, ध्वनि वैचित्र्य नामक प्रकरण में दिया गया है, वहीं देखें।

कवर्गीय व्यञ्जनों की आकृति शेष (१२)

क्

वैदिक और प्राकृतीय पदों के अन्तराल या अन्त के क का प्रलय—बौंड़ाँ—वाउणअ—वामनक (बौना), कौंड़ु—कउणउँ कथनक (कहना); पौंड़ु—पाउणउँ—प्राघुणिक (पाहुना); बा·इ—बालिका; पुतइ—पुत्तलिका (पुतली तितली), न्यौव—नइउल॰ नउल—नकुल (नेवला); (न और उ के मध्य इ का स्वयमागन, भ्रमानुकृतिक है); जुड़्—युङ्क—यूक (ढील)।

वै० प्रा० क=कुमा० ग—भगुणि, भकुणि—भगुणी—बृहत्कुंडिका (ताँबे का तसला) व ह मिलन से भ; शगुन—शकुन; शीगिश्निः—श्रीकृष्ण; फगोःल बगव् बगल्—वल्कल (छाल) (फगोःळ में व का प और प में हकारता मंडूकप्लुति से जैसे भेप, फांसी में), अगाःश—आकाश; शंग्रौंःत्—संक्रान्ति (मास का प्रथम दिन सौरमान से), सुलोग्—श्लोक (छन्द), लोग—लोक; होसुग् होसुक्—औत्सुक्य, (आदि ह, मंडूकप्लुति से); शोग्—शोक; शागि—साकी—साखी—साक्षी; आदि।

क=च—छाल—कृत्ति (खाल) हिन्दी में क का ख हकारतायुक्त

मंडूकप्लुति से, पर कुमा० में क का च इ स्वर के प्रभाव से च का पुनः छ उसी मंडूकप्लुति से हकारतायुक्त होकर है। (देखिये पिछला परिच्छेद); क = च—वेचँछुँ—विक्रीडन (बेचना), यहां हिन्दी और कुमा० दोनों में इ के प्रभाव से क का च में परिवर्तन है। क = ख—खां·सि—कासः (खांसी) (हिन्दी और कुमा० दोनों में आदि हकारता वर्ण विपर्ययमूलक मंडूकप्लुति से)।

पदादि का 'क' प्रायः सुरक्षित है—कामव कामलो—कम्बल; कमव्—कमल; कुकूर–कुक्कुर (कुत्ता); काःठ–काष्ठ (लकड़ी); क्यव् केलो–कदल (केला); काःख–कक्ष (किनारे); का·खि—क·क्षिका (गोद); कान–काःन–कर्ण (कान); काःल–कल्य (बीता कल); काःव–काल (समय यम); का·व–काल, काक; (काला और कौवा); कोठि—कोष्ठिका (कोठी); कोड़ि–कुष्ठी; किड़—कीट्ट कीट (कीड़ा), काःम–कर्म, घाःम—घर्म, करोड़—क्रोड—कोटि (करोड़)।

वै० क्र, स्क=कुमा० क—कोश—क्रोश (कोस); कान, कानि—स्कन्ध, स्कन्धिका।

पदान्तरालीय और पदान्तीय वैदिक 'क'—ङ्क क्र र्क संयोगों से—आँ·क् आँःक्—अङ्क (चिह्न लगाना चिह्न); बां·क्—बांक—वक्र (सुन्दर टेढ़ा) का·कड़—कर्कटिका (ककड़ी)।

वैदिक या प्राकृतिक दीर्घ क (क्क) से—एःक—एक्क–एक; चा·क् (चा·ख्); चकर—चक्क, चकर—चक्र (चक्की चक्र) ; कुकूर–कुक्कुरः; चिकँड़ँ–चिक्कण; ख से शिकर-शिखर (चोटी), ष से–भाकि–भाख–भाषित (कहा); क क्क से—पक्कः—पा·क्—पक्क–पक्व (पक्का, पका); क्य से—मॉड़ींक्—माणिक्क—माणिक्य (रत्न); क्ष से शा·कि शा·गि—साक्षी; ट्क से—छक्कः—षट्क (छक्का), (ष का तालव्य श, उसका छ में परिवर्तन); त्क से—चमक्—चमत्कृ—(चमक), ल्क से—उळुक्—उल्का (आग की ज्वाला)। ष्क या ह्क् से चौःकुँड़ँ—चउहकुण—चतुष्कोण (चौकोना), निकाःव—निहकाह—निष्काश + (निकाला)। ज से—रांक—रञ्जित (रांगा)। ग, से—थकँड़ँ—स्थगन (थकना) आदि।

देशी क—शाँ·क्–शंख (गले की वायुनली); निक् नीक्—निह्क—निष्क (अच्छा); हाःकं॰ हा·क हां·क—हक्कार (हल्ला, हांकना), झक्कः—झषक—(बहुत सुन्दर), झक् झख—झष—(सुन्दर, झख मारना)

ख

पदादि का ख—खा·इ्–खाय–खात (तलैया); खाँ·इुँ–खादनक (खाना); खा·जि–खर्जू (खुजली); खैःर–खइर–खदिर (कत्थे का पेड़); खिजँड़–खिद्यते (खीझना); खण्—खनन (खोदना); खन्यार—खंडहर (खंडगृह); खण् खण्–खण्डंखण्डं (टुकड़े टुकड़े), खा·णु—खंडक (दुधारी सीधी तलवार) प्राकृतों में खड्ग का खड्ड खाड होकर सानुनासिक 'खांड़' हो गया था, पर कुमाउनी में मूर्द्धन्य ण् की उपस्थिति खाणु को खांड का सहोदर नहीं बनने देती, कुमाउनी का खाणु—खण्डक से ही निकला प्रतीत होता है। दे० अनुनासिकता पीछे। खेल-खेलति क्ष=ख—खार–क्षार (राख), खेत–क्षेत्र; खंट–क्षत (घाव का ढक्कन); खीर–क्षीर (दूध में पका चावल); क=ख—खिचड़ि–कृसर (खीचड़ी), खांसि–कास + (खांसी); स्क = ख–खा·म–खम्भा–स्कम्भ (खम्भा); ष्क = ख–पोखरि–पुष्करिका (गांव का नाम, पोखरी)।

पदान्तरालीय और पदान्तीय कुमा० ख—वै० ख्य = प्रा क्ख = कुमा० ख—बखाःन—बक्खान—व्याख्यान (प्रशंसा); क्ष—काःख—कक्ख—कक्ष (किनारे एक तरफ); आँ·ख-अक्षि (आँख) (अनुस्वार सकारता के कारण); लाख–लक्ष; राखँड़ँ—रक्षण (रखना) आदि। क्ष्ण—तिख—तिक्ख—तीक्ष्ण (तीखा); क्ष्म—लखुलि—लक्ष्मी + (खूबसूरत छैला स्त्री); क्ष्यखमाःव्—लक्षमाला (बाँज का फल); लख्—लक्ष्म (चिह्न); त्ख—उखाड़ँड़—उत्खातन (उपाड़ना), ष्क—शुख्, शुक्—शुष्क (सूखा) ख—दुख—दुःख; ष्ट— चाखँड़—चष्टन (चखना); ष—क्षख्—क्षक्—क्षप; शोखँड़—शोषण (सोखना); ज्वोखँड़—जोषण (तौलना) आदि।

वै० ख की अनूष्मता

शाँ·क् शाँःक—शंख; फाँक—पक्ष; निक्—निक्ख निष्क; शुक्—सुख।

वै० ख का एकदम ह्रास—शा·ड्व, शा·ड्ल—श्रृङ्खला (ख के ङ में एकत्व या तादम्त्यता से)

ग

ग बड़ा कोमल स्वर है। पदान्त या संयोगान्तर्गत यह अपनी घोषता को ही उच्चरित कर अपनी कण्ठस्पर्शतामूलक गकारीयतत्त्व को आवश्यकता से अधिक कोमला करता हुआ स्पष्टता से श्रव्यता तक नहीं पाता; केवल इसकी घोषता इसकी परिचायिका होती है। वहाँ इसका उच्चारण अंग्रेजी के 'आइ एन जी' के

एकत्व रूप होती है जैसे शङ्क्राँःत—संग्रान्ति—संक्रान्ति, भगिमन् छौ (भाग्यमान हो); आग्ला (आग लावो) भाग्—भाग्य; ला·ग्–लग्ग–लग्न (लगना) आदि।

पदादि का ग निम्नलिखित श्रोतो से आता है—वै० ग गैंःइँ—गायन; गा·दिः—गात्री (कम्बल या चादर का एक विशेष प्रकार से लपेटना, औरतों का साड़ी की जगह लपेटना); गोःठ–गोष्ठ, गागर–गर्गरिका (घड़ा धातु का); गोरुः—गोरूप (गाय), गधा—गर्दभ, गुँड़ँ—गुण; गँड़ि—गणित्वा (गिनकर); गव् गल—गल (गला); ग्वर गोरो—गौर (गोरा); गेरुः–गौरिक (गेरुवा); गा·ल—गल्ल—गण्ड (गाल); ग्वा·व—ग्वाल्हो—गोपाल (ग्वाला)।

पदान्तरालीय और पदान्तीय ग—वै० ग्न ग्ग—ला·ग्—लग्ग—लग्न (लगा); ग्य—जोगि—योग्य; ग्र—आ·गपा·छ्—अग्र + पश्चात् (आगा-पीछा); र्ग—आ·गव आ·गल—अर्गल (आगला), माङँङँ—मार्गण (माँगना) (मङ्गण समान रूप प्राकृत में रहा होगा जिससे ग के पूर्वरूप से मङ्ङण—मा·ङँङँ बना); ल्ग–फाःगुँड़ँ–फाल्गुन; ङ्ग—भा·ङ्—भङ्ग (भाँग); शाँःग्–शां ग–सङ्ग (सहोदर); वै० द्ग का प्राकृतो ङ्ग होना सम्भव है जिससे मुङर्–मुङ्गर–मुद्गर–मुद्गर (लकड़ी का हथौड़ा और मूँगरी); मूँःङ्–मुद्ग (मूँग) आदि रूप प्रस्तुत हुए हैं। वै० क—ग्याःर–एकादश (ग्यारह); शगड़ि—शकटो (अँगेठी); परगट–प्रकट (तत्सम में भी यही बात है); ग–जग्तुः—जगत् + सांसारिक उपद्रवी); जुग्—युग; जोग भोग रोग आदि, घ्र—बाःग—वग्ध—व्याघ्र। र्घ—अर्ग या अरग्—अर्घ (दूसरे में र का अ = उ सम) महँङ्ग–महर्घ (महँगा); ङ्घ—, जाःङ्, जा·ङ्ङ—जङ्घा (जाँघ)। वैदिक ज्ञ का मूल्य कुमाउनी में 'ग्यँ' के समान है। आ·ग्यँ—आज्ञा; ग्याँःन–ज्ञान; जग्यँ—यज्ञ;। वैदिक ग का ह्रास—अङुठि—अङ्गुष्ठिका (अगूँठी); (ग के ङ में एकत्व से अङ्ङुट्ठिआ) निङा·व् निङा·ल्—निङ्गाल (निगाला); (उसी प्रकार); दुँड़ँ—द्विगुण (दूना); न्यवँड़ँ—निगिलन (निगलना); जुव्—युग (जुवा)।

घ

पदादि का घ प्रायः वैदिक घ से निकला है। घड़ि–घटिका (घड़ी); घाम–घर्म (घाम); घा—घास; घौ—घात (घाव); घट—घट (पानी की चक्की); घाट—घट्टयति (घाट); घ्यु—घृत (घी); घुटुकि—घृष्टक + (घूंट); घ्वड़्, घोड़ो—घोटक (घोड़ा); घँसँड़ँ–(घर्षण) (घिसना, लीपना); घीण–घृणा; घाँःट–घंटा। ग से—वर्ण विपर्यय द्वारा—घर–गर्ह–गृह; कुछ लोगों

का मत है कि घर शब्द भारोपीय 'घोरो; (अग्नि) शब्द से निकला है, पर तब से कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व से 'घोरो' का 'घर' रूप में रहना असम्भव-सा जचता है, वेदों में इस प्रकार का कोई शब्द भी नहीं मिलता न लौकिक संस्कृत या पाली प्राकृत में। जिस प्रकार 'घृत' का घी घ्यु आदि परिवर्तन हुआ है वैसा ही कुछ परिवर्तन इस 'घोरो' में भी अवश्यंभावी था संस्कृत में घोरः, घोरं, घोरा शब्द भयंकरता अर्थ में मिलते हैं यदि ये भारोपीय घोरो से निकलते तो इनका रूप 'घारा' सा होता जैसा कि भाषाविज्ञानी (भारो ओ = वै० आ) मानते हैं। घारा का 'घर' किस प्रकार हो सकता है यह वही जानें। ऐसी कोई परिस्थिति उदाहरण तक के लिए नहीं है। कुमाउनी में 'अघोर' शब्द अशुद्धि अर्थ में अब तक मिलता है इसका उस घोरो (आग) अर्थ से नहीं, वरन् जल से शुद्धि कराने से सम्बन्ध रखता है। अतः उनकी दलील अनर्गल है। घेर—गृहीत (गृहीरअ–घेर); घुण्टि—ग्रन्थि (वस्त्र के बटन); घुङुट-गुण्ठिका (घूँघट) आदि रूपों में वर्ण विपर्यय द्वारा जो प्रत्यक्ष रूप बने हैं वे 'घर' का गृह से बनना भी पुष्टरूपेण प्रमाणित करते हैं।

पदान्तरालीय और पदान्तीय 'घ' का या अनूष्म तत्त्व ग रह गया है, या ऊष्मत्व मात्र ह या एकदम ह्रास—जा·ङ्, जाःङ्, जाँःग्—जङ्घा; लाँ·ङि्, लाँ·ङि्—लङ्घयित्वा (लाँघकर); बाःग्–व्याघ्र, महँग्–महर्घ; रहट—अरघट्ट (सूत कातने की चर्खी) आदि; पर नये देशी घ प्रचुर मात्रा में मिलते हैं—अघा·, अघिल–अग्र + (पहिले); औघड़।

तालव्य–चवर्ग—यजुर्वेद के ही युग में य का उच्चारण (पदादि में) ज सा करने का विधान मिलता है; साथमें ऋ का रे, ष का ख बोलने का विधान दिया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन व्यञ्जनों ने अपना रुख उच्चारण की दिशा में कुछ न कुछ अवश्य बदल लिया था। हम देखते आ रहे हैं कि प्राकृतों के युग में य का ज, ष क्ष का ख नित्यरूपेण हो गया है, साथ में ध्यह्य का झ, स्थ का ब, भी अबाधरूप से हुआ है, नवीन प्रान्तीय भाषाओं की प्रवृत्तियाँ, विशेषकर नवीन कुमाउनी की संस्कृत के उन तत्सम शब्दों का जिनमें च, श, ष, स है उनका नियमितः छ बनाना है। वेचड़–विक्रीडन, काक्, चाचा, ताऊ–तात, दातुल, दाछुल—दात्री (दराती), छाल–कृत्ति; चाँवोव–तन्दुल (चावल) आसत्–आसज–आश्चर्य आदि शब्दों में कण्ठ्य क और दन्त्य त का च में परिवर्तन भी ध्यान देने योग्य हैं। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि तालव्यों के उच्चारण में वह कठोरता या कट्टरता न रह गई थी जो वैदिककाल में थी। इस शिथिलता से ये तालव्य, कहीं दन्त्य की ओर झुके कहीं कण्ठ्य की ओर मुड़े से प्रतीत होते हैं। ढाई हजार वर्ष पूर्व के 'चन्द्रगुप्त' शब्द का

यूनानी लिपि में 'सन्डोकोटस्' मिलता है जिससे यह स्पष्ट है कि यवनों ने हमारे च की ध्वनि को स सी और ग को क् सी स्वीकार किया है। उसमें केवल उनकी अपनी उच्चारण शैली ही उत्तरदायी नहीं है वरन् साथ में हमारे तालव्यों की उच्चारण शिथिलता भी कम नहीं है। वैदिक तालव्य शुद्ध स्पर्श थे जिनका उच्चारण हम उसी प्रकार भुला बैठे हैं जिस प्रकार ऋ, लृ, ळह् ळ का। हमारा चवर्ग अब और प्राकृत युग में प्रायः ऊष्माणता की ओर या घृष्टता की ओर झुका है। घृष्ट व्यञ्जनों का उच्चारण स्, श् ध्वनियुक्त त् सम प्रतीत होता है। इसीलिए वैदिक श, ष, स, त्स का उच्चारण नवीन भाषाओं में छ या प्रा० युग में त्य का च हुआ है, उसमें छ और च की वही उष्माणता ही मुख्य और अनिवार्य कारण है। संस्कृत में ही इस घृष्टता या ऊष्माणता की प्रवृत्ति के प्रमाण मिलते हैं जैसे भगवान्+सम=भगवान्त्सम, तान्+तान्= तान्स्तान्। यहां 'न्त्स' का उच्चारण स्पष्ट रूप से उष्माणीय या घृष्ट व्यञ्जनीय है। अतः वर्तमान चवर्ग की घृष्टव्यञ्जनता या ऊष्मणता का शिलान्यास संस्कृत युग में ही हो गया था, प्राकृतों ने उसे पक्का ऊष्माण बना दिया है। त्स का उच्चारण हमारे च या छ सम होता है। अंग्रेजी में लोग ह्वेन्त्सांग को ह्वेनत्सांग गलत पढ़ते हैं, वह ह्वीन्च्वांग, है, इत्सिंग भी गलत पढ़ते हैं, यह इच्वांग है < इत्स्वांग=इच्वांग) अंग्रेजी में 'इत्सिंग' लिखा है जो इच्वांग का संकेतक है। अतः हमारा चवर्ग ऊष्माणीय तालव्य है, स्पर्श या स्पृष्ट नहीं, वरन् घृष्ट स्पृष्ट है, उनका मूल्य (च=त्स, छ=त्सह, ज=द्स, झ='द्सह' है)। सबसे बड़ी बात जो यहां ध्यान देने योग्य है वह है इन व्यञ्जनों के लिए हमारी वर्तमान उच्चारण विधि; हम जिह्वा को वर्त्स्य स्थान पर घिस कर ठीक वैसी ही ध्वनि सी करते हैं जो स या श सम सिसियाती है। जिह्वा घर्षण में त् स्, द् स् जैसी ध्वनि स्पष्टतः निकलती है, ऐसी, संयोगात्मक एक ध्वनि को हम च छ ज झ कहते हैं, इसीलिए श ष स त्सह, आदि च छ ज झ में परिवर्तित भी हुए हैं, यही मूल कारण है। लिखने में यहां स्पर्शों के ही संकेत लिए जायंगे, उच्चारण सभी प्रान्तीय भाषा-भाषियों का उष्माणीय ही हैं (दे० बंगाली सु० कु० चटर्जी २५५, २५९, शूलस ब्लौश ला लांग मराठे)। स्पर्श संकेतों में ऊष्माणीय उच्चारण करना क्या है, करते ही हैं। अतः त्स द्स्, द्स्ह न लिखकर च छ ज झ ही लिखेंगे। निम्नलिखित उदाहरण उक्त मत की पुष्टि करेंगे। कुमाउनी में संस्कृत तत्सम शब्दों के श स ष त्स त्स का छ में परिवर्तन—छूँत—स्पृष्ट, (छूत), उछिट्—उत्सृष्ट (छटक कर लगना), छुद्दि अछुद्दि—शुद्ध अशुद्ध; छंवछुर—संवत्सर (वर्ष का नया दिन और नाम), छंजर—शनिश्चर; वाछड़—वत्स+(बछड़ा); मूँछ मोछ—श्मश्रु; उछव—उत्सव; माँछ—मत्स्य

(मछली); लाल्छा—लालसा (अभिलाषा); अप्सा·र—अप्सरा; लछिमि—लक्ष्मी; लछँड़ँ—लक्षण; दछिड़ँ—दक्षिणा ; छँड़ँ—क्षण; छम—क्षमा; विच्छि—वृश्चिक; छाःच्छाइ—साक्षात् + (सजीव सदेह देव), छूवय या छोयो—स्रोतक (सोता पानी का), त्यर्छ—तिरश्च; तत्छम—तत्सम; इससे स्पष्ट है कि हमारे च छ ज झ, ऊष्माण हैं। छ० देखें।

पदादि का च (त्स)=वैदिक स्पर्शीय च (और त) से

चुन्०—चूर्ण (चूना); चव्यौंड़ चभ्यौंड़ चबौंड़—चर्वण + (चबाना); चुपँड़ँ—चोषण (चूसना); चाम—चर्म; चोर—चौर; चुम्—चुम्बन; चीन—चिह्न (चिह्न, जन्म कुण्डली); चुच्०—चूचुक (छाती स्त्रियों की); चखँडँ—चाटँडँ चषण चष्टन (चाटना चखना), चार—चत्वार, चाख्—चक्र (चक्की); चूँच—चुञ्चु; चूँडँ—च्वींड़ँ—च्योतति (पानी टपकना); चाँवोव—तन्दुल (चावल); चोद्—चौदह चतुर्दश आदि।

पदान्तरालीय और पदान्तीय च = प्रा० च्च ञ्च, च, वै० च, च्च

बचन—वचन; पचँडँ—पाचन (पचना); उँच ऊँच—उच्च; निच्—नीच (नीचा); काँच—काँच—काच; आँःचव आँःचल—अञ्चल; कुच्—कूर्च (झाड़ू); शुच्—शोचति (दुःखभरी चिन्ता); च्य—रुचँडँ—रुच्यते (रुचना); का·च्—कत्थ (कच्चा), नाँःच्—नृत्य; प्रा० के छ से—वच्च—वच्छ—वत्स (बच्चा), ज से—कुँचि—कुञ्जिका (चाबी), घुँचिः—गुञ्जिका (घुंघुची, और गोली का खेल)।

च का ह्रास—स्वीड़—सूचिका + इ (सुई), बयालीस—द्विश्चत्वारिंशत् (बीच के च का लोप है साथ में अनेकों का प्रलय भी, अड़तालीस तक सब में यही बात है)। हिन्दी पुरानी में वचन के बैन में तो च लोप स्पष्ट है ही।

छ

[त्स्ह] पदादि का छ—वै० छ—छा·इ—छाया; छात्—छत्र (छत्री); छेंदिं—छेदनिका (छेनी); छिरँड़ँ—छिद्रण (छेद से गिरना); छिनाइ, छिना·ळि—छिन्ना + (कुचरित्रा); छिँः—छिक्का (छींक), छव—छल (भूत और कपट); छौंःडँ—छादन (छाना) छौंड़—वत्सल (कुत्ते के पिल्ले)। तत्समों में या नवीन भाषा युग में स्वीकृत तत्समों में क्ष श स ष त्स आदि का छ हो जाना पहिले ही उदाहरण सहित दे दिया है। पदान्दरालीय छ केवल 'पुछँड़ँ' विछौंड़ँ, पृच्छति विच्छादन, आ·छ—अच्छ (अच्छा) और मिलेच्छ—म्लेच्छ में है शेष सब प्रायः त्स श स ष क्ष से निर्मित हैं। पदान्तराळ

का छ भी ह (अघोष) (उत्तरी कुमाउनी से) हो गया है बा·हूर—बाछुर्—वत्सल (बछड़ा); विदेशी श भी छ है = बाःच्छाः—बादशाह ।

ज

[दूस्]—पदादि ज=वै० ज—जा·व् जा·लो—जाल (खिड़की), जागँड़ँ—जागरण; जी—जीवतु (जिओ), जवैं—जामाता; जिबड़—जिह्वा+ड (जीभ); जिर—जीरक (जीरा); जा·मँड़ँ—जम्बू+(जामुन), जनम्—जन्म, जात—जाति, जा·ट्—जटा; ज्य = ज—ज्यष्ठ जेठो—ज्येष्ठ (आयु में बड़ा); जून—जुन्हाई-ज्योत्स्ना (चाँदनी); ज्व=ज—जयों, जल्यों—ज्वलित (जला); द्य = ज जुव्—द्यूत (जुवा खेल); जोति—ज्योति या द्योति । य=ज—जाँड़ुँ जा·ननइ—यानक (जाना); जोगि—योगी; जुजींड़ँ—युद्ध्यति; जतन, जुग, जम—यत्न युग यम; जौ—यवक (जौ); ज्वान—युवान या जवान ।

पदान्तरालीय और पदान्तीय ज—निम्नलिखित व्यञ्जन या व्यञ्जन संयोगों की आकृति रूप में विद्यमान है । वै. ज से—राज्·—राजा; पुज्·—पूजा; सैज—सहज (सरल); बोःजि—भ्रातृजाया (भौजाई); ज्ज से—काःजव्—कज्जल (काजल); सजौंड़—सज्जते (सजाना); लाःज—लज्जा; ञ्ज से—पां·जव् पाजलो—प्राञ्जल (सीधा); भिज्यों—अभ्यञ्जित (भीगा), पिंजड़—पिञ्जर (पीजड़ा); भां·ज—भञ्जय (ढालना); ज्ज्व से—उज्य·व उजव—उज्ज्वल (उजला); ज्य से—राःज्—राज्य; ज्र् से—बजर—वज्र; द्य से—आःज्—अज्ज—अद्य; नाःज्—अन्नाद्य (अनाज); बा·ज—वाद्य (बाजा); खा·ज् ; खाद्य·(भुने चावल); उपज—उत्पद्यते; विजुलि—विद्युत् ; छिजँड़—छिद्यते (छींजन); पसिजि—प्रसीद्यति (पसीजकर); य्य से—सेज—स्यज—शय्या; र्ज से—खजूर—खर्जूरिका; खा·जि—खर्जू+(खुजली); गा·जि—गर्जना (पशुधन); भोजपतर—भूर्जपत्र; मा·जिं—मार्जित (धुला); र्य से—काज—कार्य; इज—आर्या (मां); दुर्जोधन—दुर्योधन आदि ।

ध्य या झ के अनूष्म होने से—जुजींड़—जुज्झइ—युध्यति (लड़ना); बाँ·जि—वन्झा बन्ध्या; ज की ऊष्मता—झड़ि-झड़ँ—जणे—जन+(जने) आदि ।

झ

[दूरह्]—यह ध्वनि वैदिक साहित्य में बहुत कम मात्रा में मिलती है; लौकिक संस्कृत में भी झटिति, झष, झर्झरिका (जल्दी, मछली, काँसे की थाली सम जोड़ी का बाजा) झञ्झा (आँधी) आदि इने-गिने ही शब्द मिलते

हैं। अतः प्रान्तीय और कुमाउनी में इस ध्वनि की निरुक्ति में प्राकृतीय स्रोतों को ही टटोलना उपयुक्त है। जब इस ध्वनि के स्रोतों को प्राकृतों में ढूढ़ते हैं तो वह निम्नलिखित वैदिक या लौकिक संस्कृत ध्वनियों से उत्थित पाई जाती है:—वै० झ—झटिति, झष, झर्झरिका, झञ्झा। झट्पट्—झटिति पटिति (झट); झक्—(झख मारना); क्ष से—झोप—झुपड़—छुपति (सिर ढकना, झोंपड़ी); झड्यो—क्षरति देव (वर्षा का दिन या दुर्दिन); ज से—झकड़-जगत्काणि (जैन प्रा०) (झगड़ा); इसके बदले कुमाउनी में दूसरा शब्द जगतुः (झग-ड़ालू सांसारिक) भी है। झाँ·ट्—जार (जार पुत्र); झौव-झड्ड्-ज्वलित (मिर्च वाला); झमेल—जृम्भण (बवाल); झुटि—जुष्ट (झूठी); झाँ:ट, झा:ड़, झा·डु—जटा (कूड़ा झाड़ू); झरौख-जाल (खिड़की); द से—झुल् झुमँड़ँ-द्वल, झोइ, झोलि—दोला (झूला झूमना झोला); झां·क्, झां·कि—ध्यानक (पागलपन, झाँकी); ध से—झंड ध्वज या जयन्त; अनुकृतिमूलक जैसे झिड़िकि (झिड़कना); झनूझन, झमझम (धीमे-धीमे बरसना); झप् (बुझना); झकूझक (चमचमाना); झालर (लटकन)।

पदान्तरालीय और पदान्तीय प्राकृत झ को प्रायः अनूष्म करके बोला जाता है—बूज-बुज्झई-बुध्यति (बूझना); शूज्-समज-सुज्झई-सम्बुध्यति (समझ); वा·ज-उअज्झाओ-उपाध्याय (जाति); वा·ज् बां·जि-बां:ज-वज्झा-वन्ध्या (बिना बोया खेत, बांझ और एक पेड़) शां:श्-संझा-सन्ध्या (सायं)।

१३ टवर्ग और ड़ ढ़

यूरोपीय आर्यों में से रोमन और ग्रीक लोगों ने जिस अपूर्ण अतः अवैज्ञानिक पर संक्षिप्त लिपि का कामचलाऊ प्रबन्ध किया था वह भारोपीय समस्त ध्वनियों का वास्तविकता से उल्लेख करने में नितान्त असमर्थ रही है। उसमें वह वैज्ञानिक विभाजन है ही नहीं जिससे हम उनमें प्रामाणिकता मान सकें। प्रत्येक चिह्न स्थानान्तर से ध्वन्यन्तर का सूचक है। जो चिह्न तवर्ग का है वही टवर्ग का भी है, जो कवर्ग का है वही चवर्ग का भी। 'सी' और 'के' 'से' 'क' और 'च' दोनों, 'जी' से ग और ज दोनों, 'सी पी टी' से 'कपटत', तथा इनके अल्पोष्माण ख फ ठ थ (पदादि में ही) आदि। उधर वर्गों के द्वितीय-चतुर्थ वर्ण (फ थ छोड़कर) मिलते ही नहीं। इनका च और ज घृष्ट स्पृष्ट उष्माणीय ही लिखा जाता है; च में 'सी एच्' ज में 'डी जी'; 'जे' कहीं इसका ज है कहीं य; एस कहीं स है, कहीं ह्, कहीं श, कहीं शून्य। जेड कहीं ज हैं, कहीं घोषीय ऊष्माण, कहीं स्। ऐसी अनिश्चित वातावरण की लिपि वाले

हम पर धौंस जमाते हुए कहते हैं कि भारोपीय आर्यों के पास मूर्द्धन्य व्यञ्जन नहीं थे।[1] इस बात की पुष्टि में उनके पास कोई भी लिखित प्रमाण नहीं है। ध्वनितत्व दर्शन भारतीय आर्यों का सर्वप्रथम आविष्कार है, जिन लोगों को परसों तक, जब तक हमारे ग्रन्थों को न पढ़ लिया था, यह भी तमीज नहीं थी कि वर्ण विभाजन उच्चारण स्थान प्रयत्नादि कोई वस्तु हैं, वे उन्हें भी न समझ सकने के कारण इतना आगे बढ़ने का दुःस्साहस करें, यह भाषातत्व-शास्त्र का दुर्भाग्य है। नाँच न आवे आंगन टेढ़ा। लिपिहीनता, भाषातत्वशास्त्र शून्यता से यदि भारोपीय आर्यों के व्यञ्जन यूरोपीय भाषाओं में सुरक्षित न रह सके तो, यह भारोपीय आर्यों का यूरोपीय अभाग्य ही समझा जाना चाहिए। मुखान्तर्गत पांच मुख्य भाग हैं; उसमें जिह्वा के स्थान प्रयत्नों से पञ्चवर्गीय ध्वनियों का विभाजन तो प्रकृति की स्वयमेव देन है, जब तक कोई जाति अर्द्धगूंगी न हो। फिर कोई अनुकूल लिपि न बना सके तो अपने को कोसे, पूर्वजों को नहीं। उक्त पाश्चात्यों की लंगड़ी दलील यह है कि प्राकृत युग में जिस प्रकार भारतीय आर्यों ने ऋ + दन्त्य, र + दन्त्य, ष श + दन्त्य से टवर्गीय ध्वनियों का निर्माण किया था, उसी प्रकार वैदिक आर्यों ने भी ऐसे ही संयोगों से अपने टवर्गीय व्यंजनों का निर्माण किया होगा। इसके विरुद्ध यह पूछना है कि यूरोपीय भाषाओं में तवर्ग की वर्त्स्यंता कहां से टपकी? प्राकृतों और प्रान्तीय नवीन भाषाओं के टवर्ग भी वर्त्स्य ही है पूर्ण मूर्द्धन्य नहीं, उधर ष का 'ख' सम उच्चारण मान्य है इधर 'ण' का न या ड़ँ हो गया है। अतः प्राकृतीय परिवर्तन ने मूर्द्धन्य कहीं नहीं बनाये हैं, जब यह बात है तो उक्त संयोगों से वैदिकों ने भी कोई टवर्गीय मूर्द्धन्य व्यञ्जन (वर्त्स्य टवर्ग नहीं) नहीं बनाये होंगे। यह इसलिए पुष्ट है कि उनके टवर्ग का स्थान प्रयत्न सभी प्रातिशाख्यकारों ने मूर्द्धन्य (वर्त्स्य स्थान से बहुत पीछे) दिया है, ष का द्रोणिका रूप। (देखिये वैदिक टवर्ग)। अतः म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी ने 'प्राचीन लिपिमाला' नामक ग्रन्थ में जो यह वक्तव्य दिया है कि "भारोपीय आर्यों के पास दन्त्य और मूर्द्धन्य दोनों वर्ग थे, जिनमें से यूरोपीयों में कुछ (ग्रीकों ने) टवर्ग को, कुछ ने (अंग्रेजों के) आधे तवर्ग को खो दिया है; और भारतीयों ने दोनों को सुरक्षित रखा है" वह अक्षरशः सत्य है। यह ध्यान रहे कि वर्तमान भारतीय प्रान्तीय भाषाओं का टवर्ग

[1] वेकरनागल, दास आल्टिंदिशे ग्रामाटिक §१४५; मैनुवल ऑफ संस्कृत फोनेटिक्स—उहलेनबेक §६४४,४५; ए० ए० मैकडॉवल-वैदिक ग्रामर और ग्रुन्दिस देर इन्डोएरिशेन; सु० च० बंगाली—§२६६,७,

मूर्द्धन्य नहीं है, वरन् वर्त्स्र्य हैं (देखिए कुमाउनी का टवर्ग)। कुमाउनी का टवर्ग भी वर्त्स्र्य ही है। अंग्रेजी के टी डी भी प्रायः वर्त्स्य ही हैं, इसीलिए हम उन्हें ट ड सा सुनते और कहते हैं, वे वर्त्स्र्यों को दन्त्यों की महिमा देते हैं यह उनका भ्रम ही है; हां फ्रेंच के टी डी प्रायः दन्त्य हैं, कहीं-कहीं वर्त्स्र्य। लिपि की अवैज्ञानिकता और ध्वनितत्व ज्ञानशून्यता ने इनके वर्त्स्र्य और दन्त्यों में जो अभेद कर दिया है उसके उत्तरदायी उनकी यही कमियां हैं, इन्हें समझने का यत्न करें।

पदादि का ट—(वर्त्स्र्य)

वै० ट=कुमा० ट—टा·क्·–टङ्क (पैसे टके); टाँ·क्–टङ्क (पगड़ी और टांका लगाना), प्रथम में अनुनासिक का लोप टङ्क के एक रूप टँक्क के बदले 'टक्क' की उपस्थिति की सूचना देता है। त्र से–टुटँड़–त्रुट्यति (टूटना); त से–टयड़ टेड़ो–तिरश्च (टेढ़ा); टिक् टिको–तिलक (टीका माथे का), टट्टुः–तर्तृक (घोड़ा); देशी ट—टाण–(लकड़ी का वरांडा दुमजिले में); टेक, टुक (सिरा); टुणि (एक पेड़); टहल, टाःड़ (दूर); टुपर (टोकरी निगाले की); टपकँड़–(टपकना) यह अनुकृतिमूलक है। आदि। संस्कृत के ही पदादि से यह कम मात्रा में है, अधिकतर पदान्तराल और पदान्त में मिलता है, किसी व्यञ्जन का पदादि में अधिक आना न आना कोई महत्व रखता भी नहीं।

पदान्तराल और पदान्त का ट—र्त से–आ·ट्–अर्तृ–अर्त–ऋत् (आटा); ट्ट से—लङ्गोट–लग्नपट्ट (लँगोटा); फाटँड़–स्फाटित (फटना); पल्टँड़–पर्य्यटन, (लौटना); घट्–घट्ट (पानी की चक्की); हाट्–हट्ट (बाजार); फुटँड़–स्फोटित (फूटना); भाःट–भट्ट; ष्ट से–बीट–विष्टा (चिड़ियों का मैला); ढीट–धृष्ट; शाँ·टि–षष्टि (धान); नाःट–नष्ट (निर्वंशता), ट्व–खाःट्–खट्वा; र्त–वा·टुव् वटूटुः, वा·टुर, वा·टुल्–वर्तुल (गोलवट्टुवा), र्त्म–वा·ट्–वर्त्मन् (मार्ग); त्त—बुट्–वृत्त (बूटा); ष्ट्र–ऊँट–उष्ट्र (अनुनासिक प्राकृतीय) र्थ–हुँट्–हूँटा–अर्द्ध-चतुर्थ; द्द–कुटयल, कुटेलो कुद्दालक (कुदाली) है।

ठ

कहा जा चुका है कि पदादि में किसी व्यञ्जन का आना न आना कोई महत्व नहीं रखता, टवर्ग (कठोर होने से) पदादि में कम मिलता है और वैदिक भाषा में टकारादि शब्दों का प्रायः अभाव सा है, अतः प्रान्तीय और कुमाउनी भाषा में जो ठकारादि शब्द मिलते हैं उनके स्रोत प्राकृतीय ठ हैं। वे विभिन्न वैदिक व्यंजन संयोगों से निकले हैं। पदान्तराल और पदान्त

में यह व्यञ्जन वैदिक शब्दों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। पदादि के ठ के स्रोत निम्नलिखित हैं—ठा·ड्-स्था + ड (खड़ा), ठौर-स्थावर (स्थान); ठिक् ठीक-स्थितक (ठीक); ठिन-स्थूण (ठूँठ); ठुल-स्थूल (बड़ा)। देशी ठ-ठंड, ठाट, ठोक, ठेकि (काठ का बर्तन) ठसक्, ठेस, आदि हैं।

पदान्तरालीय और पदान्त का ठ=वै०ठ न्थ-गाँ·ठ्-ग्रन्थि; ष्ट-अङ्गु·ठि-अङ्गुष्ठिका (अँगूठी); का:ठ-काष्ठ; ओठ-ओष्ठ; गोःठ-गोष्ठ; जेठु जेठो-ज्येष्टक (जेठा); पिठ्-पिष्टक (आटा); डीठ-दृष्टि; जाँ·ठ्-यष्टि; बैःठ-विष्ट (बैठा), पीठ-पृष्ठ; मिठ्-मिष्ट (मीठा); रिठ्-अरिष्ट (रीठा); स्थ-पठौंःड्-प्रस्थापन (पठाना); उठौंःडँ-उत्थापन (उठाना); ष्ठ-निठुर-निष्ठुर। ठ का लोप-पण-पठन (पढ़ना) आदि।

ड-ढ, ड़-ढ़

ऋक् प्रातिशाख्य और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ने ड और ढ के स्थान प्रयत्नों का व्याख्यान, एकबार टवर्ग के साथ करके पुनः ड और ढ का एक दूसरा वर्णन इनकी सरूपता ळ और ळह के साथ करते हुए एक निश्चित निर्णय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जिसको आज तक कम लोगों ने समझने का प्रयास किया है। उक्त प्रातिशाख्यों का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि ड और ढ दो प्रकार के हैं (१) टवर्गीय कठोर ध्वनि वाले स्पर्श (२) मूर्द्धन्योष्माण या मूर्द्धन्य घृष्ट स्पृष्ट कोमल ध्वनि वाले ड़ ढ़ या ळ ळढ, इनमें से ड़=ऋ का व्यंजन और ळ=ऌ का व्यंजन, और अक्षरीय व्यंजन भी कहते हैं (सिलैबिक कन्सोनेन्ट जैसे लिटिल् का अन्तिम ल् या), जैसे कुमाउनी का काळा 'ळ' और वह ड़ँ [जो प्राकृतिय 'ण' और संस्कृत न का प्रतिनिधि है (खाँ·ड़ँ पिड़ँ आदि)। ऋग्वेद के 'अग्निमीळे' और 'अग्निमीडे' का उच्चारण भी ड ळ के अक्षरीय व्यंजन, कोमल व्यंजन रूप में ड़े के समान रहा होगा, इसका प्रमाण ऋक् प्रातिशाख्य (२-१७ से २२) ने 'वेदमित्र-मते ड (ड़) कारस्य स्थाने तालुः, द्वयो स्वरयोर्मध्ये डकारो ळकारः (ड़) सम्पद्यते स एव हकारतायुक्तो ढ (ढ़) कार सोष्मा भवति, सा ळ्हा [=साढ़ा]; वीड्वंग=वीळ्वंग; [=वीड्वंग;]; मीढ्वस्तोकाय स्तनयाय=मीळ्ढ्वस्तोकाय=[मीढ्-वस्तोकाय] स्पष्ट रूप से दे दिये हैं। अतः संस्कृत ग्रन्थों में जो ये नियम (१) 'डलयोरभेदः (२) रलयोरभेदः मिलते हैं वे ड (टवर्गीय) ल (दन्त्य) र (रेफ) के न होकर ड़-ळ, ऋ=ळ, ऌ=ळ, ऋ=ऌ के हैं। ऋ ऌ की वैदिक परिस्थिति देखें, एक वर्ग ऋ बोलता था दूसरा ऌ, इनके गुणीय व्यंजनों के के स्थान में एक र बोलता था दूवरा ल, इसी प्रकार इनके अक्षरीय व्यंजनों

में एक ड़ बोलता था दूसरा ळ, इनके अन्तिम अक्षरीय व्यंजनों के सोष्म रूप ढ़ या ळह भी थे जिनके उदाहरण ऊपर दे दिये हैं। अतः डलयोरभेद और रलयोरभेद को केवल अक्षरीय व्यंजनों में ही—जहाँ र और ल क्रम से ऋ या ऌ से निकलकर दो स्वरान्तराल में आ गये हैं वहीं लागू समझना चाहिए, न कि टवर्गीय ड और दन्त्य ल में। ऋ और ऌ का उच्चारण स्थान तब एक था, दो वर्गों के पृथक्-पृथक् प्रयत्नान्तर से ध्वन्यन्तर था, जिसकी स्पष्ट प्रयोगिता अब तक कुमाउनी में निभती चली आ रही है। एक ही शब्द के दो उच्चारण र, ळ (अक्षरीय व्यंजन) भेद से हैं, यह कई बार बतलाया जा चुका है।

मध्य युग के प्राकृतों और अपभ्रंशों में उक्त अक्षरीय व्यञ्जनों ने इतना गम्भीर प्रभाव डाल दिया था कि तब तवर्ग का भी इसी रूप में उच्चारण होने लगा। टवर्ग के ट ड का तो कहना ही क्या था। पतितं को पडिअं की जगह र को ड़ की (पूरक की) तरह अपनाकर 'परिअं' कहने लगे थे जिससे कुमाउनी में पड़्यों (पड़िअउँ—परिअउ—पतितक) (पड़ा हुआ) बना ; [हिन्दी का 'पड़ा' शब्द इसी तरह निकला—पड़ा—पड़्या—पड़िअअ—पतितक]। पतितं का पडिअं कैसे बन सकता है, और, पडिअं तो पतितं से अधिक कठोर है यह प्राकृत की मधुरता के विरुद्ध रूप है। अतः पतितं से सीधे पड़िअं परिअं बना होगा जिसके मूल में मध्य के त के पूर्वरूप की प्रवृत्ति रही, पर उसके स्वर में इ में र के अनुरूप मीठी ध्वनि ड, जम गयी। भाषा विज्ञानियों ने र+तवर्ग से जो टवर्ग की कपोलकल्पना की है वह भी अवैज्ञानिकता की हद दिखाती है। बड़्यों रूप 'वर्द्धितक' से निकला है। ये लोग कहते हैं कि यह [वर्द्धितउ—वढ्ढिअउ—वड्ढिअउँ—बडिअउँ = बड़्यों] इस प्रकार बना। पूछना यह है कि 'ढ़' कब बना ? अन्त में नवीन भाषाओं में कहें तो असम्भव है, क्या हमलोग पदान्त के ड का उच्चारण नहीं कर सकते ? खूब कर सकते हैं, कुमाउनी का उदाहरण लीजिए—'डड्यों'—दाड़्यों (जला हुआ दाड़ा हुआ) शब्द हैं, हिन्दी में गड्ढा गढ़ा, बुड्ढा बूढ़ा शब्द हैं। हम दोनों प्रकार के शब्दों का उच्चारण करने के अभ्यस्त हैं, ये दोनों रूप साथ-साथ हैं भी क्यों ? एक ही से काम नहीं चल सकता था ? तब इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। दूसरी बात यह है कि गर्दभ शब्द का अब 'गधा' या 'गदहा' बना, पर भाषावैज्ञानिक तो कहते हैं जहां र+तवर्ग था उसका टवर्ग बन गया था, तब गर्दभ का गड्ढह = गड्ढा रूप बनना चाहिए था, गदहा गधा क्यों बना ? इससे यह स्पष्ट है कि प्राकृतों में र+तवर्ग में (१) कहीं र का तवर्ग में पररूप हो गया था, (२) कहीं, तवर्ग का र में पूर्वरूप (३) कहीं, पूर्वापररूप मिश्रित वर्णीय रूप और वर्गीय पूर्वरूप होता रहा।

बुड्ढा में तृतीय है । वृद्ध से वुर्द्ध—बुड्ढ+क—बुड्ढा बना, यहां वर्गीय पूर्व रूप वर्णीय पररूप है (२) बूढ़ा में द्वितीय है वृद्ध—वुर्ह बुड्ढक बूढ़क बूढ़ा बना, यहां ढ़ का 'र्' वर्णीय पूर्वरूप हुआ है इसमें ह (ध का) मिलने से बूढ़ा बना है, बुड्ढा से 'बूढ़ा' किस नियम से बनेगा ड ढ का ढ़ यों ही तो बन नहीं सकता । ड़ ढ़ का सीधा सम्बन्ध र ल या ऋ ऌ से है न कि ड ढ से ; ड ढ तो र ळ के घृष्ट प्रयत्नीय उच्चारण सूचित करने के ऐसे घुणाक्षरीय न्यायेन ग्रहीत चिह्न है जिनके पाद में विन्दी लगाने से उनकी पृथक् सत्ता सूचित होती है, ड़ ढ़ फलतः ड ढ से किसी प्रकार नहीं निकल सकते, भाषा विज्ञानियों ने डलयोः रलयो रभेद को गलत समझ रखा है, एकात्म्य के पूर्व-रूप पररूप की भी ठीक प्रणाली नहीं आंकी है । जो लोग पदान्त में ड ढ का प्रयोग करने के अभ्यस्त हैं उनसे उनका वहां पर ड़ ढ़ सा उच्चारण हो ही नहीं सकता, वे ड ढ का ड ढ ही बोलते हैं । उनके पास र ळ सम्बन्धी जो ड ढ हैं उनके स्थान में वे उनका ड़ ढ़ ही उच्चारण करते हैं ड ढ सा कभी नहीं । यह प्रत्यक्ष प्रमाण उक्त तीन प्रकार के पूर्वरूप पररूप और मिश्रित पूर्वापररूप एकात्म्य की पुष्ट प्रतिष्ठा कर देता है। इससे पिशेल-प्राकृत व्याकरण § २३८, २४०, २४१, २५८; सु० कु० चटर्जी बंगाली का स्रोत विकास—§ २०० आदि के मतों का स्वयमेव खंडन हो जाता है, उन्हें भाषा-तत्वशास्त्र के नियमों का अध्ययन करना चाहिए । संस्कृत में जितने शब्द टकारान्त या डकारान्त हैं, उनके ट ड के मूलस्रोत वही ड ल या ड़ ळ या ऋ—ऌ का होना नितान्त सम्भव है, और उनके उच्चारण भी ड़ ळ के समान रहे होंगे । ऌ उच्चारण वाले ळ ढ़ कहते होंगे ऋ वाले ड़, जिनका रहस्य भूलकर संस्कृत के पंडित उन्हें ट ड सा बोलने लगे थे यह बात 'डलयोर्रलयो रभेद' नामक नियम को उनके अवैज्ञानिक रूप से प्रयुक्त करने से स्पष्ट हो जाती है । कुमाउनी में अबतक उन शब्दों के दो रूप विद्य-मान हैं जिनके अन्त में संस्कृत में ट और ड हैं जैसे गुड (गुड़), इसके 'गुर्यो, गुळ्यों गुर्ज्यो' तीन रूप र् मूलक ळ मूलक और इन दोनों के लोपमूलक मिलते हैं, इसका अर्थ 'मीठा गुड़युक्त' है । इसी प्रकार नाडी नाड़ी नाळी दो रूप, गरुड के गरुड़ गरुळ (गरुतृ गरुत्लृ) होंगे जिनके मौलिकरूप गरुतृ गरुत्लृ हैं क्योंकि जहां गरुतृ है वहां गरुत्लृ भी अवश्य रहा होगा; यह बत-लाया जा चुका है 'गरुत्मान्' और गरुत् शब्द तो वैदिक हैं ही 'सःसुपर्णो गरुत्मान्' (ऋग्वेद) । दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि प्रान्तीय हिन्दी भाषी भी गुड़ को कहीं-कहीं 'गुर' नाम से भी पुकारते हैं । यही बात कुमा-उनी की कई विभाषाओं में पाई जाती है । इससे यह स्पष्ट फलित होता है

कि गुड़ या कुमा०—गूड़ के ड़ का स्रोत र या ऋ या लृ या इनके अक्षरीय व्यञ्जन ड़ ळ में ही हैं। हमें अपभ्रंशीय भाषाओं के ड प्रत्यय का स्वरूप ड़ में ही मिलता है जिवड़् (जिह्वा + ड) या ळ जबड़ा (जिह्वा + ड). प्रथम कुमा० का जीभ अर्थ में है द्वितीय हिन्दी का जीभ का आधार हनु वाचक, ऐसे ही अन्य सब शब्द भी[1] हैं। यह ड कहीं भी ड रूप में नहीं मिलता सर्वत्र ड़ ही है, इससे यह विदित होता है कि यह अपभ्रंशीय प्रत्यय भी ड़ या ळ सम था (उच्चारण में) पर लिखने में लोग ड (टवर्गीय) लिखते आये हैं जो बड़ा भ्रामक है। ये प्रत्यय (अपभ्रंशीय या प्राकृतीय) भाषा में कोमलता और मिठास लाने के लिए ही प्रयुक्त किये गये थे। टवर्गीय ड से रेशम के कपड़े में टाट की टल्ली सी वे प्रिय भाषाविद् कदापि नहीं लगा सकते थे। वास्तविकता तो यही है, हठ का कोई उत्तर नहीं हो सकता। कुमा० में जो दीर्घ ऊकारान्त 'गूड़' शब्द है उसमें प्राकृतकालीन द्वित्व का प्रभाव है; गुड़ड़—गूड़, जैसे एक्क—एक। उक्त विचारणा का यह निष्कर्ष निकलता है कि जहां-जहां ड़ है वहां-वहां मूल में या तो र या ऋ या ळ या लृ अवश्य है, प्राकृतों में उसे ड़ या ळ रूप प्रत्यय से ड़कारान्त या ळकारान्त शब्द उसी प्रकार बने थे जिस प्रकार वैदिक या लौकिक संस्कृत में ऋकारान्त या लृ-कारान्त शब्द थे, या यों कहिए जो ऋकारान्त थे वे लृकारान्त थे और जो लृकारान्त थे वे ऋकारान्त; उन्हीं से ड़ ळ र ल और ड़ ळ आज भी मिलते हैं (दे ऋ लृ की दरार पीछे भाग २)। डकार के सम्बन्ध में एक और बात उल्लेखनीय है कि कुछ लोगों ने ड को ड रूप में ही उच्चारित रखा वह पंजाबी में अधिक है। खड्ड, अड्डा, गड्ढा आदि शब्दों में जिस डकार के दर्शन होते हैं वह उस प्राचीन परिपाटी के नितान्त नवीनतम भाषाओं की नवीन सृष्टि है, ये देशी शब्द हैं, प्राकृतों अपभ्रंशों से ये बिलकुल स्वतन्त्र हैं। यह भी एक प्रमाण है कि जहां र् ल् की उपस्थिति नहीं है वहां ड ढ का ड ढ ही रह गया है। ड़ ढ़ नहीं होने पाया है। प्राचीन खड्ड का खाड़, गड्ड का गाड़, अड्ड का आड़ हो गया था एक ने एक अपनाया दूसरे ने दूसरा, कुछ ने दोनों, जैसे

---

१. जा·ङड़—जङ्घा + ड़ या ळ क्योंकि जंघाल अंगाल आदि शब्द हैं (जाँघ); आ·ङड़—अङ्ग + ड़ ळ, (अंगरखा स्त्रियों का); पा·तड़—पत्र + ड़ या ळ (पंचांग); खा·पड़ि—कवल (मुख); आनड़ + अन्त्र + ड़ ळ (आँत) कुल्याड़—कुल्ठार—कुठार (कुल्हाड़ी); कौड़ि—कपर्दिका; सड़क—सृति + क (सड़क) गड़—गर्त (खेत); पड़ोसि—परिवेशिन—प्रतिवेशिन् (पड़ोसी) वे·ड़ु—वेळक (अंजीर फल)।

खड़ी बोली ने खड़ी बोली की यही डकारता (खड्ड मड्ड अड्ड गड्ड जैसे शब्दों की) इसके खड़ेपन को सूचित करती है; यद्यपि उसका नाम भी खड्डी बोली होना चाहिए था पर व्रज और अवधी के गम्भीर प्रभाव ने इसे 'खरी-बोली' कहकर 'खड़ी बोली' मीठा नाम दे दिया है। लड़का, लड़की शब्द लालकक, लालकी से निकले है, (प्रा० लाल्लक—लड़का) और लड़ना रड़ना रड़का—ललनक—(ललकार वाले अर्थ, फिसलने वाले अर्थ में); लाड़ लाला लल्ला आदि ललना (स्त्री) शब्द से निकले हुए है अतः ड और ळ सदा परिवर्तनीय बने रहे। प्रान्तीय भाषाओं में एक और प्रच्छन्न ड़ मिलता है। जब प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृतीय या प्राकृतीय 'ण' का उच्चारण किया जाता है तो लोग उसे सानुनासिक ड़ या ँ ड़ँ रूप में बोलते हैं जैसे बाण = बाँःड़ँ, पाणी पाँःड़ी (पानी)। कुमाउनी में धातुसूचक जाँड़ुँ खाँड़ुँ आदि सभी धातु-मूलों को जिन्हें 'जाणु खाणु' लिखा जाता है सानुनासिक ड़ में ही बोले जाते हैं। प्राकृतीय संस्कृतीय ण का भी ऐसा ही उच्चारण है जैसे पसिंड़ँ—पसीना—प्रस्वेदन; मसिंड़ँ—मसृण (महीन)। अतः ड़ का यह नवीन स्रोत है। इसका जन्म अपभ्रंशोत्तरकालीन वर्तमान आर्यभाषाओं के युग में ही हुआ है। हिन्दी में टवर्गीय ण केवल संयुक्त व्यञ्जनीय शब्दों में मिलता है जैसे घण्टा, बण्टा, ठण्डा। कुमाउनी में यह उक्त स्थिति में तथा उक्त स्थिति के एकात्म्य एकरूपीय शुद्ध टवर्गीय ण रूप में (भा·ण—भाण्ड (वर्तन) आदि में) भी प्रचुर मात्रा में मिलता है।

ट से कथित ड़—भाषा विज्ञानियों ने जिस प्रकार टवर्गीय ड से ड़ की उत्पत्ति मानी है उसी प्रकार ट से भी ड़ की उत्पत्ति सिद्ध की है। वास्तव में जिन और जैसी परिस्थितियों में ड से ड़ का होना असम्बद्ध सिद्ध हो चुका है ठीक उसी प्रकार ट से भी ड़ का निकलना अनर्गल है। जहाँ-जहाँ ट से ड़ की उत्पत्ति बतलाई गई है वहाँ-वहाँ सर्वत्र र ळ या ऋ ऌ का कुछ न कुछ सम्पर्क अवश्य मिलता है। अतः यहाँ भी ड़ का सीधा सम्बन्ध र ळ या ऋ ऌ से है (र=ळ=ड़)। ऐसा न होता तो एक ही मूल के दो-दो पृथक्-पृथक् रूप नहीं मिल सकते। घट घड़, भट भड़, भाट भाड़, भरुवा भड़ुवा जिनके अर्थ एक दूसरे से भिन्न हैं। घट (पनचक्की) घट्ट से उसी से 'घाट' भी बना है। यह घट शब्द घृत से निकला है जिससे घिर्री शब्द भी निकला है, घट और घिर्री दोनों के एक से काम भी है। घड़ (घड़ा)-घरा घळ से निकला है अब तक कहीं-कहीं 'घड़े' को 'घरा' बोलते ही हैं।[1] इसका धातु भी घृ ही है जिससे घृत

---

१. घृत-घिर्री या रौली या मथानी के चकरों से निकलता है अतः सार्थक शब्द है।

घट घेरा घरा घिर्री और घड़ घड़ा आदि निकले हैं। भाट भट-भट्ट से; भड़-भड़ुआ (वीर-चाकर) भर, भरुआ से निकले हैं। 'पँडँभरुवा' यह कुमा० में, पनभरुवा हिन्दी में बोला ही जाता है उसी से 'भड़ुआ' निकला है, भा.ड़ (भाड़ा)-भार से स्पष्ट सम्बन्ध रखता है। भार ढोने का देने को भा.ड़ या 'भाड़ा' कहना भी नितान्त वैज्ञानिक है। कई लोग भाड़ा को भारा भी अबतक बोलते हैं। भड़ (वीर) भरः (पूर्ण) से निकला है। पड़ोसी-परिवेशिन्-प्रतिवेशिन् के र से है; न कि ति के टि उससे डि बनकर पुनः ड़ि होने से; इतनी लम्बी प्रक्रिया कैसे हो सकती है। इसी प्रकार चड़ (पक्षी) चर से, खड़ि खरिया से, न कि खटिका से जैसा भाषाविज्ञानी समझते हैं। घड़ (पक्ष) धर से न कि धृत या धट से; (साड़ी) सा.ड़ि-सारी से न कि शाटिका से, बड़ि, बड़ी, बड़ा-बरी, बरा से जैसा कि अब तक कहीं-कहीं हिन्दी में बोला जाता है। ये वटी से नहीं निकले हैं, संस्कृत में बड़् शब्द है उससे बरी, बरा, वरी बनना अधिक सम्भव है। चिपड़, चिपड़ा (चिपटी नाक वाला)-चिपरा से जैसा कहीं-कहीं हिन्दी में बोला जाता है। चिपरा-'चिपिटक' से कैसे निकलेगा ? यह भाषाविज्ञानी बतायेंगे। सम्भवतः यह 'चिपितृक' शब्द रहा होगा जिसका एक रूप चिपिटक संस्कृत में मान्यता पा गया, दूसरा 'चिपिरक' जनता में प्रयोग पाते-पाते चिपरा हो गया उसीसे चिपड़ा, चिपळा बन गया। बा.ड़ बाड़ा-(घेरा, क्यारी) बारा से न कि वाटिका से, वाटिका-वर्तिका से ही वारिका या वारका, प्रथम से वाड़ी, द्वितीय से बाःड़ वाड़ा निकला। वर्तिका से निष्पन्न वाटिका को संस्कृत ने मान्यता दे दी, 'वारिका' को नहीं, यद्यपि 'वारका' को कहीं-कहीं मान्यता प्राप्त है, उसी वाःड़ (घेरा) अर्थ में। कुड़ कुड़ि (घर) कुड्यं या कुळयं से; कुड्य से 'कुळय' शब्द अधिक वैज्ञानिक जचता है, कुड़-(कुल के लिए घर), ठीक अर्थ बैठता है। अतः ट से किसी भी प्रकार ड़ की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। अब यह भ्रम हट जाना चाहिए। जहाँ ट था वहाँ अब भी ट ही है, और नये ट भी अनेक हैं यह बतला आये हैं। जो स्रोत ड़ के हैं वहीं स्रोत ढ़ के भी हैं, ढ, ढ़ का हकारता युक्त सोष्म रूप हैं, यह इस लम्बे परिच्छेद के आदि में ही बतलाया जा चुका है। खाँड़ और खाँड (शक्कर) को बतलाने वाले शब्दों के ड़ और ड के स्रोत एक दूसरे से एक दम भिन्न हैं। खाँःड़ का स्रोत खाःण-खण्ण-खण्ड है, इसके विपरीत खाँड का खाँःड-खाँड्ड-खण्ड है। इस पहेली को न समझकर लोग खाँःड़ और खाँःड की चिह्नानुरूपता (लिपि में ड़ का रूप ड सा) देखकर ऐसे अवैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'ड़ की उत्पत्ति ड से हुई है।' पीछे इसी परिच्छेद में बतलाया जा चुका है कि कुमाउनी में ण से निकलने वाले

ँ ड़ँ की भरमार है, हिन्दी में भी है ही। यदि लिपि में ड़ का चिह्न ड के नीचे में बिन्दी रख कर न करके र के नीचे में बिन्दी देते हुए सूचित किया जाता रहा होता या ळ से चिह्नित किया जाता रहा होता तो यह भ्रमात्मक 'ड़' रूप भाषा विज्ञानियों को यहाँ ऐसी अवैज्ञानिक निष्पत्ति की ओर न ढकेलता। अन्त में ड़ से सम्बन्ध रखने वाले प्राकृतीय 'ण' के बारे में कुछ विशेष महत्व-पूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाल देना अत्यन्त आवश्यक है। प्राकृत में संस्कृत का कौन न, णत्व को प्राप्त हुआ ? पहिले इसी कोटि पर परकालीन संस्कृत नाटक-कारों ने पदादि के न का भी ण करके या दिखा करके बड़ी भारी भूल की है, यह ण प्रायः पदान्तरालीय या पदान्तीय न का ही हुआ है। निद्रा का णिद्दा नहीं हुआ था निद्रा आदि का निद्दा आदि ही हुआ था बस। दूसरी इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यह 'ण' भला हुआ क्यों ? यह विदित ही है कि 'न' बड़ा मधुर स्वर (तवर्गीय) है, क्या तब प्राकृतकालीन वक्ता ऐसे कोमल न के स्थान में टवर्गीय ण करके अधिकधिक कठोरता लाना चाहते थे ? कदापि नहीं। उनका मुख्य अभिप्राय इस मधुर न को इससे भी अधिक चिकनी फिसलन वाली इसकी अनुरूपता वाली ध्वनि में उच्चरित करने का था, इस अनुरूपता का चिह्न टवर्गीय 'ण' सा लिखा गया है तो यह लिपि की अनुदारता है, ध्वनि और प्रयोजन या प्रयोग की नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस ध्वनि को प्राकृतों ने पदान्तादि में 'ण' चिह्न से प्रगट किया है वह ध्वनि उसी युग में ँ ड़ँ के रूप में उच्चरित होने लग गई थी जिसको प्राकृत की उत्तरकालीन अपभ्रंशों ने 'र' रूप में भी स्वीकृत किया है जैसे जायसी ने भाड़ के लिए 'भाँरू' और खाँड़ (दुधारी सीधी तलवार) के लिए 'खाँरू' शब्दों का प्रयोग किया है जो भाण्ड खण्ड से भाण्ण खण्ण भाणं खाण्—भांड़ खांड़ +—भांरू खांरू क्रम से बने। इसी प्रक्रिया के प्रतिफल स्वरूप में हिन्दी कुमा० आदि प्रान्तीय भाषाओं में उस न के ण की ध्वनि प्रायः ँ ड़ँ रूप में विद्यमान भी मिलती है, इन भाषाओं में संस्कृत का टवर्गीय 'ण' अपने शुद्ध मूर्द्धन्य उच्चारण में पृथक् रूप से भी विद्यमान है जिसके उदाहरण इसी परिच्छेद में पीछे दे दिये गये हैं जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'ण' चिह्न से प्राकृतादि और उत्तरकालीन युग से अब तक (लिखने में) दो पृथक्-पृथक् ध्वनियों का संकेत किया जाता चला आ रहा है (१—टवर्गीय ण् २—घृष्ट प्रयत्नीय फिसलन् वाला सानुनासिक ड़ँ)

अब समस्या रह गई है निम्नलिखित प्रकार के शब्दों की—

उड़ उड़ना—उड्डयन; जा·ड़ जाड़ा—जाड्य, पढ़ पढ़ना पढ़ना—पठन;

को·ड़ि कोड़ी कोढ़ी—कुष्टी; । कुमाउनी में उलउँड़ँ या उलवंड़ँ एक शब्द है, जो उल्लयन से निकला है, उसी का भाई उड्डयन है, पहिले का अर्थ तवे या भाड़ में भुनते दानों का उछल कर दूर ऊपर उड़ना या जाना है तो दूसरे का केवल उड़ना। जड और जल दोनों एक ही है, एक केवल 'शीत' अर्थ का दूसरा शीतधर्मी पानी का वाचक है। इन सब के ड और ल संस्कृत में संस्कृतीय टवर्गीयादि हैं पर जनता में शुद्ध वैदिक रूप के प्रचलित उच्चारण में ड़ और ळ रूप में सच्चे 'ड़लयो रभेद' सूचक होते हुए संस्कृत स्रोत से बिलकुल भिन्न हैं। अन्तरालीय और अन्तिम असंयुक्त ठकार वाले शब्दों का इतिहास कुछ गुमसुम-सा है। प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में तथा कुमाउनी में एक शब्द कुल्या·ड़् कुल्याड़ि, कुल्याड़ो (कुमा०) कुल्हाड़ा कुल्हाड़ी (हिन्दी) है। इसके बदले संस्कृत में 'कुठार' शब्द है। जानना यह है कि संस्कृत में ळ क्यों नहीं है? ऐसा प्रतीत होता है कि मौलिक शब्द 'कुळथार' था जिसका ळ तालुस्थानीय या मूर्द्धन्य सम वर्त्स्य स्थानीय होने से र के समान व्यवहार करने के कारण ळथ को थ अन्त में ठ्ठ बनाने में सहायक होते हुए 'कुठार' कुट्ठार शब्द का निर्माता बना, पर जनता में 'कुल्थार' की परिपाटी कुल्हार—कुल्हाड़ + कुल्हाड़ा कुल्हाड़ी कुल्लाडी कुल्या·ड़ि कुल्या·ड़ो कुल्या·ड़ रूपों की सच्ची जननी बनी रही। जहां संस्कृत में उक्त प्रकार का ठ है वहां उक्त प्रकार के ळ का अस्तित्व भी इसीलिए असम्भव नहीं जचता। पढ़न पढ़ना जैसे शब्द पठन से नहीं पर कुछ 'प्लथन' या पृथन शब्द से मौलिकतया निकले हैं जिनका जनता में प्रचलित रूप परन या पर्ह्न—पृथन या पळन पळ्हन—पळथन या प्लृथन सा प्रचलित होते चला आ रहा है। प्राकृत में ठ का ढ कैसे हो सकता है? इसका भाषा विज्ञानियों के पास क्या उत्तर है? वर्गों के द्वितीयों का चतुर्थों में परिवर्तन तो कहीं भी देखने में नहीं आता। प्राकृत का पढ्ढइ = पळहइ (या पर्हइ) है। इसका तादात्म्य करने के लिए पढ्ढई को पठति का विकृत या विकास समझना अवैज्ञानिक भ्रम है। पठति का यदि पढ्ढई माने भी तो उससे पाठइ या पाटइ या पढ्इ रूप सामने आयेंगे 'पढ्ढइ' कैसे बनेगा? जहां मीठा या कोमल ढ़ है, वह ळह है, यह तो इसके आदि में बतलाया जा चुका है। जब यह बात है तो कोढ़ी = कोळही हुआ इसकी आकृति 'कुष्ठ' शब्द में 'कुळस्थी' 'कुळस्थः' रूप में मिल सकती है जिसका एक ओर कुठार सम कुष्ठ कुष्ठी बना दूसरी ओर जनता में कुळथी कोल्ही या कोढ़ी रूप सीधे-सीधे प्रयुक्त होते चला आ रहा है। कुळस्थः कुळस्थः या कुळस्थी 'एक जगह या घर में खाली बैठे रहने वाले के अर्थ में' स्वाभाविक सा जच भी रहा है। इस मत की पुष्टि में एक बड़ा प्रामाणिक उदाहरण मिल रहा है, बेड़ँ, बेड़न् बेरँ बेलँ बेरना

बेलना—ये सब संस्कृत के 'वेष्टन' शब्द से प्रत्यक्षतः निकले जच रहे हैं; इनमें रूप और अर्थ का साम्य भी है, तब वेरना बेलना में र और ल कहां से आ गये? अतः मौलिक शब्द 'वेळ्ष्टन या वेर्ष्टन होगा उसी से जनता ने बेड़ना, वेरना वेलना को सुरक्षित बना कर रखा है। इसी प्रकार अन्य ठकार गर्भ या ठकारन्त शब्दों से निकले समझे जाने वाले ढ़ वाले शब्दों की आकृतियाँ ढूंढनी चाहिए, जैसे गढ़ना—गृथन या ग्लृथन से निकला है इसी से गठन या ग्रथन। जिससे ढ़कार वाले शब्द निकले हैं उसी से संस्कृत के ठकार मध्यान्तीय शब्द भी निकले, न कि ठकार मध्यान्तीयों से ढ़कारान्त। उन टवर्ग मध्यान्तीय शब्दों में जो ऋलृ या इनके रूपान्तर र, ड ळ संसर्गेतर हैं, अब तक टवर्गीय व्यञ्जन रूप में तद्वत् मिलते हैं या लुप्त हो गये हैं, जिनमें उक्त ध्वन्यतिरिक्त व्यंजनों का संयोग था वे भी सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त अनेक देशी शब्दों में टवर्ग आदिमध्यान्त स्थानों में प्रशस्ततया मिलता है। कढ़ै कढ़ाई–कल्हाई–कल्लाह + क्रूटाह। कटाह क्रुटाह या कृटाह या कृताह।

ड—ड से–डर (भय); डमरु–डमरू डकाःर (खाने के बाद आने वाली मुख की ध्वनि) डकारः; द से–डोलि–दोलिका (ल संसर्ग से) (डोली); डाःण–दण्ड (ण संसर्ग से); डा·–दाह (ईर्ष्या), डाँःश–दंश; डा०बु–दर्वी (कर्छी) (र संयोग से), डेःढ़–द्व्द्ध (र संसर्ग) डेढ़; द्र–डाःव्–द्रुम (पेड़) द्द–डीठ–दृष्टि; त—त्यड्, त्यड्—तिरश्च (टेढ़ा) (र संसर्ग से)।

अन्तरालीय और अन्तिम ड—यह बतलाया जा चुका है कि संस्कृत में पदान्तरालीय और पदान्तीय ड का निर्माण ऋ लृ या इनके अक्षरीय व्यंजन ड (ड़) ळ या र ल के संसर्ग से हुआ था जिसको प्राकृतों और अपभ्रंशों ने नहीं अपनाया, उन्होंने जनता में प्रचलित स्वाभाविक रूप ड़ ळ रूप को ही मान्यता दी। अतः संस्कृत के टवर्ग विशेषकर ड ढ की जो कमी इन भाषाओं में प्रतीत होने लगी उसकी पूर्ति के लिए, इन भाषाओं ने अपने नये ड ढ (या टवर्ग) का निर्माण किया। यह प्रत्यय रूप में या वर्ण परिवर्तन द्वारा इस तरह सत्ता में आया है कि उसकी खोज के लिए एक नवीन स्वतन्त्र प्रबंध लिखे जाने की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत हो रही है, क्योंकि इसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत-सा लग रहा है, जिसका अक्षरशः विवरण देने का प्रयास इस ग्रन्थ के क्षेत्र से कुछ बाहर-सा हो जा रहा है। वे डकार इस प्रकार हैं डड्यों (जल्यों) (जला); अड्ड, खड्ड (अड्डा, खड्डा); डँडा·र (पशुधन); डाःड़ (रोना); डुण (लंगड़ा); डूम (डोम); डाःम्र (दागना); डव् (ढेला टुकड़ा); डाब (डिब्बा); डमाडोल, डाःण–(पर्वतरेखा); डाँःट (बन्ध);

आदि। ध्यान रहे प्राकृतादि भाषाओं की तरह नवीन भारतीय भाषाओं ने भी अपने ड़ ढ़ बनाये हैं; इनकी खोज भी अभी करनी शेष ही है।

ढ और ढ़ ल्ह

संस्कृत में ढकारादि शब्दोंका अभाव-सा है, पदान्तीय ढ अवश्य मिलता है। सोढं, वोढं आदि, पर इन सोढं वोढं का एक रूप वैदिक काल में सोळ्हं वोळ्हं भी था, यह तो ऋक् प्रातिशाख्य ने स्पष्टत लिखा है (उल्लेख ळकार ळ्कार व्याख्या के आदि में देखिये)। संस्कृतज्ञों ने इस ळ्ह को न अपनाकर उसके टवर्गीय उच्चारण के सोर्तं-सोडं सोढं स्वरूप ही को अपनाया है। धातु सह + त माना है; पर होना चाहिये सह + त और सह्ऌ + त; तभी सोढं स्वरूप सामने आ सकता है, 'सहारा' शब्द इसी सह धातु की अवशिष्ट स्मृति है, सहायता सह्ऌ धातु की, जिसके ऌ के ल के लोप द्वारा उसके स्थान में य की पूरकीय प्रस्तुति है। जनता ने संस्कृतज्ञों के टवर्गीय उच्चारण को न अपनाकर वैदिक स्वरूप ळ्ह ही को गले का हार-सा बना कर पदान्तराल और पदान्त में इसके स्वरूप को ढ़ ही उच्चारित कर उसे ज्यों के त्यों सुरक्षित रखा है जिनके उदाहरण पहिले ही दे दिये गये हैं। प्राकृत अपभ्रंश और नवीन भारतीय भाषाओं ने पदादि में इस टवर्गीय ढ का निर्माण, संस्कृत के शब्दों में विद्यमान निम्नलिखित संयोगों के द्वारा किया है—ष्ट—ढीठ—धृष्ट; ल्थ या र्थ—ढिल ढिल्ल—ढ्ढिल, ढ्ढिल, शिथिल श्लथ; श्लिथ शब्द संस्कृत में विद्यमान हैं जो धातु श्लथ श्लिथ का है वही शिथिल का भी है। श्लथ श्लिथ में ल की विद्यमानता इसमें ऌ की मौलिकता का संकेत करती है, जहां ऋ था वहां ऌ था, यह तो इस बात की पक्की पुष्टि कर देता है; तब धातु 'शॢथ' श्थ ही रहे होंगे जिनसे शिथिल शिथिर शब्द निकले हैं। इसी प्रकार अस्थॢ या अस्थृ से अस्थि (और अस्थिल अस्थिर) बने हैं; अस्थि से हाड़ और हड्डी इस प्रकार बने—अस्थ्लृ-सस्थ्लृ-सस्लृ-हळिळ,-हाड़ि हाड़; और टवर्गीय हड्डी—हड्डि—शस्तृ—अस्थृ—अस्थि। दूसरी ओर ढयर ढेर ढेला शब्द भी अस्थिल और अस्थिर शब्दों से इस प्रकार बने हैं—अस्थिल (वर्ण विपर्यय) अठिहल-अढिहल-अढेल-ढेल्ल-ढेला; अस्थिर-(वर्णविपर्यय) अठिहर-अढिहर-अढेर-ढेरं-ढेर; ढयर; कुमाउनी में ढेरो और ढयर शब्द मरे पशु के मांस का नाम है, हिन्दी में 'बदन ढेर हो गया है' वाक्य में ढेर का कुछ इसी प्रकार का मांस चूर होना सा अर्थ है, इसी ढंग से 'ढेला' शब्द भी अस्थिल (वर्ण-विपर्यय) अठिहल-अढिहल-अढेल-ढेल्ल +, ढेला क्रम से बना है। उक्त

शब्दों के संस्कृत प्रतिनिधि अस्थिल अस्थिर शिथिल का प्रयोग संस्कृत में मिलता ही है, श्लथ श्लिथ भी विद्यमान हैं ही। अन्य ढकारयुक्त शब्द देशी या प्रान्तीय हैं जैसे—ढाःकँइँ (ढक्कन); ढंङ् (ढंग); ढाँःक् (एक टहनी और वेल की तरह और ढांक का पेड़), ढाःव् ढाःल् (ढाल, ढालू); ढावँड़-(पेड़ गिराना, ढालना); ढुङ् (पत्थर); ढंड (साँड़ँ सा नर); ढाँःट् (उसी अर्थ में); ढाँ·ट् (रखैल स्त्री का पुत्र); ढिमींड़ँ (ढीमना); ढुट् (काठ का बना पात्र जिसमें पशु को सानी-पानी खिलाया-पिलाया जाता है); ढिवरि (दिया); ढप्पुः (पैसे), ढोल, आदि, आदि। इनकी खोज के लिए स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखने की आवश्यकता है।

तवर्ग—त

पदादि में—त से—ता·र् ता·रो–तारक (तारा) ता·रि, ता·लि, ता·इ· तारिका तालिका (आँख की पुतली, ताली), तर्–तरति (तरो) ता·त् ता·तो–तप्तक (गरम); तित् तितो–तिक्तक (मिर्च वाला कडुआ); तील तिल्ल–तिल (तिल); तेःल–तैल; तोल–तुलयति (भार); ताँःत्–तन्तु (आँत का डोरा); त्र से—तीन तेर–त्रीणि त्रयोदश; तीस–त्रिंशत्; त्व से—त्वील्–त्वया + (तुमने); तुरन्त–त्वरित + (शीघ्र); य से—तुमि–तुम्हें–युष्मे (आप); प्राकृत युग में ही त्वया तुभ्यं की भ्रामकानुकृति से यूयं, युष्मत् का तुष्मे (अष्मे की तरह) बनाकर उससे तुम्ह रूप प्रस्तुत हो चुका था।

अन्तरालीय और अन्तिम त—असंयुक्त पदान्तरालीय और अन्तिम त तो प्राकृत युग में नाश को प्राप्त हो चुका था, जहाँ संयुक्त था वहीं द्वित्वादि द्वारा अब त् रूप में पाया जाता है—ङ्क्त से—पाँ·ति, पाँःत पङ्क्ति–पंक्ति त्त से—उतर–उत्तर; प्तृ से—ना·ति, ना·तिङ़ँ–नप्तृ (पौत्र, पौत्री, धेवते), त्र से—आःर्ति–आरात्रिका (आरती); खेःत–क्षेत्र; चित् , चितो–चित्रक–चोला और चित्त); छा·त् , छा·तो–छत्रक (छाता); पा·तड़–पत्रक + (पंचांग); पाःत्–पत्र (पत्ता), पूत–पुत्र, मूत–मूत्र ; राःत–रात्रि; क्त से, सत्तुः–सक्तुक (सत्तू); इसी से सा·तु (साँमव)·–सक्तु; तित् तितो–तिक्त; भाःत्–भक्त (भात); मोःत्यों–मौक्तिकं (मोती); रत्तिः–रक्तिका (रत्ती); भगत्–भक्त; क्त्र से—जोःत जोतँड़ँ–योक्त्रम् (जोतना); प्त से—साःत–सप्त; सत्तर–सप्तदश (त का अ उ सम) (सत्रह); न्त से—दाँःत्–दन्त; ताँःत्–तन्तु; र्त से–का·तिक–कार्तिक (कार्तिक का महीना), बाःत्–वार्ता; स्त्र से—इस्तिरि–स्त्री (तत्सम शब्द), त्न से—सौःत्–सवत्ती–सपत्नी (विमाता) स्त से—हाःत–हस्त (हाथ), र्थ से—साँःत्–साँथ–सार्थ (साथ)।

मुन्द्रिका–मुद्रिका (अगूंठी), बा:र–द्वादश, चन्द्रम्–चन्द्रमा, ग्यार (११) ते:र (१३) एकादश त्रयोदश । त से द्—गीद्–गीत आदि ।

ध के अनूष्म होने द शेष—दूद्–दुग्ध (दूध) बिदि–विधि (पटरी न खाना);

ध

पदादि में—ध से धा:न्–धान्य (धान); धतुर–धत्तूर (धतूरा); धुअँ–धूम (धुवां), धन–धन्य, धन (धन्य धन), धोव्यरग्–धूल्यर्घ (स्वागत वर का) धा·रो धा·र्–धारा (पानी का झरना); धो·ति–धौत + (धोती), धौ:ल–धवल (एक रंग एक पेड़); धोबि–धावक; धुनॅइ–धूनोति (धुनना) आदि; ध्र से—धुरुव–ध्रुव; ध्व से—धंस–ध्वंस ।

अन्तरालील और अन्तिम ध—पधा:न–प्रधान (गाँव में सरकारी मुखिया); निधान–निधान (अन्त में), गोधुइ–गोधूलि (सायं); वर्णविपर्यय द्वारा—गधा–गर्दभ; सन्धे:–सन्देह । ध का लोप—अन्या·र–अन्धकार; ग्यौं–गोधूम (गेहूँ), का·नि–स्कन्धिका (गर्दन); आ·नि–अन्धिका (आँधी); ध की अनूष्मता—सन्दि–सन्ध्या (पूजा); बाद·–बन्धय (बाँधो); अनुकृत्यात्मक—धत् (धिक् मीठी हल्की डाँट)

पवर्ग

प–कुमाउनी का अपूँ और हिन्दी का 'आप' शब्द 'आत्मा' से निकले हैं । इसके विश्लेषण में शूलश ब्लौश (ला लांग मराठे § १२९) और सु० कु० चटर्जी (बंगाली विकास § २७७) ने लिखा है कि आत्मा से अप्पा और अत्ताँ दो प्रकार के एकात्म्यीय रूप बने हैं, उनका तात्पर्य यह है कि अप्पा में त + म = प्प, दूसरे में त + म = त्ताँ हुआ । तब प्रश्न उठता है कि त + म=प्प कैसे बना ? वे कहते हैं कि यहाँ दन्त्य का ओष्ठ्य बन गया है, दूसरे में ओष्ठ्य का दन्त्य । पर दन्त्य का ओष्ठ्य बनने में 'आत्मा' का 'अम्मा' (दन्त्य में अत्ता ठीक है) बनना था अप्पा, कैसे बना ? इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं है । यहाँ पर जो वास्तविक वस्तुस्थिति है उसका उक्त दोनों महाशयों को ज्ञान नहीं है । बात यह है । यहाँ पर त्मा का संयोग यम की अपेक्षा रखता है जैसे पत्नी का पत्क्नी यमादेशपूर्वक होता है, वैसे ही आत्मा का यमादेश पूर्वक आत्प्मा रूप निश्चय पूर्वक होता है । जब एकात्म्य की बारी आई तो प्म दो ओष्ठ्यों के बलाधिक्य से त्प्म तीनों का एक ओष्ठ्य हुआ, उनमें भी प् की बलिष्ठता ने

तम् दोनों को प्प में परिणत करके अप्पा रूप प्रस्तुत कर दिया, जिससे आप (हिन्दी) अफिः (अप्पेहि, आत्मभि), (स्वयं आप) अपूँ (आप) (कुमाउनी में) (अप्पा + क) बने हैं। त्म का 'प्प' बिना यम तत्व के बनना नितान्त असम्भव है और अवैज्ञानिक तो है ही।

पदादि का प—प से-पा:त्-पत्रं (पत्ता), पुज्-पूजा; पु·अ-पूप (पुआ); पूत-पुत्र, पो-पाद (पाव), पाँ·ङि-पानीय (पानी), पींड़ँ-पिबति (पीना। पण-पठन (पढ़ना); पा:र-पार; पा·र-पारद (पारा), पूरब-पूर्व, परब-पर्व; पा·क् पा·को-पक्व + क (पक्का), पुराँ·ड़ँ-पुराण (पुराना); पुराँ:ड़ँ-पुराण (ग्रन्थ); पूश-पौषः (पूस), पौःयों-पल्लवित (नये पत्तों वाला वृक्ष); पिश्यों-पिष्टक (आटा); प्र पृ से—पुठ् पीठ-पृष्ठ (पीठ); पुछ-पृच्छति (पूछो); पहर-प्रहर; परॉःड़-प्राण; (घर); पैश-प्रवेश (गृहप्रवेश) आदि।

अन्तरालीय और अन्तिम प—त्प-उपज-उत्पद्यते (उपज); प-रुपरिश-रूपशील (खूबसूरत), प्प—पिपव-पिप्पल (पीपल); प्य—रुपै-रूप्यक (रुपया); म्ब-सा·पव, साँ·पल-सम्बल; र्प—स्याःप-सर्प, कपूर-कर्पूर, कपास-कार्पास; सौंःपॅड़ँ-समर्पण; ष्प—भाःप-वाष्प; त्म या त्प्म-अपँड़ँ—अप्पण—आत्प्म—आत्मनः (अपना)। देशी—पेःट; पा·ठि पा·ठ् (बकरी का बच्चा); घोपि खोपि (वर्षा से बचने के लिए कपड़े का झोप), टोपा·र, टुपर (टोकरी); च्या·प (दबाना); हड़् पि (काठ का बना घी का बर्तन)।

कहीं-कहीं पर अन्तिम या अन्तरालीय प का ब हो गया है—ऐबँड़ँ-अर्पण (चावल के आटे से लाल रंग की मिट्टी से पुती दीवार पर धार से रेखा लेखा करना); परब—दर्प, सरब—सर्प। वैदिक व का कुमाउनी में प—सप्पैः—सर्वे (सब)।

प लोप—का·मँड़ँ—कम्पन (कापना), दिवा·ड़ दिवा·लि—दिपावली; द्युः दियो—दीपक (दिया), गो·रु—गोरूप (गाय); ग्वा·व्, ग्वा·ल्, ग्वा·र—गोपाल (ग्वाला); पड़्या·व्—प्रतिपदा।

फ—पदादि फ-फ से फा·व्, फा·र्, फा·लो—फल्लो, फरों—फलक (हल मुख की लोहे की लम्बी शलाका); फ·व्, फर्, फलो—फल; फराःव—फराःर, फराःल—फलाहार, फलाहाल (फल + आ + ह, फल + आ + हु) (फलाहार); फाःगुँड, फाल्गुन (मास); फूल—फुल्लति (फूल); फे·ड़िँ—फेन + (फेन) प से—पाःट, फाःट—पट्ट (नदी और लहंगे का पाट), फा·ग—पराग (चीड़ के पेड़ की फूल की पीली धूल सा पराग); फाँ·शि—पाश (फाँसी); स्प से—फुटँड़ँ—स्फुटन (फूटना), फाःव, फाःर, फाःल—स्फाल (उछाल या कूद); फटीक्—स्फटिक; फुर्ति—स्फूर्ति; फाट्यों—स्फाटित (फटा); आदि।

अन्तरालीय और अन्तिम फ—म्फ से—ग्वा·फू—गुम्फ (कली); त्फ या द्फ से—का:फव् , का:फर, का:फल्—कद्फल (एक ग्रीष्म ऋतु का जंगली मीठा फल) त्पम प्र से—अफि:—अप्पेहि, आत्मभि; गुफा—गुप्पा—गुप्त+(गुहा); देशी—फिक्–फीका।

ब

पदादि का ब—ब से—बूज, बुद्धि:—बुद्धि; बा·ब् , बाई, बा·रि—बाल: वाला, बालिका; बौ:व् , बौं:र, बौं:लो बाहुक (बांह का कपड़ा–अस्तीन); ब्यु:–बीजम्-(बीज); बब्बर—बल (शक्ति); बा:ड़ँ–बाण। व से—बून—विन्दु; बौं—वाम (बाँया), बौराँ·ड़िं—बहूरानी–वधू+(ब्राह्मणी या बहूरानी) ब्वा:रि—वधू+आर्या (पतोहू) (वधू+आर्या—बहू आरिया बउआरिअ–ब्वा:री—ब्वा:रि); बॉ:ड़ँ—वाहन (जोतना); ब्या—विवाह, बाँको—वक्र (सुन्दर टेढ़ा), बजर—वज्र; बौ:वा·—बाहुलक (पागल); बकौल—वकुल (एक सफेद जंगली फूल)। द्व से—बा:र (१२), बै:श (२२), बत्तीश (३२), बयालीस (४२), बा:वुन (५२) आदि द्वादश, द्वाविंशति, द्वात्रिंशत्, द्विचत्वारिंशत् आदि। ब्र से—बा:मॅड़ॅ-ब्राह्मण (ब्राह्मण और पति); ब्वोलॉ·ड़ँ बोलॉ·ड़ुँ—बोल्लई—ब्रवीति (बोलना)। व्य से—बा:ग्—व्याघ्र; बखा:न–व्याख्यान (प्रशंसा); ब्यो:पार—व्यापार (ब्योपार में औ का उच्चारण, व्यवहार के 'ब्यौ:हार' के औ की भ्रमानुकृति से स्वीकृत हुआ है, अन्यथा इसका कोई दूसरा वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं दिया सकता)।

पदान्तरालीय और अन्तिम—ड्व से—छब्बीश्—षड्विंशति (२६) र्ब से—दुबव, दुबर, दुबलो—दुर्बल (दुबला); र्व से—गरब्—गर्व; शब्—सर्व (सब); चबौ:ड़ँ, चम्यौ:ड़ँ—चर्वणा (चबाना), दुब·—दूर्वा (दूब) व से—जो:बॅड़ॅ—यौवन, नब्बे—नवति (९०); भ की अनूष्मता से—गा·बिड़ि—गर्भिणी; अब्रक्—अभ्रख (अबरख), बै:ड़िं—भगिनी (बहिन); तत्सम शब्दों में व=ब।

भ—पदादि भ—व से–भकुणि, भगुण् , वहगुण–वृहत्कुण्डिका, वृहत्कुण्ड (बड़ा तसला); भा:प्—वाष्प (भाप); भुष्—वुषं (भूषा); ब से—भूख्–बुभुक्षा; भ से—भा:त् , भगत्—भक्त; भा·ण—भाण्ड (बर्तन); भल–भल्ल–भद्द–भद्र [भद्द; भल्ल] भला। भीक् (ख)—भिक्षा; भो:ज्—भूर्ज (पत्र); भा·रि—भार+(भारी); भड़—भर (भट); भीड़्—भित्ति (दीवाल) [भित्ति में भृत् धातु से भिर्ति, भिर्री, भीरि, भीड़] भ्य से—भतर, भितर,

भितेःर—अभ्यन्तर (भीतर), भिजँड़ँ—अभ्यञ्जन (भीगना), भ्रू-भ्र से—भौं—भ्रू + क (भौंह); भै भैं—भ्राता; भुलॅड़ॅ—भ्रम + ड़ (भूलना) भुटॅड़ॅ-भृष्ट—(भुनना); म्+ह् से—भैंःश—म्हइस—महिष; भ्यड़—भेड़—मेढ़् या—मेष + (भेड़) आदि । कुमाउनी में वैदिक अन्तरालीय और पदान्तीय भ प्रायः ब में परिणत हो गया है; पर नया भ सर्वत्र मिलता है । निभा·—निर्वाह (निभना), विभा·—विवाह; चभ्या·—चर्वण (चबा), तत्सम शब्दों में तो मिलेगा ही ।

देशी भ—भौंःल् (वसूला), भुकॅड़ॅ (भूकना); भुकर—मोटी लम्बी नली का बाजा) (शब्दनुकृत्यात्मक भूकार), भेःट; भद्या·व, भद्या·र, भद्या·लो (लोहे की बड़ी कढाई), भूड़ (काँटों की झाड़ी) ।

भ का लोप—गैःर—गहिर—गम्भीर (गहिरा); शवौ·—शलभ (टिड्डी) सो·हाःग, स्वो·हाःग (सौभाग्य); अहीर—आभीर, दुल्हौ·—दुर्लभक (दूल्हा) धुल्हैंःड़ि, दुल्हैंड़ि—दुर्लभिनी—दुर्लभ + (दुलहिन) आदि ।

(१४) अनुनासिक और नासिक्य

वैदिक और संस्कृत का मूर्द्धन्य ण तथा कण्ठ्य ङ जहां पर संयुक्त व्यञ्जन सहित था, वहां पर संयुक्तों की एकरूपता क्रम से ण और ङ में हुई है न कि उस वर्ण में जिसके साथ इनका संयोग था, यह कुमाउनी की अपनी विशेषता है (भा·ण—भाण्ड, नङ् नङ्ख—नख; सङ्—सङ्ग आदि) । जहाँ वर्गीय व्यञ्जनों के साथ अनुस्वार है उसका उच्चारण भी क्रम से शुद्ध वर्गीय व्यञ्जनों के नासिक्य में ही है चाहे वह शब्द संस्कृतीय, प्राकृतीय, अपभ्रंशीय या देशी ही क्यों न हो । इसके उदाहरण 'अनुनासिकता' शीर्षक में दिये जा चुके हैं (पीछे) । प्राकृतों में संस्कृत के जिस न का ण हो गया था (गमनं—गअणं, वचनं—वअणं) उसका कुमाउनी में ँ ड़ँ हो गया है हिन्दी में ना । कुमाउनी के पूर्वी क्षेत्र में (जोहार, दारमा, सोर, सीरा, अस्कोट, कुमांऊ और चौगर्खा में) वही प्राकृतीय ण का हिन्दी की तरह ना तो नहीं, पर कुमाउनी की शैली में न हो गया है (खादन—खौं·ड़ु खा·नु खाना) । तत्सम और अर्द्ध तत्सम शब्दों के संस्कृतीय ण का पश्चिमी कुमाउनी में ँ ड़ँ उच्चारण है तो पूर्वी में कहीं न और कहीं ण् । पर उत्तरी कुमाउनी में जहां सयुक्ताक्षरों से निसृत शुद्ध टवर्गीय ण मिलता है वहां दक्षिणी पूर्वी कुमाउनी में उसका तवर्गीय न हो गया है (भा·ण, भाना—भाण्ड + आदि) । संस्कृतीय और प्राकृतीय अन्तराल और अन्तिम नासिक्य अनेक स्थलों में; चाहे वे संयुक्ताक्षरीय हों या

असंयुक्ताक्षरीय, अनुनासिकता में परिणत हो गये हैं (सर्वत्र) (शाँःक्—शङ्ख आदि कौंःव् कौंःर् कौंःलो—कोमल; आदि नीचे देखें ? म आदि)।

म

पदादि—मति–मति; मा·द् मा·दि, मा·टो–मृत्तिका; मनूँड़–मन्यते (मनाना), मोल–मूल्य; मोःत्यों–मौक्तिक; माँ·शु–मांसक (मांस), माँ·थ, माँःथ–मस्तक; मर मार–म्रियते; मो·थो स्वथ–मुस्ता (मोथा), माँःजँड़–मार्जन (माँजना); मैःल्–मलिन (मइल) (मैला) आदि।

अन्तरालीय और पदान्तीय—का·मव, का·मर, का·मलो–कम्बल; कमव कमर–कमल; जनम्–जन्म; काःम–कर्म; धाःम–धामन् (तीर्थ); घाःम–घर्म (घाम); ता·म्–ताम्र (तांबा), आःम–आम्र (आम); निमदि (गई) ॐनिम्बरिअ–निवृत्तं (समाप्त हुआ); कुम्हार–कुम्भकार, बाःमण–ब्राह्मण, आ·म्–अम्बा (दादी); निम्बुः–निम्ब (नीबू), चुमँड़–चुम्बन; हमि–अस्मे (हम)।

अन्तरालीय म् आँ, उँ, वँ—आँःव् आँःर आँःलो आमलक (आँवला), करूँ–कुर्मः; चलूँ–चलउँ–चलामः; कुँवर–कुमार; गौं–ग्राम; गुशैं–गुशैं–गोस्वामी; जवैं–जामाता (जवाईं); धुङ्–धूम (धुआँ)—जहां पर म् का ङ् होना एक विचित्र बात है, यहां निश्चय ही भ्रमानुकृति है; धुंङ् धुङ् की तरह। नौँ–नाम; बौं–बाम (बाँया); रूँ–रोय (रोंये), सौःपँड़–समर्पण; श्याँःव श्याँःर श्याँःलो–श्यामल (पानी में बना हरा कीच); ह्यून–हेमन्त; चौंःर–चामर (चँवर, गोपुच्छ); चौःकँड़–चमत्क + (चौंकना) आदि।

ङ

यह वर्ण पदादि में नहीं आता—प्रायः अन्तराल और अन्त में मिलता है। नङ्–नङ्ख–नख (नाखून); यहां प्राकृतीय ङ है, संस्कृतीय नहीं। बा·ङङ्, बाङ्–बङ्कं–बक्कं·बंकं (टेढा) (प्राकृतीय ङ), भाङ्–भङ्गः (भाँग), मा·ङ्–मङ्गण–मार्गण (मांगना) (प्रा·§·); गङ्ः–गङ्गा; आ·ङ्–आःङ्–अङ्ग (देह); ना·ङङ्, ना·ङ्–नङ्ग नन्ग–नग्न नग्न + ङ (नंगा) वर्ण विपर्यय द्वारा न की पूर्व में मण्डूकप्लुति और ग कवर्ग के योग से ङ् बनना। आ·ङङ्–अङ्ग + ङ (अंगरखा स्त्रियों का), जा·ङङ्–जंङ्घा + ङ (जाँघ); शा·ङव शा·ङर शा·ङलो–शृंखला, (जंजीर); 'ङै ङै ङै' करनौ· छ्–वाक्य में किसी की बोली या बात की खिल्ली उड़ाने या चिढ़ाने में कहा जाता है, तो यह ङ केवल यहीं पर पदादि में आता है।

अनुनासिकता—शाँःक-शंख, या संग (सहोदर अर्थ में नं २ में) आँ·क्–अङ्क (चिह्न) यह 'अर्क' के 'आँःक्' से भिन्न शब्द है, भिन्नार्थक भी।

ण

कहा जा चुका है कि संस्कृतीय न, ण तथा प्राकृतीय ण (असंयुक्ताक्षरीय) का पश्चिमी कुमाउनी में ँ ड़ँ (घृष्टप्रयत्नीय अनुनासिक) है पूर्वी में न, पर दक्षिणी कुमाउनी में (काली कुमाऊँ चौगर्खा में) संस्कृतीय संज्ञाओं के ण का वत्स्र्यीय न सा उच्चारण है, न शुद्ध टवर्गीय न शुद्ध तवर्गीय। संयुक्ताक्षर निसृत ण, पश्चिमी में शुद्ध टवर्गीय ण है, दक्षिण में न और कहीं ँ ड़ँ है, पूर्वी में यह ण भी 'न' ही है। ध्यान रहे यह वर्ण भी पदादि में नहीं मिलता अन्तराल और अन्त ही इसके स्थान हैं।

ण = ँ ड़ँ

खाँ·ड़ुँ—खादन (खाना), पींड़ु—पिबनं (पीना) आदि धातुमूल सब। पछ्याँःड़ँ—पहिचाण—प्रत्यभिज्ञान (पहिचान) (च ह के स्थान विपर्यय और संयोग से 'छ्यां' बीच में बना); नाँःड़ँ—न्हाण—स्नान; ताँ·ड़िँः—ताणिअ तानित (तना हुआ); नँड़ँद्—नणाद्दा—ननान्दा (ननद)।

अपवाद—काःन—कर्ण, सुन·—स्वर्ण; शाःन—सज्ञान (इशारा) तथा तत्सम शब्दों या गृहीत शब्दों में—वचन रतन पाःव दान आदि देशी—पाःन (दूसरी मंजिल)। भण्पाःन् (चौका बासन)। इसमें भण तो भाण्ड से है पाःन देशी (पु० कुमा०) है। इसे भाण्पाःण भी बोलते हैं, दक्षिण पूर्व वाले भन्पाःन् कहते हैं—कोई भँड़ँपाःन् भी कहते हैं।

ण = ण्ण और न, ऩ (वत्स्र्यीय)

शुण्णि—शून्य (०) पुण्णि—पुण्य भा·ण्ण्—भाण्ड, भण्णाःर—भाण्डार (भण्डार और सम्मिलित भोज); खा·ण्ण—खण्ड (सीधी दुधारी तलवार); बा·ण्ण—वण्ट (भाग), शा·ण्ण—षण्ढ; शण्ण—शीर्ण (सड़ना); पण—पढ़ँड़ँ—पठन (पढ़ना) खिण्ण—खेड़ँड़ँ—चवेडन (फेंकना) उक्त दोनों में ँ ड़ँ का ण हो गया है दो ड़ँड़ँ का एक ण्ण बना है। का·ण्ण—कण्टक (काँटा) आदि। अन्यत्र इनके रूप भा·न् , भनाःर, खा·न् , शा·न् , पन् , खेड़ँन् , का·न् आदि हैं। इसी प्रकार ँ ड़ँ रूप वालों के नान्त रूप मिलते हैं। हां दक्षिण ण के ण के स्थान में जो ऩ (वत्स्र्यीय) मिलता है उसका वैसा ही उच्चारण करें।

न

पूर्व परिच्छेद में दिये गये उदाहरणों में कुमाउनी की कई विभाषाओं के न का जो स्रोत दिया जा चुका है उसके अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य भी है जो आदि मध्य अन्त में भी मिलते हैं, पूर्व परिच्छेदीय केवल अन्त में ही मिलते हैं।

पदादि—न से—नौ, नौं—नव (नौ और नया), ना·ड़ि—नाळी—नाड़ी (हाथ की नाड़ी); नौःव—नलक (डंठल); नौंःड़िं—नवनीत (मक्खन), नब्बे नवति (९०) स्न—से—नौंःड़ं—स्नान; नेः—स्नेह।

अन्तरालीय और अन्तिम—न्य से—धान–धान्य; मा·न्ति–मान्यता + (प्रतिष्ठा); ण से—पन्या·व—प्रणालिका (लठ्ठ की नली); न से—मनिख–मनुष्य; वाःनर—वानर; वचन, जतन रतन (यत्न रत्न); मन—मनस् (मन); न्त से—भा·गिवन् दा·यिवन्—भाग्यवन्त दयावन्त; न्ध से—आ·नि—अन्धिका, अन्या·र—अन्धकार; गन्यार–गान्धारिक (एक अन्न) आदि; न्द—मनीर—मन्दिर, सुनर—सुन्दर; ण्ड से—खन्यार–खण्डगृह (खण्डहर); न्न से—अन्—अन्न; भिन्—(अ +) भिन्न (बहनोई); म से—नाःन—नामकरण; र्ण से,. कान—कर्ण, ऊन—ऊर्ण (ऊन); पाःन—पर्ण; स्न से—जून—जुन्हाई—ज्योत्स्ना (चाँदनी); ह्न से—चीन चिह्न (जन्मकुण्डली की टीप)।

ञ

कुमाउनी में ञ घृष्टप्रयत्नीय रूप में मिलता है—याँ = ञा (यहाँ); पा·इं = पा·ञ (पद्म का पेड़); नञ—नइं नयँ—नव (नया); काञ—अकिञ्चन् (कन्जूस)। इनमें प्राकृतीय य की अनुनासिकता से ँ यँ = ञ है जैसे ँ ङँ = ण· पर संयुक्ताक्षरों में यह ध्वनि चवर्गीय (कुमा० के) रूप में विद्यमान है जैसे—पञ्चैत, पञ्चैत—पञ्चायत (न), सञैत सञैत—संजायत (उर्दू शब्द) पञ्चांःङ्—पञ्चाङ्ग (पत्रा) आदि।

ञ की अनुनासिकता और लोप—आँ·चुइ—अञ्जली; काँ·चुइ—कञ्चुकी (केचुली); पाँःच—पञ्च, पैंःतीस, पैंतालीश (३५, ४५); पचपन, पञ्चपन, पंचपंचाशत् (५५); पच्चीस—पञ्चविंशति (२५); ञ = न—पन्नर—पञ्चदश (१५) आदि।

अन्तःस्थ य व, र ल

य

यजुर्वेद के युग में ही असंयुक्त य का ज उच्चारण करने का विधान या परिपाटी प्रचलित हो चुकी थी, अतः ऐसा वैदिक य सर्वत्र ज ही उच्चरित होता चला आ रहा है[१]। परन्तु प्रान्तीय भाषाओं तथा कुमाउनी के स्वयं अपने निर्मित या प्राकृत अपभ्रंशों के पूरक रूप में गृहीत य व की कमी नहीं, प्रशस्तमात्रा में मिलते हैं। हाँ जहाँ प्राकृतीय और अपभ्रंशीय य अधिकांश में इ में और व, उ में संकुचित हो चुका है वहाँ कहीं तो संयोग से नये स्वर ऐ ऐं औ आदि कहीं ए ओ और कहीं द्विस्वर त्रिस्वर (संयोगों में) अइ आइ, अई आई, अउ आउ आदि में परिणत हो गये हैं।

य = ज—जजमान—यजमान; जश्—यश; जन्यो—जनेऊ–यन्त्रितक (यज्ञोपवीत) जॉ·ठ्—यष्टि (लट्ठी); जमुन—यमुना; जमराज यमराज; जथ—यतः (जहाँ से), जाँ·ति—यन्त्रिका; जोगि—योगी; से·ज—शय्या; का:ज—कार्य, इज—अजा—आर्या (माता) (शेष जकार के स्रोत में पीछे देखें) जाँःइँ—यानम् (जाना); य = इ और उससे नया स्वर ऐं ऐं)—जै–जइ—जय्—जय (जीत); समैं—समइ—समय्—समय; निभैं—निभाई–निव्वाहइआ–निर्वाहित (निभाकर); जमैं–जमा·इ–जम्भाई–जृम्भायित (जम्भाइ लेना); जँवैं—जवाई—जमाइ—जमाय जामाता आदि। य् + व्यञ्जन = ०—बा:ग—व्याघ्र; शाँश—सन्ध्या; सन्ध्या (सायं); व्यञ्जन + य = य = न्यो — न्याउ—न्याव—न्याऊ—न्याय; अन्तराल और अन्त का य = इ—सा·मि—साम्य (कुण्डलियों का मिलना); मा·इ—माया, मा·इ–माया–माता (जीगन); दा·इ—दाय्या—दया; जहाँ से संयुक्त होकर ऐ ऐं ऐं औ बन गये हैं, उनके उदाहरण यहीं ऊपर और स्वराकृतियों में ऐ ऐं औ के स्रोतों के उदाहरण स्वर भाग में तथा द्विस्वर त्रिस्वर चतुस्वरीय उदाहरण भाग २ में देखें जैसे—खा·इ—खाय—खाय—खात (पानी का गड्ढा)।

कुमाउनी ने अपने लिए जिस नये य का निर्माण किया है उसके स्रोत निम्नलिखित हैं। वै० प्रा० ए—यरकँढ़िं—एत्थ + कु (यहां पर); यश्—एरिश—एतादृश (ऐसा); याँ—यहां (हिन्दी)—यथ (पु० कुमा०)—यथ्थ एअथ्थ—इअथ्थ—अथ्थ—अत्र (यहाँ); यकल्—एकाकी (अकेला), यो, यौँ—एअउँ—एहउँ—एषक (ये यह)।

---

१. अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्य हल संयुक्तस्यापि रेफोष्माभ्यामृकारेण चाविशेषेणादिमध्यावसानेषूच्चारणे जकारोच्चारणम् (कात्यायन प्रतिज्ञा १)।

अन्तरालीय और पदान्तीय य—अपभ्रंशीय मंडूकप्लुतीय इ—आ या आ-पन्या·व, पन्या·र पन्या·लो—पनिआली—पणालिआ—प्रणालिका (बांस या लकड़ी की नाली); दन्या·व् दन्या·र, दन्या·लो–दनिआली–दणाली–दन्ताली (गोड़ने के पहिले धानों के उगे खेत की घास कुरेदने वाला पटेला बराबर लम्बे दांतों का पटेला); अन्या·र—अनिआर अन्धियार—अन्धकार (अँधेरा); इआ = आइ आ इ अ = अइअ—मण्याःव् मण्याःर मण्याःल—मणिआल—मण्णिआ—मण्डितक (भात के लिए चावलों की सत्ता); कण्याःव कण्याःर कण्याःल—कण्णिआल—कण्णआल—काण्डपाल (एक जाति के ब्राह्मण); ब्याःर ब्याःळ ब्याःव्—बिआव, बिआर, बिआल—विकाल (सायं); इव = इउ या यु—ब्युः बिउ—बिव्व—बीज; द्युः—दिउ—दिव—दीप; श्युः—सिवु—सिव्व—सीआ—सिता; शिय्—सिइअ—सीआअ—सीताक (हल से खुदी रेखा); जन्यो, जन्या—जनेऊ जन्निअउ जन्निअअ—यन्त्रितक (यज्ञोपवीत); स्वर की मण्डूकप्लुति से जैसे—च्यल्—चेअलो—चेलक चेक्ष चेड़क (पुत्र) आदि (पहिले देखें)। व्यञ्जनों के रिक्त स्थान पूरक रूप का य्—करायों–कराइअउँ–कराविअउ कारितक (कराया हुआ); कयाँ—कहिअअ—कथितक (कहने से); लेखियाँ—लेखिअअँ—लिखितक (लिखा हुआ); मयो–मयनउँ–मथनक (पटेला खेत का)। कहीं कहीं वै० प्रा० य् के भी दर्शन होते हैं—खण्या०—खण्णयअ—खण्डय + (उडेलो); भण्या०—भण्णयक–भण्डय (बिगाड़ो या छूत कर दो)। तत्समों या अर्द्ध तत्समों में वै० प्रा० य का उच्चारण पठित य रूप में और अपठित ज रूप में करते हैं।

व

यजुर्वेद के युग में व का उच्चारण तीन प्रकार का हो गया था। आदि में वह गुरु था, व्व सा उच्चरित होता रहा, मध्य में लघु था, अतः सामान्य व सा घोषित किया जाता था, अन्त में लघुतर था अतः व = उ सा या बहुत हल्के अघोष उच्चारण वाला था। (कात्यायन प्रतिज्ञा—'अथान्त्यस्यान्तःस्थानां पदादिमध्यान्तस्थस्य त्रिविधं गुरुमध्यलघुवृत्तिभिरुच्चारणम्' (६)। इस प्रकार आदि का व जब व्व सा घृष्टप्रयत्नीय सा उच्चारित होने लगा तो वह ओष्ठ्य ब सम हो गया जैसा कि ब के स्रोत में देखा जा चुका है। मध्य का व कहीं-कहीं व रहा, नहीं तो वह भी ब में ही परिणत हो गया, अन्त का व स्वयं हल्का था। अतः वह कहीं गल गया कहीं उ सम रह गया। कुमाउनी का अन्तिम व भी उ सम श्रुत होता है। प्राकृत युग के व्यञ्जन लोप ने बीच में जो स्थान खाली कर दिया था उसकी पूर्ति के लिए कहीं

य और कहीं व को रखकर स्वरों की पृथक् सत्ता सूचित करने की एक साधारण परिपाटी चल गई थी। य की तरह ऐसा व भी बहुत दिनों तक न जी सका, वह य के इ में परिणत होने की तरह (व का) उ में ढल गया, नवीन भाषाओं ने इस उ से कहीं तो द्विस्वर त्रिस्वर आदि बना लिए हैं कहीं संयुक्त स्वर 'औ' आदि ठीक उसी प्रकार जैसे य के इ ने ऐ ऐ बनाये थे। पूरक व के उ से द्विस्वरादिता—मा·उ, माव्—मावा—माला; शा·उ, शाव्—शाव—श्याल (साला); का·उ, काःव्, का·व—काकः या कालः (कौवा या काला); हउ, हव्—हव—हल (हल); खउ, खव्—खर—खल—स्खलित (खलिहान या आँगन) आदि। संयुक्त होने से नवीन स्वरोत्पत्ति—घौ—घाउ—घाव—घात (घाव); कौ—कउ—कव्—कव—कह कथय (कहो); दौ—दउ—दव्—दव—दल (दाल की सानी पशु के लिए); शौ—सउ—सव—शत (सौ); भौ—भाउ—भाव्—भावा—भ्राता (बच्चा)।

नवीन व के अन्य स्रोत—उ + अ, ओ + अ = व्—ब्वाःरि–वध्वार्या (बहू); कड़—कुअड—कुण—कोण (अन्धा कमरा, प्रसूति गृह); घ्वड़—घोअड़—घोटक (घोड़ा), कोसा या कश—कोअस—कुश (वीन या कदली के सम लम्बे फल); प्रथम को छोड़ शेष सब अ की मण्डूक प्लुति के उदाहरण हैं। वशा·यों—उअसइअउँ—उत्सर्पितम् (सूजा हुआ); वां—उअअँ–उअत्थँ–उ + तत्रक; कई जगहों में वति उथाँ, उहँढिँ आदि रूप भी कुमाउनी में प्रचलित हैं, हिन्दी में 'वहां' है ही अतः आदि में उ की प्रस्तुति अनिवार्य है। उ के सम्प्रसारण से भी व की सृष्टि मिलती है, रमुः (रामू)—रमुवाँ (सम्बोधन) रमुवाँक (षष्ठी), ऐसे सभी उकारान्त प्रिय नामों के रूप इसी प्रकार चलते हैं। य के उदाहरणों में पन्या·व् दन्या·व् मण्याःव्, कण्याःव, और, ऊपर दिये हुए मा·व्, सा·व् आदि के अन्तिम व् गलितव्यञ्जनों के रिक्तस्थान पूरकीय हैं, अन्तरालीय ऐसे व का उ में संकोच होकर नवीन स्वर 'औ' में परिणत हो गया है जैसे भौ, घौ (ऊपर देखे), मौ—मउ—मवु—महु—मधु (शहद), करायौं, धरायों—जिनका विकासक्रम भी 'य' के सिलसिले में दे दिया गया है, उनके अन्तिम भाग यौं के औं की उत्पत्ति अउँ अव अक से हुई है। उ + इ से भी व है—स्वींइँ—सुइण–सुविण—स्वप्न प्राचीन व भी संयुक्ताक्षर में मिलता है स्वर—(स्ववर स्ववर्गीय विरादर)। तत्सम अर्द्धतत्समों के व को पठित व पढ़ते हैं तो अधिकांश ब।

रेफ और लेफ

बतलाया जा चुका है कि आर्यों के दो मुख्य दल थे वैदिक और अवैदिक,

प्रथम ल प्रियवर्ग था, द्वितीय र प्रिय, दोनों के पास ल, र दोनों ध्वनियाँ और इनके मूल स्वर ऌ और ऋ थे, ऐसा न था जैसा चीन के लोगों में जहाँ 'ल' मिलता ही नहीं। इसका स्पष्ट विश्लेषण 'ऋ। ऌ की मार्मिक दरार' नामक शीर्षक में सोदाहरण कर दिया गया है जिसकी शेषस्मृति कुमाउनी के वैदिक ब्राह्मणों और अवैदिक क्षत्रियों की क्रम से ल और र की एकान्त प्रियता और प्रयोग से अब तक अशोक की लाट के समान अक्षुण्ण रूपेण ताजी सी प्रत्यक्ष गोचर होती है। जो रकारान्त या ड़कारान्त है वह ळकारान्त (या णाकारान्त) भी है, क्योंकि जहाँ ऋ था वहाँ ऌ भी अनिवार्य रूप से था। प्रान्तीय भाषाओं के ड़ ढ़ के स्रोत भी यही ऋ ऌ या इनके अक्षरीय व्यञ्जन ऱ (ड़) या ळह् (ढ़) या ळह हैं जिसका विवेचन ड़ ढ़ की व्याख्या में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है। उदाहरण भी स्थान स्थान पर दिखलाते आ रहे हैं। कुमाउनी र के मुख्य स्रोत ये हैं—

पदादि र

वैदिक र—रिङँड़ँ—रिङ्गण (चक्राकार घूमना); र्यखड़ रेअखणं—रेखणं (रेखा), राःत–रात्रि; रॉ·ङि—राअण्णी—राजन्ती—राज्ञी (रानी); राःण्—रण्डा (विधवा) रोपो र्वप्—रोपण (रोपाई धानों की); रा·शि—राशी (होश में, मेषादि); रचिं·—रचित (रचा); रमिः—*रमित—रत (रमा); रच्छि–रक्षिका (रक्षा, रक्षा का तागा), रत्तिः—रत्तिआ—रक्तिका (रत्ती); ऋ से—रीड़ँ—ऋण; रितु—ऋतु; ल से—राःव् राःळ् रारा–लाला (लार);

अन्तरालीय और अन्तिम र—त्र से बजर—वज्र; क्र से—चक्कर—चक्र; र् से—नरग नरक; र्ग से—सरग–स्वर्ग; र्ष से–हरीश–हर्ष; मंडूकप्लुति से रिखु—इक्षु (ईख); बाःर–द्वादश, शराब–शाप; निरा·नब्बे–नवनवति; (९९) भोर्जन—भोजन; करोड़—कोटि, वर्ण विपर्यय से—रीश–ईर्ष्या (डाह); र्म से—धरम–धर्म, करम–कर्म; र्व, र्भ से—गरब—गर्व, गर्भ; ल से—अवेःर—अवेला (देर) अब्याःर, अब्या·ळा—अवेआला—अवेला (विपत्ति); वै० ऋ, सं० कृ से—अन्या·र—अन्धकार, तनर—तन कर—तत्कृ (उनका); जा·नेर—यान + कृ (जाने वाला); खा·नेर—खादन + कृ (खाने वाला) आदि।

लेफ

ध्वनितत्व विवेचन में बतलाया जा चुका है कि कुमाउनी में दो प्रकार के ल हैं, ल और काला ल जिसे ळ संकेत से लिखा गया है। पर वैदिक ळ

(ड़ के समान) कुमाउनी के इस काले ळ से भिन्न है, यह न तो ड़ या ळ सम है न, ल सम, इसका पूर्ववर्ती स्वर 'औ' ह्रस्व सा गहिरा ध्वनित होता है, इसके उच्चारण की विधि दी जा चुकी है। यह प्रायः पदान्त या उपधा में मिलता है आदि या अन्तरालादि में नहीं यह निश्चित है, जहाँ यह है वहाँ इसके स्थान में कई वर्ग के लोग र भी बोलते हैं, यह र के वर्णन में बताया जा चुका है।

ल—पदादि का—वै० ल (र)—ल्यखॅडॅ—लेखण—लेखनं (लिखना); ला·ड़िलि—लाळिआ—लालिता (लाड़िली) (लूल् धातु); लम्ब् ला·म्—लम्बने लम्बा); लो·बि—लोभिन् (लोभी); लप्कॅड़ॅ—लम्फते (लपकना) ला·छ्—लचम (गर्म लोहे की छड़ से दाग का लगना); लिल्—लीला (लूलृ धातु)

अन्तरालीय और पदान्तीय—र और ळ का एक ही श्रोत (ऋ लृ) है इसका पक्का प्रमाण यह है कि जहाँ पर संस्कृत में र मिलता है वहाँ पर जनता की भाषा (प्रान्तीय भाषाओं) में केवल 'ल' ही मिलता है जैसे—पलङ्—पलंग पर्यङ्क, पलटॅड़ॅ—पलटना—पर्यटन (लौटना); भल (भलो भालो भला)—भल्ला—भल्द—भद्र (अच्छा)। बोलॅड़ॅ—ब्रवीति (बोल्लई) बोलना झगड़ा (शेष उदाहरण ड़ ढ़ के विवेचन में देखें) अलुँड़ॅ—अलोण—अलवण (नमक के बिना); चलॅड़ॅ—चलनं (चलना) म्या·ळ—मेला, कयळ-कदल (केला), ब्याःळ—विकाल (सायं)। अभी अभी आजकल के बोलने वाले इस ळ (काले ळ) को गलाकर पूर्वोक्त म्या·व् , कयव् , ब्याःव् कहने लग गये हैं, पर अधिकांश कुमाउनी विभाषाओं में यह ठोस रूपेण जीवित है। जो अर्थ रेफ का है वही अर्थ 'लेफ' का है "रिःफयति स्फाटयतीति रेफः, लिःफयति स्फालयतीति लेफः।"

ऊष्माण—श ष स ह

यह तो सर्वविदित बात है कि प्राकृत युग में सभी वैदिश श ष स का केवल दन्त्य स में परिवर्तन हो चुका था, केवल मागधी ने तालव्य 'श' को अपनाया था। मूर्द्धन्य ष ने अपना अस्तित्व ही खो दिया था जिसका मुख्य कारण यजुर्वेदीय पाठकों का ष का ख उच्चारण करना था, यह प्रथा प्राकृत और अर्वाचीन भाषाओं में अबतक बरती जा रही है। ख के श्रोतों में ष भी एक मुख्य है यह दिखलाया जा चुका है, कि इसे तत्समों और अर्द्ध तत्समों (षाँड़—कबीर) में सब ख पढ़ते हैं; यहां तक कि कई लोग ख को भी ष ही लिखने लगे थे जैसे कबीर का लिखा 'षाँड़'; 'षाँड़ कहे जो मीठा' में। कुमाउनी ने

मागधी का अनुसरण करके प्रायः 'श' श्रुति को अपनाया है, स दक्षिणी पश्चिमी में कुछ-कुछ मात्रा में मिलता है, उत्तर पूर्व में 'श' प्रधान है; स के दर्शन तवर्गीय संयोगों या संसर्गों में मिलते हैं, स्वतन्त्रतया और प्रधानतया नहीं; हां तत्समों में इसको स पढ़ने बोलने का सफल विफल दोनों प्रयास किये जाते दीखते हैं। उत्तर सीमान्त में श या स को अघोष ह के अनुरूप उच्चरित किया जाता है, यह उत्तरीय कुमाउनी की अपनी अद्भुत विशेषता है। यद्यपि सभी प्रान्तीय भाषाओं ने तीनों शकारों और सोष्मों (ख छ, घ झ आदि) को ह में (घोषह में) परिणत कर रखा है जिनके उदाहरण इनके विवेचनों में क्रमशः दिये जा चुके हैं।

श स

पदादि—स्न—शनेः—स्नेह; श्व—शाःश्—श्वास (साँस); शा·शु—श्वश्रू (सास), श—शाःग्—शाक (भाजी); शुप्—शूर्प (सूप); स—शाःत्–सप्त (७); सा·च्—सच्च—सत्य (सच्चा); स्या·व्—सेआवा—सेवा; सन्देः—सन्देहः; शङ्यौं·ङ्ँ—सङ्ञिआण—संज्ञान—सज्ञान (सयाना); स्यैङ्ँ—सैआङ्ि—सइ·आणि—सञ्आणी—सज्ञानी (स्त्री, आदरपूर्ण शब्द) शृ—श्याःव् श्याःर श्याःळ—शृगाल (सियार), श्य—शा·व् शा·र शा·ळो—श्याल (साल); ष—शोःव् शोःर शोःळ—षोडश (१६); ष = छ—छब्बीस्–षड्विंशति (२६) छत्तीस षट्त्रिंशत् (३६) आदि में।

अन्तरालीय और अन्तिम श स—ष्ठ से—काँ·शू—कनिष्ठ (छोटा अवस्था में) म्स्य—काँ·शू—काँश्यम् (काँसा); म्स—मा·शु—मांसक (माँस); सृ से—मस्यँड़ँ, मसिंड़ँ—मसृणं (महीन); श्म—मशाँःड़ँ—श्मशान (भूत) ष्ट—नाँःश—नंस्स—नष्ट (नाश होना); श्र से—आँ·शु–ऽअंस्सू—अश्रु (आँसू); ष्ण से—किश्नु या कीह्नु (कृष्ण), विश्नु या बीह्नु—विष्णु; स—कपाःस—कार्पास (कपास)।

शकारो का ह् ह में परिवर्तन अगले परिच्छेद में देखें।

हकार

कुमाउनी में हकार दो प्रकार का है अघोष और घोषवान्। दनपुरिय जोहारी दर्मियाँ विभाषायें तथा निचली जाति के लोग शकारों के स्थान में अघोष हकार का प्रयोग करते हैं, यह अंग्रेजी के होटेल हौस्पिटल के ह से कुछ अधिक घोषीय है पर साथ में शकारीय श्वास में ही अत्यल्प घोषता प्रतीत होती है। ह का उच्चारण जीभ को अपनी जगह ही लेटते छोड़कर

श ष स के उच्चारण के खुले मुँह के श्वासीय प्रयत्न से यह ध्वनि (शपस) अघोष या श्वासघोषीय ह् सी सुनाई पड़ती है। साःग = ह्राःग् (शाक); साँ·चिः—ह्राँ·चिः—सच्ची (सच मे ?); शतुर—ह्तुर (शत्रु); कील्लु— किश्नुः (कृष्ण) बील्लु—विश्नु—विष्णु; यह्लु—यख्नु (देखते हैं) कोंःह्लू— कोँःछ्र (कहाँ हैं ?); ह्प्पैः—सप्पैः (सब के सब) आदि हकार की मण्डूक-प्लुति हकारता शीर्षक में देखें।

पदादि ह

ह् से हँसँड़ँ—हसनं (हँसना); हरीःस्—हर्ष; हव· हर हल-हल; हाःथ हाःत—हस्त; हाःर—हार; म्ह से—हमि-अहम्मि-अम्मे (हम); म्हौःत-महता (जाति), म्हैंःनसिंह—महेन्द्रसिंह; स से—म्हैंःड़ँ—महीना—मासीन-मास + (महीना), न्हैःग्यो—नशिगोछ-नष्टं गतोऽस्ति (चला गया);

अन्तरालीय और पदान्तीय ह लोप—भौःत्—बहुता (बहुत), भौंःल-बहूल—बसुला (हिन्दी) देशी शब्द; गधा—गद्दह-गर्दभ आदि। अधिकांश अन्तरालीय ह का स्रोत सोष्म व्यञ्जनों की ऊष्मता की शेषता है—कुम्हार—कुम्भकार; ह्वे, होइ—होति भोति—भवति (हां);

सुहाःग्-सौभाग्य (स्त्री को सधवता का सुख)।

अध्याय ३

भाषातत्त्वानुरूप

वर्ण-वैचित्र्य और वर्ण-चित्र का वर्णन

अक्षर और वर्ण की परिभाषा और व्याख्या, ध्वनितत्वशास्त्र विवेचन के अवसर पर विस्तारपूर्वक दी जा चुकी है। अक्षर तो अक्षर और अपरिवर्तनीय तथा अनिर्वचनीय-सा है। यह प्रत्येक प्रकार (के वर्ण) की अनुभूत होने वाली ध्वनियों का पृथक्-पृथक् मौलिक स्वरूप है, वैसा ही है जैसे रेखागणित में विन्दु की परिभाषा में उसे लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, ऊँचाई, निचाई आदि से हीन एक अति सूक्ष्मतम सत्य या सत्ता मानते हैं। प्रातिशाख्यकारों ने 'अष्टौवर्णा' कहा है, इनको अक्षरों का भेद बतलाया है (उभे स्वक्षराणि)। अक्षरों की एक श्रुति, गुरु, लघु, ह्रस्व, दीर्घ, लुत आदि (द्रुत मध्य विलम्बित उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और 'प्रयोक्तुरीहा गुण सन्निपाते वर्णीभवन् गुण विशेष योगात्। एक श्रुतिः कर्मणाप्नोति बह्वीः') भेद से जिन नाना रूपों को धारण करती है वे नाना रूप ही वर्ण या विभिन्न मुखों के उच्चारण रंग (वर्ण) में रंगी ध्वनियाँ (गुरु-लघु ह्रस्व-दीर्घादि वर्ण) हैं। अक्षर उनके एक-एक के मौलिक बीज हैं। यद्यपि प्रातिशाख्यकारों ने अक्षर शब्द का प्रयोग प्रायः स्वरों के लिए किया है, व्यञ्जनों को अक्षरों का अंग माना है "अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम्", पर यहाँ पर अक्षर शब्द स्वरों और व्यञ्जनों दोनों के मौलिक ध्वनियों के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है, क्योंकि जिस प्रकार स्वरों में गुरु,लघु, ह्रस्व-दीर्घोदात्तादि होते हैं वैसे ही व्यञ्जनों में भी होते हैं, यह तो ध्वनितत्वशास्त्र व्याख्यानावसर में विविक्त किया जा चुका है। अतः जिस प्रकार स्वरों के वर्ण होते हैं वैसे ही व्यञ्जनों के भी विभिन्न वर्ण होते हैं। देश, काल, पात्र, भेद से इनकी अनन्तता की स्पष्टता भला किससे छिपी है। अतः अक्षर वह तत्व है जो संकेतहीन अतितम सूक्ष्मतम मौलिक ध्वनि है चाहे वह स्वर हो या व्यञ्जन। प्रातिशाख्यकारों ने जहां पर व्यञ्जनों को अक्षर (स्वरों) का अंग माना है वहां पर अक्षर के माने पद है, नामादि का अंग है, एक नाम आख्यात उपसर्ग या निपात के उच्चारण में उसके जितने भाग हो सकते हैं, या एक साँस में ऐसे नामादिकों के जितने भाग का उच्चारण किया जा सकता है वह स्थूल पद या स्थूल अक्षर

(सिलाबिल्) है, ध्वनितत्व के अक्षर का विकास रूप है। एक नामादि में ऐसे अनेक पद होते हैं। ऐसे पदों का अवलम्ब भी अक्षर (गुरु-लघु-ह्रस्व-दीर्घादि वर्ण) ही होता है, व्यञ्जन उन्हीं अवलम्बीय अक्षरीय वर्ण या स्वरों के आगे-पीछे, ऊपर या नीचे लटके रहते हैं। अतः व्यञ्जनों को अक्षर वर्णों का अङ्ग माना है। यहाँ तात्विक वार्ता नहीं है, वरन् व्यावहारिकता का विवेचन किया गया है। यह विवेचन भी सूक्ष्म ही है, इसमें धातु और प्रत्यय भी अलग-अलग विभक्त-से हो पृथक्-पृथक् तत्व-से लगने लगते हैं, केवल एकाक्षरीय नामाख्यातादिकों को छोड़कर जो बहुत कम हैं।

वर्ण समाम्नाय एक ऐसी निश्चित संस्था है जो प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, बिरादरी, मोहल्ला, ग्राम, नगर, पट्टी, परगना, मण्डल, खण्ड, प्रान्त, संघ और द्वीप-महाद्वीप में अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है, जब तक जो कोई उक्त विभिन्नता मूलक और सूचक वर्णध्वनियों की अनुभूति नहीं रखता वह अपने स्वयं के अनुभूत साधारण वाक्य को भी दूसरे के मुख से सुनकर उसे उसी प्रकार न समझ पायेगा जैसे कि कोई किसी दूसरी अज्ञात भाषा में बोले वाक्य को नहीं समझ सकता। एक व्यक्ति की ध्वनियाँ दूसरे व्यक्ति की ध्वनियों से यदि मेल खातीं तो हमारी भाषाओं में अन्तर आने का प्रश्न ही नहीं उठता, सब ग्रामोफोन के रिकार्ड से बजते। अतः व्यक्ति और समाज वैचित्र्य के एक माध्यम को उस व्यक्ति या समाज का वर्ण समाम्नाय कहते हैं। वर्ण समाम्नाय उतने हैं जितने व्यक्ति, फिर समाज के (परिवार, बिरादर आदि १४) प्रत्येक के इतने हुए (प्रान्तीय भाषा के ७ करोड़ व्यक्ति १४ का घन)। इन सबकी मौलिक ध्वनियाँ अक्षर हैं, व्यक्ति समाज की ध्वनियाँ वर्ण समाम्नाय। प्रत्येक वर्ण भी आदि, मध्य, अन्त में (पद में, नामादि में और शब्द या वाक्य में) विभिन्नता रखता है। वाक्य स्वयं नाना परिस्थितियों का दास है, उसमें रसादि शैली आदि उदात्तादि द्रुतमध्यादि भेद से नाना रूपता आती है। वाक्य की नानारूपता के निर्माण का भार अन्ततोगत्वा वर्ण-ध्वनियों के कन्धे पर ही लदता है। यहाँ पर इसी वर्ण वैचित्र्य का आनुभूत्यात्मक और कलात्मक चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया जा रहा है। आनुभूत्यात्मक को वर्णवैचित्र्य तथा कलात्मक को वर्णचित्र कहा जाता है। प्रथम वर्णनात्मक या व्याख्यानात्मक है, द्वितीय चित्रात्मक; द्वितीय, प्रथम का साक्षात्पुष्टिकारक प्रमाण-सा है। इन्हें आस्यचित्र भी कहते हैं।

प्रस्तुत प्रतिभादर्शन, महाविद्या (या शब्दशास्त्र या भाषातत्वशास्त्र) है। यह इसका पौराणिक नाम (महाविद्या) है। इसकी जननी महामाया या स्फोट है जिसका प्रादुर्भाव महामेधा या प्रतिभा से होता है, यह प्रतिभा

अतितम-सूक्ष्मतम रूप में 'महास्मृति' कहलाती है। इन चारों के बीच में मोह, मोहतर, मोहतम और महामोहतम का आवरण रहता है। इन आवरणों को मोह-कलिल नाम से पुकारा जाता है। शब्द इसमें विस्फोट करके पहिले स्फोट या महामाया का अनावरण करता है, महामाया की ज्योति मोहतर को चीरकर महामेधा (प्रतिभा) को प्रकाशित करती है, प्रकाशमान प्रतिभा मोह को नष्ट करके महास्मृति का साक्षात्कार क्या करती है कि वही (महाविद्या क्रमशः महामाया महामेधा में परिणत होती हुई) स्वयं महास्मृति में परिणत हो जाती है तब वही ज्ञान कहलाता है। देखिए—गीता 'यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥' (गीता २-५२) और गीता के अन्त में 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥' १८-७३ गीता ॥ (तथा 'धूमेना व्रियते वह्निः'.......ज्ञानमावृत्य देहिनं।' गीता ३-३०, ३९, ४०)। अन्त के गीता के श्लोकों में आवरण का नाम रजोगुण का काम और क्रोध रूप बतलाया गया है, ये काम क्रोध ही अतः मोह-कलिल हैं। इन श्लोकों की पूरी व्याख्या पहिले ही सोदाहरण और सचित्र दी जा चुकी है। यहाँ पर शब्दविद्या को महाविद्या रूप में वर्णित करने की आवश्यकता इसलिये पड़ गई है कि इसके विना, अक्षर (या फोनीम) का विवेचन वैज्ञानिकता या वैज्ञानिक-दार्शनिकता से या सविज्ञानज्ञान से नहीं हो सकता। महास्मृति, प्रकृति का नाम है, प्रकृति तो केवल शब्द का अतितम सूक्ष्मतम स्वरूपमात्र है। वह भी नामरूपाकार हीन अलिंगरूप है—जिसे सत् या असत् दोनों-सा भी कह सकते हैं कि इतना सूक्ष्म है। अक्षर (या फोनीम) का यही बीजमन्त्र है। यह प्रतिभा (महत्) या महामेधा में सप्तस्वरों में परिवर्तित हो सकने की शक्ति-सम्पन्न अणु (लिंग) रूप को धारण कर लेती है। महामाया के समय या द्वितीय बुद्धि या विद्या या सत्त्व तत्त्व की अवस्था में उसी अणु में जिसमें सप्त-स्वराह्वान की शक्ति थी, अब स्वर ऊष्माण, अन्तःस्थ और पञ्चवर्गीय ध्वनियों के प्राकृत बीज धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, महाविद्या में स्फुट-ध्वनियाँ प्रस्तुत हो जाती हैं जो उत्तरोत्तर को जागृति देने की शक्ति रखती है। इस प्रकार अक्षर (या फोनीम) का माध्यमिक स्वरूप महामाया या स्फोट मात्र का विषय ठहरता है जिसका स्फुट ध्वनि में उच्चारण तक नहीं किया जा सकता। अब प्रश्न यह उठता है कि अक्षर (या फोनीम) व्यक्ति का होता है या समष्टि का। पाश्चात्यों की स्थूल विवेचना में यह स्थूल धारणा दिखलाई पड़ती है कि अक्षर (या फोनीम) समष्टि का है, तथा अक्षर एक मानी हुई काल्पनिक इकाई है, जिसके सामुदायिक व्यवहार्य रूप का व्याख्यान, भिन्न-

भिन्न भाषाओं की व्यावहारिकता के अनुरूप किया और दिखलाया जाता है। यदि ऐसा माना जाय तो जैसा आर्य लोग आदि में बोलते रहे हम भी वैसा ही बोलते, ५०० वर्ष तक तो यह समष्टिता सभी भाषाओं में निर्भर पाई ही जाती है, उनका रूपान्तर क्यों हुआ? इसका समधान, अक्षर की उक्त भाषा या परिभाषा कदापि न दे सकेगी। बात यह है। अक्षर (या फोनीम) समष्टि का नहीं वरन् व्यष्टि या व्यक्ति का होता है। महामाया या स्फोट में सबका व्यक्तित्व या पृथकत्व है, इसीलिए व्यक्ति-व्यक्ति की स्फुटध्वनिता में उसका व्यक्तिपार्थक्य स्पष्ट झलकता है, इसे कोई मना नहीं कर सकता। पर यहाँ पर महामायावी या स्फोटस्थ व्यक्तिपार्थक्य (ध्वनियों का) ऐसा प्राकृत या सूक्ष्म है जिसकी सत्ता का हम उसके परिणाम से या सत्कार्यवाद सिद्धान्त से निश्चित निर्धारण कर लेते हैं। निर्धारण की वैज्ञानिकता में सन्दिग्धता का लेशमात्र न रह जाने पर भी, सामष्टिक विवेचन में उनके व्यष्टि पार्थक्य सूचन का कोई माध्यम हमारे हाथ नहीं लगता। अनेक शतियों में जब वह व्यक्ति पार्थक्य नित्यप्रति क्रान्ति के चिह्न दिखलाते हुए, अपने लक्ष्य में अदृष्ट रूप से सफल होकर भाषा में रूपान्तर प्रस्तुत कर देता है, तो उस पर समष्टि धीरे-धीरे लाचार-सी होकर एक-एक करके अपनी इच्छा या अनिच्छा से चुपचाप स्वीकृति की मुहर लगाती जाती है, वह वैयक्तिक अक्षर तब सचमुच में अपने व्यक्तित्व या अक्षर को अक्षर सिद्ध कर देता है। प्रत्येक जीवित भाषा में उसके प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व की मोहर लगी रहती है, मौखिक में मौखिक, लिखित में लिखित, यह सब अक्षर की वैयक्तिकता है। अक्षर का विवेचन भी किसी एक ही व्यक्ति की ध्वनि से आँका जाता है जो समष्टि की प्रवृत्ति मात्र का संकेत कर सकता है, अक्षर तो व्यष्टि ही का होगा।

समाज का कर्तव्य व्यक्तित्व को स्वीकृति प्रदान कर उस व्यक्तित्व या व्यष्टि को सामष्टिक में या विस्तृत सामाजिक स्तर देना मात्र है। समाज भाषा का जनक नहीं, व्यक्ति ही भाषा की जननी है। अतः अक्षर व्यक्ति की ही एकमात्र सम्पत्ति है। पिछले परिशिष्टीय खण्ड में शब्दों के स्वरूपों में क्या-क्या सम्भाव्य और असम्भाव्य परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होते? बतलाइए इन ऐसे अचिन्त्य, अभूतपूर्व, अनोखे परिवर्तन करने के लिए कौन सभा समाज या गोष्ठी बैठी थी या बिठाई गई थी? भाषा व्यक्तित्व के पार्थक्याधिकार स्वीकृति की सजीव मूर्ति है, अतः महामाया सम महामायावी है। आज जो स्वरूप है उसका कल क्या होगा? इसकी कोई कल्पना हो ही नहीं सकती, न जाने कौन सा व्यक्तित्व अपने पार्थक्याधिकार की कैसी चुनौती न दे दे। भाषा की आयु २०० वर्ष से ५०० वर्ष तक मिलती है,

उसका कल (दिन) आज भी है, बीत भी गया है, आने वाला भी है। भाषा प्रतिदिन क्रान्तिमय है, वह महामाया रूप में, प्राकृत रूप में, फुटकर में, ठोस रूप में, स्वीकृत-अस्वीकृत, अस्वीकृत-स्वीकृत, होते-होते, एक दिन पूरी-पूरी स्वीकृति पा जाती है, नया मोहनी अवतार ले लेती है।

भारोपीय आर्यों का आदि पुरुष जो कोई भी हो एक ही रहा होगा। उसकी सन्तानों की भाषायें मुख्यतः दो भागों (१) भारत-पारसीक (२) यूरोपीय में विभाजित की गई थी, पर तुलनात्मक भाषा विज्ञानियों की अब बहुत बड़ी-बड़ी भूलें प्रकाशित हो चुकी हैं। आज आर्य भाषाओं का विभाजन निम्नलिखित क्रम से किया जाना ठीक समझा जाने लगा है। (१) भारतीय, (२) पारसीक, (३) बाल्टिक, (४) स्लाविक, (५) आर्मिनियन, (६) अल्बानी, (७) इटालियन, (८) (ग्रीक) यूनानी, (९) सेल्टिक और (१०) जर्मानिक। इनका विकास इस प्रकार दिखलाया जा सकता है।
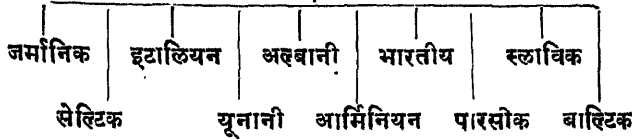
यह विभाजन भाषायी क्षेत्रों का निर्धारक-सा समझा जाना चाहिए, न कि यह मान लेना चाहिए कि मूल भाषा से ये भाषायें एकाएक चटक-चटक कर बिखर गईं। कहा जा चुका है कि किसी भी भाषा को अपनी सत्ता स्थापित करने में लगभग २०० से ५०० वर्ष तक लगते हैं, यह बात भाषा-विज्ञानियों के मस्तिष्क में अबतक नहीं बैठ पाई है। यूरोप में दो-एक ऐसी घटनायें अवश्य घटी हैं जिन्होंने एक भाषा को दो भौगोलिक भागों में पृथक् कर दिया; जैसे रोमन साम्राज्य का पूर्वीभाग काला सागर तक था। स्लाविकों ने उनके साम्राज्य के दो टुकड़े कर दिये इटली और रूमानियाँ; इनके मध्य में स्लाविकों का निवास बना; भाषा भी उनकी चली। पुनः स्लाविकों के मुख्यमार्गीय क्षेत्र पर हंगेरी जाति ने हमला कर अपना कब्जा कर लिया, फलतः स्लाविक के भी दो पृथक् टुकड़े हो गये उत्तरी और दक्षिणी; बीच में हंगारी और लैटिन पड़ गई। पर ऐसी घटनाओं से भी भाषा पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। भाषा जनता की होती है, जिसका समुदाय या प्रयोग अधिक हो वही जीती और जीतती है, इसलिए उत्तरी-दक्षिणी दो स्लाविकों की दो पाटों के बीच में भी हंगारी और रूमानियन लैटिन पनपती चली आ

रही हैं। जहाँ हंगेरियन रहे वहाँ हंगारी, जहाँ स्लाव रहे वहाँ स्लाव्रिक, जहाँ लैटिनी रोमानियनों का बाहुल्य रहा वहाँ लैटिन रोमानियन चली। संसार के किसी अन्य देशों में भाषा का इस प्रकार का भौगोलिक या सामूहिक विभाजन दृष्टिगोचर नहीं होता। यह यूरोप की अपनी ही विचित्र घटना है। भारत में सैकड़ों विदेशी भाषा भाषी आये, पर उनमें से कोई भी अपनी भाषा को जीवित न रख सका। फारसी लिपि में लिखी उर्दू भी कोई पृथक् भाषा नहीं है, वह हिन्दी की देवनागरी के बदले फारसी लिपि में लिखित-रूप नाममात्र की मुसलमानी वेष पहिने है, उसका शरीर, क्रियायें, अधिक संज्ञायें और विभक्तियाँ सब हिन्दी ही की हैं, बोलचाल की उर्दू और हिन्दी में कोई विशेष अन्तर नहीं है, लिखित में एक में संस्कृत तत्सम, दूसरे में फारसी-अरबी, अंग्रेजी तत्सम अधिक हैं, उन्हें भूगोल कहने में अब लाज लग रही है जुगराफिया कहेंगे, 'दर्शन' कहने की चिढ़ है, फलसफा कहेंगे। यह नकली बाना स्वयं पर्दाफाश कर रहा है। क्योंकि जिन शब्दों का उनके पूर्वजों ने कभी प्रयोग भी नहीं किया था उन्हें (अरबी-फारसी, अंग्रेजी से) पढ़े लिखे लोग धर्मान्धता के कुँए से जैसे निकाल रहे हैं। ऊर्दू के हिमातियों को यदि भाषातत्वशास्त्र का अल्पमात्र भी ज्ञान हो जाय तो वे अपनी उक्त धर्मान्धता के गड्ढे से एकदम बाहर निकल आवेंगे, हिन्दी-उर्दू का वैमनस्य मिट जावेगा और साथ में हिन्दी के ये दोनों रूप भी चलते चलेंगे वैसे ही जैसे संस्कृत के प्राचाम्, उदीचाँ भेद, अभेद से चलते चले आये थे। अन्त में जो दशा उन दोनों की हुई, वही इन दोनों की होनीही है, कोई नई भाषा प्राकृतों, अपभ्रंशों की तरह अपने आप बिना किसी के किसी प्रयास के उपस्थित हो जावेगी। उसके स्वरूप के बीज आजतक की वैयक्तिकता की वह अदृष्ट क्रान्ति निरन्तर बोती जा रही है जिसके व्याख्यान का अवसर यहाँ पर नहीं है।

भाषाविज्ञानियों का एक अन्धविश्वास चला आ रहा है कि भाषा का निर्माता समाज होता है। यद्यपि भाषा एक समाज की अभिव्यक्ति की शैली है। पर इस शैली का या भण्डार का निर्माता व्यक्ति या व्यष्टि या व्यक्तित्व या वैयक्तिता होती है। समाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति व्यक्ति की वैयक्तिक क्रान्ति को स्वीकृत या अस्वीस्कृत करने की होती है। स्वीकृत क्रान्ति जनभाषा कहलाती है। आर्यों के मूलपुरुष की सन्तानें जब अपने मूलस्थान से दशों दिशाओं में बिखरीं तब से उनके वे वैयक्तिक क्रान्तियों के चिह्न अब तक सुरक्षित मिलते हैं जिन्हें उनके अपने-अपने समुदायों ने स्वीकृति प्रदान कर अपनी अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना लिया था। संस्कृत के तृतीया

बहुवचन के भिस् या भिः के स्थान में गोथिक में म् (वुल्फाम् भेड़ियों से, को) लिटुवानियन में 'मिस्' (नक्तिमिस् रातों से); पुरानी बल्गेरियन में 'इमि'– (नौस्तिमि-रातों से) आइरिश में व फेराव मनुष्य से। इसी प्रकार संस्कृत के चतुर्थी बहुवचन के प्रत्यय भ्यस् के स्थान में लिटुवानियन में म्स' (विल्काम्स-भेड़ियों के लिए) पुरानी बल्गेरियन में मु (व्ल्कोमु–भेड़ियों के लिए); लैटिन में 'बुस्'–पेदिबुस् (पद्भ्यः); पुरानी केल्टिक में 'बो'; मात्रेबो (मातृभ्यः) आदि। यहाँ पर भाषाविज्ञानियों ने संस्कृत (वैदिक) युग का असंगत निर्णय देकर यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि यहाँ पर भारोपीय प्रत्यय संस्कृत के 'भिस् भ्यस्' न होकर 'मिस्' 'भिस्' 'भ्योस्' 'भोस्' थे। इस पर बाद में वादविवाद किया जावेगा। यहाँ पर सूचित इतना ही करना है कि उक्त विभिन्न भाषाओं में एक मौलिक प्रत्यय भिस् या भ्यस् के ऐसे विभिन्न स्वरूपों को देने का श्रीगणेश किसी एक ही व्यक्ति ने आदि में किया होगा जिसको उसके समाज ने ज्यों-त्यों स्वीकृति दे दी। भाषाविज्ञानी यह मानते हैं कि भारोपीय भाषा एक मजी-मजाई स्थिर-रूपिणी भाषा थी। भाषा के लिए ऐसा कहना महा अवैज्ञानिकता है। किसी भी भाषा के बोलने वालों के विभिन्न वर्ग ग्रामादि समुदायों में विभाषात्व के प्रकट चिह्न उत्पन्न हुए रहते हैं जो धीरे-धीरे पक्की विभाषा बन जाती है; इसलिए उक्त स्वरूपों में विभाषीय विभिन्नताएँ ही विभिन्न स्वरूपों की जननी हैं, भारोपीय भाषा कोई एक स्थिर रूपिणी न थी, पर अनेक परिवारीय विभाषावती थी। वैदिक स्वरूप इन सबका प्राचीन सा प्रतीत होता है यह उक्त विकारों से स्वयं स्पष्ट है, पाश्चात्यों का अपनी प्रभुता का मद उन्हें इस वैज्ञानिकता से गिरा देता है, और यही, संस्कृत युग को परवर्ती मानने की हठ का कारण भी है। वे भारत की ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, पूर्वता, विद्वत्ता आदि मानने में अपना तिरस्कार-सा समझते हैं।

तुलनात्मक भाषा विज्ञान का भाषायी विभाजन का एक दूसरा सिद्धान्त जो भारोपीय भाषा को पूर्वी-पश्चिमी दो भागों (सतेम् और केन्तुम्) में विभक्त करता है, उपलब्ध प्रमाणों से छिन्न भिन्न हो जाता है। भाषाओं का इस प्रकार का चटक कर पृथक् होना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। यद्यपि संस्कृत में 'शतम्' और पारसीक में 'सतेम्' है पर उनके केन्तुम् वर्ग में—लिटुवानियन में शिम्तस् फ्रेंच में शौं है ही, ग्रीक में 'हेकाटोन' है, अंग्रेजी में हन्ड्रेड, जर्मन में हुन्देर्ड, पर बुखारा पूर्वी में केन्तुम् की समता मिलती है जिनके स्थान में केवल लेटिन में 'केन्तुम्' और प्राचीन आइरिश में 'केःद' मिलता है। अतः 'केतुं सतेम्' विभाजन अनर्गल और थोथा है। यहाँ इतना

ही कहना चाहिए कि प्रथम के तालव्य को दूसरे ने कण्ठ्य में परिवर्तित कर लिया है। कण्ठ्यों को दूसरे स्थल में ओष्ठ्यों में भी परिवर्तित कर लिया गया है जैसे—सं· 'कः'—लिथु· 'कस्', प्रा० वल्गा० 'कुटो' (कुतः से) लेटिन 'क्वोः' फ्रेंच 'क्व, क्वा' पुरानी गौथिक 'ह्वस्' पर यूनानी में 'पोथेन' मिलता है। ये उदाहरण भी पूर्व विभाजन के पूरे विरोधी हैं। शब्द स्वरूपों की साम्यता प्राप्ति में जातीय या वर्गीय वैयक्तिकता का अदृष्ट संसर्गीय प्रभाव भी उत्तरदायी है। यह संसर्ग किसी क्रम से ही नहीं वरन् व्यतिक्रम से भी हो सकता है। यदि कोई जाति, विद्या, वल व्यापार राज्य में अड़ोस-पड़ोस के या दूर के देशों से बढ़ी चढ़ी हो जाती है तो, उन देशों में उस जाति की भाषा अपनी लहरें सी लेने लग जाती हैं, उसके कई शब्द उस भाषा की स्थायी सम्पत्ति बन जाती है, और इसके विपरीत समृद्ध जाति भी आदान-प्रदान की सुगमता के लोभ में अड़ोस-पड़ोस या दूर की भाषाओं के शब्दों को ऐसे गृहीत कर बैठती है कि उसे इसका पता तक नहीं लगता कि उस पर भी संसर्ग का प्रभाव कम नहीं पड़ा। इस प्रकार से स्वीकृत शब्दावली को भारोपीय श्रोत का मानना भी उसी प्रकार अनर्गल होगा जैसे—जर्मन–हेम्प, प्रा० अंग्रेजी–हैनेप, डच–हानेप, ग्रीक 'कान्नाविस्' यह शब्द ग्रीस में सीथिया और थेस से विदेशी शब्द के रूप में गया था जैसे कि हेरोडोटस ने लिखा है। यह शब्द जर्मनादि भाषाओं के क का ह और व का प होने के पूर्व आया होगा। अतः इसका श्रोत भारतीय भाषा में मानना अनर्गल सिद्ध होगा। इसके विरुद्ध संस्कृत पीव (मोटा) ग्रीक पीओन् यद्यपि केवल इन्हीं दो भाषाओं में मिलता है, पर 'पीवरी' (मोटी) संस्कृत में, 'पिएर्या' ग्रीक में जो पीव के स्त्रीलिंग हैं वैसे रूप अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। अतः इसका भारोपीय होना अनिवार्य भी है। भारोपीय आर्यों के जीवनोपयोगी शब्द सामग्री ही इस खोज का आधार बननी चाहिए।

भाषा की स्थानीय विभाषीय उपभाषीय आदि वैयक्तिकताऐं—कुमाउनी की १४ विभाषाओं का विवेचन किया जा चुका है, प्रत्येक विभाषा में भी कई उपभाषायें हैं। सम्पूर्ण विभाषाओं की एक मण्डलीय भाषा है यह नागरी भाषा है (अल्मोड़ा की)। पर स्वतः अल्मोड़ा नगर में कुमाउनी की सभी विभाषा भाषी अपनी-अपनी विभाषा या उपभाषा बोलते हैं। फलतः भाषायें पांच प्रकार की कही जा सकती हैं (१) नागरी या माध्यमिक, (२) विभाषा, (३) उपभाषा, (४) जातीय भाषा, जैसे र और ल के प्रयोग तथा स्वरमण्डूकप्लुतिकभेदीय भाषा, (५) ग्राम-ग्राम की, पेशे-पेशे की ग्रामीण या वार्तिक वैयक्तिकतामयी भाषा। गंगोई कुमाउनी की विशिष्टताओं

का विवेचन देते समय उसके स्वीकृत स्वरूपों की तुलना अन्य विभाषाओं और उपभाषाओं से करने में प्रत्येक शब्द के विभिन्न स्थानीय रूपों का उल्लेख किया गया है जो उस शब्द की प्रतिस्थानीय व्यक्तिता की मूर्ति उपस्थित कर देता है। यह स्थिति शब्दों का सीधा क्षेत्र निर्धारित करती है जैसे न ण ँ ङ़ँ के प्रयोग कुमाऊ को तीन मुख्य भागों में विभक्त करते हैं ऐसे ही 'भू' के रूप, भय्, भ्यो, हय्, भौ, भो भाय्, हाय् आदि में प्रत्येक का क्षेत्र निश्चित और सीमित है, यह शब्द की स्थानीय वैयक्तिकता कहलाती है। कुछ दिन पूर्व लोगों की यह धारणा थी कि माध्यमिक भाषा प्राचीन रूप को शुद्धतया देती है। पर अब इस धारणा का खण्डन हो रहा है, बोलचाल की भाषा में भी प्राचीन भाषा के रूप अधिक सत्यता से सुरक्षित मिलते हैं; यह हम 'कुल्हाड़ी' और ड़ ळ ढ़ ह्ल के रूपों में देख भी आये हैं। पर बोल-चाल की भाषा का लिखित रूप न मिलने से, उसे सभी शब्दों में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। उसमें व्यक्ति-व्यक्ति की, घर-घर की, मोहल्ले-मोहल्ले की, ग्राम-ग्राम की, नगर-नगर की, आदि की, नानारूपता होती है, जिसमें सब मिलें उसी की प्रामाणिकता मानी जानी चाहिए। माध्यम की भाषा बोलचाल के शब्दों को अपने व्याकरण और शैली में ढाल कर उसका अस्वाभाविक रूप बना कर भी स्वीकार करती है जैसे आत्मा को स्त्रीलिंग में। अतः सतर्कता यहाँ भी चाहिए।

भारोपीय भाषा का काल्पनिक स्वरूप—भाषाविज्ञानियों ने अनेक तर्क-वितर्क और नियमों का सहारा लेकर भारोपीय भाषाओं की आदि जननी के शब्दों की एक नकली, काल्पनिक स्वरूपों की प्रतिष्ठा करने में बहुत बड़ा प्रयास किया है। नकली रूप या कल्पना, कल्पना ही ठहरी, भाषातत्त्वशास्त्र के नियमों को इन सिद्धान्तों के निर्णय में घटित नहीं किया गया है; यह बात भी नग्न सत्य ही है, वे इसे अब तक नहीं जानते। फिर भी जो कुछ उन्होंने किया है उसकी उसी रूप में परीक्षा कर लेना अनुचित न होगा। प्राचीन शब्दों की प्रामाणिकता के आधार के लिए लिखित साहित्य की एकमात्र शरण लेनी पड़ती है। पाश्चात्यों में से ग्रीक या यूनान का साहित्य विक्रम सं० से ७५० वर्ष पूर्व तक होमर की कवितारूप में मिल सकता है, जर्मानिक भाषाओं में, गौथिक का ४५० संवत् से, नार्वी का ६५० संवत् से आगे, सेक्सन और अंग्रेजी का ९५० संवत् से, फ्रिशियन का १३५० संवत् से, उच्चजर्मन का ९५० संवत् से आगे का लिखित साहित्य मिलता है, उसके पहिले उक्त सब जातियों का इतिहास, कम से कम भाषा का इतिहास नितान्त अन्धकारमय और शून्य है। उधर जब हम भारतीय प्राचीन लिखित या सुरक्षित साहित्य की ओर

दृष्टिपात करते हैं तो पाश्चात्यों की सम्मति से ऋग्वेदादिकों की अधिकतम प्राचीनता विक्रम संवत् से १२०० वर्ष पूर्व तक स्वीकृत मिलती जाती है। परन्तु जब हम ग्रंथों और प्राचीन लेखकों के इतिहास की रूपरेखा खींचने का प्रयास करते हैं तो ऋग्वेदादिकों का उक्त स्वीकृत काल अपूर्ण, अनर्गल और कुछ प्रभुतामदीय गर्व संरक्षणमूलक-सा प्रतीत होने लग जाता है। अतः कई समझदार जर्मन लेखकों ने वेदमंत्र युग को वि० सं० पूर्व २००० से ३००० वर्ष तक, ब्राह्मण ग्रन्थ युग विक्रम सं० १२०० से २००० वर्ष पूर्व तक, और उपनिषद् गृह्यसूत्रादि युग वि० सं० से पूर्व ७५० से १२०० वर्ष तक माना है (विन्टर्नीज)। इसका समर्थन तिलक आदि भारतीय विद्वानों ने भी किया है, यद्यपि ये वेद युग को इससे और आगे खींचने का यत्न लगाये बैठे हैं। प्राचार्य आलतेकर ने महाभारत युद्ध का समय विक्रम सं० पूर्व १४८५ वर्ष माना है, यद्यपि भारतीय पंचागों में कलियुग के आरम्भ से अब तक ५०५९ वर्ष बीत गये हैं। पुराणों के अनुसार भ० कृष्ण के लगभग ५० वर्ष पश्चात् परीक्षित राज्योत्तर काल से कलियुग माना गया है। कृष्ण का नाम छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है; पर न यास्क के निरुक्त में, न बृहद्देवत: में, वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में तो कहाँ से होगा। वाल्मीकि को कृष्ण का पता नहीं है, गीता को राम का नहीं, पर परशुराम को जानती है ('रामः शस्त्रभृता-महम्' १० गीता)। अतः यास्क, गीता और वाल्मीकि इन तीनों का युग लगभग आस-पास ही वि० सं० ७०० से ६०० वर्ष पूर्व के बीच का मानना संगत होगा। यास्क ने प्राचीन ६४ वैयाकरणों के नाम दिये हैं पर पाणिनि का नहीं दिया है। अतः पाणिनि यास्कोत्तर काल के लगभग वि० सं० ५०० वर्ष पूर्व के होंगे। ऐसी परिस्थिति में, तथा यह जानकर कि यास्क के समय से बहुत-बहुत सैकड़ों वर्ष पूर्व, ब्राह्मण ग्रन्थ निर्माण युग में ही, वेदमंत्रों के यथार्थ अर्थ को भुलाया जा चुका था, जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों ने 'ऋचो अक्षरे' और 'तिस्रो वाचो ईरयन्ति' की व्याख्या में कई प्रकार की कल्पनाओं का ढेर लगा रखा है (देखिये प्रतिभादर्शन की एक झलक, प्रथम परिच्छेद में)। यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती है कि वेदमंत्र युग कम से कम वि० सं० पूर्व २००० वर्ष से ३५०० या ४००० वर्ष पूर्व तक अवश्य रहा होगा।[1] जब यह बात है तो होमर की कविता की भाषा और वेदमंत्र भाषा में कम से कम १२०० वर्षों का या १०० युगों का अन्तर स्पष्टतया हो गया। अब विद्वानों से प्रार्थना है वे बतावें कि भारोपीय

१. वैदिक मंत्र रचनाकाल पर पहले 'आर्यों का आदि निवास' शीर्षक पर पूर्ण विचार किया गया है उसे देखें।

भाषा के शब्दों के पुनर्निर्माण में शब्दों के स्वरों और व्यञ्जनों के शुद्ध रूप में सुरक्षित मिलने में उक्त काल की दृष्टि से वैदिक भाषा की प्रामाणिकता मिलनी चाहिए या ग्रीक या गौथिक आदि को जो उतने पिछड़े युगों के हैं? स्पष्ट है वैदिक भाषा को ही प्रामाणिकता मिल सकती है चाहे वे पाश्चात्य लोग वेद युग को अपने निर्धारित वि० सं० पूर्व १२०० वर्ष ही मानें तब भी। भाषा तो ३०० या ४०० वर्षों में एकदम नया बाना पहिन ही लेती है। एक बात। दूसरी बात यह है कि—जिस भाषा को भाषाविज्ञानी लोग भारोपीय भाषा के नाम से पुकारना चाहते हैं वह किसकी भाषा मानी जाय? एक ही पारिवारीय जनसमुदाय की या एक परिवार के समुदाय से उद्भूत अनेक पारिवारीय समुदायों की अनेक विभाषाओं की एक माध्यमिक भाषा? प्रथम पक्ष में उस भाषा का युग कितना प्राचीन होगा, वह कितनी संक्षिप्त, अविकसित तथा अनियन्त्रित होगी इसपर तो किसी ने भाषातत्त्व-शास्त्र की दृष्टि से विचार ही नहीं कर दिया। यदि दूसरा पक्ष मानते हैं तो उस समय की ऐसी माध्यमिक भाषा की कल्पना करना भी कितना असंगत प्रस्ताव होगा, इस पर भी किसी ने ध्यान नहीं दिया। फलतः भारोपीय भाषा का सच्चा प्रतिनिधित्व पृथक्-पृथक् महापरिवारों की पृथक्-पृथक् भाषायें या विभाषायें ही कर सकती हैं। उस समय उन परिवारों के पृथक् होने के बाद कोई माध्यमिक भाषा के प्रचलन का तो अवसर ही नहीं आया। तब ये भाषाविज्ञानी आज की भाषाओं की तुलना से जिस भारोपीय एक भाषा की माध्यमिक स्वरूप की कल्पना करते हैं वह इन्हीं भाषाविज्ञानियों की अपनी भाषा या कपोलकल्पित भाषा ही समझी जानी चाहिए, क्योंकि पृथक् परिवारों की भाषा निरन्तर नये शब्दों और धातुओं का निर्माण करती जा रही होगी। इसके साथ-साथ उस समय के प्रचलित शब्द और वाक्य उत्तरकालीन जनसमुदायों में से प्रत्येक में विभिन्न रूप से उच्चरित भी होते जा रहे होंगे। इसका प्रमाण उनसे निःसृत पाश्चात्य पौर्वात्य की भिन्न-भिन्न युगों की भिन्न-भिन्न स्वरूपिणी भाषायें स्वयं हैं। भाषा के प्रारम्भिक स्तर में भाषा शब्द और धातुरूपिणी ही होगी, प्रत्ययादि नहीं रहे होंगे, पर हमें सब भाषायें सप्रत्ययरूप में मिलती हैं। अतः भारोपीय भाषा माने विभिन्न भारोपीय विभाषायेंही हो सकता है। सबकी अपनी-अपनी मातायें प्रायः विकसित थीं।[1] इनसे पूर्ववर्ती मौलिक भाषा के शब्दों, धातुओं और उनके प्रत्ययादिकों के रूप तत्कालीन भारोपीय विभाषाओं में ही भिन्नता पा चुके थे। अतः सर्वप्राचीन भारोपीय भाषा की सब ध्वनियाँ कुछ ऐसी सर्वतोमुखी-सी प्रतीत होती हैं

१. 'को अद्धा वेद'''कुत आजाता इयं विसृष्टिः' ऋवे० १०-१२९-६।

जिनके विकारों की नानारूपता ही आज की नाना आर्य भाषायें हैं। और उस सर्वप्राचीन भारोपीय भाषा के शब्दों और धातुओं का जो कोई स्वरूप वर्तमान शब्दों के द्वारा निर्णीत होगा वह प्रायः काल्पनिक ही समझा जाना चाहिए। इन सबमें सबसे समीपी और सर्वशुद्ध स्वरूप वैदिक संस्कृत ही है।

अब ज्वलंत प्रश्न यह उठता है कि उक्त भारोपीय भाषा के सर्वप्राचीन और मौलिक रूप को हम आर्यों की सबसे प्राचीन सुरक्षित भाषा वैदिक भाषा में पा सकते हैं या इससे हजार दो हजार वर्ष पश्चात् की या चार सौ या पाँच सौ वर्ष पश्चात् की यूनानी या गौथिक आदियों में? जो भाषातत्त्वशास्त्र का ज्ञाता है उसे भारोपीय भाषा का सर्वप्राचीन मौलिक स्वरूप अवश्यमेव वैदिक भाषा में मिलना ही सम्भव प्रतीत होगा। ध्यान रहे कि वैदिक भाषा उस समय की लोक भाषा ही थी, भले ही वह पाणिनि के पश्चात् शिष्ट भाषा या संस्कृत भाषा हो गई हो। इसीलिए पुराने प्रसिद्ध गवेषक—ग्रिम्स, बौप्प, आदि ने यही मत प्रगट किया भी था कि भारोपीय भाषा के स्वर और व्यञ्जनों का प्राचीन स्वरूप भारतीय और पारसीक भाषाओं में अधिक शुद्धता से सुरक्षित मिलता है। पर अमेलुङ्ग, ब्रुगमान और कौलिज प्रभृति ने कुछ ऐसी व्यभिचारपूर्ण तर्कनायें उपस्थित कीं कि जिन्हें आज के भाषाविज्ञानी ब्रह्म-वाक्य-सा मान कर यह समझने लग गये हैं कि ग्रीक भाषा के स्वर भारोपीय भाषा के स्वरों का अधिक शुद्ध प्रतिनिधित्व करते हैं, संस्कृत के स्वर नहीं। यह विचार एकाक्ष दृष्टिमूलक तथा भाषातत्त्वशास्त्र की अनभिज्ञता का स्पष्ट सूचक भी है। इस सिद्धान्त की स्थापना में उनका कहना है कि ग्रीक आदि में जहाँ पर भारत-पारसीक भाषा के अ के बदले ए आता है वहाँ प्रथम में ग्रीक आदि में कण्ठ्य, द्वितीय संस्कृत आदि में तालव्य व्यञ्जन मिलते हैं। अतः भारत-पारसीकों ने ए के योग से कण्ठ्यों का तालव्य बना लिया है। परन्तु भारोपीय अ का पाश्चात्य भाषाओं में अ ए ओ तीन स्वरों में फूट कर बन जाना ध्वनितत्त्वशास्त्र से सिद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरण में—लैटिन–कुओद्, सं० कत (रः); अंग्रेजी प्राचीन कू, काव् सं० गावः विपरीत—ग्रीक ते, लैटिन के, सं० च, गौथिक—क्रेन्स, सं० जानि (स्त्री)। अन्य उदाहरण—सं० चत्वार; ग्रीक तेत्तारेस्; सं० पञ्च, ग्रीक पौंते, लै० क्किं्के, सं० सचते, लै० सेकुओर, ग्री० हेपेताइ; सं० चितिः ग्री० तेसिस्; सं० जन, ग्री-गेनोस। सबसे पहिले लै० कुओद् का समानान्तर सं० 'को अद्धा' का को या कुतः है; पुरानी बलगारिया में 'कुटो' मिलता है। कत या कतर नहीं; अंग्रेजी कू या काव् का स्थानीय सं० गाव नहीं वरन् 'गोः' है जिसका फ्रेंच में बो, वफ, बाश है। इनमें दोनों दलों के स्वरों में समानता है पर विशुद्धता

स्पष्टतः संस्कृत में है। सं० के 'च' के लिए ग्रीक में 'ते' है, पर ऐसा परिणाम हमें 'अड़तालीस' (४८) जैसे कुमाउनी और हिन्दी रूपों में मिलता है। चत्वारिंशत् का चालीस हो गया था, अठचालीस का अड़तालीस, अड़चालीश दोनों रूप मिलते हैं, इनके विपरीत सं० तन्दुल का (कु० चाँवोःर चाँवोःल्) चावल रूप भी। अतः त और च का परस्पर विनिमय सदा सभी भाषाओं में होता चला आ रहा है। उदाहरण में अंग्रेजी के निम्नलिखित शब्द लें— जर्मन-गार्न, प्रा० अंग्रेजी-गैर्न, यार्न आधु० अं० यार्न; ज० जोक् ग्री०गेओक; प्रा०अं-योक; वर्तमान अंग्रेजी गेल्डान गिएल्डान यील्डान आधु० अं० वील्ड; (प्रा० अं० ड्रेंक्रेन-ड्रेंच) स्टाइके-स्टिच्, ब्रिग-ब्रिज, सिंगान-सिंज आदि। हिन्दी के और कुमाउनी के ऐसे उदाहरण 'चवर्ग' में दे दिये हैं। ग्रीक ते, लैटिन के और सं० 'च' के श्रोत भिन्न हैं, अर्थ एक है, ते का समानान्तर तु (सं०) है 'के' का 'किंमु'। 'च' का समानान्तर कोई नहीं है। गौथिक क्वेन्स का 'जानि' से कोई सम्बन्ध नहीं, 'जानि' स्वतन्त्र शब्द नहीं है।[1] समास में ही मिलता है। यदि क्वेन्स का प्रयोग भी समास में ही मिलता तब ये समानान्तर होते। ग्रीक गेनोस् का समानान्तर सं० का जन न होकर 'गणः' है (गणानान्त्वा)। सचते का समानान्तर लै० सेकुओर नहीं हो सकता, सेकुओर के अन्त में र् है। अतः उसका सम्बन्ध स+कृ से है न कि सचते से, 'सकृ' से 'साकं' 'सुकृत्' शब्द निकले हैं उन्हीं से 'सकुओर' की समता है, सुकृत् जैसे शब्दों का समानान्तर ग्रीक हेपेताइ है। चत्वार का समानान्तर ग्रीक तेत्तारेस् हमारे 'तेत्तालीश' (४३) की सी वहाँ की भ्रमानुकृति से बना है; च का वे त ही बोलते रहे यह पञ्च के पेन्ते से भी स्पष्ट है। लै० 'किंके' न ग्रीक पेन्ते से पटरी खाता है न सं० पञ्च से, हाँ ग्रीक और सं० के रूपों में कुछ सीमा तक या त का च परिवर्तन मानने से समानता है। पर लै० के क्विंक्वे के अन्तिम भाग को तवर्ग, चवर्ग का कवर्गीय रूप माना भी जाय तो आदि के क्वि का 'प' कैसे माना जाय। अतः यह लैटिन का अपना स्थानीय परिवर्तन है प्राचीन की रक्षा नहीं है, इसका युग तो ग्रीक युग से ५०० वर्ष पीछे का है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि को सामने करके यह स्पष्ट फलित हुआ कि ग्रीक और लैटिन के त क रूप परिवर्तन अपने-अपने देश के देशी रूप हैं; उनका मूल च है, न कि त और क का सं० में च बना। गुणे महाशय ने च का परिवर्तन क में दिखाने में लिखा है रोचते रोकः; लोचनं लोकः॥ धन्य हो। बात यह है रोचते रुचिः रुजते रोकः रुग्णः रोगः, और लोचते लोचनं (आलोचते आलोचनं) लोकते लोकः

१. न जाने जानकीजाने। 'जानि' में जाया का जानि बनना बताया है।

(आलोकते आलोकः)। च और क के मूल में धातु ही भिन्न है। उनका कहना है कि इ के योग में च और अन्य के योग में क बनता है; पर ऐसा नियम नहीं है वाचा वाचि वाचः वाग्भि; आदि रूप इस नियम पर वज्रपात कर रहे हैं। अन्तराल या अन्त में च का कहीं-कहीं क् या ग् तो बनना चाहिए, बनता भी है पर क का च तो कहीं बनते नहीं दीखता है। क्या कह रहे हैं ये लोग ? हां पदादि में कवर्ग का चवर्ग होता है, चकार, जगाम, जघान, जहार जिनके समानान्तर रूप ग्रीक में देदोर्क (ददर्श) गेगोना (जगाम) लैटिन तितिगि आदि हैं। इनका कहना है कि गेगोना में प्रथम ग में इ के होने से वह सं० में ज बनकर जगाम बनाता है। पर जगाम के अन्त में म है गेगोना में न। अतः इनके मूल धातु ही भिन्न हैं एक में गम् धातु है दूसरे में गन्, यह सं० के गगन और गणः का (जिससे ग्रीक गेनोस् बनता है) प्रतिनिधि है। संस्कृत में गम् से 'जन' नहीं बनता, न गणः ही। अतः इनमें धात्वन्तर होने से समानान्तरता नहीं मानी जा सकती, तब ग के इ से ज बनने की चर्चा ही धराशायी हो जाती है। लैटिन-ग्रीक में जहां जहां गे है उसके बदले संस्कृत में ग ही मिलता है गिओ गो (पृथिवी); गिओलोगी—गोलोक (भूमि)[1]। परोक्षभूत में दोनों भाषाओं में द्वित्व की प्रथा भारोपीयता झलकाती है। तब चकार जगाम में कवर्ग का आदि में चवर्ग कैसे हुआ ? ककार, गगाम, घघान; हहार जैसे भ्रमात्मक स्वरूपों की निवृत्ति के लिए जुहोत्यादि गण के जुहोति की संगीतप्रिय अनुरूपता से इनके रूपों में चवर्गीयता स्वभावतः आ गई। जुहोति में तो इ का कहीं नामोनिशान नहीं है। यहाँ बिना इ के चवर्ग कैसे हुआ ? इसका उनके पास क्या उत्तर है ? द्वित्व रूपीय चवर्ग का मूल कारण जुहोत्यादि वर्ग की मधुरिमा का स्वाभाविक आकर्षण है; यदि इसे ग्रीक और लैटिन ने खो दिया है तो हमारा क्या अपराध ? और ! लैटिन तितिगि का समानान्तर सं० का 'तस्थगौ' स्तग् या स्थग् धातु का रूप है, या तिक् धातु है जिससे तितिक्षा तीक्ष्ण बनते हैं। यूरोपीय भाषाओं ने भारोपीय व्यञ्जनों को यदि सुरक्षित नहीं रख पाया है तो यह उनके पूर्वजों की कमजोरी है। ग्रिम्स और वेर्नेर के बड़े परिश्रम से खोजे विधान भी उनके व्यञ्जनों की दुर्दशा न बचा सके। उनके नियम तथा अन्य पूर्ववर्तियों के नियम (केन्तुम्-सतेम्) सब विफल हैं, यह तो पहले ही बताया जा चुका है। इनकी भाषाओं की स्थिति हमारी प्राकृतों और अपभ्रंशों तथा आधुनिक भाषाओं के समान है, इन सब

---

१. Geo गेओ–गो (पृथिवी) Geology–गिओलोगी–गोलीक या गोलोकीय (भूमि) आदि सर्वत्र ऐसा ही है।

भाषाओं ने प्राचीन गेनोस् गिगोना गिओ गिओलोगी के रूपों को जां जेन्टस् जेनेसिस् जिओ, जिओलोजी बनाकर, तालव्यता अपनाई है, उलटा चोर कोतवाल को डांटे की कहावत चरितार्थ हो रही है। हमारे यहां तो इनके बदले क वर्ग ही है—गणासः, गगनं गो गोलोकः। इनके गे आदि में ए का आविर्भाव गवाँह प्रभाव से है, पुराना नहीं। क्योंकि इनकी भाषा वेचारियों को कभी भी किसी वैयाकरण को पाने का सौभाग्य ही नहीं मिला। आज १९वीं शताब्दी से हमसे व्याकरण लिखना सीखकर व्यर्थ की खोज की डींगे मारने का शौक पैदा कर रखा है जिसके लिए उक्त प्रकार के सव्यभिचारीय उदाहरण देते हैं। भारोपीय आर्यों के पास शब्दों और धातुओं का विशाल भाण्डार था जिसका ज्वलंत प्रमाण हमारे सबसे प्राचीन ग्रन्थ स्वयं वेद हैं, उस अपूर्व और अभूतपूर्व शब्द धातु भण्डार में से किसी को पूर्वी दल ने अपनाया किसी को पश्चिमी ने जैसे ऊपर गलत फहमी से मिलाये शब्दों में जन-गणासः (गेनोस) गेगेना-(गगनं) गणासः; तितिगिस्तगनं (तितिचा, तस्थिगो)। ग्रीक तेसिस् का समानान्तर-सं० का चिति नहीं वरन् वह तंश धातु है जिससे अवतंश बना है; ग्रीक में तंश का अर्थ मन है शरीर नहीं यह स्वयं स्पष्ट है। पञ्च-पन्त; सेकुओर सक्र सुकृत् साकं से न कि सचते से। ये शब्द एक मौलिक शब्द के भिन्न रूप न होकर, भिन्न मूलों से निकले सव्यभिचारीय समानान्तरता स्थापक से होने से पाश्चात्यों को ठग लैठे हैं; उन्हें संस्कृत अच्छी तरह पढ़ लेनी चाहिए थी, तब समानता खोजने का साहस करना चाहिए था। 'जितने काले उतने मेरे बाप के साले' की कहावत इन्होंने खूब चरितार्थ की है। जैसे डा० सु० कु० चटर्जी ने 'मान' को अंग्रेजी 'माउन्ड' का समानान्तर माना है (वीर अर्जुन ता० १३-६-५८), मान मिमीते, के स्थान में ग्रीक-मोदिओस्, लै० मोदिउस्, अंग्रेजी कम्मोडिटी है। माउंड आज का शब्द है। यह तो माउस का मौसी (मातृष्वसा), हाउस का हौशिया (ह + उत्सुका-प्रेमिका) से समानान्तर ढूँढ़ने के समान उपहासास्पद है। पुरानी यूरोपीय भाषाओं में मूषक का मूस म्यूस रूप है, और हाउस के ह्यूस हूस रूप मिलते हैं जो 'संस्था' से कुछ मिलता जुलता भी है हाउस माउस आज की अंग्रेजी के शब्द हैं।

अब भारोपीय अ के अ ए ओ तीन विकार सम्भव हैं या नहीं इस पर विचार करना शेष रह गया है। यह ठीक है कि अ का विकास-गुण वृद्धि सम्प्रसारण रूप में—ए ओ में नहीं हो सकता। पर क्या किया जाय वर्तमान भाषाओं ने भाषातत्त्व शास्त्र में उक्त सिद्धान्त का अपवाद उपस्थित कर

(आलोकते आलोकः)। च और क के मूल में धातु ही भिन्न है। उनका कहना है कि इ के योग में च और अन्य के योग में क बनता है; पर ऐसा नियम नहीं है वाचा वाचि वाचः वाग्भि; आदि रूप इस नियम पर वज्रपात कर रहे हैं। अन्तराल या अन्त में च का कहीं-कहीं क् या ग् तो बनना चाहिए, बनता भी है पर क का च तो कहीं बनते नहीं दीखता है। क्या कह रहे हैं ये लोग ? हां पदादि में कवर्ग का चवर्ग होता है, चकार, जगाम, जघान, जहार जिनके समानान्तर रूप ग्रीक में देदोर्क (ददर्श) गेगोना (जगाम) लैटिन तितिगि आदि हैं। इनका कहना है कि गेगोना में प्रथम ग में इ के होने से वह सं० में ज बनकर जगाम बनाता है। पर जगाम के अन्त में म है गेगोना में न। अतः इनके मूल धातु ही भिन्न हैं एक में गम् धातु है दूसरे में गन्, यह सं० के गगन और गणः का (जिससे ग्रीक गेनोस् बनता है) प्रतिनिधि है। संस्कृत में गम् से 'जन' नहीं बनता, न गणः ही। अतः इनमें धात्वन्तर होने से समानान्तरता नहीं मानी जा सकती, तब ग के इ से ज बनने की चर्चा ही धराशायी हो जाती है। लैटिन-ग्रीक में जहां जहां गे है उसके बदले संस्कृत में ग ही मिलता है गिओ गो (पृथिवी); गिओलोगी—गोलोक (भूमि)[1]। परोक्षभूत में दोनों भाषाओं में द्वित्व की प्रथा भारोपीयता झलकाती है। तब चकार जगाम में कवर्ग का आदि में चवर्ग कैसे हुआ ? ककार, गगाम, घघान; हहार जैसे भ्रमात्मक स्वरूपों की निवृत्ति के लिए जुहोत्यादि गण के जुहोति की संगीतप्रिय अनुरूपता से इनके रूपों में चवर्गीयता स्वभावतः आ गई। जुहोति में तो इ का कहीं नामोनिशान नहीं है। यहाँ बिना इ के चवर्ग कैसे हुआ ? इसका उनके पास क्या उत्तर है ? द्वित्व रूपीय चवर्ग का मूल कारण जुहोत्यादि वर्ग की मधुरिमा का स्वाभाविक आकर्षण है; यदि इसे ग्रीक और लैटिन ने खो दिया है तो हमारा क्या अपराध ? और ! लैटिन तितिगि का समानान्तर सं० का 'तस्थगौ' स्तग् या स्थग् धातु का रूप है, या लिक् धातु है जिससे तितिक्षा तीक्ष्ण बनते हैं। यूरोपीय भाषाओं ने भारोपीय व्यञ्जनों को यदि सुरक्षित नहीं रख पाया है तो यह उनके पूर्वजों की कमजोरी है। ग्रिम्स और वेर्नर के बड़े परिश्रम से खोजे विधान भी उनके व्यञ्जनों की दुर्दशा न बचा सके। उनके नियम तथा अन्य पूर्ववर्तियों के नियम (केन्तुम्-सतेम्) सब विफल हैं, यह तो पहले ही बताया जा चुका है। इनकी भाषाओं की स्थिति हमारे प्राकृतों और अपभ्रंशों तथा आधुनिक भाषाओं के समान है, इन सब

---

१. Geo गेओ–गो (पृथिवी) Geology–गिओलोगी–गोलोक या गोलोकीय (भूमि) आदि सर्वत्र ऐसा ही है।

भाषाओं ने प्राचीन गेनोस् गिगोना गिओ गिओलोगी के रूपों को जां जेन्टस् जेनेसिस् जिओ, जिओलोजी बनाकर, तालव्यता अपनाई है, उलटा चोर कोतवाल को डांटे की कहावत चरितार्थ हो रही है। हमारे यहां तो इनके बदले क वर्ग ही है—गणासः, गगनं गो गोलोकः। इनके गे आदि में ए का आविर्भाव गवाँरू प्रभाव से है, पुराना नहीं। क्योंकि इनकी भाषा बेचारियों को कभी भी किसी वैयाकरण को पाने का सौभाग्य ही नहीं मिला। आज १९वीं शताब्दी से हमसे व्याकरण लिखना सीखकर व्यर्थ की खोज की डींगे मारने का शौक पैदा कर रखा है जिसके लिए उक्त प्रकार के सव्यभिचारीय उदाहरण देते हैं। भारोपीय आर्यों के पास शब्दों और धातुओं का विशाल भाण्डार था जिसका ज्वलंत प्रमाण हमारे सबसे प्राचीन ग्रन्थ स्वयं वेद हैं, उस अपूर्व और अभूतपूर्व शब्द धातु भण्डार में से किसी को पूर्वी दल ने अपनाया किसी को पश्चिमी ने जैसे ऊपर गलत फहमी से मिलाये शब्दों में जन-गणासः (गेनोस) गेगेना-(गगनं) गणासः; तितिगि-स्तगनं (तितिचा, तस्थिगो)। ग्रीक तेसिस् का समानान्तर-सं० का चिति नहीं वरन् वह तंश धातु है जिससे अवतंश बना है; ग्रीक में तंश का अर्थ मन है शरीर नहीं यह स्वयं स्पष्ट है। पञ्च-पन्त; सेकुओर सक्र सुक्रन् साकं से न कि सचते से। ये शब्द एक मौलिक शब्द के भिन्न रूप न होकर, भिन्न मूलों से निकले सव्यभिचारीय समानान्तरता स्थापक से होने से पाश्चात्यों को ठग बैठे हैं; उन्हें संस्कृत अच्छी तरह पढ़ लेनी चाहिए थी, तब समानता खोजने का साहस करना चाहिए था। 'जितने काले उतने मेरे बाप के साले' की कहावत इन्होंने खूब चरितार्थ की है। जैसे डा० सु० कु० चटर्जी ने 'मान' को अंग्रेजी 'माउन्ड' का समानान्तर माना है (वीर अर्जुन ता० १३-६-५८), मान मिमीते, के स्थान में ग्रीक-मोदिओस्, लै० मोदिउस्, अंग्रेजी कम्मोडिटी है। माउंड आज का शब्द है। यह तो माउस का मौसी (मातृष्वसा), हाउस का हौशिया (ह + उत्सुका-प्रेमिका) से समानान्तर ढूँढ़ने के समान उपहासास्पद है। पुरानी यूरोपीय भाषाओं में मूषक का मूस म्यूस रूप है, और हाउस के ह्यूस हूस रूप मिलते हैं जो 'संस्था' से कुछ मिलता जुलता भी है हाउस माउस आज की अंग्रेजी के शब्द हैं।

अब भारोपीय अ के अ ए ओ तीन विकार सम्भव हैं या नहीं इस पर विचार करना शेष रह गया है। यह ठीक है कि अ का विकास-गुण वृद्धि सम्प्रसारण रूप में—ए ओ में नहीं हो सकता। पर क्या किया जाय वर्तमान भाषाओं ने भाषातत्व शास्त्र में उक्त सिद्धान्त का अपवाद उपस्थित कर

दिया है। बंगाली लोगों को हिन्दी संस्कृत के अ का उच्चारण ऑ या ओ के समान करते हुए किसने नहीं देखा या सुना है 'रसमलाई' को वे 'रौसोमौलाई' बोलते हैं, यहाँ अ का ओ और औ करने में मुख्य कारण यह है कि ये तीनों स्वर बाह्य प्रयत्नीय (पृष्ठभागीय) स्वर हैं, अ के उच्चारण में कण्ठ का मुख थोड़ा ऊपर को खिंचा नहीं कि यह औ सा हो जाता है, और अधिक खिंचा तो ओ हो जाता है। अतः यहाँ पर ध्वनि का विकास नहीं वरन् स्थान प्रयत्नीय विकास उत्तरदायी है, कुमाउनी में सरग नरग वजर के मध्य के र ज के अ = उ के से है, यहाँ र और ज के घृष्ट प्रयत्न में अ उच्चतर तीच्ण होकर उ सा बन जाता है। अ के उच्चारण में विवृत्तता अधिक होती है तो वह आ हो जाता है। अतः जहाँ संस्कृत अ या आ है वहाँ ग्रीक लै० आदि में यदि आ ओ औ है तो यह उस देश के बोलने वालों के प्रयत्नों का स्वाभाविक परिणाम है। यदि वह बोलने वालों के प्रयत्नों का परिणाम है तो उनकी शुद्धता उसी प्रकार अप्रामाणिक है जैसे बंगला में संस्कृत के 'अ' के स्थान में बोले जाने वाले ओ और औ की स्पष्टतया सबको विदित ही है। हां अ का इ में परिवर्तन कुछ विशेष छानबीन की अपेक्षा रखता है। अ का इ में परिवर्तन तब सम्भव है जब वह अतिसूक्ष्म या निर्बल या अस्पष्ट सा हो, यह तब होगा जब ऐसा अ घात अवधारण और उदात्तादि स्वर हीन रहेगा। रामः से रामी रमियाँ और रमुवाँ नाम, राम के अन्तिम अ की निर्बलता के सूचक हैं उसके स्थान में इयाँ और उवाँ के अनुरूप इ और उ अपने आप जम गये हैं, यदि यहाँ अ बलवान होता तो इयाँ उवाँ जोड़ने से ये रूप रामेयाँ, रामोवाँ अवश्य बनते। अंग्रेजी के कुछ उदाहरण यह स्पष्ट कर देंगे कि प्राचीन एक स्वर आजकल द्विस्वर में परिणत हो गया है—नामे (नाम) नेःम्–नेइम्, डेःड–डीड–ढिइड, (काम); वीन वेइन वाइन (शराब) आदि; ये अंग्रेजी के प्राचीन मध्ययुग और वर्तमान के रूप हैं। इन में इ कहाँ से आया है, इसका कोई उत्तर नहीं है, यहाँ स्वर आ, ऐ, ई के विकास से इ नहीं बना है वरन बोलने वालों के प्रयत्न शैली ने इन्हें ये रूप दे दिये हैं। हिन्दी में विजली विजिली विजुली ये शब्द विद्युत् (वीज्जु +) से निकले हैं। ज में (द्यु के ज में) उ था, विजुली रूप तो ठीक है पर इस ज में 'इ' और 'अ' का समागम कहाँ से हुआ? इसी प्रकार बिन्दी में बूंद शब्द बिन्दु से बुन्दु–बूँद (कुमा० बूँन), तथा बिन्दु–बिन्दि–बिन्दी, बने। यहाँ इ और उ में खींचातानी हो रही है, उ ने आदि में कब्जा किया है तो इ ने उनके स्थान अन्त में; अतः बून् बूंद बिन्दी सब 'बिन्दु' शब्द से निकले हैं। अतः अ के स्थान में अ का इ या इ का अ होना शब्द में स्थित

प्रभावकारी स्वर का प्रतिफल होता है, जैसे अस्नान में आ के प्रभाव से 'अ' आया तो 'इस्त्री' में ई के प्रभाव से इ, पर इस्कूल में 'उस्कूल' क्यों नहीं हुआ का उत्तर यह है कि यह शब्द फ्रेंच से आया है, उसमें एकोल कहते हैं उसीसे इस्कूल हुआ; या यहाँ इस्त्री आदि की भ्रमानुकृति हुई है। अतः पाश्चात्यों की भाषा में जहाँ-जहाँ संस्कृत के अ के स्थान में इ या इ के स्थान में अ हैं वहाँ पर उसी प्रकार की उच्चारण प्रयत्नशैली तथा शब्दान्तर्गत बलिष्ठ स्वर का प्रभाव कारण है जिनके उदाहरण ऊपर दे दिये जा चुके हैं। फलतः जिसे भारोपीय भाषा के शुद्धतम स्वरूप को देखने की इच्छा है वह संस्कृत के स्वरूपों का अध्ययन करे उसी में सर्वप्रामाणिक अधिकतम शुद्धता निखरी मिलेगी। पाश्चात्य भाषायें हमारे प्राकृतों अपभ्रंशों की तरह भ्रष्टता पूर्ण हैं, जिन पर आस्था रखना नितान्त धृष्टतामात्र है। यूरोप की सब भाषायें वर्णसंकर हैं, यूरोप दो हजार वर्षों से निरन्तर युद्धों और खून की वेदी रही है। कभी किसी देश पर किसी का अधिकार रहा, कभी किसी का; उनकी भाषायें भिन्न होती हुई भी ऐसी विमिश्रित हैं कि कोई भी अपनी भाषा के शुद्धतम रूप की धाक नहीं बैठा सकता। इंगलैंड में एङ्गल, सेक्सन, डेन, नार्वी, फ्रांसीसी, स्पेनिश आदि-आदि सैकड़ों ने आकर अपनी-अपनी भाषा चलाई। १६ वीं १७वीं शती तक वहाँ लैटिन, फ्रेंच चलती रही।[1] यही दशा अन्य देशों की रही तब इनकी भाषाओं की क्या प्रामाणिकता मानी जा सकती है; फिर तुलना करने बैठे संस्कृत से। 'कहाँ राजा की रानी कहाँ भगतुवा की कानी' 'कहाँ राजा भोज कहाँ गंङुवाँ तेली'। पाश्चात्यों को चाहिए कि वे वैदिक भाषा को दीप शिखा बनाकर अपनी-अपनी भाषा के शब्दों में भारोपीय भाषा की आकृति देखने के लिए ही ग्रिम्स ला या वेरनेर्स ला लगाकर देखें कि उनमें कितनी भ्रष्टता भरी पड़ी है। भारोपीय भाषा वैदिक भाषा के समीपस्थ या निकटतम भाषा थी यह ऐतिहासिक तथ्य स्वयं सिद्ध प्रामाणिकता प्राप्त है। अतः जिस अटकल पच्चू सव्यभिचारीय तुलनात्मक नियमों से पाश्चात्यों ने भारोपीय भाषा के शब्दों के मौलिक स्वरूप की कल्पना की है वह रेगिस्तान की सैर है। भारो-

---

१. ब्लूमफील्ड ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए साफ लिखा है कि बेरट्, हेरल, स्वाइन का उच्चारण नार्विक और स्केन्डनविया के अनुकूल है आदि पृ० ३६१, (२०-९) इसी प्रकार सैकड़ों फ्रेंच, जर्मन, ग्रीक, लैटिन से लिए हैं। डा० तारापोरेवाला, कोसिना-दी इन्डोजर्मन, डा० गाइल-कौपर-अश्वमेध, डा० इण्डिकर इति० का० १९४७ पृ० ३६। आर्किओलौजिकल ट्रेसेस ऑफ वैदिक आर्यन्स-र० फोन. हाइने गेल्डन। यस० ए० मान, क्रेडिल ऑफ इ यू० स्पीकर। ब्रन्दिस्तद्दानमत—इण्डियन हिस्टौरिकल क्वार्टर्ली ऑफ कलकत्ता १३, १-३-१९३७।

पीय भाषा का उपलब्ध आदि रूप वैदिक भाषा है। पाश्चात्य देशों की संक्षिप्त लिपि भी स्वर व्यञ्जनों के शुद्ध उच्चारण का किसी भी प्रकार प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। वहाँ लिपि ने भी सैकड़ों भ्रमों के बीज बोये हैं। उनका तवर्ग विचित्र है; वह कहीं दन्त्य, कहीं अर्द्धमूर्द्धन्य, कहीं तालव्य, कहीं ऊष्माण है। कवर्ग में सी का क कहीं 'श' है कहीं च है, कहीं 'क' और कहीं स भी है। 'जी' कहीं कवर्ग है ग, कहीं चवर्ग ज, कहीं ज चकार हो जाता है, कहीं य। यह लिपि क्या है तमाशा है। यही कारण है उनके शब्दों के वर्ण विन्यास (स्पेलिंग) कुछ हैं, उच्चारण कुछ, इनका अर्थ उच्चारण से नहीं, वर्णघटन से या सन्दर्भ से बड़ी कठिनता से लगता है। ऐसी लिपि में लिखे शब्दों में क्या भरोसा और प्रामाणिकता हो सकती है, यह किसी से छिपा नहीं है, उनके शब्दों के घटन (स्पेलिङ्ग) प्रत्येक युग में पृथक् रहे हैं, उनके उच्चारण भी अलग रहे हैं। राम मिलाई जोड़ी एक अन्धा एक कोढ़ी। जैसी भाषा वैसी लिपि।

भारोपीय सभ्यता—कुछ कहना नहीं आता, जिधर मुंह फेरो उधर ही गड़बड़झाला सामने आता है, अवाक् सा, स्तब्ध सा होना पड़ता है। इसका मूल शूल कारण पाश्चात्यों का अदूरदर्शिता पूर्ण और अनैतिहासिक तथा स्वात्माभिमान पोषक दृष्टिकोण है। वे भारतीय वैदिक सभ्यता को ग्रीक सभ्यता से ज्येष्ठ श्रेष्ठ और पूर्ववर्ती मानना अपना अपमानकारक सा समझते हैं। इसी काल सम्बन्धी अनौचित्यपूर्ण निर्णय से उनको भारोपीय आर्यों की भाषा तक में असीरियन और सुमेरियनों का प्रभाव आंकने की चेष्टा करनी पड़ रही है। भारतीय आर्यों की भारत प्रवेश की ५०५९ वर्ष पूर्व की तिथि कस्स या खशों के बेबीलोन और भारत दोनों देशों में लगभग एक ही साथ ३७५८, ३८०० वर्ष पूर्व के आक्रमणों से पुष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से ग्रीक रोमनों का वाह्लीक से निष्क्रमण काल ५५५९ वर्ष पूर्व कम से कम होगा, बाल्टोस्लाविक जर्मनादिकों का ६०५९ वर्ष पूर्व। अतः भारोपीय आर्यों का सबका एक साथ रहना ६००० वर्ष से ७५०० वर्ष पूर्व तक अवश्य जायगा। ऐसी स्थिति, परिस्थिति और प्राचीनता वाली सभ्यता न असीरियन है, न सुमेरियन, न अन्य कोई दूसरी मानव-सभ्यता (महेंजोदड़ो हरप्पा भी नहीं) यह स्वतः स्पष्ट है। सं० परशु, ग्री० पेलकु, सं० गौ० अं० काव आदि शब्दों का प्रचलन ५५५९ से ६०५९ वर्ष पूर्व भारोपीय सभ्यता में हो चुका था। परशुराम का समय ४००० वर्ष पूर्व है, परशु के बदले दूसरा शब्द कुठार कुरथार भी पुराना ही है। तब तक उनका किसी अन्य जाति से सम्पर्क होने की कोई भी गुञ्जाइश इसलिए नहीं है कि बाल्टोस्लाविकादि दक्षिण की ओर न बढ़कर उत्तर पश्चिम की ओर को दिग्भ्रांत से होकर चल पड़े थे। ग्रीक रोमनों ने भी ५५५९ वर्ष पूर्व उसी

विभ्रान्तावस्था में ही निष्क्रमण किया। भारत पारसीक कश्श (खश), हात्ति हित्तिते जातियों ने अधिक विकसित होकर अधिकाधिक अच्छे अच्छे चुने-चुने स्थानों में पदार्पण इस भरोसे से किया होगा कि वे उन-उन देशों में बसी जातियों को कुचल कर अपने पाँव जमा लेंगे। हुआ भी ऐसा ही। उस समय प्रारम्भिक वैदिक ऋचायें बन भी चुकीं थी (५५५९ से ५०५९ वर्ष पूर्व)। तब उन देशों की जातियों का जो प्रभाव हो सकता था वह केवल एक ही दल में मिलता था। जो शब्द सब में हैं उन पर किसी बाहरी जाति का प्रभाव ऐतिहासिकता से सिद्ध नहीं हो सकता। अश्वमेध घुड़सवारी घोड़े के रथ आदि का पूर्व पश्चिम दोनों देशों में प्रचलन करने का श्रेय कश्श या खश आर्य जाति को जाता है, न मंगोल न टर्किश न अन्य जाति को, यह तो सबने स्वीकार कर ही लिया है। अतः वाजसनेयिन् प्रसिद्ध अश्वमेध याग् का प्रभाव ही तुर्कों मंगोलियनों से मिलना अधिक सम्भव है, चीन तो सदा भारतीय भावनाओं से भरपूर भरा और उधार खाता खोले रहा। ये सब गड़बड़ के विचार, समय निर्धारण के अनुचित आग्रह के फल हैं।

भारत का अहो भाग्य है कि उसके पास ६ हजार वर्ष पूर्व की सभ्यता का पूर्ण चित्र वेदों के रूप में सुरक्षित है; उसमें क्या नहीं है यही जटिल प्रश्न है। क्या क्या है यह सरल। ग्रीकों की लिखित सभ्यता केवल २६०० वर्ष पूर्व तक जा सकती है। उन्हें अपनी प्राचीन संस्कृति, भाषा विज्ञान में ढूँढने की आवश्यकता है। हमारे पूर्वज खेतिहर और विद्वान् थे, उनके गड़रिये और ग्वाले। कृषि का नाम वे नहीं जानते थे, उन्हें भेड़, बकरी, सुअर और कुत्तों ही की जानकारी है। वाल्टिक क्षेत्र में जाकर उन्होंने गाड़ी, कुल्हाड़ी, जुवे, पहिए बनाना खेती करना सीखा, वे नमक समुद्र और मछली का नाम नहीं जानते रहे। वाह्लीक में मिट्टी के बर्तन मिले हैं; अतः भारोपीय इस काम को जानते रहे। मधु को वे जानते थे, जो नाम सब भाषाओं में मिलते हैं वे ये हैं : घोड़ा, कुत्ता, सुअर, भेड़िया, भालू, हंस, बगुला, गरुड़, मधुमक्खी, सर्प, कीड़े, मछली दूध, पहिया, जुवा, बुनना, सीना, ऊन, अंक—१ से १०, १००; घरेलू सम्बन्ध, मित्रों के सम्बन्ध, वैवाहिक सम्बन्ध, सोना चाँदी आदि के गहने, लोहे आदि के औजार, गाय, घोड़े का पालतू बनना (परशु के लिए असीरियन 'पिलेक्कु' मत गलत है, यह कहा जा चुका है) दैनिक व्यवहार के अनेकों मुख्य धातु-रूप, कारक रूप आदि आदि। अतः भारोपीय जनता को उत्तर-पाषाण युगीय माना जाता है।

अब तक, इस अध्याय के 'क' भाग के आदि से शब्दों की, परिवर्तन, स्रोत और सन्तुलन सम्बन्धी जो व्याख्या दी गई है वह सब वर्ण वैचित्र्य ही के

कारण उनकी विभिन्न समस्याओं का ही समाधान समझा जाना चाहिए। यहाँ शब्दों में जो कोई भी जिस किसी नियम या अनियम से परिवर्तन दिखलाई पड़े हैं उन परिवर्तनों का मूल आधार वर्णवैचित्र्य ही है। वर्ण-वैचित्र्य अक्षर वैचित्र्य है। अक्षर शब्द या वाक्य के अंश के ध्वनि की वह न्यूनतम इकाई है जो अर्थसंकेत करने में असमर्थ रहती है; इस अक्षर की नाना रूपता भाषा का मेरुदंड होती है (शेष अक्षर की व्याख्या में देखें)। भाषा का निकास या विकास क्या है, वह उस अक्षर की नानारूपताओं में से कभी किसी को अपनाती है, कभी किसी को, एक एक को अपनाती है दूसरी दूसरी, तीसरी तीसरी को, इस प्रकार उनका प्रवाह पृथक् होकर सोते के नाले, नाले के नदी नद समुद्र बन जाती हैं। जिसको एक अस्वीकृत करती है उसे दूसरी प्यार से अपनाती है, यह पूर्व प्रवाह में गंगायमुना का सा संगम बना देती है। तब दोनों अपनी अपनी नियमावलियाँ भी निश्चित रूप की बना कर भाषा को वैज्ञानिकता में भी ढालती हैं। नियमों में सन्तुलन तथा अमानु-रूपताओं को, शब्दरूपादि की विकृति की ओर तनिक भी ध्यान न देकर, बड़े चाव से अपनाया जाता है। इस प्रकार शुद्ध कहे जाने वाले को अशुद्धता का और अशुद्ध को शुद्धता का पक्का प्रमाण-पत्र देते हुए भाषा में रात दिन क्रान्तियाँ होती रहती हैं। उदाहरण में एक का एःक सन्तुलन का उदाहरण है, गरुअ्—गुरुक (भारी) में उ का अ, बडुवा, तरुवा आदि की अमानुकृति से बना, पर सन्तुलन में भी अन्तर नहीं आया है। बंगला में रोसोमोलाई, हिन्दी में रसमलाई, कुमा० में 'रशमलै' आदि में अ और आइ में कितना अन्तर आ गया है, पर आप की बतलाई इन अशुद्धियों को कौन अशुद्ध कह सकता है। एक का शुद्ध दूसरे का अशुद्ध है और इसके विपरीत भी। वैसे 'रसमलाई' जो शुद्ध रूप है उसका तद्वत् उच्चारण वह भाषा (हिन्दी) भी नहीं करती जिसका यह शब्द है और शुद्ध भी, हिन्दी स्वयं अशुद्धकर उच्चारण करे यह तीसरी अनोखी बात हुई; क्योंकि वह 'रस्लाइ' का सा उच्चारण करती है, यही उच्चारण भावी भाषा की उत्पत्ति की अभी से प्रगट रहस्यता की दुंदुभि बजा रहा है जिसे हम वैसा सुनते हुए भी अनसुनी सी कर उसे 'रसमलाई' सुना सा दिखाते हैं, लिखते तो हैं ही। यहाँ जितने उदाहरण दिए गये हैं उनका ध्वन्यात्मक विश्लेषण नहीं दिया जा सकता। एक के 'क्' का बदल कर उसके पूर्व के ह्रस्व ए का दीर्घ कैसे बन सकता है? गरुअ्—के अ की उत्पत्ति गुरुक के उ से कैसे हो सकती है? यहाँ भाषातत्त्व शास्त्र का अलौकिक नियम काम कर रहा है। इस अध्याय के प्रथम भाग के आदि में व्याख्यात आदि लोप, अन्त लोप आदि का सम्बन्ध ध्वनितत्त्व

शास्त्र से न होकर भाषा तत्व शास्त्र से है। भाषातत्वशास्त्र महामाया है; इसमें सब कुछ सम्भव है। भाषातत्वशास्त्र की गाड़ी ध्वनितत्वशास्त्र की पटरी पर ही चलती है, पटरी अक्षरों या वर्णवैचित्र्य का जाल है। फिर भी कोई काम अनियमतः होते नहीं दीखता। विदेशी भाषाओं के प्रभाव या सम्पर्क भी भाषा में काफी परिवर्तन लाते हैं। यूरोपीय भाषाओं में ऐसे प्रभावों और सम्पर्कों का ऐसा प्राचीन और नवीन जाल सा बिछा है कि वहाँ की भाषाओं के ध्वनितत्वशास्त्र के अध्ययन के लिए अकेले भाषा तत्व शास्त्र की दाल नहीं गलती, वहाँ विदेशी प्रभावित शब्दों के उच्चारणों के इतिहास की जानकारी, भाषातत्वशास्त्र की जानकारी से अधिक महत्व रखती है, उसके बिना सब गलत ही गलत होगा (रेजिड्यु फॉर्म)। यह ऐतिहासिक भाषातत्वशास्त्र कहा जा सकता है। जिससे कई घुणाक्षरन्याय से बने या अनैतिहासिक समानता के शब्दों में भ्रम न रहे। लै० दिएस, अंग्रे० देइ और लै० देन्तालीस, अंग्रेजी देन्तव से यह नहीं कहा जा सकता कि भारोपीय द् का इनमें द् है। यह एक बड़ी भारी भ्रमात्मक व्युत्पत्ति हो पड़ेगी। भा० द् का जर्मा० में त है। हिन्दी के नेरे, और अंग्रेजी के निअ (समीप) की तुलना भी ऐसी ही होगी।

इस अध्याय में आदि से लेकर अब तक बराबर शब्दों में आने वाले निरन्तर परिवर्तनों का परिचय दिया जा चुका है। ऐसा होता क्यों है इसके स्थानीय कारणों पर भी यत्र तत्र यथाशक्ति प्रकाश डालने का प्रयास भी साथ साथ किया जा चुका है। पर शब्दों के वर्णवैचित्र्य से उत्पन्न परिवर्तनों के स्थानीय कारणों की पृष्ठभूमि में एक दूसरी महान् शक्ति छिपी हुई है जिसे एक शब्द में शब्दता या वाक्यता कहते हैं। इस वाक्यता तत्व के बारे में स्फोट वर्णन और इस अध्याय के प्रथम भाग के आदि में विस्तार पूर्वक लिखा जा चुका है कि जिन पद नामक शब्दों के वर्णवैचित्र्य से परिवर्तन आते हैं उनका मुख्य कारण स्थानीय कारण ही नहीं वरन् वाक्यता रूप मंजिल की एकरूपता में भिन्न-भिन्न मुखों, उनकी स्वीकृत शैलियों आदि से नानारूपता का आना अधिक बलिष्ठ कारण है। यह वक्ता की अनुकृति में वृत्ति, लय, घात, अवधारण, स्वर (उदात्तादि) शैली, रागात्मकता की विभिन्न परिस्थितियों (हर्षशोकादि), चैतन्यता की मात्रा, देश, काल, पात्रता से आने वाले नाना संसृष्टिमय विकारों का एक विशाल गहन वन सा है जिससे एक ही आनुपूर्वी वाले वाक्य की प्रत्येक वर्णध्वनि और वर्णध्वनि संघटन रूप पद तथा, वर्णध्वनिसंघटित पदों से निर्मित वाक्य में नानारूपता की माया नगरी दृष्टिगोचर होने लगती है। अतः अन्ततोगत्वा वर्णवैचित्र्य,

प्रत्येक वर्ण की स्वतन्त्र सत्ता, या पदों में संघटित वर्णसमुदाय से सम्बन्ध न रखते हुए, सीधे पूरे वाक्य से सम्बन्ध रखता है। यदि वाक्य एक तागा है तो वर्णवैचित्र्य उसके विभिन्न रंग हैं। रंग, तागे (वाक्य) से भिन्न होते हुए भी पृथक् नहीं रह सकते, न एक वर्ण, दूसरे वर्ण से भिन्न है, परिस्थिति में एक रंग दूसरे रंग का स्थान लेता है, ले सकता है, वे इस प्रक्रिया में तागा रूप वाक्य के टुकड़े करके नहीं वरन् रंगे पर रंग चढ़ाने जैसे, और भार मात्रा में संन्तुलित से ही रहते हैं। हमारे यहाँ वर्ण तो ६४ ही माने गये हैं, पर क्या अनन्त वाक्यों में इन ६४ ध्वनियों की एक रूपता होती है? कदापि नहीं, उक्त वृत्यादि इन्हें ६४०० क्या अनन्त वर्णध्वनियों में परिवर्तित कर देती हैं, उसी को वाक्य का वर्णवैचित्र्य कहते हैं। वाक्य—रूप रंगीन तागों से विषयरूप कलात्मक (चित्रित) रमणीय रेशमीपट प्रस्तुत किया जाता है। शैली सामान्य या व्यक्ति के वाक्यों की 'चित्रान्तरता' की प्रस्तावना का नाम है। यह चित्रान्तरता नानारूपिणी है, वर्णवैचित्र्यात्मिका, पद वैचित्र्यात्मिका, लय वैचित्र्यात्मिका (जैसे हिमाचल प्रदेश की भाषा प्रत्येक दो अक्षरों के बाद ताल देती सी लगती है) अवधारण वैचित्र्यात्मिका, स्वराघात वैचित्र्यात्मिका वाक्य शैली (कर्तृवाच्य कर्मवाच्य भाववाच्य की) वैचित्र्यात्मिका, राग (रस) वैचित्र्यात्मिका, वक्रोक्ति (अलंकार) वैचित्र्यात्मिका, चैतन्यवैचित्र्यात्मिका, देश-काल-पात्र वैचित्र्यात्मिका आदि आदि। सब बातें सबमें मिलना खोजना भी कठिन है, प्राधान्य से व्यपदेश किए जाते हैं। सबका आधार वही वाक्यरूप वर्णवस्तु की चित्रान्तर (डिजाइन) प्रस्तुत करने की क्षमता है। किसी भी भाषा के उक्तप्रकार के सभी वर्णवैचित्र्यों से प्रस्तावित नाना रूपमयी चित्रान्तरताओं का पूर्ण निरूपण एक विशाल ग्रन्थ लिखने की अपेक्षा रखता है। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य भाषातत्वशास्त्रीय प्रतिभादर्शन की व्याख्या करना है। प्रतिभादर्शन है महामाया, जिसका कहीं अन्त नहीं, 'जितनी दवा की उतना ही मर्ज बढ़ता गया' की कवि की उक्ति साकारता सी पाती हुई, इस ग्रन्थ को जितना सूत्ररूप देने का प्रयास किया जा रहा है उतना ही भाष्याकार बृहद्रूप लेते जा रहा है। अतः अत्यावश्यक विवेचनों द्वारा सभी सम्बन्धित तत्वों का इस प्रकरण में संक्षेप में निरूपण देने की चेष्टा की जा रही है।

वर्णवैचित्र्य वर्णन प्रातिशाख्यकारों का सर्वप्रथम लक्ष्य रहा है। प्रत्येक वर्णध्वनि का आदि मध्य अन्त में, विभिन्न व्यञ्जनों के संसर्ग में, व्यञ्जन संयोगों में, विभिन्न प्रकार की सन्धियों में, उक्त वृत्ति लयादि भेदों में एक रूपिणी होना स्वभावतः सम्भव नहीं हो सकता। अतः इन विचित्रताओं

के साक्षात् प्रदर्शन के लिए उक्त सभी प्रकार की परीक्षाओं का करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। प्रातिशाख्यों के (विशेषकर ऋक्प्रातिशाख्य और तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के) पदचिह्नों पर पग रखते हुए और उन्हीं के निर्दिष्ट उदाहरणों की पुनरावृत्ति करके, पतञ्जलि जी ने यकारादिकों के अर्थ आदि स्थिति की परीक्षा के लिए 'यूप कूप सूप' आदि उदाहरण पाणिनि जी के सूत्र १. १. २ की व्याख्या के अवसर पर दिये हैं, यद्यपि प्रातिशाख्यों ने कुछ और ही प्रस्ताव रखा था, वे इन उदाहरणों से उकार की ध्वनि की य् क् स् के साथ संघटन से परीक्षा करना चाहते थे कि इनके योग से वह उ' एकसा रहता है या विभिन्न सा प्रयत्नादि लेता है और विभिन्न सा प्रतीत भी होता है या नहीं? कहां ध्वन्यात्मक परीक्षा चल रही थी, पतञ्जलि जी व्यञ्जन ध्वनियों से अर्थान्तर प्रस्ताव की चर्चा में चले गये, 'मारे घुटना फूटे आँख'। खैर इस प्रकार की परीक्षा भी वर्णवैचित्र्य की अर्थान्तरन्यासीय व्याख्या तो दे सकती है, पर साक्षात् वर्णवैचित्र्य के क्षेत्र (ध्वनितत्त्वशास्त्र) से बहुत दूर भटक जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज भी पाश्चात्य लोग अपनी या दूसरों की भाषाओं की जो इस प्रकार की ध्वन्यात्मक व्याख्या दे रहे हैं वह हमारे प्रातिशाख्यों की ही प्रतिलिपि उतारकर दे रहे हैं, इसमें उनकी अपनी कोई नई सूझ या मौलिकता नहीं है यह द्वितीय भाग के अन्त में भी संस्कृत शब्दों की ध्वन्यात्मक व्याख्या (प्रातिशाख्यों के आधार पर) करने के अवसर पर सोद्धरण बतलाया भी जा चुका है।

अब उक्त स्थिति की स्पष्टता और परीक्षा के लिए कुछ पुराने उदाहरण लें। अभ्यन्तर का भीतर, भितेर, भतर; अहंकार का हंगार; अरिष्ट का रीठा और संस्कृत में ही 'रिष्ट' का, और अस्मे अहम्मि का 'हम' आदि का 'आदि का 'अ' क्यों गायब हो गया? इसी प्रकार, उलूखल का 'उखल' ओखली' और उत्सृष्ट का छूटा छुटँह छूटना का आदि का उ तथा बुभुक्षा के 'भूख' एकादश के इग्यार ग्यार ग्यारह का आदि का बु और ए कहाँ चले गये, क्यों लुप्त हुए? इन उदाहरणों को 'आदि लोप' की व्याख्या में भी उद्धृत किया जा चुका है जहां यह बतलाया गया था कि संस्कृत में शब्दों के आदि स्वर उदात्त थे प्राकृत में उनकी उदात्तता हट कर आगे सरक गई और तब उनके उच्चारण में ऐसी दुर्बलता बढ़ती गई कि एक दिन वे झड़े झड़ाये सामने आ गये। इसका यह तात्पर्य हुआ कि अभ्यन्तर के अभिन्तर अभींतर होने के समय में उनके आदि के 'अ' का उच्चारण तथा त और र के 'अकारों का उच्चारण एक-सा नहीं था। यह अकार (आदि का) उत्तरोत्तर काल में धीरे धीरे अधिकाधिक अघोषता या श्वासता के उच्चारण की ओर झुक रहा था, वह भी क्रमशः मात्रा में भी

घटता जा रहा था जिसका लगभग ४०० वर्षों में यह परिणाम हुआ कि वह संक्षिप्तता को स्वीकार करती हुई घोषवान् अकार की बनने वाली हल्की घोषता, अघोषता श्वासता के क्रम से विनष्टता को प्राप्त हुई। इसी प्रकार उक्त भीतर के अन्तिम 'अ' की भी दशा हुई तब 'आद्यन्तौ कटितौ' के मखौल का अर्थ लागू होकर 'भीतर्' भतर् भितेर् हलन्त रूप प्रस्तुत हुए, इसी ढंग से उक्त उदाहरणों के उ, बु, ए की भी गति हुई। अब परिस्थिति स्पष्ट है कि उक्त अ उ बु ए आदि का उक्त शब्दों के आदि स्थान में उन्हीं के मध्य या अन्त में आने वाले अ उ ए से अवश्य भिन्न होता जा रहा था। एक ही शब्द में एक ही स्वर के दो या तीन प्रकार के उच्चारण थे। 'आभ्यन्तर' में तीन 'अ' थे, प्रत्येक का पृथक् पृथक् उच्चारण था, आदि और अन्त के 'अ' की घोषता अघोषता श्वासता की मात्राओं में वैज्ञानिक या भौतिकतुला सन्धारणीय प्रशस्त भेद था। यह अन्तर पीढ़ी प्रतिपीढ़ी बदलता रहा, प्राकृत युग में अन्तिम अ कमजोर सा रहा पर विद्यमान, नवीन भाषाओं वह भी घिस गया। यह है हमारे वर्णवैचित्र्य का साकार चमत्कार। एक ही शब्द में एक ही रूप से संकेतित होने वाली ध्वनि का विभिन्न स्वरूप से उच्चारित और प्रयुक्त होना ही वर्णवैचित्र्य है। आज कल ग्रामीण हिन्दी तथा कुमा० में अनाज (अनाद्य) का नाज (कुमा० नाःज) हो गया है और हिन्दी वाले लिखने और बोलने का प्रयत्न तो पूरे 'अनाज' शब्द का सा कर रहे हैं पर उच्चारण में वह पदादि का 'अ' इतना अघोष या श्वासीय होते जा रहा है कि कुछ दिनों में हिन्दी बोलने वाले ग्रामीण (वर्तमान) रूप को अपना लेंगे। उसके कुछ दिनों पश्चात् लिखने में भी स्वीकृति मिल जावेगी। तब तक ग्रामीण वर्तमान 'नाज' का क्या स्वरूप प्रस्तुत कर बैठे होंगे यह उनकी वर्तमान उच्चारण शैली की वैज्ञानिक परीक्षा से सिद्ध हो सके या न, कहा नहीं जा सकता। पर भाषा निश्चित नियमों को ही अपनाकर आगे बढ़ती जाती है। वे नियम प्रत्येक भाषा के क्षेत्र के अपने-अपने अलग-अलग होते हैं, होते सब हैं भाषातत्वशास्त्र या ध्वनि तत्व शास्त्र के नियम, पर इसका कोई ठिकाना नहीं कि एक ही शब्द के परिवर्तन में सभी क्षेत्रीय भाषायें एक ही नियम को लागू करें। ऐसा हो तो भाषाओं और विभाषाओं में अन्तर ही न आवे। अतः परिवर्तन हो जाने के पूर्व किसी स्वरूप की घोषणा की ही नहीं आ सकती कि किसका भविष्य कैसा होगा। हाँ 'अनाज' को लोग '` नाज' सा बोलने लग गये हैं।

वर्णवैचित्र्य के सम्बन्ध में दो मुख्य तत्वों का अधिक प्रभाव पड़ता है (१) विराम (२) श्वाससंचार। प्रत्येक वर्ण की स्पष्ट श्रुति तथा स्पष्ट उच्चारण का मुख्य कारण एक वर्ण के अन्त और दूसरे के आदि में इतना

विराम आवश्यक है कि एक दूसरे में दूध पानी की तरह घुल न जावे पर 'सूत्रे मणि गणा इव' से होकर वाक्य रूप तन्तु में 'मयि सर्व मिदं प्रोतं' से शोभायमान रहें। वाक्य माला है, शब्द फूल है, वर्ण फूलों की विभिन्न आकार प्रकार की कोमलतम पंखुड़ियाँ हैं, वे सब एक दूसरे से इस प्रकार नथे से हैं कि नथे से होते हुए भी एक दूसरे से सब पृथक् पृथक् ही स्थित रहते हैं, इतने समीप सटे रहते हैं कि एक जान सी प्रतीत होती है। जबतक वर्ण पार्थक्य नहीं तब तक शाब्दबोध नितान्त दुर्लभ ही होता है। अब यदि हम फूल रूप शब्द के पंखुड़ियाँ रूप वर्णों के मध्यान्तरालीय स्थानरूप विराम को घटा बढ़ा दें तो सारे पुष्परूप शब्द के आकार में इतना अन्तर आ जायेगा कि यह कहना और मानना कठिन हो जावेगा कि यह वही फूल रूप शब्द है, हम उसे उसका रूपान्तर कहने को बाध्य हो जावेंगे। वर्णों के मध्यान्तराल के विराम की सीमा सर्वैयाकरणीय स्थिति माध्यमिक भाषा में निर्धारित रहते हुए भी अधिकांश उसका परिपालन नहीं कर सकते। अतः यह विराम की अनैकान्तिक दुर्व्यवस्था, सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्यसत्तात्मकीय विभिन्नता शब्दों और इसी प्रकार वाक्यों में भी रूपान्तरता की प्रस्ताविका बनती चली जाती है, नित नया रूप धारण करके बाहर निकलती रहती है। विराम में घटी बढ़ी होने से वर्णों की मात्रा भार घात अवधारण आदि पुरानी व्यवस्थायें आपस में खींचातानी सी करते हैं; जो जीता उसकी भैंस या उसका प्रभुत्व, अन्य उसके आसरे में लटके से दिखलाई पड़ने लगते हैं। अनाज के नाज बनने में 'अ' के उच्चारण के दो विरामीय रेखाओं का क्षेत्रफल उत्तरोत्तर घटते घटते लुप्त ही हो गया। अद्याद्य के द्य का ज बनने में भी यह विरामीय प्रतिबन्ध कम महत्व न रखे है, द्य का द् य् पृथक् करण, य् का ज करण, तब द् का ज् करण, तदनन्तर ज्ज करण द्वारा यह ज् में शेष रहा है, प्रत्येक स्थान में विराम की घटती बढ़ती आगे पीछे प्रभाव डालती स्वयं प्रतिभासित हो रही है। विराम में घटती बढ़ती न हो तो इन प्रक्रियाओं की क्रीडाभूमि ही उत्पन्न न हो, ये खेल कैसे करें। फलतः विराम, वर्णों या वर्ण वैचित्र्य की दिव्य क्रीड़ा स्थली सी है। विराम का कुछ विवेचन स्फोटवाद के सम्बन्ध में शाब्द बोधप्रकरण में भी दिया गया है। पुरानी भाषा कागजी फूलों की माला के समान है तो जीवित भाषा नूतन पुष्पों की नवीन हार सदृश ससुगन्ध।

श्वास संचार ही मानव जीवन साक्षात्साक्षी है। वाणी के उल्लास विलास में भी श्वाससंचार सर्वप्रथम तत्व है। ध्वनियाँ श्वास संचार की ही विभिन्न विकृतियाँ हैं। इन विकृतियों का आधार श्वासों का संचालित संगठित वेग एक ओर से दूसरी ओर से बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्नों की क्रमिक, संश्लिष्ट और

सम्बद्ध संवृत्तता, विवृत्तता, इष्ट द्विवृत्तता, विवृत्ततरता, इषत्स्पृष्टता, घृष्टस्पृष्टता और स्पृष्टता हैं जिनसे श्वास संचार तत्तदनुकूल ध्वनियों का स्पष्ट उच्चारण करने में समर्थ होता है । श्वास संचार भी दो प्रकार का होता है; आभ्यन्तर या कोष्ठीय, और बाह्य श्वास संचार या बाहर से भीतर की ओर खींचने वाला श्वास जैसे चुम्मा लेने पुचकारने, घोड़ों या बैलों को सहलाने में चख-चख की ध्वनि का निर्माण किया जाता है । इस श्वास संचार को 'चुस्य' नाम दिया जा चुका है । जब हम किसी वाक्य या शब्द का उच्चारण करते हैं तो वह श्वास संचार संख्या के विरामों में स्वयं विभक्त सा होकर उच्चरित होते प्रतीत ही नहीं होता वरन् होता ही है । इस प्रकार प्रत्येक वाक्य या शब्द श्वाससंचारीय संख्या में सदा स्वयं बटा रहता है । इस श्वाससंचारीय प्रत्येक भाग का नाम पद कहा जाता है । शब्द एक पद का, दो का, तीन का और कहीं अधिक का भी हो सकता है । ऐसे ही वाक्य भी एक पद का दो का या अधिकों का होता ही है । अतः शब्द और वाक्य श्वास वेगों पर निर्भर रहते हैं । प्रातिशाख्यकारों ने इस पद को 'अक्षर' नाम से पुकार कर इसकी व्याख्या दी है जिसका विवेचन द्वितीय भाग के स्वर व्याख्या के अन्त में दिया जा चुका है । इस ग्रन्थ में अक्षर शब्द फोनीम के लिए प्रयुक्त किया गया है । अतः यहाँ इसे पद नाम से ही कहेंगे । वर्तमान ध्वनितत्त्व वेत्ताओं में से इस 'अक्षर' या पद का ज्ञान सबसे पहिले आर० सी० स्टेटसन और हेनरी स्वीट ने किया । उन्होंने यह अनुभव किया कि प्रत्येक पद प्रत्येक श्वास वेग से उच्चरित होता है । अतः शब्द वाक्य के उच्चारण में जितने श्वास (+ प्रश्वास) लगते हैं उसमें उतने ही पद भी होते हैं । पदों की आत्मा स्वर हैं, अन्तःस्थ यदि अन्त में आते हैं तो वे भी स्वरानुरूप स्वरूप लेकर पद की आत्मा बन जाते हैं । व्यञ्जन और अनुस्वार पूर्ववर्ती पर स्वर के परवर्ती, पूर्व स्वर के अङ्ग होते हैं, ये बातें भी पहिले ही (वहीं) बतलाई जा चुकी हैं । इनके पाँच प्रकार के लघु गुरु स्वरूपों और ह्रस्व दीर्घ रूपों की वैज्ञानिक व्याख्या वहीं दे दी जा चुकी है । अधिकांश पाश्चात्यों और हमारे नाना शास्त्रकारों ने स्फोट के रहस्य को भली भाँति न समझ कर, वर्णपद शब्द स्फोट मानकर, पद को भी अर्थ प्रत्यायक मानने की जो हिमालयीय महा भूल की है उसका पूरा निराकरण अर्थ बोध, शाब्दबोध आदि प्रकरण में विस्तार पूर्वक किया जा चुका है । जिस प्रकार वाक्य अखण्ड है उसी प्रकार उससे संकेतित अर्थ भी अखण्ड है । जब अर्थ अखण्ड है तो उसकी अनुभूति वर्णपद शब्दों के खण्डों से कैसे होगी यह तो महान् अनर्थकारी प्रस्ताव है 'राम आया' का अर्थ 'र नामक 'आम' आया' भी होने लगेगा । हाँ हमारी सब क्रियायें बिना क्रम लिए अनुभूत नहीं होतीं, अतः वाक्य की

क्रामिक ध्वनि से जब स्फोट का स्फोटण होता है तो उसमें अर्थ युगपद् एकदम प्रतिबिम्बित हो जाता है, पर हमें वह क्रमिक अनुभूति से प्रतीति कराता है, यह क्रमिकता, अर्थ की खण्डता को नहीं, वरन् उसकी अखण्डता को ही क्रमशः दिखलाती है, यहाँ वर्णपद शब्दों को समझने की फुरसत और उनके एक-एक के स्फोट अलग-अलग हैं कहाँ? जिनमें अर्थ भी तो कहीं प्रतिबिम्बित होवे। अतः इन सब लोगों की तर्कनायें सचमुच में अवैज्ञानिकता के साथ-साथ कुछ-कुछ क्या, बहुत कुछ या सब कुछ छिछलेपन की पारदर्शिणी प्रतिमूर्तियाँ हैं। वाक्य ही अर्थ संकेतन की पूर्णतम और न्यूनतम दोनों इकाई है। जब हम किसी वाक्य के किसी वर्णपदशब्द की पृथक् व्याख्या में जुटते हैं तो वहाँ पर हम वाक्य रूप वृक्ष के तने से एक नवीन शाखा सी प्रस्फुटित करते हैं। एक परिच्छेद या ग्रन्थ इस प्रकार मुख्य भाव वाले वाक्य रूप वृक्ष के तने पर प्रस्फुटित नाना रूपिणी शाखा प्रशाखाओं का लताप्रतानों ग्रथित जटिल या महामायावी महाविद्या का भण्डार होता है। ज्ञान सदा वाक्य ही से होता है, वाक्य चाहे एक वर्णीय हो, एकाक्षरीय हो या एक शब्दीय या नाना शब्दीय, इसे कोई मना नहीं कर सकता।

किसी भी भाषा की उचित व्याख्या के लिए उसके (अक्षरीय) पदों की इस प्रकार की परीक्षा करना आवश्यक होता है कि उसके पदों में स्वर और व्यञ्जनों का किस प्रकार का संयोग मिलता है। इस ग्रन्थ की आधारीकृत भाषा कुमाउनी में निम्नलिखित प्रकार के स्वर व्यञ्जन संयोगों से (अक्षरीय) पदों का निर्माण पाया जाता है। स्व=स्वर, व्य=व्यंजन।

(१) स्व. (२) स्व.स्व. (३) स्वस्वव्य (४) स्वव्य (५) स्व व्य स्व (६) व्य (७) व्य स्व (८) व्य स्व स्व (९) व्य स्व स्व व्य (१०) व्य स्व व्य (११) व्य स्व व्य व्य (१२) स्व व्य व्य (१३) व्य व्य स्व (१४) व्य व्य स्व व्य (१५) व्य व्य स्व व्य व्य (१६) व्य स्व व्य स्व (१७) स्व व्य स्व व्य (१८) व्य स्व व्य स्व व्य (१९) व्य व्य स्व व्य स्व

उदाहरण—(अंकों के क्रम से समझते जावें)—(१) अ ('औ' ह्रस्व सा उच्चारण) (आओ और आश्चर्य प्रगट करना) अँ, हुँ (सानुनासिक) ('हाँ' अर्थ में); आ· (उदात्त) (आइए); आँ (सानुनासिक) (उलाहना जताने में); ई (सम्बोधन); उ (वह)। (२) अँहँ (मुख बन्द कर उच्चरित नासिका, अर्थ 'ना' आ·उ (आइये, आदर में), आ·इ (आये) और आश्चर्य सूचक उदात्त में)। (३) अउक् (ऊँचा, ऊँचे से अस्पृश्य रूप से), ओउग् (सागफल की डाली का उपहार, और ऐसे उपहार का त्योहार सिंहे सूर्य संक्रान्ति के दिन)। (४) आँ·ख (आँख्), आःज, ओःस; अेःल्

(अभी इस समय), इज् (माता सम्बोधन में 'इजाः') । (५) अरेः ('अ' लघुतर-खेद प्रकाशन) और आश्चर्य द्योतक); आँशु (आँसू) अहाः आहा आःहाः (वाह कितना अच्छा है); आःहो (त्रस्त हक्का बक्का हो रोना धोना) (धोना=धुनना) । (६) हुँ (मुख बन्द कर नासिका स्वर में ह का उच्चारण), ह्रस्व में 'हाँ', उदात्त में 'आश्चर्य' दीर्घ (गम्भीर) गुरु में 'अच्छा ऐसी बात है'; सः (सचेत करने में) वास्तव में, यह सकारीय अ ध्वनि की दीर्घता है, इसीप्रकार इकारीय स् ध्वनि भी की जाती है इकारीय स ध्वनि बच्चों को पेशाब कराने में प्रायः प्रयुक्त होती है, उकारीय अकारीय के समान अर्थ में, इकारीय का भी इस अर्थ में संकेत करते हैं जब कि वह ह्रस्व ही हो । (७) तु· (तू) मि· (मैं) तु (वह) मैं· (माँ) भैं· (भाई) । (होइ हों (हाँ); खा·इ (छोटी तलैया); नेइ (निगलना, अथने की डोरी), (९) हउक (हल्का) बाइग (पौंढा); खउक् (सरपट निकलना); (१०) बाण (आग, बाँटो); भा·ण (बर्तन) भाःत, खा·ण्ण् (खड्ड); (११) वर्त (व्रत) नौःर्त (नवरात्र) कर्त (ग्वाल का टुकड़ा) चर्च (चर्चा); (१२) अर्त (रात में पेशाब आदि जाने में डर में साथ) उँडँत (रात जगने का खुमार); (१३) ख्यो (खेप), द्यो (वर्षा); ग्यो (गया); स्यो (सेव); न्यो (न्याय); (१४) स्याःश् (नासमझ); स्यश् (मेल से काम करना); दैश् (देश); कश् (केले आदि की एक लम्बी वाली फली); क्याड़ (पतली टहनी की सूखी लकड़ी) ल्वाःर (लोहार); (१५) स्वट्ट (बहुत मोटा); स्यैःट् (चिह्न) बीते समय की गतिविधियाँ जो कुण्डली के विचार से ठीक बैठेंगे) । ख्या·ट्ट (खटक की जोर की ध्वनि); च्याट्ट (तत्काल) ; (१६) चेलि (बेटी); खौँ·शि (खांसी); भुलि (छोटा भाई); दिदि (बड़ी बहिन); हाँ· हाँः (मना करना); (१७) अकर् (महँगा); उखव (ओखली); अघिन (आगे पहिले अगले); (१८) नकट (नकटा); दगाड़ (साथ); बाकर (बकरी); (१९) ब्वाःरि (बहू); फाःड़ि (दी हुई वस्तु को देने वाले के पास पटक कर छोड़ नाराज हो चले जाने का कर्म); त्याःड़ि (तेवाड़ी त्रिपाठी) ।

जिन शब्दों में एक से अधिक पद हैं उनमें भी उक्त प्रकार के ही स्वर-व्यञ्जन संयोगों की संसृष्टि है, जैसे—व्य स्व व्य/स्व व्य—निमसुँहुँ (बहुत अनेकों); व्य स्व व्य/स्व स्व स्व—करैःइओं (कराया हुआ), नवैं·इओं (नहलाया हुआ), खवैं·इओं (खिलाया हुआ) । अन्तिम तीन स्वरों का साथ मिलना कुमाउनी की अपनी विशिष्टता है । ऐसे पद, एकपदीय शब्दों में एकाध ही मिलते हैं जैसे 'ऐं·इओं' (आया हुआ) । व्य स्व व्य/व्य स्व व्य स्व—

वङ्‌नरिओं (मुड़कर टेढ़ी हुई लकड़ी) । व्य स्व व्य स्व व्य स्व—खिचैंःन (चिढ़ाने के लिए बिगाड़ी मुखाकृति दिखाना) । क्रिया के रूप कभी-कभी तीन पदों से निर्मित होते हैं । व्य स्व/व्य स्व/व्य स्व व्य—कूँड़ो छिअ (कह रहा था) । व्य स्व/व्य स्व/व्य स्व स्व—खांःड़ोःछिआ ? (खा रहे थे क्या ?) । स्व/व्य स्व/व्य स्व स्व—ऊँड़ोछिया ? (आ रहे थे क्या) । आदि । जो उदाहरण यहां पर दिये गये हैं वे स्वर सन्धियों या स्वरसंसर्गता की रक्षा के भी उदाहरण हैं; अधिक स्पष्टता के लिए कुछ उदाहरण लीजिए—व्य स्व/स्व स्व/स्वस्व—कउआइओं (कवाइयों पूरक व य के योग से), नउआइओं (नवायों) कहलाया नहलाया हुआ । ऐसे उदाहरण सभी क्रियाओं के मिल जाते हैं । वेदों में तितउ, प्रउति, प्रउगं रूप मिलते हैं; प्राकृतों में ऐसे रूपों की भरमार हो गई थी, कालान्तर में स्वरान्तरराल में य् व् पूरक जोड़े गये , वे भी कुछ दिनों में इ उ में परिणत हो गये; फिर तीसरी बार स्वरसंसर्गता उपस्थित हुई। अपभ्रंश या नवीन भाषाओं आदिम काल में तीसरी बार की स्वर संसर्गता पुनः गुण वृद्धि रूपों तथा नवीन स्वरों ऍ ऑ औ की सृष्टि करने में सफल हुई जैसे भ्राता, भाता, भाय्या भाया, भाय, भाइ, भैं, वचन, वअन, वयन, वइन, बैन आदि में । बिलकुल अर्वाचीन नवीन भाषाओं में पुनः स्वरसंसर्गता की धुआधार की सृष्टि हो रही है । अब धीरे-धीरे उनके अन्तराल में वही पुरानी प्रथा (य् व् पूरकों को भरने की) स्वयं अपने आप स्थान पाने लग रही है ।

(१६) पदों और शब्दों में स्वर और घात

वर्ण वैचित्र्य के सच्चे निर्णायक और सच्ची अनुभूति कारक तत्व मुख्यतः दो हैं, स्वर और घात । स्वर दो प्रकार का होता है (१) (क) वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ, ऊँची ध्वनि, मध्यम ध्वनि, साधारण ध्वनि, श्वासीय ध्वनि; (ख) कठोर ध्वनि, कोमल ध्वनि, मीठी ध्वनि, कड़वी ध्वनि, औदासीन्य की ध्वनि, हाय भरी ध्वनि, दया भरी ध्वनि, निष्ठुर ध्वनि, घृणा ध्वनि आदि । (२) इन ध्वनियों में भी उतार चढ़ाव होता है, उतार चढ़ाव किसी अक्षर से होता है; इस ध्वनि के इस उतार चढ़ाव के अक्षरों का बोध ही प्रायः स्वर बोध माना जाता है, पर यह बोध प्रथम पक्ष के ज्ञान के बिना सबके लिए अबोध बना रहता है, भाषा या वाक्य के बोध के लिए उक्त दोनों या तीनों कोटियों के ज्ञान की बराबर आवश्यकता है। उक्त ध्वनियों में गतियों का भी तकाजा रहता है, प्रत्येक प्रकार की ध्वनि एक विशेष प्रकार की गति की भी अपेक्षा अनिवार्य रूप से रखती है ।· अतः स्वर ज्ञान एक बड़ी जटिल समस्या है । इसका शास्त्रीय विवेचन तो वैदिक स्वर वर्णनावसर पर दे दिया

जा चुका है, यहाँ पर वर्तमान भाषाओं में उसके प्रयोग की व्याख्या की जावेगी।

घात—पहिले घात पर विचार कर लें और यह जान लें कि स्वर और घात में क्या अन्तर है? स्वर को अर्द्धेन्दु के तारों की झंकारों की संख्याओं से नापा या मापा जाता है। ये झंकार नाना गेय ध्वनियों को जिनको 'ऊँचा आदि, कठोर आदि' नामों से ऊपर बतलाया गया है, जन्म देते हैं। इनमें उत्थान पतन होता है। एक ही शब्द या वाक्य इन ध्वनि भेदों या उतार चढ़ावों से भिन्न-भिन्न अर्थों का संकेतक बन जाता है। उदाहरण आगे दिए हैं। घात में ध्वनि में गाढ़ता तीव्रता या ध्वन्याधिक्य रहता है, इसमें झंकारों की प्रवाही अव्यवृत्तों का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। इसके निर्माण में उदर (फेफड़े), प्राणवायु, कण्ठ नली, अर्द्धेन्दु और ध्वनिकोष्ठ आदि बाह्य प्रयत्नीय मर्मों तथा आभ्यन्तर प्रयत्नीय कण्ठादि स्थानों के मर्मों में या स्नायुओं में अधिक वेग और शक्ति का दबाव या प्रभाव डालना या लगाना पड़ता है। जैसे श्वास को अधिक वेग शक्ति से निकालना, अर्द्धेन्दु के द्वार के तारों को अधिक ध्वनि के लिए अधिक कठोर कर चिपका कर, सटाकर रखने का यत्न करना, मौखिक कण्ठ, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, दन्तस्पर्श आदि के स्नायुओं को अधिक तीव्र वेग से प्रयोग में लाना जिनसे ध्वनि में स्वयं वेग सा गाढत्व सा गाम्भीर्यमय विस्तार सा और तीव्रत्व सा अपने आप उपस्थित होकर वर्ण में अन्य वर्णों से वैचित्र्य की मुहर स्वयं लग जावे। स्वर सामूहिक या वाक्यमय शरीरी होकर चढ़ाव उतार के वर्णों को उदात्त स्वरित अनुदात्त के नाम देता है, तो घात वाक्य में स्थित उन शब्दों के वर्णों में ध्वन्याधिक्य का सूचक होता है जिनको वक्ता प्रमुखता देना चाहता है। स्वर से शब्द या वाक्य की एक ही आनुपूर्वी भिन्नार्थ संकेतकारक होती है, पर घात में यह बात नहीं हो सकती, घात वाला शब्द प्रमुखता मात्र देता है अर्थान्तर संकेत कारिता की शक्ति इसमें नहीं होती। उदाहरण—पहिले 'घात' के उदाहरण देखिए।

कुमाउनी और हिन्दी दोनों में घात तीन प्रकार का मिलता है (१) प्राथमिक (अत्युच्च) (२) माध्यमिक (उच्च) (३) साधारण (धीमा)। प्रथम गम्भीर अवधारण में, विरोध और वैपरीत्य प्रदर्शन में; द्वितीय प्रायः प्रत्येक शब्द के एक पद में; तृतीय प्रायः मुहावरों कहावतों के वाक्यांशों या लम्बे शब्दों या समस्त (समास वाले) शब्दों के अन्तिम भाग के आरम्भ में मिलता है। यही शैली अंग्रेजी और अन्य जर्मानिक भाषाओं में भी प्रचलित मिलती है। प्राथमिक का चिह्न शब्द के पहिले [॥] माध्यमिक का [।] दोनों ऊपर पंक्ति के पास तथा तृतीय का [।] शब्द के पहिले पाँव के पास

लगाया जायेगा। कु०–[ˌयो·ˈˈमे·रि । कलम् ˌछ्/] अन्तिम मात्रा / = (अ=उ सम)। हिन्दी [ˌयह ˈˈमेरी । ˈकलम ˌहै] यदि इस वाक्य में 'मे·रि और कलम्' के स्थान बदल भी दिए जायँ तो भी घात में कोई अन्तर नहीं रहेगा। कु० [ˌयौ· ˈˈमील ˈजे·कि ˈकरौ,? ˌयौ ˈˈतैःकि ˈकरतूत ˌछ्/] हिन्दी [ˌये·(यह) ˈˈमैंःने ˈथोड़ी ˌकियाः ˌये· (यह) ˌउस्ˈˈकी ˈकरˌतूत् है·] कु० [मि ˈपाँ·ङि ˈलौँःङँ ˌजाँःङँ·युँ]=हिन्दी [मैं ˈपाःनीः ˌले·ने·ˈजाः रहाः हूँ] यहाँ कु० और हिन्दी में लौङँ (लेने) और 'जा' के घातों में अन्तर आ गया है। एक में 'लेने' को अधिक प्रमुखता मिली है दूसरे में 'जा' को; प्रयोग की बात है। कु० [ˈहिटौ· ? न्है·जा·नु ˈघर]=हिन्दी [ˈचलो ! ˈघर ˌचले चलें] (दोनों समान हैं)। कु० [ˈभा·ल् ˌमैंःसो ! भल्ˈ ˈमैंःसिल् ˌकाम् लिऔ]=हिन्दी [ˈभद्र् ˌलोःगोः ! भल् ˈमंसी से· ˌकाम लो०]। कु० [ˌतसि ˈकि ˌवङ्तरि ˌरौःछा· ?] = हिन्दी [इस ˌप्रकार ˈक्यों टेढ़े ˌबने हो ?]। कु० [त्यर ˌवङ्-तरि ˈपन् निका·लि् द्यौंःलु] = हिन्दी [तेरा ˈटेढ़ाˌपन् निकाल् दूँगा·] इत्यादि।

घात का प्रभाव—घात के दो प्रकार के स्पष्ट प्रभाव देखने में आते हैं (१) जिन शब्दों या पदों में घात नहीं होता ऐसे निर्घात पदों के स्वर और व्यञ्जन दोनों का उच्चारण बड़ा शिथिल पड़ जाता है, वे प्रायः ह्रस्व या लघु से होते हैं, उच्चारण स्थानों और प्रयत्नों में इतनी अधिक शिथिलता बरती जाती है कि वे अश्रव्य या अघोष या अस्फुट से लगते हैं, स्वरों के उच्चारण में जिह्वा की स्थिति मध्यवर्ती सी नाममात्र संकेतजनक का काम करती है। ऐसे उच्चारणों की स्थिति वाक्य प्रतिवाक्य में विभिन्न भी होती है तथा भौगोलिक और सामाजिक स्थितियों में भी परिवर्तनों का परिचय देती है। (२) एक ही शब्द सघात और निर्घात की स्थितियों में उच्चारण की पृथक् भिन्नता रखता है। कु० और हिन्दी में जहाँ पदान्त में ह्रस्व स्वर या व्यञ्जन हैं वहाँ उनमें घात न रहने के कारण उनका उच्चारण इतना शिथिल होता है कि वे अभ्यस्त श्रावक को ही सुनाई पड़ेंगे; औरों को नहीं; वह भी सन्दर्भ से उनका अनुगमन कर पाता है; नहीं तो अभ्यस्त श्रावकता भी अन्धे की लकड़ी सी ही टटोलती फिरती रह जाती है। उदाहरण—अˌनाःजः अˌनाःर में प्रथम 'अ' घात हीन होने से इतनी धीमी ध्वनि में उच्चरित होता है कि इसके अस्तित्व का अनुगमन आगे के सन्दर्भीय 'नाज नार' से ही हो पाता है, कुमा० में सचमुच में प्रथम को 'नाःज' ही बोलने लग गये हैं। इसके विपरीत ˌअतर (इत्र या भंग पीने की) ˈअलछुँङिं में 'अ' घातीय होने से पूरा उच्चरित होता है। इसी प्रकार चˌमार चˌमेलि के च के घातहीन अ का उच्चारण ˌचमक ˌचतुर के घातीय अ से बिलकुल शिथिल मन्द है। कुमा० और हिन्दी ने पदान्त के सभी 'अ' को

इसी घातहीनता से दुर्बल बना बनाकर अब खो ही दिया है राःम् (राम) काःम् (काम) आदि । इस घातहीनता ने वाक्यान्तर्गत और शब्दान्तर्गत भी पूरा प्रभाव डाल रखा है जैसे राःम्चन्द्र (रामचन्द्र) भग्वान् (भगवान्) भग्वति (भगवती) । देखिए अन्त के उदाहरण में घातहीनता ने दीर्घ ई का भी ह्रस्व इ कर दिया है जो अब अघोषता की ओर झुक रहा है; कुछ दिनों में लुप्त भी हो जावेगा । इ,ग्यारह (ग्यारह) बोलने वाले इ का अघोष सा उच्चारण करते हैं । कुमा० के पदान्त के प्रायः सब ह्रस्व स्वर अघोष से, दीर्घ ह्रस्व से, व्यञ्जन अस्फुट से उच्चरित होते हैं, यह पिछले परिच्छेद में दिये वाक्यों में 'शून्य' से अंकित पदों से पता चल जावेगा । वहाँ एक ही शब्द में घात अघात से और प्राथमिक, माध्यमिक, साधारण भेद से भी एक ही वर्ण विभिन्न उच्चारणों का प्रतीक बनता है । घात, वर्ण वैचित्र्य का पिता सा है । जिस वर्ण में घात होता है उसी से ध्वनि की तीव्रता का आरम्भ होता है, बीच में पड़ा तो आगे पीछे के वर्ण शिथिल होने लगते हैं । परन्तु वहीं पदान्त ह्रस्व स्वर जब घातयुक्त होता है तो वह पूर्णरूपेण उच्चरित होता है । यह बात तब स्पष्टता पाती है जब कहने वाले के वाक्य को सुनने वाला पुष्टि के लिए दुहराता है, वक्ता का वाक्य है ['ब्यइश्ु ,ग्यो छ्/]=['कल ,गया है] श्रोता समर्थन में बोलता है ['ब्यइअ ग्यो छ॰]=['कल गया ,है] यहाँ दोनों वाक्यों के अन्त में पूर्ण श्रव्यता आ गई है । यहाँ तक कि अन्त के / 'उ' सम 'अ' का 'अ'सा उच्चारण भी पुनः हो गया है । हिन्दी में हकारता पूर्ण श्रव्य हो गई है । यह सब घात का ही जादू है । वैदिक काल से अब तक हमारी भाषाओं में जो निरन्तर परिवर्तन होते चले आ रहे हैं, होते जा रहे हैं और होते जायेंगे, उन सबका कारण यही घात या घात का स्थान परिवर्तन मुख्यतः है, अन्य कारण तो इसके सहायक से हैं ।

स्वर व्याख्या—प्राचीन आचार्यों की दी हुई स्वर की व्याख्या दी जा चुकी है (भाग २) । अब उसका आधुनिक उपयोग देखना शेष है । स्वरवाद केवल वैदिक मन्त्रों की अपनी अकेली सम्पत्ति नहीं है । यह सभी भाषाओं की समान सम्पत्ति है । जापानी, चीनी भाषा बेचारियाँ तो स्वर से ही शब्दार्थ संकेतकारिता में भेद लाती है उनमें स्वर का अन्य भाषाओं से बहुत अधिक महत्त्व है । वैसे हमारा शब्द या वाक्य भण्डार इतना सीमित है कि हम बिना स्वर भेद के अपनी नाना प्रकार की भावनाओं को एक ही पदवर्णशब्दानुपूर्वी से व्यक्त करने में बिलकुल असमर्थ हो जाते हैं । ऐसे स्थलों में स्वर ही हमारी सहायता करता है । उदाहरण के लिए [देःदो] एक वाक्य को ले लीजिए ।

कुमा० में इसका रूप 'दीदे:' होगा। इस वाक्य का प्रयोग नाना प्रकार से होता है, प्रत्येक प्रयोग में 'दे देना' अर्थ के साथ साथ कुछ अन्य रस मिश्रित रहता है जिससे प्रत्येक अवस्था में इस संकेतित,अर्थ के स्वाद में आकाश पाताल का अन्तर आ जाता है। इस अन्तर को लाने का उत्तरदायी उसका स्वर ही एक है। जैसे दो जने एक वस्तु को अपनाने में छीनाझपटी करते हैं, बली पा जाता है, निर्बल अधिकारी है। तब तीसरा लाल आँखों से आग बरसाते और वज्र सा गिराते भड़क उठता है [दे दो] [दीः दे] यह पहली बार 'स्वरित' में बहुत ऊँचे से बहुत नीचे गिरती सी ध्वनि में होगा, द्वितीय बार न मानने पर वही पुनः अनुदात्त से उदात्तता में नीचे से ऊपर उठती हुई ध्वनि में या स्वर में होगा। पहिली बार के स्वर में अन्यायसूचन की तर्जना, दण्ड की गर्जना और 'ऐसा पुन न करने' की वर्जना भरी है। द्वितीय में दण्ड सामीप्य की चेतावनी के साथ-साथ आज्ञोल्लंघन के अपराध से द्विगुणित-त्रिगुणित फल देने की तीव्रता उबल रही है। इसी वाक्य को [दी दे इजाः !] [देः दो मां] कहकर बालक मां से रार करता है (१) तो क्या इस बालक के स्वर और पूर्वोक्त स्वर एक से हो भी सकते हैं ? (२) क्या बालक के वाक्य के स्वर से वही अर्थ टपक रहा है, जो पूर्व उदाहरण में मिलता है ? दोनों का उत्तर नकारात्मक ही नहीं अपितु एक दूसरे से एकदम प्रतिकूल दिशा में प्रवाहित भाव और स्वर रखते हैं। इसमें भी तो स्वर तो, हठ की मात्रा के अनुसार, अल्पमात्रा में उतार वाला स्वरित या अनुदात्त होगा, अधिक मात्रा में चढ़ाव वाला उदात्त। इसमें वात्सल्य की कोमलता और सरसता के साथ-साथ हठ की मात्रानुरूप तनाव का परिचायक, सफलता का रंग जमाये स्वर है। यह ध्वनि निष्फल होती ही नहीं। इसी वाक्य को एक मित्र, मित्र से या प्रेमी, प्रेमी से कहेगा तो स्वर का रंग अत्यन्त आकर्षणपूर्ण होकर सबके कर्ण-पुटों को अमृत की लोलुपता के समान बरबस खींचे ले जायेगा। उतार-चढ़ाव यहां भी मात्रा भार पर ही निर्भर करेगा। अर्थ संकेतकारिता में अभिन्नता, एकात्म्यता, विश्वासपात्रता के साथ-साथ वस्तु की अविभाज्यभोक्तृतोपालम्भता भी सम्मिलित रहेंगी। पुनः इसी वाक्य को, बड़ा भक्त या कई दिन का भूखा-प्यासा भिखमंगा या लाचार, पहिली बार स्वरित या अनुदात्त में (उतार के स्वर में) और दूसरी बार चढ़ाव के उदात्तान्त स्वर में कहकर मूर्च्छित हो गिर पड़े तो क्या इसका स्वर पूर्वोक्त किसी के स्वर की समता की क्षमता रख भी सकता है ? क्या यह स्वर उसकी करुणापूर्ण भक्ति को और दुःख-दर्द भरी पूरी कहानी को दो अक्षरों में ही बिजली की कौंध की तरह, एकदम प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है ? यह सब क्या है स्वर का जादू ! इसी प्रकार प्रत्येक

वाक्य स्वर भेद से अर्थ-संकेत-भेदक हो जाता है। अतः उचितार्थ प्रकाशन के लिए उचित स्वर के प्रयोग की महती आवश्यकता रहती है। अनुनय-विनयादि में आज्ञा का, स्नेह में वैर का, क्रोध में हास्य का, हास्य में करुणा का, शृङ्गार में वीभत्स का या इन सबके क्रमशः विपरीत स्वर के प्रयोग में, वक्ता कभी उपहास का, कभी सन्देह का, कभी भय या घृणा उपेक्षा या दण्ड या डाँट-फटकार प्रभृति कई अनर्थकारी परिणामों का भागी बन बैठता है। अतः स्वर के प्रयोग में बड़ी सावधानी बरतने की शिक्षा लेनी चाहिए।

स्वर के उत्थान, पतन या उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के पहिचान का सबसे सरल उपाय प्रश्नवाचक वाक्यों के स्वरों को भली भाँति सुन कर गुन लेना है। दूसरा उपाय वाक्यों की शैली का ज्ञान है। वाक्य में जो शब्द प्रधान है यदि वह अन्त में आता है तो वाक्य स्वयं अन्तोदात्त होगा। अंग्रेजी या पाश्चात्य भाषाओं में कर्म अन्त में आता है, कर्म प्रायः प्रधान होता है। अतः उनके वाक्य प्रायः अन्तोदात्त होते हैं। कुमा० या हिन्दी या भारतीय भाषाओं में वाक्यान्त क्रिया में होता है, यदि क्रिया ही वाक्य में प्रधान निकल पड़ी तो अन्तोदात्त होगा नहीं तो प्रायः अनुदात्तान्त ही वाक्य होते हैं। पर चढ़ाव या उदात्तता को प्रधानता देने के लिए कुछ अवस्थाओं में कुमा० और हिन्दी में वाक्यों को कर्मान्त बोलने की शैली अपनाई जाती है जैसे [मैं॰ जाँ॰छु घर, तु जा॰ बँड़ँ] [मैं जाता हूँ घर, तू जा बन्]। यहां कर्म प्रधान कर्मान्त वाक्य होने से वाक्य अन्तोदात्त हो गये हैं। प्रश्नवाचक वाक्य कई प्रकार के होते हैं। प्रश्नवाचक सर्वनाम का प्रयोग (१) वाक्य के आदि में, (२) मध्य में, (३) अन्त में। बिना प्रश्नवाचक सर्वनाम के कर्ता का प्रयोग (४) आदि में, (५) अन्त में। बिना प्रश्नवाचक और कर्ता के केवल (६) क्रिया ही से प्रश्न का स्वर निकालना। बिना प्रश्न के वाक्य की श्रुति, शुद्धि, पुष्टि विषयक पुनरुक्ति का (७) वाक्य। संयुक्त या मिश्रित वाक्यों के उत्तरार्द्ध के सर्वनाम और क्रिया पर (८) अवधारण का निक्षेप। (९) वाक्य को देर में समझ कर बिना प्रश्नवाचक सर्वनाम के [यस्] [ऐसा] जोड़ कर 'तो' या 'वह' अन्त में लाकर प्रश्न का स्वर लाने से। [१०] अच्छा, ऐसी आहूतिपूर्वक वाक्यारम्भ कर प्रश्न स्वरान्त बोलना। प्रश्न का उत्तर (११) प्रश्न में, (१२) पूरक प्रश्न में, (१३) ना में, (१४) हाँ में, आदि-आदि रूपों में प्रस्तावित करना। हमारी दैनिक क्रिया की भाषा उक्त प्रकार की प्रश्नावली की झड़ी की लड़ी-सी गूथती रहती है। इसके अतिरिक्त (१५) सम्बोधन भी प्रश्न रूप होता है, (१६) आश्चर्य, खेद, हर्ष में लिया नाम या सर्वनाम भी। (१७) भय-त्रास आदि की और हर्षप्रेमादि की भी 'आह' पूर्वक, (१८) या एक-

पदी वाक्य के नाम या सर्वनाम का उच्चारण भी प्रश्नरूप-सा ही प्रतीत होता है। अब इनके क्रम से उदाहरण लीजिए।

१—[के तुम् जाँःडौं छा ?] [क्या आप जा रहे हैं ?]; २—[तुम् के जाँ·डौ ँ छा ?] [आप क्या जा रहे हैं ?]; ३—[तुम् जाःड़ैँछा के ?] [आप जा रहे हैं क्या ?]; ४—[तुम् जाँःड़ौ ँ छा ?] [आप जा रहे हैं ?]; ५—[जाः ड़ौ छा· तुम् ?] [जा रहे हैं आप ?]; ६—[तुम जाँःड़ौ ँ छा ?] [आप जा रहे हैं ?] ७—[तुम् जाःड़ौ ँ छाः ?] [आप जा रहे हैंः ?]। ६ और ७ वाक्य एकसे दिखाई पड़ रहे हैं पर इनके स्वरों में महान् अन्तर है, एक छठा श्रोता का वाक्य है सातवां वक्ता का, श्रोता के प्रश्न में आश्चर्य है, अन्त दीर्घ है। ८—[यों छन् वूँ जनै ँ·ळ् घखौ·] [ये हैं वे जिन्होंने देखा !], [इनै·ँळ् घखो इनै·ँळ् !] [इन्होंःने देखा इन्होंःने !]; ९—[यस् छ्/ः पै·ँ तौ· !] [ऐसा है वो (वह) !]; १०—[ओः ! यो· वाःत छ्/ : !] [अच्छाः ! (या ओः !) ये बाःत है !]; ११—[जा·ड़ै ँः छै कि ?] [जाना ही है क्या ?]; १२, १३—[नि जौःँळौ·त् !] [न जाऊँ तो !]; १४—[हो·इ जौःँळ्, जौःँळ् हो·इ] [हाँ जाऊँगा, जाऊगाँ हाँः !]; १५—[भाः·ऊः· !] [भैः· याः· !] [को· छ्/ः ?] [कौन है ?] [छैः के ?] [हैः कोई ?]; १६, १७—[इजाः· ! बौःज्यूः· ! वाःबूः· !] [मैया रे मैय्या ! बाप् रे बाप् !] इन्हीं को लाड़-प्यार, हर्ष में दूसरी ध्वनि में बोला जावेगा। स्वर का उतार-चढ़ाव वही रहेगा। १८—[च्यलाः· !] [बेटुवा !]; [च्यलाः· ?] [बेटुवाः· ?]; [च्यः लाः !] [बेः टुः वाः !]; [राम ?] [रामः ?] [हैं रामः ओह !!!] आदि उक्त सब वाक्य अन्तोदात्त ही होंगे। स्वर से अर्थान्तर संकेत कारिता भी है।

कुमाउनी में स्वर भेद से शब्दार्थ संकेतकारिता में भी भेद पाया जाता है, पूर्वोक्त भेद तो फिर भी रहेंगे ही। जैसे 'बा·ण्' शब्द को उदात्त में कहेंगे तो 'बाँटना' अर्थ होगा और अनुदात्त में कहेंगे तो 'भाग' अर्थ होता है। ऐसे ही 'फा·ण' शब्द को उदात्त में कहें तो इसका अर्थ फानना, फेंटना होता है। अनुदात्त में कहें तो सोयाबीन आदि को पीस कर पकाया, पतला राव या जौला का अर्थ देगा। 'डा·ण्' का उदात्त में 'दण्ड देना'; अनुदात्त में 'पर्वत की चोटी की रेखा'। 'गा·जि' का उदात्त में वैभव सम्पन्न (गा·जि रौ·छ) और अनुदात्त में 'पशुधन' होता है। 'सा·जि' उदात्त में साक्षी का अर्थ सूचक है, अनुदात्त में इस नाम की 'घास' का।

कुमाउनी और हिन्दी में कुछ वाक्य शैलियाँ ऐसी विद्यमान हैं जो स्वयं अन्तोदात्तता पा जाती हैं। (१) प्रश्नकारक ही अपना उत्तर स्वयं दे, जैसे—

[कैःल्करौ· ? ख्वील√· ?] [किसने किया ? तुमने ?]; (२) आज्ञा में अवधारण वाचक का प्रयोग—[वाँ जा·त√] [वहाँ जाओ तो] या गम्भीर अवधारण—[जा·त√ः·] [जावो (भी) तोः·]। घात के शब्द का स्थान भी वाक्य के स्वर के उतार-चढ़ाव का निर्धारक होता है।

घात की पोल

पाश्चात्य लेखकों को अभी तक भाषा में गुरु-लघु का प्रयोग करना नहीं आया है। वे इन्हें ह्रस्व-दीर्घ के पर्याय-सा ही मानते से आ रहे हैं यद्यपि वे गुरु-लघु में वेगशक्ति के अनुपात का ज्ञान रखते हैं। जिसे ये घात कहते हैं वह है विभिन्न प्रकार की 'गुरुता', जिसमें घात नहीं बतलाते हैं; वह है विभिन्न प्रकार की लघुता। वर्ण की गुरुता-लघुता ह्रस्व में भी हो सकती है, दीर्घ और प्लुत में भी। ये लोग गुरुता दीर्घ की, लघुता ह्रस्व की सम्पत्ति समझ कर भ्रम में पड़े हैं। गुरुता संयोग से, अभिप्राय या अवधारण से या स्वरानुरूपता से आती है, इनके अभाव में जाती रहती है—लघुता बैठ जाती है। इसी लिए हमारे आचार्यों ने केवल गुरु-लघु का विचार किया है। अवधारण वाक्य में होता है, यह प्रगट रहस्य है, इनके विवेचन के बाद 'घात' कोई नई वस्तु नहीं रह जाती। घात के तीन भेद गुरुत्व के तीन भेद हैं (देखिए 'मात्रा और भार' भाग २)। गुरुता-वेग या प्रयत्न और तदनुरूप ध्वनियों से, या दोनों से सम्बन्ध रखती है। वर्ण या अक्षर की लघु-गुरुता, पद पर छा जाती है, पद की शब्द पर, शब्द की लघु-गुरुता तब वाक्य के स्वर सरोवर में छोटी-बड़ी उछलती तरंगों-सी लहराती भासमान होती हैं। लघु-गुरुता का उतार-चढ़ाव अनुदात्त-स्वरित, उदात्त नामों से प्रख्यात होता हुआ वाक्य शैली के प्रवाह के अनुरूप उछालें लेते रहता है। यह सब वर्णवैचित्र्य की ही रासलीला है।

वर्णों का संसर्गीयता से वैचित्र्य

जब कण्ठ्य व्यञ्जन कवर्ग ह के साथ तालव्य स्वर या (अग्रभागीय स्वर) इ ई, ए ऐ आते हैं तो कवर्गीय वर्णों का उच्चारण बाह्य प्रयत्न से आभ्यन्तर प्रयत्न की सीमा की ओर खिसक जाता है। केःल, गैःल, केःश, खेःल कीह्णु, गिण्णु (कृष्ण, गेंद)। पर जब उनके साथ कण्ठ्य स्वर होते हैं तो उनका उच्चारण बाह्य प्रयत्नीय स्थान के पीछे की ओर से होता प्रतीत होता है, कुश् (कुशा), गुड़ (गुड़) और जब इनके साथ माध्यमिक स्थानीय अ आ औ आदि होते हैं तो इनका उच्चारण वास्तविक स्थान से होते प्रतीत होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही वर्ण द्वितीय के संसर्गवश अपने पूरे स्वरूप

को बदल लेता है, पर हमें इन वैचित्र्यों का पता तक नहीं लग पाता। वे इतने सूक्ष्म हैं कि उनकी विभिन्नताओं की रूपरेखा नहीं खींची जा सकती । इतना ही कहा जा सकता है कि उनके उच्चारण में उक्त प्रकार के स्थान प्रयत्नों के सूक्ष्म भेद हैं ही। इससे हम यह तो अवश्य कह सकते हैं कि कुमा० और हिन्दी के कवर्गीय व्यञ्जनों में कुछ अदृश्य तालव्यता के चिह्न भी वर्तमान हैं। इस तालव्यता का दन्त्यों के संसर्ग से पर्दाफास हो जाता है। हमारा चवर्ग घृष्ट प्रयत्नीय है, इसीलिए तन्दुल का चाँ·वोःल, चाँ·वोःव (या चावल) हो गया है अंग्रेजी, फ्रेंच, स्लाविक भाषाओं में दन्त्यों की तालव्यता का बड़ा भारी प्रचार (प्रकोप) है। 'पास्तेउर' को 'पाश्चेरर', 'फोर्त्यून्' को 'फौच्यून्' कहते हैं। यहाँ यह 'च' नहीं है वरन् तालव्यतायुक्त वर्त्स्य त है। संस्कृत के त्य (त्+इ =थ) का प्राकृतों और नवीन भाषाओं में जो च्च बना है वह इसी तालव्यता के प्रभाव से हुआ है 'सच'। मराठी में सम्बन्ध विभक्ति चा चे आदि भी इसी तालव्यता का प्रतिफल है। यह क्र से या त्य से दोनों से सम्भव है, धातु में जो जो कुछ श्रोत माने, तालव्यता ही इसका मुख्य श्रोत है। हिन्दी में तात का चाचा भी इसी तालव्यता का फल है। हाँ, कुमा० में इसी चाचा से 'काका' 'आ' के प्रभाव से बनना इस (च) की कंठता की साक्षात् दुहाई दे रहा है। कई भाषाओं में तवर्ग, पवर्ग, चवर्ग भी कण्ठ्यतायुक्त मिलते हैं; कई कण्ठ्य-तवर्गादि पुनः ओष्ठ्यीय प्रभावयुक्त भी। इन सबका कारण वर्ण संसर्ग मुख्यतः है।

पाश्चात्य भाषाओं में फ़ थ ह्व को छोड़ शेष सोष्मों का नितान्त अभाव सा है, पदादि के क् प् बहुत अल्पोष्मता युक्त हैं, वह भी केवल अंग्रेजी में, पर पदमध्य और पदान्त में ये बिलकुल शुद्ध रहते हैं ['कै ह्दि प्' 'ट ह्ाइयम्']। अतः पाश्चात्य लोग हमारे सोष्म वर्णों का उच्चारण सरलता से नहीं कर पाते। वर्णों के नादीय वर्ण तृतीय चतुर्थ अंग्रेजी में अति दुर्बल हैं, इनकी नादता न तो एकदम आरम्भ होती है न एकदम समाप्त। ये आदि और अन्त में श्वासीय ही रहते हैं। अतः वे घ् ढ् फ् झ् भ् का शुद्ध उच्चारण कर ही नहीं सकते, न ये वर्ण उनकी भाषाओं में मिलते ही हैं। उनके 'ज्बुग्ड्द्' केवल मध्य नादीय हैं। आदि-अन्त में श्वासीय। पर फ्रेंच और जर्मन में ये पूर्ण नादीय हैं। हिन्दी और कुमाउनी में नादीय पूर्ण नादीय है, श्वासीय पूर्ण श्वासीय और शुद्ध हैं, सोष्मों में उनके श्वासीय स्पर्शों की रूपरेखा मध्यवर्ती बलव के नार सम प्रतीत होती है। यूरोपीय भाषाओं के पदान्त के स्वर शिथिल हैं, वे उनके अन्त में फिसलन् की ध्वनि कर बैठते हैं। जिसे विसर्जनीयता न कहकर अघोषपूरकता कह सकते हैं। उनका 'ह' बहुत अल्प घोषीय है,

अधिकांश में श्वासीय-सा है। तालव्यीकृत व्यञ्जन के आगे और पीछे ये पूरकीय ध्वनि (स्वर भक्ति) का प्रयोग करते हैं। हां अघोष के आगे घोषध्वनि आने पर तुरन्त घोषता ले आते हैं। अरबी-फारसी में मूर्द्धन्य 'ण' का और तालव्य ञ का भारत छोड़ सर्वत्र अभाव है। पाश्चात्य भाषाओं में टवर्ग का एकदम अभाव है उनका तवर्ग अधिकांश में वर्त्स्य, कहीं-कहीं दन्तमूलीय (फ्रेंच, जर्मन में) है। हिन्दी और कुमा० में तवर्ग दन्त्य है, टवर्ग वर्त्स्य। अंग्रेजी में व्यञ्जन संयोगों के उच्चारण में प्रथम के स्फोटण के पहले ही, द्वितीय का स्पर्श कर लिया जाता है[1] यह बड़ी विचित्र बात है। हमारी भाषाओं में ऐसी विपरीत प्रणाली न कभी थी, न रही। इतना अवश्य है कि अनुक्रमीय संयोगों में स्फोटण या स्वरभक्ति की आवश्यकता नहीं रहती, व्यतिक्रम के संयोगों में स्वरभक्ति स्वयं आ बैठती है। यह द्वितीय भाग में व्यञ्जन संयोगों की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है। अंग्रेजी में द्विस्वर संयोगों में उत्तरस्थ इ उ का य् व् उच्चारण हो जाता है, सइ 'सेय्' (कहना) पर भारतीय भाषाओं में इनका ऐसा अन्तःस्थीय उच्चारण नहीं होता, खा·इ ना·इ (तलैया, नाऊ)। जहाँ पर प्राकृतीय पूरक य् व् बने हैं उनका य् व् ही उच्चारण मिलता है का·व्, का·इ, सा·व्, सा·इ (कौवा या काला-काली, साला-साली)। हाँ इनका जब शिथिल उच्चारण होता है तो ये इ उ से उच्चरित होते हैं। अतः हमारे यहाँ की विकास प्रणाली सुलटी है, उनके यहाँ उलटी।

पाश्चात्य भाषाओं की अवैज्ञानिक रोमन, अरबी, फारसी लिपियों में कभी-कभी यह भ्रम हो जाता है कि उनके पदों में पदीय स्वर क्या है या कौन है। पदीय ध्वनि या वर्ण प्रायः स्वर होता है, पर उनके यहाँ (आर, एल्, एम् एन) र् ल् म् न् को भी कहीं-कहीं स्वर समान प्रयुक्त किया जाता है। अतः ये ध्वनियाँ भी स्वर की कक्षा में अक्षरीय या पदीय प्रधान ध्वनियाँ मानी जाती हैं, पैटर्न में र् स्वरसम पदीय ध्वनि है। पैट्र्न् में र पदीय नहीं है वरन् न् पदीय स्वरसम है, इसी प्रकार लिट्ल् में अन्तिम ल् स्वरसम पदीय ध्वनि है, सिस्टम् में म् स्वरसम पदीय ध्वनि है। यह उनकी लिपि की अवैज्ञानिक दुर्बलता है। हमारे यहाँ इन वर्णों को स्वरसम उच्चरित नहीं किया जाता, न हमारे यहाँ इनके जैसे ऐसे व्यञ्जन संयोग हैं। इनके व्यञ्जन संयोगो की गड़बड़ का कारण भी लिपि ही है। कुछ लिखते हैं, कुछ बोलते हैं, कहीं मेल नहीं। कुछ लोग उक्त ध्वनियों की स्पष्टता के लिए उन पर घात का

---

१. एक्टर के उच्चारण में क् के स्फोटण के पहिले ही ट का स्पर्श कर लेते हैं।

(गुरुत्व) प्रयोग करते हैं, यह तब भी अच्छा है। अमेरिकन लोग अंग्रेजी के अन्तिम र् का र् ही बोलते हैं। इंगलैंड वालों की तरह र के स्थान में ह्रस्व अ नहीं। कुछ लोग पदीय प्रधान स्वर को गुरुत्व ध्वनि से और उसके साथी द्विस्वरीय स्वर को लघु स्वर में बोलकर पदीय स्वर और अपदीय स्वर का अन्तर कर देते हैं। इस प्रणाली से घात द्वारा पदीय ध्वनि का स्वयं बोध हो जाता है चाहे शब्द में पदीय ध्वनि से दूसरे वर्ण अधिक घोषीय (स् द् ह्) आदि क्यों न हों। जिसको गुरुता से उच्चरित किया जाता है वही वर्ण पदीयध्वनि का संकेतक होता है। यह कठिनाई पाश्चात्य भाषाओं में लिपि की दुर्बलता से है। पाश्चात्यों के पदों का निर्णायक उच्चारण है, लिपि उसके लिए लंगड़ी है।

वर्णों की स्थानीय परीक्षा

[अ] निम्नलिखित उदाहरणों से विदित होता है कि स्थान और विधि भेद से कुमा० में सात प्रकार का [अ] मिलता है। (१) जब पदादि के [अ] के आगे दीर्घ स्वर मिलता है तो प्रथम [अ] बहुत छोटा रहता है, इसके अभाव में आगे ह्रस्व स्वर आता है तो यह [अ] बड़ा और ऊँचा [औ] की रेखा के आस पास रहता है; इसका दीर्घ भी होता है। जब यह [अ] र् के साथ पदान्तराल में आता है तो यह तिरछे ओठ से उच्चरित उ के सम होता है [८] और धातुओं के रूपों के अन्त में यदि [अ] हो तो वह भी तिरछे ओठ से उच्चरित उ सम ही होता है; कोई इसे द्वितीय 'अ' के सम पर ह्रस्व सा उच्चरित करते हैं, अवधारण में अन्तिम दोनों का दीर्घ और प्लुत दोनों पाया जाता है। जब अ के (आगे नहीं) पीछे 'अ' को छोड़ कोई अन्य स्वर आता है तो वह प्रथम और द्वितीय का मध्यवर्ती उच्चारण पाता है उसका दीर्घ और प्लुत भी होता है।

१	२	३	४	५	६	७
अनाःर्	अकर् अकरः	अर्/ग्	छ्ः	छ्/ः	अघिल्	दिगः
अचाःर्	अचर् अचरः	नर्/ग्			सजिल्	रिङाः
अकाःव्	दगड़् ,,	सर्/ग्	जातः	जात्/ः	कठिन्	अघिलः
अगाश्	झकड़् ,,	गर्/व्	खातः	खात्/	कशिनि	सजिलः
अमूप्	कमड़् ,,	छ्/छ्	छ्ः	छ्/ः		माचिलः
	चुपड़् ,,	आत्/आत	आतः	आत्/ः		
जमाय्	जिवड़्					
कटारि						

प्रथम आदि प्रथम में और अन्त (तीसरे के विकल्प २ में) मिलता है। द्वितीय, आदि और मध्य में, (द्वितीय और तृतीय के आदि में)। इसका दीर्घ केवल अन्त में होता है। सं ४ तृतीय मध्य में (तीसरे में) मिलता है, चतुर्थ अवधारण में अन्त में ही (चौथे में) और पञ्चम केवल अन्त में (पाचवें में) ही मिलता है। छठा आदि और अन्त में आता है, सातवाँ केवल अन्त में ही प्राप्त होता है। इनमें प्रथम घातहीन है, द्वितीय-तृतीय के आदि के ह्रस्व या लघुतर हैं, मध्य के घातयुक्त या गुरु हैं, चतुर्थ-पञ्चम के अन्तिम घातयुक्त उदात्त हैं, छठे के आदि में लघु हैं, सप्तम के अन्त में उदात्त है। चतुर्थ, सप्तम को छोड़ शेष सब अनुदात्त हैं। वाक्य स्वर में इनका स्वर बदल सकता है पर उच्चारण यही रहेगा। जो सन्धि में आयेंगे उन पर फिर विचार करेंगे। उदात्त और अनुदात्त अन्य वर्गीय वर्णों को कण्ठ की ओर घसीटते-से लगते हैं।

[आ] यह स्वर चार प्रकार का है ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और अघोष। जहाँ ह्रस्व है वहाँ यह उदात्त है, जहाँ दीर्घ है वहाँ अनुदात्त और शिथिल, पुनः जहाँ प्लुत है वहाँ अवधारण है और उदात्त है, यह केवल अन्त में आता है। अघोष आ भी अन्त में ही आता है, वह भी, श्वासीय ध्वनि रखता है शिथिलता युक्त उच्चरित होता है। जब यह काले ळ के साथ आता है तो उसका आ गहरा कण्ठीय उच्चरित होता है।

१	२	३	४	५
रा·ज्	रा:ज्	रा·जा	रा·जाः·	क्या ळ्
खा·ज्	ग्वा:ज्	ग्वा·जा·	ग्वा·जाः·	च्या·ळ्
वा·ज्	व्रा:ज्	वा·जा·	व्रा·जाः·	म्या·ळ्
चा·मड्	चा:म		आ·जाः·	
समा	सुना:र्	स्रा·जा	स्रा·जाः·	
थमा	पैनाँ:ढ़ँ	रा·ता·	रा·ताः·	
पन्या·ई		मा·ता·	मा·ताः·	
कमा	आ:म्		ग्वा·ना·	
मना	का:म्	खा·ता·	द्दाः·द्रा·द्	
नचा			ह्जाः·ह्ज्	

ळ् छोड़कर वर्णान्तर विन्यास का इस पर कोई प्रभाव नहीं है, सबके साथ सभी परिस्थितियों में इसका उच्चारण उपर्युक्त-सा ही रहता है। उलटे इसके प्रभाव के अन्य वर्गीय व्यञ्जनों का उच्चारण कंठ की ओर पीछे हटता-सा लगता है।

[इ]	१	२	३	४
	तिनड़्	तीन्	मनिृखा·क्	खे·तीः·
	चिमड़ि	तीस्	दुनिृयाँ·क्	पा·तीः·
	किड़ि॰	चालीस्		जा·तीः·
	धिनाइ	बत्तीस्	कशिृनिक्	ना·तीः·
सुँबाइं	बिनौल्	भगवती	खे·तिृ	दिदीः·
बता·इं	बिखुण्	देवी	पा·तिृ	पिङईः·
बिगड़िइ्	पछिल्	ईश्वरी	जा·तिृ	दिदीः·
सुदरिंइ॰	वासिंड़ि॰	हसुली	दिदिृ	ना·नीः· ना·निृ
राम्भिइृ	ताम्भिृ	पिङई		ता·तीः· ता·तिृ
सहिइृ	धामिृ			
	खा·इृ			
	ना·इृं			

उक्त उदाहरणों में इ के भेद दिखलाये तो चार प्रकार के गये हैं, पर सूक्ष्मता से यही चार के सात भेद हो जाते हैं। आदि का ह्रस्व इ जब तवर्ग, चवर्ग और कवर्ग के साथ आता तो उसका उच्चारण यि सा लगता है तिनड़् = तियिनड़्, चिमड़् = चियिमड़्, धिनाइ = धियिना·इ, किड़ि = कियिड़ि सा अनुभूत होता है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि एक तो यह घातहीन है, दूसरा लघु, तीसरा इसमें उक्त वर्गों का प्रभाव है, यह कवर्ग को आगे और तवर्ग को पीछे की ओर खींचने में समर्थ है। अन्तरालीय इ में भी ऐसे ही गुण मिलते हैं, पर उसमें मध्यम श्रेणी का घात है, जहाँ घात नहीं है वहाँ यह वैसा ही दुर्बल है। अघिल्, पछिल् में घात है, वा·सिंड़ि, पा·सिड़ि में नहीं है, पहिला गुरु है, दूसरा लघु। पदान्त का ह्रस्व इ भी व्यञ्जन के साथ दुर्बल है, अल्पघोषीय है, पूर्ण घोषीय नहीं है पर अघोषीय नहीं है; अनुनासिक के साथ पूर्ण घोषीय है। जब यह स्वर के साथ आता है या अन्तःस्थों या अनुनासिकों के साथ पड़ता है तो यह पूर्ण घोषीय लघु है। जब यह अन्त में व्यञ्जन संयोग के साथ आता है या प्राकृतीय अपभ्रंशीय इ अ इ आ के इ रूप में उपस्थित होता है तो यह केवल पूर्ण घोषीय ही नहीं है वरन् अन्त में एक पूरकीय विसर्जनीय ध्वनि भी साथ में उच्चरित कराता है जो दो इइ सम है। इस इइ में अन्तिम अघोषीय है, वही विसर्जनीय सा लगता है। दीर्घ ईकार आदि और मध्य में एक सा है पर अन्त में तभी मिलता है जब सम्बोधन या अवधारण हो, अन्यथा प्रत्येक पदान्तीय दीर्घ ई को ह्रस्व करके ही बोला जाता है; यहाँ तक कि कहीं-कहीं स्वरों, अनुनासिकों और अन्तःस्थों के योग को छोड़

कर अघोष-सा हो जाता है। ह्रस्व इकार जब पदान्तराल में एक से अधिक पद के शब्दों में आता है तो इसका घात या गुरुत्व छिनकर उत्तरार्द्ध के पद में चला जाता है और यह प्रायः अघोष-सा ही हो जाता है। स्थिति यह है 'मनिख् + आक्' (सम्बन्ध विभक्ति) = मनिखा·क् (मनुष्य का)। पहिले 'नि' पर घात था वह गुरु भी था, अब वह लघु हो गया है घात सरक कर 'खा' में चला गया है। अतः पर के घात का इस पर बड़ा आघात लगा है, यह अब अघोष हो गया है। कुमाउनी ने प्राकृतीय और अपभ्रंशीय दीर्घ स्वरान्तों को ह्रस्व और ह्रस्व को पुनः प्रायः स्वर, अन्तःस्थ और नासिकों को छोड़ अन्य व्यञ्जनों के समान अघोष कर दिया है। इसके अपने नये दीर्घान्त स्वर अवश्य मिलते हैं; जैसे आदि, मध्य। अन्त के उदाहरणों में सम्बोधन और अवधारण में दीर्घता और प्लुतता प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होती हैं। घात स्थलों में यह उदात्त है अन्यत्र अनुदात्त। शब्द स्तर में सम्बोधन अवधारण को छोड़ अन्यत्र दीर्घ ई उदात्त नहीं है। इसकी उदात्तता वाक्य स्तर में प्राप्त हो सकती है।

[उ] १	२	३	४	५
तु				
उनर्	ऊन्	हरुली: !	सातूः·	कुँ·बँ
उखव्	जून्, लूँइँ	सरुली: !	लच्छूः·	सुँ·बँ
बेटुलि	कऊँड़ँ	शकुनाःथ्	थानूः·	बुँबँ
शकुन्	व्यऊँबँ			गुँबँ
मद्दुउ	नऊँबँ	परुलिक्	शा·सूः·	
सत्तुउ	हम् खा·नूँ	शकुनाक् शा·सु	भा·णूः·	
उकाव्	,, जानूँ	सा·तु मा·णु	मा·णूः·	
काउलि	मि बैठूँ	आःतु बा णु		
काउ				

प्रथम श्रेणी के उदाहरणों में आदि और अन्त का अनुदात्त और गुरुत्वहीन है, मध्य का गुरु है, उदात्त भी पर मद्दुउ, काउलि जैसे रूपों में यह पुनः गुरुताहीन और अनुदात है क्योंकि प्रथम के अन्त में अघोष उ का उतार है, द्वितीय में 'लि' के इ का। यह इकार सम व्याख्या रखता है। द्वितीय श्रेणी में दीर्घ ऊ दीर्घ है, गुरु नहीं, न उदात्त ही, यह विवृत है। पर अन्त में आज्ञा और सम्भावना लकार में अन्तिम ऊँ अवश्यमेव उदात्त स्वर का है। तृतीय श्रेणी में मध्य का और अन्त का उ अघोष है। 'हरुली:' और 'शकुनाःथ्' आदि की व्याख्या 'मनिखा·क्' की तरह घात या गुरुता के स्थान परिवर्तन से समझ लेनी चाहिए। पदान्त का अघोष उ, प्राकृत अपभ्रंशीय उअ उआ के

निरन्तर के संकोच से बना है। प्राकृतों के व का इसमें उ मिलता है। तु अकेले; या वाक्यादि में उदात्त है, वाक्यान्त (आ·तु) में अघोष अनुदात्त। चतुर्थ श्रेणी में तृतीय के पदान्तीय अघोष उ̥ ध्वनियों में अवधारण सम्बोधन या गुरुता पाने वाले प्लुत ऊः· के उदात्त स्वर के उदाहरण हैं, जब श्रोता श्रुतिपुष्टि के लिए इनका ऐसा उच्चारण करेगा तो ध्वनि अनुदात या उतार की होगी। स्वरों और व्यञ्जनों के साथ या संसर्ग का इसमें कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका उच्चारण अपना है। केवल पंचम प्रकार उ के उच्चारण में 'वु' की सा ध्वनि निकलती है। यह अति वृत्तीय उ है; इसमें ओठों को अधिक गोल और कठोर करना पड़ता है और ध्वनि में कंठता की भी गहराई अधिक है, उदात्त भी है।

[ए]		[ऐ]	
मे·थि̥	ते:ल्		ऐं:च्
ले·खि̥	खे:ल्	दै·	ऐ:श्
ज्वे·खि̥	मे:ल्	कै·	गै:र्
ज्वे·शि̥	कमे:ट्	था·मै·	मै:ल्
चमे·लि̥	सए:त्	का·मै·	वै:र्
मने·सि̥	बड़े:त्	जा·मै·	खै:र्
जा·ए̥, जा·ऐ· हां	तु जा·ए: ?	ला·वै·	गै:ल्
आ·ए̥, आ·ऐ· रे	तु ला·ए: ?	पावै·	तै:ल्
खा·ए̥, खा·ए· भुला:	जाए:· जाए·	करै·	करै:
		छै	लावै:
			जामै:
			थामै:
			रा·त्तै̥वटि̥
			सां·स्सै̥वटि̥

उक्त दोनों स्वरों को जिस किसी व्यञ्जन या स्वर के, आगे-पीछे रखे इनकी अपनी नियमित ध्वनि में अन्तर नहीं आता। इनकी जो अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् विशेषताएं हैं वे ये हैं। ह्रस्व ए या ऐ सदा गुरु या घातीत हैं उदात्त ध्वनि के हैं, दीर्घ, हल्के और अनुदात्त हैं। ह्रस्व ऐ पदान्त में बिना अवधारण के आवे तो अघोष होता है, अनुदात्त भी, अवधारण में उदात्त। दीर्घ ए: श्रोता के श्रुतिपुष्टि प्रश्न में पदान्त में मिलता है पर यह अनुदात्त ही रहता है। ऐ· का पदान्तीय प्रयोग आज्ञा विधि सम्भावना के लकारों तथा भाववाचकों में मिलता है। क्रिया रूपों में तो यह अनुदात्त है, पर संज्ञा में

स्वयं उदात्त ध्वनि लेता है; दीर्घ ऐः श्रुतिपुष्टि प्रश्नरूप में आने से अनुदात्त। ह्रस्व ऐ· पदान्त और समास में अघोष भी मिलता है।

[ॲं]		[ओ]			[औ]	
भैं	भैंःन्					
नैं·हाःलौ	चैंःँन्		हो·इ	मोःल्		
ॲं·वेःर्	ॲंःल्		घो·इ	गोःव्	घौ·	धौःल्
खैं·बेःर्	पैंःल्	ड्वी·इ	डो·इ	सोःत्र्	मौ·	कौःल्
जैं·वेःर्	करैंः		नो·इ	नोःल्	औ·	मौःल्
नचैं·वेःर्		व्वो·इ	बो·इ	चौँ·चोःच्	कौ	वौःल्
रचैं·वैःर्	अघैंः·वटि	फोइ	को·इ	अखोःङ्	समौ·	सौःल्
कवैं	नवैं·हा·लो		तमो·इ		कमौ·	हनौःल्
कवैं	वँड़ैंः·दे		जमोःइ	घो·डोः	खा·वौ·	पनौःल्
वड़ैं·			चालो	च्यलोः	ना·वौ·	ना·वौः
चवैं			घोड़ो	स्वरोः	जा·वौ·	खा·वौः
			स्वरो	ठुलोःठुल्	आवौः·	आ·व्

पदादि के ह्रस्व ॲं· ओ· औ· तीनों उदात्त हैं, पद मध्य में भी ये उदात्त ही हैं, पर पदान्त में संज्ञा पदों में उदात्त क्रिया पदों में अनुदात्त हैं। पदान्त में के क्रिया पदों में ये अवधारण और घात में घोषीय हैं, अन्यथा शिथिल और अघोष से। इनके दीर्घ अधिक विवृत्त हैं, अतः अनुदात्त हैं, इनके प्लुत भी हैं जो अनुदात्त ही हैं। ओकार जब आदि में ह्रस्व रहता है तो वह विकल्प से अधिक वर्तुल ओठों से उच्चरित होकर 'वो' का सा रूप भी लेता है। इनके प्रत्येक वर्ण का उच्चारण प्रत्येक स्थान (आदि मध्य अन्त में) एकसा है और सभी व्यञ्जनों के साथ एकसे रहते हैं। ये अपनी उक्त विशेषताओं को कहीं नहीं छोड़ते।

स्वर संयोग—द्विस्वर त्रिस्वर

स्वर संयोगों में गंगोई कुमाउनी बड़ी धनी है, इसमें द्विस्वर और त्रिस्वर संयोग भी मिलते हैं। प्रत्येक वर्ण का उच्चारण और ध्वनि शब्दस्तर में पूर्वोक्त विधान के अनुसार ही प्राप्त होता है। उनमें कहीं भी अन्तर न मिलेगा। अ के साथ—इ, उ, ऊ, ए और औ का संयोग मिलता है।

अइ—बइ (बलि); खइ (खेल की जगह); फइ (फलना); दइ (दलना); सा·क·इ (पावों को सांकल की तरह जोड़ना); सई कियो (सह ही लो); अए—कए (कहना); सए (सहे); अओ—कओ (कहो); सओ

(सहो); रओ (रहो); अउ—अउक् (ऊँचा); सउक् (एकदम) । अऊ—हऊण (जुवे की गांठ की डोरी); कऊँइँ (कहलाना); नऊँइँ (नहलाना) । प्रत्येक के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतों का भी संयोग मिलता है ।

[इ] के साथ निम्नलिखित स्वर संयोग मिलते हैं—इउ, इए, इअँ, इआ, इइ, इओ, इअ, इओ, इऐ, जैसे—इउ—दिउ (दो, दिया); पिउ (पियो); लिहउ (लो) । इए—करिए, पिए, लिहए । इअँ—लिहअँ· दियँ· ग्रअँ । इआ—पिआ (पीना) ·दिआ (दे दो); इओ—लिहओ·, दिओ·, पिओ; इअ—दिअ, लिहअ, सिअ (हलरेखा); इओ—पिओ, लिहओ, दिओ; इऐ—दिऐ·, लिहऐ·, सिऐ·, पिऐ· (प्रार्थना में) इइ इई—सहिइ, नहिइ, मा·थ्यिइ ।

[ए] के साथ इ—दिइ दिओ, दिई दिओ, पिई दियो, पिइ दिओ आदि और ऊ का संयोग मिलता है—दे·इ (देहली); से·इ (आरती); नेइ (मथानी रस्सी, निगलना), पेइ (पेलकर), वेइअु (कल बीता); एऊ—दे·ऊँइँ (दिलाना); से·ऊँइँ (सिलाना); ब्येऊँःइँ (बिवाह योग्य); ब्ये·ऊँइँ (एक साथ इकट्ठा करना); ने·ऊँइँ (निगलवाना); पे·ऊँइँ (पिलाना, पेलवाना) ।

[ऐ] के साथ इ आ और उ का संयोग मिलता है—ऐइ—कै·इ इा·लौ· (कह दिया है); सै·इहा·लौ (सह लिया है); कै·इ वेःर (कहकर) आदि । ऐःआः—कैःआः (कहआओ); सैःआ (सहआओं); ऐउ—कैः ऊँल् (कह आऊंगा), सैःऊँल (सह आऊंगा) ।

[अँ] के साथ निम्नलिखित संयोग मिलते हैं— अँ·अँ·, अँ·आ, अँःआ, अँःउ ।—गैंःअँःछैं ? (क्या गा आई हो ?); खैंःअँःछैं ? (क्या खाके आई हो ?); नैंःअँःछैं ? (क्या नहा के आई हो ?); नचैं· आ (नचा आओ); बचैं·आ (बचा आओ); बतैं·ऊँल (बता आऊँगा); ल्यखैं·ऊँल् (लिखा आऊँगा); सुँणैं·ऊँल (सुना आऊँगा); पढैंःऊँल (पढ़ा आऊँगा) आदि ।

[आ] के साथ निम्नलिखित संयोग मिलते हैं—आइ आउ, आए आअँ, आओ—था·इ (थाली); ना·इ (नाली १½ सेर का वर्तन); शा·इ (साली); बुला·ए (बुलाना), बता·ए (बताना); आ·ए (आना), जा·ए (जाना); मा·अँ न (प्यार या लगाव ही नहीं), पा·अँ न (मिले ही नहीं); ल्हा·ओ (लाओ), खा·ओ (खाओ), पा·ओ (पाओ, आदर में), साधारण से—खा·उ, पा·उ, ला·उ, पा·उ ।

[औ) के निम्नलिखित संयोग मिलते हैं—औइ, औआ, औअ,

कौँःइ· (कोमला); सौँइ· रौःछ् (पल्लवित हुआ है), वोःइ· रौःछ् (पगला हो गया है); तौःइ· रौःछ् (परेशान है); जौँआ (यमल), फौँःआ· मुख में (गागर के मुख में); सौँःअ (पत्ते सहित टहनियाँ); फौँःअ (गागर); कौँःअ (कोमल); बौँअ (अस्तीन); औँःअ (गर्भ के बाद की नली)।

[ओ] के संयोग—ओइ, ओए, ओःअ, ओअँ, ओउ—ढोइ (ढोकर); ओ·इ (एक जाति और 'ओलों का तांत्रिक'); हो·इ (हां); तो·इ (एक स्थान); बो·इ हैं (बो लिया है); झन हो·एः (न हो जाना); झन बो·एः (मत बोना); मोःअ (घर, खाद); गोःअ (गोल); बो·अँ (बोने का ढंग); खो·अँ (खोलने का ढंग); बो·ऊँःइँ (बोने का काम कराना); खो·ऊँइँ (खोलने का काम कराना); ओउग् (साग फल की डाली की भेट सिंह संक्रान्ति के दिन)।

[उ] के संयोग—उइ, उए, उअँ, उआ, उअ, उओ, उउ मिलते हैं—वा·टुइ (हिचकी); कुइ (कच्चा, कमजोर); मुइ (मूल कारण); चुइ (चुटिया); तुहइ (गर्भपाती); झन हुए (मत होवै); झन लुए (मत काटै); छुअँ (कुलटा); मुअँ (मूलनक्षत्रजा); चुअँ (चुवाकर); चुअँ (चुआना); मुअ (मूली·); कुँअर (कुमार); चुअ (चौलाई), लुअ (लोहा); सुअ (तोता); मुआक् (मूलीका); कुआ·क् (कुए का); शुओग् (श्लोक); चुउँइँ (चुवाना); बुउँइँ (बोवाना)।

त्रिस्वर संयोग

कुमाउनी में निम्नलिखित 'त्रिस्वर' संयोग भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जिनमें इस भाषा की कोमलता अतीव पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है। (१) आइया, (२) आइऔ, (३) उआइ, (४) ओआइ, (५) ओइआ, (६) अइऔ, (७) एइअ, (८) औइऔ, (९) उइआ, (१०) उइऔ, (११) ऐइऔ, (१२) आइअ। अंकानुसार इनके उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं।

(१) कराइआछा ? (कराकर आये हो ?); पुछाइआछा ? (पूछ करके आये हो ?)।

(२) नवाइऔं (नहलाया); चुकाइऔं (दांत से काटा हुआ); लुका-इऔं (छिपाया हुआ); पल्टाइऔं (पलटा हुआ); बता·इऔं (बतलाया हुआ)।

(३) चुँआइ (चुवाने का काम); बुआ·इ (बोने का काम) लुवा·इ (काटने का काम)।

(४) धो·आ·इ (धुलाई); खो·आ·इ (खुलाई)।

(५) बो·इऔं; धौ·इऔं·; खो·इऔं· (बोया, धोया, खोला हुआ)।

(६) कइऔं·, दइऔं·, सइऔं· (कहा, दला, सहा हुआ)।

(७) पेइँअँ, नेइँअ (पेला और निगला हुआ) बेइअ (कल 'बीता')।

(८) बौइऔं: (पागल हुआ); तौ·इऔं· (परेशान हुआ)।

(९) गुइऔँ: (मीठा); तुइऔँ (गर्भपात वाला पशु); कुइऔँ (कमजोर हुआ)।

(१०) गुइऔं:, तुइऔं:, कुइऔं: (पुं० एकवचन में से ९ में बहुवचन है)

(११) नचैइऔं (नचाया हुआ); वेचैइऔं (बिका हुआ)।

(१२) शिका·इऔं (बात पढ़ाया गया), पढ़ाइऔं (पढ़ाया हुआ)।

उक्त सब उदाहरणों में 'इकार' पदादि स्थान छोड़ अन्यत्र सर्वत्र दुर्बल हैं। ९, १० को छोड़ सब उदाहरण अवधारण में उदात्तान्त है अन्यथा उदात्तादि (९ और १० के उदाहरण प्रायः उदात्तान्त ही प्रयुक्त होते हैं) स्वरों के बीच में य् व् ने आकर चतुःस्वर, पञ्चस्वर संयोगों को विकृत कर दिया है।[1]

अनुनासिकता—जहाँ पर प्राकृतों और अपभ्रंशों ने र् श् ष् स् के संसर्ग में अनुनासिकता को स्वीकार किया था, उनके स्थान में कुमाउनी में स्वरों को अनुनासिक करके बोला जाता है, यह भी प्रायः आ और उ युक्त य् न् में मिलता है। मा·थि = मां·थि (ऊपर); नाःथ = नॉःथ; पर अन्यत्र म·त्/ = माःत्/ (जोगिन), मा·ट्/ = मा·ट्/ (मिट्टी)। शेष स्थलों में वही नियम लागू होते हैं जिन्हें पहिले आकृतिगण में अनुनासिकता के शीर्षक में समझाया जा चुका है।

व्यञ्जन संयोग

प्राकृतों और अपभ्रंशों ने वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत के व्यञ्जन संयोगों के महलों के खम्भों को एक-एक करके गिरा कर उनके ही ईंट-गारे से उनके स्थान में नए व्यञ्जन संयोगों का निर्माण कर लिया था। सच्च=सत्य, मुज्झ= मह्यं आदि। आधुनिक भाषाओं ने पुनः अपनी माताओं की नकल-सी करके उनके व्यञ्जन संयोगों को पुनः ढा-ढाकर अपने नये पद और व्यञ्जन तथा स्वर संयोग, व्यञ्जन संयोग, स्वरव्यञ्जन संयोग बना डाले। सच्च=सां·च; मुज्झ= मुझ; और कुमा· ने दूसरे रूप 'मुझ'·को त्यागकर उसका काम 'मैं' पद से लेना आरम्भ कर दिया, वह स्रोत ही बन्द हो गया। पर यह बात नहीं कि आज-

---

१. जैसे—बोवाई = बो-आइ-अँ, बोवायों = बोआइऔं, दोरिआइऔं = दोयोंयों; मुइआइऔं = मुयायाँ; बौउआइऔं = बौयायों आदि।

कल की भाषाओं में व्यञ्जन संयोगों का अभाव है। सैकड़ों नये व्यञ्जन संयोगों ने, उक्त स्वर संयोगों की तरह नया जन्म लेकर भाषा के भण्डार को भर दिया है। ये संयोग एकपदीय, द्विपदीय या त्रिपदीय हैं। अन्तिम दो प्रायः समस्त पदों से बने हैं जो अब एक शब्द का रूप पा गये हैं। व्यञ्जन संयोग भाषा की जान तेज और ओज के प्रतीक होते हैं। आजकल के आधुनिक भाषाओं के कवि अपनी भाषाओं के व्यञ्जन संयोगों की ओर ध्यान आकर्षित न कर सकने के कारण वीररस की कविता की ओर प्रवृत्त ही नहीं हो पा रहे हैं। जो प्रवृत्त होते भी हैं, वे उक्त व्यञ्जन संयोगहीन स्वरसंयोगीय कोमल भाषा के लोभ से वीररस की सामग्री को नहीं जुटा पा सक रहे हैं। अतः सब असफल हैं। उन्हें भाटों की शैली, तुलसी कवितावली और रासों का अनुकरण करना चाहिए। कुमाउनी या हिन्दी में उक्त तेजस्वी व्यञ्जन संयोगों की कमी नहीं है। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहिरे भाषा पैठि। ये बौरे डूबन गये रहे, उपन्यास-बैठि।'

क

छक्क (सब पाकर मस्त); झक्क (बहुत सुन्दर); नक्क (बहुत बुरा); इक्कैश (२१); शाःक्घां·ट (शंखघंट) डाःक्घर, (वक्खर); मा·क्लं·मा·ख (मक्खियाँ ही मक्खियाँ); आ·क्खैः (आँख ही); एक्चालीश (४१); चक्चका·न् (उपद्रवी बालक); मक्कजाणि (सगाई); शक्छै (सकते हो); झक्झक् (अनेक दियों का उजाला); झक्झा·ण झक्टा·ण (बातों और गालियों से झकोरना), एक्तीश (३१); मक्तुड (भिगमंगा); वक्करिअ (टेढ़ा या (बक्कठयौं) धक्धक्; झुक्बेःर (झुककर); हक्बक् अक्बक्, बक्बक्; भक्भक्; सक्पकैं·रोछ (डरा है); चक्मक् (चमक दमक); चा·क्मुंडि (चक्की के नीचे); चा·क्में (चक्की में); क्यव (कैला); क्यड़ (लकड़ी); कड़ (कोना); कश (लम्बीफली); सँक्रांतः सक्रान्त (संक्रान्ति); एक्राःत (एकरात), अक्बैःन (अकबपन); यक्लै (अकेला); दुक्लै (दुकेला); शक्लैः ? (सकोगे); एक्शट्ठि (६१) बा·क्श्यर (बागेश्वर); यक्सार (एकसमान); यक्हत्तरि (७१); शक्शका·न् (हाफता हुआ)।

ख

च्वोख्ख (बहुत चोखा); सोख्खि वेःर (बहुत शोणकर); (च्वखख सोक्खि भी) स्यख्माःव (बांज का फल); चा·ख्कंडि (छज्जे को); चा·खमें (छज्जे में); चा·ख्छैं (—से); चाःख्बटि (—से); चा·ख्तिर (—के पास); दख्पड़ि (दाग पड़ा); झख्मारि बाःख्दा·ड़ीम; ख्यर (बालू मोटा) ख्यड़

(फेंकों); ग्वर (शिर); ख्वट (खोटा); दख्लाग्यों (दाग लगा); भुखयों, भुक्यों (मैं भूखा रहा); भूखभैः छ, भूखहैः (खाने की कमी हुई); भुख्शौ (भूख सहो); लक्ककाःन् (भूख से पीड़ित)।

ग

छग्ग (तास की छग्गा); सग्गड़ (अंगेठी), मग्गुड़ (टीन का खाली डिब्बा); जग्गुड़ (जगदीश नाम); शाँःग्घाँःट (शंखघंट); बग्जिबा·व (बाघ का जिवाला, जल); बाःग्कँड़िँ (बाघ को); बाःग्छैं(–से); शाःग्में (साग में); शाःग्हुँड़िँ (–के लिए); शाःग्पाःत् (सागपत्ते); शग्न्युड़ (सकता हूँ, जीत सकता हूँ); शग्शकान् (हांफता हुआ); ग्याःर (११); ग्वैःर (पर्य्याप्ति); शग्लै ? (उसके जीत सकेगा ?); निग्रौ (निष्क्रय); इग्हत्तर (७१); शग्टा (जाति); डग्डग् (पूरा भरा); दा ग्गुड़ (दाग लगाते हैं); जग्तिर (जगत में); आ·ग्पाँ·डि (आग पानी); आ·ग्पाछ (आगा पीछा); जा·ग्पें जा·ग्धैँ (ठहरो तो); जाःग्थैं (जगह से); जा·ग्स्यर (जागेश्वर); वा·ग्स्यर बाःग्नाःथ (वागेश्वर) जा·ग्पै (जगह पर), जा·ग्बॅड़ा (जगह बनाओ), शाःग्टुण् (सागतोड़ने), वग्नुव् (मधु मक्खी के झुंड का भगना), बो·ग्चुड़ (दोहरा बड़ा रूमाल, सामान बाँधने के लिए); वो·ग्साःड़ (तराई, मनुपाद की जगह) डुग्डुगि (डुगडुगी)।

घ

बग्घर, अघ्घड़, घन्घोर, घर्घराःट, रघ्राःज—(रघुराज) रघ्वंश (रघुवंश) घम्घम, जग्घट, घ्यु (घी), रघ्नाःथ (रघुनाथ) रघ्बर (रघुबर) घकारान्तों का व्यञ्जन संयोगों में ग् हो जाता है। अतः जो व्यञ्जन संयोग ग को सह्य हैं वे घ को भी सह्य हैं।

ङ

आःङ्कँड़िँ (अंग को), भङ्ग, बङ्क्तरिअ, कङ्गाःव (कंगाल), आ·ङ्चानुड़ (अंग को देखें), अङ्ग्याःर (एक पेड़), सङ्लागै (साथमरै) ढुङ्खाँःङँ (पत्थर की खान), नङ्चट् (कंजूस), आँःङ्वा·इ (गर्भवती), माङ्वा·इ (माँग वाली), हङ्काःर (अहंकार), वङ्घार (छौंक), मङ्शीर (मार्गशीर्ष), आ·ङ्मैं (शरीर में), मा·ङ्मैं, माङ्हुँडि, मा·ङ्तैं, मा·ङ्थैं, (घास के पहाड़ के भाग में, को से से), मङ्जगि (सगाई), आ·ङ्मैं, आ·ङ्तैं, सै, छैं। आ·ङ्हुँडि, आ·ङ्थैं (अंग ये को), आ·ङ्वटि (अंग से), गंङ्ना·व (गंगास्नानी)

गङ्पाःर (गंगा के पार), गङ्फाःव (गंगा में कूदना), गंङ्दा (गंगादत्तदादा) चुंङ्गि (चुङ्गी)

च

अच्कन् , पच्कूँड़ँ (मसल डालना), चच्का·न् (बच्चों का), कच्कूँड़ँ (दाँतों से पीस डालना), फच्कूँड़ँ (पीटपाट देना), अच्गाच् (तितरबितर), चच्चेति– (एक जाति), पच्चीश (२५) सॉँच्च्यल, (सच्चा बेटा), माःचमें (साँचे में), शाँ·चशाँ·च् (सच्चा सच्चा), शा·चँहे·' (सच्चे से), शा·च्नुत् (साँचा बनाते हैं), शा·चूथं, साँ·च्तं, शा·च्च्छें (सच्चे से), का·च्चा वर (बकरी का कच्चा मांस), साँ·च्भौ (सच्चा हुआ), का·च्द्वोड्यौं (कच्चा तोड़ा हुआ), का·च्ठाड् (कच्चा खम्भा); चच्ङा (बचोंगे), कच्चौं·ङ् (मैला धोये का पानी), कां·चरंग (कच्चा रङ्ग), कच्चा·र (कीचड़), पच्पन (५५) पच्हत्तर (७५), कच्पच् (अनापसनाप खाया हुआ), पच्राँच (मुख में थूक का ज्यादा आना), खेंच्ता·ङि (खींचातानी), का·च्फत्र (कच्चाफल) मच्मचाःट (एक ही बात बार-बार कहना)।

छ

बा·छ्कङिं (बछड़े को), पछ्या·ङि (पीछे), पुछ्याःर (प्रश्न करने वाला), पछ्याँःडँ (पहिचान), पछ्याँःडँ (पछताना), पछ्पन, पच्पन (५५) पछ्हत्तरि पचहत्तरि (७५), प्वो·छ्ने (पोंछ लो तो), पो·छ्पा·छ् (पोंछपांछ), बा·छ्ग·कर (बछड़े बकरे), बा·छ्भौः (बछड़ा हुआ), बा·छ्थैं बाछ्हैं (–से) बा·छ्मैं (–में), बा·छ्वा·व (–वाला) बा·छ्तुङ् (–आदि), पुछ्नेःर (पूछने वाला), अछ्नेर गच्छनेःर (आने जाने वाले), बा·छ्याँःडौ (बड़ बछड़ा), का·छ्लै (–ने), पुछ्छैःनै· (पूछा ही नहीं), बा·छ्छैल करो (– ही ने किया), ताछ्नुउ (तरसते हैं)।

ज

कजिङ् (झगड़ा); काःज्काम (काम काज), बाँ·जखण (उजड़े खेत को खनना), बा·ज्गौं (उजड़ा गाँव), बाँज्घर (–घर), आःज्झड़ौ (आज झड़ा), आःजा·वौ (आज जाओ), आःज्चलौ (आज चलो), आःज्टा·वौं (–टालो), आ·ज्ठैःरौ (–ठहरा निश्चित हुआ), आज्डरौ (–डरा), आःज्ढवौ (–ढला), बा·ज्कँङिं (बाजे को), नाःज्कँङिं (नाज को), नाःज्में (–में) नाज्थे (–से), नाःज्भौ (–हुआ), नाज्है (–से), नाज्हौ (–हुआ) आःज्दिन

आःझाँःड़े (आज के दिन तक), आःज्तक (आज तक), सज्थैं (सजो तो), बाज्नेः न्हैःति (बजता ही नहीं), साःज्पाःत (साझा आदि), आःज्बटि (आज से), गज्बज्(गड़बड़), बाँज्फुण (बाँज्वण); बज्यौंःड़ (अनिच्छा से करना और बजाना), बज्रंग (हनुमान्), बाःज्लै (नाम होगा, बाजे से), बाःज्वाःव् (बाजे वाला), साःज्वाःव् (साझे वाला), बाँःज्स्यर् (उजाड़ खेत)।

झ

झकारान्तों का व्यञ्जन संयोगों में ज् हो जाता है, अतः जो व्यञ्जन संयोग ज् को सह्य हैं वे सब झ को भी अभिप्रेत मान लेना आवश्यक है।

ञ

ञकारान्त शब्द कम हैं, यह चवर्ग शकार के साथ आता है, वहाँ ञ भी मिलता है। संच्=सञ्च् (रोग या दुःख से कुछ शान्ति मिलना) पंच्= पञ्च् ; वंश=बञ्छ; पञ् (पञा), गञ् (गञा) बञ्जड़ (बंजर) पाञ् = पञ।

ट

खुट्कूँड़ँ (सीढ़ी), फट्कँड़ँ (सीढ़ी और फटकना), खट्कँड़ँ, छुट्कँड़ँ, अट्कँड़ँ, मट्कँड़ँ, भट्कँड़ं (खटकना छुटकना आदि), भट्खाँःड़िँ (सोयाबीन खाने वाला), काःट्वाँःड़िँ (तेरही के दान का पुरोहित), भट्ग्यौँ (एक गाँव) कट्घर (पशु कारावास); डुट्चट् (गन्दी जगह मन लगाने वाला), खुट्चुम् (पाँव चूम), बाःट्जाँःड़िँ (बटोही), बट्छाःड़ (मार्ग की जगह छोड़ देना), टट्झाःड़ (फटकार), वट्टुउ् (बटुवा), खट्टैःन् (खट्टापन), कट्टुउ् (जार), अट्ठाःवन् (५८), अट्ठवाःर (अष्टवलि), खुट्तैँ, खुट्थैँ, खुट्मैँ, खुट्भौः, खुट्हौः, खुट्लै (पाँव से, में, हैं, ने), काःट्नुउ् (काटते हैं), काःट्थैँ (काटो तो), वट्बेड़ँ (वट का वन), कट्फोःडुउ् (एक पक्षी), पट्पट् (तंग), पट्पटाःट् (पटपट् की लगातार ध्वनि), खट्वटाःट् (खटपट की ध्वनि), उट्पटाःङ् (अनर्गल), बट्माःर (मार्ग के लुटेरे), खट्मल, बाःट्भण्यौँ (मार्ग का बिगड़ा), ट्यड़ (टेढ़ा), ट्याःव, ट्याःल, ट्याःर (किसी नीची जाति की स्त्री के साथ बदनाम होना), बट्यौँड़ँ (प्रस्थान के लिये तैयार करना); चाःट्लाग्यौँ (सानी के चस्के का पशु), काःट्हुँड़िँ (कटिया के लिए); काट्शमिः (कटिया सहित), बुट्सैँ (बूटे से), खुट्सैँ (पाँव से), हट्वाःव् (हाट वाले)।

ठ

अठ्गुलि (एक पट्टी), अठ्गुड़ (अठगुना), अठ्गव (अटकल), आःठ्कँड़िँ (आठ को), आःठ्कँ, आःठ्सै, आःठ्हुँड़िँ, आःठ्मैँ, आःठ्थैँ (आठ से, को, में से), अठ्मंड़िँड़ (२ सेर चावल पकानेवाला वर्तन), गोःठ्पन, ग्वठ्पन (गोठ में), काःठ्बाँःश, काःठ्बा·ड़ (एक स्थान); कठ्वाःड़ (काठ का घोरा), कट्टिड़ँ (अति कठिन), कठ्फोड़ (एक पक्षी), गठ्मैंकन (बनाते क्यों नहीं), गठ्धैँ (गाड़ो तो), गाःठ्मैं (गाँठ में), गाँःठ्नुड़ (गाँठते हैं), गा·ठ्भौ (गाँठ हुई), गठ्चेरि (गठरी), ठ्या (चौका), कठ्याःड़ (जारों का स्थान), अठ्लड़ (आठ लड़ी का), अट्ठ्वःर (अष्टवलि), नट्टाःव् (वंश समाप्ति) मठ्वाःव् (मठ वाला)।

ड—ड़

खड़ुलि (एक गाँव), खड्ड (बड़ा खड्ड), उड्याःर (चट्टान के नीचे बसेरे की जगह), खड़्याःड़ (एक गाँव का नाम), मौःड्याःर (एक गाँव) पड्याःव् (जोड़ी) गड्यर गड्य·र (मेंढक बनने से पहिले का मत्स्याकार जीव), कड्वाःव (एक जाति), (ड़), ग्वाःड़्कँड़िँ (खड्ड को), जा·ड़्मैँ (जाड़े में), बा·ड़्तैँ, बाड़्सैँ, बा·ड़्थैँ, बा·ड़्हुँड़िँ, बा·ड़्मुँड़िँ, (बाड़े को से से को नीचे), बाड़्खण (क्यारी खनना), बा·ड़्गुण (बाड़े को गोड़ने), चड़्घर (चिड़िया का घर), अड़्चन, (कठिनाई), बड़्पन (बड़प्पन), कड़्कड़् (कठोर), जड़्जुगि (बहुत पुराना, कदीमी), झड़्झाण (फटकार), नड़्टोःड़ (नाड़ातोड़), बुड़्बुड़् (एक स्थान), बुड़्वाड़, कुड़्बुद्दिड़ (मूर्ख), खड़्का·पा (खड़ापर्वत), बँड़्तोड़ (एक गाँव), खँड़्तोड़ (एक गाँव), झड़्यो (वर्षा का दिन), चड़्धैँ (चढ़ो तो), चड़्नुड़ (चढ़ते हैं पढ़ते हैं), फड़्फड़् (फड़फड़ाना), बड़्बड़् (बड़बड़ाना), भड़्भड़् (भड़भड़ की ध्वनि), मड़्मड़् (निगलने में कठोर), सड़्यौँ (सड़ा), पड़्यौँ (पड़ा), पड़्लै· (पढ़ोगे), शड़्ँशड़्ँ (दनादन आँसू गिरना), हड़्हड़् (घटाघटीना) चड़्ड्वाःळ (एक जाति)।

ढ ड़

संयोगों में में ढ का ड और ढ़ का ड़ हो जाता है पड़्नुड़=पढ़्नुड़ गड़्नु= गढ़्नु आदि (पढ़ना गढ़ना), गड़्वाःव, (गढ़वाली), मड़्वाःव (एक जाति), ड्यर (बड़े पशुओं का मांस)।

ण

ढग्‌का·र (एक गाँव), ढाण्‌भुइ (आँधी), भा·ण्‌मुँड़िँ, भा·ण्‌कँणिँ, भा·ण्‌मैँ, भा·ण्‌तैँ, भा·णछैँ, भा·णसैँ, भा·णढुँड़िँ (भाँडे या वर्तन के नीचे, को, में, से, से, से, को), भण्‌पाःण् (चौका वर्तन करना), भा·ण्‌ब्यच् भा·ण्‌बेच्चुड़ (वर्तन देचने वाला), भा·ण्‌फोड़ुड़ (वर्तन तोड़ने वाला), कण्याःव (काण्डपाल जाति), कण्वाःव्, अण्वाःव् (गड़रिये), चण्डाःव् (दुष्ट नीच), भण्याःव (भात का चावलो का होना), हण्किड़् (कुम्हार), पण्किड़् (पगला हुआ), डा·ण्ढाण् (चोटी चोटी), बा·ण्टुणि (बाँटबूँट), आ·ण्वा·ण् (अण्डे आदि), खण्मण् (गड़बड़, जनझन), डा·ण्डा·ण् (प्रत्येक पर्वत), आ·ण्वा·वरि (कच्चे बच्चों का झुंड), झा·ण्झुण् (झाड़पोछ), गा·ण्गुण् (नाटे खोड़े), का·ण्मुण् (काँटे मुण्डे), वा·ण्वुण् (वटवारा), डण्डोःग् (दण्डवत्प्रणाम)।

त

बत्कौ (बातें), कत्कतायों (काता तैयार, खाना बिगाड़ा हुआ), मत्कूँड़ँ (फुसलाना), सत्‌गुँड़ँ (सातगुना), बत्खवाःरि (बातों को फैलाने वाला), पत्‌ध्याःर (कुमारी का वृक्ष), सत्‌घाणु (सातघंटी का), पत्झड़ (पतझड़), पत्पाँ·ड़िँ (पता आदि), पा·त्मैँ, पाःत्सैँ, पाःत्छैँ, पाःत्ढुँडिँ (पत्ते में, से, से को), पा·त्पाःमव् (सत्तू सम्बल आदि), पत्तैन्हैःति (पता ही नहीं), राःत्‌दिन या राःद्दिन (रातदिन), आःत्‌धैँ या आःद्धैँ, (आवो, तो), कात्तुड़ (कातते हैं), हत्नपि हत्नथ (और एक गाँव हाथ का रस वाला,), हा·त्लिँड़ँ, हाथ + लिँड़ँ (हाथ में लेना)।

थ

उथ्कै, यथ्कै, कथ्कै (उस ओर, इस ओर, किस ओर), हथ्करा· भा·ड़ (हाथ का हर्जा होना), मा·थ्मैँ (ऊपर), माँ·थ्कँडिँ (ऊपर स्थान में), माँ·थ्वटि (ऊपर से), हा·थ्पड़िँ (हाथ लगा), हाथ्दिनोँ या हाःद्दिनौँ (हाथ देना), का·थ्मैं, का·थ्छैँ, काथ्सैँ, का·थ्ढुँड़िँ, (कथा में से को), कथ्‌जाँ·ड़िँ (कहाँ जाने वाले?), का·थ्पु·ण (कथा सुनने), का·थ्विना· (कथाविना), कथ्यायौँ (अर्थ कहकर), का·थ्वा·थ् (कथा आदि), हथ्नपिड़् हथ्नथ (एक गाँव, हाथ में रस वाला), हथ्थवड़ (हाथ का वड्डा), हा·थ्ले (हाथ पर)।

द्

गद्को, गद्दो (खूब उबेलो), दा·द्कँडि, दा·द्मैं, दा·द्थैं, दा·द्हुँडि, दा·द्मैं (वड़े भाई को से के लिए में), आ द्दा द् (अद्दम आदि), आ·द्चैंडि, आ·द्पडिँइ (खेती में आर्द्रता), अद्डिंइ (अधबुना), अद्फईइ (आधे फले चावल ओखली में), अद्मरिइँ (अधमरा), अद्भरिइँ (बिना या आधा भरा), अद्ध्वा·यौं (बिना या आधा धुला), अद्खा·यौं (आधाखुला), अद्ना·यौं (बिना या आधा नहाया), मद्भयौं (मदभरा), अद्टुट्यौं (अधटूटा), अद्ढयौं (आधा ढला), अद्ठडयौं (आधा खड़ा), अद्जयौं (आधा जल), अद्चायौं (आधा देखा), अद्छुयौं (अधछुला). अद्डर्यौं (अधडरा) (इनमें कई में सवर्ण रूप हो जाते हैं देखिए सन्धि आगे)।

ध

सन्धि में ध् का विकल्प से द् हो जाता है। अतः द् संयोगों में जहाँ 'अद्' के संयोग हैं उन्हें ध् के संयोग भी समझें अद्डि या अध्डि, अद्फई, या अध्फई, इत्यादि। इसके संयोग उन सब में हैं जिनमें द् के पाये गये हैं। आ·ध्कंडि, आ·ध्में, आध्तें, आ·ध्थें आ·ध्हुँडि, आ·ध्मुडि, आध्वटि आ·ध्पन्, आ·ध्मन् (आधे को आदि)।

न

छुन्कँडं (छुनकना), झन्कँडं भन्कँडं (झनकना भनकना), कन्गुडु (कान का मैला), खन्खन् (खनखनाना), गन्गन (गारागो से बँधा), चुन्मुन (छोटी पत्तियों को चुनना काटना), चुन्चा·नि (चुनबीन कर), छुन्छुन (घूघुरों की ध्वनि), चुन्भुन (चुनभून खाना), बुन्बा·न् (बुनना आदि), भन्त्वा·व, मन्तोइ (गाँव के नाम), पन्धार (पानी की धारा), पन्थ्यौं·डि (पन्त की स्त्री) पुन्पा:प), (पुण्यपाप), चान्में (कुण्डली में), चान्हुँडि (कुण्डली के लिए), चान्सैं, चानठैं (कुण्डली से), चुन्चुउं (चन्द्र नाम का), बिन्चुउ (माथे में सफेद बिन्दी वाला पशु), न्हा:ति (नहीं है), कन्हा·व् (खेत की दीवाल), पन्धौर (गाँव का धारा या कुँआ)।

प

चप्कुँडि (एक गाँव), चप्कूँडं (साँटी से मारना), खा·प्चडि इ (मुँह लगी या वेहुदा बोलने वाली) बा·प्थैं, बा·प्छैं बा·प्तैं, बा·प्मैं, बा·प्हुँडि

बा॰प्सैँ (पिता से मे को से), च्या॰प्चुपि (दबादुबूकर), ज्यापुज्युब् (जोड़ म॰ड़), झप्झप् (बुझने को झपकना), झपूँड़ँ (झपटना), काप्ट (कपटी) बा॰ति॰ (बाप के पास), श्या॰पुद्गङि (सर्प के संग) च्या॰प्चुड़ु, (हम दबाते हैं) अप्फिड़ (स्वयं), सप्पै (सबही), कप्ड्वा॰ल चप्ड्वा॰ल (जातियाँ है), लप्कँड़ँ झप्कँड़ँ (लपकना झपकना), झप्कन (लम्बा कपड़ा)।

फ

सन्धि में भ् का ब् , फ का प् और प का विकल्प से ब् हो जाता है। अतः उक्त उदाहरणों में वैसा ही हेर फेर समझ लें।

अफ्कँङिँ (अपने को), गफ्कूँड़ँ (बड़े-बड़े कौर से निगलना), गफ्गफ् (रजाई मखमल सा धँसने वाला वस्त्र), ग्वा॰फ्चड़िँ (कली लगा), ग्वा॰फ्तड़िड़ (कली जड़ा), ग्वा॰फ्झड़िँड़ (कली झड़ा), ग्वा॰फ्छैँ, ग्वा॰फ्तैँ, ग्वा॰फ्यैँ, ग्वा॰फ्मैँ, ग्वा॰फ्हुँड़िँ, ग्वा फमुँड़िँ (कली से से ते में को नीचे), ग्वा॰फ्यौ॰इँ (कली निकली), ग्वाफ्भईँ (कली हुई)।

ब

जब्कभै॰ (जब कभी), शब्कँङिँ (सबको), अब्गुँड़िँ (अपगुणी), अब्बो॰ड़ (बड़ा शरारती द्वेषी), अब्चर (अनाप सनाप बोलने वाला), उब्छा॰र (अप्छा॰र) (अप्सरा), बाब्सैँ, बाब्थैँ, बाब्तैँ, बाब्मैँ, बाब्हुङिँ आदि (बाप से आदि), कब्बुड़ु (कवीन्द्र नामा), भब्भब् (भवभव की ध्वनि) चब्यौड़ँ (चबाना), ब्वा॰रि (बहूरानी), अब्रख़ (अभ्रक)।

भ

(प ब देखें) चभ्यौड़ँ (चबाना) भ्यसौं॰ड़ँ (भून)। भकारान्त शब्द बकारान्त या पकारान्त हो गए हैं।

म

चम्का॰ (चमकाओ तेज क्रोधी या सनकी), अम्च्वैं॰ड़ अम्चूर (अमचूर) जम्घट, गम्गम् (मस्त, गर्मी में), जम्जमी (जमाजमाया), झम्झम् (हलका पानी बरसना), टम्टम्, ठम्ठम्, डम्डम्, ढम्ढम् / तम्तम् (क्रोध में लाल), दम्दम् (पेट फूला), थम्था॰म् (धरपकड़ से लड़ाई रोकना), धूम्धा॰म (धूमधाम), शम्पदा (सम्पत्ति), बम्बई, बम्बे (बम्बई), भम्भम् (गिरना), मम्मम् (तोली को खिलाना), आम्यो (अमा उगा हुआ), काम्मुड़

(काँपते हैं), छिम्वालः (एक जाति), यम्राःज् (यमराज), काःम्हुँदि (काम के लिए) नाम्में (नाम में) नाम्थें, नाम्छें, नाम्सें (नाम से से से), म्हैंःडं (महीना), म्हता·रि (मां)।

य

पा·य्कॅडि (चावल के हलुआ को), मा·य्में (प्रेम में), चा यनें ? (देखो न ?), मा·य्वा·इ (प्रेम वाली), स्वा·य्पी (स्वा पीकर), आ·य्ग्याय् (आये गये), नायनुइ (नहा धोकर), चा·य्चुइ (देख भाल कर), झा·य्मुई (चमक दे दिला कर), हा·य्हुइ (हाहाकार), पा·य्पुइ (पाया वाया) आदि।

र

कर्कर् (कठोर), गर्गर् (नाराज), घर्घराःट् (गले से घरघर की ध्वनि), चर्खि(सन्देह सतर्कता वाला), चर्चर (पालक का स्वाद), जर्जर (मोटे रोयें दाने वाला), झर्झर (नाक भौं चढ़ाए हुए), टर्टर (अहंकार तटस्थ), ठर्ठर (न ठंनने वाला), अर्ने (साथ), ढर्ढरॉःडं (ऐसी ध्वनि करना), अर्द्दव (दला चूर), आःर्ति (आरती), कर्घे (करो तो सही); पर्पंच् (प्रपंच), फुर्फुर (फुरंकर उड़ना), बर्बरा·ट् (काँपकर जाड़ा लगना जैसे मलेरिया में), मर्मराःट (रात सपने में बोलना), चर्मराःट (चिउटी के काटने से खुजली), कार्यौ (किया हुआ), भर्वाःव् (भरावो), औःतर्रीःन् (उछल उछल कर नाच रहे हैं), लर्लर (भूख प्यास से किसी पर चिपट जाना कि खाना दे), सर्सराःट (ढील के रेंगने की अनुभूति), शर्ष्यौं (सरसों), वर्ष्यौं (बरसा हुआ), हर्हर्महाःदेव !

ल

किल्का·रि (बालक का चिलाना), बल्कँडं (आँख या अंग का फड़कना) मा·लखण् (ऊपरी मकान भाग), ता·लखण् (निचला भाग मकान का), अल्ग्यौंःव् (अलग-अलग करना), ता·लघर, मा·लघर (निचला ऊपरी मकान), अल्ढ्·धाःर (बर्री), बल्चब्यौं (बल चढ़ा अलझ्यौं (उलझा), अलछेंबि (अपशकुन वाला), फल्झाःड़ (फल झाड़ना), पल्टँडं (पलटना; सेना), तल्ठा·ड् (निचला खम्भा), मल्ठाड् (ऊपर का थम्भा), तल्ख्या·र मल्ख्या·र, (नीचे का, ऊपर का डेरा), तल्ढाःव (निचला ढाल), पा·ल्तु (पालतू), पा·ल्थैं, पाल्सैं, पा·ल्हुँबिं, पाल्मुँडिं (पहले वाले से को नीचे) माल्मुल्, (एक स्थान), पाल्में (पास में), पल्भा·ण् (दूसरा बर्तन), पल्बा·ण् (दूसरा भाग), गल्फा·ड़ि (गला फाड़कर), हल्द (हल्दी), बल्द (बैल), सल्द (साग पत्तियों के पंच मेल का कच्चा कलेवा), पल्थँडं (रोटी बनाने

के हाथ में लगाने का आटा), मल्ताःल, तल्ताल (मल्ता तल्ता तालाव), ह्रा ल्यै ँ (डालो तो), पा·ल्नुऊ् (पालते हैं), शल्शल (नमक विना स्वाद), पाःल्तुँङि ँ (दुमजले के फर्श के लिए), तल्सा·रि (नीचे के खेत), अल्म्वो·ड़ (अल्मोड़ा), चल्म्वड़, किल्म्वड़ (घास और एक पेड़)।

व

व-जहाँ ये ज ब से व्यवहृत होते हैं वहाँ इनके संयोग भी ज् और ब् के समान सर्वत्र समझे जावें। पुनरुक्ति और अनुकृति के शब्दों में य् व् के संयोग मिलते हैं—कौंःव्कौंःव् (कोमल कोमल), खव्खव् (साफ सुथरा) गा·व्गा·व (गले गले आना), मा·व्मा·व् में (मालामला में), जा·व्जाव् (दुलमारी दुम्मारी), झाःव्मा·व् (चटपकाना), चा·व्चाव् (बड़ी सुन्दरी), टाःवट्टव (टालटूल), डा·वडुङ् (तेडपत्थर), फव्फूल (फलफूल), बव्बन (बलवान), हव्भा·ण, (हल जुआ आदि), तव्तस्याल (तवातसला), दव्बन्दि (दलबन्दी), नव्लिंग (एक देवता), मा व्में (माला में), मा·व्थै ँ, मा·व्कँङि ँ मा·व्छँ आदि (माला से को से)।

श, ष, स

बष्कुँडँ, अष्कोट् (गाँवों के नाम), फाष्किड़ (गप्पी), अष्किड़ (रोगी), चुश्चुश् (लगातार चूसना), खुश्खुशाःट् (श्वासीय ध्वनि में बोलना), जष्गौँङँ (यशोगान करने वाला), झश्झश् (बार बार भय से झकसना), कश्जश् (कैसा जैसा), बश्बश् (बस हो गया), नष्टोःड़ (नस का टूटना), सस्त, मस्त (सस्ता, अधिक), कस्तुरि (कस्तूरी), दश्दिन (१० दिन), काँसथैँ, काँस्तैं, काँश्छै, काश्मैँ; का·ष्टुँङि ँ (छोटा भैया से को मे के लिए), कश्धैँ (कैसा धौं), फष्फश् (लम्बी साँस लेकर सोना), पष्पशाःन (धान की वाली आने को एक दम तैयार), मुष्मुशि (मीठी मीठी लगना), कश्भौ (कैसा हुआ), कस्यौँ (कसा हुआ), रस्यौँ (रसा हुआ) रष्रंग् (रस रंगों में), रस्वाःव् (रस वाला), कश्लै (कसोगे), ना·श्लै (नस पर), कश्श् (बहुत तंग), चष्पकन् (बड़ी तीखी मिर्च वाला), शाँ·ष्पै (साँझ होते ही), वा·ष्टुँङि ँ (ठहरने के लिए), ठष्ठशाःट (श्वांस की ठस्ठस ध्वनि)।

ह, म्ह, न्ह

चौँ·ह्किँ (चौके हुए), बह्कि (बहके हुए), [न्है ँति (नहीं हैं) म्है ँःङँ (महीना), म्हता·रि (मां)] चौँह्कि (चौंके हुए)। कुमाउनी ने पदान्त के ह का लोप कर उसके बदले उपधा के स्वर को दीर्घ या उदान्त

बना रखा है; अतः उसके उदाहरण कम हैं। ह्वा·रा (रेखायें), ह्वर (रेखा), ह्यप् (ऐसा), ह्यूँन (हेमन्त), ह्या·वू (अवहेलना), ह्यूँउ (हिम), कँह्यौँ (कह रहा हूँ), दह्कन (दहकना), मह्ँकूँ (महकना), लह्हान (लहलहाता), चह्चहाँःड़ (चहचहाना), गह्गहान (गमगमा हुआ), ठह्ठहाःट ठसाके की हँसी), कुह्र्यौँ (कह रहा हूँ)।

व्यञ्जनों की शब्दस्तर पर परीक्षा

व्यञ्जनों की जिस प्रकार की रूप रेखा इसके व्यञ्जनों की ध्वनियों में खींची जा चुकी है उसके समर्थन के लिए यह जानना परम आवश्यक हो जाता है कि क्या जैसी वर्णना यहाँ दी गई वह उनके शब्द के आदि, मध्य, अन्त स्थानों में एक सी रहती है या भिन्न भिन्न, और साथ में विभिन्न स्वरों के संयोग में क्या वे उसी वर्णन का अनुसरण कर सकते हैं या नहीं। उक्त प्रकार से उनके ध्वनि विचार या उच्चारण और स्थान सम्बन्धी जो कोई अन्तर आ सकता है या नहीं उसकी परीक्षा की प्रणाली निम्नलिखित रूप से उदाहरण सहित दी जाती है। स्वरों का व्यञ्जनों पर प्रभाव और इसके विपरीत शीर्षकों पर पहिले लिखा जा चुका है। अब व्यञ्जनों की स्थान परीक्षा ही शेष रह गई है; उसी का क्रम से निदर्शन किया जाता है। सुविधा के लिए इतना बतला देना आवश्यक है कि कुमाउनी में पदान्त के स्पर्शीय (पंचवर्गीय) व्यञ्जन केवल उष्माणों और अनुनासिकों छोड़कर पूर्णरूप से स्फुटित नहीं किए जाते, स्पर्श में ही पदान्त कर दिया जाता है। जहाँ पर अवधारण या पुनरुक्ति प्रश्न रहता है वहाँ उन्हें पूर्ण स्फुटित भी किया जाता है, ऐसा करने में अन्त में एक ध्रुवीय स्वर की विसर्जनीय ध्वनि भी निकल पड़ती है। जब दीर्घ व्यञ्जन या संयुक्त व्यञ्जन पदान्त में आते हैं तो उनको पूर्ण स्फुटित किया जाता है और अन्त में ध्रुवीय स्वर की विसर्जनीय ध्वनि भी अनुसृत होती है जो अवधारण या पुनरुक्ति प्रश्न में पूर्ण 'अ' या दीर्घ 'अः' का भी रूप ले लेती है। रम्वा·क् (रमुवा का) इसमें क् अस्फुटित ही रहता है। अस्फुटित रहने से इसकी सत्ता का अवगमन आगे आनेवाले शब्द के संसर्ग से किया जाता है क्योंकि अस्फुटित व्यञ्जन सुनाई नहीं सकता। आगे आने वाले शब्द के साथ यह संन्धि भी कर लेता है जैसे 'रम्वा·ग्गोरु' (रमुवा की गाय) 'रम्वाक् + गोरु'। ऐसे स्थलों में यह संन्धि से स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि यहाँ क् का ग् बन कर यह उसके साथ स्फुटित हो जाता है। पक्क् अ पक्कअ, पक्कअः ये अवधारण और पुनरुक्ति प्रश्न में दीर्घ क् के उदाहरण है।

वाक्यस्तर में स्वर व्यञ्जनध्वनियों की परीक्षा

वाक्यस्तर में स्वरव्यञ्जन अपनी ध्वनियों का अलौकिक चमत्कार दिखलाते आ रहे हैं। जब हम वाक्य को बोलते हैं तो हम प्रत्येक ध्वनि या शब्द को पृथक् पृथक् सा उच्चरित नहीं करते। हम उसे एक शरीर रूप में सर्व सम्मिलित रूप में ही बोलते हैं। हमरा शीघ्र बोलने का अभ्यास हमारी इस इच्छा को पराकाष्ठा तक पहुँचा देता है। इस प्रकार की वाक्योच्चारणाप्रणाली प्रत्येक ध्वनि (स्वर व्यञ्जन) पद और शब्द के स्थानीय रूपों में ऐसा अननुभूत सा, पर स्वाभाविक ही परिवर्तन उपस्थित कर बैठती है कि जिनका वर्णन देख पढ़ कर आपको आज एक नई जादू नगरी भी याद हो आयेगी। आपको यह सुनकर अवश्यमेव बड़ा भारी आश्चर्य होगा कि स्वरों और व्यञ्जनों की सन्धियों के जो नियम संस्कृत भाषा में लागू किए जाते आ रहे हैं वे केवल संस्कृत की अपनी बपौती नहीं हैं। ये नियम सभी भाषाओं में सर्वदा लागू होने वाले स्वाभाविक नियम हैं। ये नियम पाणिनि या उनसे पूर्व के वैयाकरणों की खोजें भी नहीं हैं। ये सब नियम शुद्धतः प्रतिभादर्शन या भाषातत्व शास्त्र के नियम हैं। इनकी खोजें प्राचीन प्रातिशाख्य (शिक्षा नामक) ग्रन्थों ने की थी जिनका वैयाकरण काल से निरन्तर ह्रास ही ह्रास होता चला आ रहा है। वैयाकरणों ने उक्त नियमों को केवल संस्कृत की बपौती बतला कर तो ठगा ही है साथ में उन्हें अवैज्ञानिक भूमिका द्वारा उपस्थित करते हुए कुटिल परिभाषा और जटिल उदाहरणों (जैसे सुद्ध्युपास्यः) प्रस्तुत कर भोले बालकों का मस्तिष्क व्यर्थ में चाट रखा है, उसमें भी पाणिनि जी के मस्तिष्क की व्याख्यामयी शुद्धाशुद्ध फक्किका की (किं किं) विद्यार्थियों का नाश मार रही है। अस्तु भाषा में सन्धि नियमों को स्वभावतः स्थान पाते हुए स्वयं देख लीजिए।

स्वर सन्धि

स्वरव्यञ्जन सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं (१) शब्दनिर्माण काल में शब्दान्तर्गत जैसे हरे + ए = हरये (हरि के लिए) हरि + ओः = हर्योः (दो हरियों का में); अप् + भ्यः = अद्भ्यः (जल के लिए) आदि। (२) दूसरी सन्धि वाक्यान्तर्गत होती है; जहां एक विभक्त्यन्त शब्द दूसरे विभक्त्यन्त के संयोग में आता है सम्प्रति + अयं = सम्प्रत्ययं, कस्मिन् + चिद् = कस्मिँश्चिद् आदि। अब उक्त दोनों प्रकार की सन्धियों के उदाहरण कुमाउनी के शब्दों और वाक्यों में देखकर आप आश्चर्य चकित न हों।

शब्दान्तर्गत १—यण सन्धि

ऋ और लृ आधुनिक भाषाओं में नहीं है, उनकी यण् गुण वृद्धि सन्धि का प्रश्न ही नहीं उठता।

कर्यों = करिओं = करिअउँ = (करितअँ = करितकं = कृतकं) किया हुआ)

पा·यौ = पाइओं = पाइअउँ = *प्राप्तिकं = प्राप्तकं (पाया हुआ)

हर्यौं = हरिओं = हरिअउँ = हरितकं (हरा)

हल्वाः = हउआ = हलुअअ = (वर्णविपर्यय) लहुअअ = लघुकक (लघुकं) हलका

यहाँ यण् सन्धि और दीर्घ सन्धि दोनों हैं।

रमवाँ·क् = रम्मुँ + आक् = रम्म्वा·क् (रमुआ का)

गरु + आ·क् = गर्वा·क् (गरुवे का, भारी का)

द्यु = दिउ = दिव = दीप (दिया); घ्यु = घिउ = घित्र = घृत (घी)

स्यु = सिउ = सित्र = सीव सीता (हलरेखा) इत्यादि।

आधुनिक भाषाओं ने पाणिनि प्रभृति की अयादि सन्धि के नियम का भंग करके उसे भी यण सन्धि में सम्मिलित कर दिया है जैसे ग्वा·व् = गो आव–गोपाव–गोपाल; हिन्दी में 'ग्वाला' भी इसी तरह गोपालक से निकला है। ग्वाला में यण् और दीर्घ दोनो सन्धियाँ हैं गो आ ल अ = ग्वाला; गोआव = ग्वाव् (गोपाल)। च्या·ला· =

चेआला = चेला (आ का बीच में प्रवेश अनुरूपता के बल से है) (लड़के)

घ्या·ड़ा = घो आ डा (,, ,,) (घोड़े)

म्यावा = मे आ वा (,, ,,) (मेवा)

अयादि को यण् में बदलने का मुख्य कारण यह है कि उक्त ए और ओ हमारी भाषा में शुद्ध हैं, संस्कृत में गुणरूप ये। अतः कुमाउनी ने शुद्ध दीर्घों को भी यण् सन्धि में ढाल दिया है जैसे शोःग = श्वग (शोक)। इससे यह प्रतीत होता है कि संस्कृत के गुण रूप ए ओ केवल दीर्घ ही नहीं थे वरन् विवृततर भी थे। विवृततरों की यण् सन्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। महाभाष्यकार ने ऐ और औ को ही विवृततर बतलाया है, पर अयादि सन्धि ही इस बात का पक्का प्रमाण है कि संस्कृत में गुण रूप ए ओ भी विवृततर थे। अतः हमारी भाषायें शुद्ध ए ओ को यण् सन्धि के अन्तर्गत लाने में कोई अवैज्ञानिक बात नहीं कर रही हैं। उक्त स्थलों में इन विवृतों के लिए यण् सन्धि ही वैज्ञानिकता से स्थान पा सकती है, अयादि नहीं। संस्कृत के

ए ऐ ओ औ की रहस्यमय व्याख्या आगे गुण सन्धि में और द्वितीय भाग स्वर व्याख्या में दी है।

सवर्ण दीर्घ सन्धि

दीँ = दिइँ (दिये) (ददितं) (म्यु या) मी-मिइ-(मिय-मीता) हलरेखा।
बीँ = बिइँ (बियं-बीजं) (दाने), लहीं = लिहइँ (लिए)।
वाँःङँ = वअण (वहनं) (जोतना), चाँःङँ = चअण (चक्षण) (देखना)।
नाँःङँ = नआण-नहाण (स्नान); खाँ ङँ-खाअण = खादन भोजन।
चूँङँ = चुउण = चुवण = चोवण = चोवण = च्योतन (पानी चूना)।
जून = जुउन = जुवण = जुहना-जोहना (ज्योत्स्ना) (चाँदनी)।

वृद्धि सन्धि

पौँःङुँ = पाउणउँ = पाहुणिअः = प्राघुणिकः (पाहुना)
पौःँङु = पाउण = पावण = प्रापणं (पाना)
शौःँल्, शौःँव = साउँल = श्यामल (हरी टहनी)

गुण सन्धि

एक बड़ी भारी समस्या सामने यह आती है कि 'पैःर् = पइर=प्रस्थिर (पहाड़ टूटना), गैःर् गइर = गहिर = गम्भीर (गहरा, उपत्यका), खैःर्= खइर = खदिर (कत्था)" आदि रूपों को क्या माना जाय वृद्धि सन्धि या गुण सन्धि, गुण सन्धि के लिए यातो आदि में 'आ' चाहिए या अन्त में ऐ (आ + इ, या अ + ऐ); यह यहाँ है नहीं। गुण सन्धि में अ + इ = ए होना, यह भी यहाँ नहीं है, यहाँ 'ऐ' हो रहा है जो ए से बहुत विवृततर है। दूसरी विचित्र समस्या जो सामने आती है वह यह है कि वैयाकरणों ने ए=अइ या अय्, और ऐ = आइ या आय्, तथा ओ = अउ या अव्, और औ = आव् या आउ मान रखा है। परन्तु प्रातिशाख्य कारों ने इसका उटला निवेचन दिया है, वे कहते हैं कि ऐ = अइ, या अय्, औ = अइ या अय्। कुमाउनी में इन्हीं प्रातिशाख्यकारों का मत सर्वतः लागू भी हो रहा है। इससे यह स्पष्ट होने जा रहा है कि कुमाउनी के ए ओ, प्रातिशाख्यकारों के ऐ औ से बिलकुल मिलते जुलते हैं। ऐ औ के सम्बन्ध में कुमाउनी ने एक और विकास दिखाया है। प्रातिशाख्यों में ऐ औ केवल दीर्घ ही हैं; और कुमाउनी में ये दीर्घ तो हैं ही, पर साथ में ह्रस्व भी हैं [दै· = दइ = दधि सै· = सइ = =सह्यं (सोढ्वा) (सहकर) मै· = मइ = मंथिका (पटेला दानेदार),

मौ·—मउ—मधु, कौ· = कउ = कह = कथ (कहो) आदि] इन सब गड़बड़ियों का मुख्य कारण वैयाकरणों और प्रातिशाख्यकारों की वह उपालम्भपूर्ण और अपूर्ण व्याख्या है जिसमें उन्होंने ए और ओ, तथा 'ऐ' और 'औ' के विभेदों का स्पष्टविवरण देने से मुँह मोड़ा है, पर यह बात भी नहीं है कि वे उक्त स्वरों के विभिन्न विभेदों को छिपाने में समर्थ हुए हों, फिर भी इनकी सचमुच में उचिततम स्पष्ट व्याख्या नहीं ही कर पाये हैं इसमें सन्देह नहीं। संस्कृत में दो दो प्रकार के ए और ओ मिलते हैं, एक गुण रूप, दूसरा प्रगृह्य और पदान्तीय। (१) पू—पो—पवन, भू—भो—भवन भू०, शुच्=शोकः, मुच्—मोच, मिंच्—सेकः, दिव्—देव, लि—ने—नयनं, चि—चे—चयनं (२) रामोऽस्मि सर्व सहे, सरोऽत्र, वने, रमे (प्र० द्वि० द्विवचन), सहे (उ० पु० एव०), गृहेऽस्मिन्, जानेऽहम्। यहाँ पर जो उदाहरण दिए गये हैं; उनमें ए और ओ के साथ दो प्रकार की सन्धियाँ स्पष्टतः सामने आती हैं, भू भो भवनं आदि गुण रूप 'ओ' का अव्' (या अउ होना साफ है, नि ने नयनं में ए का अय् (या अइ)। इन दो प्रकार के रूपों के विपरीत 'रामोऽस्मि'; जानेऽहं' इन दो प्रकार के रूपों के सदृश शब्दों में ओ का न अव् (या अउ) हुआ है, न ए का अय् (या अइ); इनमें जो रहस्य है वही वैयाकरणों और प्रातिशाख्यकारों की पोल खोल रहा है। इनको (ए ओ को) वैयाकरणों ने धोखे का नाम प्रगृह्य या पदान्त दिया है, यह वैयाकरणों की धाँधली के काम चलाऊ नियम बनाने वाले नाम हैं। वास्तव में भाषातत्त्वशास्त्र की दृष्टि से ये पदान्त और प्रगृह्य संज्ञक ए और ओ ईषत् विवृत हैं, इतने ईषत् विवृत उच्चरित हैं कि इनमें अय् अव् (अइ अउ) विकार या विकास का क्षेत्र ही नहीं है। अतः 'रामोऽस्मि' का 'रामयस्मि' न होकर 'रामोऽस्मि', और 'जानेऽहं' का 'जानयहं' न होकर 'जानेऽहं' ही रह गये। इषद्विवृत के माने यहाँ पर स्थान से है, ये वास्तविक ए और ओ हैं, ये ए और ओ की मुखोच्चारण की सीमा के अन्तर्गत हैं, और हैं दीर्घ ही। ये आधुनिक भाषाओं के ए ओ के समान गुण नामक ए और ओ उक्त इषद्विवृत ए ओ से भिन्न हैं, ये विवृततर हैं (महाभाष्य)। इनका अय् अव् (या अइ अउ) होता है तथा, ये अ + इ और अ + उ से बनते भी हैं, और, इ के समीप का स्वर इषद्विवृत ए है, तो प्रस्तुत ए, गुण ए या गौड़ ए है जिसे प्रातिशाख्यकारों ने भी अइ, सा बतलाया है ओ को अउ सा। यह अइ सा ए तथा अउ सा ओ का संकेत उन्होंने 'ऐ' और 'औ' से किया है। अब वस्तु स्थिति स्पष्ट हो गई। प्रातिशाख्यकारों के 'ऐ', औ वैयाकरणों के गुण 'ए' और 'ओ' हैं दोनों इनको अइ (अय्) अउ (अव) सा मानते भी हैं। जिनको वैयाकरण ऐ

और औ कहकर उनके आय् आव् (या आइ, आउ) करते हैं वे प्रथमों (ऐ औ) के वृद्धि रूप हैं। वृद्धि रूप के माने स्थान वृद्धि के हैं जितना मुँह ए में खुलता था उससे बहुत अधिक, गुण रूप ऐ औ (या वे ए ओ जिनका अय् अव् बनते हैं) में, इनसे अधिक मुँह खुलना या वृद्धिरूप अन्तिम रूप में ऐः औः (दीर्घ) में हैं। अब हम बिलकुल वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं; आभ्यन्तर स्वर इ (ई–) ए (दीर्घ) ऐ [ε] (अइ) ऐ (æ) आइ। अइ आइ का सम्मिलित मिश्रित उच्चारण क्रम से ε और æ सम होता है। ये सन्धि में अइ आइ (अय् आय्) सा व्यवहार करते हैं पर उच्चारण में एक स्वरता रहती है, बाह्यस्वरों में उ (ऊ) ओ (दीर्घ) औ· [ɔː] (अव्) औः [ɔː] (आव्) (उच्चारण सम्मिलित मिश्रित [ɔ·, ɔː] :), आ। मध्य स्वर अ, गुण अ· (विवृत अ) वृद्धि अः = आ (विवृततर)। कुमाउनी की व्याख्या में यहाँ पर ए = े, ऐ = ै, ऐ = ॅ रखा है वही क्रम यहाँ भी होगा। अब सं० न + इति = नेति नहीं वरन् नेति (इति सम्मिलित) शुद्ध होगा, आज्ञा + इति = आज्ञैःति (आज्ञाइति) शुद्ध होगा। कुमाउनी में यही हुआ भी है जैसे इस परिच्छेद के आदि में पइर = पैःर, गइर = गैःर हुआ ही है, वैसे ही मैं· = माइ, भैं· = भाइ गैं· = गाइ भी होता है। जब हम वाक्य में 'गैं + आःल्' (गा आयेगा) कहते हैं तो सन्धि का रूप 'गाःय्या' या गैंःआल् दोनों होता है, 'मौ·आ'छ् / (शहद आया) का 'मवाःछ्/'; 'लफौः उनि' (फेंको वहाँ) का 'लफावुति' रूप होता है अतः गुण सन्धि के 'ए ओ' = ऐ· औ·; वृद्धि सन्धि के ऐ औ = ऐः औः शुद्ध ए ओ = पदान्त प्रगृह्यादि के, या वे पदादि के ए ओ जो गुण से न बने हों वरन् स्वयं स्वाभाविक एकार ओकार 'आदि मध्य' वाले हों। संस्कृत के ये ही 'ए ओ' आजकल की हमारी वर्तमान भाषाओं के ए ओ के समान हैं भी। कुमाउनी में ये ए ओ ह्रस्व दीर्घ अघोष प्लुत आदि कई प्रकार के हैं। कुमा० और हिन्दी में इन ए एः के आगे स्वर आता है तो उनमें यण् सन्धि होती है जैसा इससे पहिले के परिच्छेद में दर्शाया जा चुका है, और संस्कृत में 'मन्दिरे इति' का मन्दिरयिति या मन्दिर इति होना सन्धि द्वारा ए की वृद्धि सूचक है। ए का ऐ दीर्घ (ε) हो जाता है यह गुण ए हो जाता है क्योंकि इसमें अगले स्वर की दीर्घता बढ़ जाती है मन्दिरइति में सन्धि रूप अइ है मन्दिरयिति में अयि = अइ जो बराबर है ऐ· (ε)। अतः यह ए सन्धि से गुण रूप लेता है स्वयं शुद्ध ए है। संस्कृत के ए ऐ ओ औ औ पर जो विचार प्राचीन लेखकों ने दिये हैं उन्हें भाग दो ध्वनि तत्त्व शास्त्र स्वर भाग में इन स्वरों के शीर्षक में देखें॥

व्यञ्जन सन्धियाँ

शब्द स्तर के व्यञ्जन सन्धियों के उदाहरण व्यञ्जन संयोगों के विस्तृत और पूर्ण उदाहरणों से स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं। यहाँ पर पिष्टपेषण भय से दुहराना व्यर्थ समझा जायेगा।

वाक्य स्तर पर सन्धि

'एःक् आःदिमि अैः रौः छ्/' = 'एगाःदिमि अै रौः छ्/' (एक आदमी आया है)। इसी वाक्य को 'एः आःदिमि अैः रौःछ्/' भी कहते हैं, पर व्यञ्जन के पहले एःक के क् का प्रायः लोप ही होता है 'एः मैः शै रौः छ्/' = एःक् मैः श् अैः रौछ (एक आदमी आदमी आया है)। पहिले में क् का ग् या लोप है दूसरे में क् का एक दम लोप। "यश् उश् केः नैं·' = यश्शुश्श् के· नै· (ऐसा वैसा कुछ नहीं)। यहाँ स्वर (उ) के कारण दुतरफा श का दित्व हो गया है। 'अप्जश् झन् हौ' = 'अब्जश्झन्हौ·' (अपयश न हौवै) यहाँ प् का ज के संयोग में ब् हो गया है। 'चे·लि बे·टि कौंःसुन्' = 'चेल्बेटि कौंः सुन्' (बहू बेटियाँ कहां हैं) यहां अघोष स्वर (लि के) इ का एक दम लोप होकर ल् का योग ब् से हो गया है, साथ में 'कौंःछ्न' का 'कौंःसन' भी हुआ है और स् का अघोष ह सम उच्चारण भी। उक्त उदाहरण से अधिक विचित्र है 'दे·ख्य्हैं चै·' = 'दे·खिं हैं· छै·' (क्या देख लिया है?) यहाँ अघोष इ का य् और ह अघोष होकर उसी 'ख्यह' में मिल गया, तथा अन्तिम सोष्म 'छै·' अनूष्म 'चै·' में संकुचित हो गया है। इसी पद्धति का समर्थक वाक्य एक और लीजिए 'दे·ख्याः चा·', = 'दे·खि आः छाः' (क्या देख आये हो?) 'कब् तक्' = 'कप्तक्' (कब तक?)। 'साँ·चि साँ·चि कौ' = 'साँश्शाँ·चि कौ·'। प्रथम में श्वासीय त् के योग में नादीय ब् का प् हो गया है, द्वितीय में में श्वासीय च् का वर्गीय श् तथा इसके योग से दन्त्य स् का भी तालव्य भी गया है; और चि का अघोष इ एकदम गल गया है। दूसरे का अर्थ है (सच सच कहो)। 'राःत् दिन् ऊनैः· रूःनै·' = 'राःद्दिन्नूःणै·· रूनै·' (रात दिन आते रहते हैं), यहां त् का द् में सवर्ण दीर्घ, तथा न् का ऊ के संयोग में द्वित्व स्वाभाविकतया हो गया है, और 'ऊनैः·' में प्लुत का वाक्य मध्य में प्रयोग भी बड़े महत्त्व की वस्तु है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो गया है कि श्वासीयों के साथ नादीय भी परिवर्तित हो जाते हैं। 'वु चोख्ख् खौंः छ्/' 'वु चोक्ख् खौं·स्' (वह बिलकुल चोखा खाता है), यहाँ दो ख के योग में प्रथम ख का क् हो गया है, सोष्म का सवर्ण सोष्म से योग हो तो प्रथम अनूष्म हो जाता है। दीर्घ या संयुक्त व्यञ्जन के अन्त में विसर्जनीय ध्रुवीय

ध्वनि होती है और वह पदीय श्वास को पलटती है। अतः 'ख्वाँ·स्' का 'ख' प्रथम ख् से सन्धि नहीं कर पाता, पृथक् उच्चरित होता है। संस्कृत में जहां ऐसी सन्धियाँ दिखलाई जाती हैं वे नकली समझी जानी चाहिए; क्योंकि बोलचाल की भाषा में ऐसे स्थलों में सन्धि का प्रश्न ही नहीं उठता; यदि यहां सन्धि हो जाय तो 'चोक्ख्' में जो गम्भीर अवधारण है वह नष्ट हो जावेगा, तब यह होगा '·क्क्खाँ·स्' जिसके माने अभीष्ट 'एकदम चोखा ही खाता है' न होकर केवल 'चोखा खाता है' होगा, जो अर्थ में अनर्थ कर देगा। 'तन् लो:गन् चँः आ·ओ·त्' = 'तँल्लोगञ्चाव्यावौ·त् (उन लोगों को देख आओ तो) यहां पर न् का अनुस्वार और इससे ल् का द्वित्व, दूसरे न् का संयोग में ञ् बनना, और ʻʼ का आय् होकर य् का द्वित्व तथा उसका 'आ' में मिलना ये सब सन्धियों की एक बड़ी लड़ी सी बना रहे हैं। 'कै· बखत् लहा:ला:' = 'कब्ब-खलहा:ला' (किस समय लाओगे) (१) यहाँ 'कै' का ऐं (ह्रस्व) बखत् (वक्त) के 'ब' श्रुति के कारण अपने पूर्व रूप 'कय' में परिणत हुआ (२) अब 'कव्‌यखत्' की सन्धि ने य के (वक्त के ब के) स्वर का घात परिवर्तन से लोप कर के 'कव्वखत्' रूप बना फिर 'य् का लोप (यहां पद कव्व् और खत् बन गये जहां यही 'कव् बखत्' ये दो पद थे)। पुनः इसका त अन्तिम शब्द के आदि वर्ण ल् में मिलकर दो 'ल्ल' में परिणत हो गया है। सन्धियां घात और पदों में भी परिवर्तन करती है, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है। ए:क् ए:क् करि् बे:र गॅबिँ आ:त् = 'एकेक् (या एगेक्) कर्बे:गॅब्‌या:त्' (एक-एक करके गिन आओ तो ?)। यहां पर सबसे पहिले पूर्वरूप देखें (एकेक) या स्वर योग में श्वासीय क् का ग् नादीय में परिवर्तन, करि् गॅबिँ के अघोष इ का एकदम ह्रास तथा उनके व्यञ्जन र् और ब् का अग्रिम व्यञ्जन से संयोग हो गया है, सबसे विचित्र बात तो यह है कि बिँ में में जो अनुनासिकता थी उसका भी अघोष इ के साथ साथ लोप हो गया है। अनुनासिकता स्वरों ही की होती है इस अनुनासिकता लोप का यह पक्का प्रमाण सिद्ध हो गया है ['एके: क्: अक्कर्बे:गॅब्‌या:त्' हाँ यहाँ पर 'एके·क्' के अन्तिम 'क्' का 'कर्बे:गॅब्‌यात्' के आदि के क् में मिलने से सवर्णदीर्घ (क् + क् = क्:) भी हो गया है। सवर्ण दीर्घ स्वरों का भी होता है व्यञ्जनों का का भी, वह इसी उदाहरण से स्पष्ट है। 'छक् है· खा·या· हाँ:' = छग्घे· खा·या· हाँ:' (भरपेट हो खाना हाँ)। यहां पर क् + है· = 'ग्घे·' कितनी स्वाभाविकता से 'वाक् + हरि = वाग्घरि' का साक्षात्प्रतिरूप प्रस्तुत कर रहा है! 'तुमै·ल् बाज् पितैः छैः कि ? = 'तुमल्बा:पितैः छैः ?' (क्या तुमने कोई आहट अनुभूत की ?)। यहाँ पर तुमै·ल् के 'मै·' का ऐ· इतना कमजोर है कि

इसका परिवर्तन 'अ' ध्वनि में हो गया है, यह इसकी उच्चारण की लघुतमता का प्रभाव है जो द्रुता वृत्ति में ऐसा परिवर्तन पाने को स्वाभाविकतया बाध्य है। यह सन्धि का प्रभाव नहीं है। ज्+च् यहाँ सवर्णता में परिणत हो दीर्घता में (च या चः में) तादात्म्य पा गये हैं और अन्तिम कि स्वयं अघोष था, अब उस अघोषता की पूर्ति छेः की दीर्घता में ध्रुवीय ध्वनि या तादृशानुमिमीय अघोषीय विसर्जनीय ध्वनि से [ः] की जा रही है। कुमाउनी में में कई शब्द ऐसे हैं जिनका निर्माण त्+श 'च्छ' बनने से हुआ है। छाःच्छा·इ और बाःच्छा शब्दों को लीजिए। शब्द थे साक्षात् और बादशाह। पहिले में, पहिले 'साकस्रात्' रूप बना फिर वर्णानुरूपता ने उसे शाचशात् शात्शात् बनाया, जब शात्शात् रूप बन गया तब त्+श=च्छ हो गया और इस शाच्छात् को पुनः वर्णनुरूपता से छाच्छात्='छाःच्छाइ' (साक्षात्) रूप बने। बादशाह का पहिले बात् शाह् बना तब 'बाःच्छाः' हुआ। इनकी निर्मिति कितनी सजीव और प्राकृतिक है, कौन सन्देह कर सकता है। प्राचीन कुमाउनी में भारोपीय 'क्ष' का 'ख' बना था [आँख=अक्षि, खार राख=क्षार]। पर नवीन रूप से गृहीत तत्सम शब्दों ने उक्त प्रकार की प्रणाली से क्ष का छ बनाया है [क्षा=छा·र] पक्ष=पच्छ (पक्स–पचश्=पत्श=पच्छ)। यह व्यञ्जनों का व्यञ्जनों पर पड़ने वाला प्रतिवेशी प्रभाव है जो सन्धि स्वरूपों का जनकराज है। हाँ यहाँ पर क्ष के 'कष' का 'चश्' क्यों हुआ इसका मुख्य कारण उन उन भाषाओं की उच्चारण शैली है जो सब स ष श को अधिकतर तालव्य श में उच्चरित करते हैं जैसे मागधी और कुमाउनी। अतः ऐसा होना अनिवार्य ही हो गया था। जब यह क्रम चल पड़ा तो उन्हीं दिनों च् का उच्चारण 'त्स' सा घृष्ट प्रयत्नीय भी हो गया था, अतः वह त्श् स्वयं 'त्स्' में परिणत हो गया जिसका अन्तिम रूप 'च्छ' स्वयं स्वाभाविक है। शब्द में जो ध्वनि प्रधानता पाती है वही परिवर्तन का केन्द्र भी होती है, यहाँ की परिवर्तन-केन्द्र रूप ध्वनि श् है। 'बा·छाकाँःछन' (बछड़े कहाँ हैं) में 'काँ' पु० कुमा० 'कथाँ' से बना है 'कथाँ का हिन्दी में 'कहाँ' हुआ है जो कुत्र के 'कुत्थ' 'कत्थ' बना हुआ है, कुमाउनी में 'कथ' शब्द 'कहाँ' अर्थ में भी है। 'बा·छा' शब्द स्पष्टतः 'वत्स' का बहुवचन है जिसका पु· कुमा· में पहिले वत्श हुआ उसका ब· व· 'बा·छा·'; छन्=अछन्ति, छन्ति 'छन्' के 'सन्ति' धातु रूप से भी, सन्ति शान्ति शान्ति छान्ति छन् के विकास से भी व्याख्यात हो सकता है, पर लोग पूर्वपक्ष के पक्ष में अधिक हैं, वास्तव में अच्छ धातु 'अस्ति' का ही विकसित रूप है अतः जो मानें वही ठीक है, क्योंकि संस्कृत ने अस्ति और 'अछन्ति' दोनों पर शुद्धता की मुहर

लगा दी है, 'अछुन्ति' उत्तरकालीन संस्कृत के बोलचाल का शब्द है जिसे मध्यदेशेतर देशों ने एकान्त रूप से अपना लिया था, उसी बल पर इसे शुद्धता की स्वीकृति देने को बाध्य भी होना पड़ा होगा। पदान्त या वाक्यान्त के 'ज् व् ग् ड् द्' अस्फुट होने से 'क् च् ट् त् प' सम या इसके विपरीत उच्चरित हों तो कोई आश्चर्य की बात ही नहीं हैं (१) क्योंकि अस्फुट अस्फुट ही है दूसरा वक्ता के प्रयोग से सदा विकल्प की अपेक्षा भी रखता ही है। इसी प्रकार सोष्म ख् फ् छ् ठ् थ् का उच्चारण भी इनके अनूष्म क् च् ट् त् प सम और घ् झ् ढ् ध् भ् कर इनके अनूष्म ज्, ग् ड् द् सम हो तो भी वही उक्त सिद्धान्त लागू होता है। इस प्रकार शब्द और वाक्य स्तर दोनों की पूर्ण परीक्षा कर लेने पर संस्कृत व्याकरणों में वर्णित कोई स्वर सन्धि या व्यञ्जन सन्धि ऐसी नहीं रह जाती जिनकी प्रचुरमात्रिक सत्ता वर्तमान आर्य भाषाओं में नहीं मिलती, कुमाउनी में तो इनका विशाल भाण्डार है। केवल विसर्ग सन्धि ही ऐसी है जिसको हम आधुनिक भाषाओं में नहीं पाते, दूसरे ऋ ऌ की सन्धियाँ हैं। इन दोनों प्रकार की ध्वनियों का प्राचीन प्राकृतों के युगों में ही लोप हो गया था, अतः इनकी सन्धियों का हमारी भाषाओं में प्रश्न ही नहीं उठता; बीज ही नहीं है तो वृक्ष कहाँ से होगा।

हिन्दी संधियों और संयोगों की एक संक्षिप्त झलक

यद्यपि यह इस ग्रन्थ के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है कि इसमें किसी अन्य भाषा की सन्धियों और संयोगों का विवेचन दिया जाय, तथापि यह ग्रन्थ हिन्दी राष्ट्रभाषा में लिखा जा रहा है, अतः उसकी कुछ सन्धियों की चर्चा यहां कर देना पाठकों को अद्भुत रुचिकर लगेगा जिनकी पूर्ण व्याख्या के लिये किसी नये खोजी विद्यार्थी के अथक परिश्रम की नितान्त आवश्यकता अनुभूत हो रही है। हम जब यह कहते हैं 'यह आई आपकी चिट्ठी' तो उच्चारण करते हैं यै + आ-इ + आपकी चिट्ठी' = 'यआयापकी चिट्ठी'। यहां 'यह' का 'यै' कैसे बना, इस पर कोई ध्यान नहीं देता। हुआ यह = यअ = यय् = यइ = यै। लीजिए यह है गुण सन्धि हिन्दी में। इस 'यै' में यहां पर मात्रा पर्याप्त होने से यही लघुतम है; अतः अग्रिम वर्ण के सामने कुमाउनी के 'सुमैल्' के 'सुमल' बनने के समान यहां 'यै' का 'य' रह जाता है और 'आइ के 'इ' का 'य्' बनकर वह 'आपकी' के 'आ' में मिल गया। यह हो गई हिन्दी में यण् सन्धि। जब यह कहते हैं 'यह लो', तब दोनों रूप सामने आते हैं 'यै. लो.' या

'य लो'। प्रथम में लघुतम (पदान्तीय) 'ऐ॰' है द्वितीय में वह लघुतम ऐ=अ हो गया है। यदि यै=यइ मानकर यइ=यय् कहें तो यहां 'लोपशाकल्यस्य' सूत्र सा लग गया है। जब हम यह कहते हैं 'कब तक गाओगे'? उच्चरित ऐसा करते हैं 'कब्ग्गाःवोगे'?। यहाँ ब् नादीय क् त् श्वासीय के संयोग से उसका श्वासीय प् बन गया है, इसके विपरीत क् श्वासीय का ग् नादीय के योग में नादीय ग् बनकर ग् का सवर्ण दीर्घ हो गया है। 'क्या आप् जायेंगे'? को 'क्याःञ्जायेंगे॰'? कहते हैं, यहां 'क्या' का आ और 'आप्' का आ दोनों दीर्घ हैं अतः दोनों मिलकर प्लुत 'आः॰' बना रहे हैं और आप् के प् श्वासीय का नादीय ज के संयोग से स्ववर्गीय नादीय ब् बन गया है। राम् आया था?='रामाया था?' 'रमा आई थी'= 'रमाः॰ईथी? यह भी सवर्ण दीर्घ सन्धि है। 'इतनी इतनी बड़ी आँखें थी'= 'इतनीत्ती बड़ियाँखें॰थिँ' यहाँ पर प्रथम दो पदों में सवर्ण दीर्घ, द्वितीय तृतीय में सम्प्रसारण हो गया है। दीर्घ 'थीं पदान्त में ह्रस्व उच्चारित हो रहा है। इसी प्रकार हिन्दी में प्रायः सभी सन्धियां और संयोग उपलब्ध हैं।

संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, इसका अकाट्य प्रमाण

हिन्दी और कुमाउनी में उक्त प्रकार की सभी सन्धियों और संयोगों की प्रचुर प्रस्तुति होते हुए भी जो उसे अतिविलम्बिता वृत्ति में लिखित रूप में आँका जाता चलाआ रहा है वह इस बात का बड़ा पक्का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है कि जिस भाषा का अंकन सन्धियों और संयोगों के कठोर नियमों से किया गया है या किया जाता है वह अवश्यमेव बोलचाल की ही भाषा रही होगी। क्योंकि कुमाउनी और हिन्दी जैसी बोलचाल की भाषा में ही सन्धि संयोगों के दर्शन होते हैं अन्यथा वही लेखन शैली की व्यष्टि में अष्टोच्चारण के प्रतीक बन रहे हैं। अतः संसार की जिस भाषा का अंकन जितना अधिक, सन्धि संयोगों में में किया हुआ मिलता है वह भाषा और उसका वह अंकित रूप ठेठ बोलचाल की भाषा का ही रूप है, इसमें तिलमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। इस दृष्टिकोण से हमें सन्धि संयोगों से जटित संसार भर में केवल एक ही भाषा मिलती है वह है वैदिक औपनिषदिक तथा रामायण महाभारत काल तक के ग्रन्थों की संस्कृत; जिसका विश्वस्त अंकन तत्कालीन-बोलचाल की भाषा के धुरंधर ध्वनितत्त्व वेत्ताओं के कठोर परिश्रम से, ठेठ उच्चारणानुस्वरूप सन्धि संयोग सहित किया गया है, इसमें भी सन्देह नहीं। जिन लोगों को बोलचाल की भाषा के सन्धि और संयोगों के परख की छाया तक नहीं छू पाई है वे लोग इन सन्धि संयोगों को (नकली) कृत्रिम कह या समझ कर

तथा अपने इस गलत मत के लिए तथा दूसरे इससे अधिक गलत मत की प्रतिष्ठा करने का दम भरते हुए कहते हैं कि संस्कृत कभी भी बोलचाल की भाषा नहीं रही, उन्हें कुमाउनी और हिन्दी के उक्त स्वरूपों को पढ़ने का कष्ट कर सावन के अन्धे का सा सब हरा ही हरा देखने की आदत को तुरत भुला देना चाहिए। सन्धिसंयोगाङ्कित भाषा नित्य बोलचाल ही की भाषा होती है अन्य नहीं, जो ऐसी नहीं हैं वे सचमुच में बोलचाल की न होकर केवल भाषा के लिखित, उच्चारण से नितान्त भिन्न रूप, नकली रूप की (जैसे वर्तमान युग की भाषायें) होती हैं। फलतः आजकल की भाषाओं में मुद्रणालयों में छपे जितने ग्रन्थ हैं, वे जिस किसी भी विषय के हों, चाहे अंग्रेजी में हों या फ्रेंच में या हिन्दी में या बंगला में या मराठी में या दाक्षिणात्यों में व सबके सब नकली भाषाओं में लिखी पढ़ी छापी जा रही हैं, उनमें से कोई भी बोलचाल की भाषा की असली प्रतिमा प्रस्तुत नहीं करती। संसार में आजतक यदि किसी भाषा को बोलचाल के शुद्धोच्चारणानुरूप अंकित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है तो वह है केवल संस्कृत ही, अन्य कोई भी नहीं। सचमुच में वास्तविकता तो यही है। संस्कृत में सन्धिसंयोगों के अंकन का रहस्य भी यही है।

प्रमापक ग्रन्थों की सूची

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद
निरुक्त (यास्क)
उपनिषद्
कठ
श्वेताश्वेतर
पुरुषसूक्त
भगवद्गीता
सांख्ययोगदर्शन का जीर्णोद्धार (हरिशंकर जोशी)
अष्टाध्यायी (पाणिनि)
कात्यायन वार्तिक
महाभाष्य (पतञ्जलि)
पैप्पलादमोक्ष शास्त्र (गर्भोपनिषद्)
प्राचीनभूत सिद्धि तन्त्र (आह्निक सूत्रावली)
शाक्ततन्त्र (दुर्गासप्तशती)
रुद्रयामलक स्तोत्र (देवी भागवत)
कुञ्जिकास्तोत्र " "
शिवाथर्वशीर्ष (शिर उपनिषद्)
स्कन्दपुराण
मनुस्मृति
श्रीमद्भागवतपुराण
मार्कण्डेयपुराण
एटकिन्सन प्टोल्मी
पुराण (पार्जिटर)
विष्णुपुराण
महाभारत
हरिवंश
बुद्ध (जासेन)
राजतरंगिणी (कल्हण)
लिङ्ग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया (ग्रियर्सन)
नाट्यशास्त्र (भरत मुनि)
वर्तमान भारतीय ([illegible]) भाषायें (ग्रियर्सन)
प्राकृत (वराहमिहिर)
रामायण (वाल्मीकि)
गीता-ज्ञानेश्वरी
अंगुत्तर निकाय (बौद्धग्रन्थ)
महावस्तु " "
विनय " "
भागवती सूत्र (जैन ग्रन्थ)
प्राकृतप्रकाश (वररुचि)
प्राकृतसर्वस्व (लक्ष्मीधर)
कुमाऊनी भाषा के बीस ग्रन्थों की सूची (कुमाऊनी साहित्यशीर्षक में देखें)
शतपथब्राह्मण
गोपथब्राह्मण
छान्दोग्य उपनिषद्
गायत्रीजपविधि (आह्निक सूत्रावली)
स. व. एलन (प्राचीनवैयाकरण ध्वनिज्ञ)
ए. ए. बेक (भारतीय संगीत की पृष्ठभूमि)
दशकर्मपद्धति
ऋक्प्रातिशाख्य
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
संगीतदर्पण
कात्यायन-प्रतिज्ञासूत्र
कात्यायन प्रतिशाख्य
अथर्व प्रातिशाख्य
देनियल जोन्स (इंगलिश फोनेटिक्स)
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य टीका (उव्वट)
सर्वदर्शनसंग्रह (सायण)
लैंग्वेज मोनोग्राफ, फोनीम (ट्वाडल)
लेन्दो एरियाँ (शूल्स ब्लोश)
भाषा तथा समाम्नाय (यूल)
पाणिनिशिक्षा
स्वरों का उच्चारण (श्री मिले)
श्रव्यध्वनितत्व (यूस)
सर्वसम्मत शिक्षा
वर्णपटल
सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित)
उपलेखाशिक्षा
माध्यन्दिनी शिक्षा

पारीशिक्षा
ऋक्प्रातिशाख्य-त्रिभाष्यरत्न
शिक्षासंग्रह
अफ्रिकन भाषा का प्रायोगिक ध्वनितत्व
विज्ञान (वेस्टरमैन और वार्ड)
याज्ञवल्क्य शिक्षा
त० प्रा० की वैदिकाभरण टीका
आपिस्थली शिक्षा
व्यासशिक्षा
अन्तर्राष्ट्रीय वर्णमाला
वर्णकुल (फ्रौग)
नैपाली कोष (राल्फ टर्नर)
बंगाली का स्रोत और विकास
(सु० कु० चटर्जी)
आर्यभाषाओं का तुलनात्मक
व्याकरण (केलौग)
प्राकृत व्याकरण (व्युलनर)
ला लांग मराठे (शू़ल्स ब्लौश)
गौडी भाषाओं का व्याकरण (हौर्नले)
संस्कृत साहित्य का इतिहास
(ए० बी० कीथ तथा यम० के० डे०)
निरुक्त का अंग्रेजी अनुवाद
(लक्ष्मण स्वरूप)
औदुम्बरायणमत (ब्रूफ)
निरुक्त-टीका (दुर्गा)
निरुक्त का जर्मन अनुवाद
(लेविश तथा ओट्टो स्ट्रास)
स्फोटवाद (नागेश भट्ट)
मीमांसा श्लोकवार्तिक (भट्टाचार्य)
गौतमसूत्र
स्फोटमत (वाजप्यायन तथा व्याडि)
शब्दकौस्तुभ (भट्टोजिदीक्षित)
वाक्यपदीय-सटीक (भर्तृहरि)
ध्वन्यालोक (आनन्द वर्धन)
काव्यप्रकाश (मम्मट)
साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)
रसगंगाधर (जगन्नाथ)
काव्यालंकार (रुद्रट)
काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति
ध्वन्यालोक लोचन तथा उद्योत टीका
उत्तररामचरित (भवभूति)
काव्यमीमांसा (राजशेखर)
काव्यानुशासन (हेमचन्द्र)
व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट)
काव्यकौतुक (माणिक्यचन्द्र)
काव्यालंकार (वामन)
अलंकारसर्वस्व (कुन्तल)
काव्यालंकार (भामह)
रघुवंश (कालिदास)
शिशुपालवध (माघ)
न्यायमञ्जरी
विवेकविलास (बौद्ध)
स्फोटवाद (प्रभाकर गुरु)
स्फोटवाद (कुमारिल भट्ट)
कोरल द्वीप और उसका जादू
(मेलिनोव्सकी)
समाज में व्यक्तित्व और भाषा (फर्थ)
अर्थरचनाकला (फर्थ)
ध्वनि और ध्वनि शक्ति (फर्थ)
वक्तृता और भाषा (गार्डिनर)
अक्षर (फोनीम) ब्लाक
क्रुशेव्सकी-भाषा ध्वनि
ध्वनितत्व की पुस्तिका (स्वीट)
भाषा का अध्ययन (व० करौल)
भाषा (लूइश ब्लूमफील्ड)
भाषा (ई सपीर)
वर्णकुल पहिचान (र, जकोब्सन)
भाषाविज्ञान (टूबेत्सकोय)
वक्तृता (फर्थ)
मूर्तिमय भाषातत्वशास्त्र की रीति
(हैरिश जेलिग)
ध्वनितत्वशास्त्र (क, पाइक)
गणेशाथर्व शीर्ष उपनिषद्
आह्निक सूत्रावली
योग संध्या

—०:०:०—

प्रतिभादर्शन-शब्दानुक्रमणिका